

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क १७]

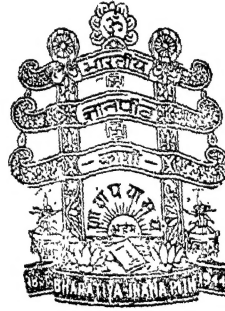
पूज्यपाददेवतन्दित्रिचितं

जैनेन्द्रव्याकरणम्

तस्य टीका

आचार्य-अभयनन्दिप्रणीता

जैनेन्द्रमहावृत्तिः



सम्पादक

पण्डित शम्भुनाथ त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य, सप्ततीर्थ

सहायक

पण्डित महादेव चतुर्वेदी, व्याकरणशास्त्राचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रथम आवृत्ति
६०० प्रति

मार्गशीर्ष वीर. नि० सं० २४८३

वि० सं० २०१३

नवम्बर १९५६

मूल्य १५ रु०

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी यवित्र स्मृतिमें तत्सपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

संस्कृत ग्रन्थाङ्क १७

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध
आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन
साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ,
शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और
लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी
ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय,

एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ

दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

मुद्रक—शारदामुद्रण तथा संसार प्रेस, बनारस।

स्थापनाब्द

फाल्गुन कृष्ण ९

वीर नि० २४७०

सर्वाधिकार सुरक्षित

विक्रम सं० २०००

१८ फरवरी सन् १९४४



स्वर्गीय मूर्तिदेवी, मातेश्वरी साहू शान्तिप्रसाद जैन

JNANAPITHA MURTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

SAMSKRIT GRANTHA NO. 17

JAINENDRA VYĀKARANAM

BY

PUJYAPĀDA DEVANANDI

WITH

JAINENDRA MAHĀVRITTI

OF

SHRI ABHAYANANDI



Editor

Pandit SHAMBHU NATH TRIPATHI, *Vyakaranacharya*

Assistant

Pandit, MAHADEO CHATURVEDI, *Vyakaranashastracharya*

Published By

BHĀRATĪYĀ JÑĀNAPĪTHĀ KĀSHĪ

First Edition }
600 Copies. }

MARGSHIRSHA, VIR SAMVAT 2483
VIKRAMA SAMVAT 2013
NOVEMBER 1956

{ *Price*
{ *Rs. 15/-*

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA KĀSHĪ

FOUNDED BY.

SETH SHĀNTI PRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ
JAIN GRANTHAMĀLĀ

SAMSKRIT GRANTHA NO. 17

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC PHILOSOPHICAL,
PAURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAMSHA, HINDI,
KANNADA AND TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN
THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT
SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

General Editors

Dr. Hiralal Jain M. A., D. Litt.

Dr. A. N. Upadhye M. A., D. Litt.

Publisher

AYODHYA PRASAD GOYALIYA

Secy., BHARATIYA JNANAPITHA
DURGAKUND ROAD, BANARAS

Founded on
Phalgun Krishna 9.
Vira Sam. 2470

All Rights Reserved.

Vikrama Samavat 2000
18 Febr. 1944

सम्पादकीय

जैन साहित्य जिस प्रकार साहित्यकी अन्य विविध धाराओंसे परिपुष्ट है, उसी प्रकार उसमें वैज्ञानिक व शास्त्रीय साहित्यकी भी कमी नहीं है। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, गणित आदि विषयोंपर अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थ पाये जाते हैं जो भारतीय साहित्यके अभिन्न अंग हैं और जिनका अध्ययन किये बिना किसी भी विषयका ज्ञान परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। किन्तु दुर्भाग्यतः वह सब साहित्य अभी तक भी सुप्रकाशित व सुलभ नहीं किया जा सका। इस दिशामें भारतीय ज्ञानपीठ जो प्रयत्न कर रहा है वह स्तुत्य है।

भारतीय व्याकरण शास्त्रमें जैनेन्द्र व्याकरणका एक प्रमुख स्थान है। जैन साहित्यमें तो इसकी ख्याति है ही, किन्तु अन्य मतावलम्बी शास्त्रकारोंने भी उसका उल्लेख, शाकटायन और पाणिनि जैसे अति-प्राचीन और सुविख्यात वैयाकरणोंके साथ-साथ किया है। इसकी दो सूत्र-परम्पराएँ पाई जाती हैं और उसपर बारह सहस्र श्लोक प्रमाण महावृत्ति भी उपलब्ध है। किन्तु यह इतिहास-प्रसिद्ध व्याकरण अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हो सका। लगभग चालीस वर्ष पूर्व काशीसे इसका एक संस्करण निकला था जिसमें इसके पाँच अध्यायोंमेंसे केवल तीन अध्याय ही प्रकाशित हुए थे। बहुत कालसे वह संस्करण भी अप्राप्य है। इस प्रकार जिज्ञासु संसार इस ग्रन्थकी परिपूर्ण आवृत्तिके लिए दीर्घकालसे तृषातुर हो रहा था। हर्षका विषय है कि इस महान् त्रुटिकी प्रस्तुत संस्करण द्वारा भले प्रकार पूर्ति हो रही है। इसमें पाठ-संशोधनार्थ काशी और पूनासे प्राप्त अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है और अभयनन्दि कृत पूरी महावृत्ति भी सम्मिलित है।

इस व्याकरणके सम्बन्धमें समस्त ज्ञातव्य विषयोंका परिचय इसके साथ प्रकाशित श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीके लेख एवं विद्वद्गर डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवालकी भूमिकामें आ गया है। प्रेमीजीका लेख मूलतः बहुत पहले, जब वह काशीका प्रथम संस्करण निकला था तब ही (सन् १९२१ में) लिखा गया था। इसका संशोधित रूप सन् १९४२ में उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' शीर्षक संकलनमें प्रकाशित हुआ था। जिसका द्वितीय संस्करण सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेखमें इस समय तक इस ग्रन्थ व ग्रन्थकर्त्ताके विषयमें जो कुछ ऐतिहासिक बातें ज्ञात हो चुकी हैं उनका निर्देश आ गया है। डॉ० अग्रवाल जी व्याकरणशास्त्रके, विशेषतः उसके ऐतिहासिक पक्षके, प्रकाण्ड पण्डित हैं, जिसका प्रमाण उनका 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ विद्यमान है। उन्होंने जैनेन्द्रमहावृत्तिके सूत्रों और उनकी महावृत्तिका सूक्ष्म आलोचन करके जो अनेक ऐतिहासिक तथ्य-रत्नोंका आविष्कार किया है वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करना चाहते हैं।

हीरालाल जैन
आ० ने० उपाध्ये

ग्रन्थ-लागत

८७५-॥ कागज़ २२ x २९ - २८ पौण्ड
 ४३ रीम १५ जिस्ता १० शीट
 १८२६) छपाई ७०॥ फार्म
 ५४०) जिल्द बँधाई
 ३२३) कवर कागज़
 २८) कवर छपाई

३६७१३) सम्पादन
 २००) कार्यालय-व्यवस्था
 ७५०) भेंट आलोचना
 ४००) प्रूफ-संशोधन
 ७५) पोस्टेज ग्रन्थ भेंट भेजनेका
 ३५५०) कमीशन, विज्ञापन, विक्री-व्यय आदि

कुल लागत ११९४७॥)

६०० प्रति छपीं • लागत मूल्य १९॥=॥ • मूल्य १५)

प्रति-परिचय

‘सु०’ प्रति

यह प्रति सरस्वतीभवन, काशीसे प्रकाशित हुई है। इसमें अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तक ही छपे हैं।

‘अ०’ प्रति

यह भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी प्रति है। इसमें पत्र संख्या ४०२, पङ्क्ति प्रति पृष्ठ १५ और अक्षर प्रति पङ्क्ति लगभग ४६ हैं। साइज साँची सुपर रायल। पुस्तकके अन्तमें लेखनकाल तथा लेखक आदिका नाम निम्न प्रकार है—

“फागणमासे शुक्लपक्षे तिथौ ३ बुधवासरे संवत् १८८३ का। लीखकृतं माहतमा पनालाल वासी सवाई जयपुरका। लिखी आगरा मध्ये। लिषायतं चम्पारामजी पुस्तक मथुराको।”

‘ब०’ प्रति

यह श्रीस्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ४०३ हैं, प्रत्येक पृष्ठमें १० पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३२ अक्षर हैं। प्रति पूर्ण है। पुस्तकके अन्तमें समय आदिका निर्देश निम्न प्रकार है—

“अथ संवत्सरस्मिन् विक्रमाकसमयातीत् सं० १९२६ वर्षे श्री मच्छालिवाहन ऋके १६९४ प्रवर्तमाने उत्तरायणे वशंतर्तौ [?] आषाढमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ शुक्रवासरे समाप्तमिति। ऐन्द्रपुरी नगरमध्ये।”

‘स०’ प्रति

यह भी श्रीस्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी ही प्रति है। इसमें पत्र संख्या ३९४ है। पत्र संख्या १ से २७० तक प्रतिपृष्ठ १३ या १४ पंक्तियाँ और प्रति पङ्क्ति लगभग २५ अक्षर हैं। उसके आगेके पत्र दूसरे लेखकके लिखे हुए प्रतीत होते हैं जिनमें प्रत्येक पृष्ठमें १६ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३४ अक्षर हैं। प्रति सुवाच्य तथा प्रायः शुद्ध है किन्तु इसके ३५० से ३९२ तक पत्र नहीं हैं। यह प्रति अध्याय ५ पाद १ सूत्र ३४ में जाकर समाप्त हो जाती है। इससे आगेके पत्र नष्ट प्रतीत होते हैं।

‘द०’ प्रति

यह प्रति भी श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय काशीकी है। इसके २७५ पत्रोंमें अध्याय ४ पाद १ सूत्र १२५ तककी वृत्ति उपलब्ध है। इसके प्रारम्भके ४९ पत्रोंमें प्रतिपृष्ठ ११ पङ्क्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ३८ अक्षर हैं तथा उसके आगे पत्र संख्या ५० से २७५ तक प्रति पृष्ठ १२ पंक्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ४६ अक्षर हैं।

‘पू०’ प्रति

यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनाकी है। यह दो भागोंमें विभक्त है। प्रथम भागमें पत्र संख्या १ से ३१४ तक तथा दूसरेमें १ से ७४ तक है। इसके प्रत्येक पृष्ठमें १४ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ४२ अक्षर हैं। दूसरे भागमें चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादका कुछ अन्तिम भाग तथा पञ्चम अध्याय पूर्ण है। लेखन काल आदिका परिचय लेखकके शब्दोंमें निम्नप्रकार है—

“पंडित जन सु बीनती है परोक्ष मम एह।

हीनाधिक लखि सोधियो हँसियो मति धरि नेह ॥

मिति चैत्र-शुक्ल २ भौमवासरे शुभ सम्बत् १९३३ का।”

इन सभी प्रतिषोंमें अध्याय ४ पाद ३ से पञ्चम अध्यायके अन्त तक बीच बीचमें कुछ सूत्रोंकी वृत्ति नहीं लिखी गई है जो यत्न करनेपर भी उपलब्ध न हो सकी और इसीलिए जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके आधारसे सूत्र-क्रममें केवल सूत्रमात्रका निर्देश कर दिया गया है।

भूमिका

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

भारतवर्षमें व्याकरणशास्त्रका अध्ययन लगभग तीन सहस्र वर्षसे चला आ रहा है। भाषाके शुद्ध ज्ञानके लिए व्याकरणका महत्त्व सर्व सम्मतिसे स्वीकृत हुआ, अतएव व्याकरणको 'उत्तरा विद्या' अर्थात् अन्य विद्याओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कोटिमें माना गया। किसी भी भाषाके इतिहासमें धातु और प्रत्ययोंकी पहचान उस गौरवपूर्ण स्थितिकी सूचक है जिसमें सूक्ष्म दृष्टिसे भाषाके आन्तरिक संगठनका विवेक कर लिया जाता है, और शब्दोंकी उत्पत्ति और निर्माणकी जो प्राणवन्त प्रक्रिया है उसके रहस्यको आत्मसात् कर लिया जाता है। यों तो सभी मनुष्य अपनी अपनी मातृभाषामें बोलकर अपना अभिप्राय प्रकट कर लेते हैं; किन्तु व्याकरणकी प्रक्रियाका जन्म उस राजपथका निर्माण है जिसपर चलकर निर्भय भावसे हम भाषाके विस्तृत साम्राज्यमें जहाँ चाहें पहुँच सकते हैं और शब्दोंमें भावप्रकाशनकी जो अपरिमित क्षमता है उसको भी प्राप्त कर सकते हैं। संस्कृत व्याकरणोंने संसारमें सर्वप्रथम इस प्रकारका महानोय कार्य किया। शब्दोंके विभिन्न रूपोंके भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है उसके स्वरूपका निश्चय और प्रत्यय जोड़कर उससे बननेवाले क्रिया और संज्ञा रूपी अनेक शब्दोंकी रचना एवं प्रत्ययोंके अर्थोंका निश्चय—इस प्रकारके विविध विचारकी पद्धतिका जिस शास्त्रमें आरम्भ और विकास हुआ उसे शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र कहा गया।

संस्कृत साहित्यमें पाणिनिकी अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्रका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन है। उसके लगभग चार सहस्र सूत्रोंमें लौकिक और वैदिक संस्कृतका जैसा अद्भुत विचार किया गया है, वह विलक्षण है। पाणिनिने संस्कृत व्याकरणका जो स्वरूप स्थिर किया उसीका विकास अनेक वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, न्यास, टीका, प्रक्रिया आदिके रूपमें लगभग इस शती तक होता आया है। किन्तु पाणिनिके अतिरिक्त, पर मुख्यतः उन्हींकी निर्धारित पद्धतिसे और भी व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इस विषयमें एक प्राचीन श्लोक ध्यान देने योग्य है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

यह श्लोक मुग्धबोधके कर्ता पं० बोपदेवका कहा जाता है। इस सूचीमें व्याकरणोंकी दो कोटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। पहली कोटिमें इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि, ये पाँच प्राचीन व्याकरण थे। दूसरी कोटिमें अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र इन नवीन शाब्दिकोंकी गणना है। पाणिनीय सूत्र 'कृतूक्थादिसूत्रान्ताष्टक' [४।२।६०] के एक वार्तिकपर काशिकामें 'पञ्चव्याकरणः' यद् उदाहरण पाया जाता है; इसका अर्थ था पाँच व्याकरणोंका अध्ययन करनेवाला या जाननेवाला विद्वान् [तदर्थं तद्वेद]। इसमें जिन पाँच व्याकरणोंका एक साथ उल्लेख है, वे यही पाँच प्राचीन व्याकरण होने चाहिए जिनकी सूची मुग्धबोधके इस श्लोकमें है। इसपर सूक्ष्म विचार करनेसे यह तथ्य सामने आता है कि पाणिनिसे पूर्व-कालमें व्याकरणका अध्ययन-अध्यापन व्यापक रूपसे हो रहा था, जैसा कि पाणिनीय व्याकरणके इतिहाससे ज्ञात होता है। प्रतिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायीमें लगभग ६४ आचार्योंके नाम आये हैं जिन्होंने शब्द-शास्त्रके सम्बन्धमें उस प्राचीनकालमें ऊहापोह किया था। इनमेंसे इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि और काशकृत्स्नके व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु पाणिनिसे पहले वे अवश्य विद्यमान थे। ज्ञात

होता है कि उन प्राचीन व्याकरणोंकी अधिकांश सामग्रीके आधारपर एवं स्वतः अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा लोकसे शब्द-सामग्रीका संग्रह करके पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीका निर्माण किया। वह शास्त्र लोकमें इतना महान् और सुविहित समझा गया [पाणिनीयं महत् सुविहितम्, भाष्य ४।३।६६] कि पाणिनिके उत्तर कालमें नये व्याकरणोंकी रचनाका क्रम एक प्रकारसे बन्द सा हो गया। उसके बाद व्याकरणका परिष्कार केवल वार्तिक, भाष्य और वृत्तियों द्वारा चलता रहा। कात्यायन जैसे प्रखर बुद्धिशाली आचार्यने पाणिनि व्याकरणपर लगभग सवा चार सहस्र वार्तिकोंकी रचना करके उस महान् शास्त्रके प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की, पर कोई स्वतन्त्र व्याकरण रचनेका उपक्रम नहीं किया। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य भी पाणिनीय व्याकरणकी सीमाके भीतर एक अद्भुत प्रयत्न था। पाणिनि लगभग पाँचवीं शती विक्रम पूर्वमें नन्द राजाओंके समयमें हुए थे। यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्यपर आश्रित जान पड़ती है जैसा कि हमने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थमें प्रदर्शित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पाणिनिके बाद लगभग एक सहस्र वर्षतक नूतन व्याकरणकी रचनाका प्रयत्न नहीं किया गया।

भारतीय साहित्यिक इतिहासका यह सुविदित तथ्य है कि कुषाण कालके लगभग संस्कृत भाषाको पुनः सार्वजनिक रूपमें साहित्यिक भाषा और राजभाषाका पद प्राप्त हुआ। कनिष्कके समयमें अश्वघोषके काव्योंकी रचना और रुद्रदामाके जूनागढ़ लेखसे यह स्पष्ट विदित होता है। वस्तुतः इस समय भाषाके क्षेत्रमें जो क्रान्ति घटित हुई उसका ठीक स्वरूप कुछ इस प्रकार था—ब्राह्मण साहित्यमें तो संस्कृत भाषाकी परम्परा सदासे अन्तुष्ण थी ही, पर उसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन आचार्योंने भी संस्कृत भाषाको उन्मुक्त भावसे अपना लिया और उसके अध्ययनसे दोनोंने अपने अपने क्षेत्रमें विपुल साहित्यका निर्माण किया जिसमें किसी समय सहस्रों ग्रन्थ थे। कुषाण कालसे जो भाषा सम्बन्धी नया परिवर्तन आरम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर सबल होता गया, यहाँ तक कि लगभग चौथी-पाँचवीं शती ईस्वीमें संस्कृत भाषाको न केवल भारतवर्षमें अखण्ड राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वरन् मध्य एशियासे लेकर हिन्द एशिया या द्वीपान्तर तकके देशोंमें पारस्परिक व्यवहारके लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई।

इस पृष्ठभूमिमें शब्दविद्याका पुनः वह छूटा हुआ सूत्र आरम्भ हुआ और नये व्याकरणशास्त्र लिखे जाने लगे। स्वयं पाणिनीय व्याकरणों पर वामन जयादित्य कृत काशिका वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यासकी रचना हुई। यह टीकाके मार्गसे प्राचीन व्याकरणका ही विशदीकरण था; किन्तु बौद्ध और जैन जो दो बड़े समुदाय संस्कृत भाषाकी नई शक्तिसे परिचित हो रहे थे, उन्होंने अपने अपने क्षेत्रमें दो नये व्याकरणोंका निर्माण किया। बौद्धोंमें आचार्य चन्द्रगोमी कृत चान्द्र व्याकरण और जैनोंमें आचार्य देवन्दी पृज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण गुप्त युगमें अस्तित्वमें आये। ज्ञात होता है कि दोनोंकी ही रचना लगभग ५ वीं शती ईस्वीके उत्तरार्धमें हुई। चान्द्र व्याकरणकी स्वोपज्ञ वृत्ति में 'अजयदं जतों हूणान्' [१।२।८१] उदाहरणसे सिद्ध है कि पाँचवीं शतीके मध्यमें स्कन्दगुप्तने हूणोंपर जो बड़ी विजय प्राप्त की थी उसकी समकालीन स्मृति इस उदाहरणमें अभ्युज्ज्वलित है। इससे चान्द्रव्याकरणके रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। पृज्यपाद देवन्दीने दो सूत्रोंमें प्रसिद्ध आचार्य, सिद्धसेन [वेत्ते: सिद्धसेनस्य, ५।१।७] और समन्तभद्र 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' [५।१।१४०] का उल्लेख किया है, ये दोनों देवन्दीसे कुछ समय पूर्व हो चुके थे। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकरका समय भी सर्वथा निश्चित नहीं है; किन्तु अनुश्रुतिके अनुसार उन्हें विक्रमादित्यका समकालीन माना जाता है। विक्रमके नवरत्नोंकी सूचीमें जिस क्षणकका उल्लेख है उन्हें विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर ही मानते हैं। श्री राइसेन सिद्धसेनका समय पाँचवीं शतीके मध्यभागमें माना है; किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य [३७५-४१३] और सिद्धसेनकी समसामयिकताका आधार यदि सत्य हो तो सिद्धसेनको चौथी शतीके अन्तमें मानना ठीक होगा। लगभग यही समय समन्तभद्रका होना चाहिए। श्री प्रेमीजीने अपने पाणिडयपूर्ण लेखमें देवन्दीके

समयके विषयमें जो प्रमाण संगृहीत किये हैं उनकी सम्मिलित साक्षीसे भी यही सूचित होता है कि आचार्य देवनन्दी लगभग पाँचवीं शतीके अन्तमें हुए हैं। इस सम्बन्धमें एक विशेष प्रमाणकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसके अनुसार संवत् ६६० में बने हुए दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रन्थमें कहा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने दक्षिण मधुरामें ५२६ विक्रमीमें [४६६ ई०] द्राविड़ संवकी स्थापना की। इससे भी पूज्यपादका समय ५ वीं शतीके उत्तरार्धमें सिद्ध होता है। इसीका समर्थन करनेवाला एक अन्य प्रमाण है—कर्नाटक-कविचरित्र के अनुसार गंगवंशीय राजा अविनीत [वि० सं० ५२३] के पुत्र दुर्विनीत [वि० सं० ५३८, ईस्वी ४८१] आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे; अतएव पूज्यपाद ५ वीं शतीके उत्तरार्धके सिद्ध होते हैं। महाराज पृथिवीकौंकरके दानपत्रमें लिखा है—श्रीमत्कौंकरमहाराजाधिराजस्याविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन...; अर्थात् अविनीतके पुत्र दुर्विनीतने शब्दावतारनामक ग्रन्थकी रचना की थी। जैसे प्रेमीजीने लिखा है शिमोगा जिलेकी नगर तहसीलके शिबालेलमें देवनन्दीको पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यासका कर्ता लिखा है। अनुमान होता है कि दुर्विनीतके गुरु पूज्यपादने वह ग्रन्थ रचकर अपने शिष्यके नामसे प्रचारित किया था।

जैनेन्द्र व्याकरण उस शृंखलाकी पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकालसे लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये नये व्याकरणोंकी रचना होती चली गई। जैनेन्द्र [पांचवीं शती], चन्द्र [पांचवीं शती], शाकटायन [नवमी शती का पूर्वार्द्ध], सरस्वतीकण्ठाभरण [ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध] और प्रसिद्ध हैमशब्दानुशासन [बारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध] इन सबने उन्मुक्त मनसे और अत्यन्त सौहार्द भावसे पाणिनीय व्याकरणकी मूल सामग्रीका अवलम्बन लिया। इनमें भी जैनेन्द्र-व्याकरणने भोजके सरस्वतीकण्ठाभरणको छोड़ कर अपने आपको पाणिनीय सूत्रोंके सबसे निकट रखा है। किसी भी प्रकारके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्रने पाणिनि सामग्रीकी प्रायः अविकल रक्षा की है। केवल स्वर और वैदिक प्रकरणोंको अपने युगके लिए आवश्यक न जानकर उन्होंने छोड़ दिया था। जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताने पाणिनीय गणपाठकी बहुत सावधानीसे रक्षा की थी। मूल व्याकरणमें पाणिनिके गणसूत्रोंकी प्रायः स्वीकार किया गया है। यद्यपि वैदिक शाखाओंवाले और गोत्र सम्बन्धी गणोंसे सिद्ध होनेवाले नामोंका जैन साहित्यके लिए उतना उपयोग न था, किन्तु जिस समय इस व्याकरणकी रचना हुई उस समय भाषाके विषयमें लोककी चेतना अत्यन्त स्वच्छ और उदार भावसे युक्त थी; अतएव जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रवृत्ति पाणिनि सामग्रीके निराकरणमें नहीं, वरन् उसके अधिकसे अधिक संरक्षणमें देखी जाती है। जैनेन्द्र व्याकरणके साथ उसका अलग गणपाठ किसी समय अवश्य ही रहा होगा, यद्यपि अब वह पृथक् रूपसे उपलब्ध न होकर अभयनन्दी कृत महावृत्तिके अन्तर्गत ही सुरक्षित है। कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यकी इष्टियोंमें जो नये नये रूप सिद्ध किये गये थे उन्हें देवनन्दीने सूत्रोंमें अपना लिया है; इस लिए भी यह व्याकरण अपने समयमें विशेष लोकप्रिय हुआ होगा। यह प्रवृत्ति काशिकामें भी किसी अंशमें आ गई थी और चन्द्र आदि व्याकरणोंमें भी बराबर पाई जाती है।

जैनेन्द्र व्याकरणके दो सूत्रपाठोंकी परम्परा इस समय पाई जाती है—एकमें तीन सहस्र सूत्र हैं; दूसरेमें लगभग ७०० सूत्र अधिक हैं। इस विषयमें श्रीप्रेमीजीका निष्कर्ष यथार्थ है कि मूल जैनेन्द्र सूत्रपाठकी संख्या ३ सहस्र ही थी जिसपर अभयनन्दीकी टीका पाई जाती है।

अभयनन्दी कृत महावृत्ति लगभग १२ सहस्र श्लोक परिमाणका बड़ा ग्रन्थ है। काशीसे .१६१८ में इसके प्रथम ३ अध्यायोंका एक संस्करण प्रकाशित हुआ था। किन्तु वह केवल एक प्रतिके आधारपर तैयार किया गया था, अतएव इस बातकी बहुत आवश्यकता थी कि सम्पूर्ण जैनेन्द्र व्याकरण तथा उसकी महावृत्तिका एक संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जाय। हर्षकी बात है कि भारतीय ज्ञानपीठके सप्रयत्नसे इस मूल्यवान् ग्रन्थका यह संशोधित संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है जिसके तैयार करनेमें पूराके भरझाकर ओरिएण्टल इंस्टीट्यूटमें सुरक्षित प्रतियोंका और काशीमें ही प्राप्त ३ प्रतियोंका उपयोग किया गया है। आशा है, व्याकरण-

शास्त्रके तुलनात्मक अध्ययनके लिए जैनेन्द्रका यह वर्तमान संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, विशेषतः गणपाठसे तुलनात्मक अध्ययनके लिए इस संस्करणका विशेष उपयोग हो सकेगा।

आचार्य अभयनन्दीकी महावृत्ति लगभग काशिकाके समान ही वृद्ध ग्रन्थ है। इसके कर्ताने काव्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यसे बहुत अधिक उपादेय सामग्री अपने ग्रन्थमें संकलन कर लिया है। महावृत्ति-का काल आठवीं शताब्दीका प्रारम्भ माना जाता है और सम्भावना ऐसी है कि अभयनन्दीने काशिका वृत्तिका उपयोग किया था। वस्तुतः किसी भी पाठकसे यह तथ्य छिपा नहीं रह सकता कि अष्टाध्यायी और काशिकाका ही रूपान्तर जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी और उसकी महावृत्तिमें प्राप्त होता है। फिर भी काशिका और महावृत्तिकी सूक्ष्म तुलना करनेपर यह प्रकट हो जाता है कि अभयनन्दीने कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जो काशिकामें उपलब्ध नहीं होते और फलस्वरूप ऐसी सामग्रीकी रक्षा की है जो काशिकासे प्राप्त नहीं हो सकती। उन्होंने जहाँ सम्भव हो सका वहाँ जैन तीर्थङ्करोंके, महापुरुषोंके, या ग्रन्थोंके नाम उदाहरणोंमें डाल दिये हैं। जैसे, सूत्र १।४।१५ के उदाहरणमें 'अनु शालिभद्रम् आख्याः, अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः, सूत्र १।४।१६ के उदाहरणमें 'उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः; सूत्र १।४।२० की वृत्तिमें 'आकुमारेश्वो यशः समन्त-भद्रस्य'; सूत्र १।४।२२ की टीकामें 'अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति'; सूत्र २।१।६८ की टीकामें 'भरतगुह्यः, भुजबलिगुह्यः'; सूत्र १।३।१० की वृत्तिमें 'आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य' ऐसे उदाहरण हैं जो वृत्तिकारने मूलग्रन्थके अनुकूल जैन वातावरणका निर्माण करनेके लिए अपनी प्रतिभासे बनाये हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' उदाहरण महत्वपूर्ण है, उसीके साथ 'सबन्धम्, सटीकम् अधीते' भी ध्यान देने योग्य हैं। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे था जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं [प्रथम-द्वितीय शती]। इसीका दूसरा नाम पट् खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भागविशेष 'बन्ध' या महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्तशास्त्र] था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है; अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमें प्राभृत या पट् खण्डागमसे पृथक् महाबन्धका अस्तित्व था और दोनोंका अध्ययन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सटीकमधीते' में जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्मप्राभृतपर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। संभवतः वही टीका प्राभृत और बन्धके साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्रके उदाहरणोंमें किसी समय इष्टि, पशुबन्ध, अग्नि, रहस्य नामक शतपथ ब्राह्मणके तत्तद् कार्डोंका अध्ययन विद्याका आदर्श माना जाता था। देवनन्दीने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दीकी महावृत्तिसे सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोकमें प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्', यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोकप्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्', 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्तकी लोकप्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं [श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशते; महावृत्ति १।३।५]। सूत्र २।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरणमें अभयनन्दीने श्रीदत्तके विरचित ग्रन्थको श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्तका बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। सूत्र १।४।४ की वृत्तिमें 'शरदं मथुरा रमणीया, मासं कल्याणी काञ्ची' ये दोनों उदाहरण अभयनन्दीकी मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' [२।३।५] की काशिका वृत्तिमें 'मासं कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मासं कल्याणी काञ्ची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दीने किसी विशेष स्रोतसे प्राप्त की थी। जिस काञ्चीपुरीके मासव्यापी उत्सवोंकी विशेष शोभाकी ओर इस उदाहरणमें संकेत है वह महेंद्रवर्मन्, नरसिंह वर्मन् आदि पल्लववंशियोंकी राजधानीके सम्बन्धमें होना चाहिए। अतएव सप्तम शतीसे पूर्व यह उदाहरण भाषामें उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें अभयनन्दीने माघके 'सटाक्याभिन्नघनेन बिभ्रता...' श्लोकका उद्धरण दिया है। माघके दादा सुप्रभदेव वर्मलातके मंत्री

ये जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव भाषका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध होना चाहिए। उसके बाद ही अभयनन्दीने महावृत्तिका निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६९ पर 'चन्द्रगुप्त-सभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परामें प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिकामें जो 'पुष्यमित्रसभा' दूसरा उदाहरण है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रक्खा है। उही प्रकार काशिकामें [१।४।२३] में केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दीने 'पाषाणसभा और पक्षेष्टकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये हैं। कहीं-कहीं अभयनन्दीने काशिकाकी अपेक्षा भाष्यके उदाहरणोंको स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।१३७ में 'औद्दालकिः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः' यह भाष्यका उदाहरण था जिसे बदलकर काशिकाने अपने समयके अनुकूल 'आर्जुनिः पिता, आर्जुनायनः पुत्रः' [काशिका २।४।६६] यह उदाहरण कर दिया था। 'आर्जुनायन' काशिकाकारके समयके अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्तकी प्रयागस्तम्भ प्रशस्तिमें आर्जुनायनगणके उल्लेखसे ज्ञात होता है। कहीं-कहीं महावृत्तिमें काशिकाकी सामग्रीको स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये हैं जो सूचित करते हैं कि अभयनन्दीकी पहुँच अन्य प्राचीन वृत्तियों तक थी, जैसे सूत्र १।४।८२ की वृत्तिमें 'उद्धरोवति' तो काशिकामें भी है किन्तु 'विपाट्-चक्रभिदम्' [विपाशा और चक्रभिद नदीका संगम] उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२९ में मयूरिकावन्ध, क्रौञ्चवन्ध, चक्रवन्ध, कूटवन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिकामें समान हैं, पर चण्डालिकावन्ध और महिषिकवन्ध उदाहरण महावृत्तिमें नये हैं। काशिकाका मुष्टिवन्ध महावृत्तिमें दृष्टिवन्ध और चोरकवन्ध चारकवन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ में भी चारकवन्ध पाठ है। सूत्र ५।४।९६ 'पानं देशे' की वृत्तिमें काशिकाके 'क्षीरपाणाः उशीनराः' को 'क्षीरपाणाः आन्ध्राः' और 'सौवीरपाणा वाह्नीकाः' को 'सौवीरपाणाः द्रविणाः' कर दिया है। 'द्रविणाः' द्रमिल या द्रमिडका रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दीने किसी प्राचीन वृत्तिके आधार पर या स्वयं अपनी सूचनाके आधारपर किये होंगे। आन्ध्र देशमें दूध पीनेका और तामिल देशमें काँजी पीनेका व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध रहा होगा। कहीं-कहीं महावृत्तिमें कठिन शब्दोंके नये अर्थ संग्रह करनेका प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अषडक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र ५।४।७ की काशिका वृत्तिमें 'अषडक्षीणो मन्त्रः' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मंत्र या परामर्श जो केवल राजा और मंत्रीके बीचमें हुआ हो [यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः]। 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः' के अनुसार राजा और मुख्य मंत्रीकी 'चार आँखों' या 'चार कानों' से बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जानेकी आशंका रहती थी। अभयनन्दीने काशिकाके इस अर्थको स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीतिसे। उन्होंने 'अषडक्षीणो देवदत्तः' उदाहरणको प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नामका व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्रमेंसे किसीको न देखा हो। अर्थात् जो स्वयं अपने पिता पितामहकी मृत्युके बाद उत्पन्न हुआ हो और स्वयं अपने पुत्र जन्मके कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गेदको भी अषडक्षीण कहा है [येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडतः सोऽप्येवमुक्तः]। या तो ये अर्थ अभयनन्दीके समयमें लोकप्रचलित थे या उनकी कल्पना है। महावृत्तिमें 'अषडक्षीण' का एक अर्थ मछली भी किया है पर उसमें खींचतान ही जान पड़ती है। सूत्र ३।४।१३४ में 'अयानयान' शब्दके अर्थका भी महावृत्तिमें विस्तार है।

महावृत्ति सूत्र २।२।६२ में इतिहासकी विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रह गई है। उसमें ये दो उदाहरण आये हैं—

'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम् । अरुणद् यवनः साकेतम्'

व्याकरणकी दृष्टिसे यह आवश्यक था कि कोई ऐसा उदाहरण लिया जाता जो लोकप्रसिद्ध घटनाका सूचक हो, जो कहनेवालेके परोक्षमें घटित हुआ हो किन्तु जिसका देख सकना उसके लिए सम्भव हो अर्थात् उसके जीवन कालकी ही कोई प्रसिद्ध घटना हो, पर जिसे सम्भव होने पर भी उसने स्वयं देखा न हो। भाष्यकार पतञ्जलिने इसका उदाहरण देते हुए अपनी समसामयिक दो घटनाओंका उल्लेख किया था—'अरुणद्

‘यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् ।’ इनमें शाकलके यवन राजाओं द्वारा किये हुए उन दो हमलोंका उल्लेख है जिनमेंसे एक पूर्वकी ओर साकेत पर और दूसरा पच्छिममें मध्यमिका पर। मध्यमिका चित्तौड़के पासका वह स्थान था जिसे इस समय नगरी कहते हैं और जहाँ खुदाईमें प्रात पुराने सिक्कों पर मध्यमिका नाम लिखा हुआ मिला है। ये हमले किस राजाने किये थे उसका नाम पतञ्जलिने नहीं दिया, किन्तु यूनानी इतिहासलेखकोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि उस राजाका नाम मिनन्दर था जिसे पाली भाषामें मिलिन्द कहा गया है। उसके सिक्कों पर तत्कालीन बोलचालकी प्राकृत भाषामें उसका नाम मेनन्द्र मिलता है। महावृत्तिके ‘अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्’ इस उदाहरणमें दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। इसमें राजाका नाम महेन्द्र दिया हुआ है, पर हमारी सम्मतिमें इसका मूलपाठ ‘मेनन्द्र’ था। पीछेके लेखकोंने मेनन्द्र नामकी ठीक पहचान न समझ कर उसका संस्कृत रूप महेन्द्र कर डाला। इस उदाहरणसे संस्कृत साहित्यकी भारतीय साक्षी प्रात हो जाती है कि पूर्वकी ओर अभियान करनेवाले यवनराजका नाम मेनन्द्र या मिनन्दर था। यवनराज मेनन्द्रने पाटलिपुत्र पर दौत गड़ा कर पहले धक्केमें मथुरा पर अधिकार जमाया और फिर आगे बढ़कर साकेतको लूँक लिया। साकेत पहुँचनेके लिए मथुराका जीतना आवश्यक था। अब यह सूचना पक्के रूपमें अभयनन्दीके उदाहरणसे प्रात हो जाती है। इससे यह भी पता लगता है कि काशिकाके अतिरिक्त भी अभयनन्दीके सामने पाणिनि व्याकरणकी ऐसी सामग्री थी जिससे उसे यह नया ऐतिहासिक तथ्य प्रात हुआ। सूत्र १।१।३६ की वृत्तिमें आरण्यक पर्व १२६।८-१० का यह श्लोक पठित है—

उल्लखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत् । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तं तु द्रव्यसि ॥

काशिका २।१।४५ में यह श्लोक किन्हीं प्रतियोंमें प्रक्षिप्त और किन्हींमें मूलके अन्तर्गत माना गया है, किन्तु महावृत्तिसे सिद्ध हो जाता है कि वह काशिकाके मूलपाठका भाग था। श्लोकके उत्तरार्धमें जो ‘दिवा-नृत्तं रात्रौ नृत्तं’ पाठ है उसका समर्थन महाभारतकी कुछ प्रतियोंसे होता है पर कुछ अन्य प्रतियोंमें ‘वृत्तं’ पाठ है जैसा कि काशिकामें और महाभारतके पूना संस्करणमें भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिको जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरणकी पुष्कल सामग्रीसे भर दिया है वह सर्वथा अभिनन्दनके योग्य है। आशा है जिस समय काशिकावृत्ति, अभयनन्दीकृत महावृत्ति और शाकटायन व्याकरणकी ओमोधवृत्ति इन तीनोंका तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव होगा तो यह बात और भी स्पष्ट रूपसे जानी जा सकेगी कि प्रत्येक वृत्तिकारने परम्परासे प्रात सामग्रीकी कितनी अधिक रक्षा अपने अपने ग्रन्थमें की थी। यह सन्तोषका विषय है कि इन वृत्तियोंने सावधानीके साथ प्राचीन सामग्रीको बचा लिया।

आचार्य देवनन्दीने पाणिनीय अष्टाध्यायीको आधार मानकर उसे पञ्चाध्यायीमें परिवर्तन करते समय दो बातोंकी ओर विशेष ध्यान रखा था—एक तो धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओंको भी जिनके कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरणमें इतनी स्पष्टता और स्वारस्य आ सका था, इन्होंने बीजगणितके जैसे अतिसंक्षिप्त संकेतोंमें बदल दिया है जिनकी सूची परिशिष्टमें दे दी गयी है। दूसरे जितने स्वर सम्बन्धी और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्र थे उनको आ० देवनन्दीने छोड़ दिया है। किन्तु ऐसा करते हुए इन्होंने उदारतासे काम लिया है, जैसे आनाय्य, धाया, सानाय्य, कुण्डपाय्य, परिचाय्य, उपचाय्य, [२।१।१०४-१०५]; प्रावस्तु [२।१।१५६] आदि वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंको रख लिया है। इसी प्रकार सास्य देवता प्रकरण [३।१।२१-२८] में शुक्र, अपोनप्त, महेन्द्र, सोम, द्वावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्व, अग्नीषोम, वास्तोस्पति, गृहमेघ आदि गृहसूत्रकालीन देवताओंके नामोंको पाणिनीय प्रकरणके अनुसार ही रहने दिया है। प्रत्योंमें आनेवाले फ, ट, ख, छ, घ औरै यु, वु, एवं उनके स्थानमें होनेवाले आदेशोंको भी ज्योंका त्यों रहने दिया है। [५।१।१; ५।१।२]। ‘तेन प्रोक्तम्’ प्रकरण [३।३।७६-८०] में वैदिक शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थोंके नाम भी ज्योंके त्यों जैनेन्द्र व्याकरणमें स्वीकृत कर लिये गये हैं। कहीं कहीं जैनेन्द्रने उन परिभाषाओंको स्वीकार किया है जो प्राक् पाणिनीय व्याकरणोंमें मान्य थी और जिनका

उल्लेख भाष्य या वार्तिकोंमें आया है। उदाहरणके लिए जैनेन्द्र सूत्र १।३।१०५ में उत्तरपदकी वृत्तज्ञा मानी गई है। पतञ्जलिके महाभाष्यमें सूत्र ७।३।३ पर श्लोकवार्तिकमें ध्रु पाठ है और वहां 'किमिदं घोषितं उत्तर-पदस्येति' लिखा है। सूत्र ७।१।२१ के भाष्यमें त्रयुको अनुत्तरपदका पर्याय माना है पर कीलहार्न का सुभाव था कि ध्रु का शुद्ध पाठ ध्रु होना चाहिए। वह बात जैनेन्द्रके सूत्र १।३।१०५ 'उत्तरपदं ध्रु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्यमें भी ध्रु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।

सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि पाणिनिके 'पूर्वत्रासिद्धम्' [८।२।१] सूत्र और उससे संबंधित असिद्ध प्रकरणको भी जो पाणिनिके शास्त्रनिर्माण कौशलका अद्भुत नमूना है, जैनेन्द्र व्याकरणमें 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र [५।३।२७] में स्वीकार किया है। तदनुसार जैनेन्द्रके साढ़े चार अध्यायोंके प्रति अन्तके लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्रके अन्तर्गत आते हैं। देवनन्दीने अपनी पञ्चाध्यायीमें पाणिनीय अष्टाध्यायीके सूत्रक्रममें कमसे कम फेरफार करके उसे जैसेका तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रोंके शब्दोंमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है। जैनेन्द्र और पाणिनीय व्याकरणोंकी तुलनात्मक पाद सारणीसे यह स्पष्ट हो जाता है। विशेष तुलनात्मक सूत्रसूची ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट रूपमें दी गयी है।

जैनेन्द्र	पाणिनि	जैनेन्द्र	पाणिनि
१।१	१।१-२	३।३	४।३-४।४।१०६
१।२	१।३-४	३।४	५।१-५।२।४७
१।३	२।१-२	४।१	५।२।४८-५।३।११०
१।४	२।३-४	४।२	५।४
२।१	३।१	४।३	६।१-३
२।२	३।२	४।४	६।४
२।३	३।३	५।१	७।१-२।११३
२।४	३।४	५।२	७।२।११४-७।४
३।१	४।१	५।३	८।१-२
३।२	४।२	५।४	८।३-४

पूज्यपाद देवनन्दीने आचार्य शुद्धपिच्छ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामक टीकाका निर्माण किया था जो ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थमें उन्होंने कई स्थलोंपर व्याकरणके सूत्रोंका उद्धरण दिया है। उनमें बिना पक्षपातके जैनेन्द्र सूत्रोंको भी और पाणिनीय सूत्रोंको भी उद्धृत किया गया है। उदाहरणके लिए अध्याय ४ सूत्र १६ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें दो सूत्रोंका उल्लेख है—'तदस्मिन्नस्तीति' और 'तस्य निवासः'। इनमें पहलेके विषयमें यह कहना कठिन है कि वह किस व्याकरणसे लिया गया है किन्तु दूसरा पाणिनीय व्याकरणका ही है [४।२।६९] क्योंकि उसका जैनेन्द्रगतपाठ 'तस्य निवासादूरभवौ' रूपमें मिलता है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृष्ठ ५०]। पूज्यपादने न केवल नवीन व्याकरण सूत्रोंकी रचना की, वरन् उनपर जैनेन्द्रन्यास भी बनाया था। उन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर शब्दावतार न्यास भी लिखा था किन्तु अभी तक ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनीय व्याकरण, कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यके पूर्ण मर्मज्ञ थे, एवं जैनधर्म और दर्शनपर भी उनका असामान्य अधिकार था। वे गुप्तयुगके प्रतिभाशाली महान् साहित्यकार थे जिनके तत्कालीन प्रभाव कौकणके नरेशोंपर था, किन्तु कालान्तरमें जो सारे देशकी विभूति बन गये।

काशी विश्वविद्यालय

५ जून १९५६

दो शब्द

मुख्यबोध व्याकरणके रचयिता बोपदेवके नामसे एक श्लोक प्रसिद्ध है; यथा—

“इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशक्ती शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥”

इसमें मुख्य आठ व्याकरणोंके साथ जैनेन्द्र व्याकरणका भी उल्लेख है। इस समय यद्यपि इस व्याकरणका पूर्ण रूपसे अध्ययनाध्यापन आदिमें उपयोग नहीं दिखाई देता तथापि ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे इसका अपना विशेष महत्त्व है। इतना होने पर भी जैनेन्द्रव्याकरणका कोई प्रामाणिक संस्करण अद्यावधि उपलब्ध न हो सका। लाजरस कम्पनी बनारसकी ओरसे इसका प्रकाशन हुआ भी तो भी वह अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तकका ही हो सका। और इसलिए इस ग्रन्थके सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर प्रकाशनकी आवश्यकता बनी रही।

लगभग ८-१० वर्ष भारतीय ज्ञानपीठके अधिकारियोंका ध्यान इस कमीकी ओर आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप इसके सम्पादनका गुरुतर कार्य इसके अधिकारी विद्वान् श्री पं० शम्भुनाथ जी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य सततीर्थको सौंपा गया। श्री त्रिपाठीजीने इसका पूरा प्रामाणिक सम्पादन करनेका प्रयत्न तो किया किन्तु प्रेसमें देनेके पूर्व ही वे यहाँसे चले गये और उन्होंने यहाँ आनेका विचार ही त्याग दिया। तब भी ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीयने अपने प्रयत्नमें कमी न आने दी। उन्होंने सूचित किया कि यदि त्रिपाठी जी यहाँ नहीं आ सकते हैं तो आप इसे उनके पास ले जाकर सम्पादन सम्बन्धी सारी बातें समझ लीजिए और इसे पूर्ण निर्दोष बनाकर प्रकाशनके लिए दे दीजिए। तदनुसार मैं त्रिपाठी जीके मूल निवास-स्थान दोस्तपुर [कैजाबाद] भी गया किन्तु उनसे साक्षात् भेंट न हो सकनेके कारण मन्त्री जीकी सम्मतिसे मुझे ही इस कार्यमें लग जाना पड़ा। अभी तक सम्पादित होकर मेरे नामसे कोई ग्रन्थ प्रकाशित तो नहीं हुआ है फिर भी ज्ञानपीठमें रहते हुए मैंने जो सम्पादन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है उसपर विश्वास करके मैंने माननीय मन्त्रीजी, श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री एवं डा० वासुदेवशरण अग्रवालके उत्साहपूर्ण आदेशसे यह कार्य अपने हाथमें ले लिया। ‘अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्’ इस वचनके अनुसार यह शब्दशास्त्र अनन्त और अगाध है—इसका पार पाना कठिन है; फिर भी त्रिपाठी जी द्वारा किये गये सम्पादनरूप सेतुके रहनेसे उसपरसे चलनेमें मुझे विशेष कठिनाईका अनुभव नहीं करना पड़ा। इन सब प्रयत्नोंके फलस्वरूप जो भी कार्य हुआ है वह सामने है।

सम्पादनकी विशेषताएँ

यह तो पहले ही निर्देश कर आये हैं कि इसका सर्वप्रथम सम्पादन श्रीमान् त्रिपाठी जीने किया था। उन्होंने भाग्यङ्कारक इन्स्टीट्यूट पूना और स्याद्वाद विद्यालय काशीकी हस्तलिखित प्रतियों तथा लाजरस कम्पनी बनारसकी मुद्रित प्रतिके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका सम्पादन किया है। प्रतियोंका परिचय ग्रन्थमें अन्यत्र दिया है। यद्यपि उपर्युक्त सभी प्रतियोंमें वृत्तिमें आये हुए सूत्रोंकी अध्याय व पादके अनुसार संख्याका उल्लेख नहीं किया है तथापि आवश्यक समझकर [] कोष्ठकमें उन्होंने उसका निर्देश कर दिया था जिसमें हमें बहुत कुछ संशोधन भी करना पड़ा है।

प्रायः सब प्रतियोंमें कुछ पाठ त्रुटित व अशुद्ध हो गये हैं। इस सम्बन्धमें वहाँ अशुद्ध पाठको वैसा ही रखकर उसके सामने अन्य ग्रन्थोंके आधारसे शुद्ध पाठ देनेका प्रयास किया गया है; यथा—‘अनियता [नियतवृत्तयः] उत्सेधजीविनः’, ‘इयोर [इदयमानेन] सम्भाव्यमानेन’ [पृष्ठ १०३] आदि।

वृत्तिमें प्रायः वार्तिकों और परिभाषाओंका उल्लेख किया गया है। उनके परिज्ञानके लिए वार्तिकोंके अन्तमें [वा०] तथा परिभाषाओंके अन्तमें [प०] या [परि०] ऐसा संकेतात्मक निर्देश कर दिया है।

यह तो मानी हुई बात है कि श्रीमान् त्रिपाठीजीने इसके सम्पादनमें बहुत श्रम किया है तथापि हमें जो अन्य विशेषताएँ लानी पड़ी हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१. किसी भी उपलब्ध प्रतिमें अध्याय व पादके साथ सूत्रसंख्या नहीं दी गई थी, किन्तु आवश्यक समझकर हमने अध्याय तथा पादकी संख्याका प्रत्येक सूत्रके साथ उल्लेख कर दिया है।

२. अध्याय ४ तथा ५ में अनेक स्थलों पर सूत्र तथा उनकी वृत्ति खण्डित है। हमने उन स्थलों पर सुत्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके अनुसार सूत्रपाठ देकर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

३. श्री त्रिपाठीजीने परिशिष्ट तैयार नहीं किये थे जिनकी पूर्ति हमें करनी पड़ी है। जो परिशिष्ट दिये गये हैं वे ये हैं—[१] जैनेन्द्र सूत्रोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [२] जैनेन्द्र वार्तिकोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [३] जैनेन्द्र परिभाषाओंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [४] जैनेन्द्र गणपाठ सूची, [५] जैनेन्द्र संज्ञा सूची [इस सूचीमें विद्वानोंकी जानकारीके लिए जैनेन्द्र संज्ञाओंके साथ तत्समकक्ष पाणिनि संज्ञाओंका भी उल्लेख कर दिया है], [६] जैनेन्द्र तथा पाणिनिके सूत्रोंकी तुलनात्मक सूत्र-सूची और [७] जैनेन्द्रधुपाठ।

प्रत्याहार-विचार

उपलब्ध किसी भी प्रतिमें प्रत्याहार-सूत्रोंका उल्लेख नहीं मिलता। मालूम पड़ता है कि जैनेन्द्र व्याकरणमें लेखक-परम्पराकी भूलसे उनका उल्लेख होना छूट गया है, क्योंकि शब्दानुशासनके सूत्रोंमें प्रत्याहारोंका आश्रय लेकर शास्त्रोंकी प्रवृत्ति दिखलाई गई है। इस समय हमारे सामने दो प्रकारके प्रत्याहार-सूत्र उपस्थित हैं—प्रथम पञ्चाध्यायीके आरम्भमें आये हुए और दूसरे शब्दार्णवचन्द्रिकाके आरम्भमें आये हुए।

पञ्चाध्यायीके आरम्भमें आये हुए प्रत्याहार-सूत्र ये हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। जमङणनम् ७। ऋभञ् ८। घढधप् ९। जवगडदश् १०। खफळ्ठथचटतव् ११। कपय् १२। शपसर् १३। हल् १४।”

किन्तु शब्दार्णवचन्द्रिकामें आये हुए प्रत्याहार-सूत्रोंमें पञ्चाध्यायीके प्रत्याहार-सूत्रोंसे कुछ अन्तर है। यहाँ पर द्वैविक्यका ठीक तरहसे ज्ञान करानेके लिए शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रत्याहार-सूत्र भी दिये जाते हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरलण् ५। जमङणनम् ६। ऋभञ् ७। घढधप् ८। जवगडदश् ९। खफळ्ठथचटतव् १०। कपय् ११। शपस अं अः ऋ २पर् १२। हल् १३।”

शब्दार्णवके ये प्रत्याहार-सूत्र शाकटायनके प्रत्याहारसूत्रोंसे बहुत कुछ साम्य रखते हैं। जानकारीके लिए शाकटायनके प्रत्याहार-सूत्र भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

“अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरलण् ५। जमङणनम् ६। जवगडदश् ७। ऋभञ् ८। खफळ्ठथट् ९। चटतव् १०। कपय् ११। शपस अं अः ऋ २पर् १२। हल् १३।”

यह तो सुनिश्चित है कि महावृत्तिके आधारसे पञ्चाध्यायीमें जो सूत्रपाठ उपलब्ध होता है उससे शब्दार्णव चन्द्रिकाका सूत्रपाठ बहुत अंशमें भिन्न है और इसी सूत्रपाठके अनुसार प्रत्याहार-सूत्रोंमें अन्तर हुआ है; उदाहरणार्थ—सन्धिसूत्रोंमें पञ्चाध्यायीमें ‘शरद्धोऽटि’ [५। ४। १७३] सूत्र आता है उसके अनुसार अट् प्रत्याहारके परे रहते ‘श’ के स्थानमें ‘छ’ आदेश होता है किन्तु शब्दार्णवकारने उसके स्थानमें ‘शरद्धोऽमि’ [५। ४। १५६] सूत्रको रखकर अट् प्रत्याहारको नहीं माना है और इसलिए ‘हयवरट्, लण्’ इन दो सूत्रोंके स्थानमें शब्दार्णवकारने ‘हयवरलण्’ यह एक ही प्रत्याहार-सूत्र माना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अट् प्रत्याहारके निमित्तसे होनेवाले कायोंमें शब्दार्णवकारने अन्य प्रकारसे निर्वाह करनेका प्रयास किया है।

ऋ और लृ में अमेद मानकर ‘ऋक्’ के स्थानमें शब्दार्णवकारने ‘ऋक्’ प्रत्याहार-सूत्र रखा है।

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यमकी व्याकरण शास्त्रमें अयोगवाह संज्ञा है। पाणिनिके प्रत्याहार-सूत्रोंमें तथा जैनेन्द्र-पञ्चाध्यायीगत प्रत्याहार-सूत्रोंमें इनका उल्लेख नहीं है किन्तु शब्दार्णव-वाले पाठमें अयोगवाहका भी शर् प्रत्याहारके अन्तर्गत समावेश किया है। शाकटायन व्याकरणके प्रत्याहार-सूत्रोंसे शब्दार्णवके प्रत्याहार-सूत्र बहुत कुछ साम्य रखते हैं। ज्ञात होता है कि शब्दार्णवकारने शाकटायन व्याकरणके सूत्रोंके आधारे ही अपने प्रत्याहार-सूत्रोंकी रचना करके तदनुसार ही जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सूत्रोंमें परिवर्तन या परिवर्धन किया हो। सिद्धान्तकौमुदीके ह्रस्वन्धि प्रकरणमें एक वाक्य मिलता है—“अनुस्वार-विसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यानत्वेन...”。 ज्ञात होता है कि शाकटायन तथा शब्दार्णवके प्रत्याहार-सूत्रोंको ध्यानमें रखकर ही भट्टोजिदीक्षितने उपर्युक्त वाक्य लिखा हो।

सात विभक्तियोंका विचार

साधारणतया पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठमें ७ विभक्तियोंके लिए प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि शब्दोंका ही निर्देश किया है। पृथक् किन्हीं संज्ञाओंका निर्देश नहीं किया है, किन्तु जैनेन्द्रकारने 'विभक्ती' शब्दके प्रत्येक अक्षरको अलग करके स्वरके आगे 'प' और व्यञ्जनके आगे 'द्या' जोड़कर सात विभक्तियोंकी संज्ञा निर्दिष्ट की है: यथा—'वा' [प्रथमा], इप् [द्वितीया], भा [तृतीया], अप् [चतुर्थी], का [पञ्चमी], ता [षष्ठी] और ईप् [सप्तमी]। इस प्रकार 'विभक्ती' शब्दके आधारसे ही इन संज्ञाओंका उल्लेख अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता।

जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ

१. पाणिनीय अष्टाध्यायीमें वैदिक एवं स्वरप्रक्रिया इन दो प्रकरणोंके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है किन्तु जैनेन्द्रकारने इन दोनों प्रकारणोंके सूत्रोंका उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि वैदिक शब्दों व प्रयोगोंकी सिद्धि और स्वरविधानका प्रश्न जैनेन्द्रकारके समस्त उपस्थित नहीं था।

२. पाणिनीय व्याकरणमें एकशेष प्रकरणके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है। किन्तु जैनेन्द्रकार इस प्रकरणके सूत्रोंकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करते हुए मादूम देते हैं। उन्होंने इस प्रकरणको ध्यानमें रखकर 'स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः' इस सूत्रकी रचना की है। इससे विदित होता है कि उनका मत रहा है कि लोक-व्यवहारमें जो चीज आचाल वृद्ध प्रचलित है उसे सूत्रबद्ध निर्देश करके शास्त्रके कलेवरको बढ़ाना उचित नहीं है। और इसी लिए उन्होंने एकशेष प्रकरणको नहीं रखा है।

३. पाणिनीय व्याकरणसे सम्बद्ध स्वतन्त्र रूपसे चार प्रकरण मिलते हैं—लिङ्गानुशासन, पाणिनीय शिक्षा, धातुपाठ और गणपाठ। यह कह सकना तो कठिन है कि इन सबका निर्माण स्वयं पाणिनिने किया होगा। उदाहरणार्थ—पाणिनीय शिक्षाको ही लीजिए। इसके प्रारम्भके प्रथम श्लोकमें कहा है—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।' अर्थात् पाणिनिके मतानुसार शिक्षाका निरूपण करते हैं। तथा इसी प्रकरणके अन्तमें एकाधिक बार पाणिनिके लिए नमस्कार भी किया गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि इस प्रकरणका संकलन पाणिनीय व्याकरणको आधार मानकर किसी अन्य समर्थ विद्वान्ने किया हो। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने विक्रम संवत् १९३६ में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नामसे भाषानुवाद सहित एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, उसमें उन्होंने किसी प्राचीन प्रतिके आधारसे पाणिनीय शिक्षा-सूत्रोंका संकलन किया था। बहुत सम्भव है कि ये शिक्षासूत्र ही वर्तमान श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षाके आधार रहे हों।

४. पाणिनीय लिङ्गानुशासनका समावेश अष्टाध्यायीमें नहीं किया गया है। उपलब्ध पाणिनीय लिङ्गानुशासनमें कुल १८१ सूत्र हैं। उनमें कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो अष्टाध्यायीमें भी उपलब्ध होते हैं; परन्तु अधिकतर सूत्र अष्टाध्यायीसे सम्बन्ध नहीं रखते। इन सूत्रोंका निर्माण किसने किया यह प्रश्न विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि पाणिनि व्याकरणमें शब्दसिद्धिके आधार पर अन्य किसी विद्वान्ने लिङ्गानुशासनको सूत्रबद्ध कर दिया हो।

जैनेन्द्र व्याकरणमें लिङ्गानुशासन तथा जैनेन्द्र शिक्षा नामके दो प्रकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

५. 'भूवादयो धातवः' [१।३।१] 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' [२।४।७२] इत्यादि सूत्रों द्वारा गणेशः प्रत्यय-विधान तथा 'इदितो नुम् धातोः' [७।१।५८], ह्यन्तक्षयश्चसृजगृणिश्येदिताम्' [७।२।५], 'रुदश्च पञ्चभ्यः' [७।३।६८] आदि सूत्रों द्वारा अनुबन्ध तथा गणपाठको आश्रय लेकर धातुओंसे कार्य विधान किया गया है। इसी प्रकार गणपाठका आश्रय लेकर भी प्रकृति-प्रत्ययका विधान किया हुआ है। इससे यह सुनिश्चित है कि पाणिनिके समक्ष उनके स्वनिर्मित गणपाठ और धातुपाठ अवश्य ही विद्यमान थे।

यही स्थिति जैनेन्द्र धातुपाठ तथा गणपाठके विषयमें भी है। वहाँ भी 'भूवादयो धुः' [१।२।१] 'उज्जुहोत्वादभ्यः' [१।४।१४५] 'इदिदोर्नुम्' [५।१।३७] आदि सूत्रों-द्वारा धातुओंसे संज्ञा, प्रत्यय और आगम एवं आदेश आदिका विधान किया गया है। तथा गणपाठके निमित्तसे भी शास्त्र प्रवृत्ति देखी जाती है।

अतः सुनिश्चित है कि जैनेन्द्रके समस्त भी अपने स्वरचित धातुपाठ तथा गणपाठ अवश्य रहे होंगे किन्तु काल-क्रम वे आज अनुपलब्ध हो गये हैं।

६. पाणिनि व्याकरणमें उणादि-सिद्ध कार्योंके लिए “उणादयो बहुलम्” [३।३।१] सूत्र आता है। जैनेन्द्र व्याकरणमें भी इसी रूपमें इस सूत्रका उल्लेख है [२।२।१६]। इन दोनों मूल व्याकरणोंमें इस प्रकरणमें आये हुए प्रयोगोंकी सिद्धिके विषयमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा गया है। मात्र जैनेन्द्र महावृत्तिमें इस सूत्रकी व्याख्या करते समय कुछ सूत्रोंके उल्लेखके साथ उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले प्रयोगोंके कतिपय प्रकार दिखलाये गये हैं। यह निश्चित कहना कठिन है कि जैनेन्द्र महावृत्तिमें ये उणादि सूत्र कहाँ से आये। यदि इन्हें जैनेन्द्रकारका माना जाय तो शंका होती है कि पञ्चाध्यायीमें इनका संकलन क्यों नहीं हुआ ? यद्यपि महावृत्तिमें उल्लिखित उणादि सूत्रोंमें कहीं-कहीं जैनेन्द्रव्याकरणकी संज्ञाओंका प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है यथा ‘अस् सर्वधुभ्यः’ [पृष्ठ १७]; पर जवतक कोई निश्चित आधार नहीं मिलता तवतक इन सूत्रोंको स्वयं जैनेन्द्रकारका मान लेनेको मन नहीं होता। उणादि प्रकरणका संकलन करते हुए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें ७५५ सूत्र प्रमाण पञ्चपादी उणादि सूत्रोंकी सोदाहरण व्याख्या दी है। किन्तु पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें ये सूत्र उपलब्ध नहीं होते। उणादिका निर्देश करनेवाला ‘उणादयो बहुलम्’ [३।३।१] सूत्र अष्टाध्यायीमें उपलब्ध होता है किन्तु उसका संकलन भट्टोजिदीक्षितने उणादि प्रक्रियामें न करके उत्तर कुदन्तमें किया है। विद्वानोंका मत है कि ये उणादिसूत्र शाकटायन प्रणीत हैं जिनके समयका उल्लेख करते हुए श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकने लिखा है कि ‘इत्का काल विक्रमसे लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा’। [संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास पृष्ठ ११६]

पातञ्जल महाभाष्यमें एक वाक्य मिलता है; यथा—‘नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च लोकः।’

इसका आशय यह है कि ‘निरुक्तमें सभी संज्ञाशब्दोंको धातुज कहा है और व्याकरण शास्त्रमें शकटके पुत्र [शाकटायन] भी ऐसा ही कहते हैं।’ इससे मालूम पड़ता है कि शाकटायन विरचित कोई ऐसा प्रकरण अवश्य रहा होगा जिसमें धातुओंके निमित्तसे प्रत्यय विधान करके संज्ञाशब्दोंकी सिद्धि की गई हो। वह प्रकरण उणादिके सिवा और क्या हो सकता है ? उणादिके दशपादी तथा त्रिपादी पाठ भी उपलब्ध होते हैं। [विशेष विवरणके लिए इसी ग्रन्थमें प्रकाशित श्री युधिष्ठिर मीमांसकका ‘जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ’ शीर्षक निबन्ध देखिए]।

श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने ज्ञानपीठके अनुरोधसे इसकी अनुसन्धानपूर्ण भूमिका लिखकर इसके मङ्गलको बढ़ानेकी कृपा की तथा इनके ही अनुरोधसे ऐतिहासिक सामग्रीकी पूर्णताके लिए श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैन साहित्य और इतिहास’ में मुद्रित ‘देवनन्दि तथा उनका जैनेन्द्र व्याकरण’ शीर्षक गवेषणापूर्ण निबन्ध छापनेकी अनुमति-पूर्वक उसके दूसरे संस्करणके फार्म भिजवानेकी कृपा की जिससे ग्रन्थ-कारके विषयमें ऐतिहासिक अन्वेषणके कठिन कार्यसे मुझे छुट्टी मिल गई। श्री युधिष्ठिर मीमांसकने भी ‘जैनेन्द्रशब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ’ शीर्षक अनुसन्धानपूर्ण निबन्ध लिखकर हमारी बहुत बड़ी सहायता की है। इतना ही नहीं, उन्होंने, प्रस्तुत संस्करणमें जो थोड़ी बहुत त्रुटियाँ रह गई हैं, उनका उल्लेख करके आत्मीयतापूर्वक सौहार्द भी प्रदर्शित किया है। अतः उक्त तीनों विद्वानोंका विशेष आभारी हूँ।

श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशालीने भी समय समय पर उपयोगी सुझाव देकर इस ग्रन्थको शुद्ध, सर्वाङ्गपूर्ण तथा सर्वोपयोगी बनानेमें सहायता दी तथा मेरे उत्साहको बढ़ाया इसलिए मैं उनका भी विशेष आभारी हूँ।

कार्य बहुत बढ़ा था और सम्पादनका मेरा यह पहला अवसर है, इसलिए सम्भव है कि इसमें अभी भी कुछ दोष रह गये हों। मेरा विश्वास है कि विद्वान् पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

वाराणसी
दीपावली
वि० सं० २०१३

—महादेव चतुर्वेदी

देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण

लेखक :- श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी

जैनेन्द्र और ऐन्द्र

मुग्धबोधकर्ता बोपदेवने जिन आठ वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उनमें एक 'जैनेन्द्र' भी है^१। ये जैनेन्द्र अथवा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्त्ता कौन थे इस विषयमें इतिहासज्ञोंमें कुछ समय तक बड़ा विवाद चला था। डॉ० कीलहार्नने इसे जिनदेव अथवा भगवान् महावीरद्वारा इन्द्रके लिए कहा गया बतलाया^२ और इसके सुवृत्तमें उन्होंने कल्पसूत्रकी समयसुन्दरकृत टीका, और लक्ष्मीवल्लभकृत उपदेशमाला-कर्णिकाका यह उल्लेख पेश किया था कि जिनदेव महावीर जिस समय आठ वर्षके थे उस समय इन्द्रने शब्दलक्षणसंबंधी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तररूप यह व्याकरण बतलाया गया, इसलिए इसका नाम जैनेन्द्र पड़ा^३।

श्वेताम्बरसम्प्रदायके और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्रकी विनयविजय-कृत सुबोधिका टीकामें लिखा है कि भगवान्को माता-पिताने पाठशालामें गुरुके पास पढ़नेके लिए भेजा है, यह जानकर इन्द्र स्वर्गसे आया और पण्डितके घर, जहाँ भगवान् थे वहाँ, गया। उसने भगवान्से पण्डितके मनमें जो जो सन्देह थे, उन सबको पूछा। जब सब लोग यह सुननेके लिए उत्कर्ण हो रहे थे कि देखें यह बालक क्या उत्तर देता है, तब भगवान् बीरने सब प्रश्नोंके उत्तर दिये, और तब 'जैनेन्द्र व्याकरण' बना।

परन्तु इस प्रसंगके वे सब उल्लेख अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं जिनमें भगवान्के उत्तररूप इस व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' बतलाया है। प्राचीन उल्लेखोंमें इसका नाम जैनेन्द्रकी जगह 'ऐन्द्र' प्रकट किया है; जैसा कि आवश्यकसूत्रकी हारिभद्रीयवृत्तिके पृष्ठ १८२ में लिखा है^४।

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रके प्रथम प्रकाशमें लिखा है कि भगवान्ने

१. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥—धातुपाठ

२. इंडियन एन्टिक्वेरी १०, पृ० २५१ ।

३. यद्दिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारोऽपि निरूपितम् । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम् ॥

४. [शक्रः] यत्र भगवान् तिष्ठति तत्र पण्डितगोहे समाजगाम । आगत्य च पण्डितयोग्ये आसने भगवन्तमुपवेश्य पण्डितमनोगतान् सन्देहान् पप्रच्छ, श्रीवीरोऽपि बालोऽयं किं वक्ष्यतीत्युत्कर्णेषु सकललोकेषु सर्वाणि उत्तराणि ददौ, ततो 'जैनेन्द्रव्याकरणं' जज्ञे । यतः—

सको य तत्समकलं भगवन्तं आसणे निवेशितः । सद्रुस लक्षणां पुच्छे वागरणावयवा इदं ॥

५. शक्रः तत्समक्षं लेखाचार्यसमच्चं भगवन्तं तीर्थकरं आसने निवेश्य शब्दस्य लक्षणं पृच्छति । भगवता च व्याकरणं अभ्यधाति । व्याक्रियन्ते लौकिक-सामायिकाः शब्दाः अनेन इति व्याकरणं शब्दशास्त्रम् । तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः, ततश्च ऐन्द्रं व्याकरणं संजातम् ।

६. मातापितृभ्यामन्येषुः प्रारब्धेऽध्यापनोत्सवे । आः सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितिन्द्रस्तमुपास्थितः ॥ ५६ ॥

उपाध्यायासने तस्मिन्वासवेनोपवेशितः । प्रणम्य प्रार्थितः स्वामी शब्दपारायणं जगौ ॥ ५७ ॥

इदं भगवतेन्द्राय प्रोक्तं शब्दानुशासनम् । उपाध्यायेन तच्छ्रुत्वा लोकेऽवैन्द्रमितीरितम् ॥ ५८ ॥

इन्द्रके लिए जो शब्दानुशासन कहा, उपाध्यायने उसे सुनकर लोकमें 'ऐन्द्र' नामसे प्रकट किया। अर्थात् इन्द्रके लिए जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम 'ऐन्द्र' हुआ।

प्राचीन कालमें इन्द्रनामक आचार्यका बनाया हुआ एक संस्कृत व्याकरण था^१। उसका उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। ऊपर दिये हुए बोपदेवके श्लोकमें भी उसका नाम है। हरिवंशपुराणके कर्त्ताने देवनन्दिको 'इन्द्रचन्द्राकजैनेन्द्रव्यापिब्याकरणेक्षणः' विशेषण दिया है। शब्दार्णवचन्द्रिकाकी ताडपत्रवाली प्रतिमें, जो १२ वीं शताब्दीके लगभगकी लिखी हुई मातृम्ह होती है, 'इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः' आदि श्लोकमें इन्द्रके व्याकरणका उल्लेख किया है। बहुत अधिक समय हुआ यह नष्ट हो गया है^२। जब यह उपलब्ध ही नहीं है तब इसके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यद्यपि आजकलके समयमें इस बातपर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीरने भी कोई व्याकरण बनाया होगा और वह भी मागधी या प्राकृतका नहीं, किन्तु ब्राह्मणोंकी खास भाषा संस्कृतका। तो भी यह निस्सन्देह है कि वह व्याकरण 'जैनेन्द्र' नहीं था। यदि बनाया भी होगा तो वह 'ऐन्द्र' ही होगा। क्योंकि हरिभद्रसूरि और हेमचन्द्रसूरि उसीका उल्लेख करते हैं, जैनेन्द्रका नहीं। जान पड़ता है, विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभने पीछेसे 'ऐन्द्र' को ही 'जैनेन्द्र' बना डाला है। उनके समयमें भी 'ऐन्द्र' अप्राप्य था, इसलिए उन्होंने प्राप्य 'जैनेन्द्र' को ही भगवान् महावीरकी कृति बतलाना विशेष सुकर और लाभप्रद सोचा।

हरिभद्रसूरि विक्रमकी अठारवीं शताब्दिके और हेमचन्द्रसूरि तेरहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं जिन्होंने 'ऐन्द्र' को भगवान्का व्याकरण बतलाया है; परन्तु 'जैनेन्द्र' को भगवत्परीत बतलानेवाले विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभ विक्रमकी अठारहवीं शताब्दिमें हुए हैं।

भगवद्वाग्वादिनी

विनयविजयजीके इस उल्लेखका अनुसरण करके उनके कुछ समय बाद वि० सं० १७६७ में किसी विद्वान्ने साक्षात् महावीर भगवान्का बनाया हुआ व्याकरण तैयार कर दिया और उसका दूसरा नाम 'भगवद्वाग्वादिनी' रक्खा।

इस भगवद्वाग्वादिनीकी एक प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है, जो तत्क्षक^३ नगरमें रत्नपि नामक लेखक द्वारा वि० सं० १७६७ में लिखी गई थी। इसकी पत्रसंख्या ३०, और श्लोकसंख्या ८०० है। प्रति बहुत शुद्ध है। जैनेन्द्रका सूत्रपाठ मात्र है और वह सूत्रपाठ है जिसपर शब्दार्णवचन्द्रिका टीका लिखी गई है। इस वाग्वादिनीके आविष्कारकने शक्ति भर इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इसके कर्त्ता साक्षात् महावीर भगवान् हैं, दिग्गम्भीरी देवनन्दि नहीं। उनको सब युक्तियाँ हमने इस ग्रन्थके अन्तमें उद्धृत कर दी हैं। उन सबपर विचार करनेकी यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

हमारा अनुमान है कि डॉ० कोलहार्नके हाथमें यह 'भगवद्वाग्वादिनी' की प्रति अत्यन्त पड़ी होगी और इसीकी कृपासे प्रेरित होकर उन्होंने अपना पूर्वोक्त लेख लिखा होगा। उनके लेखमें जो श्लोकादि प्रमाणस्वरूप दिये गये हैं वे भी सब इसी परसे लिये गये जान पड़ते हैं।

१. ऋक्तन्त्र (१-४) के अनुसार इन्द्रने प्रजापतिसे शब्दशास्त्रका अध्ययन किया था और यह उसीका अनुकरण मालूम होता है।

२. डॉ० ए० सी० बर्नेलने इन्द्रव्याकरणके विषयमें चीनी तिब्बतीय और भारतीय साहित्यमें जो उल्लेख मिलते हैं उनको संग्रह करके 'ओन दि ऐन्द्रस्कूल ऑफ संस्कृत ग्रामेरियन्स' नामकी एक बड़ी पुस्तक लिखी है।

३. "तेन प्रणष्टमैन्द्रं तदस्माद्व्याकरणं भुवि"—कथासरित्सागर, तरंग ४

४. जयपुर राज्यके 'टोडा रायसिंह' का पुराना नाम तत्क्षक नगर है।

डॉ० कीलहार्नके इस भ्रमको सबसे पहले स्व० डॉ० के० बी० पाठकने दूर किया और अब तो जैनेन्द्र व्याकरण काफी प्रसिद्ध हो गया है।

देवनन्दि और पूज्यपाद

श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में लिखा है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण 'उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

मंगराज कविके शकसंवत् १३६५ के शिलालेखसे भी यही दो नाम प्रकट होते हैं।

जिनेन्द्रबुद्धि नामके एक और वैयाकरण हो गये हैं जिनका बनाया हुआ पाणिनि व्याकरणकी काशिका-वृत्तिपर एक न्यास है। वे बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य या बौद्ध साधु थे।

देवनन्दिका संक्षिप्त नाम 'देव' भी था। जिनसेन^३ और वादिराजसूरिने इन्हें इसी संक्षिप्त नामसे स्मरण किया है।

अनेक लेखकोंने उन्हें केवल देवनन्दि नामसे और केवल पूज्यपाद नामसे स्मरण किया है और दोनों नामोंसे उन्हें वैयाकरण माना है।

महाकवि धनंजयकी नाममालामें एक श्लोक है जिसमें पूज्यपादको लक्षण-ग्रन्थ (व्याकरण) का कर्ता माना है^४।

जैनेन्द्रकी प्रत्येक हस्तलिखित प्रतिके प्रारंभमें जो श्लोक मिलता है, उसमें ग्रन्थकर्त्ताने 'देवनन्दितपूजेश' पदमें जो कि भगवान्का विशेषण है अपना नाम भी प्रकट कर दिया है^५। संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंके मंगलाचरणोंमें

१. यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा

सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।

छन्दः सूचमधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-

माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

२. श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।

यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥ १५ ॥

धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुविभ्रदुच्चकैः।

जिनबद्धवभूव यदनङ्गचापहस्त जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥ १६ ॥

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमोषध्दिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।

यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं क्लिप्त तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥

३. कवीनां तीर्थकृदेवः किं तरां तत्र वस्यते। विदुषां वाङ्मूलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ ५२ ॥

—आदिपुराण प्र० पर्व

४. अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंधो हितैषिणा। शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलभिताः ॥ १८ ॥

—पार्श्वनाथचरित प्र० सर्ग

५. प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनंजयकृतेः काव्यं इत्यत्रयमपश्चिमम् ॥ २० ॥

६. लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते। देवनन्दितपूजेशं नमस्तस्मै स्वयं भुवे ॥

यह पद्धति अनेक विद्वानोंने स्वीकार की है। इससे स्वयं ग्रन्थकर्ताके वचनोंसे भी जैनेन्द्रके कर्ता 'देवनन्दि' ठहरते हैं।

गणरत्नमहोदधिके कर्ता वर्धमान और हैम शब्दानुशासनके लघुन्यास बनानेवाले कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताका नाम देवनन्दि ही बतलाते हैं। अतः अब इस विषयमें किसी प्रकारका कोई सन्देह बाकी नहीं रह गया कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ है।

दो तरहके सूत्र-पाठ

जैनेन्द्र व्याकरणके मूल सूत्र-पाठ दो प्रकारके उपलब्ध हैं—एक तो वह जिसपर आचार्य अभयनन्दि की 'महावृत्ति' तथा श्रुतकीर्तिकृत 'पञ्चवस्तु' नामकी प्रक्रिया है; और दूसरा वह जिसपर सोमदेवसूत्रिकृत 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' और गुणनन्दिकृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकारके पाठमें लगभग ३००० और दूसरेमें लगभग ३८०० सूत्र हैं, अर्थात् एकसे दूसरेमें कोई ७०० सूत्र अधिक हैं, और जो ३००० सूत्र हैं वे भी दोनोंमें एकसे नहीं हैं। अर्थात् दूसरे सूत्रपाठमें पहले सूत्र-पाठके सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित भी किये गये हैं। पहले प्रकारका सूत्र-पाठ पाणिनीय सूत्र-पाठके ढंगका है, वर्तमान दृष्टिसे वह कुछ अपूर्ण-सा जान पड़ता है और इसी लिए महावृत्तिमें बहुतसे वार्तिक तथा उपसंख्यान आदि बनाकर उसकी पूर्णता की गई दिखलाई देती है, जब कि दूसरा पाठ प्रायः पूर्ण-सा जान पड़ता है और इसी कारण उसकी टीकाओंमें वार्तिक आदि नहीं दिखलाई देते। दोनों पाठोंमें बहुत-सी संज्ञाएँ भी भिन्न प्रकारकी हैं।

इन भिन्नताओंके होते हुए भी दोनों पाठोंमें समानताकी भी कमी नहीं है। दोनोंके अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनोंके प्रारंभका मंगलाचरण बिलकुल एक है और दोनोंके कर्ताओंका नाम भी देवनन्दि या पूज्य-पाद लिखा हुआ मिलता है।

असली सूत्रपाठ

अब प्रश्न यह है कि इन दोनोंमेंसे स्वयं देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ असली सूत्र-पाठ कौन-सा है ?

हमारे खयालमें आचार्य देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समयतक तो ठीक समझा जाता रहा जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायनको भी जैनेन्द्रके होते हुए एक जुदा जैन व्याकरण बनानेकी आवश्यकता इसीलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है, और इसलिए बिना वार्तिकों और उपसंख्यानो आदिके उससे काम नहीं चल सकता, परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरणके भक्तोंको उसकी त्रुटियाँ खटकने लगीं और उनमेंसे आचार्य गुणनन्दिने उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया। इस प्रयत्नका फल ही यह दूसरा सूत्र-पाठ है जिसपर सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिका रची गई है। इस सूत्र पाठको बारीकीके साथ देखनेसे मालूम पड़ता है कि गुणनन्दिके समय तक व्याकरण-सिद्ध जितने प्रयोग होने लगे थे उन सबके सूत्र उसमें मौजूद हैं और इसलिए उसके टीकाकारोंको वार्तिक आदि बनानेके भ्रमोंमें नहीं पड़ना पड़ा है। अभयनन्दि की महावृत्तिके ऐसे बीसों वार्तिक हैं जिनके इस दूसरे पाठमें सूत्र ही बना दिये गये हैं।

१. क-नीतिवाक्यामृतके मंगलाचरणमें सोमदेव कहते हैं—

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् । सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रूवे ॥

ख—आचार्य अनन्तवीर्य लघीयस्त्रयकी वृत्तिके प्रारंभमें कहते हैं—

जिनाधीशं मुनिं चन्द्रमकलंकं पुनः पुनः । अनन्तवीर्यमानौमि स्याद्वादन्यायनायकम् ॥

२. शालातुरीय-शाकटाङ्गज-चन्द्रगोमि-दिग्वज्र-भर्तृहरि-वामन-भोजमुख्याः ।

१—शब्दार्णव-चन्द्रिकाके अन्तिम पद्यमें सुप्रसिद्ध गुणनन्दि आचार्यके शब्दार्णवमें प्रवेश करनेके लिए सोमदेवकृत वृत्तिको नौकाके समान बतलाया है।^१ इससे ज्ञान पड़ता है कि आचार्य गुणनन्दिके बनाये हुए व्याकरण ग्रन्थकी यह टीका है और उसका नाम शब्दार्णव है। इस टीकाका 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' नाम भी तभी अन्वर्थक होता है, जब मूल सूत्र-ग्रन्थका नाम शब्दार्णव हो। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि प्रक्रियाके अन्तिम श्लोकसे और भी अच्छी तरहसे हो जाती है जिसका आशय यह है कि गुणनन्दिने जिसके शरीरको विस्तृत किया है, उस शब्दार्णवको जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए तथा आश्रय लेनेवालोंके लिए यह प्रक्रिया साक्षात् नावके समान काम देगी। इसमें 'शब्दार्णव' को जो 'गुणनन्दितानितवपुः' विशेषण दिया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उससे साफ समझमें आता है कि गुणनन्दिके जिस व्याकरणपर ये दोनों टीकाएँ—शब्दार्णव-चन्द्रिका और प्रक्रिया—लिखी गई हैं उसका नाम 'शब्दार्णव' है और वह मूल (असली) जैनेन्द्र व्याकरणके संक्षिप्त शरीरको तानित या विस्तृत करके बनाया गया है।

शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रारम्भका मंगलाचरण भी इस विषयमें ध्यान देने योग्य है^३ जिसमें ग्रन्थकर्ताने भगवान् महावीरके विशेषणरूपमें क्रमसे पूज्यपादका, गुणनन्दिका और अपना (सोमामर या सोमदेवका) उल्लेख किया है, और इससे वे निस्सन्देह यही ध्वनित करते हैं कि मुख्य व्याकरणके कर्ता पूज्यपाद हैं, उसको विस्तृत करनेवाले गुणनन्दि हैं और फिर उसकी टीका करनेवाले सोमदेव (स्वयं) हैं। यदि यह चन्द्रिका टीका पूज्यपादके व्याकरणकी ही होती, तो मंगलाचरणमें गुणनन्दिका नाम लानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। गुणनन्दि उनकी गुरु-परम्परामें भी नहीं हैं, जो उनका उल्लेख करना आवश्यक होता। अतः यह सिद्ध है कि चन्द्रिका और प्रक्रिया दोनोंके ही कर्ता यह समझते थे कि हमारी टीकाएँ असली जैनेन्द्रपर नहीं किन्तु उसके 'गुणनन्दितानितवपुः' शब्दार्णवपर बनी हैं।

२—शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रिया इन दोनों ही टीकाओंमें 'एकशेष' प्रकरण है; परन्तु अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' वाले सूत्रपाठमें एकशेषको अनावश्यक बतलाया है—“स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः।” [१-१-११] और इसीलिए देवनन्दि या पूज्यपादका व्याकरण 'अनेकशेष' कहलाता है। चन्द्रिका टीकाके कर्ता स्वयं ही “आदावुपज्ञोपक्रमम्” [१-४-११४] सूत्रकी टीकामें उदाहरण देते हैं “देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्।” यह उदाहरण अभयनन्दिकृत महावृत्तिमें भी दिया गया है। इससे सिद्ध है कि शब्दार्णव-चन्द्रिकाके कर्ता भी उसी व्याकरणको देवोपज्ञ या देवनन्दिकृत मानते हैं, जो अनेकशेष है, अर्थात् जिसमें 'एकशेष' प्रकरण नहीं है और ऐसा व्याकरण वही है जिसकी टीका अभयनन्दिने की है।

३—आचार्य विद्यानन्दि अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ २६५ में 'नैगमसंग्रह-' आदि सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, “नयश्च नयौ च नयाश्च नया इत्येकशेषस्य स्वाभाविकस्याभिधाने दर्शनात् केषाञ्चित्था वचनोपलम्भाच्च न विरुद्ध्यते।” इसमें स्वाभाविकताके कारण, एकशेषकी अनावश्यकता प्रतिपादन की है और यह अनावश्यकता जैनेन्द्रके वास्तविक सूत्र-पाठमें ही उपलब्ध होती है। “स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः” [१-१-११] यह सूत्र शब्दार्णववाले पाठमें नहीं है, अतः विद्यानन्द भी पूर्वोक्त सूत्रवाले

१. श्रीसोमदेवयतिनिर्मितिमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवाधौ।

• सेयं सताममलचेतसि विस्फुरन्ती वृत्तिः सदा नुतपदा परिवर्तिषीष्ट॥

२. सत्संधि दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं, निर्ज्ञातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम्।
सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णये, नाविश्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया॥

३. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपूजितपादयुग्मम्।

सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम्॥

४. इस प्रक्रियाका भी नाम 'शब्दार्णव-प्रक्रिया' होगा, जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं।

जैनेन्द्र-पाठके माननेवाले थे। पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिए कि उपलब्ध व्याकरणोंमें 'अनेकशेष' व्याकरण केवल देवनन्दिकृत ही है, दूसरा नहीं।

४—तत्त्वार्थ-टीका 'सर्वार्थसिद्धि' के कर्ता स्वयं पूज्यपाद या देवनन्दि हैं। इस टीकामें अध्याय ५, सूत्र २४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, “‘अन्यतोऽपि’ इति तसि कृते सर्वतः।” और इसी सूत्रकी व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार लिखते हैं, “‘दृश्यतेऽन्यतोऽपीति’ तसि कृते सर्वेषु सर्वत इति भवति।” जान पड़ता है कि या तो सर्वार्थसिद्धिकारने इस सूत्रको संक्षेप करके लिखा होगा, या लेखकों तथा छपानेवालोंने प्रारम्भका 'दृश्यते' शब्द छोड़ दिया होगा। वास्तवमें यह पूरा सूत्र 'दृश्यतेऽन्यतोऽपि' ही है और यह अभयनन्दिवाले सूत्र-पाठके अ० ४ पा० १ का ७९ वाँ सूत्र है। परन्तु शब्दार्णववाले पाठमें न तो यह सूत्र है और न इसके प्रतिपाद्यका विधानकर्ता कोई दूसरा सूत्र है। इससे सिद्ध है कि पूज्यपादका असली सूत्रपाठ वही है जिसमें उक्त सूत्र मौजूद है

५—भट्टकलंकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें 'आद्ये परोक्षम्' [अ० १, सू० ११] की व्याख्यामें "सर्वादि सर्वनाम" [१-१-३५] सूत्रका उल्लेख किया है, इसी तरह परिङ्कत आशाधरने अनंगारधर्माभूतटीका [अ० ७ श्लो० २४] में "स्तोके प्रतिना" [१-३-३७] और "भाथे [१-४-१४] इन दो सूत्रोंको उद्धृत किया है और ये तीनों ही सूत्र जैनेन्द्रके अभयनन्दिवृत्तिवाले सूत्रपाठमें ही हैं। शब्दार्णववाले पाठमें इनका अस्तित्व ही नहीं है। अतः अकलंकदेव और पं० आशाधर इसी अभयनन्दिवाले पाठको ही माननेवाले थे। अकलंकदेव वि० की आठवीं नौवीं शताब्दिके और आशाधर १३ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं।

६—पं० श्रीलालजी शास्त्रीने शब्दार्णव-चन्द्रिकाकी भूमिकामें लिखा है कि "आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित 'सर्वार्थसिद्धि' में 'प्रमाणनयैरधिगमः' [अ० १ सू० ६] की टीकामें यह वाक्य दिया है—"नयशब्द-स्यालपात्तरत्वात् पूर्वनिपातः प्राप्नोति ? नैप दोषः, अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपातः।" और अभयनन्दिवाले पाठमें इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला कोई सूत्र नहीं है। केवल अभयनन्दिका 'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति' वार्तिक है। यदि अभयनन्दिवाला सूत्र-पाठ ठीक होता तो उसमें इस विषयका प्रतिपादक सूत्र अवश्य होता जो कि नहीं है। पर शब्दार्णववाले पाठमें 'अच्यम्' [१-३-११५] ऐसा सूत्र है जो इसी विषयको प्रतिपादित करता है। इसलिए यही सूत्र-पाठ देवनन्दिकृत है।" इसपर हमारा निवेदन यह है कि "अलपात्तरम्" [२-२-३४] यह सूत्र पाणिनिका है और इसके ऊपर कात्यायनका "अभ्यर्हितं च" वार्तिक तथा पतंजलिका "अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति" भाष्य है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि-टीकाके इस स्थलमें पाणिनि और पतंजलिके ही सूत्र तथा भाष्यको लक्ष्य करके उक्त विधान किया है। यह निश्चित है कि उन्होंने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें अन्य व्याकरणोंके भी मत दिये हैं और अनेक बार पतंजलिके महाभाष्यके वाक्य^३।

सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २२ की व्याख्यामें लिखा है—"यथाहुः-दुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बित-योरुपसंख्यानमिति।" इसकी अन्य पुरुषकी 'आहुः' क्रिया ही कह रही है कि ग्रन्थकर्त्ता यहाँ किसी अन्य पुरुषका वचन दे रहे हैं। अब पतंजलिका महाभाष्य देखिए। उसमें १-२-१ के ५ वें वार्तिकके भाष्यमें बिलकुल यही वाक्य दिया हुआ है—एक अक्षरका भी हेरफेर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिके कर्त्ताने अन्य व्याकरण-ग्रन्थोंके भी प्रमाण दिये हैं।

१. 'संस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास' में श्री युधिष्ठिर मीमांसकने लिखा है कि जैनेन्द्रसे कई शताब्दि पूर्वके चान्द्र व्याकरणमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

२. तत्त्वार्थराजवार्तिकमें इसी 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रकी व्याख्यामें पतंजलिका यह भाष्य ज्योंका त्यों अक्षरशः दिया है। अभयनन्दिका भी यही वार्तिक है। परन्तु तब तक अभयनन्दिका अस्तित्व ही न था।

३. राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें भी यह वाक्य उद्धृत किया गया है।

सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र १६ की व्याख्यामें लिखा है, “शास्त्रेऽपि ‘अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायामित्येवमादिषु तदेव गृह्यते ।” यह पाणिनिके ७-१-५१ सूत्रपर कात्यायनका पहला वार्तिक है । वहाँ “अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्” इतने शब्द हैं और इन्हींको सर्वार्थसिद्धिकारने लिया है । यहाँ कात्यायनके वार्तिकको उन्होंने ‘शास्त्र’ शब्दसे व्यक्त किया है ।

सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र ४ की व्याख्यामें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेके लिए पूज्यपादस्वामी लिखते हैं, “नेः ध्रुवे त्यः इति निष्पादितत्वात् ।” परन्तु जैनेन्द्रमें ‘नित्य’ शब्दको सिद्ध करनेवाला कोई सूत्र ही नहीं है, इसलिए अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमें “ङ्येस्तुट्” [३-२-८५] सूत्रकी व्याख्यामें “नेर्ध्रुवः इति वक्तव्यम्” यह वार्तिक बनाया है और ‘नित्यं सर्वकालं भवं नित्यं’ इस तरह स्पष्ट किया है । जैनेन्द्रमें ‘त्य’ प्रत्यय ही नहीं है, इसके बदले ‘य’ प्रत्यय है । अतः सर्वार्थसिद्धिकारने पूर्वोक्त बात स्वनिर्मित व्याकरणको लक्ष्यमें रखकर नहीं कही है । अन्य व्याकरणोंके प्रमाण भी वे देते थे और यह प्रमाण भी उसी तरहका है ।

कुछ स्थानोंमें उन्होंने अपने निजके सूत्र भी दिये हैं । जैसे पाँचवें अध्यायके व्याख्यानमें लिखा है “विशेषणं विशेष्येण” इति वृत्तिः ।” यह जैनेन्द्रका १-३-५२ वाँ सूत्र है । यह सूत्र शब्दार्णवचन्द्रिका [१-३-४८] वाले पाठमें भी है ।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि जैनेन्द्रका असली सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिकृत वृत्ति है । शब्दार्णवचन्द्रिकावाला पाठ असली सूत्र-पाठको संशोधित और परिवर्धित करके बनाया गया है और उसका यह संस्करण संभवतः गुणनन्दि आचार्यकृत है ।

अब प्रश्न यह है कि जब गुणनन्दिने मूल ग्रंथमें इतना परिवर्तन और संशोधन किया, तब उस परिवर्तित ग्रन्थका नाम जैनेन्द्र ही क्यों रक्खा ? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक तो शब्दार्णवचन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाके पूर्वोल्लिखित श्लोकोंसे गुणनन्दिके व्याकरणका नाम ‘जैनेन्द्र’ नहीं किन्तु ‘शब्दार्णव’ मालूम होता है । सम्भव है कि अर्ध-दग्ध श्लोकोंकी कृपासे इन टीका-ग्रंथोंमें ‘जैनेन्द्र’ नाम शामिल हो गया हो । दूसरे यदि ‘जैनेन्द्र’ नाम हो भी, तो ऐसा कुछ अनुचित नहीं है । क्योंकि गुणनन्दिका प्रयत्न कोई स्वतंत्र ग्रंथ बनानेकी इच्छासे नहीं किन्तु ‘जैनेन्द्र’ को सर्वांगपूर्ण बनानेकी सदिच्छासे है और इसीलिए उन्होंने जैनेन्द्रके आधेसे अधिक सूत्र ज्योंके त्यों रहने दिये हैं, तथा मंगलाचरण आदि भी उसका ज्योंका त्यों रक्खा है ।

जैनेन्द्रकी टीकाएँ

पूज्यपादस्वामीकृत असली जैनेन्द्रकी इस समय तक केवल चार ही टीकाएँ उपलब्ध हैं—१ अभयनन्दिकृत ‘महावृत्ति’, २ प्रभाचन्द्रकृत ‘शब्दाम्भोजभास्करन्यास’, ३ श्रुतकीर्तिकृत ‘पंचवस्तुप्रक्रिया’ और ४ पं० महाचन्द्रकृत ‘लघुजैनेन्द्र’ । परन्तु इसके सिवाय इसकी और भी कई टीकाएँ होनी चाहिए । पंचवस्तुके अन्तके श्लोकमें जैनेन्द्रशब्दागम या जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है । वह मूलसूत्ररूप स्तम्भोंपर खड़ा किया गया है, न्यासरूप उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके किवाड़ हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं और यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपानश्रेणी है । इसके द्वारा उक्त महलपर आरोहण किया जा सकता है । इससे मालूम होता है कि पंचवस्तुके कर्ताके समयमें इस व्याकरणपर १ न्यास, २ वृत्ति, ३ भाष्य और ४ कई टीकाएँ, इतने टीका-ग्रन्थ मौजूद थे ।

१. तत्सर्वार्थराजवार्तिकमें भी है “शास्त्रेऽपि अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायामित्येवमादौ तदेव कर्माख्यायते ।”

२. सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन्नन्यासोत्तरलक्षितिश्रीमद्भृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्योऽथ शय्यातलम् ।

टीकामालमिहारक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं प्रासादं पृथु पंचवस्तुकमिवं सोपानसरोहतात् ॥

न्यास—उक्त टीकाओंमेंसे 'न्यास' तो शब्द स्वयं पूज्यपादका ही होगा जो अभी तक अनुपलब्ध है। शिमोगा जिलेकी नगर तहसील के ४६वें शिलालेखमें लिखा है कि पूज्यपादने एक तो (अपने व्याकरणपर) जैनेन्द्र-संज्ञक न्यास और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर शब्दावतार नामक न्यास बनाया। इसके सिवाय वैद्यक-शास्त्र और तत्त्वार्थ-टीका भी लिखी।

यह निश्चय है कि पूज्यपाद केवल सूत्र-ग्रन्थ बनाकर ही न रह गये होंगे। अपनी मानो हुई अतिशय सूक्ष्म संज्ञाओं और परिभाषाओंका स्पष्टीकरण करनेके लिए उन्हें कोई टीका या वृत्ति अवश्य बनानी पड़ी होगी जिस तरह शाकटायनने अपने व्याकरणपर अमोघवृत्ति नामकी स्वोपज्ञटीका बनाई।

विद्यानन्दने अष्टसहस्री (पृष्ठ १३२) में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानान्' यह वचन उद्धृत किया है। यह किसी व्याकरण ग्रन्थका वार्तिक है; परन्तु पण्डितोंने किसी भी वार्तिकमें यह नहीं मिलता। अभय-नन्दिकी महावृत्तिमें अवश्य ही "प्यखे कर्मणि का वक्तव्या" [४-१-३८] इस प्रकारका वार्तिक है; परन्तु अभयनन्दिकी वृत्ति विद्यानन्दसे पीछे की बनी हुई है, इसलिए विद्यानन्दने यह वार्तिक अभयनन्दिकी वृत्तिसे नहीं किन्तु अन्य ही किसी ग्रन्थसे लिया होगा।

भाष्य—जैनेन्द्रके भाष्यका अभी तक पता नहीं लगा।

आगे हम उपलब्ध टीकाग्रन्थोंका परिचय देते हैं—

१-महावृत्ति—इसकी एक प्रति पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूटमें मौजूद है और एक प्रति बम्बईके सरस्वती-भवनमें भी है। पूनेकी प्रतिमें इसकी श्लोकसंख्या १२००० के लगभग है। प्रारंभके ३१४ पत्र एक लेखके लिखे हुए और शेष ७४ पत्र, चैत्र सुदी २ मं० १६३३ को किसी दूसरे लेखकके लिखे हुए हैं। प्रतिके दोनों ही भाग जयपुरके लिखे हुए माट्टम होते हैं। कई स्थानोंमें कुछ पंक्तियाँ छूटी हुई हैं^३ और अन्तमें कोई प्रशस्ति आदि नहीं है^३।

इस महावृत्तिके कर्ता अभयनन्दि मुनि हैं। उन्होंने न तो अपनी गुरुपरम्पराका ही परिचय दिया है और न ग्रन्थ-रचनाका समय ही। परन्तु सूत्र ३-२-५५ की टीकामें एक जगह उदाहरण दिया है— "तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते।" इससे मालूम होता है कि भट्टकलंकदेवके बाद अर्थात् वि० की आठवीं नवीं शताब्दिके बादकी यह वृत्ति है—और पंचवस्तुके पूर्वोत्तिखित श्लोकमें इसी वृत्तिका उल्लेख जान पड़ता है, इसलिए श्रुतकीर्तिके अर्थात् विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके पहले किसी समयमें वे हुए हैं। जैनेन्द्रकी उपलब्ध टीकाओंमें यही टीका सबसे प्राचीन मालूम होती है।

२-शब्दाम्भोजभास्करन्यास—बम्बईके सरस्वती-भवनमें इसकी दो अपूर्ण प्रतियाँ मौजूद हैं। एक प्रतिमें १४ वें पत्रसे २६६ तक और फिर ६२० वें पत्रसे ७०३ तकके ही पत्र हैं। १४ वें पत्रपर पहले

१. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैशशाखं च कृत्वा।

यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादस्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णद्व्यबोधवृत्तः ॥

२. नं ५६० A और B सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट।

३. ओं नमः। श्रीमत्सर्वज्ञवीतरागतद्वचनतदनुसारिगुरुभ्यो नमः।

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम्। शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥

यच्छब्दलक्षणमसुव्रजपात्मन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः।

तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मंगलमिदमाहाचार्यः।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

समाप्तश्चायं पञ्चमोऽध्यायः।

अध्यायके पहले पादका १६ वाँ सूत्र है। यह प्रति बहुत प्राचीन और शुद्ध है परन्तु आगसे झुलसी हुई है। दूसरी प्रतिमें केवल तीन अध्याय हैं। इसकी श्लोक संख्या १२००० है। इससे जान पड़ता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ १६००० के लगभग होगा।

अभयनन्दिकी वृत्तिसे यह बढ़ा है और उससे पीछे बना है। इसमें महावृत्तिके शब्द ज्योंके त्यों ले लिये गये हैं और तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार भी किया है।

इसके कर्ता प्रभाचन्द्र हैं और वे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके ही कर्ता मालूम होते हैं। क्योंकि इसके प्रारंभमें ही यह कहा गया है कि अनेकान्तकी चर्चा उक्त दोनों ग्रन्थोंमें की गई है, इसलिए यहाँ नहीं करते। अवश्य ही इधमें उन्होंने अपने ही ग्रन्थोंको देखनेके लिए कहा है, “अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः, अनेकान्तात्मक इत्यर्थः। तत्र च प्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पकल्पिताशेषविप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिप्रमाणमेव प्रत्यस्तमयतीति (?) तद्धिततया तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्तोऽनुमानदिश्च यथा सिद्ध्यति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिरूपितमिह द्रष्टव्यम्।”

इसके मंगलाचरणमें पूज्यपाद और अकलंकको नमस्कार किया गया है।

३—पंचवस्तु—भंडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें इसकी दो प्रतियाँ मौजूद हैं, जिनमें एक ३००—४०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई है और बहुत शुद्ध है और दूसरी^३ संवत् १६२० की। पहलीपर लेखकका नाम और प्रति लिखनेका समय आदि नहीं है। इसके अन्तमें केवल इतना लिखा हुआ है—“कृतिरियं देवनद्याचार्यस्य परवादमित्थनस्य ॥३॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥ श्रीसंघस्य ॥”

दूसरी प्रति रत्नकरण्डभावाकाचारवचनिका आदि अनेक भाषाग्रन्थोंके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित सदासुखजीके हाथकी संवत् १९१० की लिखी हुई है।

यह टीका प्रक्रिया-बद्ध है और बड़े अच्छे ढंगसे लिखी गयी है। इसकी श्लोकसंख्या ३३०० के लगभग है। प्रारंभके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी उपयोगी है।

इस ग्रन्थके आदि-अन्तमें कहीं भी कर्त्ताका नाम नहीं है। केवल एक जगह पाँचवें पत्रमें नाम आया है, जिससे मालूम होता है कि इसके रचयिता श्रुतकीर्ति हैं^४।

१. नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने । प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

२. नं० १०५६ सन् १८८७-६१ की रिपोर्ट ।

३. नं० ५६० सन् १८७५-७६ की रिपोर्ट । इस ग्रन्थकी एक प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरके भंडारमें भी है। देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५।

४. अब्दे नभश्चन्द्रविधिस्थिरांके शुद्धे सहस्र्यम् (?) युक् चतुर्थ्याम् ।

सत्प्रक्रियाबन्धनिबन्धनेयं सद्वस्तुवृत्तीरदनात्समाप्ता (?) ॥

श्रीमन्नुराणामधिपेशराज्ञि श्रीरामसिंहे विलसत्यलेखि ।

श्रीमद्बुधेनेह सदासुखेन श्रीयुक्तेलालनिजात्मबुद्धयै ॥

शब्दीयशास्त्रं पठितं न यैस्तैः स्वदेहसंपालनभारवद्भिः ।

किं दर्शनीयं कथनीयमेतद् वृथांगसंभावपलापवद्भिः ॥

यह प्रति भी प्रायः शुद्ध है।

५. याम-वैर-वर्ण-कर-चरणादीनां संघीना बहूनां संभवत्वात् संशयानः शिष्यः संपृच्छति स्म ।

कस्सन्धिरिति ।

संज्ञास्वरप्रकृतिहल्जविसर्गजन्मा संधिस्तु पंचक इतीत्यमिहाहुरन्ये ।

तत्र स्वरप्रकृतिहल्जविकल्पतोऽस्मिन्संधि त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्यः ॥

कनड़ी भाषाके चन्द्रप्रभचरित नामक ग्रन्थके कर्ता अगल कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है—“इदु परमपुरनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथ—श्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्री मद्गर्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते—” इत्यादि । और यह चरित शक संवत् १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ है । अतएव यदि श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती एक ही हों, तो पंचवस्तुको भी अभयनन्दि महावृत्तिके पीछेकी—विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारंभकी—रचना समझना चाहिए । नंदिसंघकी गुर्वावलीमें श्रुतकीर्तिको वैयाकरण-भास्कर लिखा है ।

४—लघुजैनेन्द्र—इसकी एक प्रति अंकलेश्वर (भरोच) के दिगम्बर जैनमन्दिरमें है और दूसरी अभूरी प्रति परतापगढ़ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरमें । यह अभयनन्दिकी वृत्तिके आधारसे लिखी गई है । पण्डित महाचन्द्रजी विक्रमकी इसी बीसवीं शताब्दिमें हुए हैं ।^३ इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और भाषाओं में कई ग्रंथ लिखे हैं ।

५—जैनेन्द्र-प्रक्रिया—यह पं० वंशीधरजी न्यायतीर्थ न्यायशास्त्रीने हाल ही लिखी है । इसका केवल पूर्वार्ध ही छपकर प्रकाशित हुआ है ।^४

शब्दार्णवकी टीकाएँ

जैनेन्द्र सूत्र-पाठके संशोधित परिवर्धित संस्करणका नाम—जैसा कि पहले लिखा जा चुका है—शब्दार्णव है । इसके कर्ता गुणनन्दि हैं । यह बहुत संभव है कि सूत्र-पाठके सिवाय उन्होंने इसकी कोई टीका या वृत्ति भी बनाई हो जो कि उपलब्ध नहीं है ।

गुणनन्दि नामके कई विद्वान् हो गये हैं । एक गुणनन्दिका उल्लेख श्रवणबेलगोलके ४२, ४३ और ४७ वें नम्बरके लिखालेखोंमें मिलता है । ये बलाकपिच्छके शिष्य और गृध्रपिच्छके प्रशिष्य थे । तर्क, व्याकरण और साहित्य शास्त्रोंके बहुत बड़े विद्वान् थे । इनके ३०० शास्त्रपरंगत शिष्य थे और उनमें ७२ शिष्य सिद्धान्तशास्त्री थे । आदि पंपके गुरु देवेन्द्र भी इन्हींके शिष्य थे^५ । कर्नाटक-कविचरितके कर्ताने इनका समय वि० संवत् ६५७ निश्चय किया है । क्योंकि इनके प्रशिष्य देवेन्द्रके शिष्य आदि पंपका जन्म वि० सं० ६५६ में हुआ था और उसने ३६ वर्षकी अवस्थामें अपने सुप्रसिद्ध कनड़ी काव्य भारतचम्पू और आदिपुराण निर्माण किये हैं । हमारा अनुमान है कि ये ही गुणनन्दि शब्दार्णवके कर्ता हैं ।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यके कर्ता वीरनन्दिका समय शक संवत् ९०० के लगभग निश्चित होता है । क्योंकि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें उनका स्मरण किया है और वीरनन्दिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

१. त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः ।

२. देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५ ।

३. महावृत्ति शुभत्सकलबुधपूज्यां सुखकरीं, विलोक्योद्यद्भ्योऽज्ञानप्रभुविभयनन्दिप्रवहिताम् ।

अनेकैः सच्छब्दैर्भ्रमविगतकैः संदडभूतां (?) प्रकुर्वेऽहं (टीकां) तनुमतिमहाचन्द्रविबुधः (?) ॥

४. जैनेन्द्रकी एक टीका प्रक्रियावतार नामकी और है जिसके कर्ता नेमिचन्द्र हैं । डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग आफ दि सं० मे० गवर्नमेंट ओरियण्टल मेनु० लायब्रेरी मद्रास, बोल्यूम III में उसका परिचय दिया है—
सर्वज्ञाय नमस्तस्मै व्रीतक्लेशाय शान्तये । येन भग्यात्मनश्चेतस्तमस्तोमश्चिकित्सितः ॥

किं वाणीचतुरानः किमथवा वाचस्पतिः किं न्वसौ, विद्यानां विभवास्सहस्रवदनस्साक्षादनुन्तः किमु । इत्थं संसदि साधवः समुदितास्संशरते सादरं, विद्वत्पुङ्गवनेमिचन्द्रभवति व्याख्यानमातन्वति ॥

५. तच्छिष्यो गुणनन्दिपण्डितयतिश्चरित्रचक्रेश्वरः, तर्कन्याकरणादिशास्त्रनिपुणः साहित्यविद्यापतिः ।

मिथ्यात्वादिसदान्धस्मिन्धुरचयसंघातकण्ठीरवो, भन्याम्भोजदिवाकरो विजयतां कम्धर्दपापहः ॥

है—१ श्री गुणनन्दि, २ विबुध गुणनन्दि, ३ अभयनन्दि और ४ वीरनन्दि । यदि पहले गुणनन्दि और वीरनन्दिके बीचमें हम ७८ वर्षका अन्तर मान लें, तो पहले गुणनन्दिका समय वही शक संवत् ८२२ या वि० सं० ९५७ के लगभग आ जायगा । इससे यह निश्चय होता है कि वीरनन्दिकी गुरुपरम्पराके प्रथम गुणनन्दि और आदि पम्पके गुरु देवेन्द्रके गुरु गुणनन्दि एक ही होंगे ।

गुणनन्दि नामके एक और आचार्य शक संवत् १०३७ [वि० सं० ११७२] में हुए हैं, जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके गुरु थे ।

शब्दार्णवकी इस समय दो टीकाएँ उपलब्ध हैं और दोनों ही सनातनजैनग्रन्थमालामें छप चुकी हैं—

१-शब्दार्णवचन्द्रिका, और २-शब्दार्णव प्रक्रिया ।

१-शब्दार्णवचन्द्रिका—इसकी एक बहुत ही प्राचीन और अतिशय जीर्ण प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमें है । यह ताड़पत्रपर नागरी लिपिमें है । इसके आदि-अन्तके पत्र प्रायः नष्ट हो गये हैं । छपी हुई प्रतिमें जो गद्य-प्रशस्ति है, वह इसमें नहीं है और अन्तमें एक श्लोक है जो पूरा नहीं पढ़ा जाता—

इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः पाणिनिः पूज्यपादो

यत्प्रोवाचापिशखिरमरः काशकृत्स्नः शब्दपारायणस्येति ।

इसके कर्ता श्रीसोमदेव मुनि हैं । ये शिलाहार वंशके राजा भोजदेव [द्वितीय] के समयमें हुए हैं और अर्जुनिका नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैनमन्दिरमें—जो कि महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेवका बनवाया हुआ था । इसे शक संवत् ११२७ [वि० सं० १२७२] में बनाया है । यह ग्राम इस समय आजरें नामसे प्रसिद्ध है और कोल्हापुर राज्यमें है । वादीभवभ्रांकुश श्रीविशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयावृत्यसे इस ग्रन्थकी रचना हुई है ।

इस ग्रन्थके मंगलाचरणके पहले श्लोकमें पूज्यपाद, गुणनन्दि और सोमदेव ये विशेषण वीर भगवान्को दिये हैं और दूसरे श्लोकमें कहा है कि यह टीका मूलसंघीय मेघचन्द्रके शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यतिके लिए बनाई गई^३ ।

गुणनन्दिकी प्रशंसा चुरादि धातुपाठके अन्तमें भी एक पद्यमें की गई है, जिसका अन्तिम चरण यह है—
“शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधिगुणनन्दिब्रतीशस्सुसौख्यः ।” इसमें शब्दब्रह्मा विशेषण देकर गुणनन्दिको शब्दार्णव व्याकरणका कर्ता ही प्रकट किया गया है ।

ये मेघचन्द्र आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु ही मालूम होते हैं । इन्हें श्रवणबेलगोलके नं० ४७ के शिलालेखमें सिद्धान्तशतामें जिनसेन और वीरसेनके सदृश, न्यायमें अकलंकके समान और व्याकरणमें साक्षात् पूज्यपादसदृश बतलाया है । श्रवणबेलगोलके नं० ५० और ५२ नम्बरके शिलालेखोंसे मालूम होता है कि इनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ [वि० सं० ११७२] में और उनके शुभचन्द्रदेव नामक शिष्यका स्वर्गवास शक संवत् १०६८ [वि० सं० १२०३] में हुआ था । इसके सिवाय उनके दूसरे शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक सं० १०४१ [वि० सं० ११७६] में एक महापूजाप्रतिष्ठा कराई थी । जब सोमदेवने शब्दार्णवचन्द्रिका मेघचन्द्रके प्रशिष्य हरिचन्द्रके लिए शक सं० ११२७ [वि० सं० १२६२] में बनाई थी, तब मेघचन्द्रका समय वि० सं० ११७२ के लगभग माना जा सकता है ।

१. नं० २५ सन् १८८०-८८ की रिपोर्ट ।

२. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरवतिपपूजितपादयुग्मम् ।

सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ॥ १ ॥

३. श्रीमूलसंघजलजप्रतिबोधभानोर्मेधेन्दुदीक्षितभुजङ्गसुधाकरस्य ।

राखान्ततोयनिधिवृद्धिकस्य वृत्तिं मेमे हरीन्दुयतये वरदीक्षिताय ॥ २ ॥

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये हैं, एक पम्प रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पम्प था, और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र । पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि । अभिनव पम्पके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे और दूसरे स्वयं बालचन्द्रके शिष्य थे । इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है । इन्हें जो 'राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या टीकाकार होंगे ।

२—**शब्दार्णव-प्रक्रिया**—यह जैनेन्द्र-प्रक्रियाके नामसे छपी है, परन्तु वास्तवमें इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया ही है । हमें इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी । जिस तरह अभयनन्दिनी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पंचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है । प्रकाशकोंने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है; परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमें गुणनन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि समझ लिया है^३ ।

इनमेंसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमें कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहें । यदि इसके कर्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो स्वयं ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहें ? अतः गुणनन्दि ग्रन्थकर्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वे श्रद्धास्पद समझते हैं ।

तीसरे पद्यमें भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मनरूप मानसरोवरमें राजहंसके समान चिरकालतक विराजमान रहें । इसमें भी ग्रन्थकर्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतकीर्तिके नहीं जो पंचवस्तुके कर्ता हैं । ये श्रुतकीर्ति पंचवस्तुके कर्तासे पृथक् जान पड़ते हैं । क्योंकि इन्हें प्रक्रियाके कर्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं । ये वे ही श्रुतकीर्ति मालूम होते हैं जिनका समय प्रो० पाठकने शक संवत् १०४५ या वि० सं० ११८० बतलाया है^३ । श्रवणबेलगोलके जैन गुरुओंने 'चारुकीर्ति पंडिताचार्य' का पद शक संवत् १०३२ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे^४ । श्रवणबेलगोलके १०८ वें शिलालेखमें^५ इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशंसा की गई है ।

प्रक्रियाके कर्ताने इन्हें भट्टारकोत्तंस और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और इस लेखमें भी भट्टारकयति लिखा है । अतः ये दोनों एक मालूम होते हैं । आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति परिण्डिताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्ता हों ।

१. छपी हुई प्रति के अन्तमें "इति प्रक्रियावतारे कृद्धिः समाप्तः । समाप्तं प्रक्रिया ।" इस तरह छपा है । इससे भी इसका नाम जैनेन्द्र-प्रक्रिया नहीं जान पड़ता ।

२. सखंधि दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं निज्ञातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम् । सैषा श्रीगुणनन्दिनानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयं नावित्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥१॥
दुरितमदेभनिशुम्भकुम्भस्थलभेदनचमोग्रनखैः । राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरं जीयात् ॥२॥
सन्मार्गे सकलसुखप्रियकरे संज्ञापिते सद्गने दिग्वासस्सु चरित्रवानमलकः कान्तो विवेकी प्रियः । सोऽयं यः श्रुतकीर्तिदेवयतिप्रो भट्टारकोत्तंसको रंरग्यान्मम मानसे कविपतिः सदाजहंसश्चिरम् ॥३॥

३. देखो 'सितिसस आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६७ ।

४. देखो 'कर्नाटक जैन कवि' पृष्ठ २० ।

५. तत्र सर्वशरीरिरक्षाकृतमतिविजितेन्द्रियः । सिद्धशासनवर्द्धनप्रतिलब्धकीर्तिकालापकः ॥२२॥

विश्रुतश्रुतकीर्तिभट्टारकयतिस्समजायत । प्रस्फुरद्वचनामृतांशुविनाशिताखिलहृत्तमाः ॥२३॥

देवनन्दिका समय

देवनन्दिने अपने किसी ग्रन्थमें न तो कोई रचना-विधि दी है और न अपनी गुरुपरम्परा। इसलिए उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोंके उल्लेखों तथा दूसरे साधनोंसे ही करना पड़ेगा।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' [५-१-७] सूत्रमें सिद्धसेनका मत दिया है और प्रज्ञाचन्द्र पं० सुखलालजीने सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है। उनके लेखका सारांश आगे दिया जाता है—

“जैसलमेरके जैन भण्डारमें विशेषावश्यक भाष्यकी जो अतिशय प्राचीन प्रति मिली है उसके अंतमें ग्रन्थकार जिनभद्र गणिने स्वयं ही ग्रन्थ-रचना-काल दिया है। और उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ वि० सं० ६६६ में बल्लभीमें समाप्त हुआ है। उन्होंने अपने इस विशेषावश्यक भाष्यमें और द्वितीय लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेन और मल्लवादिके उपयोगाभेद-वादकी विस्तृत समालोचना की है। मल्लवाद सिद्धसेनके सन्मतितर्कके टीकाकार हैं। इससे सिद्ध होता है कि मल्लवाद और सिद्धसेन जिनभद्रगणिके क्रमशः पूर्व और पूर्वतर हैं। मल्लवादिके विनष्टमूल द्वादशार नयचक्रके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमें मिलते हैं उनमें सिद्धसेन दिवाकरके उल्लेख तो हैं, परन्तु जिनभद्रगणिके नहीं हैं। इससे फलित होता है कि मल्लवाद जिनभद्रसे पहले हुए हैं और मल्लवादिने सिद्धसेनके सन्मतितर्कपर टीका लिखी थी, इसका निर्देश आचार्य हरिभद्रने किया है। अतः यह सिद्ध है कि सिद्धसेन मल्लवादिके पहले हुए हैं। इसलिए मल्लवादिको विक्रमकी छठी शताब्दिके पूर्वार्धमें माना जाय, तो सिद्धसेनका समय पाँचवीं शताब्दि ठीक लगता है।

“सिद्धसेनके मतके अनुसार 'विद्' धातुमें 'र' का आगम होता है, भले ही वह सकर्मक हो। उनकी नहीं द्वात्रिंशतिकाके २२वें पद्यमें 'र' आगमवाला 'विद्वते' प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक अकर्मक विद् धातुमें 'र' आगम मानते हैं जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक विद् धातुमें 'र' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके [अ० ७ सूत्र १३] में सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६ वें पद्यकी 'उक्तं च' शब्दके साथ “वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते” पंक्ति उद्धृत की है। द्वात्रिंशिकामें यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपु [प] र्षस्मृतेविद्यते।
वधायतनमभ्युपैति च पराननिघ्नमपि
त्वयाज्यमतिदुर्गमः प्रथ[श]महेतुरुद्योतितः ॥१६॥

“पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है। परन्तु मेरी समझमें अभी इसपर और भी गहराईसे विचार होनेकी जरूरत है। यदि सिद्धसेनको देवनन्दिसे पूर्ववर्ती अथवा उनका वृद्धसमकालीन माना जाय, तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दिसे अर्वाचीन नहीं जान पड़ता।”

सिद्धसेनसे देवनन्दि कितने बादके हैं, इसका निर्णय करनेके लिए देवसेनके दर्शनसारसे भी कुछ सहायता मिल सकती है। यह ग्रन्थ उन्होंने वि० सं० ६६० में धारानगरीमें निवास करते हुए पूर्वाचार्योकी बनाई हुई गाथाओंका एकत्र संचय करके—‘पुष्पाहरिकयाइं गाहाइं संचिक्कण एयत्थ’ लिखा गया है। अर्थात् इस ग्रन्थकी गाथाएँ देवसेनसे भी पहलेकी हैं और इस दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता अधिक है। उसके अनुसार श्री पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदि वज्रनन्दि द्राविड संघका कर्ता हुआ और तब दक्षिण मथुरा [मदुरा] में

वि० सं० ५२६ में यह महामिथ्याती संघ उत्पन्न हुआ। वज्रनन्दि चूँकि देवनन्दिके शिष्य थे, इसलिए इस संघ-स्थापना-कालके लगभग या दस बीस वर्ष पहले देवनन्दिका समय माना जा सकता है। सिद्धसेनके पूर्वोक्त निश्चित किये हुए समयसे भी यह असंगत नहीं जान पड़ता।

पं० युधिष्ठिर मीमांसकने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' लिखा है। उन्होंने जैनेन्द्रके 'वैत्ते: सिद्ध-सेनस्य' सूत्रपरसे अनुमान किया है कि सिद्धसेनका कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य होगा। उज्ज्वलदत्तकी उणादि सूत्र वृत्तिमें 'क्षपणक' के नामसे एक ऐसा सूत्र उद्धृत है जिससे प्रतीत होता है कि क्षपणकने भी उणादि सूत्रोंपर कोई व्याख्या लिखी थी और उससे यह भी संभावना होती है कि क्षपणकने अपने शब्दानुशासनपर भी कोई वृत्ति रची होगी। मैत्रेयरहितने तंत्रप्रदीपमें भी क्षपणकके व्याकरणका उल्लेख किया है।

बहुतेसे विद्वानोंकी राय है कि ज्योतिर्विदाभरणमें^३ बतलाये हुए विक्रमके नौ रत्नोंमें जो क्षपणक है, वही सिद्धसेन है और गुप्तवंशके चंद्रगुप्त (द्वितीय) ही विक्रमादित्य है। इतिहासज्ञ विन्सेंट स्मिथके अनुसार चंद्रगुप्तका समय वि० सं० ४३२ से ४७० तक है और इस तरह सिद्धसेनका समय जो पं० सुखलालजीने विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है, और भी पुष्ट हो जाता है।

हेबुल्के दानपत्रमें गंगवंशी महाराजा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतको "शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्ध-बृहत्कथः किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारः" ये तीन विशेषण दिये हैं जिनका अर्थ होता है—शब्दावतारके कर्ता, पैशाचीसे संस्कृतमें गुणाढ्यकी बृहत्कथाको रचनेवाले और किरातार्जुनीय काव्यके पन्द्रह सर्गों के टीकाकार। इन विशेषणोंमें कोई ऐसी बात नहीं जिससे यह प्रकट हो कि देवनन्दि दुर्विनीतके शिष्यागुरु थे या उनके समकालीन थे। परन्तु चूँकि शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेखमें^४ पूज्यपादको पाणिनीयके शब्दावतारका कर्ता बतलाया है, इसलिए दुर्विनीतके साथ लगे हुए "शब्दावतारकार" विशेषणसे कुछ विद्वानोंको भ्रम हो गया और दोनोंको समकालीन समझकर गुरु-शिष्यका सम्बन्ध खड़ा कर दिया है। दुर्विनीतका राज्यकाल वि० सं० ५३९ से शुरू होता है, इसलिए इसीके लगभग पूज्यपादका समय मान लिया गया, परन्तु मैसूरके आस्थान विद्वान् पं० शान्तिराज शास्त्रीने भास्करनन्दिकृत तत्त्वार्थटीकाकी प्रस्तावनामें इस भ्रमको स्पष्ट कर दिया है। इसलिए भले ही पूज्यपाद देवनन्दि दुर्विनीतके राज्यकालमें रहे हों, परन्तु केवल इस दानपत्रसे वह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जैनेन्द्र व्याकरणके एक और सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" [४-४-१४०] में सिद्धसेनके ही समान आचार्य समन्तभद्रका उल्लेख है, जिससे समन्तभद्रका देवनन्दिसे पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है, परन्तु साथ ही

१. सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंचस्स कारणो दुट्ठो । णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥

पंचसए छुव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । दक्खिणमहुरा-जादो दाविडसंचे महामोहो ॥

२. प्रकाशक—भारतीय साहित्यभवन, नवाबगंज, दिल्ली ।

३. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशकुन्वेतालभट्टवटखर्परकालिदासाः । ख्यातो वराहमिहरो नृपतेः समायाः रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

४. मैसूर एण्ड कूर्ग गैजेटियर, प्रथम भाग पृ० ३७३.

५. इस शिलालेखका वह 'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं' आदि पद्य इसके पहले पृष्ठ ३३ पर उद्धृत किया है।

६. बौद्धाचार्य चन्द्रकीर्तिने "समन्तभद्र" नामका एक व्याकरण लिखा था और चन्द्रकीर्ति धर्मकीर्तिसे भी पूर्ववर्ती है। १४ वीं शताब्दिमें लिखे हुए बौद्ध धर्मके इतिहाससे जो तिब्बती भाषामें है, और जिसका अंग्रेजी अनुवाद हो गया है इस बातकी सूचना मिलती है। पं० श्री दलमुख मालवणियाने अपने एक पत्रमें मुझे यह लिखा है।

सर्वार्थसिद्धि टीकाके 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मंगलाचरण पर समन्तभद्रने 'आत्ममीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखा है। इससे जान पड़ता है कि दोनों समकालीन एक दूसरेका आदर करनेवाले हैं और एक दूसरेके ग्रन्थोंसे सुपरिचित होनेके कारण ही यह संभव हुआ है कि देवनन्दि अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें समन्तभद्रका व्याकरणविषयक मत देते हैं और समन्तभद्र देवनन्दिकी सर्वार्थसिद्धिके मंगलाचरणपर अपनी आत्ममीमांसा निर्माण करते हैं।

आचार्य विद्यानन्दने अपनी आत्मपरीक्षाके अन्तमें लिखा है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,

प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलमिदं शास्त्रकारैः कृतं यत् ।

स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितमृथुयशं स्वामिमीमांसितं तत्,

विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥ १२३ ॥

अर्थात् प्रकाशमान रत्नोंके उद्भवस्थान तत्त्वार्थशास्त्र रूप अद्भुत समुद्रके उत्थान या बहावके आरम्भकालमें शास्त्रकार (देवनन्दि) ने तीर्थके तुल्य जो प्रसिद्ध और अति यशस्वी स्तोत्र (मोक्षमार्गस्य नेतारं आदि) बनाया और जिसकी स्वामि (समन्तभद्र) ने मीमांसा की, उसीका अपनी शक्तिके अनुसार सत्यवाक्यार्थसिद्धिके लिए विद्यानन्दने बड़े आदरके साथ कथन किया।

इसमें यह बिलकुल स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इस मंगलाचरण पर ही आत्ममीमांसा रची गई है और उसीपर विद्यानन्द परीक्षा (आत्मपरीक्षा) लिखते हैं।

परन्तु उक्त पद्यमें जो 'शास्त्रकारैः' पद पड़ा हुआ है, उसपर एक बड़ा भारी विवाद खड़ा कर दिया गया है और उसका अर्थ किया जाता है—तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति; जब कि वास्तवमें मोक्षमार्गस्य नेतारं आदि मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धिका है। मूल तत्त्वार्थसूत्रका नहीं। क्योंकि यदि यह मंगलाचरण तत्त्वार्थसूत्रका होता तो उसकी टीका सभी दिगम्बर श्वेताम्बर टीकाकार जो प्राचीन हैं—अवश्य करते। और कोई न करता तो देवनन्दि पूज्यपाद तो [सर्वार्थसिद्धिमें] अवश्य करते। सर्वार्थसिद्धि टीकाका पहला संस्करण स्व० पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने प्रकाशित किया था। उसमें इसे टीकाके मंगलाचरणके रूपमें ही दिया है और भूमिकामें भी उन्होंने इसे टीकाका ही बतलाया है। शोलापुरके पं० वंशीधरजी शास्त्रीके संस्करणमें भी यह टीकाका है और यह संस्करण उन्होंने आगरेकी तीन प्राचीन प्रतियोंके आधारसे सम्पादित किया है। उसमेंकी एक प्रतिको तो वे ५०० वर्ष पुरानी बतलाते हैं। अकलंकदेव और विद्यानन्दने भी राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें इसकी टीका नहीं की है, श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेन और हरिभद्र आदिने भी नहीं की। तत्त्वार्थसूत्रपाठ [मूल] की भी अधिकांश लिखित प्रतियाँ इस मंगलाचरणसे रहित हैं। सनातनग्रन्थमाला प्रथम गुच्छक, जैननित्यपाठसंग्रह आदि सुदृढ़ प्रतियोंमें भी यह नहीं है। तत्त्वार्थसारमें भी, जो तत्त्वार्थका एक तरहसे पल्लवित पद्यानुवाद है, अमृतचन्द्रने इस मंगल पद्यका अनुवाद नहीं किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह मंगलाचरण सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता पूज्यपाद देवनन्दिका है, इसीपर समन्तभद्रने आत्ममीमांसा और विद्यानन्दने आत्मपरीक्षाकी रचना की।

१. दिगम्बर टीकाकारोंमें श्रुतसागर और भास्करनन्दिने 'मोक्षमार्गस्य' आदिकी टीका की है। इनमें श्रुतसागर विक्रमकी सोलहवीं शताब्दिके अन्तमें हुए हैं और भास्करनन्दि १३-१४ वीं शताब्दिमें।

२. जिन पोथियों या गुटकोंमें मूल तत्त्वार्थसूत्र लिखा मिलता है, उसमें इस मंगलाचरणके साथ ही प्रायः "त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं" आदि संस्कृत पद्य और भगवती आराधनाके प्रारम्भकी 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' आदि दो गाथाएँ भी लिखी रहती हैं और उनके बाद 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' शुरू होता है। वास्तवमें जो लोग नित्यपाठ करते हैं, उन्होंने यह परम्परा चला दी है।

अतएव समन्तभद्र और देवनन्दि छठी शताब्दिके हैं और समकालीन हैं। सिद्धसेन उनके पूर्व-वर्ती हैं।

जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य

पाणिनि आदि वैयाकरणों ने जिस तरह अपनेसे पहलेके वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उसी तरह जैनेन्द्रसूत्रोंमें भी नीचे लिखे पूर्वाचार्योंका उल्लेख मिलता है—

१ राद् भूतबले: [३-४-८३], २ गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१-४-३४], ३ कृष्टपिमृजां यशोभद्रस्य [२-१-६६], ४ रात्रे: कृति प्रभाचन्द्रस्य [४-३-१८०], ५ वेत्ते: सिद्धसेनस्य [५-१-७], ६ चतुष्टयं समन्त-भद्रस्य [५-४-१४०]।

जहाँतक हम जानते हैं इन छहों आचार्योंमेंसे शायद किसीने भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा है। इनके ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको लक्ष्य करके उक्त सब सूत्र रचे गये हैं। शाकटायनने भी इसीका अनुकरण करके तीन आचार्योंके मत दिये हैं।

१—भूतबलि-भूतबलिका ठीक-ठीक समय निश्चित करना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीर नि० सं० ६८३ के बाद हुए हैं।^१

२—स्वामी समन्तभद्र और ३—सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं।

४—श्रीदत्त-विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें श्रीदत्तके 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। मालूम होता है कि ये बड़े भारी वादि-विजेता थे^२। आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसूरिने भी इनका स्मरण किया है। संभव है^३ ये श्रीदत्त दूसरे हों और जल्प-निर्णयके कर्ता दूसरे, तथा इन्हीं दूसरेका उल्लेख जैनेन्द्रमें किया गया हो।

५—यशोभद्र—आदिपुराणमें यशोभद्रका स्मरण करते हुए कहा है कि विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कीर्तन सुननेसे ही वादियोंका गर्व खर्व हो जाता है।^४

६—प्रभाचन्द्र—आदिपुराणमें जिनसेन स्वामीने प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति की है, जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना की थी। हरिवंशपुराणमें भी इनका स्मरण किया गया है। ये कुमारसेनके शिष्य थे।

उपलब्ध ग्रन्थ

जैनेन्द्रके सिवाय पूज्यपादके केवल पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

१—सर्वार्थसिद्धि—आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बर सम्प्रदायकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे पहली टीका।

२—समाधितंत्र। इसमें लगभग १०० श्लोक हैं, इसलिए इसे समाधिशतक भी कहते हैं।

३—इष्टोपदेश—यह केवल ५१ श्लोकोंका छोटा-सा ग्रन्थ है। पं० आशाधरने इसपर एक संस्कृत टीका लिखी है।

४—दशभक्ति [संस्कृत]—प्रभाचन्द्राचार्यने अपने क्रियाकलापमें इसका कर्ता पूज्यपाद या पाद-पूज्यको बतलाया है। परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता।

१-२. इसके लिए प्रो० हीरालालजीकी धवलाकी 'भूमिका' और पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका 'स्वामी समन्तभद्र' देखिए।

३. द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम् । त्रिपष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

४. श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रमेदने ॥४५॥

५. विदुष्विणीषु संसत्सु यस्य नामापि कीर्तितम् । निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्रः स पातु नः ॥४६॥

५—सिद्धप्रियस्तोत्र—निर्णयसागरकी काव्यमाला [सतमगुच्छ] में छप चुका है। २६ पद्योंमें चौथीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति है।

अनुपलब्ध ग्रन्थ

शब्दावतार न्यास और जैनेन्द्र न्यास—पूज्यपादका पाणिनि व्याकरणपर 'शब्दावतार' नामका न्यास है और जैनेन्द्रपर स्वोपज्ञ न्यास भी है।

वैद्यक ग्रन्थ—शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवके 'अपाकुर्वन्ति' आदि श्लोकके 'काय' शब्दसे ध्वनित होता है कि पूज्यपादका कोई वैद्यक ग्रन्थ होगा।

सार-संग्रह—धवला [वेदनाखंड पु० ९ पृ० १६७] के एक उद्धरणके आधारसे 'सारसंग्रह' नामक एक और ग्रन्थके होनेका अनुमान है—“तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।” यह कोई न्याय या सिद्धान्तका ग्रन्थ जान पड़ता है। उक्त वाक्यका 'पूज्यपाद' किसी अन्य पूज्य आचार्यका विशेषण भी हो सकता है।

'जैनभिषेक' नामके एक और ग्रन्थका जिकर श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ४० के 'जैनेन्द्रं निज-शब्द भागमतुलं' आदि श्लोकमें किया गया है।

इस लेखके लिखनेमें हमें श्रद्धेय मुनि जिनविजय और पं० बेचरदास जीवराजकी न्याय-व्याकरण-तीर्थसे बहुत अधिक सहायता मिली है। इसलिए हम उक्त दोनों सज्जनोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। मुनि महोदयकी कृपासे हमको जो साधन सामग्री प्राप्त हुई है यदि न मिलती तो यह लेख शायद ही इस रूपमें पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो सकता।

परिशिष्ट १

पूज्यपाद-चरित

कनड़ी भाषाके इस चरितको चन्द्रव्य नामक कविने जो कर्नाटक देशके मलयनगरकी 'ब्राह्मणगली' के रहनेवाले थे। दुःषम कालके परिधावी संवत्सरकी आश्विन शुक्ल ५, शुक्रवार, तुलालग्नमें समाप्त किया है। चरितका सारांश यह है—

१. अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवः। कलङ्कमज्जिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥

पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूटमें 'पूज्यपादकृत वैद्यक' नामका एक ग्रन्थ है, परन्तु वह आधुनिक कनड़ीमें लिखा हुआ कनड़ी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें न कहीं पूज्यपादका उल्लेख है और न वह उनका बनाया हुआ है। "वैद्यसार" नामका एक और ग्रन्थ अभी जैन-सिद्धान्त-भास्करमें प्रकाशित हुआ है, पर वह भी उनका नहीं है।

विजयनगरके राजा हरिहरके समयमें एक मंगराज नामके कनड़ी कवि हुए हैं। वि० सं० १४१६ के लगभग उनका अस्तित्व-काल है। स्थावर विषोंकी प्रक्रिया और चिकित्सापर उनका खगेन्द्रमणिदर्पण नामका ग्रन्थ है। वे उसमें अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और यह भी कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद वैद्यक ग्रन्थसे संगृहीत है। अभी हाल ही शोलापुरसे उग्रदित्याचार्यका 'कल्याणकारक' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषितः' कहकर, पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। उग्रदित्य राष्ट्रकूट असोघवर्षके समथके बतलाये गये हैं, परन्तु हमें इसमें सन्देह है। उसकी प्रशस्तिकी भी बहुत-सी बातें सन्देहास्पद हैं जिनपर विचार होनेकी आवश्यकता है।

२. इसके लिए प्रो० हिरालालजी जैन लिखित धवला (पुस्तक १) की भूमिकाके पृष्ठ ६०-६१ देखिए।

कर्नाटक देशके 'कोले' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ। ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रखा गया। माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टजीके सालेका नाम पाणिनि था उसे भी उन्होंने जैनी बननेको कहा, परन्तु प्रतिष्ठाके खयालसे वह जैनी न होकर मुडीगुंड ग्राममें वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहिन हुई, वह गुणभट्टको व्याही गई, और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मेंडकको देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरण-काल निकट आया जान कर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनि दुर्धनवश मरकर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूत्कार किया, इसपर पूज्यपादने कहा, विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैयक ज्योतिष आदिके कई ग्रन्थ रच चुके थे।

गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दुःखी हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी। उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्ध-रसकी वनस्पति बतला दी।

इस सिद्ध-रससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई धड़े सिद्ध-रस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरसेन्द्र-पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेको कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने साथियोंसे झगड़ा करके द्राविड़ संघकी स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आई जो गाने नाचनेमें कुशल थीं। नागार्जुन उनपर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत समयतक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव-विमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बनाकर ज्योंकी त्यों कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया।

इस चरितपर कोई टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है। इस तरहके न जाने कितने मनगढ़न्त और ऊलजलूल किस्से हमारे यहाँ इतिहासके नामसे चल रहे हैं।

परिशिष्ट २

हेब्रूका दानपत्र

श्रीमन्माधवमहाधिराजः, तस्य पुत्रः अविच्छिन्नाश्वमेधावभृथाभिषिक्तः श्रीमत्कदम्बकुलगगनगभस्ति-मालिनः श्रीमत्कृष्णवर्ममहाराजस्य प्रियभागिनेयः जननीदेवताङ्गपर्यङ्क एवाधिगतराज्यः विद्वत्कविकाञ्चननिक-षोपलभूतः असम्भ्रावनमितसमस्तसामन्तमण्डलः अविनीतनामा श्रीमत्कोङ्कणिमहाराजः तस्य पुत्रः पुञ्जाडराज-प्रियपुत्रिकापुत्रः विजृम्भमाणशक्तित्रयोपनमितसमस्तसामन्तमण्डलः अन्दर्यालक्ष्मणरूपौरुलरेपेर्नगराण्यनेकसम-

मुखमखहुतप्रधानपुरुषपशूपहारः विधसविहस्तीकृतकृतान्ताभिमुखः शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्धवृहत्कथः
किराताजुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारः दुर्निनीतनामा..... —४सूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम पृ० ३७३

परिशिष्ट ३

[भगवद्भावादिनीका विशेष परिचय]

इसके प्रारंभमें पहले 'लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य' आदि प्रसिद्ध मंगलाचरणका श्लोक लिखा गया था। परन्तु पीछेसे उसपर हरताल फेर दी गई है और उसकी जगह यह श्लोक और उत्थानिका लिख दी गई है—

ओं नमः पार्श्वाय

त्वरितमहिमदूतामंत्रितेनाद्भुतात्मा, विषममपि मघोना पृच्छता शब्दशास्त्रम् ।

श्रुतमदरिपुरासीद् वादिद्वन्दाग्रणीनां परमपदपटुर्यः स श्रिये वीरदेवः ॥

अष्टवार्षिकोऽपि तथाविधभक्ताभ्यर्थनाप्रखुन्नः स भगवानिदं प्राह—सिद्धिरनेकान्तात् । १-१-१ ।

इसके बाद सूत्रपाठ शुरू हो गया है। पहले पत्रके ऊपर मार्जिनमें एक टिप्पणी इस प्रकार दी है जिसमें पाणिनि आदि व्याकरणोंको अप्रामाणिक ठहराया है—

“प्रमाणवद्व्यामुपेक्षणीयानि पाणिन्यादिप्रणीतसूत्राणि स्यात्कारवादिद्वन्द्वरत्वात्परिव्राजकादिभाषितवत् अप्रामाणानि च कपोलकल्पनामलिनानि हीनमातृक्त्वात्तद्वदेव ।”

इसके बाद प्रत्येक पादके अन्तमें और आदिमें इस प्रकार लिखा है जिससे इस सूत्र-पाठके भगवत्प्रणीत होनेमें कोई सन्देह बाकी न रह जाय—

“इति भगवद्भावादिन्यां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ओंनमः पार्श्वाय । स भगवानिदं प्राह ।”

सर्वत्र 'नमः पार्श्वाय' लिखना भी हेतुपूर्वक है। जब ग्रन्थकर्ता स्वयं महावीर भगवान् हैं तब उनके ग्रन्थमें उनसे पहलेके तीर्थंकर पार्श्वनाथको ही नमस्कार किया जा सकता है। देखिए, कितनी दूरतक विचार किया गया है !

आगे अध्याय २ पाद २ के 'सह्वह् चलयपतेरिः' [६४] सूत्रपर निम्न प्रकार टिप्पणी दी है और सिद्ध किया है कि यदि यह व्याकरण भगवत्कृत न हो तो फिर सिद्धहैमके अमुक सूत्रकी उपपत्ति नहीं बैठ सकती—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । 'सह्वह् चलयपतेरिर्धाजकसुजन्मः कीलिट् चवत्-डौ सासहिवावाहचाचलिपापति, सखिचाक्रिदधिधजिनेमीति सिद्धहैमसूत्रस्यान्यथानुपपत्तेः । शर्ववर्मपाणिन्योस्तु आद्यवर्णोपधातोपि किद्वैच १, आपुगमहनजनः किकिनौ लिट् चेति २ ।”

इसके बाद ३-२-२२ सूत्रपर इस प्रकार टिप्पणी दी है—

“कथं न ह्यचः प्राग्भरतेष्वादि क्षेत्रादिन्यापि शिञ्चाविशेषाः ।

कुमारशब्दः प्राच्यानामाशिवनं मासमूचिवान् ।

मैथुनं तु भिषक्त्रे वाचकं मधुसर्पिषः ॥

इत्याग्रन्यथानुपपत्तेरिति बौटिकतिमिरोपलक्षणम् ।”

इसके बाद ३-४-४२ सूत्र [स्तेयाहृत्यम्] पर फिर एक टिप्पणी दी है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । अहृतस्तोन्त च १, सहाद्वा २, सखिवणिगूताद्यः ३, स्तेनाल्लुक् च ४, ति सिद्धहैमसूत्रान्यथानुपपत्तेः । पाणिन्यादौ त्वाहृत्यशब्दं प्रति सूत्राभावात् । कथं सरस्वतीकंठाभरणे तदासिः । ऐन्द्रानुसारादहृतशब्दयश्चेति पश्य ।

फिर ३-४-४० सूत्र [रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य] पर एक टिप्पणी है। इसमें बौटिकों या दिग्भरियोंका सत्कार किया गया है—

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य सूत्रस्य प्रक्षेपता स्फुटत्वात् । अतो बौटिकतिमिरोपलक्षणम्—

देवनन्दिमतां मोहः प्रक्षेपरत्नसोऽपि चेत् ।

चिराय भवता रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य जीव्यताम् ॥

पञ्चोत्तरः कः स्वचानासीः प्रमेन्दोः नग्न यस्य यः [१] ।

विस्मयो रमयेः शिष्या स तं चेद्देवनन्दिनम् ॥ इति ।

विक्रमादनुखयुगाब्दे ४०६ देवनन्दी, ततो गुणनन्दि-कुमारनन्दि-लोकचन्द्रानन्तरं मुनिरैयुगाब्दे प्रथम-प्रभाचन्द्र इति बौटिके ।”

इसी तरह ४-३-७ [वित्तेः सिद्धसेनस्य] सूत्रपर लिखा है—

“वित्तेः सिद्धसेनस्य, चतुष्टयं समन्तभद्रस्य प्रक्षेपेऽर्वाच्यता स्फुटत्वात्, रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य वदिति बौटिकतिमिरोपलक्षणम् ।”

अन्तर्मे ५-४-६५ [शश्वोमि] सूत्रपर एक टिप्पणी दी है जिसमें पाणिनि आदि वैयाकरणोंकी अतर्व-ज्ञता सिद्ध की गई है—

“प्रयोगाशातना माभूदनादिसिद्धा हि प्रयोगाः । ज्ञानिना तु केवलं ते प्रकाश्यन्ते न तु क्रियन्ते इति । अतएव शश्वोटीति पाणिनीयसूत्रं वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरः शकाश्छकारं नवेति शर्ववर्मकर्तृ-ककालापकसूत्रानुसारि । अत एव पाणिन्यादयोऽस्वर्वज्ञा इति सिद्धम् । अतएव तेषां तत्त्वतः आप्तत्वाभाव इति सिद्धिः । नन्वभ्यः प्रभृतीनि सूत्रे निर्जरसैमुख्या यदि युक्तिस्ते मस्करिणैव भवत्कृतमास्ते न तु सारस्वत-वाग्देव्या । शश्वोटीप्रमुखैः सूत्रैस्तच्छ्रुप्रभृतिपदादर्शा कालापकाद्युपजीवी पाणिनिरजिनत्वं प्रति नाव्यक्तः ।”

जहाँ सूत्रपाठ समाप्त होता है, वहाँ लिखा हैः—

इत्याख्यद्वगयानहन्श्रुत्वेन्द्रस्तु मुदं वहन् ।

वादिक्वत्राजचन्द्रः स्वमंदिराभिमुखोऽभवत् ॥

आगे ग्रन्थ-प्रशस्ति देखिए—

“ओं नमः सकलकलाकौशलपेशलशीलशालिने पार्श्वाय पार्श्वपार्श्वाय । स्वस्ति तत्प्रवचनसुधास-मुद्रलहरीस्नायिभ्यो महामुनिभ्यः । परिसमाप्तं च जैनेन्द्रं नाम महाव्याकरणम् । तदिदं श्रीवीरप्रभुर्मणोने पृच्छते प्रकाशयांचकार । सपादलक्षव्याख्यानकपरमतमदांधकारापहारपरममिति । नमः श्रीमच्चरमपरमेश्वर-पादप्रसादविशदस्याद्वादनयसमुपासनगुणकोटिमत्कौटिकगणाविर्भूतचिद्बिभूतिविमलचंद्रचान्द्रकुलविपुलबृहत्त-पोनिगमनिर्गतनागापुरीयस्वच्छगच्छसमुत्थसुत्पविपार्श्वचन्द्रशाखासुखाकृतसुकृतसुकृतिवररामेन्दूप्राध्यायचारुचर-णारविन्दरजोराजीमधुकरानुकरवाचकपदवीपवित्रिताक्षयचंद्रचरणेभ्यः ससुधा रत्नचंद्रम् । श्रीवीरात् २२६७ विक्रमनृपात् सं० १७६७ फाल्गुनसितत्रयोदशी भौमे तक्षकाख्यपुरस्थेन रत्नर्षिणा दर्शनप्राविश्याय लिखितं चिरं नंदात् ।”

ग्रन्थके पहले पत्रकी खाली पीठपर भी कुछ टिप्पणियाँ हैं और उनमें अधिकांश वे ही हैं जो ऊपर दी जा चुकी हैं । शेष इस प्रकार हैं—

ओं नमः पार्श्वाय

जैनेन्द्रमैन्द्रतः सिद्धहैमतो जयहेमवत् । प्रकृतत्यंतरदूरत्वान्नान्यतामेतुमर्हति ॥ कथं ।

इंद्रश्रृंगः काशकृत्स्नापिशिलाशोकटायनाः । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयंत्यष्टौ हि शाब्दिकाः ॥

इति (?) चतुर्थी तद्धितानुपलक्षणात् ।

१ यह ‘बौटिकमतिमिरोपलक्षण’ नामका कोई ग्रंथ है और संभवतः वाग्वादिनीके कर्ताकी ही बनाया हुआ है ।

यदिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारोऽपि निरूपितं । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनं ॥
यदावश्यकनिर्युक्तिः—

अहं तं अस्मापिअरो जाणिंता अहियअट्ठवासं तु ।

कयकोउअलंकारं लेहायरिअस्स उवणिति ॥

सक्को अ तस्समक्कं भयवंतं आसणे निवेसिता ।

सहस्य लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इदं ॥ इति ॥

तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः । ततश्चैन्द्रं व्याकरणं संजातमिति हरिभद्रः ॥

यत्तु देवनन्दिबौटिकं पूज्यपाद

इतीच्छंतस्तद्गुरुकाः पूज्यपादस्य लक्षणं ।

द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

इति धनंजयकोषात्तदयुक्तं । नेति चेत्कथं जैनेन्द्रमिति । द्वादशस्वरमध्यमिति चेन्न इतरोपपदस्याभावात् । जैनकुमारसम्भववद्गतिरिति चेन्न । कुमारवदिन्द्रं प्रति श्लेषाभावात् थारीतिकततद्धितभावाच्च तर्हि

लक्ष्मीरात्यंतिकी यस्य निरवद्यावभासते । देवनंदितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

का गतिरिति चेत् ।

लक्ष्मीरात्यंतिकीपद्यनुपज्ञेशस्य किंतरां । ऐन्द्रत्वयजि तत्त्वार्थे मोक्षमार्गस्य पद्यवत् ॥

मिबादयश्चेत्प्रथमं यदि हैमत्वपेक्षयते ।

कालापकादि न तथा षट्चैन्द्रं महते कृतिः ॥

पूर्वत्र । मिप् वस् मस् १ सिप् थस् थ २ तिप् तस् भि ३ इड् वहि महि १ थस् आभां ध्वं २ त आताम् भङ् ३ इति ।

आख्यातरीतिं प्रति देवराजे मिश्वस्मसो यः पितः रादितोदाः ।

जीवं प्रपन्नाहममात्थ विश्वे तत्त्वादिमं स्वां कतिमात्मनैथं ॥

तर्हि सिद्धसेनादिविशेषोऽपि दुर्निवार इति चेन्न

जातामात्रोपि चिद्वीर्यं प्रत्यात्मशरणोऽसि यः ।

जनताका वराकीर्यं परात्मन् वीर तत्पुर ॥

इति बौटिकमततिमिरोपलक्षणस्य तुर्येऽवकाशे इन्द्रजिनेन्द्रौ प्रत्युत्तरिणौ यदतोऽष्टातद्धिततत्त्वमसि-
मिबिङ्ढौरेयमद्रैदं जैनेन्द्रं व्याकरणानां । सिद्धिमनेकांतादिच्छां अः X क X पार्हं त्यतथारीते हैमागीकृत-
वर्त्मन्प्रक्षेपार्थविजयेचिरंजीया इति प्रसन्नचन्द्रोत्पले [?]

१ इसके आगे ४-३-७ सूत्रकी टिप्पणी जैसा ही लिखा है और फिर ३-४-४० सूत्रकी टिप्पणीके 'देवनन्दिमता' आदि ही श्लोक दिये हैं ।

२ इसके आगे ५-४-६५ सूत्रकी टिप्पणी दी है ।

“इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति । रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य सूत्रस्य प्रक्षेपता स्फुटत्वात् । अतो बौदिकतिमिरोपलक्षणे—

देवनन्दिमतां मोहः प्रक्षेपरजसोऽपि चेत् ।

चिराय भवता रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य जीव्यताम् ॥

पञ्चोत्तरः कः स्वचानासीः प्रभेन्दोः नग्न यस्य यः [१] ।

विस्मयो रमयेः शिष्या स तं चेद्देवनन्दिनम् ॥ इति ।

विक्रमादतुल्ययुगाब्दे ४०६ देवनन्दी, ततो गुणनन्दि-कुमारनन्दि-लोकचंद्रानंतरं सुनिर्युगाब्दे प्रथम-प्रभाचन्द्र इति बौदिके ।”

इसी तरह ४-३-७ [वेत्तेः सिद्धसेनस्य] सूत्रपर लिखा है—

“वेत्तेः सिद्धसेनस्य, चतुर्थ्यं समंतभद्रस्य प्रक्षेपेऽर्वाच्यता स्फुटत्वात्, रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य वदिति बौदिकतिमिरोपलक्षणे ।”

अन्तमें ५-४-६५ [शश्छोमि] सूत्रपर एक टिप्पणी दी है जिसमें पाणिनि आदि वैयाकरणोंकी अतर्ज-ज्ञता सिद्ध की गई है—

“प्रयोगाशातना माभूदनादिसिद्धा हि प्रयोगाः । ज्ञानिना तु केवलं ते प्रकाशयन्ते न तु क्रियन्ते इति । अतएव शश्छोटीति पाणिनीयसूत्रं वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरः शकाश्छकारं नवेति शर्ववर्मकर्तृ-ककालापकसूत्रानुसारि । अत एव पाणिन्यादयोऽसर्वज्ञा इति सिद्धम् । अतएव तेषां तत्त्वतः आप्तत्वाभाव इति सिद्धिः । नव्यः प्रभूर्तानिसूत्रे निर्जरसैमुख्या यदि युक्तिस्ते मस्करिणैव भवत्कृतमास्ते न तु सारस्वत-वाग्देव्या । शश्छोटीप्रमुखैः सूत्रैस्तच्छ्रुप्रभृतिपदादर्शी कालापकाद्युपजीवी पाणिनिरजिनत्वं प्रति नाव्यक्तः ।”

जहाँ सूत्रपाठ समाप्त होता है, वहाँ लिखा हैः—

इत्याख्यज्ञगयानर्हन्श्रुत्वेन्द्रस्तु मुदं वहन् ।

वादिवक्त्राब्जचन्द्रः स्वमंदिराभिमुखोऽभवत् ॥

आगे ग्रन्थ-प्रशस्ति देखिए—

“ओं नमः सकलकलाकौशलपेशलशीलशालिने पार्श्वाय पार्श्वपार्श्वाय । स्वस्ति तत्प्रवचनसुधास-मुद्रलहरीस्नयिभ्यो महासुनिभ्यः । परिसमाप्तं च जैनेन्द्रं नाम महाव्याकरणम् । तदिदं श्रीवीरभुर्मधोने पृच्छते प्रकाश्यांचकार । सपादलक्षव्याख्यानकपरमतमदांधकारापहारपरममिति । नमः श्रीमच्चरमपरमेश्वर-पादप्रसादविशदस्याद्वादनयसमुपासनगुणकोटिमत्कौटिकगणाविर्भूतचिद्विभूतिविमलचंद्रचान्द्रकुलविपुलबृहत्त-पोनिगमनिर्गतनागपुरीयस्वच्छगच्छसमुत्पविपार्श्वचन्द्रशाखासुखाकृतसुकृतसुकृतिवररामेन्द्रपाध्यायचारुचर-णारविन्दरजोराजीमधुकरानुकरवाचकपदवीपवित्रिताक्षयचंद्रचरणेभ्यः ससुधी रत्नचंद्रम् । श्रीवीरात् २२६७ विक्रमनृपात् सं० १७६७ फाल्गुनसिततयोदशी भौमे तक्षकाख्यपुरस्थेन रत्नर्षिणा दर्शनपूजाविध्याय लिखितं चिरं नंदात् ।”

ग्रन्थके पहले पत्रकी खाली पीठपर भी कुछ टिप्पणियाँ हैं और उनमें अधिकांश वे ही हैं जो ऊपर दी जा चुकी हैं । शेष इस प्रकार हैं—

ओं नमः पार्श्वाय

जैनेन्द्रमैन्द्रतः सिद्धहैमतो जयहेमवत् । प्रकृतत्यंतरदूरत्वाश्चान्यतामेतुमर्हति ॥ कथं ।

इंद्रश्रंद्रः काशकृत्स्नार्पिशलीशकटायनाः । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयत्यष्टौ हि शाब्दिकाः ॥

इति (?) चतुर्थी तद्धितानुपलक्षणात् ।

१ यह ‘बौदिकमतिमिरोपलक्षण’ नामका कोई ग्रंथ है और संभवतः वाग्वादिनांके कर्ताका ही बनाया हुआ है ।

यदिद्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितं । ऐंद्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनं ॥
यदावश्यकनिर्गुक्तिः—

अहं तं अस्मापिअरो जाणिंता अहियअट्टवासं तु ।

कयकोउअलंकारं लेहायरिअस्स उवणिंति ॥

सक्को अ तस्समक्कं भयवंतं आसणे निवेसिता ।

सहस्य लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इदं ॥ इति ॥

तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः । ततश्चैन्द्रं व्याकरणं संजातमिति हरिभद्रः ॥

यत्तु देवनंदिबौटिकं पूज्यपाद

इतीच्छंतस्तद्गुरुकाः पूज्यपादस्य लक्षणं ।

द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

इति धनंजयकोषात्तदयुक्तं । नेति चेत्कथं जैनेन्द्रमिति । द्वादशस्वरमध्यमिति चेन्न इतरोपपदस्याभावात् । जैनकुमारसम्भवद्वगतिरिति चेन्न । कुमारवदिंद्रं प्रति श्लेषाभावात् थारीतिकततद्धितभावाच्च तर्हि

लक्ष्मीरात्यंतिकी यस्य निरवद्यावभासते । देवनंदितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

का गतिरिति चेत् ।

लक्ष्मीरात्यंतिकीपद्यनुपज्ञेशस्य कितरां । ऐंद्रत्वयजि तत्त्वार्थे मोक्षमार्गस्य पद्यैवत् ॥

मिबादयश्चेत्प्रथमं यदि हैमत्वपेक्ष्यते ।

कालापकादि न तथा षट्वैन्द्रं महते कृतिः ॥

पूर्वत्र । मिप् वस् मस् १ सिप् थस् थ २ तिप् तस् भि ३ इड् वहि महि १ थस् आभां ध्वं २ त आताम् भङ् ३ इति ।

आख्यातरीतिं प्रति देवराजे मिब्वस्मसो यः पितः रादितोदाः ।

जीवं प्रपन्नाहममात्थ विश्वे तत्त्वादिमं स्वां कतिमात्मनौथं ॥

तर्हि सिद्धसेनादिविशेषोऽपि दुर्निवार इति चेन्न

जातामात्रोपि चिद्वीर्यं प्रत्यात्मशरणोऽसि यः ।

जनताका वराकीर्यं परात्मन् वीर तत्पुर ॥

इति बौटिकमततिमिरोपलक्षणस्य तुयैऽवकाशे इन्द्रजिनेन्द्रौ प्रत्युत्तरिणौ यदतोऽष्टतद्धिततत्त्वमसि-
मिबिङ्-ढौरेयमद्रैद्रं जैनेन्द्रं व्याकरणानां । सिद्धिमनेकांतादिच्छां अः × क × पार्हं त्यतथारीते हैमागीकृत-
वर्त्मनूप्रक्षेपार्थविजेयचिरंजीया इति प्रसन्नचन्द्रोत्पले [?]

१ इसके आगे ४-३-७ सूत्रकी टिप्पणी जैसा ही लिखा है और फिर ३-४-४० सूत्रकी टिप्पणीके 'देवनन्दिमता' आदि ही श्लोक दिये हैं ।

२ इसके आगे ५-४-६५ सूत्रकी टिप्पणी दी है ।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाट

[श्री युधिष्ठिर मीमांसक, प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, दिल्ली]

संसारमें वाङ्मयके प्रादुर्भावका आदिस्थान पुण्यभूमि भारत है। उसका विशाल संस्कृत वाङ्मय मुख्यतः तीन धाराओंमें विभक्त है। इस वाङ्मयकी समृद्धिमें वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानों तथा आचार्योंने सुन्दरतम सङ्योग प्रदान किया है। भगवान् महावीरसे पूर्वके जैन तीर्थङ्करोंने उपदेश और ग्रन्थ-रचनामें किस भाषाका आश्रय लिया था, इसके प्रमाण अभी नहीं मिले। उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध अथवा ज्ञात नहीं। इसलिए उपलब्ध संस्कृत वाङ्मयमें वैदिक वाङ्मय ही प्राचीनतम कहा जा सकता है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायी मनीषियोंने अपने विचारोंको सर्वसाधारण तक पहुँचानेके लिए उपदेश और ग्रन्थ-रचनामें तात्कालिक जनभाषा प्रकृत तथा पाष्ठीका आश्रय लिया। कालान्तरमें, सम्भवतः विक्रमकी प्रथम शतीके लगभग जैन तथा बौद्ध आचार्योंने भारतीय जनताके हृदयमें संस्कृतके प्रति युग-युगसे वर्तमान विशिष्ट अनुराग और आदरकी भावनाको अनुभव किया और उदारचेता होकर उन्होंने भी विद्वज्जनोपयोगी विशिष्ट ग्रन्थोंकी रचनाके लिए संस्कृत भाषाको अपना आरम्भ किया।

नये युगके प्रवर्तक

इस नये युगके प्रवर्तक जैन सम्प्रदायमें आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर तथा बौद्ध सम्प्रदायमें भद्रन्त अश्वघोष थे। ये सब वैदिक सम्प्रदायके विशिष्ट ज्ञाता थे। इसलिए उभय सम्प्रदायके शास्त्रज्ञानकी जो प्रौढ़ता इनके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन आचार्योंने अपनी अगाध-विद्वत्ताके कारण अपने-अपने सम्प्रदायोंमें नये युगका सूत्रपात किया। इनका अनुकरण करके उत्तरवर्ती अनेक सुदृढ़ आचार्योंने अपने-अपने उत्तमोत्तम ग्रन्थों-द्वारा संस्कृत वाङ्मयको आगे बढ़ाया।

संघर्ष युग—दोनों सम्प्रदायोंमें संस्कृत भाषाके प्रति अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। प्रत्येक विषय पर संस्कृतमें ग्रन्थ-रचनाएँ होने लगीं। विक्रमकी प्रथम शतीसे १२ वीं शती तकका युग संस्कृत वाङ्मयके इतिहासमें अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। इस कालमें वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानोंके पारस्परिक तार्किक वाद-प्रतिवादाने वाङ्मयके प्रत्येक क्षेत्रको, विशेषकर न्यायशास्त्रको परिबृंहित करनेमें विशेष योग प्रदान किया। इस कालमें वैदिक न्यायशास्त्रकी तो प्रवृत्ति ही बदल गई। वह अपने मूल प्रयोजनसे हटकर अर्थात् प्रमेय-निर्णायक न रहकर केवल प्रमाण-लक्षण-निर्णय तक ही सीमित हो गया और अन्तमें उसने नव्य न्यायके रूपमें केवल बौद्धिक श्रमका रूप धारण कर लिया।

जैन व्याकरण-वाङ्मय

संस्कृत वाङ्मयमें व्याकरणशास्त्र अपना प्रमुख स्थान रखता है। प्राचीन शास्त्रोंमें इसे स्वतन्त्र विद्या-स्थान माना है। इसलिए जब जैन विद्वानोंने संस्कृत भाषाको अपनाया, तब जैन सम्प्रदायमें भी इस शास्त्रका महत्त्व बढ़ा। अनेक जैन आचार्योंने व्याकरणके क्षेत्रमें भी अनेक उत्तम कृतियाँ प्रदान कीं। उनमेंसे अधिकांश विक्रमकाल द्वारा कवलि हो गईं, अनेक ग्रन्थोंका नाम भी स्मृति-पटलसे नष्ट हो गया। कइयोंका नाम-मात्र शेष रहा। बहुत स्वल्प कृतियाँ शेष बचीं। जो कृतियाँ कथञ्चित् कालकवलि होनेसे इस समय तक बच भी गईं वे ग्रन्थागारोंमें वेष्टनोंमें बँधी, प्रकाशमें आनेकी तिथिकी प्रतीक्षा कर रही हैं। सम्भव है उनमेंसे अधिकांश कृतियाँ 'शीर्यते वन एव वा' नियमके अनुसार विद्वज्जगत्को सुरक्षित न करके वनोपम ग्रन्थागारोंमें ही

शीर्ण हो जायें। ईंट पत्थरोंसे बने भौतिक कृतियोंको बचाने अथवा उनके उद्धारकी चिन्ताकी अपेक्षा इन सांस्कृतिक और बौद्धिक कृतियोंका बचाना, उनका उद्धार करना परम आवश्यक है। जो विद्वान् महाबुद्धि, धनी मानी श्रेष्ठीवर्ग तथा संस्थाएँ इस कार्यमें लगी हुई हैं वे देश, जाति तथा धर्मकी वास्तविक सेवा कर रही हैं। देशके स्वतन्त्र हो जाने पर युगयुग उपार्जित प्राचीन वाङ्मयकी रक्षाका भार मुख्यतया राज्यको ही वहन करना चाहिए, परन्तु सम्प्रति हमारे नेता इस ओर उदासीन हैं।

उपलब्ध जैन व्याकरण

जैन आचार्यों-द्वारा लिखे गये ६, ७ व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं। उनमेंसे केवल तीन व्याकरण प्रसुल हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और सिद्धहैम। इनमें आचार्य देवनन्दी, अपर नाम पूज्यपाद, इतर नाम जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा प्रोक्त जैनेन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है।

इन प्रमुख तीन व्याकरणोंके ग्रन्थ भी अभी तक पूरे प्रकाशित नहीं हुए। सबसे अधिक हैम व्याकरणके ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं। शाकटायन व्याकरण केवल चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति सहित प्रकाशित हुआ है [परिशिष्टमें मूल गणपाठ, लिङ्गानुशासन तथा धातुपाठ भी छपे हैं]। सूत्रकारकी स्वोपज्ञ अमोघ महावृत्ति अभी तक लिखित रूपमें ही क्वचित् उपलब्ध होती है। जैनेन्द्र व्याकरण भी तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६० वें सूत्र तक अभयनन्दी विरचित महावृत्ति सहित कुछ वर्ष पूर्व लाजरस कम्पनी काशीसे प्रकाशित हुआ था [अब वह भी दुर्लभ है]। यह प्रथम अवसर है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस भारी कमीको पूर्ण करनेका बीड़ा उठाया और वह उसे अभयनन्दीकी महावृत्ति सहित प्रकाशित कर रहा है।

जैनेन्द्रसे प्राचीन व्याकरण

आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनमें निम्न ६ पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख किया है—

१—गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१ । ४ । ३४]

२—कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य [२ । १ । ६६]

३—राट् भूतबलेः [३ । ४ । ८३]

४—रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य [४ । ३ । १८०]

५—वेत्तेः सिद्धसेनस्य [५ । १ । ७]

६—चतुष्टयं समन्तभद्रस्य [५ । ४ । १४०]

इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। अनेक विद्वानोंको इन आचार्योंके व्याकरण-शास्त्र-प्रवक्तृत्वमें भी सन्देह है। जैसा कि जैन इतिहास-विशेषज्ञ श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' [पृष्ठ १२०] में लिखा था—

“इन छ आचार्योंमेंसे किसीका भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु जान पड़ता है इनके ग्रन्थ ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको व्याकरण-सिद्ध करनेके लिए ये सब सूत्र रचे गये हैं।”

१ सम्प्रति हैम व्याकरणकी केवल लघुवृत्ति सुगम्य है, अन्य सभी सुदृष्ट ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गये। इनका पुनर्मुद्रण अत्यन्त आवश्यक है।

२ यह महावृत्ति भी शीघ्र ही भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे ही प्रकाशित होगी।

३ यद्यपि माननीय प्रेमीजीने इस विचारकी निस्सारताको समझकर अपने ग्रन्थके द्वितीय संस्करणमें उक्त अंश निकाल दिया, पुनरपि जिनकी ऐसी धारणा अभी भी है उनके विचारोंके प्रतिनिधित्व रूपमें उक्त-पङ्क्तियों उद्धृत की हैं।

पं० फूलचन्द्र सि० शा० ने भी सर्वार्थसिद्धि की भूमिकामें लगभग इसी मतका प्रतिपादन किया है ।^१
पाणिनीय व्याकरणमें स्मृत शाकल्य आपिशलि शाकटायन आदि १० प्राचीन शाब्दिकोंके विषयमें भी अनेक विद्वानोंकी ऐसी ही धारणा है ।

हमारे विचारमें इस प्रकारकी धारणाओंका मूलकारण भारतीय प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकाष्ठोंके विषयमें पाश्चात्य विद्वानोंद्वारा समुत्पादित अविश्वासकी भावना और अनर्गल कल्पनाएँ ही हैं ।

हम अपने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें पाणिनिसे पूर्ववर्ती आपिशलि कशकृत्स्न और भागुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्योंके सूत्र, धातु और गणके वचन उद्धृत करके सिद्ध कर चुके हैं कि पाणिनिसे प्राचीन आचार्योंके भी पाणिनिके समान ही सर्वांगपूर्ण व्याकरण थे ।^२ अब तो कशकृत्स्न व्याकरणका समय धातुपाठ चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीकासहित प्रकाशमें आ गया है । उसमें कशकृत्स्न शब्दानुशासनके लगभग १४० सूत्र भी उपलब्ध हो गये हैं ।^३ ये [धातुपाठ तथा सूत्र] न केवल उनके सर्वाङ्गपूर्ण होनेके, अपितु पाणिनीय व्याकरणसे अधिक विस्तृत होनेके भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादके शब्दानुशासनमें उद्धृत प्राचीन वैयाकरणोंके विषयमें भी हमारी यही धारणा है कि उन आचार्योंने भी अपने-अपने शब्दानुशासन रचे थे । उन्हींके शब्दानुशासनोंसे आचार्य पूज्यपादने उनके मतोंका संग्रह किया । इसके विपरीत कल्पना करना पूज्यपाद जैसे प्रामाणिक आचार्यको मिथ्यावादी कहना है [आः शान्तं पापम्] । जब हमने पाणिनिसे पूर्ववर्ती अनेक शाब्दिक आचार्योंके बहुतसे वचन प्राचीन ग्रन्थोंमें ढूँढ लिये, यहाँ तक कि आद्य शब्दतन्त्र-प्रणेता इन्द्रके भी 'अथ वर्णसमूहः', 'अर्थः पदम्' दो सूत्र उपलब्ध कर लिये,^४ ऐसी अवस्थामें हमें पूर्ण निश्चय है कि यदि जैन वाङ्मयका सावधानता पूर्वक अवगाहन किया जाय तो इन आचार्योंके शब्दानुशासनोंके सूत्र भी अवश्य उपलब्ध हो जायेंगे ।

आचार्य सिद्धसेनका व्याकरण-प्रवक्तृत्व—आचार्य सिद्धसेनके व्याकरणविषयक मतका उल्लेख आचार्य पूज्यपादने तो किया ही है; उसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे उनके व्याकरण प्रवक्ता होने की पुष्टि होती है । यथा—

१. सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१ ।

२. देखो 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' के तत्त्व प्रकरण ।

३. श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने "पाणिनि कालीन भारतवर्ष [हिन्दी संस्करण] पृष्ठ ५ पं० २२, २३ पर पाणिनिपूर्ववर्ती व्याकरणोंको बिना किसी प्रमाणके एकाङ्गी लिखा है । पृष्ठ २६ पं० ६ पर गणपाठकी सामग्रीको पाणिनिकी मौलिक देन बताया है । परन्तु पृष्ठ ३१ पं० १६, १६ में भर्तृहरिके प्रमाणसे पाणिनि-पूर्ववर्ती आपिशलिके गणपाठकी सत्ता भी स्वीकार की है । डा० कीलहार्नका भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका संबंधी लेख हमें सुखभ नहीं हुआ । अतः नहीं कह सकते कि उसमें आपिशल गणपाठका उल्लेख था या नहीं । परन्तु हमने अपनी भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीकाकी प्रतिलिपिके आधारसे 'सं० व्या० शास्त्रका इतिहास' पृष्ठ १०२ पर आपिशल गणपाठका उल्लेख किया है । तथा इसी ग्रन्थके पृष्ठ २७४-२७८ पर महाभाष्यटीकाके इतिहासोपयोगी सभी वचन एकत्रित कर दिये हैं ।

४. इन सूत्रोंका प्रकाशन हम शीघ्र ही कर रहे हैं ।

५. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ ६२ । महाभाष्य मराठी अनुवाद प्रस्तावना खण्ड [भाग ७, सन् १९५४] पृष्ठ १२५, १२६ पर श्री पं० काशीनाथ अभ्यङ्करजीने हमारे द्वारा प्रथमतः [सन् १९५१] प्रकीर्णित दोनों सूत्रोंका उल्लेख किया है । दूसरे सूत्रका पाठ भी हमारे द्वारा परिष्कृत ही स्वीकार किया है । लेखकने अन्यत्र भी हमारे ग्रन्थके पर्याप्त दुर्लभ सामग्री स्वीकार की है, परन्तु हमारे ग्रन्थका कहीं निर्देश नहीं किया ।

१. अभयनन्दी जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्तिमें एक उदाहरण देता है—‘उपलिख्त्सेनं वैयाकरणः’ अर्थात् सब वैयाकरण सिद्धसेनसे हीन हैं।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि अभयनन्दी आचार्य सिद्धसेनको न केवल वैयाकरण ही मानता है, अपितु उस कालतक प्रसिद्ध वैयाकरणोंमें उसे सर्वश्रेष्ठ कहता है।

जैनेन्द्र व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दीने जिस शब्दानुशासनका प्रवचन किया वह लोकमें जैनेन्द्र-नामसे विख्यात है।

इस शब्दानुशासनका जैनेन्द्र नाम क्यों पड़ा, आचार्य पूज्यपादका काल कौन सा है, जैनेन्द्र व्याकरण का मूल सूत्रपाठ कौन सा है, इसपर कितने व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये और आचार्य पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरणके अतिरिक्त और कितने ग्रन्थ लिखे इत्यादि विषयोंपर हम यहाँ विशेष चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इन विषयोंपर माननीय श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ‘जैन साहित्य और इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है [यही अंश पुनः परिष्कृत करके इस ग्रन्थके आदिमें पृष्ठ १७-२७ तक छपा है]। पश्चात् हमने भी अपने ‘संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास’ ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचना की है^१ [हमने श्री प्रेमीजीके ग्रन्थसे पर्याप्त सामग्री ली है]। इसलिए हम यहाँ केवल उतना ही अंश लिखेंगे, जो उक्त दोनों लेखोंके पश्चात् परिज्ञात हुआ है।

जैनेन्द्र नामका कारण—इस शब्दानुशासनको सर्वत्र जैनेन्द्र नामसे स्मरण किया है। इसके नामकरणके सम्बन्धमें श्री प्रेमीजीने जैनग्रन्थोंसे जो कथाएँ उद्धृत की हैं, वे प्रायः ऐतिहासिक तत्त्वरहित हैं। श्री प्रेमीजी भी उक्त कथाओंसे सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारे विचारमें इस नामकरणका निम्न कारण है—

आचार्य देवनन्दीका एक नाम जिनेन्द्रबुद्धि भी था जैसा कि श्रवणबेलगोलके ४० वें शिलालेखमें लिखा है—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

अर्थात्—आचार्यका प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

जिस प्रकार ‘पदेषु पदैकदेशान्’ नियम अथवा ‘विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्’ [४।१।१३६] वार्तिकके अनुसार प्राचीन ग्रन्थकार देव^२ अथवा नन्दी^३ नामसे देवनन्दीको स्मरण करते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र एक देश भी जिनेन्द्रबुद्धि अपरनाम देवनन्दीका वाचक है। अतः ‘जैनेन्द्र’ की व्युत्पत्ति होगी—जिनेन्द्रेण प्रोक्तं जैनेन्द्रम्। अर्थात् जिनेन्द्र = जिनेन्द्रबुद्धि = देवनन्दी द्वारा प्रोक्त व्याकरण।

आचार्य देवनन्दीका काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण—आचार्य देवनन्दीके कालके विषयमें ऐतिहासिकोंका परस्पर वैमत्य है। यथा—

१—कीथ अपने ‘हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर’ में लिखता है—

The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendra really written by पूज्यपाद देवनन्दी perhaps was Composed C. 678. P. 432.

१. देखो पृष्ठ ३२३-३२८ तथा ४२१-४३१।

२. जिनसेन तथा वादिराज सूरि ‘देव’ नामसे स्मरण करते हैं। देखो श्री प्रेमीजीका लेख, यही ग्रन्थ, पृष्ठ १६, टि० ३, ४।

३. इसके उद्धरण आगे लिङ्गानुशासनके प्रकरणमें देंगे।

अर्थात्—जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७८ [= ७३५ वि०] के समीप लिखा गया।

२—श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवनन्दीका काल सामान्यतया विक्रमकी षष्ठ शताब्दी निश्चित किया है। [देखो इसी ग्रन्थके साथ मुद्रित उनका लेख]।

३—श्री आई० एस० पवतेने अपने 'स्ट्रुक्चर आफ् दी अष्टाध्यायी' में लिखा है—

'महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्यने कर्णाटक कवि चवितके प्रथम भागके प्रथम संस्करणमें पूज्यपादको ईस्वी सन् ४७० [= ५२७ वि०] में बताया है और दूसरे संस्करणमें सन् ६०० [= ६५७ वि०] का। परन्तु मुझे २१।१२।१९३३ को लिखे एक पत्रमें लिखा है कि पूज्यपाद ४५० ई० [= ५०७ वि०] के आसपास है^१।

४—हमने अपने व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणोंके आधारपर आचार्य पूज्यपादका काल विक्रमकी षष्ठ शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना था। अब हम उसे ठीक नहीं समझते।

विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्व—अब हमें जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं, यह निश्चित होता है।

कात्यायनने एक विशिष्ट प्रकारके प्रयोगके लिए नियम बनाया है—**परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शन-विषये** [महा० ३।२।११]। अर्थात्—ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ताने उसे न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ताके दर्शनका विषय सम्भव हो [अर्थात् वह घटना प्रयोक्ताके जीवन-कालमें घटी हो] उस घटनाको कहनेके लिए भूतकालमें लङ् प्रत्यय होता है।

पतञ्जलिने महाभाष्यमें इस वार्तिकपर उदाहरण दिये हैं—**अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्**। वार्तिकके नियमानुसार साकेत [= अयोध्या] और माध्यमिका [= चित्तौड़ समीपवर्ती नगरी ग्राम] पर यह लोकप्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलिके जीवनकालमें हुआ था। प्रायः सभी ऐतिहासिक इस विषयमें सहमत हैं।

इसी प्रकारका नियम पाणिनिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याकरण-ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणोंके साथ साथ स्वसमकालिक किन्हीं महती घटनाओंका भी प्रायः निर्देश करते हैं। यथा—

अजयद् जतों हृणान् । चान्द्रं

अरुणन्महेन्द्रो मथुराम् । जैनेन्द्र० [२।२।६२]

अदहद्मोववर्षोऽरातीन् । शाकटायन [४।३।२०८]

अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तिम् । हैम० [५।२।८]

इनमें अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति [शाकटायन] महाराज अमोघवर्ष और आचार्य हेमचन्द्र महाराज सिद्धराजके कालमें विद्यमान थे। इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु चान्द्रके जर्त और जैनेन्द्रके महेन्द्र नामक व्यक्तिको इतिहासमें प्रत्यक्ष न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानोंने जर्तको गुप्त और महेन्द्रको मेनेन्द्र-मिनण्डर बनाकर अनर्गल कल्पनाएँ की हैं। इस प्रकारकी कल्पनाओंसे इतिहास नष्ट हो जाता है। हमारे विचारमें जैनेन्द्रका 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' पाठ सर्वथा ठीक है, उसमें किञ्चिन्मात्र आन्तिकी सम्भावना नहीं है। आचार्य पूज्यपादके कालकी यह ऐतिहासिक घटना इतिहासमें सुरक्षित है।

१. देखो, स्ट्रुक्चर आफ् दी अष्टाध्यायी, भूमिका, पृष्ठ १३।

२. यद्यपि ये उदाहरण क्रमशः धर्मदास तथा अभयनन्दीकी वृत्तिसे दिये हैं, परन्तु इन वृत्तिकारोंने ये उदाहरण चन्द्र और पूज्यपादकी स्वोपज्ञ वृत्तिसे लिखे हैं।

महेन्द्र और उसका मथुरा-विजय—जैनेन्द्रमें स्मृत महेन्द्र गुप्तवंशीय कुमारगुप्त है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। जैनेन्द्रके 'विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्' [४।१।१३६] वार्तिक अथवा 'पदेषु पदैकदेशात्' नियमके अनुसार उसीको महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उसके सिक्कोंपर श्री महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं।^१

तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्रमें लिखा है—“यवनों पहिहकों शकुनों [कुशनों] ने मिलकर तीन लाख सेनासे महेन्द्रके राज्यपर आक्रमण किया। गङ्गाके उत्तरप्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेनके युवा कुमारने दो लाख सेना लेकर उनपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटेपर पिताने उसका अभिषेक कर दिया।”^२

चन्द्रगर्भ सूत्रका महेन्द्र निश्चय ही महाराज कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मञ्जु श्री मूलकल्प श्लोक ६४६ में श्री महेन्द्र और उसके सकारादि पुत्र [स्कन्दगुप्त] को स्मरण किया है।^३

चन्द्रगर्भ-सूत्रमें लिखित घटनाकी जैनेन्द्रके उदाहरणमें उल्लिखित घटनाके साथ तुलना करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके उदाहरणमें इसी महत्त्वपूर्ण घटनाका संकेत है। उक्त उदाहरणसे यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओंने गङ्गाके आ-पासका प्रदेश जीतकर मथुराको अपना केन्द्र बनाया था। इस कारण महेन्द्रकी सेनाने मथुराका ही घेरा डाला था।

महाभाष्य, शाकटायन तथा सिद्ध हैम व्याकरणोंमें निर्दिष्ट उदाहरणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्र कुमारके समकालिक हैं। पाश्चात्यमतानुसार कुमारगुप्तका काल वि० सं० ४७०-५१२ [=४१३-४५५ ई०] तक था। अतः पूज्यपादका काल अधिकसे अधिक विक्रमकी ५ वीं शतीके चतुर्थ चरणसे षष्ठ शताब्दीके प्रथम चरण तक माना जा सकता है, इसके पश्चात् नहीं। भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार गुप्तकाल इससे कुछ शताब्दी पूर्व ठहरता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके 'अरुणमहेन्द्रो मथुराम्' उदाहरणमें महेन्द्रको मेनेन्द्र = मिनण्डर समझना भारी भ्रम है।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन

अब हम जैनेन्द्र व्याकरणके सम्बन्धमें संक्षेपसे लिखते हैं—

जैनेन्द्र शब्दानुशासनका परिमाण—जैनेन्द्र शब्दानुशासनमें ५ अध्याय, २० पाद और ३०६७ सूत्र [प्रत्याहार सूत्रोंके विना] हैं।

जैनेन्द्रका प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ—आचार्य पूज्यपादके समय निश्चय ही पाणिनीय और चान्द्र शब्दानुशासन विद्यमान थे। पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनकी रचना पाणिनीय शब्दानुशासनके आधार पर की है, यह पाणिनीय चान्द्र तथा जैनेन्द्र शब्दानुशासनोंकी सूत्र-रचना और प्रकरण-विन्यासकी तुलनासे स्पष्ट है। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि पूज्यपादने चान्द्र शब्दानुशासनसे भी कुछ सहायता ली है।

जैनेन्द्रमें प्रत्याहार सूत्रोंका सद्भाव—अमयनन्दीकी महावृत्तिके साथ 'अ इ उ ण्' आदि प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैनेन्द्र शब्दानुशासनके मूल पाठमें ये अवश्य विद्यमान थे। इसमें निम्न हेतु हैं।

क—जैनेन्द्र सूत्रपाठमें जहाँ अनेक वषोंका निर्देश करना होता है, वहाँ संक्षेपार्थ पाणिनीय अनुशासन के समान प्रत्याहारोंका प्रयोग किया है। यथा—अच् [१।१।५६], इक् [१।१।१७], यण् [१।१।४५],

१. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास [सं० २००३], पृष्ठ ३५४।

२. वही, पृष्ठ ३५४।

३. महेन्द्रनृपवरो मुख्यः सकाराद्यो मतः परम्।

४. जैनेन्द्र और पाणिनीय सूत्रोंकी तुलनात्मक सूची इस ग्रन्थके अन्तमें लड़ी है।

ऐच् [१।१।१५], एङ् [१।१।७०]। ये प्रत्याहार पाणिनीय प्रत्याहारोंके समान हैं। किन्तु प्रत्याहारमें कितने वर्णोंका निर्देश सम्भूत चाहिए अथवा प्रत्याहार कैसे बनाया जाता है, इसका नियम-प्रदर्शक “अन्त्ये नेतादिः” सूत्र जैनेन्द्र शब्दानुशासन [१।१।७३] में विद्यमान है। इस सूत्र द्वारा अच् प्रत्याहारोंका परिज्ञान तभी सम्भव है, जब ग्रन्थके आरम्भमें पाणिनीय ग्रन्थवत् प्रत्याहार सूत्र पठित हों। अन्यथा ‘अन्त्येनेतादिः’ सूत्र तथा इसकी वृत्ति कभी सम्भूत नहीं आ सकती।

ख—जैनेन्द्र १।१।४८ पर अभयनन्दी लिखता है—‘रन्त इति लणो लकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम्।’ अर्थात् ‘रन्त’ इस निर्देशमें लण् सूत्रके लकारमें पठित अकारसे प्रत्याहार लिया गया है। “लण्” यह पाणिनिके समान प्रत्याहार सूत्र ही है।

ग—अभयनन्दी १।१।३ सूत्रकी वृत्तिके अनन्तर उदाहरण देता है—‘अ इ उ ण्—णकारः।’ अर्थात् ‘अ इ उ ण्’ सूत्रमें ‘ण्’ इत् संज्ञक है। यहाँ भी पाणिनिके समान ‘अ इ उ ण्’ सूत्रको उद्धृत किया है।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र व्याकरणके आरम्भमें भी प्रत्याहार सूत्र थे। हमने प्रत्याहार-सूत्रोंके विषयमें इस महावृत्तिके सम्पादक महोदयसे पूछा था कि किसी हस्तलेखमें ये सूत्र मिलते हैं, अथवा नहीं। श्री सम्पादकजीने २६।६।५६ के उत्तरमें लिखा—“प्रत्याहार-सूत्रोंका पाठ किसी भी हस्तलिखित प्रतिमें उपलब्ध नहीं है। मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी तथा शब्दार्णव-चन्द्रिकामें कुछ हेर फेरके साथ पाणिनीय व्याकरण सदृश [अ इ उ ण् आदि] दो प्रकारके सूत्रपाठ मिलते हैं।”

हमारा विचार है कि प्रत्याहार सूत्रोंकी व्याख्याकी आवश्यकता न समझकर अभयनन्दीने इनकी व्याख्या नहीं की। अव्याख्यात होनेके कारण महावृत्तिके हस्तलेखोंमें इनका अभाव हो गया। अथवा यह भी सम्भव है—जैसे अन्यत्र कई स्थानों पर सूत्रोंकी वृत्ति उपलब्ध नहीं होती,^१ उसी प्रकार इन प्रत्याहार-सूत्रोंकी भी व्याख्या नष्ट हो गई और व्याख्याके न रहने पर महावृत्तिके हस्तलेखोंमें सूत्र पाठका भी अभाव हो गया। जो कुछ भी कारण उनके अभावका हो, परन्तु इतना निस्सन्दिग्ध है कि अभयनन्दी जैनेन्द्र प्रत्याहार-सूत्रोंसे परिचित था।

सूत्रपाठके पाठान्तर—महावृत्तिके साथ जो जैनेन्द्रसूत्र पाठ छपा है उसमें तथा अभयनन्दीकी व्याख्यामें उद्धृत सूत्र पाठमें कतिपय पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। कई पाठान्तर अभयनन्दीकी वृत्तिके गम्भीर अनुशीलनसे विदित होते हैं; यथा—

क—अभयनन्दी ने १।१।८५ की व्याख्यामें ५।१।७९ का पाठ उद्धृत किया है—‘वद्वज्र’ इत्यादि-नैप्। परन्तु ५।१।७६ पर सूत्रपाठ छपा है—‘व्रजवद्वोऽतः’ [इस पर वृत्ति अप्राप्त है]।

ख—जैनेन्द्र १।२।११४ सूत्रका मुद्रित पाठ है—साधकतमं करणम्। इसकी व्याख्यामें अभयनन्दी लिखता है—‘पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? परिक्रयणम् [१।२।११२] इत्यनवकाशया सम्प्रदानसंज्ञया बाधा सा भूत्।’ अर्थात्—पुंल्लिङ्ग निर्देश क्यों किया.....।

इस सूत्र में दो पद हैं। दोनों ही नपुंसक लिङ्ग पढ़े हैं। ऐसी अवस्थामें न तो शंका ही उपपन्न होती है और न उनका समाधान ही। क्योंकि ‘नव्वाध्य आसम्’ [१।२।१११] सूत्रानुसार नपुंसक लिंगसे निर्दिष्ट संज्ञाका अनवकाश संज्ञासे बाध होता है। अतः ‘करण’ संज्ञाका नपुंसकसे निर्देश होनेके कारण अनवकाश सम्प्रदान संज्ञा [१।२।११२] से निश्चय ही बाध होगा। इस कारण प्रतीत होता है अभयनन्दीका सूत्रपाठ “साधकतमः करणः” था, जो पीछेसे विकृत हो गया। ‘करणः’ पुंल्लिङ्ग निर्देश होनेपर ही

१. शाकंयानकी चिन्तामणि वृत्तिमें भी प्रत्याहार सूत्र व्याख्यात नहीं हैं।

२. पृष्ठ २८८, ३१७, ३२८।

‘पुल्लिगनिर्देशः किमर्थः’ यह शंका तथा उसका समाधान उत्पन्न हो सकता है। पुल्लिग निर्देश [करण] होनेपर अनवकाश संप्रदान संज्ञासे भी करण संज्ञाकी बाधा नहीं होगी और ‘शतेन परिकीतः’ प्रयोग भी उपपन्न हो जायगा।

जैनेन्द्रमें एक विवेचनीय स्थल—जैनेन्द्र व्याकरण लौकिक भाषाका व्याकरण है। इसलिए उसमें स्वर और वैदिक प्रक्रियाका अंश छोड़ दिया है। प्रथमाध्यायके प्रथम पादमें आचार्यने तीन सूत्र पढ़े हैं—कौवैतौ, उजः, उम् [२४-२६] [यहाँ शुद्ध पाठ ‘ऊँ’ चाहिए] इन सूत्रोंके पाठ तथा इनकी वृत्तिसे प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग विषय लोकभाषा है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय वैदिक [पदपाठ] है। यह बात पाणिनिके ‘संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनापौ, उजः ऊँ’ [११११६-१७] सूत्रोंसे स्पष्ट है। पाणिनिने प्रथम सूत्रमें वैदिक सम्प्रदायके पारिभाषिक ‘अनार्ष इति’ का निर्देश किया है [इसकी अनुवृत्ति अगले सूत्रमें भी जाती है]। पदकारों द्वारा पदपाठमें प्रगृह्य आदि संज्ञाका निदर्शन करानेके लिए मन्त्रसे बहिर्भूत जिस ‘इति’ शब्दका प्रयोग किया जाता है वह अनार्ष इतिकरण कहाता है। इसीको उपस्थित भी कहते हैं। इस शब्दका व्यवहार भी पाणिनिने ६।१।१२६ में किया है। ये संज्ञाएँ प्रातिशाख्यग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं। पदपाठमें अनार्ष इतिकरणका प्रयोग कहाँ करना चाहिए इसका प्रतिपादन प्रातिशाख्योंमें विस्तारसे किया है। ऋग्वेदके पदपाठमें शाकल्यने प्रगृह्य संज्ञक [जैनेन्द्रके अनुसार ‘दि’ संज्ञक] पदसे परे सर्वत्र इति शब्दका प्रयोग किया है। यथा—अग्नि इति [ऋ० ५।४५।४], मेथेते इति [ऋ० १।११३।३] युष्मे इति [ऋ० ४।१०।८], वायो इति [ऋ० १।२।१], ऊँ इति [ऋ० १।२४।८], गौरी इति [ऋ० १।२।३]। पाणिनिने शाकल्यके मतका अनुवाद अपने शास्त्रमें किया है। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्रके उक्त सूत्रोंद्वारा प्रतिपाद्य विषय भी वैदिक नियमोंके अन्तर्गत आता है। इसलिए आचार्यको चाहिए था कि उसने जैसे पाणिनिके “शे” [१।१।१३] और “इदूतौ च सप्तमी” [१।१।१८] सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयके लिए सूत्र रचना नहीं की, वैसे ही इनका भी समावेश न करता। समावेश करनेसे विदित होता है कि आचार्यने इन सूत्रोंके प्रतिपाद्य विषयको लौकिक समझा है। परन्तु लोकमें वाया इति ऊँ इति ऐसे प्रयोग उपलब्ध नहीं हैं।

भूलका कारण—इस भूलका कारण भगवान् पतञ्जलिकी पाणिनीय उजः ऊँ [१।१।१७] सूत्रकी व्याख्या है। पतञ्जलिने शाकल्य ग्रहणको विकल्पार्थ मानकर और उजः ऊँ का योग-विभाग करके ‘वायो इति वायविति, वाय इति, ऊँ इति उ इति विति’ इतने काल्पनिक रूप बनाये हैं। पतञ्जलिने भी पारिभाषिक ‘अनार्ष इति’ को ‘लौकिक इति’ मान लिया, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु यह समस्त प्राचीन वैदिक साम्प्रदायके विपरीत।^१ इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिका अनुकरण करनेसे ही जैनेन्द्रमें यह भूल हुई प्रतीत होती है।

जैनेन्द्रके सम्बन्धमें एक भ्रम—जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सम्बन्धमें भ्रम है कि जैनेन्द्र ही प्रथम व्याकरण है जिसमें एकशेष प्रकरण नहीं है। इसका कारण महावृत्तिमें निर्दिष्टि ‘देवोपज्ञमनेकशेष व्याकरणम्’ [१।४।६७] उदाहरण है। हमने सं० व्या० शास्त्रका इतिहासमें [पृष्ठ ४२४] इस भ्रमका निराकरण किया है। जैनेन्द्रसे प्राचीन चान्द्रमें भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्र शब्दानुशासनका पौर्वापर्य—आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्यामें कहीं पाणिनीय शब्दानुशासनके और कहीं स्वरचित शब्दानुशासनके सूत्र यत्र तत्र उद्धृत किये हैं। इससे विदित होता है कि जैनेन्द्र शब्दानुशासनकी रचना आचार्यने सर्वार्थसिद्धिके पूर्व ही कर

१. इसकी विशद विवेचनाके लिए देखो हमारे द्वारा सम्पादित ‘अष्टाध्यायीप्रकाशिका’ का ‘उजः ऊँ’ [१।१।१७] सूत्र।

ली थी। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें आचार्य पूज्यपादने पञ्चमी विभक्तिके लिए स्वनिर्मित 'का' संज्ञाका निर्देश किया है। इससे भी उक्त तथ्यको पुष्टि होती है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१]

जैनेन्द्र शब्दानुशासनके खिलपाठ

वैयाकरण वाङ्मयमें शब्दानुशासन पद केवल सूत्रपाठके लिए प्रयुक्त होता है। सूत्रपाठको लघु वनानेके लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयोंको सूत्रकार जिन ग्रन्थोंमें संगृहीत करते हैं वे शब्दानुशासनके खिल अथवा परिशिष्ट कहते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासनके धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल होते हैं। इन्हें मिलाकर व्याकरणकी पञ्चपाठी बनती है। जैनेन्द्र व्याकरण के भी ये चार खिल थे [उणादि और लिङ्गानुशासन उपलब्ध नहीं हैं]।

धातुपाठ—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त धातुपाठका मूल ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया। गुणनन्दी प्रोक्त शब्दार्णव व्याकरण [जैनेन्द्रका परिवर्धित संस्करण] का चन्द्रिका टीकासहित जो संस्करण काशीसे छपा है, उसके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ भी मुद्रित है। वह धातुपाठ जिनेन्द्र [पूज्यपाद] प्रोक्त मूल रूपमें है अथवा शब्दार्णवके समान परिवर्धित है, यह हम नहीं कह सकते। अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र धातुपाठके अनेक सूत्र उद्धृत हैं उनकी मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठकी तुलनासे कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। परन्तु सम्प्रति मेरे पास मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठ नहीं है। अतः मैं इसके निर्णयमें इस समय असमर्थ हूँ।

मैं इसी वर्ष ६ अगस्तको काशीमें भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापक तथा महावृत्तिके सम्पादक महोदयोंसे मिला था [यह मेरा प्रथम मिलन था] और उन्हें ग्रन्थके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ छापनेका सुझाव दिया था। दोनों महानुभावोंने बड़ी सहृदयतासे मेरे सुझावको स्वीकार किया और वह इस ग्रन्थके अन्तमें दिया जा रहा है [अभी छपा मेरे पास नहीं पहुँचा]।

धातुपारायण—आचार्य हेमचन्द्रने स्वीय लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें पृष्ठ १३२ पं० २० पर नन्दिधातुपारायण तथा पृष्ठ १३३ पं० २३ पर नन्दिपारायण उद्धृत किया है। इस नामके साथ हेम-धातुपारायण नामकी तुलनासे प्रतीत होता है कि यह आचार्य देवनन्दीका अपने धातुपाठ पर स्वोपज्ञ विवरण रहा होगा।

गणपाठ—जैनेन्द्र गणपाठ अभयनन्दीकी महावृत्तिमें यथास्थान सन्निविष्ट है, पृथक् छपा नहीं मिलता।

उणादिसूत्र—जैनेन्द्र उणादिसूत्रका कोई हस्तलेख अभी तक हमारी दृष्टिमें नहीं आया। महावृत्तिके सम्पादकजीसे भी इसके विषयमें पूछा था। उन्होंने २६।६।५६ के पत्रमें लिखा—“उणादि सूत्र तथा परिभाषाओंका भी संकलन कहीं नहीं उपलब्ध हो सका। लिङ्गानुशासन भी जैनेन्द्रका अनुपलब्ध ही है।”

अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक उणादि सूत्र उद्धृत हैं। कुछ प्राचीन पञ्चपादीसे पूर्णतया मिलते हैं, कुछमें पाठान्तर है। अनेक सूत्र ऐसे भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष जैनेन्द्र संज्ञाओंका प्रयोग हुआ है। इसलिए यह निश्चित है कि जैनेन्द्र प्रोक्त उणादि सूत्र भी थे। उदाहरणके लिए हम कुछ सूत्र उद्धृत करते हैं। यथा—

१. काशिका १।३।२ में खिल शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है।

२. प्राचीन परम्परानुसार 'भू सत्तायाम्' एष वृद्धौ आदि वाक्य सूत्र माने जाते हैं। द्रष्टव्य-अस्मत्-संपादित चरितरत्नङ्गी, पृष्ठ १, टि० २।

१—तनोतेर्दुः सन्वच्च । पृष्ठ ३ ।

५—अण्डो जृकृसृवृङः । पृष्ठ ११६ ।

२—अस् सर्वधुभ्यः । पृष्ठ १७ ।

६—गमेरिन् । पृष्ठ ११६ ।

३—कृवापाजिमिस्वदिसाध्यधुभ्य उण् । पृष्ठ ११८ । ७—आङि णित् । पृष्ठ ११६ ।

४—वृत्तवदिह्निकमिकमिभ्यः सः । पृष्ठ ११८ ।

८—सुवश्च । पृष्ठ ११६ ।

जैनेन्द्र उणादि सूत्रोंका आधार—जिस प्रकार आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनके प्रवचनमें पाणिनीय शब्दानुशासनका प्रधान आश्रय लिया, उसी प्रकार उणादि सूत्रोंके प्रवचनमें भी निश्चय ही किसी प्राचीन उणादिकी मुख्य आधार बनाया होगा। जैनेन्द्र उणादि पाठके उपलब्ध न होनेसे यद्यपि हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्यने किस प्राचीन उणादि पाठकी मुख्यता दी, पुनरपि हमारा अनुमान इस प्रकार है—

पाणिनीय सम्प्रदायसे संबद्ध मुख्यतया दो प्रकारके उणादि पाठ उपलब्ध होते हैं। एक है पञ्चपादी और दूसरा दशपादी। पञ्चपादी-पाठ भी रामायण महाभारत आदि ग्रन्थोंके समान अनेक शाखाओंमें विभक्त है। एक है औत्तर पाठ, दूसरा पश्चिमोत्तर, तीसरा दाक्षिणात्य। उज्ज्वलदत्त तथा तदाश्रित भट्टोजिदीक्षित आदिकी वृत्तियाँ औत्तरपाठ पर हैं [उज्ज्वलदत्त बंगीय था, अतः इसे वाङ्ग पाठ भी कह सकते हैं]। श्वेत-वनवासी तथा नारायणकी वृत्ति दाक्षिणात्य पाठ पर हैं। क्षीरस्वामी अपनी क्षीरतरङ्गिणीमें पश्चिमोत्तर पाठको उद्धृत करता है [इसे काश्मीर पाठ कह सकते हैं]। दशपादी पाठ पञ्चपादीके सम्भवतः पश्चिमोत्तर पाठके आधार पर रचा गया है। पञ्चपादी पाठका भी मूल कोई त्रिपादी पाठ प्रतीत होता है। उणादिके ये सभी पाठ आचार्य पूज्यपादसे प्राचीन हैं। अभयनन्दीने १।१।७५ सूत्रकी वृत्तिमें एक जैनेन्द्र उणादि सूत्र उद्धृत किया है—“अस् सर्वधुभ्यः”।

पञ्चपादीका औत्तरपाठ—सर्वधातुभ्योऽसुन् । [उज्ज्वल० ४।१८८]

“ “ दाक्षिणात्य पाठ—असुन् [श्वेत० ४।१६४]

“ “ पश्चिमोत्तर पाठ—असुन् [क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ९३ पं० १६९]

दशपादीका पाठ असुन् [१।४९]

इन सब सूत्रोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र उणादि पाठका मुख्य उपजीव्य औत्तर पाठ है जिसमें जैनेन्द्रके ‘सर्वधुभ्यः’ समान ‘सर्वधातुभ्यः’ पद विद्यमान है। अन्यपाठों में ‘सर्वधातुभ्यः’ पद है ही नहीं—

उणादि सूत्र व्याख्या—आचार्य देवनन्दी कृत उणादि सूत्र व्याख्याका हमें कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु जिस प्रकार आचार्यने अपने धातुपाठकी तथा लिङ्गानुशासनकी व्याख्या की उसी प्रकार उणादिकी व्याख्या भी अवश्य रची होगी।

१. महावृत्तिका मुद्रित पाठ है—‘अण्डः । जृकृसृवृङः’। यह अशुद्ध है। तुलना करो—‘अण्डन् कृसृवृङः’ [पञ्चपादी उ० १।११८ ॥ द० उ० ५।६ ॥] सूत्र से।

२. हमने इसका अनेक हस्तलेखोंके आधारपर सम्पादन किया है। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशीसे [१९४२ में] यह प्रकाशित हुआ है।

३. हमने दशपादी-उणादिके उपोद्धातमें दोनों पाठों तथा इनकी वृत्तियोंका संचिस इतिहास १९४२ में लिखा था। उस समय पञ्चपादीके होने विभिन्न पाठका बोध हमें नहीं था। उणादि सूत्र और उनकी व्याख्याओंका विस्तृत इतिहास हम अपने सं० व्या० शास्त्रका इतिहासके दूसरे भागमें लिखेंगे।

४. क्षीरतरङ्गिणीके सम्पादनके प्रारम्भमें हमें इसका ज्ञान नहीं था, अतः हमने वहाँ दशपादीके पते दिये हैं।

५. लिङ्गानुशासनकी व्याख्याका वर्णन आगे करेंगे।

लिङ्गानुशासन—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासनका कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आया, परन्तु जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन था अश्वर्य । इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—वामन अपने लिङ्गानुशासनके अन्तमें प्राचीन आचार्य प्रोक्त लिङ्गानुशासनोंका निर्देश करता हुआ लिखता है—व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथाऽन्यत् । लिङ्गस्य लक्ष्मः..... ॥ ३० ॥ इसमें जैनेन्द्र लिङ्गानुशासनका उल्लेख स्पष्ट है ।

२—अभयनन्दी अपनी महावृत्ति १।४।१०८ में लिखता है—गोमयकषायकार्षापणकुतपकवाटशंखादि-पाठादवगमः कर्तव्यः । अर्थात् गोमय आदि शब्द जिनमें उभयलिङ्गता देखी जाती है, उनका ज्ञान पाठसे कर लेना चाहिए ।

यहाँ पाठसे अभिप्राय लिङ्गानुशासनका ही है, क्योंकि ‘पुंसि चार्थचाः’ [१।४।१०८] सूत्र पर पाणिनिके समान जैनेन्द्रमें कोई गण नहीं है । अतः इनका पाठ लिङ्गानुशासनमें ही सम्भव हो सकता है ।

३. आचार्य हेमचन्द्रने अपने लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें नन्दीके नामसे एक पाठ उद्धृत किया है—“आमरं तु भवेच्छुक्लं चौद्रं तु कपिलं भवेत्”—इति नन्दी । पृष्ठ ८५ पंक्ति २५ ।

हमारे विचारमें यह पाठ देवनन्दीके लिङ्गानुशासनका है और पूर्वोक्तलिखित नियमके अनुसार यहाँ नन्दी शब्दसे देवनन्दीका ग्रहण है । हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासनके सम्पादक पं० वेङ्कट राम शर्माने अपनी निवेदनमें २३ प्राचीन लिङ्गानुशासनोंका उल्लेख किया है ।^१ उसमें संख्या १८ पर ‘नन्दिद्वृत लिङ्गानुशासन’ का निर्देश है । इससे भी हमारे विचारकी पुष्टि होती है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा नन्दी-नामसे स्मृत आचार्य देवनन्दी ही है ।

लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था—हेमलिङ्गानुशासन विवरणमें उद्धृत पूर्व वचनसे प्रतीत होता है कि देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था ।

लिङ्गानुशासन-व्याख्या—आचार्य देवनन्दीने अपने लिङ्गानुशासनपर कोई व्याख्या भी लिखी थी । हेमचन्द्र अपने लिङ्ग विवरणमें लिखता है—“नन्दिनः गुणवृत्तेस्त्वाश्रयलिङ्गता स्वादुरोदनः, स्वाद्वी पेया, स्वादु पयः ।” आचार्य हेमचन्द्रने यह पङ्क्ति अथवा अभिप्राय निश्चय ही जैनेन्द्रलिङ्गानुशासनकी व्याख्यासे लिया होगा ।

व्याकरणके अन्य ग्रन्थ

पूर्वलिखित धातुपाठ, गणापाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन इन ४ खिलोंके अतिरिक्त जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले न्यूनातिन्यून तीन ग्रन्थ और थे । उनके नाम हैं—वार्तिकपाठ, परिभाषा पाठ, शिञ्जा ।

वार्तिक-पाठ—अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले बहुतसे वार्तिक व्याख्यात हैं । ये वार्तिक किसके हैं, यह अज्ञात है । इसी प्रकार महावृत्तिमें समस्त वार्तिक व्याख्यात हैं अथवा उसमें काशिकाके समान अधिक उपयोगी वार्तिकोंका ही सन्निवेश है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैनेन्द्र वार्तिक पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया ।

आर्य श्रुतकीर्तिने अपनी पञ्चवस्तुप्रक्रियाके अन्तमें जैनेन्द्रशब्दानुशासनपर रचे गये किसी भाष्य ग्रन्थकी सूचना दी है । यह भाष्य इस समय अनुपलब्ध है । स्वयं आचार्य पूज्यपादने भी अपने शब्दानुशासनपर एक न्यास लिखा था, वह भी अप्राप्य है । अतः जैनेन्द्रसे संबद्ध वार्तिक पाठकी रचना किसने की यह अज्ञात है ।

वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं—महावृत्तिमें व्याख्यात वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं, क्योंकि उसमें स्थान-स्थानपर पातञ्जल महाभाष्यके समान वार्तिकोंका निराकरण करके सूत्र-द्वारा कार्यका

निर्वाह दर्शाया है। यथा—उदित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यं-भवती, अतिभवती, दाक्षिः । नैतद् वक्तव्यम्..... । पृष्ठ १५ । यदि वार्तिक अभयनन्दी विरचित होते तो वह स्वयं अनर्थक वार्तिक रचकर उनका खण्डन न करता । इतना ही नहीं, अभयनन्दीसे पूर्ववर्ती विद्यानन्द जैनेन्द्र महावृत्ति १।४।३७ में पठित ‘प्यखे का वक्तव्या’ वार्तिकका अष्टसहस्री [पृष्ठ १३२] में ‘प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात्’ इस रूपमें अर्थतः अनुवाद करता है । ‘प्य, ख’ ये जैनेन्द्रके पारिभाषिक प्रयोग हैं ।

अभयनन्दीकी वृत्तिमें वार्तिकोंके व्याख्यात होने तथा अष्टसहस्रीमें उद्धृत होनेसे इतना तो निश्चय है कि ये अभयनन्दीसे प्राचीन हैं । हमारा विचार है कि व्याकरण संबंधी अन्य ग्रन्थोंके समान वार्तिकपाठ भी आचार्यने स्वयं रचा होगा ।

परिभाषा-पाठ—परिभाषाएँ व्याकरण शास्त्रका महत्त्वपूर्ण भाग हैं । परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं । कुछ सूत्रकार द्वारा स्वयं सूत्रोंमें पठित होती हैं । यथा—इको गुणवृद्धी [अष्टा० १।१।३] इकस्तौ [जैनेन्द्र० १।१।१७] । कुछ सूत्रसे बहिर्भूत होती हुई भी सूत्रकार-द्वारा स्वीकृत होती हैं । पाणिनीय व्याकरणसे संबद्ध परिभाषाएँ व्याडिकृत मानी जाती हैं । भाष्यकार पतञ्जलिने अनेक परिभाषाओंको सूत्रोंसे ज्ञापित किया है, अनेकको वे बिना ज्ञापकके प्रमाण मान लेते हैं । अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक परिभाषाएँ उद्धृत हैं^१ । कतिपय परिभाषाओंके ज्ञापक भी लिखे हैं । इन परिभाषाओंका पाठ पाणिनीय परिभाषाओंके समान होते हुए भी स्वतन्त्रानुसार परिवर्तित है । जैनेन्द्र संबद्ध परिभाषाओंका प्रवक्ता कौन है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता । परिभाषा पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया ।

परिभाषाओंकी व्याख्या—इन जैनेन्द्र परिभाषाओंकी व्याख्या भी किसी प्राचीन ग्रन्थकारने की थी । अभयनन्दी १।१।६१ पर लिखता है—सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति । यहाँ ‘वक्ष्यति’ क्रियाका कर्ता कौन है, यह अज्ञात है । परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व किसीने परिभाषाओंकी व्याख्या रची थी । इस प्रकारका विचार परिभाषा वृत्तिमें ही सम्भव हो सकता है ।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने व्याकरणसे संबद्ध परिभाषाओंकी स्वयं ही रचना की और स्वयं ही उनकी व्याख्या की । इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादने भी स्वयं परिभाषा पाठ और उसकी व्याख्या लिखी हो यह सम्भव हो सकता है ।

शिक्षा—अभयनन्दीने १।१।२ की वृत्तिमें लगभग ४० शिक्षासूत्र उद्धृत किये हैं । ये अधिकांशमें आपिशल शिक्षासूत्रोंसे मिलते हैं^२ । पुनरपि इनका प्रवचन जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रक्रियानुसार किया हुआ है, यह दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट है । यद्यपि ये जैनेन्द्र सम्बन्धी शिक्षासूत्र किसके द्वारा प्रोक्त हैं, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि जैसे आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमीने अपने-अपने शब्दानुशासनोसे सम्बद्ध शिक्षासूत्रोंका प्रवचन किया । इसी प्रकार सम्भव है आचार्य देवनन्दीने इन शिक्षासूत्रोंका भी प्रवचन किया हो । इसका विशेष वर्णन हम ‘शिक्षाका इतिहास’ नामक ग्रन्थमें करेंगे [पाण्डुलिपि प्रायः तैयार हो चुकी है ।

१. देखो, श्री प्रेमीजीका ‘देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण’ लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ २४ ।

२. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ २०७ ।

३. देखो महावृत्ति पृष्ठ ४५५, ४५६ । इस सूचीमें कुछ परिभाषाएँ रह गई हैं । यथा—पृष्ठ १२ पर उद्धृत—“अनुबन्धकृतमनेकालत्वं न” परिभाषा ।

४. देखो हमारे द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित ‘शिक्षा-सूत्राणि’ [आपिशल, पाणिनीय तथा चान्द्र] ।

आचार्य पूज्यपादके अन्य ग्रन्थ

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने लेखमें आचार्य पूज्यपादके निम्न ग्रन्थोंका उल्लेख किया है—

उपलब्ध ग्रन्थ—१. सर्वार्थसिद्धि, २. समाधितन्त्र ३. इष्टोपदेश, ४. दशभक्ति ।

अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात ग्रन्थ—१. शब्दावतार न्यास, २. जैनेन्द्र न्यास, ३. वैद्यक ग्रन्थ [नाम अज्ञात], ४. सार-संग्रह, ५. जैनाभिषेक ।

वैद्यक ग्रन्थके सम्बन्धमें नये प्रमाण—१. आचार्य पूज्यपाद रचित वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख श्री प्रेमीजीके लेखके पृष्ठ १९, टि० १ पर उद्धृत श्रवणवेलगोलके ४० वें शिलालेखके चतुर्थ श्लोकके तृतीय चरणके 'स्वास्थ्यं यदीयम्' पदोंमें भी मिलता है ।

२. जैन आचार्य उग्रादित्य-विरचित कल्याणकारक नामक ग्रन्थमें भी पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका निर्देश है ऐसा ज्ञात हुआ है [स्वयं नहीं देखा] ।

आचार्य पूज्यपादका नूतन परिज्ञात ग्रन्थ-छन्दःशास्त्र—आचार्यने छन्दःशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था, इसकी सूचना श्रवणवेलगोलके ४० वें शिलालेखके चौथे श्लोकके तृतीय चरणके 'छन्दः' पदसे मिलती है । श्री प्रेमीजीसे इसका संकेत रह गया प्रतीत होता है । जैनेन्द्र छन्दःशास्त्रका विस्तृत वर्णन हम अपने 'छन्दःशास्त्रका इतिहास' में करेंगे । यह लिखा जा रहा है ।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपादके व्याकरणातिरिक्त उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थोंकी संख्या १० हो जाती है ।

हमारे विचारानुसार आचार्य विरचित जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी निम्न ग्रन्थ थे—

जैनेन्द्र सूत्रपाठ, जैनेन्द्रन्यास, धातुपाठमूल, धातुपारायण, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, लिङ्गानुशासन व्याख्या, वार्तिकपाठ, परिभाषापाठ और शिक्षासूत्र ।

सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठके अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थोंको ढूँढ़नेका प्रयत्न होना चाहिए । ये ग्रन्थ निश्चय ही किन्हीं जैन ग्रन्थागारोंमें छिपे पड़े होंगे । उनका उद्धार परम आवश्यक है । धातुपाठ और गणपाठके हस्तलेखोंको भी उपलब्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिए । जिससे इनकी पाठशुद्धिमें सहायता मिले ।

जैनेन्द्रके व्याख्याग्रन्थ

जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । उनमेंसे जैनेन्द्रन्यास, भाष्य, अभयनन्दीकी महा-वृत्ति, प्रभाचन्द्रका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास, पञ्चवस्तु, लघुजैनेन्द्र और जैनेन्द्र प्रक्रिया नामक ग्रन्थोंका उल्लेख श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' नामक लेखमें किया है । इनमेंसे न्यास और भाष्य ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं । उपलब्ध ग्रन्थोंमें अभयनन्दीकी वृत्ति ही सबसे प्राचीन है ।

अभयनन्दीसे प्राचीन अनेक वृत्तियाँ—अभयनन्दीने महावृत्तिके आरम्भमें एक श्लोक लिखा है—

• यच्छब्दलक्षणमसुव्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।

तत्सर्वलोकहृदयप्रियचास्वाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥

अर्थात्—कठिनतासे पार पाने योग्य जिस शब्दलक्षणको दरिद्रोंने व्याख्या करनेमें स्पष्ट नहीं किया, उस सम्पूर्ण शब्दलक्षणको अभयनन्दी मुनि सबके हृद्योंको प्रिय लगनेवाले सुन्दर वाक्योंसे स्पष्ट करता है ।

उक्त श्लोकके पूर्वार्धसे स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व इस जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर ऐसी अनेक वृत्तियाँ बन चुकी थीं, जिनमें सूत्रोंकी पूर्ण स्पष्ट व्याख्या नहीं थी । ये व्याख्याएँ लघुवृत्तिके रूपमें थीं, यह 'दरिद्रैः' पदसे व्यक्त होता है ।

अभयनन्दीका काल—अभयनन्दीका काल विवादास्पद है । डाक्टर वेल्वेल्करने अपने 'सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर' में अभयनन्दीका काल सन् ७५० [वि० ८०७] माना है [पैराग्राफ ३०] । अभयनन्दीकी

महावृत्ति ३।२।५५ में भट्ट अकलंक [जिनका काल ८०० विक्रम माना जाता है] के तत्त्वार्थवार्तिक'का उल्लेख है। इससे यह वृत्ति उसके बाद की है, यह निश्चित है। हमने अपने सं० व्या० शास्त्रका इतिहास ग्रन्थमें अभयनन्दीका काल विक्रम संवत् १०००-१०५० के मध्यमें लिखा है [पृष्ठ ४२६]। अभी इस विषयमें अनुसंधानकी आवश्यकता है।

अभयनन्दीकी महावृत्ति—जैनेन्द्र व्याकरणके वाङ्मयमें महावृत्तिका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो पाणिनीय व्याकरणमें काशिका का है। वह महावृत्ति काशिकासे भी अधिक विस्तृत है। इसका ग्रन्थ परिमाण १२ सहस्र श्लोक है। ग्रन्थकारने अपनी वृत्तिके सम्बन्धमें पूर्वनिर्दिष्ट श्लोकमें जो लिखा है वह पूर्णतया सत्य है, उसमें यत्किंचित् अतिशयोक्ति नहीं है।

अभयनन्दीका पाण्डित्य—निश्चय ही अभयनन्दी व्याकरण शास्त्रमें परम निपुण थे। उनका व्याकरण विषयक-ज्ञान केवल जैनेन्द्र तक सीमित नहीं था, अपितु पाणिनीय व्याकरणमें भी उनकी अप्रत्याहत गति थी। यह इस वृत्तिके सूक्ष्म अध्ययनसे पदे-पदे स्पष्ट होता है। महावृत्तिमें कई स्थल उनके व्याकरण विषयक अभूतपूर्व पाण्डित्यका निदर्शन कराते हैं। यथा १।२।९६ सूत्रकी व्याख्यामें “प्रविनश्य” प्रयोगकी सिद्धिके सम्बन्धमें जो विचार किया है, वह हमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

महावृत्तिके उपजीव्य ग्रन्थ—यद्यपि अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिकी रचनामें निस्सन्देह जैनेन्द्र न्यास, प्राचीन लघु वृत्तियाँ, पातञ्जल महाभाष्य आदि सभी ग्रन्थोंसे सहायता ली है, तथापि सूत्र व्याख्या शैली और वाक्य विन्यासमें काशिकावृत्तिका प्रभाव अधिक प्रतीत होता है।

पातञ्जलिके पदचिह्नोंपर—[क] पातञ्जलिने जिस प्रकार पाणिनि और कात्यायनके प्रति सम्मानकी भावना रखते हुए उनके सूत्र तथा वार्तिककी सूक्ष्म विवेचना करते समय पाणिनि और कात्यायनके गौरवसे प्रभावित हुए बिना अपना निर्णय प्रकट किया है, उसी प्रकार अभयनन्दी मुनिने भी अनेक स्थलों पर जैनेन्द्र वार्तिकोंका निष्प्रयोजनत्व दर्शाया है। यथा—पृष्ठ १५ पर “उगिद् कार्यम्” तथा पृष्ठ २६ पर “दाणश्च सा” वार्तिक का।

[ख] जैसे पातञ्जलिने पाणिनीय सूत्रोंसे साक्षात् असिद्ध प्रयोगोंका साधुत्व दर्शानेके लिए योगविभाग रूपी कौशल दिखाया है। उसी प्रकार अभयनन्दीने भी योगविभाग-द्वारा अनेक पदोंका साधुत्व दर्शानेका प्रयत्न बहुत स्थानोंपर किया है।

महावृत्तिकी एक महती विशेषता—महावृत्तिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पाणिनि पातञ्जलि चन्द्र तथा पूज्यपाद द्वारा असंगृहीत प्राचीन व्याकरण-नियमोंका यत्र तत्र संग्रह उपलब्ध होता है। यथा [१।२।१]—

‘भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । इको यशिमर्थव्यवधानमनेकेषामिति संग्रहः ।’

अर्थात्—‘भूवादयो धुः’ [१।२।१] सूत्रमें ‘भू+आदयो’ के मध्यमें वकारका निर्देश व्याकरणका लक्षण बतलानेके लिए रखा गया है। अनेक आचार्योंके मतमें ‘इक्’ से परे यण्का व्यवधान होता है^२, इस लक्षणका संग्रह वकारसे दर्शाया है।

१. कलकत्ताके श्री पं० क्षीतीशचन्द्र जी चट्टोपाध्यायने ‘टेकिनकल टर्म्स आफ् संस्कृत ग्रामर’ [पृष्ठ ७१] में इस कारिका तथा महावृत्तिमें आगे व्याख्यात दो चरणोंका पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—“भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । व्यवधानमिको यशिमर्थव्यवधानमनेकेषामिति वदेरौणादिके इजि । भूवादय इति ज्ञेया भूवोऽर्थ्य वादयोऽथवा ।”

२. इस सन्धि तथा इससे पदसिद्धि-प्रक्रियापर पढ़नेवाले प्रभावके लिए हमारा सं० व्या० शा० का इतिहास, पृष्ठ २१-२४ विशेष रूपसे देखना चाहिए।

हमारी दृष्टिमें अभीतक सबसे प्राचीन यही ग्रन्थ है, जिसमें दण्डव्यवधान-सन्धि का साक्षात् उल्लेख किया है। आगे वृत्तिकारने महाभाष्योक्त वकारके मंगलार्थत्वका खण्डन किया है। हमारे विचारमें 'मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' लेखमें पतञ्जलिका 'मङ्गल' का वह भाव नहीं है जो जनसाधारणमें प्रसिद्ध है। अपितु यद्वाँपर अध्येता छात्रोंका मङ्गल अभिप्रेत है। इसकी व्याख्यामें स्पष्ट कहा है—अध्येतारश्च मङ्गलार्था यथा स्युः। अध्येताओंका मङ्गल लक्षण ज्ञानसे ही सम्भव है।

महावृत्ति मध्यमध्यमें वृद्धि—यद्यपि महावृत्तिका यह संस्करण पाँच हस्तलेखोंके आधार छपा है, परन्तु इसमें अनेक स्थलोंपर कई-कई सूत्रोंकी व्याख्या खण्डित है। देखो पृष्ठ २८८, ३१७, ३५८। इससे स्पष्ट है कि ये पाँचों हस्तलेख किसी एक ही मूल प्रतिकी प्रतिलिपियाँ हैं। अतः इसकी पूर्तिके लिए अन्य हस्तलेख प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

जैनेन्द्र व्याकरण तथा महावृत्तिका मुद्रण

आजसे ४६ वर्ष पूर्व काशीकी लाजरस कम्पनीकी ओरसे सन् १९१० में महावृत्ति सहित जैनेन्द्र व्याकरणका मुद्रण आरम्भ हुआ था। इसके सम्पादक थे, विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी। इसका मुद्रण तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६०वें सूत्र तक ही होकर रह गया। तब से यह परमोपयोगी ग्रन्थ अधूरा ही रहा। यह परम सौभाग्यका विषय है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न किया। उसीका यह फल है कि ४६ वर्षके अनन्तर यह ग्रन्थ पूरा छपकर प्रकाशमें आया है। इसके लिए उक्त संस्था अत्यन्त धन्यवादकी पात्र है। इस संस्थाने इसी प्रकारके अनेक दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रकाशन करके समस्त भारतीयों, विशेषकर जैनमतानुयायियोंका महान् उपकार किया है। हमारी यही कामना है कि यह संस्था भविष्यमें भी इसी प्रकार अपना कार्य करनेमें समर्थ हो, दिन दूनी रात चौगुनी फले फूले।

महावृत्तिका नूतन संस्करण—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित महावृत्तिका यह संस्करण निस्सन्देह महान् परिश्रमका फल है। इसके सम्पादनमें ५ हस्तलेखोंसे सहायता ली गई है। इतना प्रयत्न करनेपर भी इसके सम्पादनमें कुछ कठिनाई रह गई हैं। उनकी ओर भी संकेत कर देना हम उचित समझते हैं, जिससे आगामी संस्करणमें उसका परिमार्जन हो सके।

क—अनेक स्थानोंपर उद्धृत जैनेन्द्र सूत्रोंके पते देने रह गये हैं। यथा—पृष्ठ ११ पं० २—जेरिति दीवल्—'जेः' ४।३।२३४ का सूत्र है, यहीं पृष्ठ पं० १३—शास इत्येवमादिषु—'शास' यह ४।४।३३ का प्रतीक है।

ख—वृत्तिमें उद्धृत उद्धरणोंके पते देने रह गये। यथा—पृष्ठ २४ पङ्क्ति २६—'एति जीवन्तमानन्दः'। यह रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ३४ श्लोक ६ का तृतीय चरण है। पृष्ठ ११९ पं० ६ पर निर्दिष्ट 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः' कारिका महाभाष्य ३।३।१ की है। इसी प्रकार १।२।१२१ सूत्रपर उद्धृत कारिकाएँ भी महाभाष्य की हैं।

ग—कई स्थानोंपर कुछ अधिक सावधानता बर्ती जाती तो अनेक पाठ ठीक हो सकते थे। यथा—पृष्ठ ११९ पं० ३ पर मुद्रित 'अण्डः। जृकृसृवृडः' पाठ 'अण्डो जृकृसृवृडः' चाहिए। पृष्ठ ८ पं० ५-६—'कृतः। कृतवान्। भूतवर्तमाने'.....। यहाँ 'कृतः। कृतवान्। "तः" [२।२।८५] भूत इति वर्तमाने'.....

१. यद्यपि शाकटायन लघुवृत्ति [पृष्ठ २३] में यह नियम उल्लिखित है। उसका काल अनिश्चित है। अमोघवृत्तिमें इसका उल्लेख है या नहीं यह हमें ज्ञात नहीं।

२. महाभाष्यकी पंक्तिका यह अभिप्राय हमें महावृत्तिके प्रकाशमें ही समझमें आया।

पाठ चाहिए। 'भूत इति वर्तमाने' आदि पदों द्वारा जिस सूत्रकी वृत्ति लिखी है वह, 'तः' [१।२।८५] सूत्र यहाँ वृत्ति है।

घ - अनेक स्थानों पर वृत्तिमें उद्धृत जैनेन्द्र सूत्र तथा परिभाषा आदिको भिन्न टाइपमें करना रह गया है।

ङ—कहीं-कहीं सम्पादकीय टिप्पणियोंमें भी भूल प्रतीत होती है। यथा—पृष्ठ १६ पं० १६ पर [४ अन्यथा अनिदित इति उङः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पर टिप्पणी है—४. कोष्ठ स्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति । “अलुङः—क्लित्यनिदितः” इत्यस्यात्राप्रवृत्तेः । प्रतीत होता है यह पङ्क्ति पाणिनीय व्याकरण-की प्रक्रियाकी भ्रान्तिसे लिखी गई है। 'हन्स्त्' इस अवस्थामें 'त' के परे रहने पर 'यस्ये तदादि गुः' [जै० १।२।१०२] सूत्रसे 'हन् स्' की 'गु' [पाणिनीय-अंग] संज्ञा है। जैनेन्द्र प्रक्रियानुसार २।१।३८ सूत्रसे 'सि' प्रत्यय होता है, उसका इकार इत् है। गुके इदित् होनेसे 'हलुङः क्लित्यनिदितः' [४।४।२३] सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसकी प्रवृत्ति न होनेसे उङ् [= उषधा] के 'न्' का लोप नहीं हो सकता। अतः कोष्ठान्तर्गत पङ्क्ति सर्वथा शुद्ध है।

इन सब कमियोंने रहने पर भी जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, वह निस्सन्देह महान् प्रयत्नका फल है। प्रथमवार इतना सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो गया, यह महान् संतोषकी बात है।

ग्रन्थके सम्पादनमें कितना परिश्रम पड़ता है, यह भी भुक्तभोगी ही जान सकता है। हाँ, ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेका लक्ष्य तथा उसके लिए सर्वविध प्रयत्न सम्पादकका अवश्य होना चाहिए। तत्पश्चात् जो कार्य हो जाय उससे सन्तुष्ट रहते हुए अगले संस्करणको सर्वात्मना श्रेष्ठ बनानेका प्रयत्न होना चाहिए।

जैनेन्द्रमहावृत्तिः

आचार्यदेवनन्दिप्रणीतम्

जैनेन्द्र-व्याकरणम्

अभयनन्द्याचार्यकृतमहावृत्तिसहितम्

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ।

शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥

यच्छब्दलक्षणम् सुव्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रेः ।

तत् सर्वलोककृदयप्रियचाख्वाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमिदमाहाचार्यः—

लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते ।

देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयम्भुवे ॥

लक्ष्मीः श्रीः । सैव विशिष्यते—अन्तमतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः तत्र भवा आत्यन्तिकी अविनश्वरी आत्मस्वभावाधीना केवलज्ञानादिविभूतिरित्यर्थः । अवद्याद् गह्वान्निष्क्रान्ता निरवद्या निर्दोषा, अवभासते शोभते, यस्य भगवतः, यस्येति सर्वनामपदस्य सामान्यवाचित्वेऽपि अन्यस्यैवंविधा श्रीर्न सम्भवतीति पारिशेष्यादर्हद्भट्टारकस्य ग्रहणम् । यच्छब्दाभिहितोऽर्थस्तच्छब्देन परामृश्यत इति तस्मै देवनन्दितपूजेशे स्वयम्भुवे नमः । 'अस्तु' इत्यध्याहारः, देवाः सुराः तैर्नन्दिता अभिवर्द्धिता सा चासौ पूजा च तस्याः, 'ईष्ट' इति विविपि कृते देवनन्दितपूजे, तथा स्वयमात्मना भवतीति स्वयम्भूः । नमःशब्दयोगे सर्वत्र डेर्भवति ।

लोके प्रसिद्धसाधुत्वानां शब्दानामन्वाख्यानार्थमिदमारभ्यते । अन्वाख्यानञ्च प्रकृत्यादिविभागेन सामान्यविशेषवता लक्षणेन शब्दानां व्युत्पादनम् । तच्च शब्दार्थसम्बन्धमन्तरेण न सम्भवति । शब्दार्थसम्बन्धसिद्धि-श्रानेकान्ताधीनेत्यत आह—

सिद्धिरनेकान्तात् ॥१॥१॥ प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिः अनेकान्ताद्भवतीत्यर्थाधिकार आ शास्त्रपरिसमाप्तवैदितव्यः । अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः । तस्यावग्रहेहावायधारणात्मकं प्रत्यक्षं तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तेरितिदमनुमानञ्च साधकम् । अथास्तित्वनास्तित्वादीनां परस्परविरुद्धानां कथमैकाधिकरण्यमसङ्कीर्णरूपता च ? यथा भवतामेकत्र हेतौ अन्वयव्यतिरेकयोः जनके रसे वा जन्यमानरूपरसापेक्षयोः सहकारित्वासहकारित्वयोः । अथ हेतौ सपक्षविपक्षपेक्षया रूपद्वयं रसे च सभागासभागकार्यापेक्षया; अत्रापि तर्हि स्वरूपपररूपापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वे द्रव्यपर्यायापेक्षया च नित्यत्वानित्यत्वे, द्रव्यपर्याययोश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धिरित्यास्तां तावदेतत् । अनेकान्तादितीदमेव शापकम्, हेतौ कापि भवति । तेनानित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादि सिद्धम् ।

१. दुस्तरम् । २. तस्मै नमः इति शेषः । ३. सम्बन्धान्तरेण अ०, मु० । ४. 'प्रकृत्यादिविभागेन' इति पुनरुक्तः । ५. —मैक्याधि-मु० । ६. जनकयोरपि मु० । ७. च भाषा-अ० । ८. पञ्चम्यपि ।

उत्तरत्र त्वेकदेशाद्व्यवायोऽधिकार इति । वक्ष्यति—“सस्थानक्रियं स्वम् [१।१।२] इति । एतच्च वस्तुना साधर्म्य-
वैधर्म्यात्मकेऽनेकान्ते सत्युपपद्यते । तथा हि अकाराकारयोः ह्रस्वदीर्घकालभेदेन वैधर्म्येऽपि तुल्यस्थानं करणत्वेन
साधर्म्यमस्तीति स्वसञ्ज्ञाव्यवहारः सिध्यति । यदि हि साधर्म्यमेव स्यात्; तदास्ति त्वेनेवान्यैरपि धर्मैः
साधर्म्यं सर्वमेकं प्रसज्येत । यदि च वैधर्म्यमेव; तदा कस्यचिदस्ति त्वमपरस्य नास्ति त्वमन्यस्य चान्यत् स्यात् ।
“अधु मृत्” [१।१।५] इति अन्यव्यतिरेकाभ्यामर्थवच्छब्दरूपं मृत्सञ्ज्ञकमनेकान्तात् सिध्यति । तथा हि—
विभक्त्यन्तस्य च शब्दस्य प्रयोगादर्थे ज्ञानमुत्पद्यत इति सङ्घाता अर्थवन्तो दृष्टाः; तदवयवानामभ्यन्वयव्यतिरेका-
भ्यामर्थवत्ता जायते । वृत्तावित्यत्र, विसर्जनीयाभावादेकत्वार्थो निवृत्तः, औकारमावाद् द्वित्वं जातम् । अका-
रान्तवृत्तशब्दान्वयाजातिरन्वयिनी प्रतीयते । अन्यव्यतिरेकौ च भावाद्येकान्तवादे न स्तः । तथा “ध्यपाये
ध्रुवमपादानम्” [१।२।११०] इत्यादिषट्कारकी नित्यत्वाणि कपत्त्वयोर्नोपपद्यते व्यपायश्रौच्याद्यभावात् । उक्तं च—

“इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो

व्यययमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम ।

अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतदेशकालाविमा-

विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥”

सस्थानक्रियं स्वम् ॥ १।१।२ ॥ स्थानं तात्वादि, क्रिया स्पृष्टतादिका । समाना स्थाने क्रिया यस्य,
सामर्थ्यात् स्थानमपि समानं लभ्यते । अथवा समानं स्थानक्रियं यस्य, समानस्येति योगविभागात् सादेशः,
तत् सस्थानक्रियं स्वतन्त्रं भवति । आत्मलाममपाद्यमाना वर्णास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं वर्णोत्पत्तिस्थानमित्यर्थः ।
तदष्टविधम्—

“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥” इति ।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुरान्तरः परिस्पन्दः क्रिया । सा चतुर्विधा—स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता
ईषद्विवृतता चेति । ध्वनावुत्पद्यमाने यया स्थानानि स्पृशति सा स्पृष्टता । मनाक् स्पर्श ईषत्स्पृष्टता । दूरेण स्पर्शो
विवृतता । समीपेन स्पर्श ईषद्विवृतता । कस्य पुनः किं स्थानम् ? अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः । हविसर्जनीया-
बुरस्यावेकेषाम् । जिह्वामूलीयो जिह्वयः । सर्वमुखस्थानमवर्णमेकं मन्यन्ते । इशयच्यदैतस्तालव्याः । एदैतौ
कण्ठतालव्यावेकेषाम् । उच्चोदौदुपध्मानीया ओष्ठ्याः । ओदैतौ कण्ठोष्ठ्यावेकेषाम् । वकारो
दन्तोष्ठ्यः । सुक्तं स्थानमेकं वाञ्छन्ति । ऋदुरपा मूर्धन्याः । रेफो दन्तमूल्य एकेषाम् । लृतुलसा दन्त्याः ।
नासिकयोऽनुस्वारः । जमङ्गानाः स्वस्थानाः । नासिकास्थाना एकेषाम् । तेषां स्वसञ्ज्ञाप्रातिर्दोषः । स्पृष्टिः
स्पृष्टं स्पृष्टानुगतं करणं कृतिरुच्चारणमेषामिति स्पृष्टकरणा वर्णाः । ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्थाः । ईषद्विवृतकरणा
ऊष्माणः । विवृतकरणाः स्वराः । तेभ्य एदोतौ विवृततरौ । तेन दध्येतत् मध्वोदनमिति स्वेऽको दीत्वाभावः ।
ताभ्यामैदोतौ विवृततरौ । तेन दिश्यैन्द्रयां मध्वौषधम् । ताभ्यामवर्ण इति । तेन पित्रर्थः, दध्यत्र, मध्वत्र । अन्ये
संवृतमकारमिच्छन्ति लोके । शाब्दव्यवहारे तु विवृतम् । एतच्चायुक्तम्, लोकशाब्दयोस्त्वारणं प्रत्यविशेषात् ।
अयं च प्रपञ्चश्चिन्तनीयः । स्वरेभ्यो विवृततराः आवर्णैश्च इति । इत्यपि निर्देशे न दोषं पर्यायः । अ अ अ इत्य-
कार उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः । स प्रत्येकं ङसञ्ज्ञकोऽङ्सञ्ज्ञकः । एवं दीः, एवं पः । एवमष्टादशप्रभेदोऽवर्णः
तथा इवर्णः, तथा उवर्णः, तथा ऋवर्णः, तथा लृवर्णः । कथं लृकारो द्विमात्रः ? अशक्तिजानुकरणापेक्षया ।
सन्ध्यन्त्राणां प्रा न सन्ति, तान्यतो द्वादशप्रभेदानि । अन्तःस्था यवला द्विप्रभेदाः नासिक्येतरभेदात् । एवमर्थः १२

१. उत्तरसूत्रैक-ब० । उत्तरसूत्रैकदेशाध्याचायो-मु० । २. अनुवृत्तिरित्यर्थः । ३. -नकारण-अ०, स०,
४. -न्यत् । अधु ब०, मु० । ५. च भावावेकान्त-मु० । ६. प्रतिषु ‘द्विषन्’ इति पाठः । ७. पा० शि० १३।
८. पाणिनीयानाम् । ९. ओष्ठप्रान्तयोः सुक्तम् । १०. अवर्णैश्च ब०, स०, मु० । ११. -कः, एवं प्रः, एवं दीः,
अ०, ब०, स० । १२. -मत्र चै-अ० ।

चैतद्गुणं पृथ्वन्ते । अणुं स्वं गृह्णातीति यथा स्यात् । रेफोष्मणां स्वा न सन्ति । वर्यः स्ववर्ग्येण स्वसञ्ज्ञो भवति । उदाहरणं—लोकाग्रम् । मुनीशः । स्थानग्रहणं किम् ? कचटतपानां समानक्रियाणां भिन्नस्थानानां मा भूत् । तर्ता तर्तुमिति । अत्र “भरो भरि स्वे” [५।४।१३६] इति पकारस्य तकारे खं प्रसज्येत । क्रियाग्रहणं किम् ? इचुयशानां समानस्थानानां भिन्नक्रियाणां मा भूत् । तत्र को दोषः ? अरुश्च्योततीत्यत्र “भरो भरि स्वे” [५।४।१३६] इति शकारस्य चकारे खं प्रसज्येत । “अकारलुकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या” [वा०] । पितृ लुकारः पितृकारः । स्वप्रदेशाः “स्वेऽङ्को दीः” [४।३।८८] इत्येवमादयः । शास्त्रलाघवार्थं संज्ञाकरणम् ।

हलोऽनन्तराः स्फः ॥ १।१।३ ॥ हलोऽनन्तराः विजातीयैरभिभव्यवहिताः सम्बद्धोच्चारणाः स्फसंज्ञा भवन्ति । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते । तेन प्रत्येकं स्फसञ्ज्ञा न भवति । हल इति जात्यपेक्षो बहुत्वनिर्देशः । तेन द्वयोर्वहूनां च स्फसञ्ज्ञा । शर्म-कर्मैति रमौ । इन्द्रश्चन्द्र इति नदराः । हल इति किम् ? तितउः । “तनेडः सन्वच्च” इति डउः । अत्राकारोकारावनन्तरौ स्फान्तखं प्रसज्येत । अनन्तरा इति किम् ? पचति पनसम् । आद्यं रूपं प्रत्युदाहरणं पनसमित्यत्र “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [४।३।४६] इति सखं स्यात् । स्फ इति वर्णपिण्डेन संज्ञाकरणं किम् ? एवंरूपः समुदायः स्फसञ्ज्ञो यथा स्यादित्येवमर्थम् । स्फप्रदेशाः “स्फेहः” [१।२।१००] “लिङ्स्फात् किन्” [१।१।७६] इत्येवमादयः ।

नासिक्यो डः ॥ १।१।४ ॥ नासिकायां भवो वर्णो ङसञ्ज्ञो भवति । नासिकायाश्चावर्णनगरयोर्नसादेशो ये विहितः । जमङ्गना उदाहरणम् । परस्परं स्वसञ्ज्ञा स्यात् इति चेत् ; नैवम् ; स्वस्थानप्रभवा एवामी । उपचारात्नासिक्यत्वम् । यथा मुखप्रभवेऽपि स्वर उपचारादंशे भवो वंश्य इत्युच्यते । तथापि सति मुख्येऽनुस्वारे नासिक्ये कथमुपचरितग्रहणम् । तस्य ङसंज्ञायां प्रयोजनं नास्तीत्यग्रहणम् । ङसञ्ज्ञाकार्यं शान्तो दान्त इति “ङस्य विवभलोः क्लिति” [४।४।१३] इति दीत्वम् । नासिक्य इति किम् ? तप्तम् । “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना ङखञ्च प्रसज्येत । पक्कः पक्कवान् इत्यत्र “ङस्य विवभलोः” [४।४।१३] इति दीत्वं स्यात् । वत्वस्य चासिद्धत्वात् “अनुदात्तोपदेश” [४।४।३७] इत्यादिना ङखं च प्रसज्येत ।

अधु मृत् ॥ १।१।५ ॥ ध्रुवजितमर्थवच्छब्दरूपं मृत्सञ्ज्ञं भवति । धोरर्थवतः पर्युदासाच्चा [३] र्थवत्त्वं लभ्यते । अर्थश्चाभिधेयो भावाभावरूपः । तत्र भावरूपो जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन चतुर्विधः । गौः । शुक्रः । पाचकः । इति । अद्रव्यविवक्षायां जात्यादिनार्थवत्त्वम् । द्रव्याभिधाने तु द्रव्यगुणलिङ्गसंख्याकर्मादयो व्यपदिश्यन्ते । तेषां द्योतनार्थं द्वावादयः स्वादयश्चेत्यधन्ते । एवं डित्यो डवित्यः । कुण्डं पीठम् । अभाववरूपमभिधाने अभावो विनाशः । शशविषाणम् । अध्विति किम् ? अहन् । मृत्वे नखं स्यात् । पर्युदासादर्थवदिति किम् ? धनं वनम् । नकारावधेर्मृत्सञ्ज्ञायां नखं प्रसज्येत । लूः पूरिति क्वन्तस्य ध्रुत्वेऽपि कृदन्तत्वात् मृत्सञ्ज्ञा । मृत्प्रदेशाः “ड्यामृदः” [३।१।१] इत्येवमादयः ।

कृद्घृत्साः ॥ १।१।६ ॥ कृदन्तं हृदन्तं ससञ्ज्ञकञ्च मृत्सञ्ज्ञं भवति । कृत्-ज्ञाता । ज्ञातव्यम् । हृत्-प्राजापत्यः । आक्रम्पनिः । सः-जिनधर्मः । साधुवृत्तम् । “सिद्धो सत्यारम्भो नियमार्थः” [परि०] “नियमश्च विधिमुखः प्रतिषेधफलः” इति त्यात्वेण कृद्घृदन्तस्यैव मृत्संज्ञा । इह मा भूत् । असिचन् । अभवन् । उत्पन्नानां स्वादीनामेकत्वादनियम इत्यस्मिन् दर्शने स्वाद्युत्पत्तिः स्यात् । इह च काण्डे कुड्ये रमते राजकुलमिति “प्रो नपि” [१।१।७] इति मृत्वात्प्रादेशः स्यात् । सग्रहणमपि नियमार्थम् । अर्थवत्संघातानां संसंज्ञकस्यैव मृत्संज्ञा, वाक्यस्य मा भूत् । साधुधर्मं ब्रूते इति, “सुपो ध्रुवदोः” [१।४।१४२] इति सुप उप् प्रसज्येत । सग्रहणात् दुल्यजातीयस्यैव सुबन्तसमुदायस्य वाक्यस्य निवृत्तिः, न प्रवृत्तित्यसमुदायस्य । तेन “वा सुपो बहुः प्राक्तु” [४।१।२७] इति वहौ केऽकचि च कृते बहुवृणं कुमारिका उचकैः पठतीति मृत्वं न निवर्तते । ननु च “सुस्मिडन्तं पदम्” [१।२।१०३]

१.-सम्बन्धो-इति पाठः । २.-ति नै-अ० । ३. खग्रस-इति सुवचम् । ४.-ना तु खं च मु० । ५. स्यात् । अर्थवत्पर्यु-अ०, स० ।—३. अर्थवतः पर्यु-ब० । ६. न्यायसं० । ७. मुखप्रतिषेधफलमि. मु०, स० । ८. मते । ९. -कचि कृ-मु० ।

इत्यत्रान्तग्रहणादन्यत्र “संज्ञाविधौ त्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति” [परि०] इत्युक्तं तत्कथं कृदन्तहृदन्तग्रहणम् ? नत्थं संज्ञाविधिः । पूर्वेण विहिताया मूलसंज्ञाया नियमोऽयम् । अथवा “सात्” [५।४।७७] इति प्रवप्रतिषेधादिह तदन्तविधिर्ज्ञायते । अन्यथा सदिद्येतस्य केवलस्य मृत्वे “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इत्यनेनैव प्रतिषेधः सिद्धः स्यात् । अथ “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] इति कृद्ग्रहणं समुदायविवर्धं न नियमार्थम् । तेन देवदत्तेन कृतमित्यादेः समुदायस्य मृत्वात् “सुपो धुमृदोः” [१।४।१४२] इति सुप् उप् प्रसज्येत । नैष दोषः, “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इत्यस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । सर्वशब्दानां व्युत्पत्तिरस्तीत्यस्मिन् पक्षे, पूर्वसूत्रे नास्त्युदाहरणं, संज्ञार्थमेव तत् ।

प्रो नपि ॥१।१।७॥ मृदिति वर्तमानमर्थान्तान्तं सम्पद्यते । प्रादेशो भवति नपि वर्तमानस्य मृदः । नविति नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा पूर्वेषाम् । श्रियमतिक्रान्तमतिश्रि । अतिरि । अतिवधु कुलम् । अतितु जलम् । ईकारैकौ तालव्यू । उकारौकौ च ओष्ठ्यावस्माकम्, ततः “स्थानेऽन्तरतमः” [१।१।४७] इति परिभाषया अन्यस्याचः प्रादेशः । नपीति किम् ? राजकुमारी । अग्रणीः । मृद इति किम् ? रमते कुलम् । नन्वलिङ्गत्वादाख्यातस्यात्र प्रादेशाप्राप्तिरत एवात्रापि न प्रादेशः काण्डीभूतमिति । इह तर्हि मा भूत् । काण्डे तिष्ठतः, कुड्ये तिष्ठत इति । अत्र मृदधिकाराद् मृदमृदोरेकादेशो मृदन्न भवति ।

स्त्रीगोर्नीचः ॥ १।१।८ ॥ न्यभूतो यः स्त्रीत्यः गोशब्दश्च तदन्तस्य मृदः प्रादेशो भवति । स्त्री इति स्वरितचिह्नितनिर्देशात् स्त्रियामित्येवंविहितस्य त्यस्य ग्रहणम् । निष्कौशाग्निः । निर्मथुरः । उभयगतिरिह शास्त्रे । तेन एकविभक्तित्वादप्रधानत्वाच्च शास्त्रीयं लौकिकं च न्यक्त्वं गृह्यते । “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः” इतीयं परिभाषा स्त्रीत्यग्रहणान्नेष्यते । तेन—अतितिलपीडनिः । अतिराजकुमारिः । चित्रगुः । श्वेतगुः । वोक्तत्वादप्रधानत्वाच्च न्यक्त्वम् । स्त्री इति स्वरितचिह्नितग्रहणं किम् ? अतिलक्ष्मीः । अतिश्रीः । नीच इति किम् ? साधुविद्या । सुगौः । इह राजकुमारीपुत्रः सुगोकुलमिति यदपेक्षं न्यक्त्वं तत्प्रति तदन्तत्वं नास्तीति न प्रादेशः । मृद इत्यधिकारः किमर्थः ? कुमारीपुत्रः गोकुलम् “वोक्तं न्यक्” [१।३।६३] इति प्रादेशः प्रसज्येत । “ईयसो बसे प्रतिषेधो वक्तव्यः” (वा०) बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । विद्यमानश्रेयसी । सान्तो विधिरनित्य इति “कृन्मोः” [४।२।१५३] इति कत्रपि न भवति ।

हृदुप्युप् ॥ १।१।९ ॥ स्त्रीग्रहणं नीच इति चानुवर्तते । हृदुपि सति स्त्रीत्यस्य नीच उभभवति । आमलकम् । कुवलम् । बदरम् । आमलक्या अवयवः फलम् । “नित्यं दुशरादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । इतराभ्यां “प्राग् द्वोरण्” [३।१।६८] तयोः “उप् फले” [३।३।१२१] इत्युप् । स्त्रीत्यस्य पूर्वेण प्रादेशो प्राप्ते उबनेन क्रियते । तस्य “परेशचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद् “यस्य क्वा च” [४।४।१३६] इत्यकारस्य खं प्राप्तमीविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न भवति । एवं पञ्चेन्द्रः । पञ्चशङ्कुलः । पञ्चेन्द्रायो देवता अस्य “हृदर्थ—” [१।३।४६] इति घसः “संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रसञ्जः, “प्राग्द्वोरण्” [३।१।६८] इति, तस्य “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । स्त्रीत्यस्योपि “सन्निधोगशिष्टानामन्यतरापये उभयोरप्यभावः” [परि०] इत्यानुको निवृत्तिः । पञ्चभिः शङ्कुलीभिः क्रीतः आर्हाट्टणः “रादुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । हृदिति किम् ? गार्गीपुत्रः । सुप उबत्र । उपीति किम् । गार्गी त्वम् । नीच इत्येव—अवन्ती । कुन्ती । कुरुः । अवन्तैरपत्यं स्त्री “द्विकुरुनद्याजदकोशलज्ज्यः” [३।१।१५३] इति ज्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्युप् । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति डी । “ऊरुतः” [३।१।५६] इति ऊः । अत्र उपि सतीत्युच्यमाने प्रसज्येत ।

इद् गोण्याः ॥१।१।१०॥ इकारादेशो भवति गोण्या हृदुपि सति । पञ्चभिर्गौणीभिः क्रीतः पञ्चगोषिः । दशगोषिः । आर्हाट्टणो “रादुबखौ” [३।४।२६] इत्युपि कृते स्त्रीत्यस्य पूर्वैणोपि प्राप्तेऽनेन इकारः । गोण्या इति सूत्रे प्रकृतप्रादेशेन सिद्धे इद्वचनं किम् ? क्वचिदन्यत्रापि यथा स्यात् । पञ्चभिः सूचिभिः क्रीतः पञ्चसूचिः । सप्तसूचिः ।

• **आकालोऽच् प्र-दी-पः ॥१११११॥** आ इति मात्रिकद्विमात्रिकत्रिमात्राणां संहितया निर्देशः । प्र-दी-प इति “सूत्रेऽस्मिन् सुविविधप्रतिष्ठः” [५१२११४] इति जसः स्थाने सुः । अ आ आ३इत्येवं काल इव कालो यस्य सोऽच् यथासंख्यं प्र दी प इत्येवंसंज्ञो भवति । अकालः—दधि । मधु । पितृ । आकालः—खट्वा । गौरी । वामोरुः । आ ३ कालः—आगच्छ भो माणव जिनदत्ता ३ इत्यादयः । कालग्रहणं प्रत्येकं परिमाणार्थम् । ततः अकाल इति विशेषणाद् भिन्नकालयोर्दोषयोर्ग्रहणं न भवति । अजग्रहणं किमर्थम् ? हलचा संघातनिवृत्त्यर्थम् । प्रत्यक्षम् । तितउच्छ्रमिति । प्र-दी-पप्रदेशाः “**प्रो नपि** [१११७] इत्येवमादयः ।

अचश्च ॥११११२॥ परिभाषेयम् । अचः स्थाने ते प्र-दी पसंज्ञका भवन्ति । “**प्रो नपि**” [१११७] इति । अतिनु । अतिश्रि । इच्छातो विशेषणविशेष्यभाव इति अजन्तस्य प्रादेशः । अच इति किम् ? सुवाक् पूत-कुलम् । हलः प्रो न भवति । “**दीरकृद्गे**” [५१२१३४] इति । चीयते । स्तूयते । अच इति किम् ? मिथ्ये । “**शमित्यामदोदीः**” [५१२१७२] इत्यत्र गृह्यमाणेन शमादिनाञ् विशिष्यते इत्यनजन्तस्यापि दीत्वम् । शाम्यति । वाक्यटेः प इत्यवापि गृह्यमाणेन टिना अज्जिवशिष्यते । आगच्छ भो माणव जिनदत्ता ३ । अच इति किम् ? धर्मवीर्ये । तकारस्य मा भूत् । चकारः किमर्थः ? संज्ञाविधौ नियमार्थः । इह मा भूत् । द्यौः । पन्थाः । सः । द्युभ्याम् । द्युभिः ।

उच्चनीचाबुदात्तानुदात्तौ ॥११११३॥ अजिति वर्तते । उच्चैरुपलभ्यमानोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति । नीचै-रुपलभ्यमानोऽनुदात्तसंज्ञो भवति । स्थानकृतमुच्चत्वं नीचत्वं च गुणः संज्ञिनो विशेषणम् । समान एव स्थाने ऊर्ध्व-भागनिष्पन्नोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति, नीचभागनिष्पन्नोऽनुदात्त इति । “**नित्याः शब्दार्थसंबन्धाः**” इति वैरिष्यते तेषां निरवयवस्य नित्यस्य शब्दस्य अवयवोपचयापचयाभावात् उदात्तादिव्यपदेशो न घटते, सावयवत्वे च तेषामनित्यत्वं प्राप्नोति । न च नित्यस्य स्थानकरणाव्यापारविशेषाद्विशेषः प्रसज्यते । क्षणिकपक्षेऽपि नैका नित्या स्वरजातिरस्ति यामपेक्षायामत्रोच्चैर्वा नीचैरिति परस्परपक्षो व्यवहारो भवेत् । तस्मादुक्तमनेकात्मविशेषोदा-त्तादयः समर्थनीयाः । न च लोकप्रतीतेषु शब्देषु विभागोदात्तादयः प्रतीयन्ते केवलं शास्त्रे व्यवहारार्थं प्रति संज्ञायन्ते । भू इति उदात्तत्वादित् । भविता । एध स्पर्ध इत्येतयोरन्तोऽनुदात्त इति “**डनुदात्तौ दोः**” [११२१६] इति दो भवति । एधते । स्पर्धते । उदात्तानुदात्तप्रदेशेषु उच्चनीचगुणविशिष्टस्य ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

व्यामिश्रः स्वरितः ॥११११४॥ उच्चनीचगुणव्यामिश्रोऽच् स्वरितसंज्ञो भवति । पच यज इत्यन्तस्य स्वरितत्वात् “**अस्वरितैः कर्त्राप्ये फले**” [११२१६८] इति दो भवति । पचे । यजे । स्वरितप्रदेशाः “**स्वरितेनाधिकारः**” [११२१५] इत्येवमादयः ।

आदैगैप् ॥११११५॥ प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते । प्रत्येकमादैचां वर्णानामैक्येष्वा संज्ञा भवति । पारिशेष्यात्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धो ज्ञायते । तथा हि नानर्थकमिदमाचार्यप्रामाण्यात् । ‘साधनानुशासनमपि न भवति, आदैचां प्रत्याहारे उपदेशात् । ऐप्शब्दस्यापि मृत्संज्ञा सिद्धा । नापि पूर्वोपरप्रयोगनियमार्थम् । “**सावैम्मे**” [५११७७] इत्यन्यथापि प्रयोगदर्शनात् । स्थान्यादेशार्थमपि न संभवति । “**अवथात्** [अवयवाहृतोः]” [५१२१६] “**रायो हलि**” [५१११४४] “**नावो रात्**” [४१२१०२] “**मृजेरप्**” [५१२११] इति च उभयदर्शनात् । लिङ्गा-भावाक्षरगमागमिभावः । विशेषणविशेष्यभावोऽपि प्रतीतपदार्थयोर्भवति नीलोत्पलवत् । एवमन्यस्यार्थस्यासम्भवात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः । लघ्वन्तरा संज्ञा । आदैचामैपा तद्भावितानामतद्भावितानां च सामान्येनैसंज्ञा । तद्भावितानामु-

१. हलामर्चा च संज्ञातस्य प्र-दी-पसंज्ञानिवृत्त्यर्थः । २. ‘क्ष’ इत्यस्य हल्समुदायस्य ‘प्र’ संज्ञार्थां स्वरपि परतस्तुक् प्रसज्येत । ३. तितउच्छ्रमिति अ-उ-संघातस्य दीर्घसंज्ञार्थां ‘वा पदस्य’ [४३३६४] इति विभाषया तुक् प्रसज्येत । ४. विशेष्यते अ०, ब०, स० । ५. परिशेषा-ब० । ६. साधनानुशास-स० । ७. ‘नाचो रात्’ अ०, ब०, स० । एतच्च नोपलभ्यते । ‘नावो रात्’ इत्युपलभ्यते परन्तु नोचितमिदमत्र । ग्रन्थस्वरस्यात् ‘अतो नादैर्वा’ [५११८३] इति प्रतिभाति ।

दाहरणम्—नाडायनः । दैवदत्तिः । औपगवः । अतद्भावितानाम्—मालामयम् । रैमयम् । नौमयम् । विंका-
राऽयं “नित्यं दुशरादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । आदिति तपरकरणमैजर्थम् । तादपि परस्तपर इति ।
तेन तवैषा महौषधिरित्यादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “आदैगैप्” [१।१।१५] इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन्
सुविधिरिष्टः” इति जसः स्थाने सुः । एषप्रदेशाः “सृजेरेप्” [५।२।११] इत्येवमादयः ।

अदेङ्गेप् ॥ १।१।१६ ॥ अदेङां वर्णानां प्रत्येकमेवित्येषा संज्ञा भवति । अत्राप्यतद्भावितानां तद्भा-
वितानामदेङामेप्संज्ञा । अतद्भावितानाम्—पचन्ति । पचे । एधन्ते । “एप्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपम् ।
तद्भावितानाम्—कर्ता । तरति । चेता । स्तोता । ऋकारस्यैवैप्रसङ्गे स्थानतोऽन्तरतमौ अकाराकारौ भवतः ।
तौ च प्रसज्यमानावेव रन्तौ । अदिति तपरकरणं दी-पनिवृत्त्यर्थमेडर्थं च । तेन मालेयं खट्वोढा इत्यत्र त्रिमा-
त्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । एषप्रदेशाः “मिदेरेप्” [५।२।१०६] इत्येवमादयः ।

इकस्तौ ॥ १।१।१७ ॥ परिभाषेयम् । ऐवेपौ संज्ञया विधीयमानौ इक एव स्थाने भवतः । स्थानि-
नियमोऽयं न विधिनियम इति । कुत एतत् ? “सक्थ्यस्थिदध्यक्ष्णाम्” [५।१।५४] इतीको निर्देशात्, एवै-
पोल्लक्षणात्तरेण विधानाच्च । प्रत्यासत्तेः पूर्वमेवुदाहरणं वक्तव्यम् । “गाऽग्योः” [५।२।८१] । करोति । नयति ।
भविता । “सावैम्मे” [५।१।७७] । अक्रार्पात् । अनैपीत् । अहौपीत् । इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः । “मिदेरेप्”
इत्यत्र गृह्यमाणेन मिदादिना इग्विशेष्यते । तेनानन्यस्य भवति । “जुसि” [५।२।८०] । “गाऽग्योः”
[५।२।८१] इति च गृह्यमाणमिका विशेष्यते इतीगन्तस्य भवति । इक इति किम् ? आत्संध्यन्तरव्यञ्जनानां मा
भूत् । यानम् । ग्लायति । उभिभता । अजित्यत्रानुवर्तनादैवेपोः सम्बन्धे सिद्धे ‘तौ’ग्रहणं संज्ञाविधाने नियमार्थम् ।
घोः । पन्थाः । सः । यत्र स्थानी निर्दिश्यते तत्र नेदं व्याप्रियते । यथा “ज्णिग्यत्थः” [५।२।३] इति ।

नधुखेऽगे ॥ १।१।१८ ॥ प्रतिषेधसामर्थ्यादेकदेशे धुर्वर्तते । घोः खं यस्मिन्ने स धुखः । तन्निमित्ता-
वैवेपौ न भवतः । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । यङन्तेभ्यः पचाद्यच् । “यङोऽचि” [१।४।१४४] इति
यङ उप । अतः खात् प्रागेव च यङ उवेषितव्यः । अन्यथा देर्व इत्यत्र अंखमजादेश इति कृत्वा तस्य
स्थानिवद्भावात् “दीङोऽचि कृडिति युट्” [४।४।६२] इति युट् प्रसज्येत । धुग्रहणं किम् ? लूज्—लविता ।
खविधिवलवानिति प्रागेव धुसंज्ञया अनुबन्धनाशः । अत्रागनिमित्तं खं नास्तीति ‘द्व्यङ्गवैकल्यं’ नाशङ्कनीयम् ।
यतो धुग्रहणे सति बसे लभ्यते घोः खं यस्मिन्निति । बसेन अग इत्यस्य विशेषणं किम् ? कनूयी, कोपयति । अत्र
पुक्माश्रित्य यखं नागनिमित्तमिति न प्रतिषेधः । षसे तु प्रसज्येत । अग इति किम् ? रोरवीति । गनिमित्त
एवभवत्येव । अत्रापि यङ्खमगनिमित्तं न भवतीति ‘द्व्यङ्गवैकल्यं’ न मन्तव्यम् ; यतोऽप्राग्रहणे सति
धुखनिमित्तत्वं लभ्यते । इक इत्येव । अभाजि । रागः ।

कृडिति ॥ १।१।१९ ॥ गिति किति डिति च निमित्तभूते यावैवेपौ प्रानुतस्तौ न भवतः । गिति—
“ग्लामूजिस्थः कस्तुः” [२।२।११५] इति, भूष्णुः । जिष्णुः । किति—चितम् । स्तुतम् । भिन्नम् ।
मृष्टम् । डिति—चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । इक इत्येव । कामयते । अचिनवमित्यत्र लङो
ङित्वात्कस्मात् प्रतिषेधः, “सूभवत्योर्मिङि” [५।२।८६] इति । अभूत्^{१०} । भवतेर्हलादौ मिङ्येप्रतिषेधवचनं
ज्ञापकं डितो लकारस्यादेशो डित्तं भवतीति । यासुटो डित्करणं च ज्ञापकम् ।

ईदूदेद्विदिः ॥ १।१।२० ॥ ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तो यो द्विः स दिसंज्ञो भवति । अग्नी इति ।
वायु इति । खट्वे इति । तद्वदित्यनेन द्वेद्वेद्वैचैकादेशो द्विग्रहणेन गृह्यत इतीदाद्यन्तश्च भवति व्यपदेशिवद्भावेन ।
मुख्यरूपेण द्विकारान्तः । पचेते इति । पचेथे इति । सत्यां दिसंज्ञायाम् “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४।३।१०३]

१. त्रनिवृ-अ०, ब०, स० । २. अकारस्येत्यर्थः । ३. अकारनाश इत्यर्थः । ४. अवस्थानिका-
देश इत्यर्थः । ५. विध्यगवै-ब० । ६. बसे तु अ०, ब०, मु० । ७. यङः स-अ०, ब०, स० । ८. ‘अगनि-
मित्तं न’ इत्यत्र ‘अनिमित्तं न’ इति पाठः स्वरसः । ९. ‘कस्तुः’ मु० । १०. अभूत् इत्यस्य ‘सूभवत्योर्मिङि’
इत्यतः पूर्वमेव पाठो युक्तः । ‘अभूत्’ इत्यस्याग्रे ‘इत्यत्र’ इत्यपि योज्यम् ।

इति प्रकृतिभावः । ईदूदेदिति किम् ? वृद्धावत्र । तपकरणमसन्नेहार्थम् “मणीवादिषु नेष्यते” मणीव । दम्प-
तीव । रोदसीव शोभेते । “संज्ञविधौ स्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” इति अशुक्ले शुक्ले सम्पन्ने शुक्लथास्तां
वस्त्रे इति त्यक्त्वा श्रयन्यायेन दिसंज्ञा न भवति ।

अः ॥१११२१॥ एदिति निवृत्तम् । दकारस्य स्थाने यो मकारस्तस्मात्परावीदूतौ दिसंज्ञौ भवतः । अमी
आसते । अमी अत्र । अमू आसते । अमू अत्र । “बहावीरेतः” [५।२।८६] इति मत्वमीत्वं च । “दादुदो
मोऽदसोऽसेः” [५।३।८८] इति मत्वम् । द्विमात्रस्य औकारस्य द्विमात्र ऊकारः । आश्रयान्मकारादीनां
सिद्धिः । द इति किम् ? शस्यत्र । दाडिस्यत्र । म इति किम् ? द इति तानिर्देशपक्षे तेऽन्नेत्यत्र दकारादेशस्य
परेणादेपि कृते स्थानिवद्भावात्तद्वद्भावाच्च दिसंज्ञा प्रसज्येत । कानिर्देशपक्षे चतुष्पदार्थ इत्यत्र स्यात् । ईदूदित्येव ।
इमेऽत्र । एकयोगनिर्दिष्टानामेकदेशोऽनुवर्तते निवर्तते चैकदेश इति एद्ग्रहणं निवृत्तमिति । अन्यथा अनुकेऽन्ने-
त्यनुवर्तनसामर्थ्यादुकारककाराभ्यां व्यवधानेऽपि वचनंप्रामाण्यादिसंज्ञा प्रसज्येत ।

निरैकाजनाड् ॥१११२२॥ निसंज्ञ एकाच् अनाड् दिसंज्ञो भवति । अ अपेहि । इ इन्द्रं पश्य । उ
अपसर । निरिति किम् ? चकारात्र । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतैस्तस्य च विभागः । अपायिना ह्यनुबन्धलिङ्गेन
निरनुबन्धादकाराद् भिद्यते णल् । एकरुचासावच्च एकाजिति किम् ? प्रश्नाति । अनाडिति किम् ? आ उद-
कान्तात् । ओदकान्तात् । डित्करणं येष्वर्थेषु डिदयं वर्तते तत्र प्रतिषेधो यथा स्यादन्यत्र दिसंज्ञैव भवति ।

“ईषदर्थं क्रियायोगे मर्यादाऽभिर्विधौ च यः ।

एतमातं” डितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरडित् ॥”

यथाक्रमम् । आ उष्णम् ओष्णम् । आ इहि एहि । आ उदकान्तात् ओदकान्तात् । आ अर्मकेभ्यः
आर्मकेभ्यः । आर्मकेभ्यो यशः प्रतीतम् । वाक्यपूरणे स्मरणे चार्थे डित्त्वाभावादिसंज्ञा । आ एवं नु मन्यसे ।
आ एवं किल तत् ।

ओत् ॥१११२३॥ अनेकाजर्थ आरम्भः । ओदन्तो निर्दिसंज्ञो भवति । अहो इति । उताहो इति ।
अत्र ओदिति प्रधानम् । वचनात् प्रधानेनापि तदन्तविधिः । तेनेह लान्तरिकत्वान्न भवति । अदोऽभवत् । तिरो-
ऽभवत् । अनुपदेशेऽदः [१।२।१३६] “तिरोऽन्तर्धौ” [१।२।१४०] इति निसंज्ञा । इह तु गौणत्वान्न भवति ।
अगौर्गौः सम्पन्नो गोभवत् । “त्विडाजूर्धादिः” [१।२।१३२] इति निसंज्ञा । गौणत्वाद्वाहीके गोशब्दस्य
कथमैवादिकार्यमिति चेत् ? सामान्येन संस्तु तस्य पदस्य प्रयोगादपेक्षः ।

कौ घेतौ ॥१११२४॥ कानिमित्तो य ओकारस्तदन्त इतौ परतो वा दिसंज्ञो भवति । पटो इति । पट-
विति । साधो इती । साधविती । काविति किम् ? गवित्ययमाह । गौरिति वक्तव्यमशक्या गो इत्युक्तमनुक्रियतेऽ-
नेकान्ताश्रयणात् । अनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षायामसत्यर्थवत्त्वे विभक्त्यनुत्पादः । इताविति किम् ? पटोऽत्र ।

उजः ॥१११२५॥ उजित्येतस्य वा दिसंज्ञा भवतीतौ परतः । उ इति, विति । “निरैकाजनाड्”
[१।१।२२] इति नित्यं दिसंज्ञा प्राप्ता । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? अहो इति । उताहो इति । निसंधातपक्षे
निरनुबन्धस्य मा भूत् ।

ऊम् ॥१११२६॥ उजः ऊमित्ययमादेशो भवतीतौ परतः । इति द्विमात्रो नासिक्यो दिसंज्ञकश्च ऊं
इति यद्यपठितोऽपि निसंज्ञकोऽस्ति तस्येतावेव प्रयोगो यथा स्यादित्यारम्भः ।

दाधा भवपित् ॥१११२७॥ दा धा इत्येवंरूपा धवो भुसंज्ञका भवन्ति पितौ वर्जयित्वा । दारूपाश्च-

१. -यात्पका—अ०, स०, मु० । २. अकारेण इत्यर्थः । ३. योगो निर्दि—अ० । ४. -को दे-स० ।
५. निरिति ग्रहणे कस्मान्न भवतीत्यत आह—अपायिनेत्यादि । ६. लिङ्गेन निरनुबन्धलिङ्गेन निर-अ०, मु० ।
परमसमीचीन एष पाठः । ७. एव-मु० । ८. तेन विना मर्यादा । ९. तेन सहाभिविधिः । १०. माड्
डि-अ०, ब०, स० । ११. संस्कृतस्य व० ।

त्वारः । प्रणिददाति । दाण् । प्रणिदाता । प्रणिदयते । प्रणिद्यति । धारूपौ द्वौ । प्रणिदधाति । प्रणिर्धयति ।
दैपः पित्करणं ज्ञापकम् । अत्र प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयते । भुसंज्ञाकार्यं “नेर्गदनद” [५।४।१००]
इत्यादिना णत्वं “भुमा” [४।४।६५] इत्यादिना हलीत्वं च । दीयते । धीयते । धीतं वत्सेन । अपिदिति
किम् ? दायते बर्हिः । अवदायते भाजनम् । भुप्रदेशाः “भुस्योः” [१।१।९१] इत्येवमादयः ।

क्लृक्वत् तः ॥१।१।२८॥ क्लृक् क्लृवतुश्च तसंज्ञौ भवतः । रूपसंज्ञेयम् । कृतः । कृतवान् । भूत इति
वर्तमाने इति क्लृक्वतुरुपौ ल्यौ भवतः । कारितः । कारितवान् । “ते सेटि” [४।४।५४] इति णेः खम् ।
मिन्नः । मिन्नवान् । “द्वान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इति नत्वम् । ककारः क्तिकार्यार्थः । उकार उग्तिकार्यार्थः ।
तत्प्रदेशाः “ते सेटि” [४।४।५४] इत्येवमादयः ।

संज्ञाः खुः ॥१।१।२९॥ संज्ञाशब्दवाच्योऽर्थः खुसंज्ञो भवति । खुप्रदेशाः “खावन्यपदार्थे”
[१।३।१८] इत्येवमादयः ।

भावकर्म डिः ॥१।१।३०॥ भावकर्मशब्दवाच्योऽर्थो डिंसंज्ञो भवति । डिप्रदेशाः “जिडौ”
[२।१।६२] इत्येवमादयः । तत्र भावकर्मणोर्ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

शि धम् ॥१।१।३१॥ शि इत्येतद्वसंज्ञं भवति । शि इति नपुंसके जश्शसोरादेशस्यार्थवतो ग्रहणम् ।
कुण्डानि तिष्ठन्ति । कुण्डानि पश्य । धप्रदेशाः “धेऽकौ” [४।४।६] इत्येवमादयः ।

सुडनपः ॥१।१।३२॥ सुडिति प्रत्याहारेण स्वौजसमौटां ग्रहणम् । सुद् धसंज्ञो भवति नपुंसकलिङ्गा-
दन्यस्य । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वम् । सुडिति
किम् ? राज्ञः पश्य । अनप इति किम् ? सामनी । वेमनी । अनप इति पर्युदासात् स्त्रीपुंसम्बन्धिनः सुदो धसंज्ञा
नपुंसके न विधिर्न प्रतिषेधः । तत्र पूर्वैण जश्शसोरादेशस्य शोधसंज्ञा भवत्येव । ननु व्यक्तं स्त्रीपुंसग्रहणमेव
कर्मव्यम् ? एवं तर्हानप इति निर्देशात् सापेक्षस्यापि नञः^१ सविधिर्भवतीति ज्ञायते । तेन अश्राद्धभोजी अलवण-
भोजीत्येवमादयः सिद्धाः ।

कतिः संख्या ॥ १।१।३३ ॥ कतिशब्दः संख्यासंज्ञो भवति । कतिकृत्वः । कतिधा । कतिकः । किं
परिमाणमेवं “किमः” [३।४।१६२] “संख्यापरिमाणे डतिश्च” [३।४।१६३] इति डतिः । कति वारान्
भुङ्क्ते । कतिभिः प्रकारैः । कतिभिः क्रीत इति । यथाक्रमं “संख्याया ध्वंभ्यावृत्तौ कृत्वस्” [४।२।२४]
“संख्याया विधार्थे धा” [४।१।१०६] “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इति क इत्येतै भवन्ति ।
ननु प्रदेशेषु संख्याग्रहणेनान्वर्थविज्ञानात् संख्यायतेऽनयेति कृत्वा कतिशब्दस्यापि ग्रहणे सिद्धे किमर्थमिदम् ?
नियमार्थम् । अनियमितेषु कतिशब्दस्यैव संख्यारूपता । तेन भूरिप्रभूतादीनां निवृत्तिः “संख्याबाहुोऽबहुगणात्”
[४।२।६६] इत्यत्र बहुगणयोः प्रतिषेधाद्भवति संख्याग्रहणम् । बहुकृत्वः । गणकृत्वः । वैपुत्यसङ्ख्योर्न
संख्यात्वम् । “वतोर्वैट्” [३।४।२०] इति वचनं ज्ञापकं भवति वक्तव्यस्य संख्याग्रहणेन ग्रहणम् । तावतिकः ।
तावत्कः । संख्याप्रदेशाः “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इत्येवमादयः ।

ष्णान्तेल् ॥ १।१।३४ ॥ कतिः संख्येति वर्तते । षकारनकारान्ता संख्या कतिशब्दश्च इत्संज्ञौ भवतः ।
ष्णान्तेति पदस्य संख्यापेक्षः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । कतेरनुवर्तनसामर्थ्यादित्यसंज्ञा । षट् । पञ्च । सप्त । कति
तिष्ठन्ति । “उबिलः” [५।१।१९] इति जस उप् । ष्णान्तेति संख्याविशेषणं किम् ? विप्रुषः पामान इति अन्त-
ग्रहणं वसनिर्देशेन संख्याप्रतिपत्त्यर्थमौपदेशिकार्थं च । तेन शतानीत्यादौ न भवति । इल्प्रदेशाः “उबिलः”
[५।१।१९] इत्येवमादयः ।

सर्वादिः सर्वनाम ॥ १।१।३५ ॥ सर्वादयः शब्दाः प्रत्येकं सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । सर्वे । सर्वस्मै ।
सर्वेषाम् । खियाम्-सर्वस्यै । विश्वे । विश्वस्मै । उभशब्दस्य “सर्वनाम्नो भा” [१।४।३६] इत्येवमर्थः पाठः ।

१. जिडा-अ०, स० । २. स्त्रीपुंससम्ब-अ०, स० । ३. नपः ब० । ४.-या अभ्या-मु० ।
५.-दि स-मु० । ६.-मो भावत्ये-ब० । -म्नो भावत्ये-स० ।

उभयाभ्यां हेतुभ्याम् । उभयोर्हेतोर्यसति । द्विवचनटाप्परश्चायम् । उभौ पक्षौ । उभे कुले । उभे विद्ये । उभे । उभयस्मिन् । उभयेषाम् । जसि “प्रथमचरम्” [११।४१] आदिविकल्पात् पूर्वनिर्णयेनायमेव विधिः । उभये इति । डतरडतम इति ल्यौ । कतरस्मै । इतर अन्य अन्यतर । इतरस्मै । अन्यस्मिन् । अन्यतरस्मै । “ल इत्ययं शब्दोऽन्यवाची । त्वे । त्वेषाम् । नेम । नेमस्मिन् । जसि वक्ष्यमाणो विकल्पः । नेमे । नेमाः । सैमशब्दः सर्वशब्दस्यार्थः । समे । समस्मिन् । अन्यत्र यथासंख्यं समाः । समे देशे तिष्ठतीति भवति । सिमः । सिमस्मै । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्”^१ “अन्तरं बहिर्गोप-संख्यानयोः”^२ ल्यद् तद् यद् एतद् अदम् इदम् एक द्वि । अत्रविधिं प्रति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः । युष्मद् अस्मद् भवत् किम् । ल्यदादीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि । सर्वनामेत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् संशोपसर्जनानां न भवति । सर्वो नाम कश्चित्स्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमतिस्वस्तस्मै अतिसर्वाय । “पूर्वपदात् खावगः” [११।८७] इति शब्दं न भवति ।^३ सर्वनामप्रदेशाः “आभ्यात्सर्वनामनः” [११।३७] इत्येवमादयः ।

वा दिक्सत्वे ॥११।३६॥ दिगुपदिष्टे से बसंज्ञके सर्वादीनि वा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति । “न बे” [११।३७] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । दक्षिणपूर्वस्यै । दक्षिणपूर्वायै । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तरपूर्वायै । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालमिति विग्रह्य “दिशोऽन्तराले” [११।८८] इति बसः । “सर्वनामनो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” [वा०] इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोर्नाचः” [११।८८] इति प्रः । पुनश्चाप । प्रतिपदोक्तस्य दिक्स्य ग्रहणादिह नास्ति विकल्पः । दक्षिणैव पूर्वा अस्य मुग्धस्य दक्षिणपूर्वाय देहि । दक्षिणा च सा पूर्वा च सा अस्मिन्नपि विग्रहे परत्वात् “दिशोऽन्तराले” [११।८८] इतीयं प्राप्तिर्न राज्ञा दण्डवारितेति कर्तव्यमेवेदं सूत्रम् । दिग्ग्रहणं किम् ? “न बे” इति प्रतिषेधं वक्ष्यति तस्य प्रतिषेधस्यास्य च विकल्पस्य विषयज्ञापनार्थम् । सग्रहणं किम् ? साधिकारविहिते बसे विकल्पो यथा स्यादातिदेशिके मा भूत् । दक्षिणदक्षिणस्मै देहि । “आबाधे” [११।८८] इति द्विलम् । ववदतिदेशश्च “न बे” इत्यत्रापीदं सग्रहणमनुवर्तते तेनापि न प्रतिषेधः । बग्रहणं किम् ? दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । द्वन्द्वे विकल्पो मा भूत् । ननु प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणमत्रोक्तं ततो “द्वन्द्वे” [११।३६] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः । उत्तरार्थं^४ तद् बग्रहणम् ।

न बे ॥११।३७॥ बसे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । द्वयन्याय । त्रयन्याय । “सर्वनामसंख्ययोः” इति वक्तव्येन पूर्वनिपातः संख्याया एव । प्रियविश्वाय । प्रियोभयाय । इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकमत्र तदन्तविधिरस्तीति । तेन परमसर्वस्मै इत्यत्रापि सर्वनामसंज्ञा । ननु सर्वनामसंज्ञायामन्वर्थविज्ञानात्संशोपसर्जननिवृत्तिरुक्ता सर्वोपसर्जनश्च बस इति सर्वनामसंज्ञायाः प्राप्त्यभावात्सूत्रमिदमनर्थकम् । नानर्थकमेतत्, प्रयोजनसद्भावात् । त्वकं पिताऽस्य अहकं पिताऽस्य त्वकपितृकः । मत्कपितृकः । वसावयवस्य सर्वनामसंज्ञाविरहादगमा भूत् । कुत्साद्यर्थे के परतः “त्यद्योश्च” [११।१२७] इति लमादेशौ । स इत्येव । एकैकस्मिन् । “एको ववत्” [११।३७] इत्यातिदेशिके बसे प्रतिषेधो मा भूत् । बाऽधिकारे पुनर्बग्रहणं बसगर्भे द्वन्द्वेऽपि नित्यप्रतिषेधार्थम् । वक्षान्तरग्रहान्तरा इति ।

भासे ॥११।३८॥ भासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । मासपूर्वाय । संवत्सरपूर्वाय । मासेन पूर्वः । “पूर्वावत्सदृश” [११।३८] आदिसूत्रेण भासः । सः इति वर्तमाने पुनः सग्रहणं भासार्थं वाक्येऽपि तत्संज्ञाप्रतिषेधार्थम् । मासेन पूर्वाय । मुख्ये च “पूर्वावर” [११।३८] इत्यादि भासे यद् वाक्यं तत्र प्रतिषेधो न । “साधनं कृता बहुलम्” [११।२६] इति भासे । लयका कृतम् । मयका कृतम् । अन्यथा लत्केन कृतं मत्केन कृतमित्यनिष्टं स्यात् । लयका मयकेति पूर्वं लमादेशौ । ततः सुबन्तादक् । तथा ह्यग्नियधौ वक्ष्यति । मृदः सुपः इति च द्वयमपीहानुवर्तते । अभिधानतश्च व्यवस्था । तत्र मृदः प्राक् सुपोऽभवति । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः ।

१. एकशेषवादिनो हि “त्यदादीनामिधः सहोक्तौ यत्परं तच्छ्रव्यते” इति वचनेन परस्य पूर्वार्थ-वाचितामभ्युपगच्छन्ति । परं “त्यदादीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि” इत्येकशेषमकृतवैवायमाचार्य एकशेषप्रयोजनं निर्वाहयति । २. ‘सर्वनाम’ इत्यत्र इति शेषः । ३. सौत्रत्वात् इति शेषः । ४. ‘प्रदाय’ मु० । ५. “न बे” सूत्रार्थमित्यर्थः । ६. ‘एवं’ मु० ।

युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोरावकयोरिति । क्वचित् सुबन्तस्याक् । त्वयका । मयका । त्वयकि । मयकि ।

द्वन्द्वे ॥१११३९॥ द्वन्द्वे से सर्वादिनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । कतरकतमाय । कतरकतमात् । कतरकतमानाम् ।

वा जसि ॥१११४०॥ द्वन्द्वे से सर्वादयः सर्वनामसंज्ञा वा भवन्ति । कतरकतमे । कतरकतमाः । पूर्वेषां नित्यप्रतिषेधः प्राप्तः । जसीत्याधारनिर्देशाज्जसि कार्यं शीभावो विभाष्यते । अक् तु पूर्वैरौव प्रतिषिद्धः । यदि जसि परतस्तत्संज्ञा विकल्प्येत तदा संज्ञापक्षेऽगम्येत्, कतरकतमके इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कुत्साद्यर्थविवक्षायां तु के सति तद्व्यवधानान्न शीभावः । अतः कतरकतमका इति सिध्यति । न च केऽपि सति स्वार्थिकस्य प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणम् । अन्यथा सर्वादौ उतरउतमग्रहणमनर्थकं स्यात्, सर्वानाम् एव तयोर्विवधानात् ।

प्रथमचरमतयाल्पाधकतिपयनेमाः ॥१११४१॥ प्रथमादयः शब्दा जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । तय इति त्यग्रहणं तेन वचनात्संज्ञाविधावपि तदन्तविधिः । द्वाववयवावेष्टा-मिति द्वितये, द्वितयाः । “संख्याया अवयवे तयट्” [३।४।१६३] इति तयट् । एकदेशविकृतस्यानन्य-त्वाद्विकल्पः द्वये, द्वयाः । उभये । अयमुभयशब्दः सर्वादित्वाच्चित्यं सर्वनामसंज्ञा । अल्पे, अल्पाः । अर्थे, अर्धाः । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । नेमशब्दस्य प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विभाषा । अत्रापि जसः कार्यं प्रति विकल्पः । कुत्साद्यर्थे के कृते तेन व्यवधानात्पक्षेऽपि सर्वनामसंज्ञा न भवति । तेन प्रथमका इत्यादि सिद्धम् ।

पूर्वादयो नव ॥१११४२॥ पूर्वादयो नव सर्वादौ व्यवस्थिता जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । तथा हि—“पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्” “स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्” “अन्तरं बहिर्योगोप-संव्यानयोः” इति । पूर्वै, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अपरे, अपराः । अधरे, अधराः । व्यवस्थायामिति किम् ? दक्षिणा इमे गाथकाः । अपरा वादिनः । नात्र दिग्देशकाल-कृतोऽवधिनियमो व्यवस्था प्रतीयते; किं तर्हि ? प्रावीण्यमन्यार्थता च । असंज्ञायामिति किम् । उत्तरा कुरवः । व्यवस्थायामपीयं संज्ञा । तेषां स्वे शिष्याः स्वाः । यदा ज्ञातिधनयोः संज्ञारूपेण वर्तते स्वशब्दस्तदा नास्ति सर्व-नामसंज्ञा । उल्लुक्कानीव स्वा दहन्ति । विद्यमाना अपि स्वा न दीयन्ते । अन्तरे गृहाः । अन्तरा गृहाः । नगराह्वा इत्यर्थः ।

अपुरीति वक्तव्यम् [वा०] । अन्तरायाः पर आगताः । बाह्याया इत्यर्थः । अन्तरे शाटकाः । अन्तराः शाटकाः । उपसंव्यानमित्युत्तरीयवस्त्रस्य संज्ञा । बहिर्योगोपसंव्यानयोरिति किम् ? इमे ग्रामाणामन्तराः । अयमन-योः अन्तरे स्थितः । जसि कार्यं विभाष्यते; अक्नु भवत्येव प्रतिषेधाभावात् । पूर्वके, पूर्वकाः । इत्येवमादि ज यम् ।

डिङ्स्योरतः ॥१११४३॥ पूर्वादयो नव केति चानुवर्तते । अकारान्तानि नव पूर्वादीनि डिङ्स्योर्वा सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । परस्मिन्, परे । परस्मात्, परात् । इत्यादि योज्यम् । डिङ्स्याश्रयं कार्यं विभाष्यते; अक्नु भवत्येव । अत इति किम् ? पूर्वस्याम् । पूर्वस्याः ।

तीयस्य डिति ॥१११४४॥ तीयत्यान्तस्य डिति वा सर्वनामसंज्ञा भवति । द्वितीयस्मै, द्वितीयाय । तृतीयस्याः, तृतीयाया । इह मुखादागतः पार्श्वदागतः “मुखपार्श्वतसोरीयः” [३।२।११५ ग०] इतीयः । मुखतीयः । पार्श्वतीयः । पर्वते जातः पर्वतीय इति । अमीषां लान्छणिकत्वादग्रहणम् । डिति किम् ? द्वितीयायाम् । डिति कार्यं विकल्प्यते; अक्नु न भवत्येव । कुत्साद्यर्थे के कृते द्वितीयकाय ।

इग् यणो जिः ॥१११४५॥ इक् यो यणः स्थाने भूतो भावी वा स जिंसो भवति । इक् यणः स्थाने भावित्वेनासत्त्वात् कथं जिंस इति चेत् ; संज्ञिनो भावित्वात्संज्ञापि भाविनी । यथाऽस्य सज्ञस्य शाटकं वयेति भावी । यथा “षे व्यस्य पुत्रपत्योजिः” [४।३।१] “वसोजिः” [४।४।११८] इति । कारीषगन्धीपुत्रः ।

विदुषः पश्य । शास्त्रान्तरेण भूतो यणः स्थाने इक् स जितञ्जो यथा “जेः” [४।३।१६] इति परपूर्वत्वम्, जेरिति दीत्वम् । हूतः । गृहीतः । यदि यणः स्थाने इक् भाव्यमानो जितञ्ज इहापि स्यात्, अदुहितराम् । अन्त्यु-
भ्याम् । अन्त्युवा । दुह आत्मकर्मणि लङ् । “स्तोश्च जिश्च” [२।१।२६] इति जियकोः प्रतिषेधः । श्म्
तस्योप् । अत्र लस्य स्थाने इट् वकारस्य स्थाने उडूठो ? ततश्च “जः” [४।३।१६] इति परपूर्वत्वं “हलः”
[४।४।२] इति दीत्वं च प्रसज्येत । नायं दोषः, भाविन्या संज्ञया विधीयमानस्यैको जित्वात् । “कार्यकालं
संज्ञापरिभाषम्” इति । जिप्रदेशाह “चे व्यस्य पुत्रपत्न्यर्जः” [४।३।१] इत्येवमादयः ।

ता स्थाने ॥१।१।४६॥ येयमनुसूत्रमुच्चरिता ता सा स्थान एव ज्ञातव्या । बहवो हि तार्थाः । स्वस्वामि-
सम्बन्धसमीपसमूहविकारावयवस्थानादयः । तेषु प्रातेषु नियमः क्रियते-अन्यार्थसंप्रत्ययो मा भूदिति । नित्य-
शब्दार्थसम्बन्धविवक्षायां स्थानशब्दः प्रसङ्गवाची । प्रसङ्गश्च प्रातार्हत्वं स्वार्थप्रत्यार्थकावसरो वा । यथा गुरोः
स्थाने शिष्य उपचर्यते इति गुरोः प्रसङ्ग इति गम्यते । एवमस्तेः स्थाने प्रसङ्गे भूः । भविता । भवितुम् ।
भवितव्यम् । ब्रूजः प्रसङ्गे वचिर्भवति । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । अनित्यशब्दार्थसम्बन्धविवक्षायां मपकर्ष-
वाची स्थानशब्दः । यथा गोः स्थाने अश्वं बध्नाति । एवमस्तेः स्थानेऽपकर्षे भूर्भवति । अस्तेरन्तरमस्तेः
समीप इत्येवमादयो निर्वर्तिता भवन्ति । यत्र तानिर्देशे सम्बन्धविशेषो न निश्चातस्तत्रेयं परिभाषोपपत्तिश्चेत् । शास्त्र
इत्येवमादिषु तु शास्त्रो य उड् तस्यैवयवयोगो निश्चात इति नेयं व्याप्रियते ।

स्थानेऽन्तरतमः ॥१।१।४७॥ अन्तरः प्रत्यासन्नः । स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम एवादेशो
भवति । आन्तर्यं च शब्दस्य स्थानार्थगुणप्रमाणतः । स्थानतः—लोकाग्रम् । “स्वेऽङ्को दीः” [४।३।८८] इति
कण्ठ्य एवाकारो दीर्भवति । अर्थतः—वतण्डस्यापत्यं स्त्री “वतण्डात्” [३।१।६७] इति यञ् । तस्य “स्त्रिया-
सुप्” [३।१।६८] इत्युप् । वतण्डौ चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः । “पोटायुवतिस्तोक” [१।३।६०] आदि
सूत्रेण यसंज्ञः षसः, “स्त्र्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः प्रातो “जातिश्च” [४।३।१२३] इति
प्रतिषिद्धः । “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१२४] इति । अर्थतो वातण्ड्यशब्दो भवति । गुणतः—
पाकः । त्यागः । अल्पप्राणस्य घोषवतस्तादृश एव । प्रमाणतः—अमुष्मै । अमूभ्याम् । प्रस्य प्रः । दीसंज्ञकस्य
दीः । स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं यत्रानेकमान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानत एव भवतीति । चेत् । स्तोता ।
प्रमाणतोऽकारः प्रातः स्थानतोऽन्तरतमावेकारौकारौ च । तत्र पुनः स्थानग्रहणात्स्थानकृतमेवान्तर्यं बलीय
इत्येकारौकारौ भवतः । तमग्रहणं किम् ? वाग्वसति । हकारस्य पूर्वस्वत्वे सोष्मणस्तोष्मा द्वितीयः प्रातो नादवतो
नादवांस्तृतीयः । तमग्रहणाद्यः सोष्मा नादवांश्च स चतुर्थो भवति ।

रन्तोऽणुः ॥१।१।४८॥ उः स्थानेऽणुः प्रसज्यमान एव रन्तो भवति । लक्षणान्तरेण विधीयमान
एवाणु विधानबलेन तत्सहायकं प्रतिपद्यमानेन रन्तो भाव्यत इत्यर्थः । अकर्तरीति निर्देशात्सर्वाददेशो न
भवति । कर्ता । किरति । गिरति । द्वैमातुरः । भरतः । शातमातुरः । द्वयोर्मात्रोरपत्यं [शतमातुरपत्यम्]
‘तस्यापत्यम्’ [३।१।७७] इत्यणि परतो “मातुरुत्संख्याऽसम्भवाद्देः” [३।१।१०४] इत्युकारादेशः । उरिति
किम् ? गेयम् । पन्थाः । अणिति किम् ? मातापितरौ । सौधातकिः । आनङ्अक्रडौ संघातावेतौ । नाणौ ।
महर्षिरित्यत्र द्वयोः स्थाने एप् कथं रन्तः ? यो हि द्वयोस्तानिर्दिष्टयोः स्थाने भवति सोऽन्यतरेणापि व्यपदिश्यते ।
नरस्य पुत्रः । नार्याः पुत्रः । ऋकारलृकारयोः स्वसंज्ञोक्ता । तैन तक्त्कारः । कथं लन्तत्वम् ? रन्त इति लणो
लकाराकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम् । तेनादोषः ।

१. स्थाने इम्भूतो जि-मु० । २. प्रत्यायनावसरो वा अ०, स० । ३. उस्तस्य मु० । ४. “रन्तोऽणुः”
सूत्रारम्भसामर्थ्येनेत्यर्थः । ५. अनेनेति शेषः । ६. पत्यं शतमातृशामपत्यं तस्या, अ०, ब०, स० ।

अन्तेऽलः ॥१११४६॥ तानिर्दिष्टस्य य उच्यते विधिः सोऽन्ते वर्तमानस्यालः स्थाने भवति । “ता स्थाने” इति तास्थाने निर्वातस्थानेनान्ते उपसंहारः क्रियते । टिल्किन्मिस्तस्त्ववयवसम्बन्धतानिर्दिष्टस्य विधीय-
म्पना अन्तस्य न भवति । “इद् गोण्याः” [११११०] पञ्चगोणिः । दशगोणिः । अन्त्यस्येद् भवति । ननु
“पुंसीदोऽ” [११११६६] इति वर्तमाने “हलि खम्” [११११७१] इतीद्वूपस्य योऽन्त्यस्तस्य प्राप्नोति ।
“नानर्थकेऽन्तेऽलो विधिः” इति न भवति । “ता स्थाने” इत्यस्य योगस्य किं प्रयोजनम् ? यस्तानिर्दिष्टस्तस्य स्थाने
आदेशो यथा स्यादधिकस्य मा भूत् । “पादः पत्” [४४१११६] इति । द्विपदः पश्य । पादन्तस्य न भवति ।

ङित् ॥१११५०॥ ङितः सर्वेऽनेकालः । ङित्य आदेशोऽनेकाल् सोऽन्तेऽलः स्थाने भवति । वक्ष्यति
“युष्मदस्मदोऽकङ् खब्” [३२१२२१] यौष्माकीणः । आस्माकीनः । दकारस्याकङ् । अकारोच्चारणसामर्थ्या-
त्पररूपाभावः । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय” ङिदेवानेकालन्त्यस्य स्थाने । अतोऽन्यः सर्वस्य । “अरितबू-
जोर्भूवची” [१४१२४] इत्येवमादयः सर्वादेशाः ।

परस्यादेः ॥१११५१॥ परस्य कार्यं शिष्यमाणमादेरलः स्थाने वेदितव्यम् । क्व च परस्य कार्यम् ।
यत्र कानिदेशेन “ईक्षेत्त्यव्यवाये पूर्वपरयोः [१११६०] इति परस्य ताप्रकृत्यतिः । “ईदासः” [११११४२]
आसीनो भुङ्क्ते । द्रव्यगोरीदपः” [४३२०२] द्वीपः । अन्तरीपः । समीपः ।

शित्सर्वस्य ॥१११५२॥ शिदादेशः सर्वस्य स्थाने वेदितव्यः । “जशसोः शिः” [११११७] वनानि
तिष्ठन्ति । वनानि पश्य । इदमेव ज्ञापकमतुर्बन्धकृतमनेकालत्वं न भवतीति । तेन “दिव उत्” [४३१०८]
इत्येवमादिषु सर्वादेशो न भवति । स अल् णालिति प्रश्लेषनिर्देशाण्यलादयः सर्वादेशाः । “अष्टाभ्य औशू”
[११११८] इति “परस्यादेः” इतीमं बाधित्वा शित्वेन परत्वाद्वा सर्वादेशः ।

टिदादिः ॥१११५३॥ टिद्यः स तानिर्दिष्टस्यादिर्भवति । “बलाद्यगस्येद्” [१११८४] लविता ।
लवितुम् । लवितव्यम् । “ता स्थाने” इत्यस्यायमपवादः । “चरेष्टः” [२१२२१] इत्येवमादौ तानिर्देशाभावा-
त्तादौ विधिः । अथवा “मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्ते” इति “ता स्थाने” इत्यस्यैव बाधो
न तु त्यपरलस्य ।

किदन्तः ॥१११५४॥ किद्यः स तानिर्दिष्टस्यान्तो भवति । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । भियो
षिच् हेतुमयार्थः । “ईतः पुनित्यम्” [४३१४६] इति पुक् । “शेभोस्मेहेतुभये” [११२६४] इति वः ।
पूर्वोक्तपरिहाराद् “जालः कः” [२१२३] इत्येवमादिषु नातिप्रसङ्गः ।

परोऽचो मित् ॥१११५५॥ अन्त इति वर्तते । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः । मिद्यः स तानिर्दिष्ट-
स्यान्त्यादचः परो भवति । अन्तग्रहणानुवृत्तेर्हलन्तस्यापि भवति । अन्यथा अच इति विशेषणम्, तेन तदन्तविधिः
स्वयमेव लभ्येतैति वक्ष्यति । “इदिङ्गोर्नुम्” [५११३७] नन्दिता । नन्दितुम् । नन्दितव्यम् । व्यपदेशि-
वद्भावादान्त्रान्यत्वम् । “रुधितुदादिभ्यां शनश्चौ” [२११७३] रुणद्धि । भिनत्ति । “ता स्थाने” [११११६६]
“त्यः” [२११११] “परः” [२१११२] इत्यनयोरयमपवादः । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते” इत्यनित्या
परिभाषा “तृणह” [५१२६०] इति निर्देशात् ।

स्थानीवादेशोऽनत्वधौ ॥१११५६॥ स्थानं प्रसङ्गोऽस्यास्तीति स्थानीव भवत्यादेशः । स्थान्या-
श्रयेषु कार्येष्वनलाश्रयेषु स्थान्यादेशयोर्नालात् स्थानिकार्यमादेशो न प्राप्नोतीत्यतिदिश्यते । धुराकृतद्वत् सुम्भिङ्-
पदगादेशाः प्रायः प्रयोजयन्ति । घोरदेशो धुरिव भवति । अस्तेर्भूभावे धोर्विहितास्तव्यादयः सिद्धाः । भवितव्यम् ।
भवित । गोरदेशो गुरिव भवति । त्रयाणाम् । “गोः” [४४११] “नामि” [४४१३] इति दीर्घं सिद्धम् ।
कृदादेशः कृदिव । प्रकृत्य । प्रहृत्य । प्यादेशो कृते पिति तुक्सिद्धः । हृदादेशो हृदिव । अचैर्दीर्घ्यति आक्षिपः ।

१. नानुबन्धेति परिभाषा एतत्सामर्थ्यान्निष्पन्ना । २. “वाघा” अ०, ब०, स० । ३. तानिर्देशा-
भावादित्यर्थः ।

शालाकिकः “प्राग्याट्ठण्” [३।३।१२६] इकादेशो कृते “कृद्धृत्साः” [१।१।६] इति मृत्संज्ञा सिद्धा । सुवदेशः सुविष । वृत्ताय । ङेर्यादेशोऽपि “सुपि” [१।२।१६७] इति दीर्घं सिद्धम् । मिडादेशो मिड्वि । बभूवतुः । बभूवुः । अतुस्युसि च कृते “सुम्मिडन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति पदसंज्ञायां पदस्येति रिङ्गं सिद्धम् । पदादेशः पदमिव भवति । ग्रामो वः स्वम् । ग्रामो नः स्वम् । वनसोः कृतयोः पदस्येति रिङ्गं सिद्धम् । गादेशो ग इव । अचिनुतम् । डिवादेप्रतिषेधः । इवेति किम् ? स्थानी आदेशस्य संज्ञेति मा विज्ञायि । अत्र को दोषः ? “आङो यमहनः” [१।२।२३] इति वधेरेव दर्विधिः स्यादन्तेस्त्वाश्रयस्य न स्यात् । इवग्रहणादुभयत्र भवति । आहत । आवधिष्ट । आदेशग्रहणं किम् ? विकारमात्रेऽपि यथा स्यात् । पचतु । पचन्तु । मिडन्तं पदं सिद्धम् । अनल्विधाविति किम् ? द्यौः । पन्थाः । स्यः । द्युपथित्यदादेशा न स्थानिवद् भवन्ति । स्थानिवद्भावे “हृत्स्वपः” [४।३।१६] इति सोः खं प्रसज्येत । अलः परो विधिरयं प्राप्तः । क इष्ट इत्यत्रेकारस्य स्थानिवद्भावे ह्रिश्च रेखं प्रसज्येत । अलि विधिरयम् । प्रदीव्येति क्लात्यस्य स्थानिवद्भावे “क्लाद्यगस्येट्” [१।१।८४] प्रसज्येत । अलः स्थाने विधिरयम् । अलाश्रयो विधिः अल्विधिः । शाक-पार्थिवादिवन्मयूरव्यंसकादिः वासः ।

परेऽचः पूर्वविधौ ॥१।१।१७॥ आदेशः स्थानीवेति वर्तते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ कर्तव्ये स्थानीव भवति । पटुमाचष्टे पटयति । णिनिमित्तस्य स्थानिवद्भावात् “उङोऽतः” [१।२।४] इत्येन् भवति । अवधीत् । अगनिमित्तस्यातः स्वस्य स्थानिवद्भावात् “अतोऽनादेर्धेः” [१।१।८३] इति हलन्त-लक्षण ऐविकल्पो न भवति । पूर्वेण “अनल्विधौ” [१।१।१६] इति प्रतिषेध उक्तेऽल्विव्यर्थमिदम् । परे इति किम् ? वैर्याग्रपद्यः । पादस्य खमजादेशः परनिमित्तो न भवतीति पद्भावे स्थानीव न भवति । युवतिर्जायाऽ-स्य युवजानिः । जायाया निङ् न परनिमित्तक इति “वलि व्योः खम्” [४।३।१५] न प्रतिबन्नाति । अच इति किम् ? प्रगत्य । प्ये परतो ङस्य खं परनिमित्तं प्रत्य तुकि कर्तव्ये स्थानीव न भवति । पूर्वविधाविति किम् ? नैधेयः । निधेरपत्यं “द्वयचः” [३।१।११०] “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति ढणि परविधौ कर्तव्ये आत्वस्य न स्थानिवद्भावः । अन्यथा व्यचो ढण् न स्यात् । हे गौः । परविधौ सुखे कर्तव्ये ऐपो न स्थानिव-द्भावः । अचोऽनादिष्ठात् पूर्वविधौ स्थानिवद्भावः । इह मा भूत् । अचीकरत् । अजीहरत् । अत्र हि “शौ कच्युङः” [१।२।११३] इति प्रादेशो कृते द्विवे च प्रादेशस्य स्थानिवद्भावात् “शौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।११०] इति सन्वद्भावो न प्राप्नोति । आदिष्ठादेशोऽचः पूर्व इति स्थानिवद्भावाद्भवति । वाय्वोरध्व-र्योरित्यत्र यखविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “वलि व्योः खम्” [४।३।१५] इति यखं प्राप्नोति । कर्तव्योऽत्र यत्नः ।

न पदान्तद्वित्ववरेयखस्वानुस्वारदीचर्विधौ ॥१।१।१८॥ पदान्तादिविधिष्वजादेशः स्थानीव न भवति । पूर्वेण प्राप्तस्य स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधोऽयम् । पदान्तविधौ—कौ स्तः । कानि सन्ति । अतः खं किङ्निमित्तमावादेशो यणादेशो च कर्तव्ये स्थानीव न भवति । अथ नात्र नियमः पूर्वविधेः । स्तः कौ, सन्ति कानि इत्यपि प्रयोगात् । आदिष्ठाच्चः पूर्वमौकारादि । इदं तर्ह्युदाहरणम्—अभिषन्ति । निषन्ति । द्वित्व-विधौ—दध्यत्र । मध्वत्र । यणादेशस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “अनचि” [१।१।१२७] इति धकारस्य दीर्घं सिद्धम् । “असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे” इति स्फान्तस्य खं न भवति । वरविधौ—यायावरः । यातैर्यङन्तात् “यो यङः” [२।२।१५५] इति वरे कृतेऽतः स्वस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् खे च कृते अका-रस्य स्थानिवद्भावात् “इटि चाल्खम्” [४।४।६३] इत्यात्वं न भवति । ईविधौ—आमलकम् । पञ्चदन्तिः ।

१. पदत्वात् “ससजुषो रिः” इति रिङ्गं सिद्धमित्यर्थः । २. व्याघ्रस्येव पदावस्येति वसे “खम्पा-दस्याहस्यादेः” इत्यतः खे ततोऽपत्यार्थे “गार्ग्यैर्यङ्” इति यजि “पादः पत्” इति पदादेशे ऐचि रैयान्नपद्य इति । ३. “दीर्घं यलोपे च लोपाजादेश एव न स्थानिवत्” इत्येवरूपो यत्नः ।

आमलक्या अवयवः फलं “नित्यं दुशरादेः” [३।३।१०६] इति मयट् । तस्य “उष्फले” [३।३।१२१] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप् परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “यस्य ङ-यां च” [४।४।१३६] इत्यखं न भवति । पञ्चभिर्दान्नीभिः क्रीतः “रादुबखौ” [३।४।२६] इति ठश्च उपि स्त्रीत्यस्योप् । तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादिकारस्य खं न भवति । यत्नविधौ—कण्डूतिः । कण्डूयतेः “क्तिचक्षौ खौ” [२।३।१५०] इति क्तिचि कृतेऽतः खस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यत्नं भवति । उवादेशं प्रति स्थानिवद्भावः स्यादिति चेद् भवतु । च्छ्वोः शूड् भविष्यति । ततः स्वेऽको दीत्वम् । योऽनादिष्टात्पूर्वं इति न्यायात्पुनरुवादेशो न भवति । स्वविधौ—शिष्टिः । पिष्टिः । रनस खस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादत्रानुस्वारस्य परस्वत्वं भवति । अनादिष्टादचः पूर्वस्थानी नकारस्तस्यैवायं विधिः । अनुस्वारविधौ—शिषन्ति । पिषन्ति । “नश्चापदान्तस्य ऋलि” [५।४।८] इत्यनुस्वारे कर्तव्ये नकारः “रनसः खम्” [४।४।१०१] इत्यादिष्टादचः पूर्व इत्यखं न स्थानिवद्भवति । दीविधौ—प्रतिदीनः । प्रतिदीना । अनः खस्य परनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् “हल्यभकुर्” [५।३।८६] इत्यनुवृत्तौ “उङि” [५।३।८७] इति दीत्वं सिद्धम् । वकारो हल्परोऽस्मादेव वचनात् । चर्विधौ—जहत्तुः । जहत्तुः । “गमहनजनखनवसोऽनङि ङिङिति” [४।४।६३] इत्युङः खं वकारस्य चले कर्तव्ये स्थानीव न भवति । गिर्योरिति प्रकृतिपूर्वत्वेनान्तरङ्गे दीत्वे कर्तव्ये यणादेशोऽसिद्धः ।

द्वित्वेऽचि ॥१।१।५६॥ नपदान्तद्वित्वेयतो द्वित्वग्रहणमनुवर्तते । तत्कार्यविशेषणम् । द्वित्वनिमित्तेऽच्यजादेशो द्वित्वे कर्तव्ये स्थानीव भवति । रूपातिदेशोऽयम् । आहुङ्शिखान्तःस्थाय्याद्यादेशाः प्रयोजनम् । आत्वम्—पपुतुः । पपुः । “इटि चात्वम्” [४।४।६३] इत्यात्वस्य स्थानिवद्भावादकाचो लिटि द्वित्वं सिद्धम् । उङः खम्—जमतुः । जम्तुः । “गमहनजनखनवसोऽनङि” [४।४।६३] इत्युङः खस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं भवति । णिखम्—आटिद्यत् । लुङि कचि णिखे च कृते णिखस्य स्थानिवद्भावादचं इति द्वितीय-स्यैकाचो द्वित्वं भवति । अन्तःस्थादेशः—चक्रतुः । चक्रुः । यणादेशस्य स्थानिवद्भावादकाचो द्वित्वं भवति । अयाद्यादेशाः—अहं निनय निनाय । अहं लुलव लुलाव । अयाद्यादेशानां स्थानिवद्भावादस्य णालि नेनै, लोलौ इति द्वित्वं भवति । द्वित्वनिमित्त इति किम् ? दुद्यूषति । ऊठि यणादेशो धोर्न तूट् द्वित्वनिमित्तमिति स्थानिवद्भावो न भवति । अचीति किम् ? जेघ्रीयते । देघ्रीयते । यङि द्वित्वनिमित्ते ब्राध्मोरीकारादेशः स्थानीव न भवति । द्वित्वे कर्तव्य इति किम् ? जग्ले । मम्ले । धोराकारस्यावस्थानं न भवति ।

ईक्येत्यव्यवाये पूर्वपरयोः ॥१।१।६०॥ ईविति यत्र निर्दिश्यते तत्र पूर्वस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति । केति यत्र निर्दिश्यते तत्र परस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति । ताप्रकृतिर्भवतीत्यर्थः । इतिकरणोऽर्थ-निर्देशार्थः । ईक्येति इमे संज्ञे द्वयोर्विभक्तयोः प्रत्यायिके प्रसिद्धे । ताभ्यामितिशब्दः परः प्रयुज्यमानो विभक्ति-प्रतिपाद्यो योऽर्थस्तं प्रत्याययति । ईवर्थो यत्र निर्दिश्यते, कार्यो यत्र निर्दिश्यत इत्यर्थः । ईवर्थनिर्देशः “अचीको यण्” [४।३।६५] दध्युदकम् । मध्वियत् । अव्यवाय इति किम् ? धर्मविद्वत् । कार्यनिर्देशः—अत्यात् । ददति । दधति । अव्यवाय इति किम् ? त्विकीर्षन्ति । शपा व्यवायाज्जेरदादेशो न भवति ।

नाशः खम् ॥१।१।६१॥ नाशोऽनुपलब्धिपरभावोऽप्रयोग इत्यनर्थान्तरम् । एतैः शब्दैः प्रतिपाद्यमानस्यार्थस्य खमित्येषा संज्ञा भवति । इतिकरणोऽनुवर्तते । तेन नाशार्थस्य संज्ञेयं लभ्यते । स्थानिग्रहणं चानुवर्तते । प्रसङ्गांश्च स्थानी । तेन प्रसङ्गस्य नाशः खसंज्ञो भवति । भाविनो नाशस्य संज्ञित्वं संज्ञापि भाविनीति नेतेरतश्रयदोषः । वक्ष्यति “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] दातेरः । काणेराः “क्षुद्राभ्यो वा” [३।१।१२०] इति द्रृण् । “इटि चात्वम्” [४।४।६३] यिखम् । जहात् । खप्रदेशाः “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इत्येवमादयः ।

१. खमित्यखं न अ०, स० । २. प्रतिदीन्वा अ०, स० । ३. प्रतिदीन्वे अ०, स० । ४. प्रकृतेः “गिरि” इत्यस्य पूर्वभागस्य “गिर्” इत्यस्यापेक्षत्वेनेत्यर्थः । ५. -वादेकाचो द्वि-प० । ६. आयाद्यादे-स० ।

उबुजुस् ॥११।६२॥ तस्यैव नाशस्य उप् उच् उस् इत्येताः संज्ञा भवन्ति । संज्ञासंकरप्रसङ्ग इति चेत् उप् उच् उस् संज्ञाभिर्भावितस्य नाशस्य एताः पृथक् संज्ञास्तेनादोषः । “नोमता गोः” [१।१।६४] इति प्रतिषेधो ज्ञापकः खसंज्ञायां अत्र समावेशो भवति । ततः पञ्च सतेति त्याश्रयं पदत्वं सिद्धम् । “क्सस्याचि खम्” [५।२।६६] इति वर्तमाने “वोब् दुहदिह” [५।२।७०] आदिसूत्र उब्वचनं ज्ञापकमुबुजुसः सर्वस्म स्थाने भवन्ति नान्तस्य । एता अपि भाविन्यः संज्ञाः । उदाहरणम्—पञ्चशकुलम् । पञ्चभिः शकुलीभिः क्रीतम् । “शकुलखौ” [३।१२६] इत्याहोस्य ठण् उप् । ततो “हृदुयुप्” [१।१।६] इति स्त्रीस्योप् । जुहोति । विभेति । “उज् जुहोत्यादिभ्यः” [१।४।१४५] इति शप् उच् । तत उचि द्वित्वम् । पञ्चालानां निवासो जनपद इत्यागतस्याणः “जनपदे उस्” [३।२।६१] इत्युस् । ततो “युक्तवदुसि लिङ्गसंख्ये” [१।१।६८] इति लिङ्गसंख्यातिदेशः । उबुजुम्प्रदेशाः “हृदुयुप्” [१।१।६] इत्येवमादयः ।

त्यखे त्याश्रयम् ॥११।६३॥ त्यस्य खे कृतेऽपि त्याश्रयं कार्यं भवति । सुम्भिङ् क्पिप्पङ् सिखानि प्रायः प्रयोजयन्ति । सुपः खम्—धर्मवित् । सोः खेऽपि पदसंज्ञा भवति । मिडः खम्—अधोक् । “हल्डयापः” [४।३।५६] इति तिपः खेऽपि पदसंज्ञायामेवत्वमध्वजखचर्लानि भवन्ति । क्पिपः खम्—अग्निचित् । क्पिपो नाशोऽपि तुक् । यडः खम्—पापचीति । यडो नाशोऽपि द्वित्वादिकार्यं भवति । णिखम्—कार्यते । हार्यते । गोरभावेणैवभवति । प्रथमं त्यग्रहणं किम् ? आघ्नीत । आङ् पूर्वाद्धन्तेर्विध्यादिलिङ् । “आङो यमहनः” [१।२।२३] इति दः । “लिङोऽनन्त्यसखम्” [२।१।१३८] इति सीयुडेकदेशस्य सकारस्य खेऽपि त्याश्रयं कार्यं भल्लि किङिति डस्य खं न भवति । द्वितीयं त्यग्रहणं किम् ? वर्षाश्रयं मा भूत् । गवे हितम् गोहितम् । त्यखे सत्यपि अचीति वर्षाश्रया अवादायो न भवन्ति ।

नोमता गोः ॥११।६४॥ उमता वचनेन नाशिते त्ये यो गुस्तस्य त्याश्रयं न भवति । मृष्टः । जुहुवः । शवाश्रयावैषेयो न भवतः । गर्गा इति बहुत्वविपक्षायाम् यजिञोरपि कृते तदाश्रय आदेशेन भवति । गोरिति किम् ? पापक्ति । जरीग्रहीति । द्वित्वं जिश्च भवतः । नोमतेति योगविभागः । तेन गोरन्त्यत्रापि क्वचित् त्याश्रयं न भवति । परमवाचः । परमवाचा । अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वात्कुत्वं प्राप्तं नोमतेति प्रतिषिध्यते ।

अन्त्याद्यचष्टिः ॥११।६५॥ अच इति जातिनिर्देशः । निर्धारणे च ता । समानजातीयस्यैव लोके निर्धारणं प्रसिद्धमिति द्वितीयमज्ग्रहणं लभ्यते । अचां योऽन्त्योऽच् तदादि शब्दरूपं टिसंज्ञं भवति । धर्मविदत्र इच्छुब्दः । ज्ञानमुदत्र उच्छुब्दः । आताम्, आथामित्यत्र उच्छुब्दः । पचेते । पचेथे “टिदुदरे” [२।४।६५] इति टेरत्वम् । अहं पचे इति व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । टिप्रदेशाः “टिदुदरे” [२।४।६५] इत्येवमादयः ।

उपान्त्यालुङ् ॥११।६६॥ अलामन्त्यस्य समीपोऽल् उड्संज्ञो भवति । अन्त्यग्रहणादलां समुदायो लभ्यते । अत्समुदायापेक्षया ह्यन्त्योऽल् भवति न केवलः । पच् इत्यकारः । भिद् इतीकारः । पाचकः । भेदकः । उपान्त्य इति किम् ? व्यवहितस्यान्त्यस्य च मा भूत् । अलिति किम् ? समुदायस्य मा भूत् । उड्प्रदेशाः “उडोऽतः” [५।२।४] “युडः” [५।२।८३] इत्येवमादयः ।

येनालि विधिस्तदन्ताद्योः ॥११।६७॥ येन शब्देन यो विधिर्विधीयते स तदन्तस्य भवति । अलि यो विधिः स तदादौ भवति । “योऽचोऽगसुयुवः” [२।१।८४] इत्यचो यविधिर्विधीयत इत्यजन्ताद्भवति । जेयम् । जेयम् । केवलाद्व्यपदेशिवद्भावेन । एयम् । अध्येयम् । “जातः कः” [२।२।३] इत्याकारान्तात्कः । गोदः । कम्बलदः । “स-त्य-विधौ न तदन्तविधिः” [वा०] । सविधौ—कथं परमश्रित इति ईप्सो न भवति । त्यविधौ—सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः । “नडादेः फण्” [३।१।८८] इति फण् न भवति । “उगित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] भवती । अतिभवती । दाक्षिः । नैतद्भक्तव्यम् ।

सुपा श्रितादयो विशेष्यन्ते न तु श्रितादिभिः किञ्चिद्विशेषणेन च तदन्तविधिः । मृदा नडादयो विशेष्यन्ते न नडादिभिमृदः । उगिता च वणौ न मृद् विशेष्यते । अलीति वर्णनिर्देशः । अलि यो विधिः स तदादौ भवति । “अनुधुभुवां श्वोरचीयुवौ” [४।४।७२] चित्तिथुः । चित्तिथुः । व्यपदेशिवद्भावेन केवलेऽपि तदादित्सम् । चित्तिथे १ वेनेति करणे भा । विधिशब्दः कर्मसाधनः ।

अदवाद्यैबुः ॥ १।१।६८ ॥ अद्विति जातिनिर्देशो निर्धारणे चेत् । अन्तु आदिभूतोऽच् ऐप् यस्य समुदायस्य स दुसंज्ञो भवति । ऐतिकायनस्य शिष्य ऐतिकायनीयः “दोरङ्गः” [३।२।१०] इति छः । आम्बष्ठस्यापत्यमाम्बष्ठ्यः “द्वित्कुसनाद्यजादकोशलाञ्ज्यः” [३।१।१५३] इति ज्यः । द्व्यणा अस्मिन्देशे सन्ति “बुङ्छणकठेल” [३।२।६०] आदिसूत्रे अरीहणादिवाद् बुञ् । द्रौघणके जातो द्रौघणकीयः “दोः कखोङ्” [३।२।११७] इति छः । अद्विति किम् ? हलामविवक्षार्थम् । औपगवीयः । कापटवीयः । जात्यपेक्षया बहुत्वं किम् ? द्वयच एकाचश्च दुसंज्ञा यथा स्यात् । मालामयम् । वाङ्मयम् । आदिरिति किम् ? समासन्नयने जातः सामासन्नयनः । छः प्रसज्येत । ऐविति किम् ? दत्तस्यायं दात्तः । दुपदेशाः “दोरङ्गः” [३।२।१०] इत्येवमादयः ।

त्यदादि ॥ १।१।६९ ॥ त्यदादीनि शब्दरूपाणि दुसंज्ञानि भवन्ति । अदवादिरिति नेहाभिसंबध्यते । यद्यभिसंबध्यते तदोपसर्जनत्वे सत्यपि वचनात्तदादेरेव दुसंज्ञा स्यान्न केवलानामिति । त्यदीयः । तदीयः । तवापत्यं लादायनिः । मादायनिः । “वा वृद्धाद् दोः” [३।१।१४४] इति फिञ् । त्यदादिः सर्वादेरन्तर्गण आ परिसमाप्तेः ।

एङ् प्राग्देशे ॥ १।१।७० ॥ अदवादेरिति वर्तते । एङ् यस्याचामादिस्तद् दुसंज्ञं भवति प्राचो देशाऽभिधाने । एणीपचने जात एणीपचनीयः । एवं गोनर्दीयः । भोजकटीयः । एङिति किम् ? आहिच्छत्रः । कान्यकुब्जः । प्राग्ग्रहणं किम् ? देवदत्तो नाम वाहीकेषु ग्रामस्तत्र भवो दैवदत्तः । देश इति किम् ? गोमती नाम नदी तस्यां भवो गौमतः । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इति यदा दुसंज्ञा नास्ति तदेदमुक्तम् । “भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम्” [१।४।८३] इति ज्ञापकान् नदी देशग्रहणेन न गृह्यते । शरावती नाम नदी तस्याः पूर्वो देशः प्राग्देशः । उत्तरस्तदीचां देशः ।

वा नाम्नः ॥ १।१।७१ ॥ पुरुषैर्व्यवहाराय सङ्केतितः शब्दः संज्ञा नाम । नामधेयस्य वा दुसंज्ञा भवति । पद्मनन्दीयम् । पाद्मनन्दिनम् । देवदत्तीयम् । दैवदत्तम् । नाम्न इति किम् ? दैवदत्त इति यः क्रियानिमित्तको देवदत्तशब्दस्तस्य काश्यादिषु पाठाङ्कठजावेव भवतः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः । संज्ञेयम् । तस्य शिष्या घृतरौढीयाः । एवमोदनपाणीयाः । वृद्धाम्भीयाः । वृद्धकाश्यपीयाः । नित्यं दुसंज्ञा । “जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव” [वा०] जैह्वाकाताः । हारितकाताः ।

अणुदित् स्वस्यात्मनाऽभाव्योऽतपरः ॥ १।१।७२ ॥ अण् उदिच्च गृह्यमाणः स्वस्य ग्राहको भवति आत्मना सह भाव्यमानं तपरं च वर्जयित्वा । इदमण्ग्रहणं परेण शाकारेण । “अतः फादेरेप्” [१।२।१२२] इति तपरनिर्देशाज्जायते । “यस्य ड्यां च” [४।४।१३६] दाक्षिः । चौलिः । दैत्यः । कौमारः । “अस्य श्वौ” [१।२।१४१] शुक्लीभवति । मालीभवति । उदित्—“स्तोः श्रु ना श्रुः” [४।४।११६] “श्रु ना श्रुः” [४।४।१२०] । अभाव्य इति किम् ? भाव्यन्ते उत्पाद्यन्ते त्यादेशादित्किन्मितस्ते स्वस्य ग्राहका न भवन्ति । “अस्त्यात्” [२।३।८४] “त्यदादेरः” [१।१।१६१] दित्-लविता । कित्-बभूव । मित् । “सुजिह्वोरम्” [४।३।११] । अतपर इति किम् ? भिषोऽत ऐस्” [१।१।८] । वृद्धैः । खट्वाभिरित्यत्र न भवति । तकार इद्यस्य सोऽयं तिदिति सिद्धे परग्रहणमुभयार्थम् । तः परोऽस्मात्तपरस्तादपि परस्त-

१. इतिकस्यापत्यं पुमान् ऐतिकायनः । नडादेः फणिति फण् । ३. अशनादेरित्यर्थः । ४. वृद्धान्तीयाः

परः। इदमेव ज्ञापकं सविधौ केति योगविभागेऽस्ति । “आदैगैप्” । [१।१।१५] “अदेडेप्” [१।१।१६] तपरत्वादैजेडादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । “अभाव्योऽतपरः” इति पृथग्भाव-
त्रशुचाराणं किम् ? कचिद्भाव्योऽपि स्वं गृह्णातीति ज्ञापनार्थम् । अमूभ्याम् । संज्ञासूत्रमिदं न परिभाष्य ।
सा हि नियमार्था भवति । न चारुणदितां स्वस्यास्वस्य च ग्रहणं प्राप्तं येन स्वत्यैवेति नियमः स्यात् । *

अन्त्येनेतादिः ॥१।१।७३॥ अन्त्येनेतसंज्ञकेन गृह्यमाण आदिस्तन्मव्यपतितानां ग्राहको भवत्यात्मना
सह । आद्यन्तौ सम्बन्धिशब्दौ । अतः सामर्थ्यादाद्यन्तव्यतिरेकेण तन्मव्यपाति वस्तु प्रत्येकं संश्लेषेनाक्षितम् ।
अ इ उ इत्येतेषां प्रत्येकमणिति संज्ञा । एवमक् अच् अट् इत्येवमादयः । अन्त्येनेति किम् ? सुदित्यत्र
आदिना टा इत्येतस्य टकारेण ग्रहणं मा भूत् । अन्त्येनेतीदमेव ज्ञापकं सहार्थं गम्यमानेऽपि भा भवति ।

असंख्यं भिः ॥१।१।७४॥ संख्या एकत्वादिका सा यस्य न विद्यते तदसंख्यं भिसंज्ञं भवति । एकत्वा-
दिनिबन्धना विभक्त्युत्पत्तिरसंख्यादप्राप्ता “सुपो केः” [१।४।१५०] इति वचनाद्भवति । के पुनरसंख्याः ? स्वर ।
अन्तर । प्रातर । सनुतर । पुनर् । सायम् । नक्तम् । अस्तम् । वस्तोः । दिवा । दोषा । ह्यः । श्वः । कम् । शम् ।
योर्मयः (?) च^१ । न । अमनस् । विहायसा । रोदसी । ओम् । भूः । भुवः । स्वस्ति । समया । निकषा । अन्तरा ।
बहिस् । साम्प्रतम् । अद्वा । सत्यम् । इद्वा । मुधा । मृषा । वृथा । मिथ्या । मिथो । मिथु । मिथुनम् । मिथस् ।
अनिशम् । मुहुः । अमीक्ष्णम् । मङ्क्षु । भटिति । उच्चैस् । अवश्यम् । सामि । साचि । विष्वक् । अन्वक् ।
आनुषक् । साजक् । द्राक् । प्राक् । ऋधक् । पृथक् । धिक् । हिक् । ज्योक् । मनाक् । शनैः । ईषत् । जोषम् ।
तृष्णीम् । कामम् । निकामम् । प्रकामम् । आरात् । अरम् । वरम् । परम् । चिरम् । तिरः । नमः । स्वयम् ।
भूयः । प्रायः । प्रवाहुक्म् । आर्यहलम् । कुः । अलम् । बलवत् । अतीव । सुष्ठु । दुष्ठु । ऋते ।
सपदि । साक्षात् । सनात् । सना । आशु । सहसा । युगपत् । उपांशु । पुरा । पुरतः । पुरस्तात् । पुरः ।
इत्येवंप्रकाराः, निःसंज्ञकाश्च सर्वे “च, वा, इ, अह” एवम्प्रभृतयो हृतश्च तसादयस्तत इत्यादयश्च्यर्थः, कुतः
सुमामृतमादयः कस्याप्यदेशश्चेति । हसश्चेति केचित्पठन्ति, तत्तु चिन्त्यम् । उपाग्निकमित्यकोऽसम्भवात् । उपकुम्भ-
म्भन्यम् इति सुमो दर्शनात् । उपकुम्भीकृत्येति ईत्वंविधानाच्च । सामान्यविषया भिसंज्ञा । विशेषविषया निःसंज्ञा ।
असंख्यग्रहणं किम् ? यत्रासंख्यत्वं प्रतीयते तत्र भिसंज्ञा । उच्चैः । परमोच्चैः । अस्ति । स्वस्ति । उपसर्जने मा भूत् ।
अत्युच्चैः । अच्युच्चैसौ । अत्युच्चैसः । अत्यस्तिः । भिप्रदेशाः “सुपो केः” [१।४।१५०] इत्येवमादयः ।

गाङ्गादेरञ्जिण्डित् ॥१।१।७५॥ गाङ्गित्येतस्मात् कुटादिभ्यश्च धुभ्यः परेऽञ्जितस्याङितो भवन्ति ।
विनापि वतमतिदेशो गम्यते । गाङ्गिति व्याख्यानादिङादेशो गृह्यते । कुटादिस्तुदादेरन्तर्गणो यावत् वृत्शब्द इति ।
गाङ्—अध्यगीष्ट । अध्यगीषाताम् । अध्यगीषत । लुङ्लृङोर्वेति इङो गाङादेशः । “सुमा” [४।४।६५]
आदिसूत्रेणैवम् । कुटादि—कुटिता । कुटितुम् । कुटितव्यम् । पुटिता । पुटितुम् । पुटितव्यम् । व्यचेरनसि
कुटादित्वम्—विचिता । विचितुम् । विचितव्यम् । अनसीति किम् ? उद्वयचाः । “अस् सर्वधुभ्यः” इत्यस् ।
अञ्जिदिति किम् ? उल्कोट्यति । उल्कोटो वर्तते । ङितीव छिद्रत् । ईवन्ताद्वदर्थो गम्यते । तैन उच्चुकुटिधिति
इत्यत्र “ङनुदात्तो दोः” [१।२।६] इति दो न भवति ।

इङ्विजः ॥१।१।७६॥ अन्त्येनेतादिरित्यत्र आदिरिति वर्तते । विजेष्वेत्तर इडादिर्यो ङिद्भवति ।
उद्विजिवा । उद्विजितुम् । उद्विजितव्यम् । इङिति किम् ? उद्वेजनम् । उद्वेजनीयम् । विज इति किम् ?
लविता ।

१. “किं” सु० । २. “च नाम्नो” इति अ०, ब०, स०, पुस्तकेषु, तत्र “च” “न” “आम्” “नो”
इति पदच्छेदो युक्तः । ३. “बहिर” अ०, ब०, स० । ४. “भाजक्” इति अ० । “ताजक्” इति स० ।
“साजक्” इति ब० मुद्रितयोः । परमयं शब्दभेदोऽन्वेष्यमाणोऽन्यव्याकरणकोशेषु च नोपलब्धः ।
५. अदर्शनादिति युक्तम् । ६. “ङिद्वद्भ—अ०, ब०, स० ।

वोर्णोः ॥११।७७॥ ऊर्णोतेः पर इडादित्यो^१ वा ङिङ्भवति । प्रोर्णुं विता । प्रोर्णविता । अप्राप्ते^२ विकल्पोऽयम् । दंसंज्ञके तु लङ् इति परत्वानित्यो विधिः । प्रोर्णुं वि । अङ्गिणदित्येव । जिवदिटि-प्रोर्णाविष्यते । इडादिरित्येव । प्रोर्णवनम् । प्रोर्णवनीयम् ।

गोऽपित् ॥ ११।७८ ॥ अपिद् गसंज्ञको ङिङ्भवति । कुरुतः । कुर्वन्ति । चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । ग इति किम् ? कर्ता । मार्ष्टा । अपिदिति किम् ? करोति । मार्ष्टि । अपिदिति प्रसज्यप्रतिषेधः । यद्येवं तु दानि लिखानीत्यत्र पिदपितोरेकादेशः ^३पिङ्गवतीति “**इयुङ्**” [११।८३] एवप्रसज्यते । नायं दोषः । लोडादेशस्य पित्वं न चाटः । अथवायं पर्युदासः । इह तर्हि च्यवन्ते प्लवन्त इति परापेक्षापिदपितोरेकादेशस्य पितोऽन्यत्वमस्तीत्येवप्रतिषेधः प्रसज्यते । नैष दोषः—“**वाखाद् गावं बलीयः**” इति, प्रागेवैकादेशादेप् ।

लिङ्स्फात्कित् ॥ ११।७९ ॥ अपिदित्येव । अस्फान्तात्परोऽपिलिट् किङ्भवति । विभिदतुः । विभिदुः । ममृजतुः । ममृजुः । लिङिति किम् ? यथा । अस्फादिति किम् ? ममन्थतुः । ममन्थुः । ननु ररन्धिव ररन्धिम इत्यत्रास्फाद्विहितो लिट् । नैवम् । भुमिषावुपदेशग्रहणाश्रयणात् । एवञ्च कुराडा दुराडेत्यत्र “**सरोहलः**” [११।८५] इति अस्त्यो भवति । अपिदित्येव । विमेदित्य । ङिदिति कर्त्तृमाने किद्ग्रहणं किम् ? ईजतुः । ईजुः । ङिति जिर्न स्यात् । अयमेव किद्विषयः । वृष्टे, वृष्टे इत्यत्र परत्वादेपि कृते स्फान्तत्वमिति चेत्, इष्टवाचित्वात्परशब्दस्येत्येदोषः । अस्फादिति प्रसज्यप्रतिषेधः । न चेत् स्फान्ताद्विहित इति पर्युदासे हि हलन्तादेव लिट् कित् स्यात् । “**वोर्णोः**” [११।८८] इत्यतो वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तते । ततः अन्थिग्रन्थिदम्भिष्वङ्गीन्धिन्योऽपि किङ्गवतीत्येके । श्रेथुः । श्रेथुः । ग्रेथुः । देभतुः । देभुः । परिष्वजते । परिष्वजते । समीधे । समीधाते । समीधिरे ।

मृडमृदगुधकुषवदवसः क्त्वा ॥११।८०॥ मृड मृद गुध कुष वद वस इत्येतेभ्यः परः क्त्वा ल्यः किङ्भवति । मृडित्वा । मृदित्वा । गुधित्वा । कुषित्वा । उदित्वा । उषित्वा । सिद्धे विधिरारम्भमाणो नियमार्थः । तुल्यजातीयस्य च नियमः । सेट् क्त्वा तुल्यजातीयः, तेन मृडादिभ्य एव क्त्वा सेट् किङ्भवति नान्येभ्यः । देवित्वा । सेवित्वा । वर्तित्वा । सेङिति विशेषणं किम् ? भुक्त्वा । मुक्त्वा । मृडादिभ्यः क्त्वैव किङ्गवतीति^४ विपरीतो नियमो नाशङ्कनीयः । एवं हि “**क्लिङ्गः**” [११।८१] इति कित्त्ववचनमनर्थकं स्यात्, प्रतिषेधाभावात् । गुधिकुष्योस्तु “**व्युङोऽवो हलः संश्च**” [११।८७] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः ।

क्लिशः ॥ ११।८१ ॥ क्लिशः परः क्त्वा सेट् किङ्भवति । क्लिशित्वा । पूर्वेण नियमेन कित्त्वे निवर्तिते “**व्युङोऽवो हलः संश्च**” [११।८७] इति विकल्पः प्राप्तः । पूर्वं^५ सूत्रे इष्टतोऽवधारणार्थं योगान्तरम् ।

मुषग्रहिरुदाविदः संश्च ॥११।८२॥ मुष ग्रहि रुद विद इत्येतेभ्यः परः संश्च (सन्) क्त्वा च सेट् किङ्भवति । मुषिषति । जिष्ठति । रुदिषति । विविदिषति । मुषित्वा । गृहीत्वा । रुदित्वा । विदित्वा । ग्रहेर्मृडादिनियमान्निवृत्तौ विध्यर्थमितरेषां “**व्युङोऽवो हलः संश्च**” [११।८७] इति विकल्पे प्राप्ते वचनम् ।

भल्लिकः ॥११।८३॥ क्वेति निवृत्तम् । अन्येनेतादिरित्यत्र आदिरिति वर्तते । इगन्ताद्धोः परो भल्लादिः सन्किङ्गवति । सामर्थ्यात्सन्निहितस्य धोरिका तदन्तविधिः । चिचीषति । निनीषति । ररुषति । चिकीर्षति । लुलूषति । यदि सनि दीत्ववचनसामर्थ्यान्मात्रिकाद्विमात्रिकयोरेवभावः सिद्ध इत्यस्यानर्थक्यम् । शिखमपि तर्हि न स्यात् । शीप्सति । एतस्मिंस्तु सनि चिचीषत्यादिषु सावकाशं दीत्वं परत्वादिगणखेन बाध्यते । भल्लादिरिति किम् ? शिशयिषते । इक इति किम् ? पिपासति । सनीत्येव । कर्ता ।

१.-दिः ल्यो” ब०, स०, मु० । २.-प्तविक-अ० । ३. पिद्वद् भ-अ०, ब०, स० । ४. त्वादः अ० । ५.-वति विप-अ०, ब०, स० । ६. पूर्वं सूत्रे मु० । ७. रुदित्वा इति नास्ति अ० ब० स० पुस्तकेषु । ८. शीप्सतीति अ०, ब०, स० ।

हलन्तात् ॥ १११८४ ॥ सन् भलिक इति^१ वर्तते । अन्तःशब्दः समीपवचनः । इकोऽन्तः समीपो यो हल तदन्ताद्दर्शलादिः सन्किद् भवति । विभित्सति । बुभुत्सते । विवृत्सति । अन्तग्रहणं किम् ? यियत्सति । जिर्नं भवति । नात्रेकसमीपाद्वलः परः सन् । एवं वा सूत्रार्थः । इकः परो हलन्तो हलवयवो यो धुस्तस्मादुपरो भलादिः सन्किद्भवति । अन्तग्रहणं स्पष्टार्थमुक्तमस्मिन् व्याख्याने । इक इति कानिदेशः किम् ? यियत्सति । भलित्येव । विविद्धपते । “निरकाजनाड” [१११२२] इत्यत्र एकग्रहणं शापकमुक्तम्, “अन्यत्र वर्णग्रहणे जाति-ग्रहणमिति ।” तेनेह हल्ग्रहणेन भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययनिमित्तं हल् जातिगृह्यते । ततो धिप्सतीति सिद्धम् ।

सिलिङ् दे ॥ १११८५ ॥ सन्निति निवृत्तम् । भलिकः हलन्तादिति च वर्तते । सिश्च लिङ् च दे इको हलन्तात्परौ भलादी कितौ भवतः । सेरेव दपरत्वं विशेषणं न लिङोऽसम्भवात् । द एव हि लिङ् भलादिः । अभित् । अबुद्ध । भिसीष्ट । भुत्सीष्ट । द इति किम् ? अस्माद्धीत् । अद्राद्धीत्^३ । कित्वे सृजिदशोरमागमो न स्यात् । “वदव्रज (वजवद्)” [१११७९] इत्यादिनैप । इक इत्येव । अयष्ट । यन्नीष्ट । जिः प्रसज्येत । हलन्तादित्येव । अचेष्ट । चेपीष्ट । एम्न स्यात् । भलादिरित्येव । अवर्तिष्ट । वर्तिषीष्ट । एम्न स्यात् ।

उः ॥ १११८६ ॥ अतैर्व्याख्यानादग्रहणम् । ऋवर्णान्ताद्भोः परौ सिलिङौ दे भलादी कितौ भवतः । अकृत । अहृत । कृषीष्ट । हृषीष्ट । द्विमात्रस्य । अस्तीष्टम् । स्तीष्टम् । “लिङ्स्योर्दे” [१११९०] इत्यनि-ट्पक्षे द्रष्टव्यम् । भलादिरित्येव । अस्तरिष्ट । स्तरीषीष्ट ।

गमो वा ॥ १११८७ ॥ गमेधोः परौ सिलिङौ दे भलादी वा कितौ भवतः । समगत । सङ्गसीष्ट । वा गमः कित्वे “अनुदात्तोपदेश” [१११३७] इत्यादिना डत्वं “प्राद् गोः” [११३४५] इति सेः खम् । पक्षे-समगन्त । सङ्गसीष्ट ।

हनः सिः ॥ १११८८ ॥ हन्तेधोः परः सिर्दे किद्भवति । आहत । आहसताम् । आहसत । सेः कित्वान्डस्य खम् । [अन्यथा अनिदित इति उङ्ः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पुनः सिग्रहणं लिङ्निवृत्त्यर्थम् । दग्रहणमनुवर्तते । एवं नित्यो वधादेश इति इह प्रयोजनं नास्ति ।

यमः सूचने ॥ १११८९ ॥ यमेधोः सूचनेऽर्थे वर्तमानात्परः सिर्दे किद्भवति । सूचनं गन्धनमा-विष्करणमित्यर्थः । उदायत । उदायसाताम् । उदायसत । अकर्मकत्वे “आडो यमहनः” [११२२३] इति दः । सूचन इति किम् । आर्यस्त कूपाद्रज्जुम् । सकर्मकत्वे “समुदाड्यमोऽग्रन्थे” [११२७०] इति दः ।

वोपयमे ॥ १११९० ॥ उपयमो दास्वीकारः । उपयमेऽर्थे वर्तमानाद्यमेधोः परः सिर्दे वा किद्भवति । उपायत कन्याम् । उपायस्त कन्याम् । “स्वीकृतावुपायमः” [११२११] इति दः । इयमप्राप्ते विभाषा । स्वीकारसूचने पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वेण नित्यो विधिः ।

भुस्थोरिः ॥ १११९१ ॥ द इति वर्तते । भुसंज्ञकानां स्था इत्येतस्य च धोरिकारोऽन्तादेशो भवति सौ सिश्च दे कित् । अदित । अधित । उपास्थित । “प्रात्” [११३१८] इति सेः खम् । सन्नपितापरिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति । तिष्ठतैः “उपान्मन्त्रकरणे” [११२२०] “धेः” [११२२१] इति दः । इत्ववचनसामर्थ्या-देपो निवृत्तिः सिद्धेति किद्ग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्त्तमानं सेरपि विशेषणम् ।

१. इति च वर्तते अ०, ब०, स० । अत्र च शब्दोऽप्यर्थकः । २. अन्तःशब्दः ब० । ३. अद्राद्धीत् इति मुद्रितपुस्तके नास्ति । ४. कोष्टकस्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति । “हलुङः किङ्त्वनिदितः” इत्यस्यान्नाप्रवृत्तेः । ५. हन्धोर्दे “हनो वध लिङि” इति नित्यवधादेशविधानात् “हनः सिः” इत्यत्र लिङ्निवृत्तेः प्रयोजनं नास्ति किंरवप्रयुक्त-नख-रूप-फलस्य लिङि नित्ये वधादेशोऽभावात् । ६. -पणं विहितम् । तः सेट्—अ०, ब०, स० ।

विकल्प्यते । व्युङ् इति किम् ? विवर्तिषते । वर्त्तित्वा । अत्र इति किम् ? दिदेविषति । देवित्वा । हलादेरिति किम् ? एषिषिषति । एषित्वा । सनि एषि कृते द्वित्वम् । सेडित्येव । बुभुक्षते । भुक्त्वा ।

युक्त्वदुसि लिङ्गसंख्ये ॥११।१६८॥ युक्तः प्रकृत्यर्थः । प्रत्ययार्थेन सम्बन्धात् । उसोऽर्थ उस् । उसि युक्त इव लिङ्गसंख्ये भवतः । इवार्थे वत् । उसिति नाशस्य संज्ञा । उसा नष्टस्य त्यस्यार्थः साहचर्यादुस् । तत्रोसर्थे प्रकृत्यर्थे इव लिङ्गसंख्ये विधीयते । लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकानि । संख्या एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । पञ्चालो नाम राजा तस्यापत्यं “शष्ट्रशब्दाद्राज्ञोऽञ्” [३।१।१६०] इत्यञ् । बहुत्वे तस्योपि कृते पञ्चालाः क्षत्रियाः पुंल्लिङ्गा बहुसंख्याः । तेषां निवासो जनपदः “तस्य निवासादूरभवौ” [३।२।१६] इत्यागतस्याणः “जनपद उस्” [३।२।६१] इत्युस् । क्षत्रियेषु ये लिङ्गसंख्ये ते जनपदेऽपि भवतः । पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः । एवं वरुणानामदूरभवः । गोदौ नाम हृदौ तयोरदूरभवः । “वरुणादेः” [३।२।६२] इति उस् । वरुणाः । शिरीषाः । गोदौ “अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा” (वा०) पञ्चाला रमणीया बह्वना बहुक्षीरघृता बहुमात्यफलाः । वरुणा रमणीयाः । गोदौ रमणीयौ । “अज्ञातेरिति वक्तव्यम्” (वा०) । पञ्चाला जनपदः । गोदौ ग्रामः । अत्र जनपदग्रामयोर्जातित्वान्नातिदेशः । जात्यर्थे जातिः । तैन तद्विशेषणानामपि प्रतिषेधः । पञ्चाला जनपदो रमणीयः । नेदं वक्तव्यम् । सञ्ज्ञाप्रामाण्यात् । यथा वर्षा आपो दारा यद्वाः सिकता इत्येवमादीनां संज्ञाशब्दानां संज्ञाप्रामाण्यादेव स्वलिङ्गे न स्वसंख्यया च साधुत्वमेवं जातेरपि भविष्यति । पञ्चालादीनां तु संज्ञाशब्दानामन्वाख्यानप्रदर्शनार्थमुल्लिङ्गसंख्यातिदेशश्च विधीयते इत्यदोषः । उसीति किम् ? आमलकं फलम् । उपि कृते फलेऽर्थे आमलकशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे मा भूत् । लिङ्गसंख्ये इति किम् ? बदर्या अदूरभवो ग्रामः । वरुणादिवाडुस् तस्य वनं बदरीवनम् । वनस्पतित्वातिदेशो मा भूत् । “विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः” [५।४।६०] इति णत्वप्रसज्येत । वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेर्ननुष्यार्थे उसि विशेषणानां न लिङ्गसंख्यातिदेशः । पञ्चाला अभिरूपः । बह्वीका दर्शनीयः । चञ्चेव मनुष्यः । “इवे प्रतिकृतौ कः” [४।१।१५०] इति कः । तस्य “उस् मनुष्ये” [४।१।१५२] इत्युस् । खलतिकादिषु संख्यातिदेश एव । खलतिकस्य पर्वतस्यादूरभवानि खलतिकं वनानि । हरीतक्यादिषु लिङ्गातिदेश एव । हरीतक्या अवयवः फलानि । “हरीतक्यादेः” [३।३।१२४] इत्युस् । हरितक्यः फलानि ।

तिष्यपुनर्वसूनां भद्रन्द्रे द्वित्वम् ॥११।१६९॥ तिष्य एकः पूनर्वसू द्वौ । तेषां भद्रन्द्रे द्वित्वं भवति । उदितौ तिष्यपुनर्वसू । तिष्यपुनर्वसूनामिति किम् । राधानुराधाः । श्रवणधनिष्ठाः । भग्नहरणं किम् । तिष्ये जातः । पुनर्वसूज्जातौ तत्र जात इत्यागतस्याणो “भेभ्यो बहुलम्” [३।३।१३] इत्युप् । तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसवो माणवकाः । ननु गौणत्वादेवात्र न भविष्यति । पर्यायार्थं तर्हि भग्नहरणम् । पुष्यपुनर्वसू सिद्धपुनर्वसू इति । बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? एकवद्भावे मा भूत् । इदं तिष्यपुनर्वसु । इदमेव ज्ञापकं “वा तरुमुगा०” [१।४।८८] आदिसूत्रे वेति योगविभागोऽस्ति । द्वन्द्व इति किम् । यस्तिष्यस्तौ पूनर्वसू येषां ते तिष्यपुनर्वसवो मुग्धाः तिष्यादय एवात्र विपर्ययेण प्रतीयन्त इति भविष्यत्वमस्ति । “जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्” [१।२।५८ पा० सू०] इति न वक्तव्यम् । सामान्यविशेषात्मकत्वाद्बलुनः । विशेषेष्वनुवृत्ताकारबुद्धिनिमित्तं सामान्यम् । व्यावृत्ताकारबुद्धिहेतवो विशेषाः । तत्र सामान्यविवक्षायामेकत्वं भवति । सन्ज्ञो ब्रीहिः । विशेषविवक्षायां बहुलम् । सम्पन्ना ब्रीहयः । संख्यानुप्रयोगे जातिविवक्षैव । एको ब्रीहिः सम्पन्नः सुभिन्नं करोति । अस्मदो द्वयोरेकस्य च वा बहुत्वं न वक्तव्यम् । कथमहं ब्रवीमि, आवां ब्रूवः, वयं ब्रूम इति ? आत्मन इन्द्रियाणां च स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं विवक्षया भविष्यति । कदाचिदात्मा स्वतन्त्रो भवति । अनेनाक्षणा पश्यामि । कदाचिदिन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यम् । इदम्वेऽक्षि पश्यति । तत्रात्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षाया-

१. विकल्पेन विधीयत इत्यर्थः । २. “वद्विष्का” अ० “वद्विक्का” सु० । ३. अस्मदो द्वयोश्च (पा० सू० १।२.५६) इति सूत्रं लक्षयति वृत्तिकारः ।

मेकत्वमिन्द्रियाणां^१ स्वात्मन्ये बहुत्वम् । सविशेषणस्यात्मविवक्षैव । अहं देवदत्तो ब्रवीमि । अहं साधुब्रवीमि । युष्मदि गुराबुभयविवक्षा । त्वं मे गुरुः । यूयं मे गुरुवः । एतच्च शब्दशक्तिस्त्वाभाव्यात् । फल्गुनीप्रोष्ठपदानां नक्षत्रे द्वयोर्बहुत्वं वेति न वक्तव्यम् । कथं कदा पूर्वे फल्गुन्यौ कदा पूर्वाः फल्गुन्यः । कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः^२ ? यदा फल्गुनीसमीपगते चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो विवक्ष्यते तदा बहुत्वमन्यदा द्वित्वम् ।

स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः ॥१।१।१००॥ स्वभावत एव शब्द एकशेषमनपेक्ष्य एकत्वद्वित्वबहुत्वेषु वर्तते । अत एवैकशेषानारम्भः । एकत्वादीनां प्रकृत्युपात्तानामभिव्यक्तये विभक्त्युपादानम् । यथा एको द्वौ बहवः पञ्च सतेति । एवं वृत्तः वृत्तौ वृत्ताः । अथ प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनानेकस्याभिधानं तत्रानेकार्थाभिधानेऽनेकशब्दत्वं प्रसङ्गमत एकशेषः । अत्रोच्यते—यदि भिन्नेष्वभिन्नाभिधानं प्रत्ययहेतुर्जातिः शब्दार्थः । तस्याः प्रत्यायने एक एव शब्दः समर्थः । अथ द्वयं शब्दार्थः । तच्चापेक्षं व्यावृत्ताभिधानबुद्धिलिङ्गम् । तस्याभिधित्वायामनेकशब्दत्वे प्राप्त एकशेष इति । एतदप्युक्तम् । अवशिष्टः शब्दो निवृत्तशब्दस्य यद्यर्थमभिधत्ते तदास्य द्वित्वेऽपि वृत्तिरिति किमेकशेषेण । अथ नाभिधत्ते तदा पश्चादपि स एवार्थः । कथमनेकार्थं वृत्तिः ? सरूपाणां द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थमेकशेष इत्यपि नास्त्यनभिधानात् । न हि भवति द्वौ च द्वौ च द्वाविति । अथ विरूपशब्दार्थ एकशेषः । तथाहि—“वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः” [पा० सू० १।२।६५] ‘अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्’ । एवकारो भिन्नक्रमः । विशेषो वैरूप्यम् । वृद्धः शिष्यते यूना सह वचने वृद्धयुवलक्षणे एव यदि विशेषः समानायां प्रकृतौ । गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दाक्षिश्च दाक्षायणश्च दाक्षी । वृद्ध इति किम् ? औपगवश्चानन्तर औपगवश्च युवा औपगवौपगवी । गार्गिगार्ग्यायणौ । यूनेति किम् ? गर्गश्च गार्ग्यश्च गर्गगार्ग्यौ । तल्लक्षण एवेति किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ । अत्र प्रकृतिविशेषोऽप्यस्ति । एवकारः किमर्थः । भागवति भागवत्तिका । भागवित्तेरपत्यं युवा । “दोष्टश्च सौवरीषु प्रायः” [३।१।१३६] इत्यत्र क्षेपस्यापि भावान्न तल्लक्षण एव । विशेष इति किम् ? वैदश्च वृद्धो वैदश्च युवा वैदवैदौ । तल्लक्षणवैरूप्याभावात् द्वन्द्वो भवत्येव । “स्त्री पुंवच्च” [पा० सू० १।२।६६] स्त्री वृद्धा यूना सह वचने शिष्यते पुंवद्भावात्स्या भावति तल्लक्षण एव यदि विशेषः । गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी । नेदं द्वयं वक्तव्यम् । जीवति वंशे वृद्धं द्वयमभिधत्ते । अजीवति वृद्धयूनोर्द्वन्द्वो नास्त्यनभिधानात् । जीवति वंशे वृद्धा स्त्री युवानश्च सामान्येन वृद्धशब्द एवाभिधत्ते । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । यदपि पुमान् स्त्रिया सह वचने शिष्यते तल्लक्षण एव यदि विशेषः । कठश्च कठी च कठौ । मयूरश्च मयूरी च मयूरौ । प्राणिधर्मयोः स्त्रीपुंसयोर्ग्रहणादिह न भवति । नदनदीपतिः । घटघटीसराबोदञ्चनादि । तल्लक्षण इत्येव । कुक्कुटमयूरौ । एवकार इत्येव । इन्द्रेन्द्रायौ । भवभवान्यौ । पुंगोलक्षणेऽप्यत्र विशेषः । इदमपि जातिमात्रविवक्षया सिद्ध्यति । द्वन्द्वस्य चानभिधानम् । अभिधाने द्वन्द्वोऽस्ति । नदनदीपतिः । ब्राह्मणवत्स-ब्राह्मणी(ण)वत्सौ । भ्रातृपुत्रौ स्वसुदुहितृभ्यां शिष्यत इति न वक्तव्यम् । भ्राता च स्वसा च भगिनी वा भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ । अपत्यमात्रविवक्षया द्वन्द्वानभिधानञ्च । इदं तर्हि वक्तव्यम् । नपुंसक^१ मन-पुंसकेनैकवास्यान्यतरस्यान्तल्लक्षण एव यदि विशेष इति । शुक्लश्च वक्त्रं शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च साटी तदिदं शुक्लम् । तानीमानि शुक्लानि । नेदं ज्ञायः, त्रिषु लिङ्गेषु नपुंसकस्य प्रश्नादौ प्राधान्यात् । तेन (नपुंसकत्वं)

१.-याणां बहु-अ०, ब०, स० । २.-किस्त्वावात् । फल्गु-अ० । ३. “फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे” पा० सू० १।२।६० । ४. प्रत्यर्थशब्द-अ० । ५.-धाने प्रत्य-अ० । ६.-तस्य शब्द-अ०, ब०, स० । ७.-कार्थे वृ-स० । ८. “पुमान् स्त्रिया” पा० सू० १।२।६७ । इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । ९. “आतृपुत्रौ स्वसुदुहितृभ्याम्” पा० सू० १।२।६८ । इति खण्डयति । १०. “नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्” इति पा० सू० १।२।६९ ।

सामान्यविशेषापेक्षया च वचनभेदः । पिता^१ मात्रा श्वशुरः श्वश्राडन्यतरस्यामित्यपि न वक्तव्यम् । सामान्यविवक्षया पितरौ श्वशुराविति । द्वन्द्वोऽप्यस्ति । मातापितरौ । श्वश्रूश्चशुरौ । श्वश्रूशब्दः स्त्रियामिहैव निपातितः । “त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ।” [पा० सू० १।२।७२] सर्वैरिति त्यदादिभिरन्यैश्च सहवचने त्यदादीनि शिष्यज्ञा इत्येतदपि नास्ति । त्यदादीनामन्यापेक्षया सामान्यवाचित्वम् । त्यदादिषु च यद्यत्परं तत्तत्सामान्यवाचीति तत्प्रयोगो युक्तः । स च देवदत्तश्च तौ । कश्च देवदत्तश्च कौ । स च यश्च यौ । अथात्र कस्य लिङ्गम् । स च स्थाली च कुण्डश्च । स च देवदत्ता च^२ कुण्डं चेति । उच्यते—द्वन्द्वा^३पवादोऽयम् । द्वन्द्वे चान्यलिङ्गम् । अत्रापि तदेव युक्तम् । इदं चापि न वाच्यम् । “ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री” [पा० सू० १।२।७३] ग्राम्या ये पशवस्तेषां सङ्घेषु स्त्री शिष्यते अतरुणाश्चेद् ग्राम्यपशवः । गावश्च स्त्रियो गावश्च पुमांसः गाव इमाः । अजा इमाः । ग्राम्यग्रहणं किम् । आरण्यानां मा भूत् । रुव इमे । पृषत इमे । पशुग्रहणं किम् । ब्राह्मणा इमे । सङ्घेष्विति किम् ? एतौ गावौ चरतः । अतरुणेष्विति किम् ? वत्सा इमे । वर्करा इमे । कथं नेदं वक्तव्यम् ? लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वलिङ्गस्येति । अन्यथा अश्व इमे इत्येवमादिषु एकशेषेषु अनिष्टं स्त्रीलिङ्गं प्रसज्येत

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

भूवादयो धुः ॥ १।२।१ ॥ भू इत्येवमादयः शब्दाः प्रत्येकं धुसञ्ज्ञा भवन्ति । भू एध स्पद्धं इत्यादि । धोरित्यधिकृत्य लडादिविधिः कार्यम् । भवति । एधते । स्पद्धते । आदिशब्दो व्यवस्थावाची । तेन आणवयत्यादीनां निरासः । अर्थपदोपलक्षितानाञ्च व्यवस्था । ततो धुसमानशब्दानां यावामादिवित्येवमादीनां सर्वनामविकल्पप्रतिषेधस्वर्गादिवाचिनामग्रहणम् । भूशब्द आदिरेषामिति वसे भ्वादय इति प्राप्नोति । नैवम् । “भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्र उच्यते । इको यण् भिर्न्यवधानमेकेषामिति संग्रहः” । तेन त्रियबकं यजामहे वायुवक्त्रयोरिवेत्यादि सिद्धम् । “भुवो वार्थं वदन्तीति” भवतेः सम्पदादिपाठात्किम् । भुवं भवनं क्रियां वदन्तीति बहुलवचनादण्यन्तादपि वदेरौणादिके इजि कृते भूवादयः । अस्मिन् पक्षे शिष्टाप्रयोगादाणवयत्यादीनां ज्ञेयः । “भवार्थं वा वादयः स्मृताः ।” अथवा वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात्पर आदिशब्दः । भुवो वादयो वाच्यवाचकभावसम्बन्धे ता भव्य इत्यर्थः । ये तु वकारो मङ्गलार्थ इति पठन्ति । त इदं वाच्याः । यथाधिकयाद्वकारो मङ्गलमिति प्रसङ्गः स्यात् । एतेन तत् ज्ञानं प्रत्युक्तम् । मङ्गलाभिधेयश्च वकारो नाममालादिषु न पठ्यते । वृत्तौ मध्यनिपातश्च चित्त्यः । धुप्रदेशाः “धोर्यङ् क्रियासमभिहारे” [२।१।१६] इत्येवमादयः ।

अकर्मको धिः ॥ १।२।२ ॥ अकर्मको धुर्धिसञ्ज्ञो भवति । “कत्राण्यम्” [१।२।१२०] इत्यादिना लक्षणेन विहितं कर्म तदविवक्षितं वा नास्या (नास्यस्य वाऽ) कर्मकः । धप्रदेशाः “अनोधेः” [१।२।४६] इत्येवमादयः ।

कार्यार्थोऽप्रयोगीत् ॥ १।२।३ ॥ शास्त्रेऽन्यस्य कार्यार्थमाश्रीयते प्रयोगे च न श्रूयते यः स इत्सञ्ज्ञो भवति । अइउण् णकारः । जिमिदा स्नेहने, टुनदि समृद्धौ, डुकृञ् करण इत्यादिषु णिडुडवो डेडस्यादिषु डकारः । कार्यार्थ इति किम् ? कुलात्वं कुलीनः । परमकुलीन इत्यत्र खकारस्याऽप्रयोगात्वात् “खित्यकेमु-

१. “पिता मात्रा, श्वशुरः श्वश्रा” पा० सू० १।२।७०, ७१ इत्यभिलक्ष्य खण्डयति । २.-त्ता च । स च कु-अ०, स० । ३.-इदमेकशेषवादिनां मते संगच्छते । एकशेषानामभवादिना वृत्तिकृता तु “लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाङ्गिरस्य” इति वाच्यम् । ४.-न्दिविर-अ०, ब०, स० । ५. आणवयत्या-अ०, स० आणवयत्या-ब० । ६.-दाणपय-अ०, ब०, स० । ७. निरास इत्यर्थः । ८. “भूवादीनां वकारोऽयमसंग-कार्यः प्रयुज्यते” (१।३।१। पा० म० भा०) इति खण्डनपरः सन्दर्भः ।

मचः” [४।३।१७६, १७७] इति सुम् प्रसज्येत । अप्रयोगीति किम् ? परमकुलीनः । ईनादेशः कार्यमिति सुम् स्यात् । ननु कार्यार्थोऽप्रयोगी च खः कथं नेत्सञ्ज्ञः ? उभयविशेषणोपादानात् । अन्यस्य कार्यार्थो भूत्वा योऽप्रयोगीत्यदोषः । अन्यर्था चेयमित्यज्ञा । एति गच्छति नश्यतीत् तैन “तस्य लोपः” [पा. सू. १।३।१६] इति न नक्तव्यम् । प्रयोगानुसारेणाप्रयोगित्वावगतेः । प्रतिपत्तिगौरवमिति चेत् “उपदेशोऽजनुनासिक इत्” [पा० सू० १।३।२] इत्यनुनासिकत्वमपि प्रयोगादेवावसीयत इति समानम् । इत्यदेशाः “टिदादिः” [१।२।५३] इत्येवमादयः ।

यथासंख्यं समाः ॥ १।२।४ ॥ यथासंख्यं यथाक्रमं समाः शिष्यमाणा भवन्ति^१ । यथासंख्यं “यावद्यथा-
वधृत्यसादृश्ये” [१।३।६] इति हसः । समास्तुल्याः । तुल्यत्वञ्च द्विष्टमतः पूर्वोद्दिष्टानामनुद्दिष्टाः समा ज्ञेयाः । “मिथस्थतसोऽन्ततताम्” [२।४।८] प्रथमसंख्यस्य मिपः प्रथमसंख्योऽम् इत्येवमादि योज्यम् । समा इति किम् ? “सङ्घाङ्गलक्षणघोषेऽन्यजिजामण्” [३।३।६५] सङ्घादयश्चत्वारोऽर्था अजादयस्त्रयः, वैषम्यात् सङ्घादिषु चतुर्ध्वंष्वन्तादण् भवति, तथा यजन्तादिजन्ताच्च । समशब्दस्य सर्वार्थे युक्तार्थं च सर्वनाम-
सञ्ज्ञोक्ता न तुल्यार्थे ।

स्वरितेनाधिकारः ॥ १।२।५ ॥ स्वरितेन लिङ्गेनाधिकारो वेदितव्यः । “त्यः” [२।१।१] “परः” [२।१।२] “ङ्याम्मुदः” [३।१।१] इत्येवमादिः । स्वरित इति आचार्यप्रतिज्ञाया लिङ्गम् । “व्यामिश्रः स्वरितः” [१।१।१४] इत्यस्याचो धर्मत्वेन “रो रि” [५।४।१८] इत्येवमादिषु हल्स्वसम्भवादग्रहणम् । अधिकारो विनियोगो व्यापार इत्यर्थः । स्वरितेनेति योगविभागाग्रथासंख्यमपि स्वरितेन ज्ञेयम् ।

ऽनुदात्तेतो दः ॥ १।२।६ ॥ ङकारेतोऽनुदात्तेतश्च षोर्द एव भवति । ङितः । षूङ् । सूते । शीङ् । शेते । इङ् । अधीते । अनुदात्तेतः । आस । आस्ते । वस । वस्ते । चङ् । आचष्टे । चङोर्ङित्करणमनर्थकम् । अनुदात्तेत्वाद्युच् । विचक्ष्णः । “लः कर्मणि च भावे च घेः” [२।४।५४] इति धोर्लकारा विहिताः । तद्-
द्वारेण दविधौ मविधौ च प्राप्ते प्रकृतिनियमोऽयम् । ऽनुदात्तेतो द एव भवति । दस्त्वनियतः । सोऽन्येभ्योऽपि प्राप्तेः । “मम्” [१।२।७५] इति द्वितीयो नियमः । यत्र मञ्च दश्च प्राप्नोति तत्र ममेव भवति । यदि त्य-
नियमः स्याद् ऽनुदात्तेत एव दो भवति नान्येभ्यस्तदान्यत्र मस्य सिद्धत्वात् “मम्” [१।२।७५] इति सूत्र-
मनर्थकं स्यात् । तदारम्भादिष्टावधारणं सिद्धम् । किञ्च त्यनियमे हि ऽनुदात्तेतोऽपि मं प्राप्नोति तन्निवृत्तये शेषान्ममिति शेषग्रहणं कुर्यात् । तदकरणं च ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य ।

ङौ ॥ १।२।७ ॥ ङिरिति भावकर्मणाः सञ्ज्ञा । ङौ द एव भवति । आस्यते भवता । सुप्यते भवता । भावस्वैकत्वं युष्मदस्मदर्थोऽसम्भवश्च । कारकभ्यः पृथग्भूतो धोरर्थः स्वप्रधानको भावः । एति जीवन्तमानन्द इत्यत्र आनन्दो बाह्य एतैः कर्तृत्वेन विवक्षित इति^२ दो न भवति । कर्मणि । क्रियते कटः । कर्मकर्तरि । लुप्यते के^३सरः । भिद्यते कुसूलः स्वयमेव । अर्थनियमोऽयम् । दस्तु कर्तर्यपि प्राप्तेः स ममित्यनेन नियमेन निवर्त्यते । यदि ङवेव दो भवतीति त्यनियमः स्याद् भावकर्मणोरनियतत्वान्मेऽपि प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं शेषात् कर्तरि ममित्युच्येत शेषा^४ ऽकरणं ज्ञापकमर्थनियमस्य । एवं प्रकृतिनियमोऽर्थनियमो च सति “मम्” [१।२।७५] इत्यत्र कर्तृग्रहणं शेषग्रहणञ्च प्रत्याख्यातम् ।

कर्तरि ञे ॥ १।२।८ ॥ कर्तरि आर्थे दो भवति । “कर्मव्यतिहारे ञः” [२।३।७६] इति ओ विहि-
तस्तत्सहचरितः कर्मव्यतिहारो अर्थः । कर्मव्यतिहारश्च कर्मग्रहणसामर्थ्यात् क्रियाव्यतिहारः । अन्यस्य कर्तुमिष्टां क्रियां यदान्यः करोति तदिष्टां चेतुरस्तदा क्रियाव्यतिहारः । व्यतिलुनीते । व्यतिपुनीते । आरम्भसामर्थ्यात्

१.-न्ति । यायासङ्ख्या यथा—अ०, ब०, स० । २. इत्यत्र दो अ०, ब० । ३. केदारः अ०, ब०, स० । ४. उत्तरवाक्यस्वारस्येन शेषाकरणं ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य, कर्तृग्रहणाकरणाज्ञापक-
मर्थनियमस्येति पाठो युक्तः । ५. जसहचरित इत्यर्थः । ६. व्यतिलुनते । व्यतिपुनते अ०, ब० ।

कर्तव्येव सिद्धे कर्तृग्रहणमुत्तरार्थम् “न गतिर्हिंसार्थेभ्यः” [१।२।१६] इति । कर्तरि कर्मव्यतिहारे विहितस्य दस्य प्रतिषेधो यथा स्यादिह मा भूत् । व्यतिभूयते सेनया । व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः । व्यतिहन्त्यन्ते दस्यवः । क्रिया-व्यतिहार इति किम् ? पारिभाषिककर्मव्यतिहारे मा भूत् । देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति । -

न गतिर्हिंसार्थेभ्यः ॥ १।२।१६ ॥ गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धुम्यो आर्थे दो न भवति । व्यतिगच्छन्ति । व्यतिधावन्ति । हिंसार्थेभ्यः । व्यतिहिंसन्ति । व्यतिभिन्दन्ति । व्यतिछिन्दन्ति । व्यन्तिपिषति । बहुवचननिर्देशो हसादिसंग्रहणार्थः । व्यतिहसन्ति । व्यतिजल्पन्ति । व्यतिपठन्ति । व्यतिकथयन्ति । “हृवह्योरप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] सम्प्रहरन्ते राजानः । व्यतिवहन्ते नद्यः । गतिर्हिंसयोः प्रतिषेधो गतिर्हिंसाहेतौ न भवति । व्यतिगमयन्ते । व्यतिभेदयन्ते ।

परस्परान्योन्येतरेतर ॥ १।२।१० ॥ परस्पर अन्योन्य इतरेतर इत्येतेषु प्रयुक्तेषु आर्थे दो न भवति । परस्परस्य व्यतिलुनन्ति । अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति । इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति । व्यतिभ्यां द्योतितेऽपि कर्मव्य-तिहारे परस्परादिपदप्रयोगो द्वावपूपौ भवत्येति यथा । परस्परादिशब्दानां कथं सिद्धिः । द्वित्वप्रकरणे कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वम् । “सवच्च बहुलम्” [वा०] इति वक्ष्यति ।

निविशः ॥ १।२।११ ॥ नि इति स्वरूपस्य ग्रहणं न निःसञ्ज्ञाय । निपूर्वाद्दिशो दो भवति । निविशते । निविशेते । निविशन्ते । लावस्थायामडागमः । तद्भक्तो न व्यवधायकः । न्यविशत । “मम्” [१।२।७५] इति मं प्राप्तम् । सनिर्देशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च घोरिना । तेनेह न भवति । मधुनि विशन्ति भ्रमराः । अनर्थकत्वाद्वा ।

परिव्यवक्रियः ॥ १।२।१२ ॥ परि वि अव इत्येवंपूर्वात् क्रीणातेर्दो भवति । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते । अक्रत्राप्ये फले विधिरयम् । अनर्थकत्वादिह न भवति । उपरि क्रीणाति । गवि क्रीणाति । अपचाव क्रीणीवः । क्री इति अनुकरणम् । अनुकार्येणार्थवत्वान्मृत्वे सति स्वादिविधेः । “प्रकृतिवदनुकरणम्” इति ध्रुवातिदेशादियादेशः । उत्तरत्र जेरिति निर्देशात् वत्करणादपि स्वाश्रयोऽपि कचिदेव ।

विपराजे ॥ १।२।१३ ॥ वि परा इत्येवंपूर्वाज्यतेर्दो भवति । विजयते । पराजयते । अत्रापि सनिर्देशः समर्थस्य गेर्ग्रहणार्थः । तेनेह न भवति । बहुविजयति वनम् । पराजयति सेना ।

आडो दोऽव्यसन ॥ १।२।१४ ॥ व्यसनं विकसनं विवरणं वा । अन्येषां दारूपाणां व्यसने वृत्तिर्नास्ति । आड्पूर्वाद्दोऽव्यसनेऽर्थे दो भवति । विद्यामादत्ते । अक्रत्राप्ये फले प्राप्तरार्थमिदम् । अव्यसनमिति किम् ? आस्यं व्याददाति । पिलकं व्याददाति । विपादिकां व्याददाति । “स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गमुखम् । यद्यक्रत्राप्ये फले प्राप्तस्याव्यसन इति प्रतिषेधः कत्राप्ये फले व्यसने दः प्राप्नोति । नैवम् । अव्यसन इति योगविभागाद् येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । आडिति डित्करणं किम् ? आ ददात्यसौ भित्तामिदानीमहमस्मार्षम् । आडिति योगविभागः । तेन स्थः प्रतिशाने दो भवति । अनित्यं शब्दमातिष्ठन्ते । “गमयतेः कालहरणे” [वा०] आगमयत्व तावद्देवदत्त । “नुप्रच्छिभ्याञ्च” [वा०] । आनुते शृगालः । आपृच्छते गुरुमिति सिद्धम् ।

क्रीडोऽनुपर्याडः ॥ १।२।१५ ॥ अनु परि आड् इत्येवंपूर्वात् क्रीडो दो भवति । अनुक्रीडते । परिक्रीडते । आक्रीडते । गिसाहचर्यादनोर्गेरेव ग्रहणादिह न भवति । माणवकमनु क्रीडति । माणवकेन सहेत्यर्थः । “भाथे” [१।३।१४] इत्यनुना योग इप् गतिसञ्ज्ञाप्रतिषेधश्च । “शिक्षेर्जिज्ञासायां दो वक्तव्यः” [वा०] शकेः सन्नस्तस्येदं ग्रहणम् । विद्यासु शिञ्जते । धनुषि शिञ्जते । कर्मविवक्षायां विद्याः शिञ्जाचक्रे । “हरतेर्गति-त्वाच्छील्ये” [वा०] पैतृकमश्वा अनुहरन्ते मातृकं गावः । मातुरागतम् “ऋतष्ठज्” [३।३।५२] इति ठज ।

गतिताल्लीत्य इति किम् ? मातरमनुहरन्ति । “शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्” [वा०] वाचा शरीरस्पर्श-
नमुपलम्भः । देवदत्ताय शपते । उपलम्भन इति किम् ? शपति ।

समोऽकूजे ॥१२।१६॥ सम्पूर्वात् क्रीडोऽकूजेऽर्थे दो भवति । संक्रीडते । संक्रीडते । संक्रीडन्ते ।
अकूज इति किम् ? संक्रीडन्ति शकयानि । अव्यक्तं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

स्थोऽवविप्राच्च ॥१२।१७॥ अव वि प्र इत्येवंपूर्वात् सम्पूर्वाच्च तिष्ठतेदौ भवति । अवतिष्ठते ।
वितिष्ठते । प्रतिष्ठते । सन्तिष्ठते ।

जीप्सास्थेयोक्तौ ॥१२।१८॥ परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशनं जीप्सा । स्थीयतेऽस्मिन् निर्णयरूपे-
णेति स्थेयः । बहुलवचनादधिकरणे यः । जीप्सायां स्थेयोक्तौ च तिष्ठतेदौ भवति । जीप्सायाम्-तिष्ठते कन्या
छात्रेभ्यः । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः । स्वाभिप्रायप्रकाशनेनात्मानं रोचयतीत्यर्थः । जीप्सनक्रियया कर्मव्यपदेश-
भाजं छात्राणामुपेयत्वात् संप्रदानत्वम् । स्थेयोक्तौ-देवदत्ते तिष्ठते । लयि तिष्ठते । मयि तिष्ठते । संशयान्नि-
श्चयं करोतीत्यर्थः ।

उद ईहे ॥१२।१९॥ उत्पूर्वात्तिष्ठतेरीर्हाथे वर्तमानाद्दो भवति । गेहे उत्तिष्ठते । धर्मे उत्तिष्ठते । घटत
इत्यर्थः । ईह इति किम् ? अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति । उत्पद्यत इत्यर्थः । ईह इति ईहतेः पर्यायग्रहणात्
गम्यमानायामीहायां न भवति । आसनादुत्तिष्ठति । उत्तिष्ठति सेना । अस्माद् ग्रामाद्विष्टिः (?) । पञ्च
पुरुषा उत्तिष्ठन्ति ।

उपान्मन्त्रकरणे ॥१२।२०॥ उपपूर्वात्तिष्ठतेर्मन्त्रकरणे दो भवति । जगत्पोपतिष्ठते । त्रिष्टुभोपतिष्ठते ।
मन्त्रकरण इति किम् ? भर्तारमुपतिष्ठति भार्या यौवनेन । उपादिति योगविभागः । तेन देवपूजासङ्गतिकरण-
मित्रकरणपथिषु दो भवति । देवपूजायाम्-सीमन्धरमुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणे-रथिकानुपतिष्ठते । मित्रकरणे-
महामात्रानुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणमुपश्लेषः । मित्रकरणं मानसः सम्बन्धः । पथि-अयं पन्थाः खुध्नमुप-
तिष्ठते । “वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्” [वा०] । भिक्षुको दातृकुलमुपतिष्ठते । उपतिष्ठति वा ।

धेः ॥१२।२१॥ अकर्मको धेरिति । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्धेदौ भवति । यावद्भुक्तमुपतिष्ठते । यावदोदनमुपति-
ष्ठते । भोजने भोजने ओदने ओदने उदीक्षत इत्यर्थः । धेरिति किम् ? स्वाभिनमुपतिष्ठति ।

व्युत्तपः ॥१२।२२॥ धेरिति वर्तते । वि उदित्येवम्पूर्वात्तपतेर्धेदौ भवति । वितपते । ज्वलतीत्यर्थः ।
उत्तपत्ते । धेरित्येव । उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । वितपति पृथ्वीमादित्यः । दहतीत्यर्थः । व्युद इति किम् ?
निष्ठपति । दीप्यत इत्यर्थः । “स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] वितपते पाणिम् । उत्तपते पाणिम् ।
आत्मीयमङ्गं स्वाङ्गं न पारिभाषिकं तेनेह न भवति । वितपति परपाणिम् । उत्तपति देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पृष्ठम् ।

आडो यमहनः ॥१२।२३॥ आङ्पूर्वाभ्यां यम हन इत्येताभ्यां भिष्यां दो भवति । आयच्छते । दीर्वो
भवतीत्यर्थः । आहते । आहनाते । आहन्ते । यमः कर्त्राप्ये फले “समुदाह-यमोऽग्रन्थे” [१२।७०] इति
दः सिद्धोऽन्यत्रेदम् । धेरित्येव । आयच्छति रज्जुम् । आहन्ति पापम् । “स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] ।
आयच्छते पाणिम् । आहते वद्धः । स्वाङ्गादिति किम् ? परकीयाङ्गे कर्मणि मा भूत् । आहन्ति
शिरः परकीयम् ।

१. रीहेऽर्थे अ०, ब०, स० । २. अ० स० पुस्तकयोः “विष्टिः” इति पाठः । ब० मु० पुस्तकयोः
“दिष्टिः” इति । परं “विष्टिः” इति पाठः प्रतिभाति । विष्टिश्च कर्मकृत् “आजूवेतनयोर्विष्टिः कर्मकृत्कर्मणो-
रपि” इति शाश्वतवचनात् । पूर्ववाक्याच्चात्र “उत्तिष्ठति” इत्यध्याहारः । “गृष्टिः” इत्यपि पाठः
सम्भवति । गृष्टिश्च सकृत्प्रसूता गौः । ३. दानिकु-अ० । ४.-दामौद-अ० । ५. दीर्वोभव-ब०, स० ।

समो गम्प्रच्छिस्वच्छिभ्रुविद्दशः ॥११२४॥ धेरिति वर्तते । सम्पूर्वेभ्यो गम्-प्रच्छि-स्व-भ्रु-भ्रुच्छि-भ्रु-विद्-दश-इत्येतेभ्यो दो भवात् । सङ्गच्छते । संपृच्छते । संस्वरते । भ्रु इत भ्रुच्छतेरियतेष्व ग्रहणम् । समृच्छते । समियते । समरिष्यते । भ्रुच्छतेरनादशस्य ग्रहणम् । आदशस्य भ्रुग्रहणेन सिद्धत्वात् । समृच्छिष्यते । संश्रुणुते । विदेरादादिकस्य ग्रहणं मवांस्त्रसाहचर्यात् । संवेत्ते । संपश्यते । धेरित्यव । सङ्गच्छति सुहृदम् । संवेत्ति धर्मम् । “गेरस्यब्रूहोर्वेत वक्तव्यम्” [वा०] । निरस्यते । निरस्यति । समूहति । समूहते ।

निसंव्युपाद् हः ॥११२५॥ पुनः संग्रहणाद्वेरिति निवृत्तम् । नि-सं-वि-उप इत्येवम्पूर्वात् ह्ययतेदो भवति । निहयते । संहयते । विहयते । उपहयते । हयतेरात्वेन विकृतनिर्देशेऽपि प्रकृतिग्रहणम् “न व्यो छिति” [४।३।३६] इति निर्देशात् ।

आडः स्पर्द्ध ॥११२६॥ स्पर्द्धः पराभिभवेच्छा । आङ्पूर्वात् हयतेः स्पर्द्धविषये दो भवति । मल्लो मल्लमाह्वयते । छात्रश्छात्रमाह्वयते । स्पर्द्धयाह्वानं करोतीत्यर्थः । स्पर्द्ध इति किम् ? गामाह्वयति ।

गन्धनाऽवक्षेपसेवाऽन्यायप्रतियत्नप्रकथोपयोगे कृजः ॥११२७॥ गन्धनं सूचनम् । अवक्षेपो भर्त्सनम् । सेवा संश्रयः । अविधिना प्रवृत्तिरन्यायः । अविद्यमानार्जनं विद्यमानसंस्कारो वा प्रतियत्नः । प्रबन्धेन कथनं प्रकथा । उपयोगो धर्मादिनिमित्तो व्ययः । गन्धनादिष्वर्थेषु वर्तमानात् कृजो दो भवति । गन्धने-उत्कुरुते अयमिमम् । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपे-स्येनो वर्तकामुपकुरुते । भर्त्सयतीत्यर्थः । सेवयाम्-गणकानुपकुरुते । सेवत इत्यर्थः । अन्याये-परदारानुपकुरुते । न्यायमनपेक्ष्य तेषु प्रवर्तत इत्यर्थः । प्रतियत्ने-एधो दकस्योपस्कुरुते । “प्रतियत्ने कृजः” [१।१।६०] इति कर्मणि ता । “उपात्प्रतियत्नवैकृतः” [४।३।११२] इत्यादिना सुट् । प्रकथयाम्-जनापवादान् प्रकुरुते । उपयोगे-शतं प्रकुरुते । धर्माद्यर्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? कटं करोति । आर्विष्करोतीत्यत्र आर्विः शब्द एव गन्धने वर्तते न करोति । अपकारप्रयुक्तं वा सूचनं गन्धनमित्यदोषः ।

प्रसहनेऽधेः ॥११२८॥ प्रसहनमभिभवः । अधिपूर्वात्कृजः प्रसहनेऽर्थे दो भवति । शत्रून्धिकुरुते । वादिनोऽधिकुरुते । अभिभवतीत्यर्थः । प्रसहन इति किम् ? आधि करोति । अकर्त्राये फले ममेव भवति ।

शब्दकर्मणो वेः ॥११२९॥ कर्मेह कर्त्राप्यम् । विपूर्वात् करोतेः शब्दकर्मकादो भवति । ध्वाङ्घो विकुरुते स्वरान् । क्रोष्टा विकुरुते स्वरान् । शब्दकर्मण इति किम् ? विकरोति कटम् । शब्दग्रहणेन शब्दविशेषाः स्वरादयो गृह्यन्ते । तेनेह न भवति । वकरोति शब्दम् । विकरोत्यनुवाकम् । विकरोत्यध्यायमसावह्वा ।

धेः ॥११३०॥ विपूर्वात्करोतेर्धेदो भवति । विकुर्वते सैधवाः । साधुदान्ताः । ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते । “वृत्त्यर्थे योगे उपसंख्यानम्” [वा०] इति करणे ता ।

सम्मानोत्सञ्जनोपनयनज्ञानभृतिगणनव्यये नियः ॥११३१॥ सम्मानः पूजनम् । उत्सञ्जनमुत्क्षेपः । उपनयनमाचार्यकरणम् । ज्ञानमवगमः । भृतिर्वेतनादानम् । श्रृणुशुक्लादिनिर्यातनं गणनम् । व्ययो धर्मादिष्वर्थविनियोगः । सम्मानादिषु यथासम्भवं विशेषणेषु नयतेर्धेदो भवति । सम्माने-नयते चार्वा स्याद्वादे । चार्वा बुद्धिस्तयोगादाचार्याऽपि तथोक्तः । विनेयेषु प्रतिपादनेन सम्मानं करोतीत्यर्थः । उत्सञ्जने-बालमुदानयते । उत्क्षिपतीत्यर्थः । उपनयने-माणवकमुपनयते । आत्मनः शिष्यभावेन माणवकं प्रापयतीत्यर्थः । ज्ञाने-नय ते चार्वा तत्त्वार्थे । तत्त्वपदार्थान् निश्चिनोतीत्यर्थः । भृतौ-कर्मकरानुपनयते । वेतनादानेन पुष्पातीत्यर्थः । गणने-मद्रकाः करं विनयते । निर्यातयन्तीत्यर्थः । व्यये-शतं विनयते । सहस्रं विनयते । एतेष्विति किम् ? अजा नयति ग्रामम् ।

कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ ॥११२।३२॥ नयतेः कर्ता लकारवाच्यः । रूपाद्यात्मिका मूर्तिः । कर्तृस्थे कर्मणि मूर्तिर्वाञ्छिते सति नयतेदौ भवति । क्रोधं विनयते । हर्षं विनयते । श्रमं विनयते । शमयतीत्यर्थः । अत्र कर्तृस्थ-त्वात्कर्मणः कर्त्ताऽप्यफलता कर्मता । तेन कर्त्ताप्ये क्रियाफले सिद्धेऽपि दे नियमार्थमेतत् । कर्तृस्थ इति किम् ? देवदत्तो जिनदत्तस्य क्रोधं विनयति । कर्मणीति किम् ? बुद्ध्या विनयति । अमूर्ताविति किम् ? गड्डं विनयति ।

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे ॥११२।३३॥ किरतेदौ भवति हर्षजीविकाकुलायकरण इत्येतेषु गम्य-मानेषु । हर्षे-अपस्क्रिते वृषभो हृष्टः । जीविकायाम्-अपस्क्रिते कुक्कुटो भक्षार्थं । कुलायो निवासः-कुला-यकरणे-अपस्क्रिते आ आश्रयार्थं । “चतुष्पाःल्लुकुनिष्वपाद्धर्षादौ” [४।३।११५] इति सुट् ।

वृत्तिसर्गतायने क्रमः ॥११२।३४॥ वृत्तिरविघातः । सर्ग उत्साहः । तायनं पृथूभावः । वृत्त्यादिष्व-थेषु वर्तमानात् क्रमेदौ भवति । वृत्तौ-नयेष्वस्य क्रमते बुद्धिः । न प्रतिबध्यत इत्यर्थः । सर्गे-क्रमते जैनेन्द्रा-ध्ययनाय । उत्सहत इत्यर्थः । तायने-नास्मिन्मूढे शास्त्राणि क्रमन्ते । न तायन्त इत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? क्रामति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् ।

परोपात् ॥११२।३५॥ वृत्तिसर्गतायन इति वर्तते । पर-उप-इत्येवम्पूर्वात् क्रमेदौ भवति । पराक्रमते । उपक्रमते । सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय परोपाभ्यामेव नान्यस्माद्देः । अनुक्रमति । वृत्त्यादिष्वित्येव । पराक्रमति । उपक्रमति ।

ज्योतिरुद्गतावाङः ॥११२।३६॥ आङ्पूर्वात् क्रमेज्योतिषामुद्गमनेऽर्थे दो भवति । आक्रमते सूर्यः । आक्रमते चन्द्रमाः । आक्रमन्ते ज्योतीर्षि । ज्योतिरुद्गताविति किम् ? आक्रामाति धूमो हर्म्यतलम् । आक्रामाति माणवकः कुतपमित्यत्रोद्गतिरपि नास्ति ।

वेः स्वार्थे ॥११२।३७॥ स्वार्थः पादविक्षेपः । विपूर्वात् क्रमेः स्वार्थे दो भवति । (अश्वः) सुष्ठु विक्रमते । साधु विक्रमते । विक्रमणमश्वादीनां शिञ्चाविशेषाद् गर्ताविशेषः । स्वार्थ इति किम् ? विक्रामत्य-जिनसन्धिः । स्फुटतीत्यर्थः ।

प्रादारम्भे ॥११२।३८॥ आरम्भः प्रथमं कर्म । प्रपूर्वात् क्रम आरम्भे दो भवति । प्रक्रमते भोक्तुम् । परोपादित्यत उपादिति वर्तते । उपक्रमते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुमित्यर्थः । आरम्भ इति किम् ? पूर्वद्युः प्रक्रामति । अपरेद्युरपक्रामति । पूर्वस्मिन्नहनि यदनेन गतं तदपरस्मिन्नागच्छतीत्यर्थः ।

वाऽगेः ॥११२।३९॥ अगेः क्रमो वा दो भवति । क्रमते । क्रामति । इयमप्राप्ते विभाषा । वृत्त्या-दिषु पूर्वेण नित्यो विधिः । अगेरिति किम् ? संक्रामति ।

ज्ञोऽपह्वे ॥११२।४०॥ अपह्वोऽपलापः । अपह्वेऽर्थे जानातेदौ भवति । शतमपजानीते । सह-स्रमपजानीते । अपह्व इति किम् ? किञ्चिदपि जानासि ।

धेः ॥११२।४१॥ जानातेर्धेदौ भवति । सर्पिषो जानीते । दध्नी जानीते । सर्पिषा दध्ना चोपायनेन सम्पश्यत इत्यर्थः । “ज्ञोऽस्वार्थे करणे” [१।४।५८] इति करणे ता । अकर्त्ताप्ये फले इदं दविधानम् । धेरिति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

संप्रतेरस्मृतौ ॥११२।४२॥ स्मृतिराध्यानं चिन्तनं वा । सम्प्रतिपूर्वाजानातेरस्मृत्यर्थे दो भवति । शतं सञ्जानीते । शतं प्रतिजानीते । अस्मृतताविति किम् ? मातुः सञ्जानीति । पितुः सञ्जानीति । “स्रदर्थदयेर्शा कर्मणि” [१।४।५९] इति ता ।

दीप्त्युपोक्तिज्ञानेहविमत्युपमन्त्रणे वदः ॥११२।४३॥ दीप्तिः प्रकाशनम् । उपेत्योक्तिरुपोक्तिः । उपसान्त्वनमित्यर्थः । ज्ञानं पदार्थावगमः । ईहो यत्नः । नानामतिर्विमतिः । उपमन्त्रणं रहस्यनुकूलनम् । दीप्त्या-

दिष्वर्थेषु वदतेदो भवति । दीप्तौ-वदते चार्वा तत्त्वार्थे । 'दीप्यमानो वदतीत्यर्थः । उपोक्तौ-कर्मकरण-
पवदते । उपेत्य सम्भाषत इत्यर्थः । ज्ञाने-वदते चार्वा चन्द्रोदये । जानाति वदितुमित्यर्थः । ईहे-कोऽस्मिन्
क्षेत्रे वदते । को यतत इत्यर्थः । विमतौ-गेहे विवदन्ते । गोष्ठे विवदन्ते । विचित्रं भाषन्त इत्यर्थः । उपम-
न्त्रणे-कुलभार्यामुपवदते । परदारानुपवदते । अनुकूलयतीत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? वदति देवदत्तः ।

व्यक्तवाक्समुक्तौ ॥१२।४४॥ व्यक्तवाचो व्यक्तवर्णत्वान्मनुष्यादयः प्रसिद्धाः । सम्भूय वचनं
समुक्तिः । व्यक्तवाचां समुक्तौ गम्यमानायां वदतेदो भवति । सम्प्रवदन्ते ग्राम्याः । सम्प्रवदन्ते साधवः । सम्भूय
भाषन्त इत्यर्थः । व्यक्तावागिति किम् ? सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः । समुक्ताविति किम् । देवदत्तो वदति जिनदत्तम् ।

अनोधेः ॥१२।४५॥ अनुपूर्वाद् वदतेधेदो भवति । अनुवदते जिनदत्तो देवदत्तस्य । अनुः सादृश्ये
पुनरर्थे वा । धेरिति किम् ? पूर्वमुक्तमनुवदति । व्यक्तवाक्समुक्तावित्येव । अनुवदन्ति वीणाः ।

वा चिवादे ॥१२।४६॥ विवादो विप्रलापस्तत्र वर्तमानाद्वदतेर्वा दो भवति । विप्रवदन्ते सांवत्सराः ।
विप्रवदन्ति सांवत्सराः । विप्रवदन्ते वादिनः । विप्रवदन्ति वादिनः । युगपद्विरुद्धं वदन्तीत्यर्थः । व्यक्तवागग्रहण-
मनुवर्तते । ततो व्यक्तवाक्समुक्ताविति नित्ये प्राप्ते विकल्पः । विवाद इति किम् ? सम्प्रवदन्ते साधवः । व्यक्त-
वागित्येव । सम्प्रवदन्ति शकुनयः । समुक्तावित्येव । सम्प्रवदन्ति वादिनः क्रमेण ।

प्रोऽवात् ॥१२।४७॥ अवपूर्वाद्द्विरतेदो भवति । अवगिरते । अवगिरते । अवगिरन्ते । गृणातेरव-
पूर्वस्य प्रयोगो नास्ति । अवादिति किम् ? गिरति । निगिरति ?

प्रतिज्ञाने समः ॥१२।४८॥ प्रतिज्ञानमभ्युपगमः प्रतिज्ञानेऽर्थे सम्पूर्वाद्द्विरतेदो भवति । अनेकान्ता-
त्मकं वस्तु सङ्गिरते । शतं सङ्गिरते । प्रतिज्ञान इति किम् ? सङ्गिरति ।

उच्चरोऽधेः ॥१२।४९॥ उत्पूर्वाच्चरतेरधेदो भवति । गुरुवचनमुच्चरते । उक्तम्य चरतीत्यर्थः ।
अधेरिति किम् ? धूम उच्चरति । उद्ध्वं गच्छतीत्यर्थः ।

समो भया ॥१२।५०॥ सम्पूर्वाच्चरतेर्भान्तेन योगे दो भवति । रथेन संचरते । अश्वेन संचरते ।
भान्ते प्रयुक्ते दो भवति, न तु गम्यमाने । भायुक्तादिति किम् ? त्रील्लोकान् संचरति जिनधर्मः । अत्र स्वात्मनेति
करणं गम्यमानम् । “दाणश्च सा चेदवर्थेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्” [वा०] सम्पूर्वाद्दाणो भायोगे दो भवति
सा चेदवर्थे भा । इदमेव ज्ञापकमशिष्टव्यवहारे भाऽपि भवतीति । दात्या संप्रयच्छते । वृषल्या संप्रयच्छते
कामुकः । सम इति संबन्धे ता । तेन प्रशब्देन व्यवधानं न भवति । अवर्थ इति किम् ? पाणिना सम्प्रयच्छति ।
नेदं वक्तव्यम् । कर्मव्यतिहारे दः । सहार्थे च भा द्रष्टव्या ।

स्वीकृतावुपायमः ॥१२।५१॥ पाणिग्रहणमविरोधो वा स्वीकृतिः । उपपूर्वाद्यमः स्वीकृतावर्थे दो
भवति । कन्यामुपयच्छते । भार्यामुपयच्छते । स्वीकृताविति किम् ? परभार्यामुपयच्छति ।

श्रुस्मृदृशः सनः ॥१२।५२॥ श्रु-स्मृ-दृश-इत्येतेभ्यः सन्नन्तेभ्यो दो भवति । श्रुश्रूषते शास्त्रम् ।
सुस्मृषते पूर्ववृत्तम् । दिदृक्षते देवम् । श्रुदृशिभ्यामकर्मकावस्थायां “समो गम्प्रच्छि०” [१२।२४] इत्यादिना
दो विहितस्तत्र “सनः पूर्ववत्” [१२।२८] इत्येव दः सिद्धः सकर्मकार्थमिदम् । स्मरतेऽप्राप्ते विधानम् ।

ज्ञः ॥१२।५३॥ जानातेः सन्नन्तात् दो भवति । जिज्ञासते धर्मम् । “ज्ञोऽपह्नवे” [१२।४०]
“धेः” [१२।४१] “संप्रतेऽस्मृतौ” [१२।४२] इति जानातेदो विहितः । तथा कर्त्राये फले “ज्ञोऽगोः”
[१२।७१] इत्यत्र पूर्ववत्सन इति सिद्धस्ततोऽन्यत्रेदं वचनम् ।

१. तथेति शेषः । २. -प्यमाना वद—अ०, ब०, स० । ३. ‘गोष्ठे विवदन्ते’ अ० पुस्तके नास्ति ।
४. -ति सांवत्सरः । व्यक्त—अ० । ५. वाप्यः ब०, स०, सु० । ६. सङ्गिरन्ते सु० । ७. -रते । कुटुम्ब-
मुच्चरते । उक्तम्य—अ०, ब०, स० ।

नानोः ॥१।२।५४॥ अनुपूर्वाज्जानातेः सन्नन्तादो न भवति । पुत्रमनुजिज्ञासति । भृत्यमनुजिज्ञासति । सकर्मकादिति वक्तव्यम् [वा०] इह मा भूत् । अनुजिज्ञासते मनसा । नो वक्तव्यम् । पूर्वेण प्रातस्यायं प्रतिषेधः । पूर्वेण च सकर्मकादेव सन्नन्तादो विहितः । घेस्तु “सनः पूर्ववत्” [१।२।५८] इति दः । अनोरिति किम् ? पुत्रं जिज्ञासते ।

प्रत्याङ्श्रुचः ॥१।२।५५॥ नेति वर्तते । प्रति आङ् इत्येवम्पूर्वात् शृणोतेः सन्नन्तादो न भवति । प्रतिशुश्रूषति । आशुश्रूषति शास्त्रम् । “श्रुस्मृदशः सनः” [१।२।५२] इति प्रातस्यानेन प्रतिषेधः । सनिर्देशः समर्थार्थः । सामर्थ्यञ्च धोर्गिना । तेनेह न प्रतिषेधः । देवदत्तं प्रतिशुश्रूषते ।

शदेर्गात् ॥१।२।५६॥ नेति निवृत्तमसम्भवात् । गनिमित्तभूतः । शदिरूपचाराद्रः । शदेर्दोषविषयादो भवति । शीयते । शीयेते । शीयन्ते । “पाघ्रा” [१।२।३६] आदिना शीयादेशः । गादिति किम् ? शत्स्यति । अशत्स्यत् । शिशत्सति ।

मुडो लुङ्लिटोश्च ॥१।२।५७॥ म्रियतेर्लुङ्लिटोर्गपरान्न दो भवति । अमृत । मृपीष्ट । आशिषि लिङ् । “उः” [१।१।८६] इति सिलिङोः क्त्वम् । गपरात् खल्वपि । म्रियते । म्रियस्व । “रिङ् यग्लिङ्शे” [१।२।१३७] इति रिङादेशः । डिच्चादेव दे सिद्धे नियमार्थमिदमन्यत्र दो न भवति । मरिष्यति । अमरिष्यत् । ममार ।

सनः पूर्ववत् ॥१।२।५८॥ पूर्वेण तुल्यं वर्तते इति पूर्ववत् । पूर्वत्वञ्च प्रत्यासत्तेः । सनः पूर्वो यो धुस्तद्व सन्नन्तादो भवति । येभ्यो धुभ्यो येन विशेषणेन दो विहितस्तेभ्यः सन्नधिकेभ्योऽपि दो भवतीत्यर्थः । यथा “अनुदात्तो दोः” [१।२।६] इति । शेते । आस्ते । एवं सन्नन्तादपि शिशयिषते । आसिसिषते । निविशेषणेन “निविशः” [१।२।११] निविशते । निविशन्ते । अर्थविशेषेण “गन्धनाः” [१।२।२७] आदिना उत्कुरुते । अयमिमममुच्चिकीर्षते । उभयविशेषेण “ज्योतिरुद्गताबाडः” [१।२।३६] आक्रमते । आचिक्रंसते । “स्नोर्दार्थात्” [१।१।१११] “क्रमः” [१।१।११२] इतीदृशप्रतिषेधः । कारकविशेषेण “ज्ञोऽपह्वे” [१।२।४०] “घेः” [१।२।४१] । सर्पिषो जानीते । सर्पिषो जिज्ञासते । इह लुगुप्सते मीमांसते इति गुप्प्रकृतेरवयवस्यानुदात्तेत्करणं सन्नन्तषमुदायस्य विशेषेणामिति दः सिद्धः । यदेवं गोपायत्यादावपि स्यात् । कर्तव्योऽत्र यत्नः । पूर्ववदिति किम् ? शिशत्सति । मुमुर्षति । अत्र दनिमित्तं नास्ति ।

आम्बत् तत्कृजः ॥१।२।५९॥ आम्बग्रहणेन यस्मादाम् विहितस्तस्य ग्रहणम् । आम इव आम्बत् । तस्य कृज् तत्कृज् । यस्मादाम् तस्येव धोस्तत्कृजो दो वेदितव्यः । ईहाञ्चके । ईक्षाञ्चके । लिटि परतः “सरोरिजादेः” [२।१।३२] इत्याम् । “आमः” [१।१।१४६] इति परस्योप् । तस्य कृत्वात्मत्वे सति स्वादिविधिः । “सुपो केः” [१।१।१५०] इति तस्योप् । “लिङ्वत् कृजि” [२।१।३६] इत्यनुप्रयोगस्य करोतेरनेन दः । विधिर्नियमश्चात्रेभ्येते । पूर्ववदिति वर्तते । अकर्त्राप्ये फले पूर्ववद्दो भवतीति विधिः । कर्त्राप्ये फले आम्बदेव दो भवति । तेन दाहस्यैवामन्तस्य प्रयोगे दो भवतीति नियमादिह न भवति । उदुम्भाञ्चकार । तद्ग्रहणं किम् ? आमन्तानुप्रयोगस्य ग्रहणं यथा स्यादिह मा भूत् । ईहते । करोतीति कृज्ग्रहणं किमर्थम् ? करोतेरेव यथा स्यादिह मा भूत् । ईक्षामास । ईक्षाम्बभूव । इह कृज्ग्रहणादन्यनिरासार्थाज्जायते “लिङ्वत्कृजि” [२।१।३६] इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणं “कृम्बस्तिथोगे” [४।२।५५] इत्यत्र आरभ्य “कृजो द्वितीय” [४।२।६२] इति अकारेण ।

युजोऽयञ्जपात्रे गेः ॥१।२।६०॥ अकर्त्राप्यफलार्थोऽयमारम्भः । युजेर्गिपूर्वादो भवत्ययञ्जपात्रविषये ।

१. “आसिसिषते” इति अ. पुस्तके नास्ति । २. विशेषकमिति अ०, ब०, स० । ३. “अनुदात्तेत्व-लक्षणो दोऽनित्यः” इति परिभाषारूपो यत्नः ।

प्रयुङ्क्ते । वियुङ्क्ते । नियुङ्क्ते । अयज्ञपात्रे इति किम् ? द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । गेरिति किम् ? युनक्ति । “युज समाधौ” इत्यस्यानुदात्ते त्वादग्रहणम् ।

उदः ॥१२।६१॥ उत्पूर्वाद्य जेरयज्ञपात्रे दो भवति । उद्युङ्क्ते । नियमोऽयं हलन्तेषूद् एव नान्य-
स्मात् । निर्युनक्ति । दुर्युनक्ति । संयुनक्ति ।

संक्षोः ॥१२।६२॥ सम्पूर्वात् क्षणवो दो भवति । संक्षणुते । संक्षणुवते । संक्षणुवते शस्त्रम् ।

भुजोऽदौ ॥१२।६३॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवाददावित्यर्थग्रहणम् । भुजेरवर्थवर्तमानादो भवति । भुङ्क्ते । भुञ्जते । भुञ्जते । अद्यथासम्भवात्तौदादिकस्य भुजेरग्रहणम् । निभुजति पाणिम् । अदाविति किम् ? मुनक्ति वसुधां भरतः । पालयतीत्यर्थः ।

रोभीस्मेहेतुभये ॥१२।६४॥ एयन्ताभ्यां भी स्मि इत्येताभ्यां हेतुभयेऽर्थे दो भवति । “तद्योजको हेतुः” [१।२।१२६] इति हेतुः । तस्य भयशब्देन भावसाधनेन “का भीभिः” [१।३।३२] इति षसः । भयग्रहणेन विस्मयोऽपीह लक्ष्यते । मुण्डो भीषयते । “ईतः षुङ् नित्यम्” [४।३।४६] इति षुङ् । मुण्डो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते । “स्मिङः” [४।३।५०] इत्यात्वम् । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैर्न भाययति । वाचा विस्माययति । अकर्त्राण्यफलार्थोऽयमारम्भः ।

वञ्चने गृध्रवञ्चे ॥१२।६५॥ शेरिति वर्तते । वञ्चनं विसंवादनम् । गृधि वञ्चि इत्येताभ्यां एयन्ता-
भ्यां वञ्चनेऽर्थे दो भवति । माणवकं गर्दयते । माणवकं वञ्चयते । विसंवादयतीत्यर्थः । वञ्चन इति किम् ? श्वानं गर्दयति । काङ्क्षामस्योत्पादयतीत्यर्थः । अहिं वञ्चयति । गमयतीत्यर्थः ।

लियोऽधाष्यसम्मानने च ॥१२।६६॥ शेरिति वर्तते । न धाष्यमधाष्यं शालीनीकरणम् । सम्माननं पूजनम् । लिनातेर्लीयतेश्च एयन्तादधाष्यसम्माननयोर्वञ्चने च वर्तमानादो भवति । अधाष्यं—
श्येनो वर्तिकामपलापयते । अभिमवतीत्यर्थः । सम्मानने—जटभिरालापयते । हेतौ भा । आत्मानं पूजयती-
त्यर्थः । वञ्चने च । कत्स्वामुल्लापयते । प्रलम्भयतीत्यर्थः । “विभाषा लियोः” [४।३।४४] इति व्यवस्थि-
तविभाषाश्रयणादिषु त्रिषु नित्यमात्वम् । अधाष्यदिष्विति किम् ? बालकमुल्लापयति ।

कृजो मिथ्यायोगेऽभ्यासे ॥१२।६७॥ शेरिति वर्तते । अभ्यासो गुणनिका । करोतेत्यन्तान्मि-
थ्याशब्दयोगेऽभ्यासेऽर्थे दो भवति । पदं मिथ्या कारयते । स्तुतिं मिथ्या कारयते । सदोषं पुनः पुनरुच्चारय-
तीत्यर्थः । कृज इति किम् ? पदं मिथ्या वाचयति । मिथ्यायोग इति किम् ? स्तोत्रं सुष्ठु कारयति । अभ्यास
इति किम् ? सकृत्पदं मिथ्या कारयति । एकवारमुच्चारयतीत्यर्थः ।

जस्वरितेतः कर्त्राप्ये फले ॥१२।६८॥ शेरिति निवृत्तम् । उत्तरत्र शिञ्च इति निर्देशात् । जितः
स्वरितेतश्च ये धक्तेभ्यो दो भवति कर्तारमाप्नोति चेत् क्रियाया फलम् । फलं सर्वं क्रियातो भवतीति सामर्थ्यात्
क्रिया लभ्यते । फलग्रहणं मुख्यफलपरिग्रहार्थम् । जितः—पुनोते । लुनीते । कुरुते । स्वरितेतः—पचते । यजते ।
वपते । मुख्यं क्रियाफलमत्र कर्तारमाप्नोति । कर्त्राप्ये फल इति किम् ? पचन्ति भक्तकराः । वपन्ति भृतकाः ।
नात्र मुख्यं फलं किन्तु भृतिरानुप्राञ्जिकं वा फलम् । जस्वरितेत इति किम् ? याति । वाति ।

वदोऽपात् ॥१२।६९॥ अपपूर्वाद्वदतेदो भवति कर्त्राप्ये फले । एकान्तवादमपवदते । कर्त्राप्ये फले
इत्येव । अपवदति । इतः प्रभृति कर्त्राप्ये फले दो वेदितव्यः ।

समुदाङ्गथोऽग्रन्थे ॥१२।७०॥ सम उत् आङ् इत्येवम्पूर्वाग्रमेग्रन्थविषये दो भवति । व्रीहीन्
संयच्छते । आत्मनश्चद् व्रीहयो भवन्ति । भारमुद्यच्छते । पापमायच्छते । अग्रन्थ इति किम् ? उद्यच्छति

चिकित्सां वैद्यः । चिकित्सेति वैद्यकग्रन्थः । कर्त्राप्ये इत्येव । संयच्छति उद्यच्छति आयच्छति परस्य वस्त्रम् । “आडो यमहनः” [११२।२३] इत्यनेन धेर्दविधानमुक्तम् ।

ज्ञोऽगोः ॥११२।७१॥ जानातेरगिपूर्वादो भवति कर्त्राप्ये फले । गां जानीते^१ । अगोरिति किम् ? स्वर्गलोकं प्रजानाति । कर्त्राप्ये फले इत्येव । परस्य गां जानाति ।

णिचः ॥११२।७२॥ णिजन्ताद्वा भवति कर्त्राप्ये फले । कटं कारयते । ओदनं पाचयते । लक्ष्नेः^२ स्वरितैकरणाज्जायते हेतुमण्णिचो ग्रहणमिदम् । कर्त्राप्ये फल इत्येव । परस्य कटं कारयति ।

पादभ्याङ्ग्यमाङ्ग्यसपरिमुहरुचिन्नुद्धेट्वद्वसः ॥११२।७३॥ णिच इति वर्तते । पा दमि आङ्ग्यम आङ्ग्यस परिमुह रुचिन्नुद्धेट्वद्वस इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यः कर्त्राप्ये फले दो भवति । पाययते । दमयते । आयामयते । “यमोऽपरिवेषणे” इति मित्सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रो न भवति । आयासयते । परिमोहयते । रोचयते । नर्तयते । धापयते । वादयते । वासयते । पाघेदोरद्यर्थत्वान्नतिवद्योश्चल्यर्थत्वात् “चक्ष्यद्यर्थात्” [११२।८३] इति मं प्रातम् । अन्येषाम् “अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [११२।८५] इति । तत आरम्भः ।

वा वाग्गम्ये ॥११२।७४॥ वागिति नेदं पारिभाषिकस्य “ईपाऽत्र वाक्” [१११।७६] इत्यस्य ग्रहणं किं तर्हि वाक्छब्दः । पदान्तरमित्यर्थः । वाग्गम्ये कर्त्राप्ये फले वा दो भवति । स्वं धान्यं पुनीते । स्वं धान्यं पुनाति । षड्भियोगैर्नित्यं दे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

मम् ॥११२।७५॥ नियमार्थम् । यस्मान्नं दश्च प्राप्नोति तस्मान्नमेव भवति । पूर्वेण प्रकरणेन प्रकृतिनियमः कृतो दस्त्वनियत इत्युभयप्रातिरस्ति । याति । वाति । प्रविशति । आक्रामति धूमः । डौ द एव भवतीति अर्थनियमो व्याख्यातः । ततः कर्त्तरि मं द्रष्टव्यम् । यदि वा “कर्त्तरि जे” [११२।८] इत्यतः कर्त्तरि तेनेह न भवति । गम्यते । रम्यते ।

परानुकृञः ॥११२।७६॥ परा अनु इत्येवंपूर्वात् कृञो मं भवति । गन्धनादिषु दः प्रातस्तदपवादोऽयम् । पराकरोति । अनुकरोति । कर्त्राप्ये फले ममेव भवति । कस्मान्न नियमः । तत्रापूर्वो विधिरस्तु नियमो वास्तव्य पूर्व एव विधिर्भवति ।

प्रत्यभ्यतिक्षिपः ॥११२।७७॥ प्रति अभि अति इत्येवम्पूर्वात् क्षिपो मं भवति । प्रतिक्षिपति । अभिक्षिपति । अतिक्षिपति । स्वरितेत्वाद्ः प्रातः । एतेभ्य इति किम् ? आक्षिपते ।

प्रवहः ॥११२।७८॥ प्रपूर्वाद्भवतैः कर्त्राप्ये फले मं भवति । प्रवहति^३ ।

मृषः परेः ॥११२।७९॥ परिपूर्वान्मृषेतैर्भवेति भवति । परिमृष्यति । परिमृष्यतः । परिमृष्यन्ति । वहिमपि केचिदनुवर्तयन्ति । परिवहति । परेरिति किम् । मृष्यते परिषहान् साधुः ।

व्याङ्गश्च रमः ॥११२।८०॥ वि आङ् इत्येवम्पूर्वात् परिपूर्वाच्च रमेर्भवेति । विरमति । आरमति । परिरमति । अनुदात्तेत्वाद्ः प्रातः । एतेभ्य इति किम् । रमते । अभिरमते ।

उपात् ॥११२।८१॥ उपपूर्वाच्च रमेर्भवेति । भार्यामुपरमति । पृथग्योग उत्तरार्थः ।

वा धेः ॥११२।८२॥ उपपूर्वाद्भवेर्धेर्वा मं भवति । यावद्भुक्तंमुपरमति । उपरमते । निवर्तत इत्यर्थः । विरिंसतीत्यत्र पूर्वस्य दनिमित्ताभावात् “सनः पूर्ववत्” [११२।८८] इति दो न भवति ।

बुध्युग्रश्जनेङ्प्रुद्र स्रोरोः ॥११२।८३॥ कर्त्राप्ये फले णिच इति दे प्राप्तेऽथमारम्भः । बुध युध नश जन इङ् प्रु द्रु सु इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यो मं भवति । येऽत्राकर्मकास्तेषाम् “अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्” [११२।८५]

१ जानीते । अश्वं जानीते । अगो—अ०, ब०, स० । २. “लक्ष दर्शनाङ्कनयोः” इति धोः स्वरितैक्करणादित्यर्थः । ३. नियमोऽयम् अ०, स० । ४. प्रवहति । प्रवहतः । प्रवहन्ति ।^४ अ०, ब०, स० । ५. “परिषहान्” अ० । ६. “यावद्भुक्तमुपरमति” ब० ।

इति सिद्धे अप्राणिकर्तृकार्थं ग्रहणम् । प्रवत्यादीनामचल्यद्यर्थम् । बोधयति पद्मम् । बोधयति काष्ठानि । नाशयति पापम् । जनयति पुण्यम् । अव्यापयति शास्त्रम् । प्रावयति ग्रामम् । प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयति लोहम् । वितापयतीत्यर्थः । स्त्रावयति तैलम् । स्यन्दयतीत्यर्थः ।

चल्यद्यर्थात् ॥११२।८४॥ षेरिति वर्तते । चलेरर्थः कम्पनम् । अदेरर्थोऽभ्यवहारः । चल्यर्थेभ्योऽद्यर्थेभ्यश्च ध्रुव्यो ग्यन्तेभ्यो मं भवति । चल्यर्थेभ्यः-चलयति । चोपयति । कम्पयति । “कम्पने चलेः” (१) इति मित्सञ्ज्ञायां प्रादेशः । अद्यर्थेभ्यः-निगारयति । भोजयति । आशयति । सर्वत्राद्यर्थकार्यमदेर्नैष्यते । आदयन्ते देवदत्तेन । इह पय उपयोजयते देवदत्तेनेति भक्ष्यार्थाभावान्नं न भवति । सकर्मकार्थमप्राणिकर्तृकार्थञ्च सूत्रम् ।

अणौ धेः प्राणिकर्तृकात् ॥११२।८५॥ अण्यन्तावस्थायां यो धुधिः प्राणिकर्तृकस्तस्मादण्यन्तान् भवति । आस्ते देवदत्तः । आसयति देवदत्तम् । शेते देवदत्तः । शाययति देवदत्तम् । अणाविति किम् ? चेतयमानं प्रयोजयति । चेतयते । ननु च “णिचः” [११२।७२] इत्यत्र हेतुमणिरणो ग्रहणं व्याख्यातम् । अणाविति तस्यायं प्रतिषेधः । तेनात्र मं भवत्येव चेतयतीति । इदं तर्हि प्रत्युदाहरणम् । आरोह्यमाणं प्रयोजयति आरोहयते । अथवाऽणाविति धेर्विशेषणम् । अणौ यो धिस्तस्य ऋणं यथा स्यात् । अन्यथा धिग्रहणे शयन्तविशेषणे इहैव मं स्याच्चेतयमानं प्रयोजयति चेतयति । आसयति इत्यादौ न स्यात् । धेरिति किम् ? कटं कुर्वाणं प्रयोजयति कारयते । प्राणिकर्तृकादिति किम् ? शुष्यन्ति व्रीहयः । शोषयते व्रीहीनातपः । “प्राण्यो-पधिबुद्धेभ्योऽवयवे च” [३।३।१०३] इति पृथगनिर्देशादिह शब्दशास्त्रे वनस्पतिकायाः प्राणिग्रहणेन न गृह्यन्ते ।

क्यपो वा ॥११२।८६॥ क्यषत्ताद्वा मं भवति । वाक्चनसामर्थ्यात् पक्षे दोऽपि भवति । अपटय-टङ्गवति पटपटायति । पटपटायते । “अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच्” [४।२।६१] इति डाच् । “डाचि” इति द्वित्वम् । “औ डाचि नित्यम्” [४।३।८०] इति तकारस्य पररूपत्वम् । टित्वम् । “डाङ्लोहितात्क्यष्” [२।१।११] इति क्यप् । एवमलोहितो लोहितो भवति लोहितायते ।

द्युद्भ्यो लुङि ॥११२।८७॥ कृपूपर्यन्ता द्युतादयः । वेति वर्तते । द्युतादिभ्यो वा मं भवति लुङि परतः । व्यद्युतत् । व्यद्योतिष्ठ । अलुद्यत् । अलोतिष्ठ । मविधिपक्षे “द्युत्पुषादिङित्सर्त्तिशास्त्र्यर्तेमै” [२।१।४८] इत्यङ् । यद्यपि मेऽङ्विधानसामर्थ्यान्मविधिर्लब्धस्तथाप्यनुदात्तेत्करणं लुङोऽन्यत्र सावकाशमिति नित्यं मं स्यादिति विकल्पार्थं वचनम् । लुङीति किम् ? द्योतते । द्युता सहचरिता इतरेऽपि तयोच्यन्त इति बहुवचननिर्देशः ।

स्यसनोवृद्भ्यः ॥११२।८८॥ द्युतादिष्वन्तर्भूता वृतादयः । वृतादिभ्यो वा मं भवति स्ये सनि च सति । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवृत्सति । वर्तिष्यते । अवर्तिष्यत । विवर्तिषते । एवं वृध सृध स्यन्दू इत्येते योज्याः । मविधौ “न वृतादेः” [५।१।१०७] इतीट्प्रतिषेधः ।

लुटि च क्लृपः ॥११२।८९॥ क्लृपेर्लुटि स्यसनोश्च वा मं भवति । कल्प्ता । कल्प्तारौ । कल्प्सारः । कल्प्सति । अकल्प्स्यत् । चिक्लृप्सति । कल्पितारः । कल्पिष्यते । अकल्पिष्यत । चिकल्पिषते । क्लृपेर्लुतादित्वादेव स्यसनोर्विकल्पे सिद्धे चकारेणानुकर्षणमसन्देहार्थम् । क्लृप इति लत्वं किमर्थम् ? ऋकारस्य रेफ-भागस्य रेफग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । क्लृतः । क्लृतवान् । मातृणाम् । पितृणाम् । लत्वं एतच्च सिद्धम् ।

स्पर्द्धे परम् ॥११२।९०॥ स्पर्द्धे परं कार्यं भवति । द्वयोः प्रसङ्गयोरन्यार्थयोरेकस्मिन् युगपदुपनिपाते सङ्घर्षः स्पर्द्धः । “यव्यतो दीः” [११२।९६] “सुपि” [११२।९७] इति दीत्वस्यावकाशः । देवाभ्याम् । वृक्षाभ्याम् । “बहौ ऋत्येत्” [११२।९८] इत्यस्यावकाशः । देवेषु । वृक्षेषु । इहोभयं प्राप्नोति देवेभ्य इति । सूत्र-विन्यासे परमेव भवति । अप्रवृत्तौ पर्याये वा प्राप्ते वचनम् । “कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्” [परि०] इति । यावन्ति

१. पापम् । जनयति पापम् । जन-ब०, स० । २. ‘आदयते’ अ०, ब०, स० । ३. चिक्लृप्सति । कल्पिता । कल्पितारौ । कल्पितारः-अ०, ब०

कार्याणि तावद्वा सूत्रस्य भेद इति विधिर्नियमश्चेदं सूत्रम् । यत्र परस्मिन्कार्ये कृते “पुनः प्रसंगविज्ञानात्” पूर्वं तत्र विधिः । यत्र परमेव कार्यं दृश्यते “सङ्कटगते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [परि०] इति तत्र नियमः । तत्रैवा द्वित्वस्यावकाशः । बेभिद्यते । जेरवकाशः । विचति । वेविच्यते इति परत्वाजौ कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् । “जश्शो शिः” [११११७] इत्यस्यावकाशः । कुण्डानि । “डेसुटोरम्” [१११२४] इत्यस्यावकाशः । यूयं राजानः । इह यूयं गुरुकुलानि इति पर एवाम्भावः । अतुल्यबलयोः स्पष्टो न भवति । उत्सर्गादपवादः परनित्यविचारणे भवेन्नित्यम् । नित्यात्तथान्तरङ्गम् । तस्मादप्यनवकाशं यत् । एकार्थयोरपि नास्ति विरोधः । धोर्विहितास्तव्यादयः पर्यायेण भवन्ति ।

नन्वाध्य आसम् ॥१२।६१॥ नपा निर्दिष्टो बाध्यो भवति आ साधिकारपरिसमाप्ते रित्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । लोके संज्ञासमावेशो दृष्टः इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । शास्त्रेऽपि त्यः कृद् व्य इति । “शेषोऽग एव” [२।४।६४] इत्यवधारणाज्ज्ञापयति इहापि संज्ञासमावेशः स्यादिति यत्नः क्रियते । यत्र नपः समावेश इष्यते तत्र चशब्दोपादानमस्ति । यथा “यश्चैकाश्रये” [१३।४४] इति । वक्ष्यति “प्रो धि च” [१२।६६] विदि^१ । भिदि । “स्के रुः” [१२।१००] । शिति । भिति । नपा निर्दिष्टा धिसंज्ञा स्वसंज्ञया बाध्यते । समावेशो हि अततदादित्यत्र “घौ कच्यनक्वे सन्वत्” [१२।१६०] इति कचपरे^२ घौ परतः सन्वद्भावः प्रसज्येत । अविवज्जदित्यत्र घेर्दात्वं स्यात् । नविति किम् ? बाधव्यः । पुल्लिङ्गा गुवंश पुल्लिङ्गया भसंज्ञया न बाध्यते ।

खौ स्त्र्याख्यौ मुः ॥१२।६२॥ स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ । “मे” [२।२।४] इति नियमादप्राप्तः “सुपि” [२।२।७] इति योगविभागात्कः । यावीकारोकारौ स्त्र्याख्यौ तदन्तं शब्दरूपं मुसंज्ञं भवति । “सुम्मि-
ल्लन्तं पदम्” [१२।१०३] इत्यत्रान्तप्रद्वयमन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधार्थमिह नाश्रीयते “आमीयुवोः” [१२।१६४] इति नियमारम्भात् । व्याविति यणादेशादूकारो द्विमात्रस्तत्साहचर्यादीकारोऽपि द्विमात्रः । ईकारः—कुमारी । गौरी । लक्ष्मीः । ऊकारः—ब्रह्मबन्धूः । वामोरुः । यवागूः । “अण् मोः” [५।२।१०७] इत्यादि मुसंज्ञाकार्यम् । व्याविति किम् ? मात्रे । दुहित्रे । स्त्र्याख्याविति किम् ? हे ग्रामणीः । हे खलपूः । नेमौ स्त्रियमेवाचक्षाते । आख्याग्रहणं किम् ? शब्दार्थे स्त्रीत्वे यथा स्यात् पदान्तरगम्ये मा भूत् । ग्रामण्ये स्त्रियै । खलवे स्त्रियै । उभयलिङ्गानामिष्वसनिप्रभृतीनां शब्दार्थ एव स्त्रीत्वम् । इष्वै असन्त्यै स्त्रियै । तथा गुणशब्दानां पठ्यै स्त्रियै । इदञ्चाख्याग्रहणस्य प्रयोजनम् । कुमारीभिवात्मानमाचरति (कुमारीवाचरति) “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्विप्” इति क्विप् । कुमायै देवदत्ताय । लक्ष्मीमितक्रान्ताय अतिलक्ष्म्यै । प्रागेव मुसंज्ञा वृत्ता तदन्तान्मुकार्यं भवति । इह अतिकुमारये देवदत्ताय । प्रादेशे कृते “अनल्विधौ” [११।५६] इति प्रतिषेधान्मुकार्यं न भवति ।

स्त्री ॥१२।६३॥ स्त्रीशब्दश्च मुसंज्ञो भवति । “आमीयुवोः” [१२।१६४] “वा” [१२।१६५] ङिति प्रश्च [१२।१६६] इति नियमविकल्पयोः सामान्येन पुरस्तादयमपवादः । हे स्त्री । स्त्रीणाम् । स्त्रियै । प्रादेशानुडागमाः सिद्धाः ।

आमीयुवोः ॥१२।६४॥ आमि परत इयुवोः स्थानिनौ खौ स्त्र्याख्यौ मुसंज्ञौ भवतः । सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः, आन्येव मुसंज्ञा नान्यत्र । हे श्रीः । हे भूः । इयुवोरिति किम् ? प्रध्वै । वर्षाभ्यै ।

वा ॥१२।६५॥ वा^१ मुसंज्ञा भवतीत्यामीयुवोः । श्रीणाम् । श्रियाम् । भूणाम् । भ्रुवाम् ।

ङिति प्रश्च ॥१२।६६॥ ख्योयः प्रः स्त्र्याख्य इयुवोश्च स्थानिनौ यौ खौ तेषां ङिति वा मुसंज्ञा भवति । कृत्यै । कृतये । धेन्यै । धेनवे । पदे “स्वसखि” [१२।१७] इति मुसंज्ञा । “सोर्ङिति”

१. ‘ङिति’ अ०, ब०, स० । २.-तदात् । अररक्षदित्य-अ०, स० । ३. कचपरे घौ प-अ० ।

४. ‘आण्मोः’ स० । ५.-डागमाडागमाः सिद्धाः-अ०, ब०, स० । ६. ‘वा च सु-ब०, स० ।

[१२।१०६] एप् । इयुवौ । श्रियै । श्रिये । भ्रुवै । भ्रुवे । स्त्र्याख्यावित्येव । अग्नये । अतिकृतये । अतिश्रिये । अतिभ्रुवे देवदत्ताय । य्वौ य्वोः प्र इति किम् ? मात्रे । दुहित्रे ।

स्वसखि ॥१२।१६७॥ प्रो य्वोरिति वर्तते । य्वोः प्रसुसंज्ञो भवति सखिशब्दं वर्जयित्वा । असखीति प्रतिषेधात् सिद्धौ प्रेति निर्देशाच्चाख्याख्यस्य स्त्र्याख्यस्य च प्रत्येद् ग्रहणम् । अग्नये । वायवे । स्त्र्याख्यश्च यो सुसंज्ञो न भवति तस्य ग्रहणम् । कृतये । धेनवे । सुसंज्ञाविषये “नन्वाध्य आसम्” [१२।११] इति सुसंज्ञा बाध्यते । कृत्याम् । धेन्वाम् । असखीति किम् ? सख्युः । सख्यौ । असखीति पर्युदासोऽयम् । तेन शोभनः सखा सुसखा । अतिसखा । अतिसखेरागच्छति । अतिसखेः स्वम् । सखिशब्दादन्यत्वमस्तीति सुसंज्ञा । मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति वा^२ । य्वोः प्र इत्येव । पित्रे । मात्रे । सुप्रदेशाः “सोर्हित” [५।२।१०६] इत्येवमादयः ।

पतिः से ॥१२।१६८॥ पतिशब्दः स एव सुसंज्ञो भवति । प्रजाप्रतिना । प्रजापतये । पतिरेव स इति कस्मान्न नियमः । एवं हि “द्वन्द्वे सुः” [१३।१८] इति पूर्वनिपातवचनमनर्थकं स्यात् द्वन्द्वे पतिरिति ब्रूयात् । न ह्यन्यस्य से सुसंज्ञासम्भवः । अपि चानेकप्राप्तावेकस्य नियम इति वचनमनर्थकं स्यात् । पठन्तुदुगुतपटव इति । स इति किम् ? पत्या । पत्ये ।

प्रो धि च ॥१२।१६९॥ प्र इति मात्रिकस्य संज्ञा । प्रो घिसञ्ज्ञो भवति । भेत्ता । बोद्धा । घीति नपा निर्देशः किमर्थः ? पुल्लिङ्गया रुसञ्ज्ञया बाधा यथा स्यात् । प्रयोजनमग्रे वक्ष्यते । चशब्दः सञ्ज्ञान्तर-समावेशार्थः । धि च भवति यच्चान्यत्प्राप्नोति तच्च भवति । इह प्रविनय्य गत इति सुसंज्ञासमावेशः । विश्च ना च विनरौ तावाचष्टे णिच् । “णाविष्टवन्मृदः” [४।४।१४६] इति इष्टवद्भावः । टिक्म् । प्रशब्देन योगः । त्वः प्यादेशे णिखे प्राप्ते घिसंज्ञायां सत्यां “प्ये घिपूर्वात्” [४।४।१४६] इति योरयादेशः सिद्धः । सुसंज्ञायाञ्च पूर्वनिपातः । अन्यथेकारोकारभ्यामन्यत्र सावकाशा घिसंज्ञा इकारोकारविषयत्वादनवकाशया सुसंज्ञया बाध्येत ।

स्फे रुः ॥१२।१७०॥ प्र इति वर्तते । स्फसञ्ज्ञे परतः प्रो रुसञ्ज्ञो भवति । कुण्डा । हुण्डा । स्वर्धा । नुम्विधातुपदेशाश्रयत्वात्प्रागेव नुम् । “सरोर्हलः” [२।३।८८] इति अस्यः । “अजाद्यतष्टाप्” [३।१।४] ।

दीः ॥१२।१७१॥ दीरिति द्विमात्रस्य सञ्ज्ञा । दीश्च रुसञ्ज्ञो भवति । ईहाञ्चक्रे । लिटि परतः “सरोरिजादेः” [२।१।३२] इत्याम् । शेषम् “आम्बत्तल्लजः” [१२।१८६] इत्यत्रोक्तम् । ररिति पुल्लिङ्ग-निर्देशः किमर्थः ? ईकारोकारविषयया सुसंज्ञया बाधा मा भूत् । द्वयोः समावेशो हे परमवाणीक इत्यत्र “अन्मोः” [४।२।१४३] इति सुसंज्ञाश्रयः कप् । रुसञ्ज्ञाश्रयो “अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः” [१३।१४४] इति पविधिश्च सिद्धः ।

यस्ये तदादि गुः ॥१२।१७२॥ यो हि यस्मात्त्यः स तस्येत्युच्यते । यस्य धोर्मदो वा त्यः यत्त्यस्तस्मिन् परतस्तदादिशब्दरूपं गुसञ्ज्ञं भवति । केवलायाः प्रकृतेर्व्यपदेशिवद्भावाच्चदादित्वम् । दोग्धि । जुहोति । करिष्यति । कुण्डानि । गुकार्यमेविडागमो नुमागमश्च । जसि “नोडः” [४।४।१४] इति दीत्वञ्च । यदिति सञ्ज्ञानिर्देशार्थम् । अन्यथा तदादीति न लभ्येत तथा च त्ये सति पूर्वमात्रस्य गुसञ्ज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः ? इह न्यविशत प्राकरोदिति सगोरडागमः स्यात् । यत्त्य इति यच्छब्देन त्यस्य विशेषणं किम् ? अस्यापत्यमिः । देवदत्त इं पश्येत्यत्र आदेरैप् स्यात् । अखस्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमिति चेत् योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तं प्रति स्थानिवद्भावः । आदिष्टाच्चैषोऽचः पूर्वो निष्पन्नस्य पदस्य पदान्तरेणाभिसम्बन्धात् । यत्त्य इति ईमिर्देशः

१. “निर्देशात्” इत्यस्य अनुवृत्तेः इत्यर्थः । प्रसङ्गस्वारस्यात् । २. “वा” अनित्यमित्यर्थः । ३. नोड इत्यस्मिन्ननुवर्तमाने “वेऽकौ” इति दीः ।

किमर्थः ? यत्त्यस्तदादि गुरित्युच्यमाने यस्य त्यः सम्भवति तस्यान्यस्मिन्नपि शब्दे गुसंज्ञा स्यात् । तथा च स्त्रियै इदं स्वर्यं सुवे इदं भव्यम् । इयुयौ प्रसज्येयाताम् । तदादिवचनं किमर्थम् ? यन्त्रानेकस्यः सम्भवति तत्र तदादेर्गुसंज्ञा यथा स्यात् । करिष्यति । कुण्डानि । स्यान्तस्य अनुमकस्य च गुसंज्ञायां “यज्यतो दीः” [१२।१६६] “धेऽकौ” [४।४।६] इति दीत्वं सिद्धम् । गुरिति पुल्लिङ्गनिर्देशो भपदसंज्ञासमावेशार्थः । इह बाभ्रव्य इति गुसंज्ञाश्रय आदेरैप् । भसंज्ञाश्रयः “कद्रवो रोऽस्वयम्भुवः” [४।४।१३४] इति ओकारः । इह च यजुः परमस्य याजुष्कः । गुसंज्ञाश्रय आदेरैप् “स्वादावधे” [१२।१०६] इति पदत्वे पदसंज्ञाश्रयाणि रिसत्वषत्वानि सिद्धानि । नपुंसकलिङ्गा चेद् गुसंज्ञा होतुरपत्यं हौत्र इत्यत्र सावकाशा सती पदसंज्ञया बाध्यते ।

सुम्भिडन्तं पदम् ॥१२।१०३॥ “नः क्ये” [१२।१०४] इति नियमारम्भात् सुभिति प्रत्याहार-ग्रहणं नेपो बहोः । मिङा साहचर्याद्वा । सुवन्तं मिङन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति । सूफकारः पचति । पदसंज्ञाश्रयो रित्वादिविधिः । खरि सादेशविधिश्च भवति । ननु सुम्भिडौ ल्यौ । ल्यप्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहण-मित्यन्तग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविध्यभावज्ञापनार्थम् । तेन दृषतीर्णेत्यत्र क्लान्तस्य “कक्त-वत्” [१।१।२८] इत्यनेन तसंज्ञा नास्तीति “द्रान्तस्य तो नः” [५।३।५६] इत्येष विधिर्दृष्टकारापेक्ष-या न भवति । इह च कुमारिगौरितरा “तादी ऋः” [४।१।११७] इत्यनेन तरान्तस्य ऋसंज्ञा नास्तीति “ऋरूप०” [४।३।१५५] इत्यादिना प्रादेशो न भवति । पदमिति नपा निर्देशो भसंज्ञया बाधा यथा स्यादित्येवमर्थः । अन्यथा राज्ञः राजन्य इत्यत्र भसंज्ञाश्रयमनोऽखं पदसंज्ञाश्रयं नखञ्च स्यात् । पदप्रदेशाः “पदस्य” [५।३।१४] इत्येवमादयः ।

नः क्ये ॥१२।१०४॥ क्य इति क्यचक्यङ्क्यधामविशेषग्रहणम् । क्ये परतो नान्तस्य पदसंज्ञा भवति । राजानमिच्छति राजीयति । राजेवाचरति राजायते । अचर्म चर्म भवति चर्मायते । पदत्वे सति नखं सिद्धम् । “नखं सुब्बिधिं कृत् कु” [५।३।२८] इति नियमादन्यत्र सिद्धमिति “क्यचि” [५।२।१४२] इतीत्वं “दीकृद्गो” [५।२।१३४] इति दीत्वञ्च भवति । “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति पदत्वे सिद्धे नियमार्थ-मिदम् । नान्तमेव क्ये पदसंज्ञं भवति नान्यत् । वाच्यति । शुच्यति” । कुत्वं न भवति । नान्तं क्य एवेति विप-रीतो नियमो नाशङ्कनीयः । “अकौ” [१।३।३०] इति कौ नखप्रतिषेधात् ज्ञायते पदत्वे हि नखप्राप्तिः ।

सिति ॥१२।१०५॥ सिति त्वे परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति । भवतोऽयं भवदीयः । “भवतष्ठण्डुसौ” [३।२।९१] इति छुत् । “यचि भः” [१२।१०७] इति पदसंज्ञायां वाधितायां पुनरारम्भः । एवमूर्णा अस्या-स्तीति ऊर्णायुः । “ऊर्णाहंशुभंभ्यश्च युस्” [४।१।६२] इति युस् । “यस्य ड्याञ्च” [४।४।१३६] इति खं न भवति । अहंयुः । अहंयुः । शुभंयुः । शुभंयुः । “वा पदान्तस्य” [१।४।१३३] इति परस्त्विकल्पः ।

स्वादावधे ॥१२।१०६॥ अघ इति प्रतिषेधाद्वाया एकस्य सोर्ग्रहणम् । स्वादौ धवर्जिते परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति । राजभ्याम् । राजभिः । राजत्वम् । राजता । अघ इति किम् ? राजानौ । राजानः । यद्येवं राजे-त्यत्रापि प्रतिषेधः स्यात् । नैवं शङ्क्यम् । अघ इति पयुदासोऽयं धादन्यत्र पदसंज्ञा विधीयते । धे तु पूर्वेषु भविष्यति । यद्येवं सुवाचौ सुवाच इत्यत्रान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं प्राप्नोति । अस्तु तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधः । राजेत्यत्र “अकौ” [१।३।३०] इति प्रतिषेधात् ज्ञायते सौ पदसंज्ञा भवति । एवमप्यध इति अनन्तरस्य स्वादौ विधेः प्रतिषेधोऽयं सुवाचौ सुवाच इत्यत्र पूर्वेषु प्राप्तिरस्त्येव । कर्तव्योऽत्र यत्नः । “उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ त्यलक्षणं न भवतीति ।

यचि भः ॥१२।१०७॥ स्वादावध इति वर्तते । यकारादावजादौ च स्वादौ धवर्जिते पूर्वं भसंज्ञं भवति । गार्ग्यः । वात्स्यः । दाक्षिः । प्लाक्षिः । पूर्वेषु पदसंज्ञा प्राप्ता भत्वाद् “यस्य ड्याञ्च” इत्यखम् । “नमोऽङ्गिरो-

१. अवे अ०, ब०, स० । २. भवर्थम्-अ०, ब०, स० । ३. इति नखवि-ब०, स० ।

४. न सम्भ-अ० । ५. च्यति अ०, स० ।

मनुष्या वत्युपसङ्ख्यानम् । [वा०] नमसा तुल्यं वर्तते इति नमस्वत् । अङ्गिरस्वत् । मनुष्वत् । वृष्णो वस्वश्चयोर्ध्वोर्मत्संज्ञेति केचित् । वृष्णो वसुः वृषणवसुः । वृषणश्च ।

मत्वर्थे स्तौ ॥१२।१०८॥ मत्वर्थे ल्ये परतः सकारान्तं तकारान्तञ्च भत्संज्ञं भवति । तपस्वी । यशस्वी । “विन्नस्मायामेधात्तजः” [४।१।४७] इति विन् । मतोर्विशेषणत्वेऽपि मत्वर्थग्रहणेन ग्रहणम् । यथा देवदत्तशालापण्डिता आनीयन्तामित्युक्ते देवदत्तो विशेषणभूतोऽपि यदि पण्डितः सोऽपि आनीयते । भास्वान् । विद्युत्वान् । मरुत्वान् । स्ताविति किम् ? राजवद् गृहम् ।

कारके ॥१२।१०९॥ कारक इत्ययमधिकारः । यदित उर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कारक इत्येवं तद्वेदितव्यम् । कारकं निर्वर्तकं हेतुर्वा । कस्य ? क्रियायाः । का च क्रिया ? ध्वर्थः । कारक इति निर्धारणलक्षणोऽयमीप् । जात्यपेक्षैकवचनम् । सौत्रो वा निर्देशः । कारकेषु यद्भ्रुवं तदपादानं, यः कर्मणोपेयोऽर्थः स सम्प्रदानमित्यादि योज्यम् । वदयति “ध्यपाये ध्रुवमपादानम्” । [१।२।११०] ग्रामादागच्छति । स्वर्गादवरोहति । अपाय-क्रियाया ग्रामोऽपि निर्वर्तकः देवदत्तोऽपि । ध्रुवत्वाद् ग्रामोऽपादानम् । कारक इति किम् ? वृत्तस्य पूर्णं पतति । कुड्यस्य पण्डः पतितः । अपायक्रियाया निर्वर्तकत्वेन वृत्तः कुड्यश्च न विवक्षितम् । “अकथितञ्च” [१।२।१२१] अपादानादिभिरकथितं च कारकं कर्मसंज्ञं भवति । आचार्यं धर्मं पृच्छति । कारक इति किम् ? आचार्यस्य शिष्यं धर्मं पृच्छति । आचार्यस्य शिष्यविशेषणत्वादकारकत्वम् । यदा कारकश्चाकारकश्च सर्वमकथितमप्रतिपादितमित्यर्थस्तदेवं प्रत्युदाहरणम् । असङ्कीर्तितमिति व्याख्याने कारकमेव लभ्यते । प्रदेशेषु कारकाभिधानेऽपादानादीनां ग्रहणम् ।

ध्यपाये ध्रुवमपादानम् ॥१२।११०॥ धीर्बुद्धिः । प्रातिपूर्वको विश्लेषोऽपायः । धिया कृतो अपायो ध्यपायः । धीप्रातिपूर्वको विभाग इत्यर्थः । धीग्रहणे ह्यसति कायप्रातिपूर्वक एवापायः प्रतीयते धीग्रहणेन सर्वः प्रतीयते । ध्रुवमविचलम्, अवधिभूतं वा । ध्यपाये साध्ये यद् भ्रुवं तदपादानसंज्ञं भवति । ग्रामादागच्छति । ग्रामो देवदत्तं नानुपतति इति ध्रुवः । अथवा अपायात्प्रागपि ग्रामः । अपायेऽपि ग्राम एव । देवदत्तस्त्वपाये ग्रामग्रहणेन न गृह्यत इति ग्रामो ध्रुवः । एवमश्वाद् धावतः पतितः । गच्छतः सार्थादवहीनः । देवदत्तो जिनदत्तादागतः । मेधौ परस्परतोऽपसर्पतः । शृङ्गाच्छरो जायते । गङ्गा हिमवतः प्रभवति । इह ग्रामान्नागच्छतीति पूर्वमपादानसंज्ञा पश्चात्प्रतिषेधः । धियाऽपायस्य विशेषणं किम् ? अधर्माजुगुप्तम् । प्रेक्षापूर्वकारी दुःखहेतुरधर्म इति बुद्ध्या संप्राप्य ततो निवर्तत इति अपादानत्वम् । एवमधर्माद्विरमति प्रमाद्यति । व्याघ्राद्विभेति । चौरेभ्यश्चायते । अध्ययनात् पराजयते । न शक्नोतीत्यर्थः । यवेभ्यो गां वारयति । अकार्यात्सुतं वारयति । कृपादन्धं वारयति । उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते । भयं सखिन्य निवर्तत इत्यर्थः । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति । उपाध्यायादधीते । उपाध्यायाच्छृणोति । अविवक्षायां नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । ध्रुवमिति किम् ? अरण्ये विभेति । नात्र भयं विधिभूतमरणं किं तर्हि चौराः । नपा निर्देशः किमर्थः । वदयमाणाभिः संज्ञाभिर्वाधा यथा स्यात् । धनुषा विध्यति । पुलिङ्गाया करणसंज्ञा बाधात् । कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते । पुलिङ्गाधिकरणसंज्ञैव । धनुर्विध्यतीति कर्तृसंज्ञा । इह गां दोग्धि पय इति परत्वात्कर्मसंज्ञा । अपादानप्रदेशाः “काऽपादाने” [१।१।३७] इत्येवमादयः ।

कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् ॥१२।१११॥ उपपूर्वादिङो ये कृते उपेय इति भवति । कर्मणा य उपेयोऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । उपाध्यायाय गा ददाति । देवाय बलिं प्रयच्छति । कर्मणेति किम् ? गवा उपाध्यायमुपैति । सम्प्रदानमित्यन्वर्थसंज्ञाकरणात् ददात्यर्थानां धूनां द्रव्येण कर्मणा उपेयोऽर्थः सम्प्रदानमिति । तेनेह न भवति । देवदत्तस्य वस्त्रं दर्शयति । मित्रस्य कार्यं कथयति । अजां नयति ग्रामम् । सम्यक् प्रदानं सम्प्रदानमिति चाश्रितम् । तेनेह न भवति । घ्नतः पृष्ठं ददाति । रजकस्य वस्त्रं ददाति । शशो दरुडं ददाति । इह तर्हि कथं आद्याय निगृह्यते । युद्धाय सन्नहति । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः ? तादर्थ्यात् सिद्धम् । अथवा

कथञ्चिद्विवक्षितभेदाभिः सन्दर्शनप्रार्थनाऽध्यवसायक्रियाभिः क्रियापि व्याप्या सती कर्मतयोपेयत्वात् सम्प्रदानत्वम् । तैनेहापि भवति । रोचते देवदत्ताय मोदकः । स्वदते देवदत्ताय मोदकः । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । मित्राय कथयति । मित्राय क्रुध्यति । मित्राय द्रुह्यति । मित्राय ईर्ष्यति । मित्रायासूयति । मित्राय कुप्यति । कोपादन्यत्र क्रुधादीनां प्रार्थनादिभिः क्रियाविशेषैर्भेदो न विवक्षित इति क्रियायाः कर्मव्यपदेशो नास्ति । भार्यामीर्ष्यति । औषधं द्रष्टि । शप उपलम्भनेऽर्थे भेदः । देवदत्ताय शपते । हुङ् आत्मनिहवे भेदः । मित्राय हुते । अन्यत्र मित्रं हुते । राधी-
क्ष्येदेवालोचने । पुत्राय राध्यति । पुत्राय ईक्षते । अन्यत्र पुत्रस्य राध्यति । पुत्रमीक्षते । यत्र च प्रत्याङ्पूर्वः शृणोतिरभ्युपगमे वर्तते । देवदत्ताय प्रतिशृणोति । अनुप्रतिपूर्वश्च गृणातिर्यदि कथयितुः प्रोत्साहने वर्तते । आचार्याय अनुगृणाति । आचार्याय प्रतिगृणाति । इह भेदाभेदविवक्षा । देवदत्ताय श्लाघते । देवाय प्रणमति । गत्यर्थानां चेष्टायामसम्प्राप्तावुभे [वा०] । यथा ग्रामाय गच्छति । ग्रामं गच्छति । ग्रामाय व्रजति । ग्रामं व्रजति । चेष्टायामिति किम् ? मनसा पांठलिपुत्रं गच्छति । असम्प्राप्ताविति किम् ? पन्थानं गच्छति । भार्या गच्छति । अन्यत्राभेदविवक्षैव । कटं करोति । ओदनं पचति । शास्त्रं पठति । “सग्योश्च क्रुधिद्रुहोः” [वा०] मित्रमभिक्रुध्यति । मित्रमभिद्रुह्यति । “सिद्धिरनेकान्तात्” [११११] इत्यतो भेदाभेदोभयविवक्षा प्रत्येतव्या । परेषामपि प्रतिपत्तिगौरवं तुल्यम् । क क्रियाया व्याप्यत्वमिष्टं क च नेति दुर्बोधम् ।

धाररुत्तमणः ॥१२॥११२॥ ऋणे उत्तम उत्तमर्णः । निपातनात् सविधिः । धारयतेरुत्तमणौ योऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । देवदत्ताय गां धारयति । उत्तमर्ण इति किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति दरिद्रः ।

परिक्रयणम् ॥१२॥११३॥ परिक्रीयतेऽनेनेति परिक्रयणम् ; तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । शताय परिक्रीतः । सहस्राय परिक्रीतः । साधकतमत्वात् करणसंज्ञा प्राप्ता ।

साधकतमं करणम् ॥१२॥११४॥ क्रियायामतिशयेन साधकं साधकतमम्, तत्कारकं करणसंज्ञं भवति ।

“दानेन भोगं दयया सुरूपं ध्यानेन मोक्षं तपसेष्टसिद्धिम् ।

सत्येन वाक्यं प्रशमेन पूजां वृत्तेन जन्मायमुपैति मर्त्यः ॥”

तमग्रहणं किमर्थम् ? यथा रूपप्रस्तावे अभिरूपाय कन्या देवेत्युक्तेऽभिरूपतमायेति । एवमिहापि कारकाधिकारादकारके संज्ञावृत्तिर्नास्तीति ‘साधकं करणम्’ इत्युक्तेऽपि साधकतममिति गम्यते तदेतत् तमग्रहणं शापकमन्यत्र-तमग्रहणेन विना प्रकर्षो न लभ्यते । तेना “आधारोऽधिकरणः” [१११११६] इत्यनेन मुख्यामुख्ययोरेधिकरणत्वं सिद्धम् । तिलेषु तैलम् । गङ्गायां घोषः । साधकतमस्याविवक्षायां स्वातन्त्र्यादनुर्विध्यतीति भवति । पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? परिक्रयणमित्यनवकाशया सम्प्रदानसंज्ञया बाधा मा भूत् । शतेन परिक्रीतः । वचनात् साऽपि भवति । शताय परिक्रीतः । “दिवः कर्म” [१२॥११५] इत्यत्र च समावेशो यथा स्यात् । अक्षैर्दीव्यति ।

दिवः कर्म ॥१२॥११५॥ दिवेः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं भवति । अक्षान् दीव्यति । शर्लाकां दीव्यति । नपा निर्देशात् करणत्वमपि ।

आधारोऽधिकरणः ॥१२॥११६॥ आश्रित्यतेऽस्मिन् क्रियेत्याधारः । इदमेव निपातनमधिकरणो घञः । आधारो यस्तत् कारकमधिकरणसंज्ञं भवति । यद्येवं कर्तृकर्मणोरधिकरणसंज्ञा प्राप्ता तदाश्रितत्वात् क्रियायाः । एवं तर्हि कर्तृकर्मणोः क्रियाश्रययोर्धारणादाधारोऽभिप्रेतः । पूर्वं तमग्रहणेन ज्ञापितं गौण-

स्याप्याधारस्याधिकरणत्वम् । कर्तृकर्मणोः सत्यपि क्रियाधारत्वेऽनवकाशत्वात् कर्तृकर्मसञ्ज्ञे भविष्यतः । मेदवि-
वक्षायामधिकरणत्वमपि । अशनक्रिया देवदत्ते वर्तते । विद्धे दनं तण्डुलेषु ।

“औपश्लेषिकवैषयिकाऽभिप्रायक इत्यपि । आधारस्त्रिविधः प्रोक्तः कटाकाशतिलेषु च ॥”

औपश्लेषिकः—कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । वैषयिकः—आकाशे शकुनयः । गङ्गायां घोषः । गुरौ
वसति । यदधीना यस्य स्थितिः स तस्याधारः । अभिव्यापको विभागाप्रतीतेः । तिलेषु तैलम् । दधनि सर्पिः ।
अधिकरणप्रदेशाः “ईवधिकरणे च” [११४।४४] इत्येवमादयः ।

कर्मैवाऽधिशीङ्स्थाऽसः ॥१२।११७॥ अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येषामाधारो यस्तत्
कारकं कर्मसञ्ज्ञमेव भवति । ग्राममधिशेते । पर्वतमधितिष्ठति । प्रासदमध्यास्ते । एवकारः पुंल्लिङ्गाऽधिकरण-
संज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थः । कर्मप्रदेशाः “कर्मणीप्” [११४।२] इत्येवमादयः ।

वसोऽनूपाध्याङः ॥१२।११८॥ अनु उप अधि आङ् इत्येवम्पूर्वस्य वसतेराधारो यस्तत् कारकं
कर्मसंज्ञं भवति । ग्राममनुवसति । गिरिमुपवसति । गृहमधिवसति । वनमावसति । इह कथं ग्रामे उपवसति ।
भोजननिवृत्तिं करोतीत्यर्थः ? अत्रापि त्रिरात्रादेराधारस्य कर्मत्वं प्रतीयते ।

अभिनिविशश्च ॥१२।११९॥ अभिनि इत्येवम्पूर्वस्य विशतेराधारो यस्तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति ।
ग्राममभिनिविशते । गेहमभिनिविशते । चकारात् कचिदधिकरणसंज्ञाऽपि भवति । या या संज्ञा यस्मिन्नाभिनि-
विशते । अर्थेष्वभिनिविष्टः । कल्याणेऽभिनिवेशः ।

कर्त्राप्यम् ॥१२।१२०॥ कर्त्रा क्रियया यदाप्यं तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति । कर्तृग्रहणादाप्यग्रहण-
सामर्थ्याद्वा क्रिया लभते । तत्र कर्म ।

“प्राप्यं विषयभूतं च निर्वर्त्यं विक्रियात्मकम् । कर्तुंश्च क्रियया व्याप्यमीप्सितानीप्सितेतरत् ॥”

आप्यत्वसामान्यं सर्वत्र विद्यते । प्राप्यम्—ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । विषयभूतम्—जैनेन्द्रमधीते ।
हिमवन्तं शृणोति । निर्वर्त्यम्—घटं करोति । ओदनं पचति । विक्रियात्मकम्—काष्ठानि दहति । घटं भिनत्ति ।
ईप्सितम्—गुडं भक्षयति । ओदनं भुङ्क्ते । अनीप्सितम्—ग्रामं गच्छन् व्याघ्रं पश्यति । कण्टकान्
मृदाति । अनुभयम्—ग्रामं गच्छन् वृद्धमूलान्युपसर्पति । कर्त्रेति किम् ? माप्रेष्वश्वं बध्नाति । अश्वेन
कर्मणा भक्षणक्रियया माषाणामाप्यानां कर्मसंज्ञा मा भूत् । अथ सर्वाणि कारकाणि कर्त्राप्यन्त इति कर्मसंज्ञा
प्राप्नोति ? नैष दोषः । सर्वेषु कारकेष्वप्येषु आप्यग्रहणसामर्थ्यादाप्यन्तमे संप्रत्ययः । तेन करणादिषु न भवति ।
पयसा ओदनं भुङ्क्ते । इह कथं कर्मत्वं गेहं प्रविशतीति ? आधारस्याविवक्षया ।

अकथितश्च ॥१२।१२१॥ अकथितमसङ्कीर्तितम् । अपादानादिभिर्विशेषकारकादिभिरकथितं च यत्
कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति । अकथितमप्रधानमिति गृह्यमाणे इह देवदत्ताद् गां याचत इत्यप्रधानतयाऽपादान-
संज्ञा कर्मसंज्ञया बाध्यते ।

“दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिस्त्रिचिजामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ ।

ब्रुविज्ञासिगुणेन च यत् सचते तदक्कीर्तितमाचरितं कविना ॥”

दुहि—गां दोग्धि पयः । गौः कारकमपादानत्वेनासङ्कीर्तितमपायस्याविवक्षितत्वात् । गोरप्याप्यत्वेन सिद्धं
कर्मत्वमिति चेत् पस्मिणार्थमिदं वक्तव्यम् । इह मा भूत् । नटस्य शृणोति श्लोकम् । याचि—माणवकं
गां याचते । याचूनमात्रेणापायस्याविवक्षितत्वात् । रुधि—गामवररुद्धि व्रजम् । सतोऽप्याधारस्याविवक्षा ।
अनुदरा कन्येति यथा । प्रच्छि—आचार्यं धर्मं पृच्छति । प्रश्नमात्रेणापायस्याविवक्षा । भिद्धि—देवदत्तं गां
भिद्धते । चिब्—वृद्धमवचिनोति फलानि । उपयोगनिमित्तं प्रयोगनिमित्तम् । अथवा उपयोगो दुग्धादि तन्नि-
मित्तं गवादि । इहापि तर्हि स्यात् । पाणिना कांस्यपात्र्यां दोग्धि । पाण्यादिकमप्युपयोगनिमित्तमित्याह ।

अपूर्वविधौ—यस्य पूर्वो विधिर्नोक्तः । इह तु पूर्वमेव करणसञ्ज्ञा अधिकरणसञ्ज्ञा च विहिता । ब्रुविशा-
स्योगुणेन च क्रियया कर्मणा वा यत् सचते सम्बध्यते तदकीर्तितमित्युक्तमाचार्येण । ब्रुवि-माणवकं धर्मं
ब्रूते । शसि-माणवकं धर्ममनुशास्ति । माणवकस्य सम्प्रदानत्वेनाविवक्षा । अकथितमिति किम् ? देवदत्तात्
गां याचते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनम् “कालभावाध्वगन्तव्याः^१ कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामिति” लब्धम् ।
काले^२—मासमास्ते । संवत्सरं वसति । भावे^३—गोदोहं स्वपिति । अध्वा च स गन्तव्यश्चेति इच्छया विशेषणत्वम् ।
क्रोशमास्ते । क्रोशं स्वपिति । देशोऽपि कर्मसंज्ञ इति केचित् । कुरुमास्ते । कुरुन् स्वपिति । अथ नीवहि-
हरतिकृषि^४जयत्यादयो द्विकर्मका उपलभ्यन्ते । तेषां कथं द्विकर्मकत्वं प्रधानाप्रधानकर्मणोः सामान्येनाऽप्यत्वात् ।
अजां नयति ग्रामम् । भारं वहति ग्रामम् । भारं हरति ग्रामम् । शाखां कर्षति^५ ग्रामम् । देवदत्तो जिनदत्तं शतं
जयति । देवदत्तो ग्रामं शतं दण्डयति । अयं तु विशेषः —

“प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनादुद्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥”

नीयते अजा ग्रामम् । उह्यते भारो ग्रामम् । ह्रियते भारो ग्रामम् । कृष्यते शाखा ग्रामम् । जीयते
जिनदत्तः शतम् । दण्ड्यते जिनदत्तः शतम् । अप्रधाने कर्मणि दुहादीनाम् । दुह्यते गौः पयः । याच्यते माण-
वको गाम् । अवह्यते गां वजः । पृच्छ्यते आचार्यो धर्मम् । भिद्यते देवदत्तो गाम् । अवचीयते वृद्धः
फलानि । उच्यते माणवको धर्मम् । शिष्यते^६ माणवको धर्मम् । श्यन्ते कर्तुश्च कर्मण इति उत्तर सूत्रेणाऽश-
यन्तावस्थायां यः कर्त्ता श्यन्तावस्थायां कर्मतामापन्नः प्रयोज्यस्तस्याभिधाने लादीनादुः । बोध्यते माणवकः
शास्त्रम् । गम्यते माणवको ग्रामम् । भोज्यते माणवक ओदनम् । आस्यते माणवको मासम् । अध्याप्यते^७
माणवको जैनेन्द्रम् । ननु श्यन्तेषु ध्रुवु श्यन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाऽध्येषणलक्षणया यदाप्यते तत् प्रधानं
कर्म । अवयवक्रियया यदाप्यते तदप्रधानम् । एवं च सति प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनादुरित्यनेनैव सिद्धलादन-
र्थकमिदं श्यन्ते कर्तुश्च कर्मण इति ? नानर्थकं समुच्चयार्थमेतत् प्रधाने कर्मणि लादयो भवन्त्यप्रधाने च । तेन
बोध्यते माणवकं धर्मः । भोज्यते माणवकमोदनः । अध्याप्यते माणवकं जैनेन्द्रः । अकर्मणां गत्यर्थानां च प्रधान
एव कर्मणि लादयः । आस्यते माणवको मासम् । आस्यते माणवको गोदोहम् । गम्यते माणवको ग्रामम् ।
प्राप्यते माणवको ग्रामम् ।

ज्ञागम्यद्यर्थधेरणि कर्ता शौ ॥११॥१२२॥ शार्थानां गम्यर्थानामद्यर्थानां धीनाञ्च धूनामश-
न्तानां यः कर्ता स शौ सति कर्मसंज्ञो भवति । शार्थानाम्—जानाति माणवको धर्मम् । ज्ञापयति माणवकं
धर्मम् । बुध्यते माणवको धर्मम् । बोधयति माणवकं धर्मम् । पश्यति माणवको ग्रामम् । दर्शयति माणवकं
ग्रामम् । गम्यर्थानाम्—गच्छति माणवको ग्रामम् । गमयति माणवकं ग्रामम् । याति माणवको ग्रामम् ।
यापयति माणवकं ग्रामम् । अद्यर्थानाम्—भुङ्क्ते ओदनं माणवकः । भोजयति माणवकमोदनम् । अश्नाति
माणवक ओदनम् । आशयति माणवकमोदनम् । धीनाम्—आस्ते माणवकः । आसयति माणवकम् । शेते
माणवकः । शाययति माणवकम् । अत्रापि पूर्ववरिणजन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाध्येषणलक्षणया आप्यत्वात्
कर्मसंज्ञा सिद्धा । यद्यपि स्वातन्त्र्यामाप्यत्वञ्चास्ति तथापि कर्मवैयवधारणात् कर्तुं संज्ञा न भवतीति । एवं सिद्धे
नियमार्थमिदं तेषामेवाशौ कर्ता श्यन्ते कर्मसंज्ञो भवति नान्येषाम् । पचत्योदनं देवदत्तः । पाचयत्योदनं दे-
वदत्तेन । अणि कर्तेति किम् ? गमयति देवदत्तो जिनदत्तम् । तमन्यः प्रयुङ्क्ते । गमयति देवदत्तेन जिनदत्तम् ।
नयत्यादयः प्रापणार्था न गत्यर्थास्तेनेह कर्मसंज्ञा न भवति । अजां नयति देवदत्तः । नाययति देवदत्तेन । भारं

१. गन्तव्यः क-मु०, ब० । २. कालः अ०, स० । ३. भावः अ०, स० । ४. कृषज-मु० ।
५. जिनदत्तो ग्रामं भारं वहति अ०, ब०, स० । ६. कृषति अ०, ब०, स० । ७. ‘शिष्यते माणवको धर्मम्’
इति ब० पुस्तके नास्ति । ८. अध्याप्यते माणवको जैनेन्द्रम् अ०, ब०, स० ।

वहति वाहीकः । वाहयति वाहीकेन । यदा गत्यर्थतासंभवस्तदा भवति कर्मसंज्ञा । वहन्ति बलीवर्दान् यवान् । वाहयन्ति बलीवर्दान् यवान् । प्रवाहयत्युदकं देवदत्तः । प्रवाहयत्युदकं देवदत्तम् । “अद्यैषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः [वा०] अन्ति देवदत्तः । आदयति देवदत्तेन । खादयति (खादति) देवदत्तः । खादयति देवदत्तेन । अथवा “सर्वमद्यर्थकार्यमदेर्न भवतीति वक्तव्यमधिकरणे तविधिं मुक्त्वा” [वा०] आदयते माणवकेन । “चल्यद्यर्थात्” [१।२।८४] ममपि न भवति । “भक्षिरहिंसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] भक्षयति पिण्डं देवदत्तः । भक्षयति पिण्डं देवदत्तेन । अहिंसार्थस्येति किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् यवम् । भक्षयति बलीवर्दान् यवम् । अत्र हिंसाऽस्ति । वनस्पतिकायानां प्राणित्वात् । प्रकृतेन कर्मणा अकर्मका इह गृह्यन्ते तेन धिग्रहणे कालादिकर्मणः कर्ता कर्मसंज्ञो भवति । आस्ते मांसं देवदत्तः । आसयति मांसं देवदत्तम् । आस्ते गोदोहं देवदत्तः । आसयति गोदोहं देवदत्तम् । आस्ते क्रोशं देवदत्तः । आसयति क्रोशं देवदत्तम् ।

शब्दे च ॥१।२।१२३॥ शब्दे कर्मभावेन क्रियामावेन च यो धुर्वर्तते तस्याण्यन्तस्य कर्ता शौ कर्मसंज्ञो भवति । शब्दकर्मणः—शृणोति देवदत्तः शब्दम् । आवयति देवदत्तं शब्दम् । उपलभते देवदत्तः शब्दम् । उपलभयति देवदत्तं शब्दम् । अधीते माणवकस्तर्कम् । अध्यापयति माणवकं तर्कम् । शब्दक्रियस्य—जल्पति देवदत्तः । जल्पयति देवदत्तम् । विलापति देवदत्तः । विलापयति देवदत्तम् । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन ह्ययत्यादिषु न भवति । ह्वयति देवदत्तः । ह्वयति देवदत्तेन । क्रन्दति देवदत्तः । क्रन्दयति देवदत्तेन ।

हृकोर्न वा ॥१।२।१२४॥ हृ कृ इत्येतयोरण्यन्तयोर्यः कर्ता स ण्यन्तयोर्न वा कर्मसंज्ञो भवति । न वेति निर्देशात् प्राप्ते चाप्राप्ते च विकल्पः । प्राप्ते—अभ्यवहरति देवदत्तः । अभ्यवहारयति देवदत्तं देवदत्तेनेति वा । विहरति देवदत्तः । विहारयति देवदत्तं देवदत्तेनेति वा । विकुर्वते सैन्धवाः । विकारयन्ति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा । अद्यर्थगम्यर्थे धिर्ज्ञायां पूर्वेण प्राप्तिः । अप्राप्ते—हरति माणवको भारम् । हारयति माणवकं माणवकेन वा । करोति कटं देवदत्तः । कारयति कटं देवदत्तं देवदत्तेन वा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते । तेन अभिवदिदृश्योर्द्विषये विकल्पः । अभिवदति गुरुं देवदत्तः । अभिवादयते गुरुं देवदत्तं देवदत्तेन वा । पश्यन्ति भृत्या राजानम् । दर्शयते भृत्यान् भृत्यैरिति वा । “णिच्” [१।२।७२] इति दविधिः ।

स्वतन्त्रः कर्ता ॥१।२।१२५॥ स्वतन्त्र आत्मप्रधानः । क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारकं कर्तृसंज्ञं भवति । देवदत्तः पचति । देवदत्तेन कृतम् । प्रेषितः करोतीत्यत्रापि स्वातन्त्र्यं गम्यते । अनिच्छायामकरणात् । इह स्थाली पचतीति स्वातन्त्र्यं विवक्षितम् ।

तद्योजको हेतुः ॥१।२।१२६॥ योजकः प्रेरकः, तस्य स्वतन्त्रस्य योजको योऽर्थस्तत् कारकं हेतुसंज्ञं भवति । पुल्लिङ्गकर्तृसंज्ञासमावेशात् कर्तृसंज्ञं च । कारयति । भोजयति । हेतुत्वात् “हेतुमति” [२।१।२४] इति णिच् । कर्तृत्वाल्लकारवाच्यता । गौणस्यापि योजकस्य हेतुत्वम् । मित्रा वासयति । कारीषोऽग्निरध्यापयति । तद्योजक इति वचनं ज्ञापकं “तृजकाम्या” [१।३।७८] “कर्तारि” [१।३।७९] इत्यस्य तासप्रतिषेधस्यानित्यत्वम् ।

निः ॥१।२।१२७॥ अधिकारोऽयम् । “प्राग्घोस्ते” [१।२।१४९] इत्यतः प्राक् । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामि निःसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति चादिरसत्त्वे । च वा ह अह एव । निरपि पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? गितिसंज्ञाभ्यां समावेशो यथा स्यात् । निप्रदेशाः “निरेकाजनाङ्” [१।१।२२] इत्येवमादयः ।

चादिरसत्त्वे ॥१।२।१२८॥ सीदत असिंल्लिङ्गसंख्ये इति सत्त्वम् । लिङ्गसंख्यावद् द्रव्यमित्यर्थः । चादयो निःसंज्ञका भवन्ति न चेत् सत्त्वे वर्तन्ते । च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् सप्तं कूपत् कुवि

नेत् चेत् चण् कश्चित् यत्र नह हन्त माकिम् नकिम् माङ् । डकारो “माङि लुङि” [२।३।१२३] इति विशेषणार्थः । अङिति माशब्दे माऽभवत् मा भविष्यति । न नञ् । जकारो “नञ्” [१।३।६८] इति विशेषणार्थः । नहि वाच लाक ननु च त्वे तु द्वै नु वै रूवै रेवै श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्ववा श्रोम् तथाहि खलु किल अथ अवप् स अस्मि अ इ उ ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ उञ् सुञ् आदह आतङ वेलायमा मात्रायाम् यावत् यथा किम् यत् तत् यदि पुरा धिक् हे हो पाट् प्याट् उताहो आहो अथो अथो मानो ननु नाना मन्ये अस्मि ब्रूहि हिनु तु इति इव वत चैन धावत एवं आ आं शं हिकम् हिरूक् शुभम् सुकम् शुक्म् तुकम् नहि कम् श्रुतम् सत्यम् अद्धा नो हि मुधा न चेत् जातु कथम् श्रुते कुत्र अपि (अयि) आदक आवहन् भोस् श्वित् वाह्य संवत् दिष्ट्या पशु युगपत् फट सह अनुष्वक् ताजक् नाजक् अङ्ग पुत्र अये अरे अवे वट् वेट् वाट् उं शक्ति मर्या ईप^१ कौम् सीम् गिविभक्तीस्वरप्रतिरूपकाश्च । गिप्रतिरूपका अवदत्तमित्यादौ । दुर्नातं दुर्नय इति ण्वं न भवति । असत्त्व इति किम् ? अस्यापत्यमिरिति ।

प्रादिः ॥१।२।१२६॥ प्रादयो निंसंज्ञा भवन्त्यसत्त्वे । प्रपराऽपसमनिर्दुर्व्याङ्म्यधयोऽप्यनिसदभयश्च । प्रतिना सह लक्षयितव्याः पर्युपयोरपि लक्षणमत्र । असत्त्व इत्येव । विप्रातीति विप्रः । पराजयति सेना । पृथक्करणमुत्तरार्थम् । प्रादीनामेव गिसंज्ञा यथा स्याच्चादीनां मा भूत् । उत्तरत्र प्रादिग्रहणे क्रियामाणे अक्रियायोगे निंसंज्ञा न स्यात् । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् ।

क्रियायोगे गि ॥१।२।१३०॥ क्रियायोगे प्रादयो गिसंज्ञा भवन्ति । प्रणमति । परिणायकः । “गेरसेऽपि विकृते” [१।३।६८] इति ण्वत् सिद्धम् । क्रियायोग इति किम् ? प्रगता नायका अस्माद्देशात् प्रनायको देशः । नन्वत्रापि क्रियाऽस्ति । योगग्रहणसामर्थ्यात् यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गितिसंज्ञा भवति । गमि-क्रियया चात्र योगः । “मरुच्छब्दस्यापसंख्यानः” । मरुतः । “गेस्तोऽचः” [५।२।१४६] इति अनजन्तत्वेऽप्युपसंख्यानसामर्थ्यात्तादेशः । “प्रज्ञाश्रद्धाच्चावृत्तिभ्यो णः” [४।१।२८] इति निर्देशादङ्विषये श्रतो गित्वम् । “तिरोऽन्तद्धौ” [१।२।१३४] इति निर्देशादन्तःशब्दस्यापि क्यादिविषये ।

ति ॥१।२।१३१॥ तिसंज्ञाश्च प्रादयो भवन्ति क्रियायोगे । प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । तिसंज्ञायां “तिक्रिप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः । “प्यस्तिवाक्से त्वः” [५।१।३१] इति प्यादेशः । पुंस्त्रिङ्गा गिसंज्ञा समाविशति । अभिषिच्य । प्रणम्य । षत्वणत्वे सिद्धे । योगविभागः किमर्थः ? उत्तरत्र तिसंज्ञैव यथा स्यात् गिसंज्ञा मा भूत् । इह ऊरीस्यादिति । “गिप्रादुर्भ्यां यच्यस्तेः” [१।३।६८] इति षत्वं त्यात् ।

चि्वडाजूर्यादिः ॥१।२।१३२॥ च्यन्तो डाजन्त ऊरीप्रभृतयश्च शब्दाः क्रियायोगे तिसंज्ञा भवन्ति । अशुक्लं शुक्लं कुला शुक्लीकृत्य । डाच्-अपटत् पटत् कुला पटपटाकृत्य । कृन्वस्तियोगे चि्वडाचौ विहितौ तत्साहचर्यादूर्यादीनामपि कृन्वस्तिभिरेव योगे तिसंज्ञा भवति । ऊर्यादिषु च्यर्थो न संभवति । ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । ऊरीभूय । उररीभूय । ऊरीउररीशब्दावङ्गीकरणे विस्तारे च । पापीशब्दो विध्वंसे माधुर्ये सकलरा-बिलापे च । तालीआतालीशब्दौ वर्णे । वेताली वैरुप्ये । धूरीशब्दः कान्तौ वाञ्छयाश्च । सकलाशंसकला-ध्वंसकलाभ्रंसकला एते हिंसायाम् । गुलुगुथाशब्दौ पीडायाम् । सज्जः सहाय्ये । फलू फली विह्वी अह्वी एते विकारे । आलम्बी आलोष्टी केवासी केवाली वर्षाली भस्मसा मसमसा एते हिंसायाम् । श्रौषट् वौषट् स्वाहा

१. त्वै ब० । २. तुवे अ० । तुवै ब०, स० । ३. रे अ०, ब० । ४. है अ० । ५. है स० ।

६. अवो अ०, ब०, स० । ७. चन । ८. वत अ० । वत । ९. वत स० । वत । धवत । मु० ।

८. भो श्वित् अ० । ९. वाट अ० । १०. इप् अ० ।

स्वधा एते दानार्थाः । चादिषु च पाठादक्रियायोगेऽपि निसंज्ञा । प्रादुस् श्रत् आविष् । प्रादुःकृत्य । प्रादुर्भूय । श्रद्धाय । आविर्भूय । आविःशब्दः सान्नादादौ च पठ्यते । तस्य “वा कृजि” [१।२।१४१] इति करोतियोगे तिसंज्ञाविकल्पः । आविष्कृत्य । आविष्कृत्वा ।

अनितावनुकरणम् ॥१।२।१३३॥ अव्यक्तो व्यक्तो वा शब्दोऽनुक्रियतेऽनेनेत्यनुकरणम् । अनिति-परमनुकरणं क्रियायोगे तिसंज्ञं भवति । खादृकृत्य । पट्टकृत्य । अनिताविति किम् ? खाडितं कृत्वा निरुद्धी-वत् । खादृकृत्य धोः प्राक् प्रयोगः सविधिश्र च प्रसज्येत । “ध्वादेः षः सः” [४।३।१३] इत्यत्र सुबधुष्टी-वतिष्वक्तित्वायायतीनां प्रतिषेध उक्तः ।

सदादरानादरयोः ॥१।२।१३४॥ आदरः सम्भ्रमः । अवज्ञानमौदासीन्यं वाऽनादरः । सच्छब्द आदरानादार इत्येतयोरर्थयोस्तिरसंज्ञो भवति । आदरे-सत्कृत्य । अनादरे-असत्कृत्य । अनादर इत्यर्थनिर्देशात् सच्छब्दस्य तदन्तविधिरिष्टः । तेनेहापि भवति । परमसत्कृत्य । तिसंज्ञायां निसंज्ञासमावेशः । निसंज्ञस्या-संख्यलाभिसंज्ञा । आदरानादरयोरिति किम् ? सत्कृत्वा काण्डं गतः । विद्यमानं कृत्वेत्यर्थः ।

भूषाऽपरिग्रहेऽलमन्तः ॥१।२।१३५॥ अलमन्तरित्येतौ शब्दौ भूषायामपरिग्रहे चार्थे यथासंख्यं तिसंज्ञौ भवतः । अलङ्कृत्य । भूषयित्वेत्यर्थः । अन्तर्हृत्य । मध्ये हृत्वेत्यर्थः । भूषाऽपरिग्रह इति किम् ? अलं कृत्वा । अन्तर्हृत्वा मूषिका गताः । पर्याप्तं कृत्वेत्यर्थः । परिग्रह्येत्यर्थः । “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०] इति ज्ञापकादन्तःशब्दस्य तिसंज्ञाऽपि । अङ्गिविधिश्रित्येव प्रयोगदर्शनात् । अन्तर्द्धा । अन्तर्द्धिः । अन्तर्ह्यर्थः ।

कणोमनः श्रद्धाघाते ॥१।२।१३६॥ श्रद्धाघातोऽभिलाषानिवृत्तिः । कणोमनःशब्दौ श्रद्धाघातेऽर्थे तिसंज्ञौ भवतः । कणेशब्द ईवन्तप्रतिरूपको निसंज्ञोऽभिलाषातिशये वर्तते । मनःशब्दोऽपि तत्साहचर्यादिह तादृशः । कणोहत्य भुङ्क्ते । मनोहत्य भुङ्क्ते । श्रद्धाघात इति किम् ? तन्दुलावयवे कणे हला गतः । मनो हला गतः । चेतो हृत्वेत्यर्थः ।

पुरोऽस्तं भिः ॥१।२।१३७॥ पुरस् अस्तमित्येतौ भिसंज्ञौ क्रियायोगे तिसंज्ञौ भवतः । पुरःशब्दः “पूर्वाधरावराणां पुरधवोऽसि” [४।१।१०३] इत्यत्र साधितः । अस्तंशब्दोऽनुपलब्धौ वर्तते । पुरस्कृत्य गतः । अस्तङ्गत्य पुनरुदेति । “नमःपुरसोस्त्योः” [५।४।२६] इति सत्वम् । भिरिति किम् ? पूः पुरौ पुरः कृत्वा गतः । अस्तं कृत्वा काण्डं गतः ।

गत्यर्थवदेऽच्छुः ॥१।२।१३८॥ भिरिति वर्तते । अच्छुशब्दो भिसंज्ञः गत्यर्थे वदतौ च तिसंज्ञो भवति । अच्छुगत्य । अच्छुगाम्य । “प्ये” [४।४।३८] “वा मः” [४।४।३९] इति वा मस्य खम् । अच्छोद्य । अच्छुशब्दो दृढार्थे आभिमुख्ये च वर्तते । भिरित्येव । उदकमच्छं गत्वा ।

अनुपदेशेऽदः ॥१।२।१३९॥ अवचनात्मिका प्रतिपत्तिरनुपदेशः । अदःशब्दोऽनुपदेशे तिसंज्ञो भवति । अदःकृत्य । अनुपदेश इति किम् ? अदः कृत्वा गतः । एतत् कृत्वा गत इति परस्य कथयति ।

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥१।२।१४०॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धानि तिसंज्ञो भवति । तिरोभूय । अन्तर्द्धाविति किम् ? तिरो भूला स्थितः । तिर्यग्भूला स्थित इत्यर्थः ।

वा कृजि ॥१।२।१४१॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धौ कृजि वा तिसंज्ञो भवति । प्राप्ते विकल्पः । तिरस्कृत्य । तिरः कृत्वा । “तिरसो वा” [२।४।३०] इति सत्वम् । अन्तर्द्धावित्येव । तिरः कृत्वा काण्डं गतः ।

उपाजेऽन्वाजे ॥१।२।१४२॥ उपाजे अन्वाजे ईवन्तप्रतिरूपकावैतौ कृजि वा तिसंज्ञौ भवतः । उपा-जेकृत्य । उपाजे कृत्वा । अन्वाजे कृत्य । अन्वाजे कृत्वा । दुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधानं कृत्वेत्यर्थः ।

साक्षादादिः ॥११२।१४३॥ वेति वर्तते । साक्षात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञि वा तिसंज्ञानि भवन्ति । “च्विडाजूर्यादिः” [११२।१४३] इत्यतो मण्डूकश्रुत्या विग्रहणमर्थपरमनुवर्तते । तेन च्व्यर्थे तिसंज्ञाविकल्पोऽयम् । साक्षात्कृत्य । साक्षात्कृत्वा । मिथ्याकृत्य । मिथ्याकृत्वा । यदा च्विरुत्पद्यते तदा “च्विडाजूर्यादिः” इत्यनेन नित्यं तिसंज्ञा भवति । साक्षात् । मिथ्या । चिन्ता । भद्रा । रोचना । लोचना । अमा । आस्था । श्रद्धा । आत्मा । प्राज्या । प्राजरूहा । बीज्या । बीजरूहा । संसर्गा । अर्थे । लवणम् । उष्णम् । शीतम् । उदकम् । आर्द्रम् । तिसन्निभयोगे लवणादीनां मकारान्तत्वं निपात्यते । अग्नौ । वसे । विकसने । विकम्पने । विहसने । अग्नौप्रभृतय ईदृशप्रतिरूपका निपातनं वा । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाल्लवणादीनां च्व्यन्तानां मकारौकारनिपातनं न भवति । लवणीकृत्य । वरीकृत्य । नमस् । प्रादुराविःशब्दौ ऊर्यादिष्वपि पठ्येते । तयोः कृञि विकल्पर्यर्थ इह पाठः ।

मनस्युरस्यनत्याधाने ॥११२।१४४॥ मनसिउरसिशब्दौ ईदृशप्रतिरूपकौ निपातनं च । अत्याधानमुपश्लेषः । मनसि उरसि इत्येतौ अनत्याधानेऽर्थे कृञि वा तिसंज्ञौ भवतः । उरसिकृत्य । उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य । मनसि कृत्वा । निश्चित्येत्यर्थः ; अनत्याधान इति किम् ? उरसि कृत्वा पाणिं शेते ।

मध्ये पदे निवचने ॥११२।१४५॥ अनत्याधान इति वर्तते । मध्ये पदे निवचने इत्येते शब्दाः कृञि वा तिसंज्ञा भवन्ति अनत्याधाने । एकारान्तता पूर्ववद्देवित्या । मध्येकृत्य । मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य । पदे कृत्वा । निवचने इति वचनाभावे वर्तते । निवचनेकृत्य । निवचने कृत्वा । अनत्याधान इत्येव । हस्तिनः पदे कृत्वा हस्तमास्ते ।

हस्ते पाणौ स्वीकृतौ तिः ॥११२।१४६॥ हस्ते पाणौ इत्येतौ स्वीकृतावर्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः । हस्तैकृत्य । पाणौकृत्य । भार्या कृत्वेत्यर्थः । स्वीकृताविति किम् ? हस्ते कृत्वा कार्ष्णपणं गतः । नात्र दारस्वीकारः । पुनस्तिग्रहणं नित्यार्थम् ।

प्राध्वं बन्धे ॥११२।१४७॥ प्राध्वमिति मकारान्तो भ्रिसंज्ञः शब्द आनुलोम्ये वर्तते । प्राध्वंशब्दः कृञि तिसंज्ञो भवति बन्धो निमित्तं चेत् । प्राध्वंकृत्य । बन्धनिमित्तमानुलोम्यमिह प्राध्वंकरणम् । बन्ध इति किम् ? प्रगतमध्वानं प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः । “तिकुप्रादयः” [११३।८१] इति पसः । “गेरध्वनः” [११३।८७] इति सान्तोऽकारः । प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रये प्रत्युदाहरणमिदम् ।

जीविकोपनिषदाविवे ॥११२।१४८॥ उपनिषदग्रहस्यम् । जीविका उपनिषदित्येतौ शब्दाविवशब्दस्यार्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः । जीविकाकृत्य । उपनिषत्कृत्य । जीविकामिव उपनिषदमिव कृत्वेत्यर्थः । इवाथ इति किम् ? जीविकां कृत्वा गतः ।

प्राग्धोस्ते ॥११२।१४९॥ प्रयोगनियमोऽयम् । ते गितिसंज्ञा धोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः । तथा चैवोदाहृतम् । ते इति वचनं किमर्थम् । अनन्तराणां तीनां गीनां च ग्रहणार्थम् ।

लो भम् ॥११२।१५०॥ नवानां लकाराणामनुबन्धापाये ल इति सामान्येन निर्देशः । लादेशो मसंज्ञो भवति । मिप् वप् मप् सिप थप् थ तिप् तस भि शतृ । नपा निर्देशः पुल्लिङ्गाया दसंज्ञया बाधा यथा स्यात् । समावेशे हि आक्रमत आदित्यः । सङ्गस्यत इत्यत्र “क्रमो मे” [५।२।७४] दीत्वं “गमेरिष्मे” [२।१।१०६] इति इट् प्रसज्येत । शतरि मसंज्ञा सावकाशेति मिङ् लु वक्ष्यमाणाभिरस्मदादिभिः संज्ञाभिर्भाव्यत्वं नाशङ्कनीयम् । “सावैष्मे” [५।१।७७] इति वचनं शापकं मिडां मसंज्ञाऽपि भवतीति ।

इडानं दः ॥११२।१५१॥ इडिति प्रत्याहार इडित्यतः प्रभृति आ भडो डकारेण । इड् च आनश्च दसंज्ञौ भवतः । इट् वहि महि थास् आयाम् ध्वम् त आताम् भड् । आन इति शानो गृह्यते ।

मिडस्त्रिशोऽस्मद्युष्मदन्याः ॥११२।१५२॥ मिडो मसंज्ञानि च त्रीणि त्रीणि वचनानि अस्मद्युष्मदन्य इति एवमसंज्ञानि भवन्ति । मिप् वप् मसित्यस्मद् । सिप् थप् येति युष्मद् । तिप् तस् भूतित्यन्यः ।

दानामपि । इट् वहि महि इत्यस्मद् । यास् आथां ध्वमिति युष्मद् । त आतां भङित्यन्यः । मिह इति किम् ? अनुत्तरस्य दस्य मस्य च ग्रहणार्थम् । त्रिश इति “संख्यैकाद्वीप्सायाम् [१।२।१८] इति शस् ।

साधने स्वार्थे ॥१।२।१२३॥ अस्मदादयोऽन्वयसंज्ञा अनुवर्तन्ते । लस्येत्यधिकृत्याविशेषेण * मिङा-दयो विहितास्तन्नियमोऽयम् । स्वस्वार्थः स्वोऽर्थो वा स्वार्थस्तस्मिन् स्वार्थे साधनेऽस्मदादयो वेदितव्याः । अस्मत्पदस्यार्थे साधनेऽस्मत्त्रिकं युष्मत्पदस्यार्थे साधने युष्मत्त्रिकमाभ्यामन्यस्यार्थे साधनेऽन्यत्रिकं भवति । अस्मदाद्यर्थानां साधनत्वे सति नियमोऽयम् । ततोऽस्मदादिपदानामनुप्रयोगे सत्यसति चास्मदादयो भवन्ति । अहं पचामि । आवां पचावः । वयं पचामः । पचामि । पचावः । पचामः । त्वं पचसि । युवां पचथः । यूयं पचथ । पचसि । पचथः । पचथ । स पचति । तौ पचतः । ते पचन्ति । पचति । पचतः । पचन्ति । एवं दविधावपि शोध्यम् । भावेऽस्मद्युष्मदर्थयोः भावात् भावस्य चान्यामन्यत्वादेकत्वाच्च तस्मिन् साधनेऽन्य एव भवति । आस्यते भवता । ग्लायते भवता । यत्रास्मदाद्यर्था युगपत् साधनं तत्र क इत्यते ? पूर्वनिर्णयमेव यः पूर्वः । अत्र किमस्मदर्थ एव साधनेऽस्मद् भवतीत्यवग्रियते आहोस्विदस्मदर्थे साधनेऽस्मदेव भवतीति । उभयथाऽप्यदोषः सर्वेषां नियतत्वात् । ननु द्वितीये पक्षे त्वया (मया) कुर्वाणेनेत्यत्र दोषः । मैवम् । त्रिकापेक्षया नियमो न साधनापेक्षया ।

प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च ॥१।२।१२४॥ मन्य इति मन्यतेरेकदेशः । ब्रूते इति वाक् । मन्यो वाक् यस्य प्रहासस्य तस्मिन् मन्यवाचि प्रहासे गम्यमाने युष्मद्भवति मन्यतेरस्मास्मद्भवति एकवच्च । अस्मद्युष्मदोर्व्यत्ययायोऽयमारम्भः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता । एहि मन्यसे रथेन यास्यामीति प्राप्तम् । एवमेहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यते न हि भोक्ष्यसे भुक्तः सोऽतिथिभिः । द्वित्वबहुत्वविवक्षायामपि मन्यतेरेकवद्भावो भवति । एवं मन्ये रथेन यास्यथ न यास्यथेति । प्रहास इति किम् ? एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्य इति सुष्ठु मन्यसे साधु मन्यसे ।

एकद्विवहवश्चैकशः ॥१।२।१२५॥ यान्यस्मद्युष्मदन्यसंज्ञानां संज्ञित्वेनोपात्तानि षट् त्रिकाणि तान्येकश एक द्वि बहु इत्येवंसंज्ञानि भवन्ति । मित्विलेकः । वसिति द्विः । मसिति बहुः । एवं शेषेषु योज्यम् । अस्मदादिसंज्ञाः पुंल्लिङ्गा एकादिभिः सह समाविशन्ति ।

सुपश्च ॥१।२।१२६॥ त्रिश इति वर्तते । सुपश्च त्रिकाणि एकद्विबहुसंज्ञानि भवन्त्येकशः । सु इत्येकः औ इति द्विः । जसिति बहुः । एवं शेषेषु त्रिकेषु नेयम् । उभयत्र चशब्दः “साधने स्वार्थे” [१।२।१२२] इत्यस्यानुकर्षणार्थः । एकार्थे साधने एको भिम्भवति । द्वयर्थे द्विर्वत् । बहुवर्थे बहुर्मत् । एवं मिङ्क्तु सुप्सु च योज्यम् । ननु च “साधने स्वार्थे” इत्येतन्मिङ् उपपद्यते यतः साधनं कारकं क्रियाया निर्वर्तकं क्रिया च ध्वर्थः । धोश्च मिङो विहिता इति साधनवाचित्वोपपत्तेः । सुपस्त्वक्रियावाचिनो ङ्याम्मृदो विधीयन्त इति तत्र साधने स्वार्थ इत्येतन्न घटते । नैष दोषः । अक्रियावाचिनोऽपि विधीयमानाः सुपः क्रियावाचिपदान्तरमाकाङ्क्षन्ति । पदान्तरवाच्यायाः क्रियायाः साधनभावोपपत्तेः सुप्सुपि “साधने स्वार्थे” इत्ययं व्यवहारो युज्यते । देवदत्तः पचति देवदत्तौ पचतः । देवदत्ताः पचन्ति । यत्रापि क्रियापदं न प्रयुज्यते वृद्धः प्लक्ष इति तत्राप्यस्ति भवतीति परः सन्निहितस्तदपेक्षया व्यवहारः । मिङः सामान्येन धुमात्राद्विधीयन्ते सुपश्च मृन्मात्रात्तेषां संकरेण प्राप्तौ नियमोऽयम् । त्यनियमोऽर्थनियमो वा । एकार्थ एव साधन एको भवति द्वयर्थ एव साधने द्विर्भवति बह्वर्थ एव (साधने) बहुर्भवतीति त्यनियमः । एकार्थे साधने एक एव भवति द्वयर्थे द्विरेव भवति बह्वर्थे बहुरेव भवतीत्यर्थनियमः । त्यनियमपक्षे “सुपो केः” [१।१।१२०] इति वचनं ज्ञापकमेकत्वादीनामभावेऽप्युपपद्यते भेः सुप इति । अर्थनियमपक्षे एकत्वादयो नियतास्त्यान् व्यभिचरन्ति त्याः पुनरनियता एकत्वादीनामभावे व्यति-करणेन भिन्नञ्चक्रेभ्यो भवन्ति । तत्र “सुपो केः” [१।१।१२०] इत्युपि कृते सुबन्तं पदं भवति ।

विभक्ती ॥१२॥१५७॥ सुप् इत्यनुवर्तते त्रिश इति च । सुपां त्रीणि त्रीणि वचनानि विभक्तीसंज्ञानि भवन्ति । सु औ जसिति त्रिको वर्गस्तस्य विभक्ती इति संज्ञा । त्रिकसमुदाये संज्ञा । विहिताऽव्ययेऽप्युपचर्यते । एषां सर्वत्र सुपां त्रिकेषु योज्यम् । मिडां विभक्तीसंज्ञायां न गुणो नापि दोषः । विभक्तीशब्दस्य कथं सिद्धिः । विपूर्वाद्मजेः “क्त्विक्तौ खौ” [१३॥१५०] इति क्त्विच् । तस्मात् “कृदिकारादक्तेः” [३॥१॥३१॥ ग० सू०] इति डीविधिः । महासंज्ञाकरणमुत्तरार्थम् ।

तासामप्यरास्तद्धलच ॥१२॥१५८॥ तस्य विभक्तीशब्दस्य हलोऽचश्च आकारपकारपगस्तासां विभक्तीनां यथासंख्यं संज्ञा भवन्ति । वा इप् भा अप् का ता ईप् इति एताः संज्ञाः । सुप्स्त्रिंश इति चानुवर्तते । सु औ जसिति वा । अम् औट् शसिति इप् । टा भ्यां भिसिति भा । डे भ्यां भ्यसिति अप् । डसि भ्यां भ्यसिति का । डन् ओस् आमिति ता । डि ओम् सुप् इति ईप् । तासां ग्रहणं सुन्विभक्त्युपादानार्थम् । “सपूर्वाया वायाः” [२॥३॥ २३] इत्येवमादयो निर्देशाः सौत्राः ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥२॥

समर्थः पदविधिः ॥१३॥१॥ परिभाषेयम् । समर्थपदाश्रयत्वात् समर्थः । पदसम्बन्धी विधिः पदविधिः । सर्वः पदविधिः समर्थो वेदितव्यः । समर्थानां पदानां विधिर्वेदितव्य इत्यर्थः । द्विविधं सामर्थ्यमेकार्थीभावः परस्परव्यपेक्षा च । तत्र सविधानामधुद्विधिषु स्वभावत एकार्थीभावः सामर्थ्यमन्यत्र व्यपेक्षा । एकार्थीभावे सङ्गतार्थः संसृष्टार्थो वा समर्थः । व्यपेक्षायां सम्बद्धार्थः सम्प्रेक्षितार्थो वा समर्थः । वक्ष्यति “इप् तच्छ्रुतातीतपतितगतत्वात्सैः” [१३॥२१] धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । समर्थग्रहणं किम् ? व्याचष्टे मुनिधर्मं श्रितः शिष्यो गुरुकुलम् । अत्र व्यपेक्षा नास्ति । “भा गुणोक्त्याऽर्धेनोनैः” [१३॥२७] । मदेन पटुर्मदपटुः । समर्थग्रहणं किम् ? दन्ती भ्रमति मदेन पटुः शाब्देन । “असदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः” [१३॥३१] । रथाय दार रथदार । समर्थग्रहणं किम् ? गच्छ त्वं रथाय दार देवदत्तस्य गेहे । “का भीभिः” [१३॥३२] । संसाराद्भयं संसारभयम् । समर्थग्रहणं किम् ? ध्यानी निष्क्रमति संसाराद्भयमरण्ये । “ता” [१३॥७०] । मोक्षस्य मार्गो मोक्षमार्गः । समर्थग्रहणं किम् ? अनन्तसुखं मोक्षस्य मार्गः स्वर्गस्य व्रतम् । “ईच्छौण्डैः” [१३॥३२] । अक्षेणु शौण्डोऽक्षशौण्डः । समर्थग्रहणं किम् ? मूढः शक्तोऽक्षेणु शौण्डः पिबति पानागारे । पदग्रहणं किम् ? तिष्ठतु दय्यशान त्वं साकेन । तिष्ठतु कुमारी, छत्रं हर देवदत्तात् । वर्णविधौ समर्थपरिभाषा नावतरतीत्यानन्तर्यमात्रेण यणादेशस्तुग्विधिश्च भवति । “वा पदस्य” [१३॥६४] इत्यत्र पदग्रहणं द्विमात्रस्य विशेषणमिति पदविधिरयं न भवतीति विकल्पेन तुक् ।

सः ॥१३॥२॥ स इत्ययमधिकारो वेदितव्य आ पादपरिसमाप्तेः । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिश्चाश्रीयते तेन पदसमुदाये ससंज्ञा न प्रत्येकमिति । वक्ष्यति “यावद्यथावधृत्यसादृश्ये” [१३॥६] । यथावृद्धमतिथीन् भोजय । नित्यत्वात् सविधेरस्वपदविग्रहेणार्थः प्रदर्श्यते ये ये वृद्धा इति । वीप्सायां यथाशब्दः । स इति पुंलिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? हादिभिर्विशेषसंज्ञाभिः समावेशो यथा स्यात् ।

सुप् सुपा ॥१३॥३॥ सुबन्तं सुबन्तेन सह सो भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यमापादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति-“इसच्छ्रुता” [१३॥२१] इत्यादि । धर्मश्रितः । लक्षणञ्चेंदं सुबन्तं सुबन्तेन सह सो भवति । यदच्छ्रुयाऽतर्कितोपरिस्थिते चित्राकरणे वाऽयमिष्यते । तेन काकतालीयादयः सिद्धाः । तथाहि यदच्छ्रुया तालस्य पतनं सन्निहितं काकश्चातर्कित उपरिस्थितः स काकस्तेन तालेन पतता हतः । अस्मिन्नर्थेऽनयोः सामान्येन सः । काकश्च तालश्च काकतालं तदिव काकतालीयम् । “इवे प्रतिष्ठतौ” [१३॥१५०] इत्यधिकृत्य “कुशा-ग्रच्छः” [१३॥१२६] इति चानुवर्तमाने “सात्तद्विषयात्” [१३॥१६०] इति च्छो भवति । एवम-जाडुपाणीयमन्धकवर्तकीयम् ।

हः ॥१३॥४॥ अधिकारोऽयम् । यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो हर्षज्ञास्ते वेदितव्याः प्रमित्यतः प्राक् ।

१.-न्दिरचि-अ० । २.-यां महा-अ० । स० । ३. द्विविधम् इति अ० ब० स० पुस्तकेषु नास्ति ।

वक्ष्यति “स्तोके प्रतिना” [१।३।७] सूत्रप्रति । शाकप्रति । अस्वपदेन विग्रहः । अस्त्यत्र किञ्चित् सूत्रस्य मात्रा स्तोकमिति वा । अत्रान्ये मन्यन्ते अनव्ययस्याव्ययभवनभव्ययोभाव इत्यन्वर्थसंज्ञा कर्तव्या । एतच्चायुक्तम् । असंख्यस्य भिन्नं संज्ञा युज्यते । अस्य च संख्या विद्यते । उपकुम्भेन । उपकुम्भाभ्याम् । उपकुम्भैः । दोषः खल्वपि भिन्नं संज्ञायां “भित्तिसर्वनाम्नोऽक् प्राक्तेः” [४।१।१३०] इति यथेहागमवति । उच्चकैः । नीचकैरिति । एवमिहापि प्राप्नोति उपायिकं प्रत्ययिकमिति । तथा “खित्यभेः” [४।३।१७६] “सुमचः” [४।३।१७७] इति भेः प्रतिषेध उच्यते दोषामन्यमहः दिवामन्या रात्रिः । स इहापि प्राप्नोति । उपकुम्भमन्यः । उपमणिकमन्यः । इह च “अस्य चैव” [१।२।१४१] इति भेः प्रतिषेधो वक्ष्यति दोषाभूतमहः दिवामन्या रात्रिरिति । स इहापि प्राप्नोति । उपकुम्भीभूतः । उपमणिकीभूतः । तस्माल्लघीयसी ह इति संज्ञा युक्ता । यथेवं “कृकमिकंस कुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽतो भेः” [१।४।३४] इत्यनेन सत्वस्य प्रतिषेधो न प्राप्नोति उपपन्नकार इति । अद्युस्थस्येति तत्र वर्तते । हस्ते च द्युस्थो भवतीति प्रतिषेधः सिद्धः । पूर्वपदप्राधान्यञ्च हस्तस्याभिधानवशाज्ज्ञेयम् । ह्रप्रदेशाः “हात्” [१।४।१५१] इत्येवमादयः ।

किं विभक्त्यभ्यासद्वयार्थाभावातीत्यसंप्रतिवृद्धि-शब्दप्रभवपञ्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्य-संपत्साकल्यान्तोक्तौ ॥ १।३।५ ॥ विभक्ती-अभ्यास-ऋद्धि-अर्थाभाव-अतीति-असंप्रति वृद्धि-शब्दप्रभव-पञ्चाद्य-यथा-आनुपूर्व्य-यौगपद्य-सम्पत्-साकल्य-अन्तोक्ति इत्येतेष्वर्थेषु यत् भिन्नं वर्तते तत् सुवन्तेन समर्थेन सह हसंज्ञकः सो भवति । विभक्त्यर्थः कारकमाधिकरणादि । स्त्रीषु कथा वर्तते । अधिस्त्रि । अधिकुमारि । ईवन्तेन वृत्तिः । “हश्च” [१ । ४ । १४] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः । “प्रो नपि [१।१।७] इति प्रादेशः । “हात्” [१ । ४ । १२१] इति सुप उप । अभ्यासः-समीपम् । उपकुम्भम् । उपगुरु । कुम्भस्याभ्यास इत्यर्थप्रदर्शनम्, तान्तेन वृत्तिरिति केचित् । तदयुक्तम् । उपशब्दोऽयं द्योतकः स उत्तरपदार्थव्यतिरेकं न जनयति अभ्यासादीनान्तु शब्दानां वाचकानां सन्निधाने व्यतिरेकः प्रतीयते यथा धवश्च खदिरश्चेत्यस्यार्थे समुच्चयो धवखदिरस्य । तस्माद्वान्तेन वृत्तिः । विभूतेराधिक्यं ऋद्धिः । मद्राणां ऋद्धिः सुमद्रं सुमगधं वर्तते । पूर्वपदार्थस्य प्राधान्ये हस्तः । यदा तु मद्रा ऋद्ध्या विशिष्यन्ते तदा शोभना मद्राः सुमद्रा इति “तिकुप्रादयः” [१ । ३ । ८१] इति षसः । अर्थाभाव उत्तरपदार्थप्रध्वंसः । अभावो मत्तिकाणाममत्तिका । विमत्तिका । निर्मत्तिका । अर्थग्रहणं किम् ? धर्माभावे इतरेतराभावे च मा भूत् । न भवति ब्राह्मणो गौरश्चो न भवतीति । अतीतिरतीतत्वम् । स्वत एवातिक्रान्तत्वमित्यर्थः । अतीतानि तृणानि अतृणम् । नितृणम् । एवं निशीतं निवातं वर्तते । न सम्प्रति असम्प्रति नेदानीमित्यर्थः । न सम्प्रति तैसुकमति तैसुकम् । नायं तैसुकस्याञ्छादनस्योपभोगकाल इत्यर्थः । तिसुका नाम ग्रामस्तत आगतं तैसुकम् । विगम ऋद्धेत्युद्धिः । गब्दिकानामृद्धेर्विगमो दुर्गब्दिकम् । दुर्यवनम् । शब्दप्रभवः शब्दस्य प्रकाशमानता । श्रीदत्तस्य शब्दप्रभवः इति श्रीदत्तम् । तच्छ्रीदत्तमहो श्रीदत्तम् । श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशत इत्यर्थः । पञ्चात्—रथानां पश्चादनुरथं पादात् । यथार्थो योग्यता । अनुरूपं सुरूपो वहति । सादृश्यमपि यथार्थः । उत्तरत्रासादृश्य इति प्रतिषेधाज्ज्ञायते । सदृशं व्रतस्य सव्रतम् । सशीलम् । “हेष्काले” [४।३।१८१] इति सहस्य सादेशः । पूर्वं पूर्वमनुपूर्वं तस्य भाव आनुपूर्वम् । अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः । ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः । आनुपूर्व्यं विन्यासविशेष इति यथार्थात् पृथगुक्तम् । यौगपद्यसम्पत्साकल्यान्तोक्तिषु सहशब्दो वर्तते । यौगपद्यमेककालता । सचक्रं धेहि । युग-चक्रे धेहीत्यर्थः । सधुरं प्राज । युगपद्भुरौ प्राजेत्यर्थः । सम्पत् सिद्धिः । आत्मभावनिष्पत्तिरित्यर्थः । वृत्तस्य सम्पत् ज्ञत्रस्य सम्पत् सवृत्तं साधूनाम् । सद्गङ्गां शालङ्कायनानाम् । साकल्य—सतृणमभ्यवहरति । सर्वेण सहाभ्यवहरतीत्यर्थः । अन्तः समाप्तिः—प्राभृतपर्यन्तमधीते । एवं सबन्धं सटीकम् । अत्र परिसमाप्तिरसाकल्येऽप्यध्ययने प्रतीयत इति साकल्येऽनन्तर्यावः । इह आचण्डालं प्रयच्छतीति अन्तोक्तिरभिविधिरप्यस्ति । परवात् “पर्य-पाङ्बहिरञ्चवः कया” [१।३।१०] इति विमाषा भवति । आचण्डालमाचण्डालेभ्य इति । “वीप्सायां वा हसो वक्ष्यः” [वा०] प्रत्यर्थम् । प्रतिपर्यायम् । अर्थमर्थं प्रति । पर्यायं पर्यायं प्रति ।

यावद्यथावधृत्यसादृश्ये ॥११३।६॥ प्रसक्तस्य परिमाणमवधृतिः । सादृश्यं तुल्यता । यावत् यथा इत्येतौ शब्दावधृति असादृश्य इत्येतयोरर्थयोः सुपा सह यथासंख्यं हसो भवति । यावदमत्रं यावदवकाशमति-
श्रीन् भोजय । यावन्त्यमत्राणि तावतो भोजयेत्यवधार्यते । यथावृद्धं साधूनर्चय । यथापटु । यथाध्यापकम् ।
वृद्धानतिक्रमेणेत्यर्थः । उत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्यथाशब्दस्यार्थो वीप्सा सादृश्यञ्च । अवधृत्यसादृश्य इति किम् ?
यावद् दत्तं तावद्भुक्तम् । यथा देवदत्तस्तथेन्द्रदत्तः । पूर्वेष्वैव यथार्थे हसे सिद्धे सादृश्ये प्रतिषेधार्थमिह यथाशब्दो-
पादानम् । गुणक्रियाङ्गायासादृश्ये हसो वक्तव्यः [वा०] गुणः—यथाशक्ति । यथाबलम् । क्रिया—यथोपदेशम् ।
छाया—यथासुखम् । न वक्तव्यम् । अत्राप्युत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्निगम्यते ।

स्तोके प्रतिना ॥११३।७॥ भीति निवृत्तम् । स्तोकं मात्रा । स्तोकेऽर्थे प्रतिना सह सुबन्तं हसो भवति । सूपस्य मात्रा सूपप्रति । शाकप्रति । स्तोक इति किम् ? वृत्तं प्रति विद्योतते विद्युत् । लक्षणेऽत्र प्रतिशब्दो वर्तते ।

परिणाऽक्षशलाकासंख्याः ॥ ११३।८ ॥ अक्षशब्दः शलाकाशब्दः संख्या च परिणा सह हसो भवति । परिणाक्षशलाकासंख्यमिति सिद्धे बहुवचननिर्देशादिप्रसंगे लब्धो वेति सिंहावलोकनाद्वा । अक्षद्वयो यदा भान्ता एकत्वञ्चाक्षशलाकयोः पूर्वोक्तस्यान्यथावृत्तौ परिशब्दो यदा वर्तते कितव्यवहारविषये तदा वृत्तिरि-
ष्यते । तथाहि पञ्चिका नाम द्युतं यत्र पञ्चाक्षाः शलाका वा पात्यन्ते पञ्चस्वेकरूपासु प्रातयिता जयत्यन्यथा पाते जीयते । अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये । अक्षपरि । शलाकापरि । संख्या—एकपरि । द्विपरि । त्रिपरि । चतुःपरि । परिणति किम् ? सुबन्तमात्रे मा भूत् । अक्षद्वय इति किम् ? पाशकेनेदं न तथा वृत्तम् । एकत्वेऽक्षशलाकयोरिति किम् ? अक्षान्यां न तथा वृत्तम् । कितव्यवहार इति किम् ? अक्षेणेदं न तथा-
वृत्तं शक्यते ।

वा ॥११३।९॥ वेत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्वा भवतीति वेदितव्यः । इत उत्तरः सवि-
धिर्वा भवति पक्षे वाक्यमपि साधु भवति । पूर्वस्तु सविधिरित्यर्थः । तेनास्वपदेन तत्र विग्रहो ज्ञेयः ।

पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया ॥११३।१०॥ परि अप आङ् बहिस् अञ्चु इत्येते सुबन्ताः कान्तेन सह वा हसो भवति । परित्रिगर्तं वृष्टो देवः । वाक्यपक्षे परैर्वर्जने वा वचनमिति वा द्वित्वम् । परि परि त्रिगर्तैभ्यः । परि त्रिगर्तैभ्यः । अप त्रिगर्तैभ्यः । “वर्जनेऽपपरिभ्याम् [१।४।२१] इति का । आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः । पाटलिपुत्रात् । आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य । आ कुमारेभ्यः । “काङ्गमर्यादावचने” [१।४।२०] । इति मर्यादाभिर्विध्योः का । बहिर्ग्रामम् । बहिर्ग्रामात् । इदमेव ज्ञापकं बहिःशब्दयोगे का भवति । अञ्चु । प्राग्ग्रामम् । प्राग्ग्रामात् । प्राची दिग् रमणीया इति विग्रह्य “दिकृच्छ्रदेभ्यो वा केभ्योऽस्तादिग्देशयोः काले” [४।१।१२] इति अस्तात् । तस्य “अञ्चेरुप्” [४।१।१६] इत्युप् । “सुपो केः” [१।४।१५०] इति सुप उप् । पदत्वात् कुत्वम् । तेन योगे ता प्राप्ता तां बाधित्वा दिकृच्छ्रदेत्वात् का प्राप्ता तां बाधित्वा “ताऽतसर्थे त्येन” [१।४।३६] इति तायां प्राप्तायाम् “अञ्चुश्च” [१।४।३८] इति का भवति । कयेति किम् ? परिगतः । अपगतः । वर्जनार्थमावात् का नास्तीति “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति नित्यं षसो भवति ।

लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती ॥११३।११॥ लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । तद्वाचिना सुबन्तेन सह अभि-
प्रतिशब्दावाभिमुख्ये वर्तमानौ वा हसो भवति । अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अभि-
मभि पतन्ति । अग्निं प्रति पतन्तीति वाक्यम् । अत्राग्निना चिह्नेन शलभपातो लक्ष्यते । “वीप्सेत्थभूत-
लक्षणेऽभिना” [१।४।११] इप् । “भागे चानुप्रतिपरिणा” [१।४।१२] इति चेप् । लक्षणेनेति किम् ?
लुप्त्वं प्रति गतः । दिङ्मोहात्तत्रैव पुनरागत इत्यर्थः । अभिमुख्य इति किम् ? अभ्यङ्गा गावः । अभिनवः
प्रतिनवोऽङ्गो यासामिति । यद्यपि पूर्वपदार्थप्रधानो हसस्तथापीहार्थविशेषाभावेऽन्यपदार्थेऽपि स्यात् । अभिप्रती
इति किम् ? येनाग्निस्तेन गतः । येनेत्यस्याग्निना सह हसो न भवति ।

यत्समयाऽनुः ॥११३१२॥ समयावाची अनुशब्द उपचारात् समया । यस्य समया यत्समया । मुख्येन समयाशब्देन योगाभावादिन् भवति । अत एव “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिनाऽपि न तासप्रतिषेधः । अनुयत्समयावाची तेन लक्षणभूतेन सह वा हसो भवति । अनुवनं गतोऽशनिः । वनमनुगत इति वाक्यम् । “भागे चानुप्रतिपरिण” [१।४।१२] इति लक्षणा इप् । वनेन समीपस्थमशनिगमनं लक्ष्यते । “क्ति विभक्त्यभ्यासः” [१।३।५] इत्येवं सिद्धे विकल्पार्थं वचनम् । यत्समयेति किम् ? वृक्षमनु विद्योतते ।

आयामिना ॥११३१३॥ अनुरिति वर्तते । लक्षणेनेति च । अनुनाऽऽयामिना लक्षणेभूतेन सह वा हसो भवति । द्वयोः प्रकृष्टहीनयोर्दीर्घयोर्योगेऽनुः प्रयुज्यमान उभयोर्दीर्घत्वमाह । तत्र प्रसिद्धाऽऽयामेन लक्षणेनातिशयेन दीर्घेण वा हसवृत्तिर्भवति । अनुगङ्गं वाराणसी । अनुशोर्न पाटलिपुत्रम् । वाक्यमपि साधु भवति । गङ्गामन्वायता वाराणसी । नद्यायामेन पत्तनायामो लक्ष्यते । लक्षणे इप् । अथवा “हेतावनुना” [१।४।१३] । “भाऽर्थे” [१।४।१४] इतीव । गङ्गया सहायतेत्यर्थः ।

तिष्ठद्गवादीनि च ॥११३१४॥ तिष्ठद्गु इत्येवमादीनि च शब्दरूपाणि हसंज्ञानि भवन्ति । समुदाया एते हसंज्ञाः कार्यार्थं (कार्यार्थाः) पाठादेवं निपात्यन्त इत्यर्थः । तिष्ठद्गु कालविशेषेऽन्यपदार्थे । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहाय तिष्ठद्गु । “त्यद्यो” [५।१।१२७] इति लटः शत्रादेशो निपातनाद्वा । “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशः । वहन्ति गावो यस्मिन् काले वहद्गु । आयतीगवम् । पूर्वपदस्य निपातनात् पुंवद्भावाभावो ऽकारश्च सान्तो निपात्यते । खलेबुसम् । निपातनादीपोऽलुप् । लूनयवम् । लूयमानयवम् । लूयन्ते यवा यस्मिन् काले त्यद्योरिति लटः शानादेशः । पूतयवम् । पूयमानयवम् । संहतयवम् । संहियमाणयवम् । संहृतबुसम् । संहियमाणबुसम् । एते कालविशेषेऽन्यपदार्थे उक्ताः । समभूमिसमपदातिशब्दौ पूर्वपदार्थप्रधानौ समत्वं भूमेः समत्वं पदातेरिति । उत्तरपदार्थप्रधाने तु समा भूमिः समभूमिरिति षस एव । हसे पूर्वपदस्य केचिन्मकारान्तत्वमपीच्छन्ति । समभूमि । समम्पदाति । सुषमम् । विषमम् । निष्पमम् । दुष्पमम् । अवरसमम् । समशब्देन पूर्वपदार्थप्राधान्ये हसः । अत्र शोभनत्वं समस्येवमादिवाक्यमप्यूह्यम् । उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु षसः । समाशब्दः संवत्सरवाचि । तेन वक्ष्यमाणो हसः । आयतीसमा । आयतीसमम् । पापसमम् । पुण्यसमम् । केचित्तु समशब्देनैव भासमिच्छन्ति । आयत्या सममायतीसमम् । प्रगतमहः प्राहम् (प्राहम्) । उत्तरपदार्थप्राधान्ये षसः । प्राह्णे (ह्णे) कल्याणनामानाबुदितौ तित्यपुनर्वसू । प्ररथम् । प्रमृगम् । प्रदक्षिणम् । अपदक्षिणम् । सम्प्रति । असम्प्रति । इच्-दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । “ज इच्” [४।२।१२८] इति इच् सान्तः । “अन्यस्यापि” [१।३।२३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । चशब्दोऽवधारणार्थः । तिष्ठद्गवादीन्येव नान्यैः सह वृत्तिं लभन्ते । परमं तिष्ठद्गु । “सन्महत्परमो” [१।३।५६] इत्यादिना षवो न भवति ।

पारे मध्ये तथा वा ॥११३१५॥ पारे मध्ये शब्दौ तान्तेन सह हसो भवति वावचनात्तासोऽपि । प्रकृतेन वाग्रहणेन वाक्यस्य साधुत्वमभ्यनुज्ञायते । हसन्नियोगेन वानयोरेकारान्तता निपात्यते । पारं गङ्गायाः । मध्यं गङ्गायाः । पारेगङ्गम् । मध्येगङ्गम् । तासपत्ने गङ्गापारम् । गङ्गामध्यम् ।

संख्या वंश्येन ॥११३१६॥ विद्याजन्मादिकृतः सन्तानो वंशः । तत्र भवो वंश्यः । संख्या वंश्यवाचिना सह हसो भवति । द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणस्य । अत्र सम्बन्धे ता । यदा व्याकरणस्याचार्ययोरभेदविवक्षा यावेतौ द्वौ मुनी तावेव व्याकरणमिति द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणमिति तदा सामानाधिकरथं भवति । एवं सप्तकाशि । त्रिकोशलम् । एकाश्रयस्य वसस्य चापवादोऽयम् ।

नदीभिश्च ॥११३१७॥ बहुवचननिर्देशार्थस्येदं ग्रहणम् । नदीवाचिभिः शब्दैः सह संख्या हसो भवति । सप्त सिन्धवः समाहृताः सप्तसिन्धु । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम् । तिस्रो गोदावर्यः समाहृताः त्रिगोदावरम् । “कृष्णोदंक्पाण्डुपूर्वाया भूमेरः सान्त इष्यते । गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदा ॥” इति

यवागूः । आतुरार्थः सूपः । देवाय बलिः देवबलिः । गृहबलिः । तादर्थ्यं अप् । गोभ्यो हितं गोहितम् । अश्व-
हितम् । हितयोगे इदमेव ज्ञापकमपः । गोभ्यः सुखं गोसुखम् । “अप् चाशिष्या” [१।४।७७] इत्यादिना
ञ्जप् । गोभ्यो रक्षितं गोरक्षितम् । तादर्थ्येऽप् ।

का भीभिः ॥१।३।३२॥ बहुवचनार्थविज्ञानम् । कान्तं भीवचनैः सह षसो भवति । वृकेभ्यो भीः
वृकभीः । वृकेभ्यो भीतो वृकभीतः । वृकेभ्यो भयं वृकभयम् । वृकेभ्यो भीतिः वृकभीतिः । सुष्ठुनुग्रहार्थं^१
पूर्वस्यायं प्रपञ्चः ।

मुक्तापेतापोढपतितापत्रस्तैः प्रायः ॥१।३।३३॥ मुक्त-अपेत-अपोढ-पतित-अपत्रस्त इत्येतैः सह
कान्तं प्रायः षसो भवति । भवान्मुक्तो भवमुक्तः । पापापेतः । सुखापोढः । स्वर्गपतितः । तरङ्गापत्रस्तः । सर्व-
त्रापादाने का । प्राय इति किम् ? प्रासादात् पतितः । भोजनादपत्रस्त इत्येवमादौ न भवति ।

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्लेन ॥१।३।३४॥ स्तोक-अन्तिक-दूर इत्येवमर्थाः शब्दाः कृच्छ्रशब्दश्च
कान्ताः क्लान्तेन सह षसो भवति । स्तोकाण्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्यासादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टा-
दागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कृच्छ्राल्लब्धः । “स्तोकार्थकृच्छ्रेभ्योऽपादाने का” । दूरान्तिकार्थेभ्य इप्वेति का ।
“कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] इत्यनुप् ।

ईप्छौण्डैः ॥१।३।३५॥ ईबन्तं शौण्डादिभिः सह षसो भवति । शौण्डैः सहचरिताः शौण्डाः ।
अत्रेभु प्रसक्तः शौण्डोऽन्तशौण्डः । पानशौण्डः । वृत्तौ प्रसक्तिक्रियाया अन्तर्भावादप्रयोगः । सर्वत्र अधिकरणे
ईप् । शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, संवीत, समीरण, अन्तर् वने^२ अन्तर्वनान्तः । अधि राशि अधि राजाधीनम् ।
“अषडङ्गासितङ्गवध्विद्योः” [४।२।१६] इति खः । यदा पूर्वपदार्थप्राधान्यं विभक्त्यर्थश्च तदा हसः । अन्त-
र्वणम् । अधिखि । परिडत । कुशल । चपल । निपुण ।

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैः ॥१।३।३६॥ सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्ध इत्येतैरीबन्तं षसो भवति । काम्पिल्ये सिद्धः
काम्पिल्यसिद्धः । सांकास्यसिद्धः । ऊके शुष्कः । ऊकशुष्कः । छायाशुष्कः । कुम्भीपक्वः । स्थालीपक्वः । चक्र-
बन्धः । चारकबन्धः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इत्यस्यैव प्रपञ्चः ।

ऋणे व्यैः ॥१।३।३७॥ ईबन्तं व्यान्तैः सह षसो भवति ऋणे गम्यमाने । मासे देयमृणं मासदेयम् ।
मासैकदेशे मासशब्दः । अधिकरणे ईप् । एवं संवत्सरदेयम् । निवोगतः कार्यमृणम् । तेनेहापि भवति पूर्वाह्ण-
ज्ञेयम् । प्रातरध्येयम् । अत्र यत्नान्तेनैवाभिधानादिह न स्यात् । मासे दातव्यम् । मासे दानीयम् । ऋण इति
किम् ? मासे देया भिक्षा ।

खौ ॥१।३।३८॥ खं वर्षये ईबन्तं सुबन्तेन सह षसो भवति । अरण्येतिलकाः । वृत्तिपदेन संज्ञा गम्यत
इति नित्यः सविधिः । “ईपोऽद्धलः” [४।३।१२७] इत्यनुप् । एवमरण्येमाषकाः । वनेकसेरुकाः । वनेवल्ग-
जकाः । पूर्वाह्णे स्फोटकाः । कूपेपिशाचिकाः ।

क्लेनाहोरात्रभेदाः ॥१।३।३९॥ भेदा अवयवाः । क्लान्तेन सह अहोरात्रभेदा ईबन्ताः षसो भवति ।
पूर्वाह्णकृतम् । अपराह्णकृतम् । पूर्वाग्रमुक्तम् । अपराग्रमुक्तम् । भेदग्रहणं किम् ? “उत्पुखलेराभरणैः
पिशाचौ यदभाषत । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तन्तु द्रक्ष्यसि ।”

तत्र ॥१।३।४०॥ क्लेनेति वर्तते । तत्रेत्येतत् क्लान्तेन सह षसो भवति । तत्रकृतम् । तत्रमुक्तम् ।
तत्रपीतम् । ऐकपद्यं प्रयोजनम् ।

क्षेपे ॥१।३।४१॥ क्षेपः कुत्सा । क्षेपे गम्यमाने ईबन्तं क्लान्तेन सह षसो भवति । “कृद्ग्रहणे तिका-

१.-हृषार्थम् अ० । २. वने अन्तः (वनान्तः) वसति अ०, ब०, स० । ३.-रुकाः ।
वने हरिद्वुषाः । वने अ० । -रुकाः । वने हरिद्वुषाः । वने ब०, स० ।

रूपव्यस्यापि ।” अवतत्तेनकुलस्थितं त एतत् । कार्येष्वनवस्थितत्वं तवेदमित्यर्थः । “चे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुप । एवमुदकेविशीर्णं भस्मनिहुतम् । निष्फलं तवेदमित्यर्थः ।

ध्वाङ्क्षेः ॥१।३।४२॥ कृतेनेति निवृत्तम् । क्षेप इति वर्तते । बहुवचनार्थानर्देशः । ध्वाङ्क्षवाचिभिः सुबन्तं षसो भवति क्षेपे । तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः । वृत्ताविवाधस्यान्तर्भावः । तीर्थकाकः । श्राद्ध-वायसाः । अनवस्थित एवमुच्यते । ध्वाङ्क्षैरित्यर्थनिर्देशात्तत्सदृशानामपि ग्रहणमिति केचित् । तीर्थश्वा । तीर्थसारमेयः । तीर्थशृगालः । क्षेप इति किम् ? तीर्थे ध्वाङ्क्षो वास्यते ।

पात्रेसमितादयश्च ॥१।३।४३॥ क्षेप इति वर्तते । पात्रेसमितादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपा-तिताः षसंशा भवन्ति क्षेपे । पात्रे एव समिताः पात्रेसमिताः । पात्रेबहुलाः । न कचिच्चकार्य इति क्षेपो गम्यते । निपातनादनुप । उदुम्बरे मशक इव उदुम्बरमशकः । उदुम्बरकुमिः । कूपकच्छपः । अवटकच्छपः । कूप-मण्डकः । उदपानमण्डकः । नगरकाकः । नगरवायसः । एतेष्विवार्थो वृत्तान्तर्भूतः । मातरिपुरुषः । अयुक्तकारीत्यर्थः । पिरडीशूरः । निरुस्ताह इत्यर्थः । गेहेद्वेडी । गेहेनर्दी । गेहेनर्त्तो । गेहेविजिती । गेहेव्याडः । गर्भेतृतः । गर्भेदृतः । आखनिकवकः । गोष्ठेशूरः । गोष्ठेविजिती । गोष्ठेद्वेडी । गेहेशूरः । गेहेमेही । गेहेर्दासः । गोष्ठेपटुः । गोष्ठेपरिडतः । गोष्ठेप्रगल्भः । कर्णेचुरुचुराः । चकारोऽवधारणार्थः । पात्रेसमितादय एव न वृत्त्यन्तरं लभन्ते । परमाः पात्रेसमिताः । अत एव क्तान्तेनापीह वृत्तिः सार्थिका अन्यथा ‘क्षेपे’ [१।३।४१] इत्यनेनैव सिद्धा स्यात् ।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलं यश्चैकाश्रये ॥१।३।४४॥ एकाश्रयः समानाधिकरणम् । पूर्वकालवाचि-एकसर्व-जरत्-पुराण-नव-केवल इत्येते सुबन्ता एकाश्रये सति सुबन्तेन सह यसंज्ञः सो भवति षसं-ज्ञश्च । पूर्वः कालो यस्य स पूर्वकालः । सम्बन्धिशब्दत्वादपरकालेन तस्य वृत्तिः । पूर्वं स्नाताः पश्चादनु-लिप्ता स्नातानुलिप्ताः । कृष्टसमीकृतम् । छिन्नप्ररूढम् । दग्धप्ररूढम् । एकशायी । एकचर्या । एकभिन्ना । सर्वदेवाः । सर्वपदार्थाः । जरद्धस्ती । जरद्ववः । पुरा भवं पुराणम् । “सायञ्चिरम्प्रा-ह्णे प्रगेष्मिभ्यस्तनद्” [३।२।१३६] इति तनद् । अत एव निपातनात्त्वम् । पुराणान्तम् । पुराणशास्त्रम् । नवावसथः । केवलमसहायं ज्ञानं केवलज्ञानम् । विशेषणवृत्तेरयं प्रपञ्चः । चशब्दः षसंज्ञासमावेशार्थः । अन्यथा राजपुरुषादौ कृतार्था षसंज्ञा बाधेत । मोषिका गौः मोषकगवी । “स्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः, “न बुह्लोडः” [४।३।१४६] इति प्रतिषिद्धो यसंज्ञायाम् “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१४७] इति पुनर्भवति । षसंज्ञाश्रयो “गोरहृदुपि” [४।२।६४] इति टः सान्तः । इत उत्तरमेकाश्रयाधिकारो यावत् “मयूरव्यंसकादयश्च” [१।३।६६] इति । एकाश्रय इति किम् ? एकस्या शायी ।

दिक्संख्यं खौ ॥१।३।४५॥ दिग्वाचि संख्यावाचि च सुबन्तमेकाश्रये सुबन्तेन सह षसो भवति खुविषये । पूर्वेषुकामशमी । अपरेषुकामशमी । पूर्वकृष्णमृत्तिका । अपरकृष्णमृत्तिका । दक्षिणपञ्चालाः । उत्तरपञ्चालाः । संख्या—पञ्चाम्राः । पञ्चवयः । सप्तर्षयः । खाविति किम् ? दक्षिणा ग्रामाः । पञ्च ग्रामाः ।

हृदय्युसमाहारे ॥१।३।४६॥ दिक्संख्यमिति वर्तते । हृदय्यविषये द्यौ परतः समाहारेऽभिषेये दिक्संख्यमेकाश्रये सुबन्तेन सह षसो भवति । दिक् । हृदय्ये—पूर्वस्यां शालायां भवः षसे कृते समुदायात् “दिगादेशखौ” [३।२।८४] इति यः । पौर्वशालः । आपरशालः । द्यौ—पूर्वां शाला प्रिया अस्य पूर्वशालाप्रियः । अपरशालाप्रियः । अवयवापेक्षया षसः । पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । दिशां समाहारो नास्ति । क्रियागुणा-पेक्षयाऽपि समाहारे अनभिधानम् । संख्या । हृदय्ये—पञ्चभिः शङ्कुलीभिः क्रीतः पञ्चशङ्कुलः । अनेन

षसे कृते तस्य “संज्ञादी रश्च” [१।३।४७] इति रसंज्ञायां आर्ह्यस्य ठसो “गदुबखौ” [३।४।२६] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।१६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पञ्चानां नापितानामपत्यं पाञ्चनापितिः । “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इति वचनं ज्ञापकं हृदर्थेऽपि से हृदुत्यतिर्भवति । द्यौ-पञ्च गावो धनमस्येति पञ्चगवधनः । अवयवसापेक्षया “गोरहृदुपि” [४।२।६४] इति टः सान्तः सिद्धः । द्वेऽहनी जातस्य द्वयह्जजातः । “एभ्योऽह्नोऽह्नः” [४।२।६०] इत्यह्नादेशः । समाहारे-पञ्च पूलाः समाहृताः पञ्चपूली । अनेन षसः । उत्तरसूत्रेण रसं-ज्ञायां “रात्” [३।१।२५] इति ङीविधिः । कथं षण्णगरी ? अत्रापि क्रियागुणापेक्षया समाहारोऽस्ति । लब्धा शोभना चेति गम्यते समाहारस्यैकत्वादिकवचनम् । ननु समाहारः समूहः स तु हृदर्थ एव न पृथक् समाहार-निर्देशात् । समूहार्थस्य त्यस्यानुपपत्तिः पञ्चानां कुमारीणां समाहारः पञ्चकुमारः । त्योत्पत्तौ हि “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्येत । ततश्च “हृदुप्युप्” [१।१।१६] स्त्रीत्यस्योप् स्यात् ।

संख्यादी रश्च ॥१।३।४७॥ हृदर्थव्युत्समाहार इत्यत्र संख्यादिर्द्यः स उक्तः स रसंज्ञो भवति हृदर्थे । द्वावनुयोगौ वेत्यधीते वा द्व्यनुयोगः । “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्यण उप् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः । द्यौ-पञ्च नावः प्रिया अस्य पञ्चनावप्रियः । “नावो रात्” [४।२।१०२] इति टः सान्तः । समाहारे-पञ्चपूली । चशब्दः प्रसंज्ञासमावेशार्थः । द्वे अंगुली समाहृते द्वयङ्गुली । “षेऽङ्गुलेर्भि-संख्यादेः” [४।२।८८] इति अः सान्तः । “रात्” [३।१।२५] इति ङीविधिश्च सिद्धः ।

कुत्स्यं कुत्सनैः ॥१।३।४८॥ कुत्स्यवाचि सुवन्तं कुत्सनवाचिना षसो भवति । वैयाकरणखसूचिः । प्रत्यासत्तः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सायामयं सविधिः । रूपसिद्धिं पृष्ठो निःप्रतिभः सन् यः खं सूचयति वीक्षते स खसूची । खसूचिखं कुत्सनम् । विशेषणस्य परनिपातार्थ आरम्भः । एवं क्षत्रियमीरुः । श्रोत्रियकितवः । भिक्षुविटः । मीमांसकदुर्दुरुटः । कुत्स्यमिति किम् ? वैयाकरणः कितवः । न हि वैयाकरणत्वं कितवत्वेन कुत्स्यते । कुत्सनैरिति किम् ? कुत्सितो ब्राह्मणः ।

पापाणके कुत्स्यैः ॥१।३।४९॥ पापाणकशब्दौ कुत्सनवचनौ कुत्स्यवचनैः षसो भवति । पापकु-लालः । आणकनापितः । पूर्वयोगेन कुत्स्यस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातार्थ आरम्भः ।

सामान्येनोपमानम् ॥१।३।५०॥ उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम् । उपमीयते परिच्छि-द्यते अनेन सादृश्येनार्थ इत्युपमानम् । उपमानवाचि सुवन्तं सामान्यवाचिना सुवन्तेन सह षसो भवति । निरा-धारं सामान्यं न प्रतीयत इति सामान्यधर्मेण विशिष्टं यदुपमेयं तेनात्र वृत्तिः । शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता । शस्त्रीशब्दः श्यामगुणमुपादाय देवदत्तायां वर्तत इति एकाश्रया वृत्तिर्न विरुध्यते । मृगीव चपला मृगचपलेति पुं वद्भावश्च भवति । एवं कुमुदस्येनी हंसगमनी न्यग्रोधपरिमण्डला दूर्वाकाण्डश्यामा सरकाण्ड-गोरी । सामान्येनेति किम् ? फला इव तण्डुलाः । पर्वता इव बलाहकाः । उपमानमिति किम् ? देवदत्ता श्यामा ।

व्याघ्रै रूपमेयोऽतद्योगे ॥१।३।५१॥ तस्य सामान्यस्य योगः प्रतिषिध्यते । उपमेयार्थवाचि व्याघ्रा-दिभिः सह षसो भवत्यतद्योगे । उपमेयशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वादुपमाने न वृत्तिः । साधारणधर्मः सामान्यं हि वृत्तावन्तभूतम् । अतद्योग इत्यनेन विशिष्टः साधारणधर्मः प्रतिषिध्यते । पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । पुरुषविशेषणस्य परनिपातार्थ आरम्भः । व्याघ्रं सिंहं ऋषभं चन्दनं वृकं वृषभं वृषं वराहं हस्तिनं कुञ्जरं ररं पुण्डरीकं स्त्री पलायिका । आकृतिगणोऽयम् । तेन मुखकमलं करकिशलयं पुरुषचन्द्रादि सिद्धम् । अतद्योग इति किम् ? पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः । इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं भवति-प्रधानस्य सापेक्षस्यापि वृत्तिः । तेन राजपुरुषो दर्शनीयः । राजपुरुषः परिणत इत्येवमादि सिद्धम् ।

विशेषणं विशेष्येणेति ॥१३।५२॥ एकाश्रय इति वर्तते । यत् सामान्याकारेण प्रवृत्तं सत् अनेक-
प्रकाराधारभूतं वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यावर्त्यैकत्र प्रकारे अवस्थापयति तद्विशेषणम् । अनेकप्रकाराधारभूतं
वस्तु विशेष्यम् । विशेषणं विशेष्यवाचिना सह षसो भवति । कृष्णश्च स कम्बलश्च स कृष्णकम्बलः ।
लोहिता च सा शाटी च सा लोहितशाटी । अर्द्धञ्च तत् पिप्पली च सा अर्द्धपिप्पली । यदा पिप्पल्यवयवे
पिप्पलीशब्दस्तदेवं वृत्तिकेकाश्रयाधिकारात् । यदा समुदाये वर्तते तदा पिप्पल्यर्द्धमिति तासः । भिन्नैकदेशो
भिन्नाशब्दः । द्वितीया भिन्ना द्वितीयभिन्ना । तृतीयभिन्ना । चतुर्थभिन्ना । तुर्यभिन्ना । इह भिन्नाद्वितीयमिति
तासो नोपपद्यते । “**डदृगुणतुसार्यण**” [१३।७५] आदिप्रतिषेधस्य बलीयस्त्वात् । कायैकदेशो कायशब्दः । पूर्वः
कायः पूर्वकायः । अपरः कायः अपरकायः । उत्तरकायः । एवं मध्याह्नः । सायाह्नः । पूर्व कायस्येति अव-
यवसम्बन्धे तासानभिधानं पूर्वं कायादिति प्राप्नोति । विशेषणविशेष्ययोरन्यतरस्य ग्रहणेऽपि सम्बन्धिशब्दत्वादु-
भयोः प्रतिपत्तिरिति द्वयनिर्देशो व्यर्थः ? नैवम् ; यत्र पूर्वोत्तरपदयोः प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभावस्तत्र यथा स्यादिह
मा भूत् । वृद्धः शिशपा । शिशपा हि वृद्धार्थं न व्यभिचरतीति न तस्या विशेष्यत्वम् । यदा शिशपादिशब्दाः
फलादिष्वपि वर्तन्ते तदोभयोर्विशेष्यत्वे सविधिमवत्येव । शिशपावृद्धः । पलाशावृद्धः । उभयोर्विशेषणत्वे कस्य
पूर्वनिपात इति चेत् प्रधानद्रव्यापेक्षयान्वयस्य नीचो गुणस्य पूर्वनिपातः । यद्यप्युत्पलादिशब्दो जातिशब्द-
स्तथापि जातिद्रव्यस्योत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशादात्मभूता प्रतीयत इति जातिनिमित्तः शब्दो द्रव्यशब्दो व्यवस्था-
प्यते । अत एव विशेष्यत्वमुत्तरपदार्थस्य द्रव्यद्वारेण जातेरनीलत्वादानाधेया^१तिशयत्वाच्च, सामानाधिकरण्यं तु
जात्यपेक्षया, जातेर्भेदाभेदविवक्षा अनेकान्ताधिकाराल्लभ्यते । विशेषणमिति किम् ? तन्नकः सर्पः । संज्ञेषा ।
अस्य विशेष्यत्वमेव न विशेषणत्वम् । विशेष्येणेति किम् ? लोहितस्तन्नकः । तस्य^२ लोहितत्वाव्यभिचारादवि-
शेष्यत्वम् । इतिशब्दः किमर्थो यत्र लोके विवक्षा तत्र यथा स्यात् । इह न भवति रामो जामदग्न्यः । अर्जुनः
कर्तव्यैः । इह कृष्णसर्पः लोहिताहिः लोहितशालिरित्येवमादिषु संज्ञाशब्देषु नित्यः सविधः । वाक्यं तु साह-
स्यमात्रेण । नीलोत्पलादिभूमयम् । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् । इहेच्छया विशेषणत्वम् । खञ्जकुण्डः ।
कुण्डखञ्जः ।

पूर्वाऽपरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराः ॥१३।५३॥ पूर्वं-अपर-प्रथम-चरम जघन्य-
समान-मध्य-मध्यम-वीर इत्येते एकाश्रये सुपा सह समस्यन्ते षसो भवति । पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । प्रथम-
पुरुषः । चरमपुरुषः । जघन्यपुरुषः । समानपुरुषः । मध्यपुरुषः । मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः । एवमाद्यनुक्रमणं
पूर्वयोगप्रपञ्चार्थः । उपसर्जनानां परोपसर्जनार्थम्, प्रधानानां परप्रधानार्थञ्च । इह सूत्रे पूर्वशब्दो वीरशब्द-
श्चोपसर्जनं तयोर्वृत्तौ परत्वात् वीरशब्द उपसर्जनम् । वीरपूर्वः । “**वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत्**” [१३।५७]
इत्यत्र नागशब्दः प्रधानं “**पोटायुवति**” [१३।६०] इत्यत्र प्रवक्तृशब्दः प्रधानं तयोर्वृत्तौ परत्वात् प्रवक्ता
प्रधानम् । नागप्रवक्ता ।

श्रेण्यादि कृतैः ॥१३।५४॥ श्रेण्यादयः कृतादिभिः सह एकाश्रये षसो भवति । वैषम्याद्यथासङ्ख्यं
न भवति । श्रेण्यादिषु व्यर्थग्रहणं कर्तव्यं न कर्तव्यमिति शब्दानुवृत्तेस्तत्रैव वृत्तिः । अश्रेण्याः श्रेण्याः
कृताः श्रेणिकृताः । अन्का ऊकाः कृताः ऊककृताः । व्यर्थान्यत्र श्रेण्याः कृताः । करोतेरनेकार्थत्वाद्-
पिडता पूजिता वेति गम्यते । विकल्पेन च्चिर्विधास्यते यदा च्विस्तदा परत्वात् “**तिकुप्रादयः**” [१३।५०] इति
नित्यं षसः । श्रेणीकृताः । ऊकीकृताः । श्रेणि ऊक पूग कुन्दुम राशि निचय विषय विशिष्ट निर्धन देव इन्द्र
सुरङ्ग श्रमण भूत वदान्य अध्यापक ब्राह्मण क्षत्रिय पट्ट पण्डित कुशल चपल निपुण इति श्रेण्यादिः ।
कृतादिराकृतिकरणः । कृत मित मत भूत उक्त समाज्ञात समाख्यात समाभ्यात सम्भावित अवधारित संसेवित
अवकल्पित निराकृत उपकृत इत्येवमादि । क्रियाकारकसम्बन्धोऽत्र न विशेषणविशेष्यभाव इति ।

विसमाप्तौ क्लोऽनञ् ॥१३।५५॥ विगता समाप्तिः विसमाप्तिः । ईषन्निष्पत्तिरित्यर्थः । अनञ-
क्तान्तं विसमाप्तौ सामर्थ्यात् क्तान्तेन समस्यते षसो भवति । एकस्यां हि क्रियायां विसमाप्तिर्भवति न क्रिया-
भेद इति सामर्थ्यम् । क्तान्तस्यानञिति प्रतिषेधान्नञ् पूर्ववणापि क्तान्तेन सविधिः । कृतञ्च तदकृतञ्च कृता-
कृतम् । कृतभागसम्बन्धात् कृतम् । अकृतभागसम्बन्धात्तदेवाकृतम् । एवं भुक्ताभुक्तम् । पीतापीतम् ।
अशितानशितम् । क्लिष्टाक्लिष्टितम् । “क्लिष्टशस्त्वोः” [५।१।१८] इति वेट् । मुक्तविमुक्तम् । पीतवि-
पीतम् । कृतापकृतम् । विसमाप्ताविति किम् ? सिद्धं चाभुक्तं च । क्रियाभेदे विसमाप्तिर्नास्ति एकस्याः
समाप्तत्वादपरस्या अननुष्ठानात् । क्त इति किम् ? कर्तव्यं तदकर्तव्यं च । अनञिति किम् ? अकृतं च
तत्कृतञ्च । ननु कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यैव ग्रहणमनञिति किमर्थम् ? नञ् पूर्ववणापि वृत्त्यर्थमिति शेषः । इह
गतप्रत्यागतः यातानुयात इत्येवमादिषु “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यादिना षसः ।

सम्नहत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूज्येन ॥१३।५६॥ सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्ट इत्येते सुवन्ताः पूज्य-
वचनेन सह समस्यन्ते षसो भवति । संश्च सः पुरुषश्च सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उद्भूततमः
उत्तमः । अत एव निपातनात् “किमेन्निङ्क्षिभादामद्रव्ये” [४।२।२०] इत्याम् न भवति । उत्तमपुरुषः ।
उत्कृष्टपुरुषः । पूज्येनेति वचनादत्र सदादयः पूजावचना ज्ञातव्याः । पूज्येनेति किम् ? उत्कृष्टो गौः । कर्द-
मादुद्धृत इत्यर्थः ।

वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत् ॥१३।५७॥ पूज्येनेति वर्त्तमानमर्थवशाद्धान्तं संपद्यते । वृन्दारकादिभिः
सह तत् पूज्यवाचितुवन्तं समस्यते षसो भवति । तदित्यनेन पूज्यवचनेनाभिसम्बन्धात् वृन्दारकादयः पूजा-
वचना गृह्यन्ते । गौरचासौ वृन्दारकश्च गोवृन्दारकः । पुन्नागः । गोकुञ्जरः । अश्वकुञ्जरः । व्याघ्रादेराकृति-
गणत्वात् “व्याघ्रैरुपमेयेऽतद्योगे” [१।३।५१] इत्येव सिद्धे सामान्यप्रयोगेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । गोनागो
ब्रह्मवान् । तदिति किम् ? शोभना शीमा फणा अस्य सुशीमो नागः ।

कतरकतमौ समर्थौ ॥१३।५८॥ किंशब्दात् “किञ्चित्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरः” [४।१।१४७]
“वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः” [४।१।१४८] तयोः परतष्टिवि कृते कतरकतमशब्दौ सिद्ध्यतः । समर्थौ सङ्ग-
तार्थौ समानार्थविकार्यावित्यर्थः । तौ सुवन्तेन सह समस्यते षसो भवति । कदा चानयोः समानार्थत्वं यदा
जातिप्रश्ने तौ व्युत्पाद्येते तदा तयोः समानार्थत्वम् । कतरश्च स गार्ग्यश्च कतरगार्ग्यः । कतमगार्ग्यः । कत-
रकठः । कतमकठः । वृद्धं चरणैः सहेति जातिवाचित्वम् । समर्थाविति किम् ? कतरो भवतोर्देवदत्तः ।
द्रव्यप्रश्नोऽयम् । समर्थग्रहणं हि कतरस्यैव विशेषणं डतरस्याविशेषेण विधानान्न कतमस्य । डतमस्य
जातिप्रश्न एव तैर्विधानात् । अतः कतमो भवतां देवदत्त इति व्यावृत्त्युदाहरणमत्रानुपपन्नम् । कतरकत-
मयोः प्रश्ने विहितयोः सविधिना न गार्ग्यादिविशेष्यव्यवस्थेति वचनम् ।

क्षेपे किम् ॥१३।५९॥ क्षेपः कुत्सा । यो हि यदर्थस्तस्य तदर्थाननुष्ठानं क्षेपः । किमेतत् क्षेपे गम्ये
सुवन्तेन समस्यते षसो भवति । को नाम राजा किराजा । यो न रक्षति । “न स्वति किमः” [४।२।६६]
इति सान्तप्रतिषेधः । किसखा । योऽभिद्रुहति । किगौः । यो न वहति । “गोरुहदुपि” [४।२।६४] इति
सान्ते टे प्राप्ते “न स्वति किमः” [४।२।६६] इति प्रतिषेधः । सर्वत्र स्वकार्याभावात् क्षेपः । क्षेप इति
किम् ? को राजा पाटलिपुत्रे । किमिति योगविभागः । तेन संज्ञायां शुकादिभिः सह किंशब्दः समस्यते षसो
भवति । किंशुकः पलाशः । किंशुलुकः पर्वतः । किंपुरुषो मयुः । किन्नरः स एव । किञ्जल्कः पुष्परेणुः ।
किङ्किरातः । किंवदन्तीत्यादयः सिद्धाः ।

**पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्वच्यणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधृतैर्जातिः ॥१।
३।६०॥** पोटादीनामितरेतरयोगो द्वन्द्वः । पोटादिभिः सहैकाश्रये जातिः समस्यते षसो भवति । विशेषणस्य
परनिपातार्थ आरम्भः । जातिद्वारेण यः शब्दो द्रव्ये वर्त्तते स इह जातिशब्दोऽभिप्रेतः । इम्या च सा पोटा

च इम्यपोटा । इम्येति जातिशब्दः । स्त्री भूत्वा राज्यपालनार्थं या पुंवेष्टेण युज्यते सा पोटा । यापि गर्भ एव दास्यं गता साऽपि पोटा । “स्युक्तपुंस्क” [४।३।१४६] इत्यादिना पुंवद्भावे प्राप्ते “जातिश्च” [४।३।१५३] इति प्रतिषिद्धे “पुं वद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति पुंवद्भावः । एवमार्थपोटा । युवतिस्तस्मिन् । इम्य-युवतिः । क्षत्रिययुवतिः । अग्निश्च स स्तोकश्च तदग्निस्तोकम् । दधि च तत् कतिपयञ्च दधिकतिपयम् । स्तोककतिपयशब्दावेकार्थे । सकृत्प्रसूता गृष्टिः । गौश्च सा गृष्टिश्च गोगृष्टिः । धेनुरभिनवप्रसवा । गोधेनुः । वशा वन्ध्या । गोवशा । वेहत् गर्भघातिनी । गर्भधारिणीत्यन्ये । गोवेहत् । महता वत्सेन या दुह्यते सा वृष्कयिणी । गोवृष्कयिणी । प्रवक्ता उपाध्यायः । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । अध्यापकोऽप्येता । कठा-ध्यापकः । कठधूर्तः । बुद्धिमानित्यर्थः । धूर्तग्रहणमिहाकुत्सार्थम् । अथवा आश्रयिणु कुत्सितेषु तद्वति । आश्रयेषु तु कुत्स्येषु इदम् । ब्राह्मणधूर्तः क्षत्रियधूर्त इति यदा हि ब्राह्मणत्वमाश्रयि कुत्स्यते तदा तेनैव सिद्धं सविधानम् । यदा तु तद्युक्तो देवदत्तः कुत्स्यते तदर्थमिदम् । जातिरिति किम् ? देवदत्तः प्रवक्ता । देवदत्त-शब्दस्याजातिवचनत्वादवृत्तिः । जातेर्विशेषायाः पूर्वनिपातार्थं आरम्भः ।

चतुष्पादभिर्मत्या ॥१।३।६१॥ जातिरिति वर्तते । चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पादवादिजातिः । “सुसंख्यादेः” [४।२।१४०] इत्यकारस्य खम् । चतुष्पाज्जातिर्गर्भिणीशब्देन सहैकाश्रये समस्यते षसो भवति । गौश्च सा गर्भिणी च गोगर्भिणी । अजगर्भिणी । “पुं वद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति पुंवद्भावः । चतुष्पादिति किम् ? ब्राह्मणी गर्भिणी । जातिरित्येव । कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी । चतुष्पदः संज्ञे षा । न तु जातिः । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् ।

प्रशंसोक्त्या ॥१।३।६२॥ जातिरिति वर्तते । उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । प्रशंसाशब्देन सह जातिवाचि सुबन्तं समस्यते षसो भवति । गौश्च स प्रकाण्डश्च तत् गोप्रकाण्डम् । प्रशस्तो गौरित्यर्थः । एवमश्वप्रकाण्डम् । गोमतल्लिका । अश्वमचर्चिका । गोकुमारी । गोतल्लजकः । अभिधा जातिरित्येव । देवदत्ता कुमारी ।

युवा खलति पलित वलिन जरद्विः ॥१।३।६३॥ खलति पलित वलिन जरदित्येतैरेकाश्रयैर्युवशब्दः समस्यते षसो भवति । युवा खलतिः युवखलतिः । युवतिः खलती युवखलती । युवा पलितः युवपलितः । युवतिः पलिता युवपलिता । वलयोऽस्य सन्ति वलिनः । पामादिखलनः । युवा वलिनः युववलिनः । युवतिर्वलिना युववलिना । “जृषोऽतृ” [२।२।८७] इति अतृत्ये कृते जरदिति भवति । युवा जरन् युवजरन् । युवतिर्जरती युवजरती । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।” “पुं वद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति पुंवद्भावात् तिशब्दस्य निवृत्तिः ।

व्यतुल्याख्या अजात्या ॥१।३।६४॥ व्यान्तास्तुल्याख्याश्च अजातिवाचिना सह समस्यन्ते षसो भवति । परनिपातः फलम् । भोज्यश्च तदुष्णश्च भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । पानीयशीतम् । हरणीयपूर्णो घटः । तुल्याख्याः । तुल्यश्च स श्वेतश्च स तुल्यश्वेतः । सदृशश्वेतः । तुल्यमहान् । सदृशमहान् । अजात्येति किम् ? भोज्य आदनः । तुल्यो वैश्यः । इह तुल्यसन्निधि पूज्यत्वाभावात् परत्वाद्दानेन सः । इह कथमेकाश्रया वृत्तिः । कृष्णसारङ्गः । लोहितसारङ्गः । कृष्णशबलः । लोहितशबलः । यदि सारङ्गादिशब्दा जातिवचना जातेः कथञ्चिद्द्रव्यादिभिन्नत्वमित्येकाश्रयत्वमस्ति ततो विशेषणलक्षणः सः । अथ पूर्वोत्तरपदयोर्व्यावेशेषवाचित्वं तत्रापीच्छातो विशेषणविशेष्यभावः । कृष्णश्वेतः । श्वेतकृष्णः ।

कुमारः श्रमणादिभिः ॥१।३।६५॥ कुमारशब्दः श्रमणादिभिः सह समस्यते षसो भवति । कुमारशब्दो मृत् । स्त्रीलिङ्गैस्त्तरपदैः स्त्रीलिङ्गः । अध्यापकादिभिरभयथा समस्यते । कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा ।

१.-मतल्लिका । अश्वमतल्लिका । गोमचर्चिका । गोकुमा-अ० ।-ल्लिका । अश्वमतल्लिका ।

अश्वमत-व० ।

कुमारी प्रव्रजिता कुमारप्रव्रजिता । कुमारश्च स अध्यापकश्च स कुमारव्यापकः । कुमारी अध्यापिका कुमारा-
ध्यापिका । श्रमणा प्रव्रजिता कुलटा गर्भिणी तापसी बन्धकी दासी एते स्त्रीलिङ्गाः । अध्यापक अभिरूपक
मृदु मृदु पण्डित कुशल चपल निपुण ।

मयूरव्यंसकादयश्च ॥१३।६६॥ मयूरव्यंसकादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपातिताः षसंज्ञा
भवन्ति । विशिष्टावंसावस्य व्यंसः । इवार्यैः कः । व्यंसको मयूरो मयूरव्यंसकः । छत्रव्यंसकः । कम्बोजमुण्डः ।
यवनमुण्डः । एतेषु परनिपातः प्रयोजनम् । “एहीडादयोऽन्यपदार्थे ।” एहीडमिति यत्र कर्मणि एहि यवैरिति
एहीडम् । एहियवं वर्तते । एहिवाणिजेति यस्यां क्रियायां सा एहिवाणिजा । प्रेहिवाणिजा । एहिस्वागता ।
अपेहिस्वागता । एहिद्वितीया । अपेहिद्वितीया । प्रोहकटमस्यां प्रोहकटा । प्रोहकदर्मा । उद्धमचूडा । आहर-
चेला । आहरवसना । आहरवितता । भिन्धिप्रलवणा । उद्धर उत्सृजेति यस्यां सा उद्धरोत्सृजा । उद्धमविधमा ।
उद्धरविसृजा । उत्पतनिपाता । उत्पचनिपाता । आख्यातमाख्यातेन सिद्धेऽप्यसातत्यार्थं वचनम् । उदक्च
अवाक्च उच्चावचम् । उच्चैश्च नीचैश्च उच्चनीचम् । आचितञ्चोपचितञ्च आचोपचम् । आचितपराचि-
तस्य आचपराचम् । निश्चितप्रचितस्य निश्चप्रचम् । अकिञ्चनम् । स्नात्वाकालकः । पीत्वास्थिरकः । भुक्त्वा-
सुहितः । प्रोष्यपापीयान् । उत्पत्यपाकला जाता । निपत्यरोहिणी जाता । निषद्यश्यामा जाता । अपेहिप्रधसा वर्तते ।
इहपञ्चमी । इहद्वितीया । ‘जहि कर्णणा बहुलसामाक्षिण्ये कर्तारं चामिदधाति ।’ जहि जोडमित्याह जहिजोडः ।
उज्जहिजोडः । जहिस्तम्भः । बहुलमिति किम् ? पचौदनम् । “आख्यातमाख्यातेन सातत्ये ।” अरनीतापिप्रता
वर्तते । पचतभृज्जता । खादतमोदता । खादाचामाः । आहरविवसा । आहरनिष्किरा । अविहितलक्षणं सवि-
धानमिह द्रष्टव्यम् । तेन शाकप्रधानः पार्थिवः शाकपार्थिवः । कुतपसौश्रुतः । अजातौत्वलिः । धृतरौढीयाः ।
ओदनपाणिनीया इत्येवमादि सिद्धम् । चकारोऽवधारणार्थः । परमो मयूरव्यंसकः । वृत्त्यन्तरं न भवति ।

काला मेयैः ॥१३।६७॥ कालवाचिनः शब्दा मेयैः परिच्छेद्यैः सह समस्यन्ते षसो भवति । मेयै-
रिति सम्बन्धात् काला मानवचना गृह्यन्ते । यद्यपि मुख्यं मानत्वं व्यवहारकालस्य मासादेर्न सम्भवति तथापि
वचनात् परिच्छेदेहेतुत्वमात्रं साधर्म्यमुपादायोपचारात् कालः परिमाणम् । मासादयो जातादेः सम्बन्धिनी-
मादित्यगतिं परिच्छिन्दन्तीति जातस्यापि परिच्छेदेहेतव उच्यन्ते । एकाश्रय इति निवृत्तम् । मासो जातस्य मास-
जातः । संवत्सरजातः । तासापवादोऽयम् । काला इति बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? द्वे अहनी जातस्य द्वयह-
जातः । त्रिपदोऽपि षसो यथा स्यात् । “हृदर्थद्यु समाहारे” [१।३।४६] इत्यवयवषसे “राजाहःसखिभ्यष्टः”
[४।२।१३] इति टः । “एभ्योऽह्नोऽह्नः” [४।२।१०] इति अह्नादेशः । यदा द्वयोराह्नोः समाहार इति विग्र-
हस्तदा “न समाहारे” [४।२।११] इत्याह्नादेशप्रतिषेधः सिद्धः । द्वयहो जातस्य द्वयहजातः । त्रयहजातः ।

नञ् ॥१३।६८॥ नञ् सुपा सह समस्यते षसो भवति । अत्राह्वणः । अधर्मः । असर्वज्ञः ।
अगौः । नेयं पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरलिङ्गासंख्यत्वप्रसङ्गात् । किञ्च पूर्वपदप्रधानो हस उक्तः । अमन्त्रि-
कमिति । अन्यपदार्थप्राधान्ये तु अवर्णा हेमन्त इत्यत्र प्रादेशादि प्राप्नोति । अस्तूत्तरपदार्थप्रधानेयं वृत्तिः । यद्ये-
वमगामानयेत्युक्तेऽगोमात्रस्यानयनं स्यात् । अथ स्वयमेव निवृत्तिपदार्थको गोशब्दः स नञा केवलं द्योत्यते । एवं
सति न कस्यचिदानयनं स्यात् । नायं दोषः । द्वाविह गोशब्दो प्रवृत्तपदार्थको निवृत्तपदार्थकश्च ।
सारूप्यात्तयोर्भेदपरिज्ञाने निवृत्तपदार्थकस्य द्योतनार्थं नञः प्रयोगः प्रतिषेधे सत्युत्तरपदार्थसदृशो वृत्त्यर्थो जायते ।
“नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः” [परि०] इति वचनात् । अन्यपदार्थे तु परत्वादसो भवति ।
अशालिको देशः । अकारो नञोऽनित्यत्र विशेषणार्थः । वामनपुत्रादिध्वनादेशो मा भूत् ।

गुणोक्त्येषद् ॥१३।६९॥ उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । गुणशब्देन सह ईषच्छब्दः समस्यते षसो
भवति । ईषत्कडारः । ईषत्पिङ्गलः । ईषद्विकटः । ईषदुन्नतः । ईषद्रक्तः । ईषत्पीतः । हृदुत्पत्तिः प्रयो-

जनम् । गुणोक्त्येति किम् ? ईषत्कारकः । ईषद्भाग्यः । ज्ञात्येकार्थसमवायिक्रियागुणापेक्षया जातेरपि वृद्धिहासौ ।

ता ॥१३॥७०॥ तान्तं सुवन्तेन सह षसो भवति । मोक्षमार्गः । स्वर्गसुखम् । राजपुरुषः ।

कृति ॥१३॥७१॥ कृत्प्रयोगे या ता तदन्तं सुपा सह षसो भवति । “न प्रतिपदम्” [१३॥७३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तस्यायं पुरस्तान्निरासः । इध्मनां ब्रश्चनः इध्मब्रश्चनः । पलाशसातनः । अविल-
वनः । श्मश्रुकर्तनः । करणे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१४॥६८] इति ता ।

याजकादिभिः ॥१३॥७२॥ याजकादिभिश्च सह तान्तं समस्यते षसो भवति । पूर्वेण प्रातः तृज-
काभ्यां कर्त्तरीति प्रतिषिद्धः पुनरनेन षसः । देवानां याजको देवयाजकः । साधूनां पूजकः साधुपूजकः ।
याजक पूजक परिचारक परिवेषक स्नापक अध्यापक उद्धर्त्तक उःसादक होतृ भर्तृ रथगणक पतिगणक ।

न प्रतिपदम् ॥१३॥७३॥ प्रतिपदं विहिता या ता तदन्तं न समस्यते । शेषलक्षणां तां मुक्त्वा
सर्वाऽन्या ता प्रतिपदविधाना । सर्पिषो ज्ञानम् । पयसो ज्ञानम् । “ज्ञो स्वार्थं करणे” [१४॥६८] इति ता ।
इहापि धर्मानुस्मरणम् । धर्मचिन्तनमिति । “स्त्र्यर्थदयेशां कर्मणि” [१४॥६९] इत्यनेन शेषलक्षणा तान्-
यते । वनस्वामी । वनेश्वरो विद्यादायाद इत्येवमादिषु “स्वामीश्वरः” [१४॥७०] आदि सूत्रे चकारेण
शेषलक्षणा ता समुच्चयते ।

निर्धारणे ॥१३॥७४॥ निर्धारणे या ता तदन्तं न समस्यते । जतिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य
निष्कृष्य धारणं पृथक्करणं निर्धारणम् । क्षत्रियो मनुष्याणां शूद्रतमः । श्यामा नारीणां दर्शनीयतमा । कृष्णा
गवां सम्पन्नक्षीरतमा । धावन्तोऽध्वगानां क्षिप्रतमाः । क्षत्रियादिशब्देन सह वृत्तिर्न भवति । “यतश्च निर्धा-
रणम्” [१४॥७१] इति चकारेण शेषलक्षणायास्तायाः समुच्चयः । प्रतिपदविधानत्वे हि पूर्वैरेव सिद्धः प्रति-
षेध इतीदमनर्थकं स्यात् । इह पुरुषेश्वर इति शेषलक्षणा ता विवक्षिता न निर्धारणलक्षणा ।

डङ् गुणतुतार्थसत्तव्यैकद्रव्यैः ॥१३॥७५॥ डडन्तं गुणार्थं तुतार्थं सत्संज्ञं तव्य एकद्रव्य इत्येतैः
सह तान्तं न समस्यते । तस्य पूरणे डडित्यतः प्रभृति तमट्टकारेण डडिति प्रत्याहारः । चक्रधराणां पञ्चमः ।
तीर्थङ्कराणां षोडशः । बलदेवानां नवमः । समुदायसमुदितसम्बन्धे शेषलक्षणा ता । गुणार्थः—बलाकायाः
शौक्यम् । काकस्य काष्ण्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । गुणगुणिसम्बन्धे ता । “डङ्गि पररूपम्” [४३॥८१]
इत्यत्र परस्य रूपं पररूपमिति वृत्तिपदं ज्ञापकं यो गुणद्वारेण पूर्वं द्रव्ये वृत्तो भवत्यन्ते गुणमाह तेन गुण-
शब्देनेह प्रतिषेधः । यस्तु सर्वदा गुणवचनस्तेन वृत्तिर्भवत्येव । हस्तिरूपम् । कपित्थरसः । चन्दनगन्धः । अग्नि-
स्पर्शः । गुणशब्देनेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शा गुणा अभिप्रेताः । ततस्तद्विशेषैरयं प्रतिषेधः, तेन यत्न-
गौरवं सूत्रलाघवं करणपाठवं वचनप्रामाण्यं गोविंशतिरित्येवमादिषु न प्रतिषेधः । वृषलस्य धाष्टर्यमित्यत्र
वृत्तेरनभिधानम् । तुतार्थः—फलानां तुतः । सङ्गानां पूर्णः । फलानां सुहितः । सङ्गानां प्रीतः । “तृप्त्यर्थं तृप-
संख्यानम्” [वा०] इति ता । सदिति शत्रुशानयोः संज्ञा । चोरस्य द्विषन् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१४॥६८]
इति कर्मणि ता प्राप्ता “न स्मितः” [१४॥७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धः । “द्विषः शत्रुर्वा वचनम्” [वा०]
इति ता । इह तु शेषलक्षणा ता । देवदत्तस्य कुर्वन् । देवदत्तस्य कुर्वाणः । तव्यः—देवदत्तस्य कर्तव्यम् ।
जिनदत्तस्य कर्तव्यम् । अत्रापि “व्यस्य वा कर्त्तरि” [१४॥७५] इति शेषलक्षणा ता । तव्येन केचिद्विकल्प-
मिच्छन्ति । देवदत्तकर्तव्यम् । एकं द्रव्यमस्य एकद्रव्यम् । राज्ञः पाटलिपुत्रकस्य । शुकस्य मारविदस्य । आचा-
र्यस्य श्रीदत्तस्य । पूर्वनिपातस्यानियमः प्रसज्येत । विशेषणादिसूत्रे इतिशब्दोऽस्ति तेन नीलस्योत्पलस्य नीलो-

१. पूर्वनिपातस्येत्यादि न भवतीत्यन्तसन्दर्भस्यायमभिप्रायः—

“एक द्रव्ये तासाङ्गीकारे उभयोः षट्पदोस्तान्तत्वेन वोक्तव्यत्पूर्वनिपातस्यानियमः प्रसज्येत । ननु
नीलस्योत्पलस्य नीलोत्पलस्येत्यत्रैकद्रव्यत्वेन तासनिषेधः कुतो न, गुणगुणिभावस्थले एकद्रव्यत्वानङ्गी-

त्पलस्येति । गुणगुणिसम्बन्धे सविधिर्भवति । एकद्रव्येण गुणगुणिविवक्षा नास्तीति विशेषणवृत्तिरपि न भवति ।
भिन्ना प्रतिषेधो वक्तव्यः । देवदत्तस्य साक्षात् । देवदत्तस्योपरि ।

कर्मणि च ॥१३।७६॥ चकारोऽवधारणार्थः । कर्मण्येव या ता विहिता तदन्तं सो न भवति ।
आश्रयौ गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन ।
“युट्” [२।३।६७] इति नन्वावे युट् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इत्युभयत्र तायां प्राप्तायां
“द्विप्राप्तौ परे” [१।४।६९] इति कर्मण्येव भवति । कर्तरि तु भा । कर्मण्येवेति किम् ? इध्मप्रश्नः ।

कर्तरि क्लेन ॥१३।७७॥ कर्तरीति ताया विशेषणम् । कर्तरि या ता विहिता तदन्तं क्लान्तेन सो न
भवति । अस्मिन्नास्यते स्म इदमेवामासितम् । इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् । तयोरेव भावकर्मणोः क्ले प्राप्ते
“धिगत्यर्थाच्च” [२।४।६८] “अधिकरणे चावयार्थाच्च” [२।४।६९] इति अधिकरणे क्लः । अधिकरणस्यो-
क्तत्वात् । इदमित्येतस्मादीम्नास्ति “मिडैकार्थे वा” [१।४।६४] इति वैव भवति । “कर्तृकर्मणोः कृति”
[१।४।६८] इति ता प्राप्ता “न क्तिलोक” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा “क्तस्याधिकरणे” [१।४।७०]
इत्यनेन एषामिति कर्तरि ता । एवं राशं मतः, राशं बुद्धः, राशं पूजितः “मतिबुद्धिपूजार्थाच्च” [२।२।१६६]
इत्यनेन वर्तमाने काले क्तो नियम्यते । स चेह कर्मणि कारके विहितः “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति
कर्तरि ता प्राप्ता “नक्तिलो” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन सूत्रेण प्रत्यवस्थाप्यते । अथ यदा
सकर्मक्रेभ्योऽधिकरणे क्तस्तदा कर्तृकर्मणोरनुक्तत्वात् “क्तस्याधिकरणे” [१।४।७०] इत्यनेन या ता कर्तरि
तस्याः प्रतिषेधः सिद्धः कर्मणि या ता तस्याः कथं वृत्तिप्रतिषेधः । इदमोदनस्य भुक्तमिति । नैष दोषः ।
कर्मणि चेति वर्तते तेनेह कर्तरि कर्मणि च ता क्तान्तेन न समस्यते । इह शेषलक्षणा ता । छात्रहसितम् ।

तृजकाभ्यां योगे ॥१३।७८॥ कर्तरि या ता तदन्तेन सो न भवति । तृचैव कर्तुं कृत्वात् । तद्योगे-
कर्तरि ता नास्ति । तृजग्रहणमुत्तरार्थम् । भवत आसिका । भवतः शायिका । भवतोऽग्रेगामिका । “पर्यायाहंशो-
त्यक्तौ बुण्” [२।३।६२] इति भावे स्त्रीलङ्गे बुण् । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति कर्तरि ता ।
कर्तरीत्येव । इन्तुभक्तिकां मे धारयसि । पूर्वबुण् । अत्रेन्तुशब्दात् कर्मणि ता “कृति” [१।३।७१] इति
ता सः । म इति सम्प्रदानमेतत् ।

कर्तरि ॥१३।७९॥ कर्तरि यौ तृजकौ ताभ्यां सह तान्तं न सो भवति । अपां छाष्टा । पुरां भेत्ता । वज्र-
स्य भर्ता । याजकादिषु पतिपर्यायो भर्तृशब्दः । यवानां लावकः । सक्रूनां पायकः । कर्तरीति शक्यमकर्तुं तृचोऽ-
कस्य च कर्तरि विधानात् । नन्वकस्य भावेऽपि विधानमस्ति । सत्यम् । तद्योगे कर्तरि विहितायास्तायाः पूर्वेषां
वृत्त्यभावः सिद्धः सामर्थ्यादिह कर्तरि विहितस्याकस्य ग्रहणम् । तदेतत्कर्तृग्रहणं ज्ञापकं पूर्वप्रतिषेधो नित्यः अयम्
नित्यस्तेन तीर्थकर्तारमर्हन्तमित्येवमादि सिद्धम् । तृनन्तेन वा “साधनं कृता” [१।३।२९] इति सः ।

क्रीडाजीविकयोर्नित्यम् ॥१३।८०॥ नेति निवृत्तम् । तृचः क्रीडाजीविकयोरसम्भवान्नानुवृत्तिः ।
क्रीडायां जीविकायाश्च तान्तमक्रेन सह नित्यं षष्ठो भवति । क्रीडायाम्—उद्दालकपुष्पभञ्जिका । भावे खुविषये बुण् ।
“कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति कर्मणि ता । जीविकायाम्—दन्तलेखकः । नखलेखकः । श्रवस्कर-
सूदकः । क्रीडायां कृतीति विकल्पः प्राप्तः । जीविकायां कर्तरीति प्रतिषेधः प्राप्तः । क्रीडायां आरम्भादेव नित्यत्वं
सिद्धं नित्यग्रहणं जीविकार्थमुत्तरार्थञ्च ।

तिकुप्रादयः ॥१३।८१॥ तिसंज्ञाः कुशब्दः प्रादयश्च समर्थेन नित्यं षष्ठो भवति । ऊरीकृत्य । ऊरी-
कृतम् । पटपटाकृत्य । प्रादिसाहचर्यात् कुशब्दो भिन्नः शो गृह्यते । कुस्तितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः । ईषन्मधुरं काम-

कारात् । ननु भेऽत्र सः विशेषणं विशेष्येणोतिशब्दस्य क्वचिद्व्यव्रतिपि विवक्षितस्थले समासार्थत्वेनात्रे-
तिशब्दबलेन सः । विशेषणवृत्तिस्तु न गुणगुणिवद्भावे विशेषणवृत्तेरप्यनर्ककारात् ।”

धुरम् । “क्रियायोगे गिति” [१।२।१३०-१३१] इति प्रादयोऽपि क्रियायोगे तिसंज्ञा अक्रियायोगार्थं प्रादि-
ग्रहणम् । स्वती पूजाथकम् । शोभनः पुरुषः सुपुरुषः । अतिपुरुषः । अतिशयेन स्तुतं सुस्तुतम् । अतिक्रमेण
स्तुतमतिस्तुतम् । दुः पापाद्यर्थे । पापः पुरुषो दुष्पुरुषः । कृच्छ्रेण कृतं दुष्कृतम् । आङ्गीषदाद्यर्थे । ईषत्कङ्कार
आकङ्कारः । क्रियायोगे आबद्धमाभरणम् । प्रादय एवमात्मका यत्र क्रियापदं प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः ।
यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुरिति । “प्रादयो गताद्यर्थं च वया” [वा०] प्रगत आचार्यः प्राचार्यः ।
वृत्तिविषये प्रशब्दो गतशब्दस्यार्थं ससाधनमभिधत्ते । एवं प्रवृद्धो गुरुः प्रगुरुः । प्रपितामहः । सङ्गतार्थः
समर्थः । “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इप” [वा०] अतिक्रान्तः खट्वामतिखट्वः । उक्रान्तो वेलामुद्धे लः ।
“अवादयः कृष्टाद्यर्थे भया” [वा०] अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः । परिणद्धो वीरुद्धिः परिवीरुत् । “पर्या-
दयो ग्लानाद्यर्थे अपा” [वा०] परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः । उद्युक्तः संग्रामाय उत्संग्रामः । पर्यादिराकृतिगण
इत्येके । अलं कुमारिः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया” [वा०] निष्क्रान्तः कौशाम्या निष्कौशाश्विः । अपगतः
शाखाया अपशाखः । लक्षणादिष्वर्थेष्वनभिधानादवृत्तिः । वृत्तं प्रति विद्योतते ।

वागमिङ् ॥१।३।८२॥ वाक्संज्ञममिङन्तं समर्थेन नित्यं षसो भवति । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।
शरलावः । अमिङिति किम् ? एधानाहारको व्रजति । “वृणुमौ क्रियायां तदर्थायाम्” [२।३।८] इति वृण् ।
अमिङिति प्रतिषेधवचनं शापकमनयोर्योगयोः “सुप्सुपा” [१।३।३] इति नाभिसंबध्यते । एवञ्च सत्येतल्लब्धम्
“तिवाक्कारकाणां प्राक् सुबुत्पत्तेः कृद्धिः सविधिः” [परि०] इति । इह माषवापिणी । जीहिवापिणी स्त्री ।
कृदन्तेन वृत्तौ “मृदन्तनुम्विभक्त्याम्” [१।३।८५] इति शल्वं सिद्धम् । अन्यथा सुबुत्पत्तिः स्त्रीत्येन बाध्यते ।
अश्वक्रीती च प्रयोजनम् । यदि सुबुत्पत्तेः प्राक् तिवाक्कारकाणां कृता वृत्तिः । अदःकृत्य तमोपहः राजश्रित इत्यत्र
पूर्वस्य पदकार्यं न स्यात् । “कायाः स्तोकादेः” [३।३।१२१] इत्येवमादि अनुव्विधानं चानर्थकं कचिदेव
जीविधिगत्वादिविषये शापकात् सिद्धिः ।

मिनाऽमैव ॥१।३।८३॥ पूर्वेण सिद्धे नियमोऽयम् । भिस्संज्ञकेनामन्तेनैव वागमिङ् षसो भवति । स्वादु-
ङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते । स्वाद्वर्थेषु वाङ्मु “स्वादुमि णम्” [२।३।१२] इति णम् भवति । स्वादु-
मीति निर्देशात्यसन्नियोगे मान्तता निपात्यते । अमवेति किम् ? कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् ।
“कालसमयवेलासु तुम्वा” [२।३।१३३] इति तुम् । आरम्भादेव नियमः सिद्धः । किनैवेति विपरी-
तावधारणे व्यावर्त्यं नास्तीत्येवकारः किमर्थः ? अमैव यत् सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं तस्य वृत्तिर्यथा स्यात् । अमा
चान्येन च यत् सह निर्दिष्टं तस्य मा भूत् । अग्रे भोजं गच्छति । अग्रेभुक्त्वा । प्रथमभोजम् । पूर्वभोजम् ।
“वाग्रे प्रथमपूर्वे” [२।३।१०] इति क्त्वाणमौ विहितौ । किनेति विस्पष्टार्थम् । व्यावर्त्याभावात् ।

वा भादि ॥१।३।८४॥ “उपदंशो भायाम्” [२।३।३३] इत्यतः प्रभृति वाक्संज्ञं भादीत्युच्यते ।
भादीनि वाक्संज्ञानि अमा सह वा समस्यन्ते षसो भवति । मूलोपदंशं भुङ्क्ते । “उपदंशो भायाम्”
[२।३।३३] इति णम् । पाश्चापपीडम् । पार्श्वेनोपपीडं पार्श्वे उपपीडं शेते । “ईपि चोपपीडरुधकर्षः”
[२।३।३५] इति णम् । अमन्तेनेत्येव । पर्याप्तो भोक्तुम् । प्रभुभोक्तुम् । “पर्याप्तवचने अलमर्थे” [२।३।५१]
इति तुम् । एवकारो नानुवर्तते तेन भादिषु यदमा सह निर्दिष्टं वाक्संज्ञं यदमा चान्येन च सह निर्दिष्टं तदपि
समस्यते । उच्चैः कारमाचष्टे उच्चैः कारं “भावनिशोक्तौ कृजः क्वाणमौ” [२।३।४४] इति णम् ।

क्त्वा ॥१।३।८५॥ क्त्वान्तेन सह वा भादि समस्यते षसो भवति । उच्चैः कृत्याचष्टे । उच्चैः कृत्वा ।
भादीत्येव । प्रदेशान्तरवाचो वृत्तिर्न भवति । अलं कृत्वा । अग्रे भुक्त्वा ।

अन्यपदार्थोऽनेकं वम् ॥१।३।८६॥ वानिर्दिष्टं सुब्रह्मणमनुवर्तते । वानिर्दिष्टं निवृत्तम् । अन्यस्य
पदस्यार्थे वर्तमानमनेकं सुवर्तं वसंज्ञकः सो भवति । चित्रगुः । लम्बकर्णः । दर्शनीयरूपः । अन्यग्रहणं किम् ?
स्वपदार्थे वसो मा भूत् । लम्बश्च स कर्णश्च स लम्बकर्णः । पदग्रहणं किम् ? अन्यवाक्यार्थे मा भूत् ।

अर्थग्रहणं किमर्थम् ? यावता शब्दे कार्यस्यासम्भवादर्थे कार्यं विज्ञास्यते । अन्यपदार्थस्य ये लिङ्गसंख्ये ते यथा स्यातामित्येवमर्थम् । बहुयवं कुलम् । बहुयवा भूमिः । बहुयवौ । बहुयवाः । वाविभक्त्यन्ते अन्य-पदार्थे वृत्तिर्न भवत्यनभिधानात् । अनेकग्रहणं बहूनामपि प्रापणार्थम् । सामानाधिकरण्याभावेऽपि बसो भवति । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उच्चैर्मुखो देवदत्तः । अस्तिक्षीरा गौः । भीमानसंख्यत्वादसामाना-धिकरण्यम् । इहामिधानामावान् भवति । पञ्चभिर्भुङ्क्तमस्य । सामानाधिकरण्येऽप्यनभिधानम् । पञ्च सुक्त-वन्तोऽस्य । नपा निर्देशः किमर्थः ? उन्मत्तगङ्गम् । लोहितगङ्गम् । “खावन्यपदार्थे” [१।३।१८] इति हस एव भवति । इह वीरपुरुषको ग्राम इति परत्वाद्वासः षस्य बाधकः । शस्त्रीश्यामा देवदत्तेत्येवमादिषु “यश्चैकाग्र्ये” [१।३।४४] इति प्रकृतमस्ति तेन षस्य बाधः । “प्रादयो गताद्यर्थे यथा” [वा०] इत्येवमादि वार्तिकवचनं प्रमाणम् । तेन निष्कौशाभिरित्येवमादिषु बसो न भवति । “ईदुपमानपूर्वस्य द्युखं वक्तव्यम्” [वा०] उदरे स्थितो मणिरस्य उदरेमणिः । “वे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इति ईपोऽनुप् । उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः । उपमानावयवत्वादुष्ट्रोऽप्युपमानम् । इह केशचूडः सुवर्णालङ्कारो देवदत्तः इति केश-सम्भारे केशशब्दः । सुवर्णविकारे सुवर्णशब्दो वर्तते । सङ्गतार्थः समर्थ इति निर्देशादेवंजातीयस्य वा द्युखं द्रष्टव्यम् । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः । अविद्यमानभार्यः अभार्यः ।

संख्येये संख्यया भयासन्नादूरसंख्यम् ॥१।३।८७॥ संख्येये या संख्या वर्तते तया हि आसन्न अदूर इत्येतानि संख्या च बसो भवति । अनन्यार्थार्थे वान्तेऽप्यन्यपदार्थे प्रापणार्थञ्च । समीपे दशानामिमे उपदशाः । उपविंशाः । समीपप्राधान्ये तु हसः । आसन्ना दशानामिमे आसन्नदशाः । आसन्नविंशाः । अदूरदशाः । अदूरचत्वारिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा इमे द्वित्राः । त्रयो वा चत्वारो वा इमे त्रिचतुराः । “नञ्विसूपन्निभ्यश्चतुरः” [४।२।७५] इति अस्यो निपात्यते । त्रिदश इमे त्रिदशाः । वृत्तैवाभ्यावृत्तेरुक्तत्वात् सुचोऽप्रयोगः । संख्यासंज्ञाविधानेऽधिकशब्दस्यापि संख्यात्वमुक्तम् । अधिका दशानामिमेऽधिकदशाः । संख्येय इति किम् ? अधिका विंशतिर्गवाम् । संख्येय इति किम् ? पञ्च पदार्थाः । भयासन्नादूरसंख्यमिति किम् ? पार्थिवाः पञ्च ।

दिशोऽन्तराले ॥१।३।८८॥ दिक्छन्दाः सुबन्ता अन्तरालवचने बसञ्जकः सो भवति । अन्तराल एव यथा स्यादिति नियमार्थं आरम्भः । दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्दन्तरालं दक्षिणापूर्वा । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः” [वा०] इति पुंवद्भावः । उत्तरपदस्य “स्त्रीगोनीचः” [१।१।८] इति प्रादेशः । अन्तरालदिशः स्त्रीत्वात् पुनष्टाप् । अनेकमित्यनुवर्तनात् न्यक्संज्ञायां द्वयोः पर्यायेण पूर्वनिपातः । एवं दक्षिण-परा । उत्तरपरा । उत्तरपूर्वा । प्रसिद्धानां दिक्छन्दानां ग्रहणादिह न भवति । वारुण्याश्च कौबेर्याश्च दिशोर-न्तरालम् ।

तत्रेदमिति सरूपे ॥१।३।८९॥ तत्रेति ईवन्ते द्वे सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे बसो भवति । इतिकर-णात् ग्रहणविशिष्टे युद्धे विवक्षा । केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तं केशाकेशि । कचाकचि । “ज इच्” [४।२।२८] इति इच् सन्त इजिति तिष्ठद्वादौ हसंज्ञार्थं पठ्यते । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति पूर्वपदस्य दीप्तम् । अत्र सापेक्षत्वात् पूर्वैण वृत्तिर्न प्राप्नोति । सरूपे इति किम् ? केशेषु च कचेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तम् ।

तेन ॥१।३।९०॥ इदमिति सरूपे इति वर्तते । तेनेति भान्ते सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे बसो भवति । इतिकरणानुवृत्तेर्यत्तेनेति निर्दिष्टं प्रहरणं चेत्तद्भवति । दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तं दण्डादण्डि । सुसलामुसलि । सरूपे इत्येव । दण्डैश्च कमण्डलुभिश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

सहेति तुल्ययोगे ॥१।३।९१॥ तुल्ययोगः समानक्रियादियोगः । तेनेति वर्तते । सह इत्येतत् सुबन्तं तुल्ययोगे वर्तमानं तेनेति भान्तेन सह समस्यते बसो भवति । सह छात्रेण सञ्ज्ञात्र आगतः । सशिष्यः ।

सपुत्रः । “वा नीचः” [४।३।११०] इति सहशब्दस्य सादेशः । तुल्ययोग इति किम् ? प्रत्यहं सह शक्वेन भारं वहति रासमी । विद्यमानताऽत्र सहार्थः । आद्ये नैव सिद्धे हसनिवृत्त्यर्थं कवभावावर्थञ्च वचनम् । इति-शब्दो योगविभागार्थः । तेनातुल्ययोगेऽपि कचिद्वसः का च । तेन सकर्मकाच्चेरदौ भवति । सपत्न्यो वादी ब्रूः इत्यादि सिद्धम् । अत्र हि चरेरेव देन योगो न कर्मणः । तथा वादिन एव च तेन योगो न पत्न्यस्य ।

चार्थे द्वन्द्वः ॥१।३।१२॥ चकृतोऽर्थश्चार्थः । तस्मिन् वर्तमानमनेकं सुबन्तं द्वन्द्वसंज्ञः सो भवति । चलारश्चार्थः । समुच्चयोऽन्वाचय इतरेतरयोगः समाहारश्चेति । तत्रानियतक्रमयौगपद्यानां द्वयादिवस्तूनामेकत्राध्यारोपः समुच्चयः । यथा “गामश्वं पुरुषं पशुमहरहर्नयमानो वैवश्वतो न तृप्यति, सुरया इव दुर्मदः ।” गुणप्रधानभावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवान्वाचयः । यथा भिक्षामट गां चानयेति । इतरेतरयोगसमाहारावपि समुच्चयस्य भेदौ । परस्परं सापेक्षगामवयवभेदानुगत इतरेतरयोगः । अनपेक्षिता अवयवभेदाः संहतिप्रधानाः समाहाराः । आद्ययोश्चमन्तरेणापि कचित् प्रयोगात् । असामर्थ्याच्च नास्ति सविधिः । इतरेतरयोगे । प्लक्ष-न्यग्रोधौ छायां कुरुतः । समाहारे प्लक्षन्यग्रोधं स्थिति । वाक्लचम् । वाग्दषदम् । छत्रोपानहम् । इह द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशदृष्टितैत्येवमादिषु समाहारेऽपि लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति नपुंसकत्वाभावः । द्वन्द्व-प्रदेशः “द्वन्द्वाच्चुदहषो रार्थे” [४।२।१०८] इत्येवमादयः ।

वोक्तं न्यक् ॥१।३।१३॥ सलक्षणसूत्रेषु वानिर्दिष्टं न्यक्संज्ञं भवति । तस्य प्रयोजनं पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपातः । अधिस्त्रि । अधिकुमारि । भीति वोक्तम् । कष्टश्रितः । इगिति वोक्तम् । शङ्कुलाखण्डः । भेति वोक्तम् । एवं सर्वत्र बोद्धव्यम् । वसेऽनेकं सुबन्तं तस्य पूर्वनिपातनियममुत्तरत्र वक्ष्यति । इह राज्ञः पुरुषं श्रित इति यत् प्रति यदप्रधानं तत् प्रति तन्न्यक्संज्ञं भवति । कथमयं विभागो लभ्यते । न्यगितीय-मन्वर्थसंज्ञा । नीचैरञ्चतीति न्यगप्रधानमित्यर्थः ।

एकविभक्ति ॥१।३।१४॥ विभक्तिशब्दः पूर्वाचार्येण निर्दिष्टः एका विभक्तिर्यस्य तन्न्यक्संज्ञं भवति । निष्कौशाम्बिः । निर्मथुरः । “परम्” [१।३।१६५] इत्यनेन परनिपातार्थमेतत् । प्रादेशस्तु “स्त्रीगो-नीचः” [१।१।१६] इत्यत्र अन्वर्थस्य नीचः समाश्रयणात् सिद्धः ।

परम् ॥१।३।१५॥ एकविभक्ति न्यक्संज्ञं परं प्रयोक्तव्यम् । पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपाते प्राप्तेऽपवादः । इह धर्मं श्रितः । धर्मे श्रितेन धर्मश्रिताय इत्येवमादिषु “वोक्तम्” [४।३।१६०] इत्यनेनैव न्यक्संज्ञा भवत्यनवकाशत्वात्तत्तदाश्रयः पूर्वनिपातः ।

राजदन्तादौ ॥१।३।१६॥ राजदन्तादिषु न्यक् परं प्रयोक्तव्यम् । उत्तरसूत्रैः प्राप्तस्य पूर्वनिपातस्यापवादोऽयम् । दन्तानां राजा राजदन्तः । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । गणपाठादनुप् । लिप्तवासितं नग्नमुषितम् अवक्लिन्नपक्वं सिक्तसंमृष्टं भृष्टलुञ्जितम् अर्पितोत्तम् उतगाढमेतेषु पूर्वकालस्य परनिपातः । उलूखलमुसलं तन्दुलकिण्वम् । आरग्वयनिबन्धकी । चित्ररथबाहलीकम् । अवन्त्यश्मकम् । शूद्रार्थम् । स्नातकराजानौ । विष्वक्सेनार्जुनौ । अक्षिभ्रुवम् । दारगवम् । शब्दार्थौ । धर्मार्थौ । कामार्थौ । अक्षु व्यत्ययोऽपि । अर्थशब्दौ । अर्थधर्मौ । अर्थकामौ । वैयाकरणमतम् । भोजवाजौ । गोपालधानीपूलासम् । पूलास-करण्डम् । उशीरबीजम् । सिञ्जस्थम् । शिञ्जास्त्री । चित्रास्वाती । भार्यापती । जायापती । जम्पती । दम्पती । जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते । पुत्रपती । पुत्रपशू । केशशमश्रुः । शिरोबिन्दुः । सर्पिर्मधुनी । मधुसर्पिणी । आद्यन्तौ । अन्तादी । गुणवृद्धी । वृद्धिगुणौ ।

पूर्वम् ॥१।३।१७॥ न्यगिति वर्तते । न्यक्संज्ञं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । वाक्यवद् वृत्तान्विनयमो मा भूदित्यारम्भः । उक्तान्युदाहरणानि । यत्र द्वे अपि तान्ते राज्ञः पुरुषस्येति तत्र कस्य न्यक्त्वं न्यगित्यन्वर्थसंज्ञा-श्रयणाद्वाजशब्दस्य ।

द्वन्द्वे सुः ॥१३१६८॥ द्वन्द्वे से स्वन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । मुनिगुप्तौ । यदुगुप्तौ । अनेकप्राप्तवर्णनियमेन मुनिपटुगुप्ताः । पटुमुनिगुप्ताः । पटुगुप्तमुनयः । न्यागित्यन्वर्थसंज्ञा । द्वन्द्वे च न कस्यचिदप्राधान्यमित्यप्राप्ते पूर्वनिपात इदं सूत्रम् ।

अजाद्यत् ॥१३१६९॥ अजादि अदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे से पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । इन्द्रचन्द्रौ । उष्ट्रखरम् । उष्ट्रशशम् । इह इन्द्राग्नी । इन्द्रवायू इति सुलक्षणात् परत्वादानेन पूर्वनिपातः । उभयत्र वायोः प्रतिषेध इति आनङ् न भवति । बहुष्वनियमेन इभरथाश्वम् । अश्वरथेभम् । तपरकरणं किम् ? वृक्षाश्चे । अश्ववृक्षौ ।

अल्पाचत्तरम् ॥१३१७०॥ अल्पाचत्तरं शब्दरूपं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । धवखदिरौ । धवाश्वकर्णम् । “बहुष्वनियमः” [वा०] । वीणादुन्दुभिषाङ्खाः । शङ्खदुन्दुभिषीणाः । “ऋतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण वक्तव्यम्” [वा०] । शिशिरवसन्तौ । हेमन्तशिशिरवसन्ताः । अश्विनीभरण्याः । कृत्तिकारोहिण्यः । समानाक्षराणामिति किम् ? ग्रीष्मवसन्तौ । “द्वयक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । कुशकाशम् । तृणकाष्ठम् । “वर्णानामानुपूर्व्येण” [वा०] । ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः । “आतुश्च ज्यायसः” [वा०] युधिष्ठिराजुनौ । “संख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः” [वा०] द्वित्राः । एकादश । नवतिशतम् । “अभ्यर्हितस्य च” [वा०] । मातापितरौ । भद्रामेधे । दीक्षातपधी ।

ईविशेषणो वे ॥१३१७०॥ ईवन्तं विशेषणं च बसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । बसे अनेकं सुबन्तं न्यक्संज्ञमित्यनियमे प्राप्तेऽयमारम्भः । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उदरेमणिः । वहेगडुः । “अकामेऽमूर्ध्वमस्तकात् स्वाङ्गम्” [१३१७१] इत्यनुप । चित्रगुः । लम्बकर्णः । “सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः” [वा०] । सर्वं श्वेतमस्य सर्वश्वेतः । सर्वगौरः । द्विशुक्लः । द्विकृष्णः । सर्वनामसंख्ययोः परस्परं वृत्तिः । वाक्ये संख्यायाः परत्वात् पूर्वनिपातः । द्वयन्यः । त्र्यन्यः । “वा प्रियस्य” [वा०] । प्रियदधिः । दधिप्रियः । कथं गडु-कण्ठः । गडुशिराः । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः ।

तः ॥१३१७२॥ तान्तं बसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । कृतकटः । भिक्षितभिक्षः । अवमुक्तोपानक्तः । तान्तस्य विशेषणत्वेनाविवक्षितत्वात् पूर्वण न सिध्यति । कथं क्वचित्जातिकालसुखादिभ्यश्च तान्तस्य परप्रयोगः (जातः) । सारङ्गजग्धी । पलाण्डुभक्षिती । कालात्-मासजाता । संवत्सरजाता । सुखादिभ्यश्च-सुखं जातं यस्याः सुख-जाता । दुःखजाता । वाऽहिताग्न्यादिषु व्यवस्थयेदं भविष्यति । प्रहरणार्थेभ्यः परे वेपौ वक्तव्ये । उद्यतोऽसिरनेन अस्युद्यतः । मुसलोद्यतः । असिः पाणावस्य असिपाणिः । दण्डपाणिः । कथमुद्यतगदः । उद्यतासिः । इदमपि वेति सिंहावलोकनात् ।

वाऽऽहिताग्न्यादौ ॥१३१७३॥ आहिताग्न्यादिषु बसे तान्तं वा पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । आहिताग्निः । अग्न्याहितः । एवं जातपुत्रः । जातदन्तः । जातश्मश्रुः । तैलपीतः । घृतपीतः । मद्यपीतः । ऊढभार्यः । अर्थगतः । आकृतिगणोऽयम् । तेनेष्टयो न वक्तव्याः ।

ये कडाराः ॥१३१७४॥ ये कडारादयो वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः । कडारश्च स भद्रश्च स कडारभद्रः । भद्रकडारः । विशेषणस्य “बोक्तं न्यक्” [१३१७३] पूर्वनिपातः प्राप्तो विभाष्यते । कडार गडुल कूट काण खञ्ज कुण्ट खोड खलति गौर वृक्ष भिन्नु क पिङ्गल तनु नट बधिर ।

उत्तरपदं च ॥१३१७५॥ से यदुत्तरपदं तदद्युसंज्ञं भवति । पञ्चगवधनः । द्यौ परतः “इदर्थे (र्थं) धुसमाहारे” [१३१७६] इति पूर्वस्य (स) संज्ञायां टः सान्तः सिद्धः । एवं द्वे अहनी ज्ञतस्य द्वयङ्गजातः । “काका मेघैः” इति समुदायस्य षसंज्ञा द्यौ परतः पूर्वस्यापि षसंज्ञायां टः सान्तः ।

इत्यभयनन्दविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पदः समाप्तः ।

अनुक्ते ॥१।४।१॥ अनुक्त इत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम अनुक्त इत्येवं तद्वेदितव्यम् । स्वार्थद्रव्यलिङ्गानि त्रिको मृदर्थ इति अस्मिन् दर्शने स्वार्थिकाष्टावाद्यः संख्याकर्मादयो विभक्त्यर्थाः । एवं च 'कर्मणीप्' [१।४।२] इत्येषामादीनां 'साधने स्वार्थे' [१।२।१२३] इत्येतस्य च गुणप्रधानभावेनैक्यता । स्वार्थैकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिष्वनुक्तेष्विवाद्यो भवन्ति । अथवा अनुक्तकर्माद्याश्रयेष्वेकत्वादिविवाद्यो भवन्ति । इह परिग्रह्यानामिति केचित् । मिडकुदृष्टैरनुक्ते कर्मादाविति । वक्ष्यति 'कर्मणीप्' [१।४।२] । कटं करोति । ओदनं भुङ्क्ते । अनुक्ते इति किम् ? क्रियते कटः । मिडोक्तं कर्म । कृतः कटः । कृतोक्तं कर्म । श्राद्धिको देवदत्तः । 'श्राद्धं मुक्तं ओजनेन' [४।१।१८] इति ठः । हृतोक्तः कर्ता । शतेन क्रीतः । 'शता-द्व्यर्थेऽस्ते ठयौ' [३।४।१८] इति यः । हृतोक्तं करणमिति । कर्तरि करणे च भा न भवति । प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्रातोदको ग्रामः । सेन कर्मोक्तम् । मिडकुदृष्टैरिति परिग्रह्यानां किम् ? कटं करोति भीष्मसुदारं दर्शनी यम् । अत्र कटशब्दादुत्पद्यमानया इषा उक्ते कर्मणि भीष्मादिभ्य इभ्य स्यात् । तदेतत्परिगणनमयुक्तम् । कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि न ह्यसौ कटमात्रे सन्तोषं करोतीत्यनेकं कर्म गृह्यते । समुदायस्य चामृत्त्वात् प्रत्य-व्यवाद्भिभक्त्युत्पत्तिः । इह आसने आस्ते शयने शेते इति अन्यो ह्यधिकरणप्रत्ययः सामान्येन युटाऽभिहितो अन्यश्च विशेषरूपेण विभक्त्योच्यते इति न दोषः ।

कर्मणीप् ॥१।४।२॥ कर्मणि कारके अनुक्ते इव विभक्तिर्भवति । कटं करोति । ग्रामं गच्छति । आदित्यं पश्यति । अविशेषेण व्यामृदः स्वादयो वक्ष्यन्ते । तन्मिथोऽयं कर्मादिष्वेव इवाद्यो भवन्ति । इवाद्यो नियताः । कर्मादयस्त्रनियताः । तेषु ताऽपि प्राप्नोति । तत इदमुच्यते 'ता शेषे' [१।४।२७] इति शेषे ता भवति नोक्ते कर्मादौ ।

अन्तरान्तरेण योगे ॥१।४।३॥ प्रतिपदोक्तत्वादिहान्तरान्तरेणशब्दौ निःसंज्ञौ ताभ्यां योगे इविविभ-क्तीर्भवति । अन्तरा गन्धमादनं माल्यवन्तञ्च कुरवः । कुरुविशेषणत्वेन तायां प्राप्तायामिन्विधीयते । कुरु-शब्दार्थे वर्तमानात् मृदर्थतिरेकाभावात् इभ्य भवति । अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानं ब्रूते । अन्तरेणशब्दः तच्च विनार्थं च । अन्तरेण सौमनसं विद्युत्प्रभञ्च देवकुरवः । मोक्षमन्तरेण नात्यन्तिकं सुखम् । निःसंज्ञ-योर्ग्रहणादिह न भवति । अन्तरायां पुरि वसति । किं ते धात्रवाणां सालङ्कायनानां चान्तरेण गतेन । योग इति किम् ? अन्तरा तद्विशिलाञ्च पादलिपुत्रञ्च खुचनस्य प्राकारः । ननु पदविधिरयं अन्तराशब्दे सामर्थ्यात् खुचनशब्दादिभ्य भविष्यति योगग्रहणमनर्थकम् । कचिदन्यैरपि योगे यथा स्यादित्येवमर्थम् । 'अभिः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेषूपसंख्यानम्' [वा०] अभितो ग्रामम् । परितो ग्रामम् । समया ग्रामम् । निकषा ग्रामम् । हा देवदत्तम् । वृणीष्व भद्रे प्रतिभाति चेत्त्वम् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् । 'उभसर्वतसोः कार्यौ धिगुपर्यादिषु त्रिषु । कृतद्वित्वेष्विषा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' [वा०] उभयतो ग्रामम् । सर्वतो ग्रामम् । धिगदेवदत्तम् । उपर्यादिष्विति सूत्रोपलक्षणम् । सामीप्येऽधोऽधुपरि 'उपर्यध्वधसः सामीप्ये' [१।३।५] इति द्वित्वे कृते त्रयाणां ग्रहणम् । अधोऽधो ग्रामम् । उपर्युपरि ग्रामम् । अभ्यधि ग्रामम् । 'अन्यत्राऽपि दृश्यते' [वा०] विना धर्मं कुतः सुखम् । अपि शब्दान्न च दृश्यते । हा तात हा पुत्र वत्सल ।

कालाध्वन्यविच्छेदे ॥१।४।४॥ अविच्छेदोऽत्यन्तसंयोगः । द्रव्यगुणक्रियाभिः काल्पन्येन काला-ध्वनोः सम्बन्ध इत्यर्थः । कालाध्वनोरविच्छेदे वर्तमानयोः सतीरिव भवति । अन्यस्याश्रुतत्वात् कालाध्ववा-चिन्यामेवाधिकरणविवक्षायामीपि प्राप्तायां तदविवक्षायां सम्बन्धलक्षणायां तायां प्राप्तायामयं विधिः । कालस्य द्रव्येण योगे—मांसं गुडापूपाः । संवत्सरं क्षीरोदनम् । गुणेन—शरदं मधुरा रमणीया । मांसं कल्याणी काञ्ची । क्रियया—मासमधीते । संवत्सरमधीते । अध्वनो द्रव्येण योगे—क्रोशं सिकताः । योजनं वनराजिः । गुणेन—

१. कर्मत्वेन विवक्षायां नेत्यर्थः । २. अन्तरा कुरवः सु० । ३. दिभ्य भवति ब०, स० ।

क्रोशं कुटिला नदी । योजनं दीर्घः पर्वतः । क्रियया—क्रोशमधीते । योजनमधीते । अविच्छेद इति किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ।

सिद्धौ भा ॥१।४।१॥ अविच्छेद इति वर्तते । सिद्धिः क्रियाफलनिष्पत्तिः । अविच्छेदे यौ कालाध्वनौ तद्वाचिभ्यां भा भवति सिद्धौ गम्यमानायाम् । मासेन प्राभृतमधीतम् । योजनेन प्राभृतमधीतम् । सिद्धाविति किम् ? मासमधीतं प्राभृतं न चानेनावधारितम् । नात्र क्रियाफलनिष्पत्तिरस्ति पूर्वेण इत्येव भवति ।

क्रियामध्ये केपौ ॥१।४।६॥ कालाध्वनीति वर्तते । क्रिययोर्मध्ये यौ कालाध्वनौ ताभ्यां केपौ विभक्तयो भवतः । अद्य भुक्त्वा मुनिद्वयं हान्द्रोक्ता द्वयहे भोक्ता । इहस्योऽयमिष्वासः क्रोशाद् विध्यति क्रोशे विध्यति लक्ष्यम् । चापाच्छुरस्य निर्गमनं धातुष्कावस्थानं वा एका क्रिया द्वितीया व्यधनक्रिया तयोर्मध्ये क्रोशशब्दात्ता प्राप्ता ।

सुः पूजायां न गिति ॥१।४।७॥ सुराब्दः पूजायामर्थे गिसंज्ञस्तिसंज्ञश्च न भवति । सुस्थितं भवता । सुसिक्तं भवता । गिसंज्ञाश्रयं पल्वं न भवति । तिसंज्ञाप्रतिषेधे यद्यपि तिसंज्ञाश्रयः सविधिर्न भवति, तथापि प्रादिलक्षणो भविष्यति । स्वती पूजायामिति वचनात् । सुसिच्य गतः । तस्मादुत्तरार्थं तिसंज्ञाप्रतिषेधवचनम् । पूजायामिति किम् ? सुषिक्तं किं तवाऽत्र ।

अतिक्रमे चातिः ॥१।४।८॥ अतिक्रम आधिक्यम् । अतिक्रमे पूजायाञ्चातिशब्दो गितिसंज्ञो न भवति । अतिसिक्तमेव भवता । अतिस्तुतमेव भवता । गितिसंज्ञाश्रयः प्रादिलक्षणश्च सविधिर्न भवति । अतिसिक्तवैव गतः । पूजायाम्—अतिसिक्तमतिस्तुतं भवता । स्वती पूजायामिति प्रादिलक्षणः सविधिः । अतिसिच्य गतः । “प्यस्तिवाक्से क्वः” [१।१।३१] इत्यत्र तिग्रहणमुपलक्षणं प्रादिमेऽपि प्यादेशः ।

पदार्थसंभावनाऽनुज्ञागर्हासमुच्चयेऽपिः ॥१।४।९॥ अप्रयुज्यमानस्य पदस्यार्थः पदार्थः । संभावनं सामर्थ्याविष्करणम् । अनुज्ञा अभ्युपगमः । गर्हा निन्दा । एकत्रानेकस्य नियोजनं समुच्चयः । एतेष्वर्थेष्वपि गितिसंज्ञो न भवति । पदार्थे—सर्पिणोऽपि स्यात् । पयसोऽपि स्यात् । बिन्दुः स्तोकं मात्रा चेत्यस्यार्थेऽपिशब्दः । सम्बन्धे च ता । संभावने—अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अनुज्ञायाम्—अपि सिञ्च । अपि स्तुहि । अतिसर्गे लोट् । गर्हायाम्—धिग् ब्राह्मणमपि सिञ्चेत्पलाण्डुम् । अपि स्तुयाद्रूपलम् । “अनवकल्प्यमर्थे” [१।३।१२१] इति लिङ् । समुच्चये—अपि सिञ्च । अपि स्तुहि । सिञ्च च स्तुहि चेत्यर्थः । गिसंज्ञाश्रयं पलादिकार्यं न भवति ।

अधिपरी अनर्थकौ ॥१।४।१०॥ अनर्थकवनर्थान्तरवाचिनौ । अधि परि इत्येतौ अनर्थकौ गितिसंज्ञौ न भवतः । कुतोऽध्यागतः । कुतः पर्यागतः । गितिसंज्ञाश्रयं सविधानं न भवति । “प्राग्धोस्ते” [१।२।१४६] इति प्रयोगनियमश्च न भवति । इह च पर्यानद्धमिति शल्वं न भवति ।

वीप्सेत्थम्भूतलक्षणेऽभिनेप् ॥१।४।११॥ न गितिरिति वर्तते योग इति च । वीप्सा इत्थम्भूतलक्षण इत्येतेष्वर्थेषु अभिना योगे इविविभक्ती भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षमभिसिञ्चति । इत्थम्भूते—साधुर्देवदत्तो मातरमभिसिञ्चतः । इत्थम्भावोऽभिना गम्यते । लक्षणे—वृक्षमभिसिञ्चति । वृक्षमभिविद्योतते । गितिसंज्ञाप्रतिषेधात् पल्वं “प्राग्धोस्ते” [१।२।१४६] इति नियमश्च न भवति ।

भागे चानुप्रतिपरिणा ॥१।४।१२॥ भागेऽर्थे वीप्सेत्थम्भूतलक्षणेषु च अनु प्रति परि इत्येतैर्योगे इव भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । भागोऽत्रांशः । यदत्र मामनुस्यात् मां प्रति स्यात् मां परि स्यात् तद्दीयताम् । वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षम् अनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । इत्थम्भूते—साधुर्देवदत्तः मातरम-

१. सु व०, सु० । २. चाति अ०, स० । ३. येऽपि स० । ४. पर्यानद्धमिति अ०, व०, स० । ५. वृक्षमभिसञ्जति अ०, व०, स० ।

नुस्थितः मातरं प्रति मातरं परि । लक्षणे—वृक्षमनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति । वृक्षं प्रति विद्यो-
तते । एतेष्विति किम् ? ओदनं परिषिञ्चति । अनुप्रतिपरिणेतुं किम् ? यदत्र मामभिष्यात् । अमेभ्यो
गितिसंज्ञा भवत्येव सगित्वात् सकर्मकत्वं कर्मणीप् प्लवं च भवति ।

हेतावनुना ॥१।४।१३॥ हेतावर्थे अनुना योगे इन्विभङ्गी भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । जिनस्य
ज्ञानोत्पत्तिमन्वागमन्तुराः । सुराणामागमनस्य जिनज्ञानोत्पत्तिर्हेतुः । एवं शान्तिचरितपट्टकप्रसारणमनु प्राव-
र्षत् पर्जन्यः । यदपि इत्थम्भूते लक्षणे वार्थेऽनुना योगे सिद्धैवेप् तथापि येन नाप्राप्तन्यायेन शेषलक्षणाया-
स्तायाः सोऽपवादः । हेत्वर्थे तु परत्वाद्वा प्रसज्येत तद्वाधनार्थमिदम् ।

भार्थे ॥१।४।१४॥ भार्थः सहशब्दस्यार्थः । भार्थेऽनुना योगे इच् भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च ।
नदीमन्ववसिता सेना । नदीमन्ववसिता नगरी । नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः । एवं पर्वतमन्व-
वसिता सेना ।

हीने ॥१।४।१५॥ अनुनेति वर्तते । हीनार्थे द्योत्ये अनुना योगे इच् भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च ।
उत्कृष्टापेक्षया हीनो भवतीति सामर्थ्यादुत्कृष्टादिप् । अनु शालिभद्रमाख्याः । अनु समन्तभद्रं तार्किकाः ।

उपेन ॥१।४।१६॥ हीनार्थे उपेन योगे इच् भवति न गितिसंज्ञा च । उपसिंहनन्दिनं कवयः । उप-
सिद्धसेनं वैयाकरणाः ।

ईवधिके ॥१।४।१७॥ ईन्विभङ्गी भवति अधिकार्थे द्योत्ये उपेन योगे । उप खार्यां द्रोणः । उप-
निष्के कार्पापणम् । यस्मादधिकं मृदर्थोतिरेकात्तत ईप् ।

ईश्वरेऽधिना ॥१।४।१८॥ ईश्वरशब्द ईश्वरेशितव्यसंबन्धमुपलक्षयति । ईश्वरे द्योत्ये अधिना
योगे ईन्विभङ्गी भवति न गितिसंज्ञा च । उत्तरसूत्राद्वेति विभाषाऽवलोक्यते । तत ईश्वरादीशितव्याच्च
पर्यायेणेप् । अधि मेघेश्वरे कुरवः । अधि कुरुषु मेघेश्वरः । इह विभक्त्यर्थे हसः कस्मान्न भवति विभ-
ङ्गीशब्देन तत्र कारकं गृह्यते । ईश्वरेशितव्यसंबन्धश्चात्र न तु कारकम् ।

वा कृञधिः ॥१।४।१९॥ ईश्वर इति वर्तते । अधिशब्दः करोतौ वा गितिसंज्ञो भवति ।
तमधिकृत्य तमधिकृत्वा । ईश्वरं कृत्वेत्यर्थः । अत्र कर्मणीप् । पुनरधिग्रहणं गितिसंज्ञाप्रतिषेधार्थमेव
न त्वीबर्थम् ।

काऽडा मर्यादावचने ॥१।४।२०॥ काविभङ्गी भवति आडा योगे मर्यादावचने गितिसंज्ञाप्रति-
षेधश्च । आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः । आ मथुरायाः । मर्यादायामिति सिद्धे वचनग्रहणमभिधिसंग्रहा-
र्थम् । आ कुमारभ्यो यशः समन्तभद्रस्य । मर्यादावचन इति किम् ? ईषदर्थे क्रियायोगे च मा भूत् ।
आकडारः । आबद्धमाभरणम् ।

वर्जनेऽपपरिभ्याम् ॥१।४।२१॥ विवक्षितेनासंबन्धो वर्जनम् । वर्जनेऽर्थे अप परि इत्येताभ्यां
योगे काविभङ्गी भवति गितिसंज्ञाप्रतिषेधश्च । अप त्रिगतेभ्यो वृष्टो देवः । “परेवर्जने” [१।३।४] इति वा
द्वित्वम् । परि परि त्रिगतेभ्यः । वर्जन इति किम् ? ओदनं परिषिञ्चति ।

यतः प्रतिदाप्रतिनिधी प्रतिना ॥१।४।२२॥ प्रतिदानं प्रतिदा प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिः
मुख्यस्य सदृशः । प्रतिना योगे यतः प्रतिदा यतश्च प्रतिनिधिस्ततः काविभङ्गी भवति न गितिसंज्ञा च ।
प्रतिदायाम्—माषानस्मै तिलेभ्यः प्रतियच्छति । तिलान् गृहीत्वा माषान् ददातीत्यर्थः । एवं सर्पिषोऽस्मै
तैलं प्रतिसिञ्चति । सर्पिषोऽस्मै तैलं प्रतिसिञ्चत्वा व्रजति—प्रतिनिधौ अर्ककीर्तिभरततः प्रति । अभयकुमारः
श्रेणिकतः प्रति । प्रतियोगे “कायास्तसिः [स्तस्]” [४।१।७३] इति तसिः ।

संप्रदानेऽपि ॥११४१२३॥ संप्रदाने कारके अन्विभक्ती भवति । त्रिपृष्ठाय स्वयंप्रभामदात् । क्रिययाऽपि कर्मभूतया यदाप्यते तदपि संप्रदानमुक्तम् । देवदत्ताय रोचते । पत्ये शेते । श्वभ्यो वर्षति । भिक्षु-
केभ्यो वर्षति । तदर्थेन सविधिवचनं ज्ञापकं तादर्थ्येऽपि भवतीति । रथाय दारु । रन्धनाय स्थाली ।
अवहननायोलूखलम् ।

ध्वर्थवाचः कर्मणि स्थानिनः ॥११४१२४॥ ध्वर्थः क्रिया । ध्वर्थो वागस्य स ध्वर्थवाक् । तस्य
स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धोः कर्मणि कारके अन्विभक्ती भवति । यत्र यस्यार्थः प्रयोगमन्तरेण प्रतीयते स
तत्र स्थानी । एधेभ्यो व्रजति । अत्र आहत्तुमित्येतत्तुमुन्तं पदं स्थानि । तदेव च ध्वर्थवाक् । कर्मणीपो-
ऽपवादोऽयम् । तादर्थ्येन सिद्धमिति चेत् स्थानिनो यथा स्यात् प्रयुज्यमानस्य मा भूत् इत्येवमर्थमिदम् ।
ध्वर्थवाच इति किम् ? प्रविश पिरडीम् । प्रविश तर्पणम् । अस्त्यत्र भक्ष्य सिञ्चेति च स्थानी न तु ध्वर्थ-
वाक् । कर्मणीति किम् ? एधेभ्यो व्रजति शक्येन । स्थानिन इति किम् ? एधानाहर्तुं व्रजति ।

तुमर्थाद्भावे ॥११४१२५॥ तुमा समानाऽर्थस्तुमर्थः । तुमर्थो भावे वर्तमानो यस्यस्तदन्तान्मृदोऽपि
भवति । “वुण्णुमौ क्रियायां तदर्थायाम्” [२।३।८] इति वर्तमाने भावे “भाववाचिनः” [२।३।९] इति
वक्ष्यति तेषां घञादीनामिह ग्रहणम् । पाकाय व्रजति । मतये व्रजति । पुष्टये व्रजति । अत्र तदर्थायां क्रियायां
त्यस्य विधानात् तादर्थ्यं तेनैवोक्तमिति तादर्थ्यं अपि न प्राप्नोति । तुमर्थादिति किम् ? पाकः । त्यागः । भाव
इति किम् ? कारको व्रजति ।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्द्योगे ॥११४१२६॥ नमस् स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलं वषट् इत्ये-
तैर्योगे अन्विभक्ती भवति । नमो देवेभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यः । आशीर्विष्णवायां कुशलाथैर्योगे ताऽपौ प्राप्ते
ताभ्यां पूर्वनिर्णयेनायमेव नित्यो विधिः । स्वस्त्यस्तु गोभ्यः । स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात् । स्वाहा इन्द्राय । स्वाहा
अग्नये । स्वधा पितृभ्यः । अलं मल्लो मल्लाय । अलमिति पर्याप्त्यर्थानां ग्रहणम् । “तस्मै प्रभवति”
[३।१।६५] इति निर्देशात् । प्रभुर्मल्लो मल्लाय । समर्थो मल्लो मल्लाय । अन्यत्राऽपि कस्मान्न भवतीति ?
कन्यामलङ्कृते । अलं रोदनेन । “वाग्विभक्तेः कारकविभक्ती बलीयसी” इति कर्मणीप् । करणे च भा
भवति । वषड्ग्नये । वषडिन्द्राय । योगग्रहणं किम् ? नमो जिनानामायतनेभ्यः । ननु ङ्याम्भृदः स्वादयो
विहिताः । तदन्तविषयोऽयं नियमः पदविधिः । ततोऽसामर्थ्यादेव जिनशब्दान्न भविष्यति योगग्रहणमनर्थ-
कम् । अन्यैरपि योगे यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । “हितशब्दयोगे उपसंख्यानम्” [वा०] अरोचकिने हितम् ।
“क्लृप्प्यर्थपुप्रयोगेऽवक्तव्या” [वा०] मूत्राय प्रकल्पते यवागूः । मूत्राय संपद्यते । मूत्राय जायते । भिन्न-
विकारापत्तो चेदं वक्तव्यम् । अग्नेदे मूत्रं संपद्यते यवागूरिति वैव भवति । विकारग्रहणं किम् ? देवदत्तस्य
संपद्यते यवागूः । मूत्रं संपद्यते यवाग्वाः । “उत्पत्तेन ज्ञाप्यमानेऽवक्तव्या” [वा०] ।

“वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी ।

पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्मिच्छाय भवेत्सिता ॥”

तेनैतत् सर्वं लब्धम् ।

प्रकृष्यगर्हं मन्यकर्मण्यजीवे वा ॥११४१२७॥ प्रकृष्यगर्होऽतिशयतिरस्कारः । प्रकृष्यगर्हं गम्ये
मन्यतेः कर्मणि जीववर्जिते वा अन्विभक्ती भवति । न त्वा तृणं मन्ये । न त्वा तृणाय मन्ये । न त्वा बुधं
मन्ये । न त्वा बुधाय मन्ये । प्रकृष्येति किम् ? काष्ठं त्वां मन्ये । लोष्ठं त्वां मन्ये । न त्वा नावं मन्ये ।
यावत्तीर्णं नाव्यम् । न त्वा अन्नं मन्ये । यावद् भुङ्क्तं आदम् । गर्ह इति किम् ? इन्द्रनीलात् पद्मरागम-

धिकगुणं मन्ये । प्रशंसयेम् । उभयग्रहणं किम् ? अश्मानं दृषदं मन्ये । स्वरूपकथनमेतत् । मन्यग्रहणं किम् ? न त्वा वृणं चिन्तयामि । विकरणनिर्देशः किम् ? न त्वा वृणं मन्ये । अजीव इति किम् ? न त्वा श्वानं मन्ये । न त्वा शृगालं मन्ये । अग्रहंवाचित्वाद् युष्मदस्मदादेरविविक्ती न भवति ।

संज्ञो भा ॥११४२८॥ कर्मणीति वर्तते । संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि भा भवति । मात्रा संजानीते । मातरं संजानीते । पित्रा संजानीते । पितरं संजानीते । “संप्रतेरस्मृतौ” [११२१४२] इति दः । वेति व्यवस्थित-विभाषाऽनुवर्तते । तेन द्विषये भाविकल्पः । स्मृत्यर्थे मविधिः । तत्र मातुः संजानाति । मातरं संजानाति । “स्मदर्थद्वयेशं कर्मणि” [११४१६६] इत्यत्र ताविकल्पं वक्ष्यति । कृत्ययोगे परत्वात् “कर्तृकर्मणोः कृति” [११४१६८] इति तैव भवति । मातुः संज्ञता ।

कर्तृकरणे भा ॥११४२९॥ कर्तरि करणे च कारके भाविभक्ती भवति । देवदत्तेन भुक्तम् । जिन-दत्तेन भुक्तम् । करणे—दात्रेण लुनाति । भेति वर्तमाने पुनर्माग्रहणं किम् ? प्रकृत्यादिभ्यो यथा स्यात् । प्रकृत्याऽभिरूपः । प्रकृत्या दर्शनीयः । प्रायेण वैयाकरणः । काश्यपोऽस्ति गोत्रेण । समेन धावति । विषमेण धावति । द्विदोणेन धान्यं क्रीणाति । पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । सहस्रेण अश्वान् क्रीणाति ।

सहार्थेन ॥११४३०॥ योग इति मण्डूकश्रुत्याऽनुवर्तते । सहशब्दार्थेन योगे भाविभक्ती भवति । प्रधानस्य मृदयार्तिरेकाभावादप्रधाने भवति । पुत्रेण सहागतः । पुत्रेण सह पिङ्गलः । पुत्रेण सह धनवान् । अत्र प्रधानाप्रधानयोः क्रियागुणद्रव्यसम्बन्धे सति सहयोगः । अर्थग्रहणं किम् ? पुत्रेण सार्द्धमागतः । पुत्रेण समम् । पुत्रेण साकम् । पुत्रेणामा । “तस्य द्रोणस्य संग्रामः सारणेन गदेन च । युगपत् कोपकामाभ्यां मनीषिण इवामवत्” । विनाऽपि सहशब्देन तदर्थसंप्रत्ययमात्रे च भवति । “अन्त्येनेताऽदिः” [१११७३] अन्त्येन सह आदिरित्यर्थः । योग इत्येव । शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः । पुत्रेण सह स्थूलो ग्रामे । उपाध्याय-शब्दस्य ग्रामशब्दस्य च नास्ति सहशब्देन योगः ।

येनाङ्गिविकारेत्यम्भावौ ॥११४३१॥ अङ्गिविकारः शरीरविकृतत्वम् । अनेन प्रकारेण भवनमित्यम्भावः । क्वचिदेव छात्रादौ प्रकारे वृत्तिरित्यर्थः । येनाङ्गिनो विकार इत्यम्भावश्च लक्ष्यते ततो भाविभक्ती भवति । अक्षणा काणः । पाणिना कुण्ठः । पादेन खञ्जः । इत्यम्भावेऽपि—भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् । चूल्या परित्राजकमद्राक्षीत् । सहार्थेनेत्यस्याविवक्षायामिदं द्रष्टव्यम् । अङ्गिविकारेत्यम्भावविति किम् ? अङ्गि काणमस्य । वृद्धं प्रति विद्योतते ।

हेतौ ॥११४३२॥ हेतावित्यर्थनिर्देशः । हेतावर्थे भा [च] भवति तद्वाचिनः । अन्तेन वसति । धनेन कुलम् । विद्यया यशः । इह लौकिकफलसाधनयोग्यः पदार्था हेतुर्गृह्यते । “तद्योजको हेतुः” [११२१२६] इत्यस्य पारिभाषिकस्य प्रयोगे सिद्धैव भा । उत्तरसूत्रे त्वविशेषेण हेतोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम् ।

कर्तृकर्तृरि ॥११४३३॥ हेताविति वर्तते । कर्तृवर्जिते ऋणे हेतौ काविभक्ती भवति । भापवा-दोऽयम् । शताद्बद्धः । सहस्राद्बद्धः । उत्तमर्णोऽत्र कर्ता । अकर्तरीति किम् ? बद्धस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं बन्धामि । शतं मे धारयति । शतेन बद्धः । बन्धितस्त्वया देवदत्तः । नाऽहं बन्धयामि । शतं मे धारयति । शतेन बन्धितः । कथं देवदत्तेन शतेन बन्धितः । एकस्य हेतुकर्तृत्वमपरस्य प्रयोज्यकर्तृत्वमित्यदोषः । केति योगविभागः । तेन हेतौ काऽपि भवति । कृतकत्वादित्यः । अनुपलब्धेर्नास्तीति ।

गुणे श्रीदत्तस्याऽस्त्रियाम् ॥११४३४॥ हेताविति वर्तते । अस्त्रीलिङ्गे गुण्ये हेतौ श्रीदत्तस्याच्चार्यस्य मतेन कर्त्तृभक्ती भवति । अन्येषां मतेन हेताविति भा । जाड्याद्बद्धः । जाड्येन बद्धः । पारिव्यात्यान्मुक्तः ।

पारिख्यात्नेन मुक्तः । गुण इति किम् ? धनेन कुलम् । अत्रियामिति किम् ? बुद्ध्या मुक्तः ।

ता हेतौ ॥१४।३५॥ हेताविति शब्दनिर्देशोऽयं हेत्वर्थस्य तु प्रकृतत्वात् । हेतुशब्दे प्रयुक्ते हेत्वर्था ता भवति । अन्नस्य हेतोर्वसति । अध्ययनस्य हेतोर्वसति । भिक्षाया हेतोर्वसति । हेतुशब्दोऽपि हेत्वर्थे वर्तते । तस्मादपि ता । सामानाधिकरण्याद्वा ।

सर्वनाम्नो भा च ॥१४।३६॥ हेतुशब्दे प्रयुक्ते सर्वनाम्नो भाविमंक्नी ता च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोर्वसति । येन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति । पूर्वेण तायामेव प्राप्तायामयमारम्भः । अथवा चकारोऽनुस्तसमुच्चयार्थः । तेन निमित्तकारणप्रयोजनहेतुषु प्रयुक्तेषु सर्वासां प्रायो दर्शनमित्येतत्त्वबन्धम् । किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मान्निमित्तात् । कस्य निमित्तस्य । कस्मिन्निमित्ते वसति । एवं कारणप्रयोजनहेतुब्रूदाहार्यम् । प्रायोग्रहणादिम्भ भवति ।

काऽपादाने ॥१४।३७॥ अपादाने कारके काविभक्ती भवति । ग्रामादागच्छति । आचार्यादधीते । रथात् पतितः । केति योगविभागादन्यत्राऽपि भवतीति । तेनेदं बहु वक्तव्यं न भवति । “प्यखे कर्मणि का-वक्तव्या” [वा०] प्रासादमारुह्य प्रेक्षते । प्रासादात् प्रेक्षते । प्रासादाच्छृणोति । “अधिकरणे प्यखे का वक्तव्या” [वा०] आसने उपविश्य प्रेक्षते । आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । “प्रशनाख्यानयोश्च वा वक्तव्या” [वा०] किं देवदत्तो व्याकरणात् कथयति ? आख्याने—व्याकरणात् कथयति । “यतश्चाध्वकालपरिच्छेदस्ततः का वक्तव्या” [वा०] गवेधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे । “कायुक्तात् परादध्वनो वा वेप् च वक्तव्ये” [वा०] गवेधुमतः साकाश्यं चत्वारि योजनानि, चतुर्षु योजनेषु ।

दिक्छब्दाऽन्याऽरादितरतैश्चवाहियुक्ते ॥१४।३८॥ दिक्छब्द अन्य आरात् इतर ऋते अञ्चु यु आ आहि इत्येतैर्युक्ते काविभक्ती भवति । दिक्छब्द—इयमस्याः पूर्वा । इयमस्या उत्तरा । शब्दग्रहणं किम् ? दिशि दृष्टो यः शब्दो देशकालवृत्तिनाऽपि तैन योगे यथा स्यात् । पूर्वो ग्रामात् । उत्तरो ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्माद्वसन्तः । अग्न्यदित्यर्थग्रहणम् । अन्यो देवदत्तात् । व्यतिरिक्तो देवदत्तात् । भिक्षो देवदत्तात् । अर्थान्तरं देवदत्तात् जिनदत्तः । देवदत्ते मृदर्थतिरेकात् तायां प्राप्तायां का विधीयते । आराच्छब्दो भिक्षुको दूरेऽन्तिके च वर्तते तद्योगे “दूरान्तिकाथैस्ता च [१।४।४२] इति अस्मिन् प्राप्ते काविधिः । आराद् गृहात् क्षेत्रम् । आरादेव-दत्तात् पीठम् । इतरे निर्दिश्यमानप्रतियोग्यर्थः । इतरो देवदत्तात् । ऋते इति भिक्षुञ्च पदम् । ऋते धर्मात् कुतः सुखम् । अञ्चु यु । प्राग्ग्रामात् । प्राची दिग्रमणीया । इत्येवमाद्यर्थे आगतस्य अस्तातः “अञ्चैरुप्” [४।१।१६] इत्युप् । अस्य दिक्छब्दत्वेऽपि “ताऽतसर्थे ल्येन” [१।४।३६] इति ता प्राप्ता तदपवादोऽयम् । आ दक्षिणा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । आहि । दक्षिणाहि ग्रामात् । उत्तराहि ग्रामात् । अस्तादर्थे “दक्षिणादा [४।१।१००] ‘आहि च दूरे’ [४।१।१०१] ‘उत्तराच्च’ [४।१।१०२] इति आआर्त्तौ । अत्रापि “ताऽतसर्थे ल्येन [१।४।३६] इति ता प्राप्ता । “अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] पूर्वाञ्छात्राणामा-मन्त्रयस्व ।

ताऽतसर्थे ल्येन ॥१४।३६॥ वक्ष्यति दक्षिणोत्तराभ्यामतस् । तत्समानार्थेन ल्येन युक्ते ता विभक्ती भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्ठाद् ग्रामस्य । उपर्युपरिष्ठात्प्रदिति अतसर्थे निपातितौ । पुरो ग्रामस्य । पुरस्ताद् ग्रामस्य । “पूर्वावराधराणां पुरवधोऽसि” [४।१।१०३] “अस्ताति” [४।१।१०४] इति च पुरादेशः ।

१. “गवेधुमतः” इत्यारभ्य “गवेधुमतः” इत्यतः पूर्वम् अ० पुस्तके नास्ति । २. पूर्वं ग्रामात् अ० । ३. उत्तरे ग्रामात् अ० ।

इवेनेन॥११४१०॥ इव्विभक्ती भवति एनेन योगे । दक्षिणेन विजयार्थं वसति । “दक्षिणोत्तरा धरादात्” [४।१।१८] इत्यधिकृत्य । “वैनेऽदूरेऽकायाः” [४।१।१९] इति अस्तादर्थे एन इत्ययं त्यः । पूर्वसूत्रे नेति योगविभागादनेन योगे तापि भवति इति केचित् । दक्षिणेन ग्रामस्य । उत्तरेण ग्रामस्य ।

पृथग्विनानानाभिर्भा वा ॥ ११४११ ॥ पृथग्विना नाना इत्येत्युक्ते वा भाविभक्ती भवति । पृथग्देवदत्तेन । पृथग्देवदत्तात् । विना देवदत्तेन । विना देवदत्तात् । नाना देवदत्तेन । नाना देवदत्तात् । पक्षे अन्यार्थत्वात् कापि भवति । अथ पृथगादयोऽसहायार्थे वर्तन्ते नान्यार्थे । एवं तर्ह्यधिकारात् का एष्टव्या । त्रयाणां ग्रहणं पर्यायनिवृत्त्यर्थम् । हिरुदेवदत्तस्य । “करणे स्तोकारूपकृच्छ्रकतिपयेभ्योऽसत्त्ववचनेभ्यो भाके वक्तव्ये” [वा०] स्तोकेन मुक्तः । स्तोकान्मुक्तः । अल्पेन मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । कृच्छ्रेण मुक्तः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कतिपयेन मुक्तः । कतिपयान्मुक्तः । असत्त्ववचनेभ्य इति किम् ? स्तोकेन विप्रेण हतः । नेदं वक्तव्यम् । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति इत्युभयं सिद्धम् । “क्रियाविशेषणविवक्षार्था भाके न भवतः” [वा०] स्तोकं चलति । अल्पं जल्पति ।

दूरान्तिकार्थेस्ता च ॥११४१२॥ केति वर्तते । दूरार्थैरन्तिकार्थैश्च युक्ते ताविभक्ती भवति का च । दूरं ग्रामस्य । दूरं ग्रामात् । विप्रकृष्टं ग्रामस्य । विप्रकृष्टेन ग्रामात् । अन्तिकं ग्रामस्य । अन्तिकं ग्रामात् । अभ्यासं ग्रामस्य । अभ्यासं ग्रामात् ।

तेभ्य इप् च ॥११४१३॥ तेभ्यो दूरान्तिकार्थेभ्य इव्विभक्ती भवति का च । दूरं ग्रामस्य । दूराद् ग्रामस्य । विप्रकृष्टं ग्रामस्य । विप्रकृष्टाद् ग्रामस्य । अन्तिकं ग्रामस्य । अन्तिकाद् ग्रामस्य । समीपं ग्रामस्य । समीपाद् ग्रामस्य । काऽनुवर्तनादेव सिद्धा । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन भापि भवति । दूरेण ग्रामस्य । अन्तिकेन ग्रामस्य । असत्त्ववचनेभ्य इति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । दूरात् पथ आगतः । दूरस्य पथः शम्भलम् । अन्तिका ग्रामाः । यद्यसत्त्ववचनेभ्य इत्युच्यते इव्विधानमनर्थकम् । लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् । नपुंसके सोरम्भावेन सिद्धम् । इदं प्रयोजनं “सपूर्वाया वायाः” [५।३।२३] इत्येष विकल्पो मा भूत् । ग्रामो दूरं त्वा पश्यति । ग्रामो दूरं मा पश्यति ।

ईवधिकरणे च ॥११४१४॥ ईव्विभक्ती भवति अधिकरणे कारके दूरान्तिकार्थेभ्यश्च । कटे आस्ते । शयने शेते । दूरान्तिकार्थेभ्यः । दूरे ग्रामस्य । विप्रकृष्टे ग्रामस्य । अन्तिके ग्रामस्य । समीपे ग्रामस्य । “क्तव्येनविषयस्य कर्मणीव वक्तव्या” [वा०] अधीतो व्याकरणे । अधीतमनेन व्याकरणमित्यस्मिन्नर्थे “इष्टादेः” [४।१।२२] इतीन् । एवमाभ्यासी छन्दसि । परिगणितो ज्योतिषि । “निमित्तात् कर्मसंयोगे ईव् वक्तव्या” [वा०] “चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥” नेदं बहु वक्तव्यम् । ईविति योगविभागात् सिद्धम् ।

यद्भावाद्भावगतिः ॥११४१५॥ भावः क्रिया । ईविति वर्तते । यस्य भावाद्भावान्तरगतिर्भवति तत्र ईव् भवति । गोषु दुह्यमानासु गतः । दुग्धास्वागतः । अत्र प्रसिद्धेन गोदोहनभावेन गमनक्रिया लक्ष्यते । एवं देवार्चनायां क्रियमाणायाम् गतः । कृतायामागतः । इदं बदरमान्नेष्वाग्नेषु गतः पक्षेष्वागतः । सामर्थ्याजातेष्विति प्रतीयते । यद्भावादिति किम् ? यो जयाभिः स भुङ्क्ते । जया द्रव्यम् । पुनर्भावग्रहणं किम् ? यो भुक्तवान् स देवदत्तः ।

ता चाऽनादरे ॥११४१६॥ अनादरोऽवज्ञा । यद्भावाद् भावान्तरगतिर्भवति तत्र ताविभक्ती भवति ईप् चानादरे गम्यमाने । देवदत्तस्य क्रोशतः प्रात्राजीत् । देवदत्ते क्रोशति प्रात्राजीत् । रुदतः प्रात्राजीत् । रुदति प्रात्राजीत् । अत्रावज्ञानेन क्रोशनेन प्रव्रजनभावो लक्ष्यते ।

१. ‘द्रष्टव्या’ अ० । २. “ग्रामो दूरं मा पश्यति” इति ब० पुस्तके नास्ति ।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥१४१४७॥ स्वामिन् ईश्वर अधिपति दायाद
‘साक्षिन् प्रतिभू प्रसूत इत्येतैर्युक्ते तेषौ विभक्त्यौ भवतः । गवां स्वामी । गोषु स्वामी । गवामीश्वरः । गोष्वी-
श्वरः । गवामधिपतिः । गोष्वधिपतिः । दायमादत्ते दायादः । “घे” [२:२:४] इति नियमादन्यस्मिन् गाव-
प्राप्ते के अत एव निपातनात् कः । गवां दायादः । गोषु दायादः । गवां साक्षी । गोषु साक्षी । गवां प्रतिभूः ।
गोषु प्रतिभूः । गवां प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । चकारः किमर्थः ? तेपोरनुवर्तनार्थः । अन्यथा पूर्वत्र चानुकृष्टाया
ईपोऽनुवृत्तिर्न स्यात् । उत्तरसूत्रयोरेपि चकारस्येदमेव फलम् । प्रसूतयोरे ईवेव प्राप्ता इतरैर्योगे ता प्राप्ता ।

कुशलायुक्तेन चासेवायाम् ॥१४१४८॥ आसेवा मुहुर्मुहुः सेवा तात्पर्यं च^१ । कुशल आयुक्त
इत्येताभ्यां युक्ते आसेवायां गम्यमानायां तेषौ विभक्त्यौ भवतः । कुशलो विद्याग्रहणस्य । कुशलो विद्याग्रहणे ।
आयुक्तस्तपश्चरणस्य आयुक्तस्तपश्चरणे । आसेवायामिति किम् ? आयुक्तो गौः शक्ते । आकृष्य युक्त
इत्यर्थः । अधिकरणलक्षणायमीप् ।

यतश्च निर्धारणम् ॥१४१४९॥ जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् ।
यतश्च निर्धारणं ततस्तेषौ विभक्त्यौ भवतः । मनुष्याणां क्षत्रियः शूद्रतमः । मनुष्येषु क्षत्रियः शूद्रतमः ।
नारीणां श्यामा दर्शनीयतमा । नारीषु श्यामा दर्शनीयतमा । अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः । अध्वगेषु
धावन्तः शीघ्रतमाः । प्रपञ्चार्थमिदं समुदाये अवयवोऽन्तर्भूतः । अधिकरणविवक्षायामीप् सिद्धा अवयव-
सम्बन्धविवक्षायां तापि सिद्धा अत एवापादाने कापि भवति । गोम्यः कृष्णा निर्धार्यते इति ।

विभक्ते का ॥१४१५०॥ यतश्च निर्धारणमिति वर्तते । भिन्नजातीयात् समुदायाद्गणादिना पृथक्करणं
विभक्त्यनिर्धारणं तत्र का विभक्ती भवति । पूर्वेण तेषोः प्राप्तयोरयमपवादः । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्य-
तराः । दर्शनीयतराः । अयमस्माद्विभक्तिः । अयमस्माद्विलक्षणः । इदमपि प्रपञ्चार्थम् । पाटलिपुत्रकाणामव-
धिभावेन बुद्धिं प्राप्तानामपादानत्वमस्ति ।

साधुनिपुणेनाचार्यामोवप्रतेः ॥१४१५१॥ साधु निपुण इत्येताभ्यां युक्ते अर्चायां गम्यमानायामी-
विभक्ती भवति प्रतिशब्दस्याप्रयोगे । मातरि साधुः । पितरि साधुः । भ्रातरि निपुणः । पितरि निपुणः । तापवा-
दोऽयम् । अर्चायामिति किम् ? साधुर्निपुणो वाऽमात्यो राज्ञः । अप्रतेरिति किम् ? साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति ।
प्रतिग्रहणमगितिसंज्ञानामभिपर्यन्तानामुपलक्षणम् । मातरमभि । मातरं परि । मातरमनु । कथमसाधुः
वितरि । अनिपुणो मातरि । पूजाप्रयुक्तसाधुनिपुणप्रतिषेधोऽयम् । असमर्थस्यापि नञः सन्निधिरिति ।

प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च ॥१४१५२॥ प्रसित उत्सुक इत्येताभ्यां युक्ते भाविभक्ती भवति । ईप्
च । केशैः प्रसितः । केशेषु प्रसितः । प्रसक्त इत्यर्थः । केशैरुत्सुकः । केशेषूत्सुकः । पक्षे भार्थमिदम् । ईवधिकरण-
त्वादेव सिद्धा ।

उत्सि भे ॥१४१५३॥ ईवनुवर्तते भा च । उत्सिष्ये भवाचिनि भेषौ विभक्त्यौ भवतः । “भाष्य क्तः
कालः” [३:२:४] इत्यागतस्याणः “उत्सिभेदे” [३:२:५] इत्युसि कृते यदा भवाची शब्दः काले वर्तते तदा
तस्माद्भा च ईप् च भवत इत्यर्थः । पुष्येण पायसमश्नीयात् । पुष्ये पायसमश्नीयात् । मघाभिः पल्लौदनम् ।
मघासु पल्लौदनम् । उत्सीति किम् ? मघासु ग्रहः । नात्र मघाशब्दः काले वर्तते । भ इति किम् ? पञ्चालेषु
वसति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः तेषां निवासः पञ्चालः । निवासार्थे आगतस्याणः “जनपद उत्स्”
[३:२:६] इत्युस् । इह कस्मान्न भवति ? अत्र पुष्यः । मिडेकार्यत्वात् । चानुकृष्टाया ईप् कथमनुवृत्तिः ?
ईवधिकारे सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । अत्राप्यधिकरणत्वादीप् सिद्धा पक्षे भार्थं वचनम् । यद्यधिकरणस्यापि करणविवक्षा
यथा स्थाल्या पचति तदेदं प्रपञ्चार्थम् ।

मिडैकार्थं वाः ॥११४।५४॥ मिडन्तेन पदेन एकार्थे वर्तमानाम्बुदो वा विभक्ती भवति । गौश्ररति । कुमारी तिष्ठति । आदनः पच्यते । खारी मीयते । एकः । द्वौ । बहवः । इत्यत्रोक्तेष्वप्येकत्वादेषु वा भवतीत्युक्तप्रायम् । च वा ह उच्चैरित्येवमादिषु अनर्थक्येषु च प्रादिषु मिडन्तेनैकार्थत्वाभावेऽपि “सुपो केः” [११४।१२०] इति ज्ञापकाद्भवति । भावे वर्तमानेन मिडन्तेन स्वभावादन्त्येनैकार्थत्वं नास्ति । आस्यते देवदत्तेन । नन्वेकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिषु कर्मादिविशिष्टेषु वा एकत्वादेषु इवादिनां नियमात् परिशेषात् वृत्तः सन् इत्येवमादिषु वादिषु च “ङयाम्बुदः” [३।१।१] इत्यनेनैव वायाः सिद्धत्वादन्त्येनैकार्थमिदम् ? नानर्थकम् । एकद्विवहुवचनानां व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वायास्तायाश्च विषयभेदार्थं चेदम् । विसर्जनीयो विभाषा सन्देहनिवृत्त्यर्थम् ।

सम्बोधने बोध्यम् ॥११४।५५॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । सम्बोधने या वा तस्या बोध्यमित्येषा संज्ञा । सम्बोधनेऽपि मिडैकार्थत्वमास्ति इति पूर्वेण वाविधानम् । हे देवदत्त आगच्छ । हे देवदत्तौ । हे देवदत्ताः । हे पचन् । हे पचमान । “सम्बोधने” [२।२।१०३] इति शत्रुशानौ । बोध्यसंज्ञाप्रयोजनम् “बोध्यमसद्वत्” [१।३।२४] इत्येवमादि ।

एकः क्रिः ॥११४।५६॥ बोध्यसंज्ञायां वाया एकवचनं किसंज्ञं भवति । हे कन्ये । हे वयो । क्रिप्रदेशाः “क्रेडः” [४।३।२७] इत्येवमादयः ।

ता शेषे ॥११४।५७॥ कर्मादिकारकाणां अविवक्षा कर्मादिभ्योऽन्त्यो वा मृदार्थातिरेकः स्वस्वामिसंबन्धादिः शेषः । ता विभक्ती भवति शेषे अर्थविशेषे । नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । स्वस्वामिसंबन्धसमीप-समूहविकारावयवस्थानादयस्तार्थाः । राज्ञः स्वम् । मन्त्राणां राजा । देवदत्तस्य समीपम् । यवानां राशिः । यवानां धानाः । देवदत्तस्य हस्तः । गोः स्थानम् । शेषग्रहणं किम् ? इवादयो नियताः कर्मादयस्त्वनियतास्तेभ्यस्ता मा भूत् ।

ज्ञोऽस्वार्थे करणे ॥११४।५८॥ स्वार्थोऽवबोधनं तत्पर्युदस्यतो जानातेस्वार्थे वर्तमानस्य करणे ताविभक्ती भवति । सर्पिषो जानीते । पयसो जानीते । सर्पिषा करणभूतेन अवबोधने प्रवर्तते वा इत्यर्थः । “ज्ञोऽपह्नवेः” [१।२।४] इति दविधिः । करणस्य शेषत्वविवक्षायां विवक्षायां च तैव भवति । अस्वार्थ इति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति ।

स्मर्थद्वयेशं कर्मणि ॥११४।५९॥ शेष इति वर्तते । स्मृ इत्यनेन समानार्थानां धूनां दय ईश इत्येतयोश्च कर्मणि शेषत्वेन विवक्षिते ता विभक्ती भवति । मातुः स्मरति । पितुर्ध्येति । सर्पिषो दयते । सर्पिष ईष्टे । कर्मणीति किम् ? मातुर्गुणैः स्मरति । शेष इत्येव । मातरं स्मरति । यद्येवं नार्थोऽनेन “ता शेषे” [१।४।५७] इत्येव सिद्धम् । लादेशे “न किं” [१।४।७२] इति प्रतिषेधोऽपि “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इत्येतस्याः प्राप्तेरनन्तरत्वात् । नापि “प्रतिपदम्” इति सविधिप्रतिषेधार्थम् । नेयं प्रतिपदविधाना ता । वृत्तिरपि दृश्यते । अर्थानुस्मरणं धर्मानुचिन्तनम् । एवं तर्हि कर्मणः शेषत्वेन विवक्षितत्वादकर्मकत्वोपपत्तेर्लव्यक्तव्यार्थाः भावे सिद्धा भवन्ति । मातुः स्मर्यते । मातुः स्मर्तव्यम् । सकर्मकविवक्षायां कर्मणि भवन्ति । माता स्मर्यते । माता स्मर्तव्या ।

प्रतियत्ने कृजः ॥११४।६०॥ करोतेः कर्मणि ताविभक्ती भवति प्रतियत्ने गम्यमाने । असतोऽर्थस्य प्रादुर्भावाय सतो गुणान्तराधानाय समीहा प्रतियत्नः । एधो दकस्योपस्कुरुते । काण्डं गुणस्योपस्कुरुते । “गन्ध-नावक्षेपः” [१।२।२७] आदिना दः । प्रतियत्न इति किम् ? कटं करोति बुद्ध्या । शेष इत्येव । एधो दकमुपस्कुरुते ।

रुजर्थस्य भाववाचिनोऽज्वरिसन्ताप्योः ॥११४।६१॥ रुजर्थानां धूनां भावकर्तृकाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति ज्वरिसन्तापी वर्जयित्वा । चोरस्य रुजति रोगः । रुजर्थस्येति किम् ? एति जीवन्तमानन्दः ।

१. रोगः । वृषलस्यामयति रोगः । रुज—अ०, ब०, स०

गत्यर्थोऽसौ। भाववाचिन इति किम् ? श्लेष्मा मधुराशिनं रुजति। अज्वरिसन्ताप्योरिति किम् ? आद्यूनं ज्वरयति ज्वरः। घटादित्वात् प्रादेशः। अत्याशिनं सन्तापयति ज्वरः। शेष इत्येव। चौरं रुजति रोगः।

आशिषि नाथः ॥११४६२॥ आशीःक्रियस्य नाथः कर्मणि ता विभक्ती भवति। सर्पिषो नाथते। पयसो नाथते। सर्पिर्मं भूयात् इत्यर्थः। “आशिषि नाथः” इत्युपसंख्यानं दविधिः। आशिषीति किम् ? माणवकमुपनायति अङ्ग पुत्राधीधेति। शेष इत्येव। सर्पिर्नाथते।

जासनिग्रहणनाटकाथपिषां हिंसायाम् ॥११४६३॥ जास निग्रहण नाट काथ पिषां इत्येतेषां हिंसा-क्रियाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति। “जस ताडने” इति चौरादिकः। चोरस्योज्जासयति। वृषलस्योज्जासयति। ‘जसु मोक्ष्ण’ इत्येतस्य दैवादिकस्याहिंसार्थत्वादग्रहणम्। जास इति कृतदीत्वोच्चारणं किम् ? प्रादेशे मा भूत्। दस्युमजीजसम्। निग्रहण इति निप्रयोः समुदितयोः व्यस्तयोर्विपर्यस्तयोर्ग्रहणम्। चोरस्य निग्रहन्ति^१। चोरस्य निहन्ति। चोरस्य प्रहन्ति। चोरस्य प्रणिहन्ति। नट अवस्यन्दने चुरादिः। चोरस्योन्नाटयति। दीत्वोच्चारणं किम् ? दस्युमनीनटत्। “अथ कथ कलथ हिंसार्थाः” “हेतुमति” [२११२४] इति शिच्। चोरस्योत्-क्राथयति। दीत्वं हि किम् ? दस्युमचिक्रथत्। घटादित्वेऽपि निपातनादुडः प्रादेशवाधनार्थं च। चोरस्य पिनष्टि। वृषलस्य पिनष्टि। हिंसायामिति किम् ? धानाः पिनष्टि। शेष इत्येव। चौरं निहन्ति। रुजर्थत्वादेतेषामपीति चेदभावकर्तृकार्यं वचनम्। चोरस्योज्जासयति राजा।

व्यवहृपणोः सामर्थ्ये ॥११४६४॥ सामर्थ्यं समानार्थत्वं व्यवहृ पण इत्येतयोः सामर्थ्ये स्तुतिकर्मणि ता भवति क्रयविक्रये द्यूते च सामर्थ्यम्। शतस्य व्यवहरते। सहस्रस्य व्यवहरते। सहस्रस्य पणते। त्रायः कस्मान्न भवति गुपादिभिः साहचर्यात् भौवादिकस्य स्तुत्यर्थस्य तत्र ग्रहणम्। इह तु तौदादिकस्यानुदात्तेतः। सामर्थ्यं इति किम् ? शलाकां व्यवहरति। गणयतीत्यर्थः। देवान् पणयति। शेष इत्येव। शतं व्यवहरति। सहस्रं पणते।

दिवश्च ॥११४६५॥ “व्यवहृपणोः सामर्थ्ये” [११४६४] इति वर्तते। दिवश्च व्यवहृपणिसमाना-र्थस्य कर्मणि ता भवति। शतस्य दीव्यति। सहस्रस्य दीव्यति। चकारः किमर्थः ? सामर्थ्यानुकर्षणार्थः। ननु विकारादेव सामर्थ्यग्रहणमनुवर्ततेऽन्यथा चानुकृष्टमुत्तरत्र च नानुवर्तते “वा गौ” इत्यत्र सामर्थ्यानुवृत्तिर्न स्यात्, अनुक्तसमुच्चयार्थस्तर्हि कचिदन्यस्यापि प्रयोगे यथा स्यात्। सक्तूनां पूर्णः। ओदनस्य तृतः। सामर्थ्यं इत्येव। साधून् दीव्यति।

वा गौ ॥११४६६॥ सामर्थ्यं इति वर्तते। गिपूर्वस्य दिवः कर्मणि वा ता विभक्ती भवति। शतस्य प्रदीव्यति। शतं प्रदीव्यति। सहस्रस्य प्रदीव्यति। सहस्रं प्रदीव्यति। इयं पूर्वेण प्राप्ते विभाषा। ननु शेषविव-क्षया तापि भविष्यति इति व्यर्थमिदम्। एवं तर्हि इदमेव शापकमगिपूर्वस्य शेषविवक्षा नास्ति इति। शतस्य दीव्यति। सामर्थ्यं इत्येव। शलाकां प्रतिदीव्यति।

कालेऽधिकरणे सुजर्थे ॥११४६७॥ कालेऽधिकरणे ता विभक्ती भवति सुजर्थे त्वे प्रयुक्ते। द्विरहोऽधोते। त्रिरहोऽधीते। पञ्चकृत्वोऽहो भुङ्क्ते। “रंख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस्” [४२२४] इति कृत्वस्। “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [४२२५] इति सुच्। काल इति किम् ? द्विः कांसपात्र्यां भुङ्क्ते। अधिकरण इति किम् ? द्विरहो भुङ्क्ते। सुजर्थ इति किम् ? अहनि भुङ्क्ते। रात्रौ भुङ्क्ते। नन्वत्रापि द्विः त्रिवेति सुजर्थो गम्यते ? प्रयुक्तग्रहणं दूरादनुवर्तते तेन गम्यमाने सुजर्थे न भवति। शेष इत्येव। द्विरह्यधीते।

कर्तृकर्मणोः कृति ॥११४६८॥ कृति प्रयुक्ते कर्तरि कर्मणि च ता विभक्ती भवति। अनुक्त इति वर्तते। भवत आसिका। भवतः शायिका। खिलिङ्गे भावे “पर्यायाहर्णोत्पत्तौ वुण्” [२३११२] इति वुण्।

१. चोरस्य निग्रहन्ति इति ब० पुस्तके नास्ति। २. व्यवहृपणेः समा-अ०। ३. प्रतिदीव्यति ब०।

४. इह अ०।

यवानां लावकः । ओदनस्य भोजकः । विश्वस्य ज्ञाता । तीर्थस्य कर्ता । कुतीति किम् ? ओदनं पचति । ननु “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिनाऽत्र प्रतिषेधो भविष्यति । एवं तर्हि ह्यति मा भूत् । कृतपूर्वा कटम् । कृतं पूर्वमनेन “इन्” [४।१।१६] “पूर्वात्” [४।१।२०] “सपूर्वात्” [४।१।२१] इतीन् । पुनः कर्मग्रहणादिह शेषस्य ग्रहणं नाभिर्वन्ध्यते ।

द्विप्राप्तौ परे ॥१।४।६६॥ पूर्वसूत्रविन्यासापेक्षया परशब्देन कर्माऽभिप्रेतम् । द्विप्राप्तौ कृति पर एव कर्मणि ता विभक्ती भवति न कर्तरि । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । द्वयोः प्रामिर्न्यस्मिन् कुतीति व्यधिकरणस्य वसत्याश्रयणाद् भिन्ने कृति नियमो न भवति । आश्चर्यमिदमतिथीनां प्रादुर्भावः ओदनस्य च नाम पाकः । “अकाराकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्” [वा०] भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षां जिनदत्तस्य काव्यानाम् । अकारग्रहणेन निरनुबन्धकस्य “अस्यात्” [२।१।८४] इत्यस्यैव ग्रहणम् । “शेषे विभाषा” [वा०] अकारापापेक्षया शेषस्य स्त्रीत्यस्य ग्रहणम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्य आचार्येण वा । केचिदविशेषेणेच्छन्ति । विचित्रं शब्दानुशासनमाचार्यस्य आचार्येण वा ।

क्लस्याधिकरणे ॥१।४।७०॥ अधिकरणे यः क्तस्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । “अधिकरणे चाद्यर्थान्च” [२।४।२६] इति अद्यर्थेभ्यो धिभ्यो गत्यर्थेभ्यश्च क्तो वक्ष्यते तस्य प्रयोगे “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति ता प्राप्ता “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा पुनः प्रसूयते । इदमेषामशितम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषामासितम् । इदमेषां शयितम् । इदमेषां तृतम् । इदमेषां पराक्रान्तम् । एषामिति कर्तारि ता । अधिकरणस्य क्तेनोक्तत्वादिदं शब्दादीन् भवति । “अधिकरणे च” [२।४।५६] इत्यत्र चकारेण यथा प्रातः समुच्च्यते । कर्तरि-इहेमे आसिताः । भावे-इह एभिरासितम् । शेषविवक्षायामिह एषामासितम् । एवं सर्वत्र योज्यम् ।

भवति ॥१।४।७१॥ भवति काले विहितस्य क्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । अयमपि प्रतिषेधापवादः । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । सतां पूजितः । “मतिबुद्धिपूर्वाधार्यच” [२।२।१६६] इति सम्प्रतिकाले क्तः । शेषविवक्षायां यद्यपि ता सिद्धा तथापि कर्तृविवक्षायां भावाधनार्थमिदम् । सम्प्रतिकाले चकारेण लब्धेषु शीलितादिषु प्रयुक्तेषु ता नेष्यते । देवदत्तेन शीलितः । कथं मयूरस्य नृत्तं छात्रस्य हसितमिति ? शेषविवक्षयेदम् । कर्तरि तु मयूरेण नृत्तम् । छात्रेण हसितम् ।

न क्ति लोकास्वार्थानाम् ॥१।४।७२॥ क्ति त ल उ उक खार्थं तृन् इत्येतेषां प्रयोगे ता विभक्ती न भवति । “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति तायाः प्राप्तायाः प्रतिषेधोऽयम् । क्ति-कटं कृत्वा । कटं कर्तुम् । तसंज्ञा-देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तः कटं कृतवान् । ल-कटं कुर्वन् । कटं कुर्वाणः । अचूषिषान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । कटं कारयामास । धर्मे दधिश्चितम् । “सहिवह्वलिपतीनामिर्यङः” इत्यधिकृत्य धाक्कुसुजनिताभ्यो लिङ्वदित्युपसंख्यानान् शीलादिष्वर्थेषु हरित्ययं त्यो भवति । कटं चिकीर्षुः । ओदनं बुभुक्षुः । कन्यामलङ्कारिष्णुः । उक-आगामुको वाराणसीम् । उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेधः । दास्याः कामुकः । खार्थः-सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । तृन्निति प्रत्याहारः शत्रुशानावित्यत आरभ्य तृनो नकारेण । धान्यं पवमानः । अश्रीयन् जैनेन्द्रम् । “पूज्यजोः शानः” [२।२।१०६] इति शानः । “धारीडः शत्रुकृच्छ्रिणि” [२।२।१०८] इति शत्रुत्यः । कर्ता कटान् । वदिता जनापवादान् । शीलाद्यर्थे तृन्निति तृन् । “द्विषः शत्रुर्वा वचनम्” [वा०] चोरं द्विषन् । चोरस्य द्विषन् । “द्विषोरौ” [२।२।१०६] इति शत्रुत्यः ।

वर्त्यत्यकस्य ॥१।४।७३॥ वर्त्यति काले विहितस्याकस्य योगे ता विभक्ती न भवति । कटं कारको व्रजति । ओदनं भोजको गच्छति । “बुण्डुमौ क्रियायाम्” [२।३।८] इति बुण् । वर्त्यतीति किम् ? ओदनस्य भोजकः । वर्त्यतीति विहितस्याकस्य ग्रहणादिह न भवति । वर्षशतस्य पूरकः । पुत्रपौत्राणां दर्शकः ।

आधमर्त्ये चैनः ॥१।४।७४॥ आधमर्त्ये वर्त्यति च काले विहितस्येनः प्रयोगे ता विभक्ती न

भवति । शतं दायी । सहस्रं दायी । “आवश्यकपधर्म्यैर्योर्णिन्” [२।३।१४६] इति णिन् । वर्त्यति । गमी ग्रामम् । आग्रामी नगरम् । “गम्यादिवर्त्यति” [२।३।१] इति वर्त्यतिकाले साधुत्वम् । आधमरण्ये चेन ह्रुति किम् ? अवर्यकारी कटस्य । आवश्यकेऽर्थे कालसामान्ये णिन् ।

व्यस्य वा कर्त्तरि ॥१।४।७५॥ व्यसञ्जस्य प्रयोगे कर्त्तरि वा ता विभक्ती भवति । भवतः कटः कर्त्तव्यः । भवता कटः कर्त्तव्यः । कर्तृकर्मणोः कृतीति ता प्राप्ता विभाष्यते । कर्त्तरोति किम् ? गेयो माणवको गाथानाम् । “भग्यतेय०” [२।४।२३] आदि सूत्रे कर्त्तरि गेयशब्दो निपातितः । अत्र कर्मणि नित्यं ता भवति । इह कस्मात्ता न भवति ऋष्टव्या ग्रामं शाखा देवदत्तेन । नेतव्या ग्राममजा देवदत्तेन । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन “द्विप्राप्तौ परे” [१।४।६६] इत्यस्यास्ताया व्यप्रयोगे प्रतिषेध एव ।

भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः ॥१।४।७६॥ वेति वर्तते । तुलोपमाशब्दाभ्यामन्यैस्तुल्यार्थैः शब्दैर्युक्ते वा भाविभक्ती भवति । तुल्यो देवदत्तेन । तुल्यो देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । अतुलोपमाभ्यामिति किम् ? नास्ति तुला देवदत्तस्य । उपमा नास्ति सनकुमारस्य ।

अप् चाशिष्यायुष्यमद्रमद्रकुशलसुखहितार्थैः ॥१।४।७७॥ वेति वर्तते । वा अन्विभक्ती भवति-आशिषि गम्यमानायाम् । आयुषो निमित्तं संयोगः । “निमित्तं संयोगोत्पादौ” [३।४।३७] “योऽसंख्या परिमाणशब्देः” [३।४।३८] इति यः । आयुष्य मद्र मद्र कुशलं सुखं हितं इत्येवमर्थैर्युक्ते । आयुष्यमिदमस्तु देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । चिरमस्तु जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । मद्रं भवतु जिनशासनाय जिनशासनस्य वा । मद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । कुशलं साधुभ्यः । कुशलं साधूनाम् । निरामयं साधुभ्यः । निरामयं साधूनाम् । सुखं साधुभ्यः । सुखं साधूनाम् । शमस्तु साधुभ्यः । शमस्तु साधूनाम् । हितं देवदत्ताय । हितं देवदत्तस्य । पथं देवदत्ताय । पथं देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । चकारः किमर्थः ? अर्थार्थैरपि योगे यथा स्यात् । अर्थो देवदत्ताय । अर्थो देवदत्तस्य । प्रयोजनं देवदत्ताय । प्रयोजनं देवदत्तस्य । तापक्षे वृत्तिर्न भवति अगमकज्ञात् । न हि वृत्त्याऽऽशीर्गम्यते । आशिषीति किम् ? आयुष्यं देवदत्तस्य । अत्र नाप् ।

प्राणिनूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्व एकवत् ॥१।४।७८॥ प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एकवद्भवति । एकार्थवद्भवतीति अर्थनिर्देशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता । पाणी च पादौ च पाणिपादम् । दन्तौष्ठम् । शिरोग्रीवम् । यदि प्राण्यङ्गं प्राणिग्रहणेन गृह्यते “अप्राणिजतेः” [१।४।८२] इति प्रतिषेधे प्राप्ते अथ न गृह्यते तदा “अप्राणिजतेः” इत्येव सिद्धे व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वचनं प्राण्यङ्गानामन्येन द्वन्द्वो मा भूत् । तूर्यम्-मार्दङ्गिकाश्च पाणविकाश्च मार्दङ्गिकपाणविकम् । सेना-रथिकाश्च अश्वारोहाश्च रथिकाश्चरोहम् । रथिकपादादम् । “सेनाङ्गेषु बहुल्वे” [वा०] इति तेन रथिकाश्चरोहौ । हस्यश्वादिषु परत्वात् पशु विभाषा । यद्यप्यभिधानवशादिह समाहारे द्वन्द्वः, दधिपयआदिषु इतरैतरयोगे, तरुमृगादिषु उभयत्र, तथापि तद्विषयविभागज्ञापनार्थमिदं प्रकरणम् ।

चरणानामनूक्तौ ॥१।४।७९॥ चरणं कठादिप्रोक्तोऽध्ययनविशेषः । तद्यदा पुरुषेष्वन्येषु वर्तते तदेह गृह्यते । अनूक्तिरनुवादः । चरणानां द्वन्द्व एकवद्भवति अनूक्तौ । स्थणोर्लुङन्तयोः प्रयोगे चेदमिष्यते । उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् । अनूक्ताविति किम् ? उदगुः कठकालापाः । प्रथमोपदेशोऽयम् । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः । प्रोक्तार्थे “शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन्” [३।३।७७] इति णिन् । तस्य “कठचरणा का हुप्” इत्युप् । अध्येतृविषयस्याणः “उप् प्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः । प्रोक्तार्थे “कलापिनोऽण्” । टिलम् । परस्याणः “उप्प्रोक्तात्” [३।२।२४] इत्युप् । “छन्दो ब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।२६] इत्यन्येतृविषयता ।

अध्वर्युकुतुरनप् ॥१।४।८०॥ अध्वरमिच्छन्ति अध्वर्यवो यजुर्वेदविदः । अतएव निपातनात् क्यच्-

कारस्य लम् । क्यञन्तस्य उश्च त्यः । अर्धयुः क्रतुरनपुंसकलिङ्गो द्वन्द्वमेकवद्भवति । येषां क्रतूनां यजुर्वेदशाखासु लक्षणं प्रयोगश्च शिष्यते प्राधान्येन तेषामर्धयुः क्रतूनामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवति इत्यर्थः । अर्कश्च अश्वमेधश्च अर्कश्चमेधम् । सायाह्वातिरात्रम् । पौण्डरीकातिरात्रम् । अर्धयुः क्रतुरिति किम् ? पञ्चौदनदशौदनाः । इषुवज्रौ । उद्भिद्रलभिदौ । एते सामवेदविहिताः । अनविति किम् ? राजसूयं च वाजपेयं च राजसूयवाजपेये । इह कस्मान्न भवति दर्शपौर्णमासौ । दधिपयश्चादिषु द्रष्टव्यः ।

अधीत्याऽदूराख्यानाम् ॥१॥४॥८१॥ आख्या नामधेयम् । अधीत्या निमित्तभूतया अदूराख्यानां द्वन्द्व एकवद्भवति । पदमधीते पदकः । क्रममधीते क्रमकः । पदकक्रमकम् । क्रमकक्रमात्तिकम् । पदाध्ययनस्यासन्नं क्रमाध्ययनम् । अधीत्येति किम् ? आढ्यदरिद्रौ । अदूराख्यानामिति किम् ! याज्ञिकवैयाकरणा । यज्ञमधीते याज्ञिकः ।

अप्राणिजातेः ॥१॥४॥८२॥ अप्राणिजातिवाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति । आराशस्त्रि । धानाशष्कुलि । युगवरत्रम् । अप्राणिग्रहणं किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । गोत्रं चरणैः सहेति जातिः । जातेरिति किम् ? हिमवद्विन्ध्यौ । नन्दकपाञ्चजन्यौ । संज्ञाशब्दा एते । नञ्सहशसम्प्रत्ययहेतुः । तेन द्रव्यजातीनामेकवद्भावादिह न भवति । रूपरसगन्धस्पर्शाः । गमनागमने । जातेरविवक्षायां न भवति । वदरामलकानि तिष्ठन्ति ।

भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम् ॥१॥४॥८३॥ भिन्नलिङ्गानां नदीदेशवाचिनामग्रामाणामपुराणां द्वन्द्व एकवद्भवति । नदी-उद्धयश्चरावती च उद्धयरावति । विपाट्चक्रभिदम् । गङ्गाशोणम् । देशाः-कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुक्षेत्रम् । कुरुक्षेत्राङ्गलम् । दार्वश्च अभिसारं च दार्वभिसारम् । काश्मीराभिसारम् । भिन्नलिङ्ग इति किम् ? गङ्गायमुने । मद्रकेकयाः । नदीदेश इति किम् ? कुक्कुटमयूरौ । अग्राम इति किम् ? जाम्बवश्च शालुकिनी च जाम्बवशालुकिन्यौ । ननु नद्यपि देश इति पृथग्रहणं किमर्थम् ? ज्ञापकार्थं जनपदो देशोऽभिप्रेतो न नदीपर्वतादिः । तेनैव नैकवद्भावः । कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने । अपुरमिति किम् ? लोके ग्रामग्रहणेन पुरमपि गृह्यते ततोऽपुरमिति प्रतिषेधः । मथुरापाटलिपुरम् । अग्राम इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेन यत्र पुरग्रामयोर्द्वन्द्वस्तत्रापि नैकत्वम् । नासौयकैतवौ पुरग्रामौ ।

क्षुद्रजीवाः ॥१॥४॥८४॥ इहाल्पशरीरः क्षुद्रः । क्षुद्रजीवानां द्वन्द्व एकवद्भवति । क्षुद्रजीवाश्चो द्वन्द्व उपचारात् क्षुद्रजीवा इति निर्देशः । यूकालिङ्गम् । शतस्वश्च उत्पादकाश्च शतसूपादकम् । दंशमशकम् ।

“क्षुद्रजीवा अकङ्काला येषां स्वं नास्ति शोणितम् । नाज्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ॥”

केचित् शब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । क्षुद्रजीवा इति बहुवचननिर्देशात् द्वित्वविषये नेदमिति यूकालिङ्गौ । दंशमशकौ ।

येषाञ्च द्वेषः शाश्वतिकः ॥१॥४॥८५॥ द्वेषोऽप्रीतिः । येषां च द्वेषः शाश्वतिकस्तद्वाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति । शाश्वद्भवः शाश्वतिकः । “कालाट्टज्” [३।२।१३१] इति ठञ् । निपातनादिकादेशः । “केभमात्रे टिखम्” इति खं च न भवति । अहिनकुलम् । श्वराहम् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । शाश्वतिक इति किम् ? गौपालिशालङ्कायनाः । केनचिन्निमित्तेन कलहायन्ते । चकारोऽवधारणार्थः । अयमेव नित्य एकवद्भावो यथा स्यात् पश्वादिविभाषा मा भूत् । अश्वमहिषम् । काकोलूकम् ।

१. पा० महाभाष्ये-“क्षुद्रजनुरनस्थिः स्यादथ वा क्षुद्र एव यः । नाज्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ।” २।४।८५ । २. श्ववाराहम् अ० ।

वर्येनार्हद्रूपायोग्यानाम् ॥११४८६॥ वर्येनार्हद्रूपस्यायोग्यास्तेषां द्वन्द्व एकवद्भवति । येन रूपेणार्हन्त्यमवाप्यते, तदिह नैर्ग्रन्थमर्हद्रूपमभिप्रेतम् । अतिशयोपेतस्यार्हद्रूपस्य प्रातिहार्यसमन्वितस्य बहुतरुमयोग्यमिति नेह तद् गृह्यते । तत्तायस्कारम् । कुलालवरुदम् । रजकतन्तुवायम् । नन्वेतेष्वप्येकवद्भावः प्राप्नोति । चण्डालमृतपाः । न दधिपयआदिष्वन्तर्भूतो द्वन्द्वो द्रष्टव्यः । वर्येनेति किम् ? मूकवधिराः । एते करणदोषेणायोग्याः । अर्हद्रूपायोग्यानामिति किम् ? ब्राह्मणक्षत्रियौ ।

गवाश्वादीनि च ॥११४८७॥ गवाश्वादीनि च गणपाठे द्वन्द्वरूपाणि च एकवद्भवन्ति । गवाश्वम् । गवैडकम् । गवाविकम् । अजाविकम् । पशुविभाषा प्राप्ता । कुञ्जवामनम् । कुञ्जकैराकतम् । पुत्रपौत्रम् । श्वचाएडालम् । अद्वेये-स्त्रीकुमारम् । दासीमाणवकम् । शाटीपिच्छिकम् । इदं जात्यविवक्षायां । उड्वरम् । उड्वशशम् । पशु विभाषा प्राप्ता । मूत्रशकृत् । मूत्रपुरीषम् । यकृन्मेदः । मांसशोणितम् । इमानि जात्यविवक्षायां । दर्मशरम् । दर्मपूतीकम् । अर्जुनपुरुषम् । तृणोपलम् । एतेषां तृणविकल्पः प्राप्तः । दासीदासम् । कुटीकुटम् । भागवतीभागवतम् । एषां सरूपाणां लिङ्गमात्रकृतविशेषाणां निपातनाद् द्वन्द्वः । चकारोऽवधारणार्थः । गवाश्वादीनि पठितान्येवैकवद्भवन्ति नान्यथा । गोऽश्वौ । गोऽश्वम् ।

वा तरुमृगतृणधान्यव्यञ्जनपर्वश्ववडवपूर्वापरधरोत्तरपक्षिणः ॥११४८८॥ तरु-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-विशेषाचिनामश्व-वडव-पूर्वापर-अधरोत्तर इत्येषां पक्षिविशेषाणां च द्वन्द्वो वा एकवद्भवति । प्लक्षन्त्यग्रोधम् । प्लक्षन्त्यग्रोधाः । आरण्या मृगाः । रुरुपृषतम् । रुरुपृषताः । कुशकाशम् । कुशकाशाः । ब्रौहियवम् । ब्रौहियवाः । दधिघृतम् । दधिघृते । ग्राम्याः पशवः । वृष्णिस्तभम् । वृष्णिस्तभाः । अश्ववडवम् । अश्ववडवौ । पर्यायनिवृत्त्यर्थं च अश्ववडवग्रहणम् । पूर्वापरम् । पूर्वापरे । अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे । तित्तिरिकापिञ्जलम् । तित्तिरिकापिञ्जलाः । अत्रेष्टिः । ‘सेनाङ्गफलक्षुद्रजीवतरुमृगतृणधान्यपक्षिणां प्रकृत्यर्थबहुत्वे एकवद्भावः’ [वा०] तेन रथिकाश्वारोहौ । बदरामलके । इदमेव शापकम् ‘अप्राणिजातेः’ [११४८२] इत्यत्र न बहुवचनान्त एव विग्रहोऽभिप्रेतः । यूकालिङ्गे । प्लक्षन्त्यग्रोधौ । रुरुपृषतौ । कुशकासौ । ब्रौहियवौ । हंसचक्रवाकौ । वेति योगविभागोऽयम् । द्वन्द्वमात्रे कृतो भवेत् । पूर्वो विधिस्तु नित्यार्थः तुल्यजात्यर्थ उत्तरः । इह मा भूत्—प्लक्षन्त्यवाः । हंसपृषताः ।

विरोधि चानाश्रये ॥११४८९॥ वेति वर्तते । आश्रयो द्रव्यं विरोधो येषामस्ति तद्वाचिनामनाश्रयाभिधायिनां द्वन्द्व एकवद् भवति । विरोधीत्यामः खे कृते सौत्रो निर्देशः । सुखदुःखम् । सुखदुःखे । जननमरणम् । जननमरणे । शीतोष्णम् । शीतोष्णे । विरोधीति किम् ? कामक्रोधौ । अनाश्रय इति किम् ? सुखदुःखौ ग्रामौ । शीतोष्णे उदके । चकारादविरोधेऽपि । वधूवरम् । वधूवरौ । स्थावरजङ्गमम् । स्थावरजङ्गमे ।

न दधिपयआदीनि ॥११४९०॥ दधिपयआदीनि द्वन्द्वरूपाणि नैकवद्भवन्ति । येन केनचित् प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । दधिपयसी । सर्पर्मिधुनी । मधुसर्पिणी । व्यञ्जनत्वात् प्राप्तिः । ब्रह्मप्रजापती । शिववैश्वरणी । स्कन्दविशाखौ । परिव्राजककौशिकौ । प्रवर्ग्योपसदौ । वेतिप्राप्तिः । शुक्लकृष्णौ । इष्माबर्हिषी । निपातनात् पूर्वस्य दीलम् । योगानुवर्के । दीक्षातपसी । श्रद्धातपसी । अव्ययनतपसी । उलूललमूसले । आवावसाने । श्रद्धामेधे । ऋक्वामे । वाङ्मनसे । वेति योगविभागात् प्राप्तिः । चण्डालमृतपादयश्च ।

अर्थैतावत्त्वे च ॥११४९१॥ एतावत्त्वमित्यन्ता । वृत्त्यवयवार्थानामेतावत्त्वे च द्वन्द्वो नैकवद्भवति । द्वादश मे मार्दङ्गिकपाणविकाः । चकारः प्रतिषेधानुकर्षणार्थः ।

वा समीपे ॥११४९२॥ नेति निवृत्तम् । अर्थानामेतावत्त्वस्य समीपे वा द्वन्द्व एकवद्भवति । उपदशं दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः । एकवद्भावपक्षे हसोऽनुप्रयुज्यते अन्यत्र वसः । हसे ‘अनः’ [१२१११०] इति अः सान्तः । असे तु डः ।

स नप् ॥१॥४१६३॥ यस्यायमुक्त एकवद्भावः स नम्भवति । तथा चैवोदाहृतम् । समाहारे रसो नप् भवतीति वक्तव्यम् । पञ्चाग्नि । पञ्चबायु । अकारान्तप्रकरणे “रात्” [३११२५] इति ङीविधानं ज्ञापकम् । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां वर्तते इति । पञ्चपूली । पण्णगरी । “वाबन्त इति वक्तव्यम्” [वा०] पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । “स्त्रीगोर्नचः” [१११८] इति प्रादेशः । “अन्नतस्य नखं स्त्रियां वा वृत्तिः” [वा०] पञ्चतन्म । पञ्चतन्नी । “पान्नादिभ्यश्च प्रतिषेधः” [वा०] पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् । चतुर्युगम् । पञ्चगवम् । दशगवम् । “गोरहृदुपि” [४२१६४] इति टः सान्तः ।

हृश्च ॥१॥४१६४॥ हसञश्च नम्भवति । अधिलि । उन्मत्तगङ्गम् । द्विमुनीदम् । “प्रो नपि” [१११७] इति प्रादेशार्थमनुप्रयोगार्थं च वचनम् । पूर्वपदार्थप्रधानस्यालिङ्गत्वं प्रातम् । अन्यत्राभिधेयवलिङ्गं प्रातम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन क्रियाविशेषणानां नपुंसकत्वं सिद्धम् । शोभनं पचति ।

षोऽनञ् ॥१॥४१६५॥ नञं यसञ्च वर्जयित्वा नम्भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । प इति पुंलिङ्गेन निर्देशः सौत्रः । वाच्यप्रकरणादन्यत्र कामचारी वा वक्ष्यति । सेनासुराञ्छायाशालानिशा वेति । क्षत्रियसेना । क्षत्रियसेनम् । ष इति किम् ? महती सेनाऽस्य महासेनः । अनजिति किम् ? असेना । अय इति किम् ? परमसेना ।

खौ कन्थोशीनरेषु ॥१॥४१६६॥ खुविषये कन्थान्तः षतो नम्भवति उशीनरेषु चेत् सा कन्था । सौसमीनां कन्था सौसमिकन्थम् । आह्वरकन्थम् । आसमिकन्थम् । चर्मकन्थम् । एतै उशीनरेषु ग्रामाः । विप्रहृवाक्यं सादृश्यमात्रेण । खाविति किम् ? वीरणकन्था । उशीनरेष्विति किम् ? दक्षिकन्था । अन्यत्र ग्रामसञ्ज्ञे यम् ।

उपशोपक्रमं तदाद्युक्तौ ॥१॥४१६७॥ उपज्ञायत इति उपज्ञा उपदेशः । उपक्रम्यत इति उपक्रमः प्रारम्भः । उपशोपक्रम इत्येवमन्तः षतो नम्भवति तयोपज्ञापक्रमयोराद्युक्तौ गम्यमानायाम् । स्वायम्भुवस्त्यो-पज्ञा स्वायम्भुवोपज्ञमाकालिकाचाराध्ययनम् । देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम् । कुरुराजस्त्योपक्रमः कुरुराजोपक्रमं दानम् । अक्रमनोपक्रमं स्वयंवरविधानम् । उपशोपक्रममिति किम् ? आदिदेवतपस्या तीव्रा । तदाद्युक्ता-विति किम् ? देवदत्तोपज्ञा । देवदत्तोपक्रमो गणितम् । उत्तरपदस्य प्राधान्यवलिङ्गम् । ष इत्येव । सम्यगुपज्ञो भगवान् स्वायम्भुवो यस्येदमाकालिकाचाराध्ययनम् । वाक्येन तदाद्युक्तौ गम्यमानायामिदं प्रत्युदाहरणम् ।

छाया बहूनाम् ॥१॥४१६८॥ बहूनां या छाया तदन्तः षतो नम्भवति । इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम् । सलभच्छायम् । बहूनामिति किम् ? कुड्यस्य छाया कुड्यच्छायम् । कुड्यच्छाया । “सेनासुरा” [११११०१] इत्यादिना विकल्पः । ष इत्येव । बह्वरच्छाया अस्मिन्बहुच्छायो वनखण्डः ।

सभाऽराजामनुष्यात् ॥१॥४१६९॥ अराज्ञः अमनुष्याच्च परा या सभा तदन्तः षो नप् भवति । अराज्ञः । इनस्य सभा इनसभम् । ईश्वरसभम् । इन्द्रसभम् । पार्थिवसभम् । राजशब्दपर्युदासात् तत्पर्या-याणामत्र ग्रहणं न विशेषाणाम् । तेनेह न भवति । सातवाहनसभा । चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्यात्-रत्नसां सभा रत्नसभम् । पिशाचसभम् । अमनुष्यशब्दस्य च रत्नः प्रभृतिष्वेव रूढत्वादिह न भवति । काष्ठसभा । पाषाणसभा । पक्षेष्कांसभा । यद्येवं “दगमनुष्ये” [२१२१५०] इत्यत्र कथम् । जायाचस्तिलकः । पितृघ्नं घृतम् । “युद्ध्या बहुलम् [२१३१६४] इति बहुलवचनात्तत्रान्यस्यापि ग्रहणम् । “अराजामनुष्यात्” इति किम् ? राजसभा । देवदत्तसभा । ष इत्येव । ईश्वरा सभाऽस्य ईश्वरसभः ।

अशाला ॥१॥४१७०॥ अशाला च या सभा तदन्तः षो नम्भवति । गोपालसभम् । दासीसभम् । स्त्रीसभम् । अत्र समुदाये सभाशब्दः । अशालेति किम् ? देशिकसभा ।

सेनासुराच्छायाशालानिशा च ॥१४१०१॥ सेना सुरा छाया शाला निशा इत्येवमन्तः षो वा नभवति । देवानां सेना देवसेना । देवसेना । पिष्टसुरम् । पिष्टसुरा । कुक्ष्यच्छायम् । कुक्ष्यच्छाया । गोशालम् । गोशाला । श्वनिशम् । श्वनिशा । चोरनिशम् । चोरनिशा । ष इत्येव । सूरसेनो राजा । अनव्य इत्येव । असेना । परमसेना ।

द्वन्द्वे युवलिङ्गम् ॥१४१०२॥ द्वन्द्वे सेवोरिव लिङ्गं भवति । इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येह ग्रहणम् । तत्र सर्वेषामवयवानां प्राधान्यात् पर्यायेण समुदायलिङ्गे प्राप्ते वचनम् । कुक्कुटमयूराविमे रमणीये । मयूरी-कुक्कुटयामौ । यथा “हश्च” [१४११४] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः संघातस्य भवति न चावयवस्य निवर्तकः । अधिलि । अधिकुमारीति । एवमहापि समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं क्रियमाणो नावयवस्य स्त्रीत्यस्य निवर्तकः । पसस्य युवलिङ्गातिदेशो न वक्तव्यः । विशेष्यवलिङ्गवचनानि भवन्ति विशेषणानामित्यनेन सिद्धत्वात् । द्वयर्थस्य तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यम् । अर्द्धपिप्पली । अर्द्धकौशातकी शोभना । यत्र पूर्वपदार्थः प्रधानं तत्र पूर्ववलिङ्गमेव । यथा “प्राप्तापन्नालम्पूर्वतिसलक्षणेषु” । प्रातो जीविकां प्रातर्जीविकः । आपन्नजीविकः । अलं जीविकायै अलक्ष्मीविकः । “निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया” [वा०] निष्क्रान्ता कौशाम्ब्या निष्क्रौशाम्बिः । हृदयै रसस्य अन्यपदार्थप्राधान्यादभिधेयवलिङ्गम् । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडासः ।

अश्ववडवौ पूर्ववत् ॥१४१०३॥ अश्ववडवयोरितरेतरयोगे पूर्ववलिङ्गं भवति । अश्वश्च वडवा च अश्ववडवौ । समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थं पूर्ववलिङ्गनिवृत्तिर्नास्तीत्युक्तम् । कथं दपो निवृत्तः । अश्ववडव इति निपातनात् । पूर्ववदिति किमथम् ? अर्थातिदशार्थम् । अश्ववडवावित्युच्यमाने वचनान्तरे न स्यात् । अश्ववडवान् पश्य । अश्ववडवैः कृतम् ।

रात्राह्नौ पुंसि ॥१४१०४॥ रात्रग्रहशब्दौ कृतसान्तौ निर्दिष्टौ एतौ पुंसि भवतः । द्वयो रात्र्योः समाहारः द्विरात्रः । “अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः” [४२।८६] इत्यः सान्तः । पूर्वमहः पूर्वाह्नः । अपराह्नः । “पूर्वापरप्रथम” [१३।२३] इत्यादिना पसः । “रात्राहःसखिभ्यष्टः” [४२।१३] इति टे कृते “एभ्योऽहोऽहः” [४२।१०] इत्यादिदेशः । उत्तरपदप्राधान्यात् स्त्रीनपुंसके प्राप्ते ।

अहः ॥१४१०५॥ अह इत्ययं शब्दः पुंसि भवति । द्वयोरहो समाहारः द्वयहः । त्र्यहः । “न समाहारे” [४२।११] इत्यादिदेशप्रतिषेधः । टिलम् । “अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] अनुवाकः । सम्प्रवाकः । सूक्तवाकः ।

पुण्यसुदिनाभ्यां नप् ॥१४१०६॥ पुण्यसुदिनाभ्यां परः अहशब्दो नभवति । पुण्यमहः पुण्याहम् । पुण्यग्रहणं सूत्र उपलक्षणम् । एकादमिति च भवति । विशेषणसविधः । “पुण्यैकाभ्याम्” [४२।१२] इति अह्रादेशप्रतिषेधः । सुदिनमहः सुदिनाहम् ।

अपथम् ॥१४१०७॥ अपथं शब्दो नभवति । न पन्थाः अपथम् । “पथो वा” [४२।१८] इति प्रतिषेध विक्ल्पः । “ऋक्पूरुषू पथोऽनक्षे” [४२।७०] इति असान्तः । ष इत्येव । न विद्यते पन्था अस्मिन् अपथो देशः । अपथा अष्टवी । “स्मिन्संख्यादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] उत्पथम् । “तिकुप्रादयः” [१३।८१] इति पसः । त्रिपथञ्चतुःपथमिति तासः ।

पुंसि चाधर्चाः ॥१४१०८॥ अधर्चादयः शब्दाः पुंसि नपि च वेदितव्याः । अधर्चं च तत् ऋक् च सार्द्धर्चः । अर्द्धर्चम् । गोमयकप्रायकार्षापणकुतपकवाटशङ्खादिपाठादवगमः कर्तव्यः ।

“शब्दरूपाश्रया चेयं प्रणीतोभयान्विज्ञता । क्वचिदप्यर्थभेदेन शब्देषु व्यवतिष्ठते ॥”

पद्मशङ्खशब्दौ निधिवचनौ पुल्लिङ्गौ । जलने द्विलिङ्गौ । भूतशब्दः प्राणिति द्विलिङ्गः । क्रियाशब्दस्याभिधेयवलिङ्गम् । सैन्धवशब्दो लवणे द्विलिङ्गोऽन्यत्राभिधेयवलिङ्गः । सारशब्दोऽन्याद्येऽर्थे नपुंसकलिङ्गः । उत्कर्षेऽर्थे पुल्लिङ्गः । धर्मशब्दोऽपूर्वे पुल्लिङ्गः । तत्साधने नपुंसकलिङ्गः ।

अगे ॥१४१०६॥ अगे इत्ययमधिकारो वक्ष्यते । “हनो वध लिङि” [१४१११४] इति । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । “अतः खम्” [४४१५०] इत्यकारस्य खम् । अग इति किम् ? इत्यात् । अग इति विषयनिर्देशः । आदेशो कृते यो यतः प्राप्नोति स ततो यथा स्यादित्येवमर्थः । आख्ये-यम् । भव्यम् । प्रवेयम् । परनिर्देशो हि ययः प्रसज्येत ।

तिक्तित्येऽदो जग्धिः ॥१४११०॥ तकारादौ किति प्ये चागो परतोऽदेर्जग्धिरादेशो भवति । जग्धा । जग्धिः । जग्धवान् । इकार उच्चारणार्थः । “तथोर्ध्वोऽधः” [१३१५६] इति तकारस्य धत्वम् । “भ्रूः भ्रूः भ्रूः” [५४११२८] इति धकारस्य दत्वम् । “भ्रूः भ्रूः भ्रूः” [५४११३६] इति दत्वम् । कथमन्तम् ? “अदोऽनन्ते” [२१२६०] इति निपातनात् । प्ये—प्रजग्ध । “अनल्विधौ” [१११२६] इति स्थानिवद्भावो नास्ति । इदमेव शापकम् “एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्धादिविधौ बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते” [५०] तेन प्रधायेत्यत्र हित्वं न भवति । प्रखन्येति “जनसनखनाम्” [४४१४३] इति नित्यमात्वं न भवति । प्रदायेति “दो द्दभोः” [५२११४८] इति दत्वं नास्ति । प्रस्थायेति “व्यतिस्थिति-मास्था” [५२११४४] इत्यादिनेत्वं नास्ति । प्रशाम्येति “डस्य किभ्रूः” [४४११३] इति दीत्वं नास्ति । प्रपृच्छ्य प्रदीव्येति श्रुतौ न भवतः । प्रपठ्येति इडभावः ।

घस्त्व लुङ्घञ्सनञ्च ॥१४१११॥ अदेर्घस्त्व इत्ययमादेशो भवति लुङि घञि सनि अचि च परतः । लुङि—अघसत् । अघसताम् । अघसन् । घञि—घासः । सनि । जिघत्सति । अजिति पचाद्यचः [२१११०६] “गावदः” [२१३१३३] इत्यस्य च सामान्येन ग्रहणम् । प्राप्तिः प्रादनं वा प्रघसः ।

लिटि वा ॥१४११२॥ लिटि परतः अदेर्घस्त्वादेशो भवति वा । जघास । जघत्तुः । जन्तुः । आद । आदतुः । आदुः ।

वेजो वयिः ॥१४११३॥ वेजो वयिरादेशो लिटि वा भवति । इकार उच्चारणार्थः । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । एलि “चस्यैषा लिटि” [४३११३] इति वकारस्य जिः । “लिटि वेजो यः” [४३१३२] इति यकारस्य जिप्रतिषेधे “हलोऽनादेः” [५२११६१] इति खम् । अतुसि उसि च “वचिस्वपियजादीनां किति” [४३१११] इति जिः प्राप्तः । “प्ये च” [४३१३४] इति प्रतिषिद्धिः । “वो वा किति” [४३१३३] इति विभाषया प्राप्तः । “अहिज्यावयि” [४३११२] इति नित्यो जिर्भवति । यदा न वयिस्तदा “प्ये च” [४३१३४] इति जिप्रतिषेधे—ववौ । द्विब्रह्मोः “वो वा किति” [४३१३३] इति जिपक्षे—ऊयतुः । ऊयुः । जौ कृते द्वित्वे च “वार्याद्गावं बलीयः” [५०] इति उवादेशो कृते “स्वेऽको” [४३१८८] दीत्वम् । अजिपक्षे—ववतुः । ववुः ।

हनो वध लिङि ॥१४११४॥ हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति लिङ्यगो परतः । वध इत्यदन्तः उदात्तश्चादेशः । वध्यात् । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अखस्य स्थानिवद्भावादवधोरित्यत्र हलन्तलक्षणः “अतोऽनादेर्धः” [१११८३] इत्यैप् न भवति । इह वेति न स्मर्यते । वधक इति प्रकृत्यन्तरस्य ।

लुङि ॥१४११५॥ लुङि परतो हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति । अवधीत् । अवधिष्टाम् । अवधिषुः । उत्तरत्र वानिर्देशादिह नित्यो विधिः ।

वेङि ॥१४११६॥ इङि लुङि परतो हन्तेर्वधादेशो वा भवति । आवधिष्ट । आवधिषाताम् । आवधिषत । आहत । आहताम् । आहसत । “आङो यमहनः” [१२१२३] इति दविधिः । “हनः सिः” [१११८८] इति सेः कित्वम् । कर्मणि—अवधि । अवधिषाताम् । अवधिषत । जिवद्भावे अघानि । अघानिषाताम् । अघानिषत ।

लुङ्येत्योर्गाः ॥११४११७॥ लुङि परतः एत्योर्गा इत्ययमादेशो भवति । अगात् । अगाताम् । अगुः । अध्यगात् । अध्यगाताम् । अध्यगुः । “स्थेष्पिब” [११४११४६] इत्यादिना “इष्पदिकः” इति च स्वरूपः । “आतः” [२१४१६०] इति भेदोऽस्ति । पुनर्लुङ्ग्रहणमिदं नित्यार्थम् । अगायि भवता । अव्यगायि भवता । गात्रमिति गायतेः ।

णौ गमज्ञाने ॥११४११८॥ णौ परत एत्योर्गमित्ययमादेशो भवत्यज्ञानेऽर्थे । गमयति । गमयतः । गमयन्ति । अनेकार्थत्वादिर्कोऽप्यज्ञाने वृत्तिः । अधिगमयति । अधिगमयतः । अधिगमयन्ति । “उङोऽनः” [५१२१४] इत्यैप् । “जनीजृक्वनसुरज्जोऽमन्ताश्च” इति मित्वम् । “जिणमोर्दोर्मिताम्” [४१४८६] “प्रः” [४१४८७] इति प्रादेशः । अज्ञान इति किम् ? अर्थान् संप्रत्याययति ।

सनि ॥११४११९॥ सनि च परत एत्योर्ज्ञानेऽर्थे गमित्ययमादेशो भवति । जिगमिषति । अधिजिगमिषति । “गमेरिणे” [५११०६] इतीद् । अज्ञान इत्येव । अर्थान् प्रतीषिषति । अच इति वर्तमाने “सन्त्यङोः” [४१३१८] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

इङः ॥११४१२०॥ सनि परत इङो गमित्ययमादेशो भवति । अधिजिगांसते । इङिकावधिगिं न व्यभिचरतः । “हनिङ्गन्यचां सनि” [४१४१४] इति दीत्वम् ।

गाङ् लिटि ॥११४१२१॥ इङो गाङित्ययमादेशो भवति लिटि परतः । अधिजगे । अधिजगाते । अधिजगिरे । “सेर्हपिच्च” [२१४१७३] इति ज्ञापकादादेशस्य ङित्वे गाङो ङित्करणं किमर्थम् ? “गाङ्कुटा-देरञ्जिण्डित्” [१११७५] इत्यत्र विशेषणार्थः । गायतेर्ग्रहणं मा भूत् । अगासीद्वाचकः इति ईत्वं प्रसज्येत ।

लुङ्लृङोर्वा ॥११४१२२॥ लुङ्लृङोः परत इङो वा गाङादेशो भवति । लुङि—अभ्यगीष्ट । अध्यगीषाताम् । अध्यगीषतः । “गाङ् कुटादेः” [१११७५] इति ङित्वं “सुसास्थाना” [४१४६५] इत्यादि-नेत्वम् । पठे अध्यैष्ट । अध्यैषाताम् । अध्यैषतः । लृङि—अभ्यगीष्यत । अध्यगीष्येताम् । अध्यगीष्यन्त । पठे अध्यैष्यत । अध्यैष्येताम् । अध्यैष्यन्त ।

णौ सन्कचोः ॥११४१२३॥ णौ सन्परे कन्परे च परतः इङो वा गाङादेशो भवति । अध्यापयितु-मिच्छति अधिजिगापयिषति । “प्रकल्प्यापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते” [५०] इति गाङादेशपक्षे “क्रीङ्जेर्यौ” [४१३४१] इत्यात्वं न भवति । अन्यत्र अध्यापयिषति । “अचः” [४१३४२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । कन्परे—अध्यजीगपत् । अन्यत्र अध्यापिपत् । माङ्योगे—मा भवानध्यापिपदिति भवति । “णौ कच्युङः” [२१२११५] इति प्रादेशे कृते द्वित्वम् । कथं ज्ञायते ? ओणतेः ऋदित्करणं ज्ञापकं यदि द्वित्वं प्रागेव स्यात् ओण उकारस्यानुङ्भूतत्वात् प्रादेशप्रतिषेधार्थं ऋदित्करणमनर्थकं स्यात् ।

अस्तिब्रूजोर्भूवची ॥११४१२४॥ अस्तिब्रूजित्वेत्योर्ब्रूथासंख्यं भूवचि इत्येतावादेशौ भवतः । भविता । भवितुम् । भवितव्यम् । अस्तीति तिपा निर्देशः किमर्थः ? यस्य केवलस्य अस्तीति रूपं तस्य यथा स्यात् अनुप्रयोगस्य लिट्परस्य मा भूत् । ईहामास । ब्रू-वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । वचेरिकार उच्चारणार्थः । स्थानिवद्भावाद् । ऊचे ।

चक्षः खशाज् ॥११४१२५॥ चक्षः खशाजित्ययमादेशो भवति अगे । आख्यातम् । आख्याता । “खःशो यो वा” [११४१२४] इति वा यकारादेशः । पर्याख्यानमित्यत्र यकारादेशस्यासिद्धत्वात् शकारेण व्यवहितत्वात् “कृत्यचः” [११४१०८] इति शल्वं न भवति । स्थानिवद्भावेन “कुनुदाक्षते दः” [११२१६] इति नित्यं दो मा भूत् इति जित् क्रियते ।

न वर्जने ॥११४१२६॥ वर्जनेऽर्थे चक्षुः खशाजदेशो न भवति । गां संचक्ष्य । वर्जयित्वेत्यर्थः ।
कण्टकाः संचक्ष्याः । नेति योगविभागादसि युचि च प्रतिषेधः । नृचक्षाः राक्षसः । बिचक्षणः ।

वा लिटि ॥११४१२७॥ लिटि परतो वा चक्षुः खशाजदेशो भवति । आचख्यौ । आचख्ये ५
आचचक्षे । पूर्वेण नित्ये प्रातेऽयमारम्भः ।

व्यजोऽघञचोः ॥११४१२८॥ अजेर्वोः वी इत्ययमादेशो भवति अघञचोः परतः । अनुदात्तोऽ
यमादेशः । प्रवेता । प्रवायकः । अघञचोरिति किम् ? समाजः । उदाजः । समजः । उदजः । “पशुव्यजः
समुदोः” [२।३।५६] इति पशुविषयेऽच् । अन्यत्र घञ् । अजिति सामान्यग्रहणं तेन पचादिलक्षणेऽप्यचि
प्रतिषेधः । अजतीत्यजः ।

बहुलं खौ ॥११४१२९॥ खुविषये बहुलमजेर्वाभावः । प्रवयणो दण्डः (प्राजनः ।) बहुलग्रहणा-
द्युक्तादौ च विकल्पः । प्रवेता । प्राजिता । प्रवेतुम् । प्राजितुम् । प्रवयणम् । प्राजनम् । अजिरमित्यौ-
णादिकः शब्दः । समज्या । “समजनिषद” [२।३।८१] इत्यादिना वयप् । अत्र बहुलवचनान्न भवत्येव ।

जिण्यराजार्पाद्युवणिजोः ॥११४१३०॥ जिदन्तात् रयन्तात् राजविशेषवाचिबृद्धात् ऋष्यण-
न्ताच्च परयोरेणिजोः यूनि उच् भवति । जितः-तिकस्यापत्यं वृद्धं तैकायनिः । तैकायनेरपत्यं प्राग्दोरण उपि-
तैकायनिः पिता तैकायनिः पुत्रः । विदस्यापत्यं वैदः । वैदस्यापत्यं युवा इज उपि वैदः पिता वैदः पुत्रः । रयः ।
कुरोरपत्यं कौरव्यः । “कुर्वादिर्ण्यः” [३।१।१३६] इति रयः । कौरव्यस्यापत्यं इज उपि कौरव्यः पुत्रोऽपि ।
इहोवचनसामर्थ्यात् कौरव्यशब्दादिज् । तिकादौ पाठात् फिजपि भवति । कौरव्यायणिरिति । राज्ञः स्वफलकस्या-
पत्यं स्वाफलकः । “कुर्व्व्यन्धकवृण्येः” [३।१।१०३] इत्यण् । तदन्तादिज उपि स्वाफलकः पिता । स्वाफलकः
पुत्रः । एवं कलिङ्गस्यापत्यं कालिङ्गः । “द्वयन्मगधकलिङ्गपुरमसादण्” [३।१।१५२] इत्यण् । तदन्तादिज
उपि कालिङ्गो युवाऽपि । इह पाञ्चालः पिता पाञ्चालः पुत्रः इति । “जितः” इति वा “राजः” इति वा उप् ।
आर्पात् । वशिष्ठस्यापत्यं “कुर्व्व्यन्धकवृण्येः” [३।१।१०३] इत्यण् । वाशिष्ठः । तदन्तादिज उपि वाशिष्ठः
पुत्रोऽपि । जिण्यराजार्पादिति किम् ? कुहडस्यापत्यं कौहडः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यण् ।
तस्याप्यपत्यं कौहडिः । यूनीति किम् ? वामरथस्यापत्यं वामरथ्यः । “कुर्वादिर्ण्यः” [३।१।१३६] । तस्य
शिष्या वामरथाः । वामरथस्य “शकलादिबत्” इत्यतिदेशात् “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इति
शैषिकोऽण् “क्यच्चयना” [४।४।१४१] इत्यादिना यलम् । अणिजोरिति किम् ? दक्षस्यापत्यं दक्षिः ।
दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः ।

पैलादेः ॥११४१३१॥ पैलादेः परस्य युक्त्यस्योच् भवति । पीलाया अपत्यं पैलः । “पीलाया वा”
[३।१।१०७] इत्यण् । पैलस्यापत्यं “द्वयचोऽण्” [३।१।१४३] इति फिज् । तस्योप् । पैलः पुत्रोऽपि ।
अन्य इजन्तास्तेभ्यः परस्य फण् । “प्राचामिजोऽतौल्वलिभ्यः” [१।४।१३२] इति प्राप्ते उपि अप्रागर्थमिदम् ।
पैलः सालङ्किः । सात्यकिः पिता । सात्यकिः पुत्रः । सात्यकामिः । औदक्षिः । बाह्वादिषु उदञ्चुशब्दः सनकारः
पठ्यते । औदमज्जिः । औदमज्जिः । औदमेधिः । औदशुद्धिः । दैवस्थानिः । पैङ्गलायनिः । राणायनिः ।
रौहक्षितिः । भौलिङ्गिः । राजाऽयं शालशाययः । सौमिनिः । औद्वाहमानिः । औज्जिहानिः । औज्जहा-
यिनिः । त्रिसंज्ञाचारणः परस्य युक्त्यस्योप् । आङ्गः । “द्वयचोऽण्” इति फिज् । तस्योप् । आकृतिगणोऽ
यम् । तेन वौविजावलिऔदम्बरी एतेभ्यः साल्वावयवत्वादिज् । भाडीजङ्घिः इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

प्राचामिजोऽतौल्वलिभ्यः ॥११४१३२॥ प्राचां वृद्धे य इज् तदन्ताद्युक्त्यस्योच् भवति तौल्वलि-
प्रभृतीन् वर्जयित्वा । पान्नागारिः पिता । पान्नागारिः पुत्रः । मान्यरेषणिः पिता । मान्यरेषणिः पुत्रः ।

क्षैरकलम्भिः पिता । क्षैरकलम्भिः पुत्रः । “यजिजोः” [३।१।१०] इत्यस्य फण उप् । प्राचामिति किम् ? दाक्षिः पिता । दाक्षायणः पुत्रः । अतौत्वलिभ्य इति किम् ? तौत्वलिः पिता । तौत्वलायनः पुत्रः । तौत्वलिः । धारणिः । स्वालिमिः । दैलीपिः । दैवतिः । दैवमिनिः । दैवमतिः । दैवयशिः । प्राडाहनिः । मांघातकिः । आनुराहतिः । बाह्यादिरयम् । आनुतिः । आहिंसिः । आसुरिः । नैमषिः । आसिबन्धकिः । वैङ्किपौष्पिः । पौष्करसादिः । अयं बाह्यादौ वैरकिः । वैलकिः (वैत्वकिः) । वैहतिः । वैकारिः । कारेणुपालिः ।

द्रेर्वहुषु तेनैवास्त्रियाम् ॥१।४।१३३॥ द्रिसञ्चकस्य त्यस्य बह्वर्थेषु वर्तमानस्य उब् भवति तेनैव द्रिसञ्चकेन कृतं बहुत्वं भवति अस्त्रियाम् । आङ्गः । आङ्गौः । अङ्गाः । ऐच्वाकः । ऐच्वाकौ । इच्वाकवः । अणः अजश्च द्विरित्यधिकारेण द्रिसञ्चा स्वार्थिकानामपि “ते द्वयः” [४।२।१६] इति द्रिसञ्चा । लोहध्वज्यः । लोहध्वज्यौ । लोहध्वजाः । व्रैहिमत्यः । व्रैहिमत्यौ । व्रीहिमताः । “पूगाब्ज्योऽग्रामणीपूर्वात्” [४।२।१९] इति ज्यः । द्वन्द्वेऽपि सामान्येन द्रिसञ्चा कृते बहुत्वे भवति अङ्गवङ्गसुहाः । द्रेरिति किम् ? औपगवाः । बहुष्विति किम् ? आङ्गः । आङ्गौ । तेनैवेति किम् ? प्रियो वाङ्ग एषामिति प्रियवाङ्गाः । अत्र वृत्त्या बहुत्वं गम्यते । अतोऽनुवर्हत्यान्तानामन्येषां च द्वन्द्वे तेनैव कृतं न बहुत्वमित्युक्तं भवति । गार्ग्यवात्स्यौपगवाः । शपकादुबयत्र भवतीति केचित् । गर्गवत्सोपगवाः । किं शपकमिति चेत् “शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साप्रायणेषु” [३।१।१९] इति वचनम् । भार्गववात्स्याप्रायणेष्विति निर्देशः स्यात् । उभयथाऽपि साधुः प्रयोगः । अस्त्रियामिति किम् ? आङ्गयः वाङ्गयः स्त्रियः ।

यस्कादिभ्यो वृद्धे ॥१।४।१३४॥ यस्क इत्येवमादिभ्यः परस्य वृद्धत्यस्य बहुषु वर्तमानस्योब् भवति अस्त्रियां तेनैव चेत् कृतं बहुत्वम् । उभयगतिरिह शास्त्रे लौकिकमपि वृद्धं गृह्यते तेनानन्तरापत्येऽप्युब् भवति । यास्कः । यास्कौ । यस्काः । “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यागतस्याण उप् । यस्कं लुङ् द्रुह्य अयस्थूण तृणकर्णं भलन्दन एतेषां शिवादिषु पाठः । कम्बलहार बहियोग कर्णाढक पर्णाढक सदाभक्त पियङ्गीजङ्घ बकसकथ रत्नोमुख जङ्गारथ उत्कास कटुक मन्थक पुष्करसत् । अस्य “न गोपवनादेः” [१।४।३।१८] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । विप्रपुट उपरिमेखल पदक भटक भडिल भशिडल एतेभ्यः “अरवादेः फज्” [३।१।११६] इति फज् । कुद्रि अजवस्ति विशि मित्रयु एतेभ्यः “गुह्यवादेः” [३।१।१२४] इति टण् । वृद्ध इति किम् ? यस्को देवता एषां यास्काः । बहुष्वित्येव । यास्कौ । तेनैव चेत्येव । प्रिययास्काः । अस्त्रियामित्येव । यास्क्यः ।

यजजोः ॥१।४।१३५॥ यजश्च अजश्च वृद्धे बहुषु वर्तमानस्योब् भवति तेनैव चेद्बहुत्वमस्त्रियाम् । गर्गाः । कसाः । अजः । विदाः । ऊर्वाः । “विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्येऽज्” [३।१।११३] इति अज् । बहुष्वित्येव । गार्ग्यः । वैदः । तेनैवेत्येव । प्रियगार्ग्याः । वृत्त्याऽत्र बहुत्वं गम्यते । यत्र वृत्त्यैकत्वं गम्यते यत्र बहुत्वं तत्रापि भवति । गर्गानतिक्रान्तः अतिगर्गः । अस्त्रियामित्येव । गार्ग्यः स्त्रियः । “यजः” [३।१।१२] इति डीविधिः । “यस्य ङयञ्” [४।१।३३६] इति खम् । “हलो हतो ङयाम्” [४।१।१४०] इति यकारस्य खम् । “यजादीनामेकवृत्तिवयोर्वा तासे इति वक्तव्यम्” [वा०] गार्ग्यस्य कुलं गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । गार्ग्ययोः कुलं गार्ग्यकुलम् । गर्गकुलम् । वैदस्य कुलं वैदकुलम् । विदकुलम् । वैदयोः कुलं वैदकुलम् । विदकुलम् । न वक्तव्यं यदा यजादयो न श्रूयन्ते तदा मूलप्रकृतेस्तासः नियतविषयत्वात् शब्दानां तत् उभयं सिध्यति ।

भृग्वत्रिकुत्सवशिष्टगौतमाः रोम्यः ॥१।४।१३६॥ वृद्ध इति वर्तते । भृग्वादिभ्यः परस्य वृद्ध-
त्यस्य बहुषूल्भवति । भार्गवः । भार्गवौ । भृगवः । आत्रेयः । आत्रेयौ । अत्रयः । एवं कुत्सः वशिष्टः गौतमाः

अङ्गिरसः । अत्रिशब्दात् “इतोऽनिजः” [१।१।१११] इति टण् । अन्येभ्य ऋष्यण् । बहुष्वित्येव । भार्गवः । अङ्गिरसः । तेनैवेत्येव प्रियभार्गवाः । अस्त्रियमित्येव । भार्गव्यः स्त्रियः । वृद्ध इत्येव । भृगुर्देवता प्रथमिति भार्गवाः ।

इजो बह्वचः प्राच्यभरतेषु ॥१।४।१३७॥ बह्वचो मृदो य इज् तस्य प्राच्यभरतेषु वृद्धे बहुषूम्भवति । प्राज्ञागारिः । पञ्चागारी । पञ्चागाराः । एवं मान्थरेषणिः । मान्थरेषणी । मन्थरेषणाः । बह्वच इति किम् ? पौष्पयः । प्राच्यभरतैष्विति किम् ? बालाकयः । हास्तिदासयः । ननु भरतः प्राच्य एव तेषां पुत्रग्रहणं किमर्थम् ? ज्ञापकार्यमन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतग्रहणं न भवतीति । तेन “प्राचामिजोऽतौहवलिभ्यः” [१।४।१३२] इति अत्र भरताभं युवत्यस्योन्म भवति । यौधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिरायणः पुत्रः । ननु युधिष्ठिरादिभ्य इज् एव नास्ति “कुर्वृष्यन्धकवृणोः” [१।१।१०३] इत्यणा भवितव्यम् । इह तर्हि उन्म भवति औद्दालकिः पिता औद्दालकायनः पुत्रः । अत्र “प्राचामिजोऽतौहवलिभ्यः” इति युवत्यस्योपसज्येत । एतद्वि प्राच्यभरतगोत्रम् ।

न गोपवनादेः ॥१।४।१३८॥ विशद्यन्तर्गणो गोपवनादिः । गोपवन इत्येवमादेः परस्य वृद्धत्यस्योन्म न भवति । गोपवनस्यापत्यानि गोपवनाः । “यजजोः” [१।४।१३५] इत्युप्रातः । गोपवन शिष्टुर्विन्दु भाजन अश्ववतान श्यामक श्यामाक श्यापर्ण एते गोपवनादयः । प्राग्धरितशब्दात् परत उन्मभवति । हरिताः । किंदायाः । तौत्वलिप्रभृतयोऽत्र पठ्यन्त इति केचत् । तौत्वलयः । अनन्तरेण उप्रातः ।

वोपकादिभ्यः ॥१।४।१३९॥ उपक इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य वृद्धत्यस्य वा बहुषूम्भवति । उपकस्यापत्यानि उपकाः । औपकायनाः । लमकाः । लामकायनाः । एतौ नडादी । अष्टकाः । आष्टकयः । कपिष्ठलाः । कापिष्ठलयः । कृष्णाजिनाः । कृष्णाजिनयः । कृष्णसुन्दराः । कृष्णसुन्दरयः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनैषामद्वन्द्वे विकल्पः । परिशिष्टानां द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च । सुपिष्ट मयूरकर्ण कर्णक पर्णक पिङ्गलक जटिलक वधिरक एतेषां शिवादिषु पाठः । अनुलोमप्रतिलोम एतौ बाह्यादी । वटारक आडारक असुक्तक [अवन्धक] उदक सुपर्चक सुवर्चक सुवर्मक खरीजङ्घ शलाजङ्घ शलायल पतञ्जल कमन्दक कण्ठेरणि कुषीतक काशकृत्स्न निदाव कलशीकृष्ट दामकण्ठ कृष्णपिङ्गल जनुक अविरम्भ कपिञ्जलक प्रतान अनभिहित ।

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे ॥१।४।१४०॥ वेति नानुवर्तते । कतिकितव इत्येवमादिभ्यो द्वन्द्वे वृद्धत्य बहुषूम् भवति । तैकायनयश्च कैतवायनयश्च तिककितवाः । तिकादिलक्षणस्य फिज उप् । वाङ्खरयश्च भाण्डीरथयश्च इज उपि वङ्खरमण्डीरथाः । पाटकयश्च नारकयश्च पटकरकाः । वाकनखयश्च श्वागुदपरिणद्वयश्च वकनखश्चगुदपरिणदाः । औञ्जयश्च काकुभाश्च ककुभाशब्दः शिवादिषु विदादिषु वास्ति उञ्जककुभाः । लाङ्कयश्च शान्तमुखयश्च लङ्कशान्तमुखाः । उरसशब्दस्तिकादौ । औरसायनयश्च लाङ्कटयश्च उरसलङ्कटाः । अग्निवेशशब्दो गर्गादौ । अग्निवेशाश्च दाशेरकयश्च अग्निवेशदाशेरकाः । औपकायनाश्च लामकायनाश्च फण उपि उपकलमकाः । आष्टकयश्च कापिष्ठलयश्च अष्टकपिष्ठलाः । कृष्णाजिनयश्च कृष्णसौन्दरयश्च कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः ।

कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती ॥१।४।१४१॥ कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्वृद्धत्यस्य बहुषूम् भवति कुण्डिन अगस्ति इत्येतौ चादेशौ यथासङ्ख्यं भवतः । अगस्त्यशब्दात् ऋष्यण् । कुण्डमस्यास्तीति कुण्डिनी नाम काचित् गर्गादौ पठ्यते । कौण्डिन्यः । कौण्डिन्यौः । कुण्डिनाः । आगस्त्यः । आगस्त्यौः । अगस्तयः । यद्यपि “यजजोः” [१।४।१३५] इति यज उप् सिद्धस्तथापि कुण्डिनशब्दोऽकारान्त आदेशो विधीयमानो बाधकः स्यादिति पुनर्वचनम् । अगस्तीनां छात्रा आगस्तीया इत्यत्र अगस्तिरादेशो भवति । प्राग्धवीविषये “वृद्धेऽन्यनुप्” [१।१।७३] इति अनुपि सति “दोरङ्गः” [१।२।१६०] इति छः सिद्धः । कौण्डिन्यशब्दाच्छस्य बाधकः “शकलादिभ्यो वृद्धे” [१।२।८७] इति अण् भवति । कौण्डिनाश्छात्राः ।

सुपो धुमुदोः ॥११४१४२॥ धुमुदोरन्तस्यावयवस्य सुप् उभभवति । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रीयति । पटीयति । मृदः—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः । धर्मं श्रितो धर्मश्रितः । “तदन्ता धवः” [२११२६] इति धुसंज्ञायां “कृद्धस्वाः” [१११६] मृत्संज्ञायां च सुप् उप् । एवं तस्मात्ततः । तस्मिन् तत्र । धुमुदोरिति किम् ? वृत्तः । अत्र “कृद्धस्वाः” इति नियमात् विभक्त्या मृत्संज्ञा नास्ति ।

शपोऽदादिभ्यः ॥११४१४३॥ अदादिभ्यो धुभ्यः परस्य शप उभभवति । अत्ति । हन्ति । दोग्धि ।

यङोऽचि ॥११४१४४॥ यङ उभभवति अचि परतः । लोलुप्य पोप्य मरीमृज्य इत्येतैभ्यः पचाद्यचि लोलुवः पोपुवः मरीमृजः । “न धुल्लेऽगे” [११११८] इति एवैषोः प्रतिषेधः । “यङो वा” [५२१६२] इत्यत्र वक्ष्यविशेषेण यङ उब् भवति । तेन वावदीति इत्येवमादि सिध्यति ।

वज्जुहोत्यादिभ्यः ॥११४१४५॥ शप इति वर्तते । जुहोत्यादिभ्यः परस्य शप उभभवति । जुहोति । नेनेक्ति । विभर्ति । उव्रिति वर्तमाने उज्ग्रहणं द्वित्वाद्यर्थम् ।

स्येष्पिबभूभ्यः सेर्मे ॥११४१४६॥ स्या इष् पिव भुसंज्ञक भू इत्येवमादिभ्यः परस्य सेरुभभवति मे परतः । अस्यात् । अस्याताम् । अस्थुः । “आतः” [२१४१६०] इति भेजुस् । अग्रात् । इ इणिति प्रश्नोपनिर्देशात् इकोऽपि ग्रहणम् । अथगात् । अपात् । पिव इति विकृतनिर्देशात् शोषणार्थस्य निवृत्तिः । प्रतिपदोक्तपरिभाषा चानित्या । तेन “गामादाग्रहणेऽवविशेषः” [५०] इतीदं लब्धम् । भु इति संज्ञानिर्देशः “दाधा भवपित्” [१११२७] इति । अदात् । अदाताम् । अदुः । भु इति भवतेरस्यादेशस्य च ग्रहणम् । अभूत् । “सूभवत्योर्मिङि” [५२१८६] इत्येप्रतिषेधः । म इति किम् ? उपास्थिपातात् । उपास्थिपत । “उपान्मन्त्रकरणे” [१२१२०] “धेः” [१२१२१] इति दविधिः । “मुस्थोरिः” [१११६१] इत्याकारस्येत्वं सेः किलम् ।

वा घ्राघेद्छाशासः ॥११४१४७॥ घ्रा घेद् छा शा सा इत्येतैभ्यः परस्य सेर्वा उभभवति मे परतः । अघ्रात् । अनुप् पदे “यमरमनमातः सकृ च [५१११३२] इति सगित्यौ भवतः । “हल्यस्तेः” [५२१३३] इतीद् । “इटीढः” [४१४२०] इति सेः खम् । अघ्रात् । अघ्रासीत् । अघात् । अघासीत् । अदधत् । अचछात् । अचछासीत् । न्यशात् । न्यशासीत् । असात् । असासीत् । घेदो भुसंज्ञात् पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते विकल्पः । म इत्येव । अघ्रासाताम् । अघ्रासत । “स्तुसुधूजो मे” [२१११३१] इत्यधिकारादे सगित्यौ न भवतः ।

तनादिभ्यस्तथासोः ॥११४१४८॥ तनादिभ्य उत्तरस्य सेर्वा उभभवति तथासोः परतः । थासा सहचरितो दसंज्ञस्तो गृह्यते । अतत । अतनिष्ठ । उपपदे “अनुदात्तोपदेश” [४१४३७] इत्यादिना ङल्म् । अतथाः । अतनिष्ठाः । ण् । असात । असनिष्ठ । उपपदे “जनसनखनाम्” [४१४३३] इत्याल्म् । असाथाः । असनिष्ठाः ।

आमः ॥११४१४९॥ आम उत्तरस्य संभवात्कारस्योब् भवति । ईहांचक्रे । ईन्नाञ्चक्रे । लकारस्य कृत्वात् मृत्वे सति स्वाद्युत्पत्तिः । “सुपो भेः” [११४१५०] इति सुप् उप् । आमन्तस्य पदसंज्ञा । “वा पदान्तस्य” [२१४१३३] इत्येतत् प्रयोजनम् ।

सुपो भेः ॥११४१५०॥ भित्तंशदुत्तरस्य सुप् उभभवति । च वा अह कृत्वा कर्तुम् । इदमेव शाप-कम् । असंख्यादपि सुपो भवन्ति । यदि वा “कर्मणीप्” [११४२] इत्येवमादिषु अर्थनियमपदे विभक्तीनामनियतत्वात् भित्तंशेभ्योऽप्युत्पत्तिः ।

हात् ॥११४१५१॥ हसद्दुत्तरस्य सुप् उभभवति । अधिक्षि । अधिकुमारि । हसस्य भित्तंश नास्तीत्युक्तं तेनायमारम्भः ।

नातोऽम् त्वकायाः ॥११४१५२॥ हसस्य संख्यायोगात् कर्मादियोगाच्च सर्वाणां विभक्तीनां सम्भवः ।

हादकारान्तात् परस्य सुप उम्न भवति । अमादेशस्तु भवति सुपः कां विभक्तौ वर्जयित्वा । उपकुम्भं तिष्ठति । उपकुम्भं पश्य । उपकुम्भं देहि । अत इति किम् ? उपाग्नि । अकाया इति किम् । उपकुम्भादानय ।

ईभयोर्विभाषा ॥१४१५३॥ ईप् भा इत्येतयोर्विभाषा अमादेशो भवति । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भेन कृतम् । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भाभ्यां कृतम् । उपकुम्भं निधेहि । उपकुम्भे निधेहि । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन ऋद्धिनदीसंख्यावयवेष्वो नित्यममादेशः । ऋद्धौ । सुमद्रं कृतम् । सुमगधं कृतम् । नदीसे—“नदीभिश्च” [१३।१७] इति हसः । उन्मत्तगङ्गम् । द्वियुनम् । संख्यावयवः—“संख्या वंश्येन” [१३।१६] इति हसः । द्विकौशलम् । त्रिकौशलम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।

लुटोऽन्यस्य डारौरसः ॥१४१५४॥ लुटोऽन्यसंज्ञस्य त्रिकस्य डा रौ रस् इत्येते आदेशा भवन्ति । अर्थद्वारकमत्र यथासंख्यम् । श्रोता । श्रोतारौ । श्रोतारः । अध्येता । अध्येतारौ । अध्येतारः । डा इत्यन्तादेशः । डा आ इति प्रश्लेषनिर्देशादनेकाल् सर्वादेशः । डित्यभस्यापि डित्करणसामर्थ्याद्विखम् । रौरसोः परतः “रि” [५।२।१५३] इति सखम् ।

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनैन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

अध्यायश्च समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः

त्यः ॥२।१।१॥ अधिकारेण संज्ञेयमा कपः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः अपूर्वं शब्दोपजननं प्रकृतिवाग्विशेषणविकारागमवर्जं यत् त्यसंज्ञं तद वेदितव्यम् । प्रकृतिगुणादिः । वाक् “कर्मण्यण्” [२।२।१] इत्येवमादावीपा निर्दिष्टम् । विशेषणं “दृतिनाथयोः पञ्चौ ह्रजः” [२।२।३०] इत्येवमादौ पश्वादि । विकारः सतो भावान्तरावाप्तिः । “दुहो वश्च” [२।२।६] इत्येवमादिषु वकारादिः । आगमः परतन्त्रः । “अपुञ्जतुनोः पुक्” [३।३।१०६] इत्येवमादिः । युक्तिरुच्यते निमित्ति कार्यञ्च निमित्तिस्येति प्रकृतिवागुपाधीनामग्रहणम् । अथवा भाव्यमानविभक्त्यनिर्दिष्टं सत्त्वादि प्रधानं भूतविभक्त्यनिर्दिष्टं प्रकृत्याद्यप्रधानं प्रधाने च कार्यसम्प्रत्ययः । विकारागमयोस्तु “परः” [२।१।२] इत्यनेन निरासः; नहि तयोः परत्वसम्भवः । वक्ष्यति तव्यानीयौ । कर्तव्यः । करणीयः । प्रतीयन्ति तेनार्थमिति प्रत्ययः । “पुंस्त्वोवः प्रायेण” [२।३।१००] इति वः । एवं यद्यन्वर्था संज्ञा क्रियेत तदा प्रकृतेः सविभक्तिकस्य वा पदस्य त्यसंज्ञा स्यात् । त्यप्रदेशाः “यस्ये वदादि गुः” [१।२।१०२] इत्येवमादयः ।

परः ॥२।१।२॥ परिभाषेयं नियमार्थः । पर एव भवति धोमृदो वा यस्यसंज्ञः । कर्तव्यः । करणीयः । औपगवः । धोरित्येवमादौ दिग्योगलक्षणकानिर्देशोऽपि पूर्वशब्दस्याध्याहारः स्यादिति परत्वं न लभ्यते “ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] इत्यत्र यदि कार्यं परमुच्यते तत्तानिर्दिष्टस्येति । न च सनादयस्तानिर्दिष्टाः । अथासतः प्रादुर्भावः पर उच्यते एवं सति नियमार्थमिदं त्यपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवला ।

तुटिच्चेङ्गस्यः सन् ॥२।१।३॥ त्य इति वर्तते । गुप् तिच् किट् इत्येतेभ्यः परः सन् भवति । जुगुप्सते । तितिक्षते । चिकित्सति । धुसंशब्दनेनाविधानात् अगसंज्ञा नास्ति । तेन^२ नेडागमः । “निन्दाक्षमारे-गापन्येषु यथाक्रमं सन्निध्यते” [वा०] । गोपननिशाननिवासादिषु न भवति । गोपनं गोपायति । तेजनं तेजयति । निकेतनं निकेतयति । भुवादिषु पाठः किमर्थः ? “अस्त्यात्” [२।३।८७] इत्यकारो यथा स्यात्^३ ।

१. न्दिविर-अ०, ब०, स० । २.-स्तीति ने-अ० । ३. जुगुप्स तितिश्च चिकित्सेत्यादीनां भ्वादिषु पृथक् पाठाकरणम् अस्त्यादित्यर्थमित्याशयः कथञ्चिदुन्नेयः ।

जुगुप्सा । तितिच्चा । चिकित्सा । सनोऽकारोपदेशः प्रतीषिषतीत्यादौ श्रवणार्थः ।

“एकदेशकृतं लिङ्गं समुदायविशेषणम् । अनुदात्तेत्वमाद्याभ्यां तेनायं दो विधीयते ।”

मानवधदानशानभ्यो दीश्चस्य ॥२।१।४॥ मान् वध दान शान् इत्येतेभ्यः सन् भवति दीश्च चत्येकारस्य । मीमांसते । बीभत्सते । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । आद्यावनुदात्तेतौ । परौ स्वरितेतौ । “चविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते” [प०] इति कृतेकारस्य चस्य दीत्वम् । अत्रापि “जिज्ञासावैरूप्याज्वनिशानेषु यथाक्रमं सन्निध्यते” [वा०] । पूजावधनावखण्डनतेजनेषु न भवति । मानयति । बाधयति । दानयति । निशानयति । दान उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषा । तदवलोकनादयं विभागः ।

तुमीच्छायां धोर्वोप् ॥२।१।५॥ इच्छायां तुमि यो धुस्तस्मात् सन् वा भवति तुमश्चोभवति यदा सन् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । बुभुक्षते । अयं ‘हीच्छायां तुम् विहितः । हेतुफलयोरित्यधिकृत्य “इच्छार्थं लिङ्लोटौ” [२।३।१३३] “तुमेककर्तृके” [२।३।१३४] इति वचनात् । इहापि सामान्यविशेषभावेन हेतुफलभावोऽस्ति । एषितुमिच्छति एषिषिषति । तुमिति किम् ? इच्छायामित्युच्यमाने इच्छार्थानामिषिवाच्छायादीनां ग्रहणं स्यात् । तुमग्रहणे सति इच्छायामित्येतत्तुमो विशेषणम् । इच्छायामुपलक्षिते तुमीति । तेन यत्र तुमो निमित्तं हेतुफलभावो नास्ति तत्र न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । भिन्नकर्तृकत्वे च न भवति । इच्छति देवदत्तः कटं कुर्याज्जिनदत्तः । यत्र तुम् नास्ति तत्र च न भवति । इच्छायामिति किम् ? कर्तुं गच्छति । अत्र “बुण्तुमौ क्रियायां तदर्थायाम्” [२।३।१८] इति तुम् । धोरिति किम् ? प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत् । सगेरुत्पत्तिर्मा भूत् । अग्रसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । वाग्रहणाद्वाक्यस्यापि साधुत्वम् । इहोपचारात् सिद्धम् । पिपतिपतीव पिपतिपति कूलम् । मुमूर्षतीव मुमूर्षति श्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेच्छासन्नन्तात् सन्न भवति । चिकीर्षितुमिच्छति । अनिच्छासन्नन्ताद्भवति । जुजुगुप्सिषते ।

“मत्वर्थाच्छैषिकाच्चापि मत्वर्थः शैषिकस्तथा । सरूपत्यविधिर्नेष्टः सन्नन्तान्न सनिध्यते ॥”

स्वेपः क्यच् ॥२।१।६॥ स्वस्य यदिवन्तं तस्मादिच्छायां वा क्यञ् भवति । आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । पटीयति । ककारो “नः क्ये” [१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः । चकारः सामान्यग्रहणाविधातार्थः । तेन “एकानुबन्धग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य” [प०] इत्ययं विधातो नास्ति । स्वग्रहणं किम् ? पुत्रमिच्छति ब्रह्मचारी मरणमिच्छति दुर्जनः । अत्र परस्येति गम्यते । इतिरिति किम् ? पुत्र इच्छति । पुत्राय इच्छति । वाक्यात् कस्मान्न भवति । महान्तं पुत्रमिच्छति वाक्यस्यानिबन्तत्वात् । अवयवादसामर्थ्यान्न भवति । कर्मोक्तमत्र क्यचा तेन कर्तरि भावे च प्रयोगः । पुत्रीयति । पुत्रीयते अनेन । वेत्यनुवृत्तेर्भिन्नन्तेभ्यो न भवति । उच्चैरिच्छति । इदमिच्छति । किमिच्छति ।

काम्यः ॥२।१।७॥ स्वस्य यदिवन्तं तस्माद्वा काम्यो भवतीच्छायाम् । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रकाम्यति । पटकाम्यति । ककारस्य प्रयोगार्हत्वादित्संज्ञा नास्ति । योगविभागादुत्तरत्र क्यच्च एवानुवृत्तिर्न काम्यस्य ।

गौणादाचारे ॥२।१।८॥ गौणममुख्यमाचरणक्रियायामुपमानमित्यर्थः । गौणादिबन्तादाचारेऽर्थे वा क्यञ् भवति । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम् । प्रावारीयति कम्बलम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारादीप्यपि भवति । प्रासादीयति कुट्ये ।

कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा ॥२।१।९॥ कर्तुं गौणादाचारेऽर्थे वा क्यङ् भवति यद्यन्ते सकारस्तस्य च खं विभाषया । इह कर्तुं ग्रहणादिम्न सम्भवति सुबन्तात् क्यङ् । श्येन इव आचरति काकः श्येनायते । कुमुदं पुष्करायते । व्यवस्थितविभाषेयम् । “जोजोऽप्सरसोर्नित्यं पयसस्तु विभाषया सखम्” [वा०] ।

१. यदीच्छा-अ० । २. पा० भाष्ये—“शैषिकान्मतुबर्थायाच्छैषिको मतुबर्धिकः । सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिध्यते ॥” इत्येवंरूपः ।

ओजस्वीवाचरति ओजायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यङोक्तः । अप्सरायते । मथितं पयायते पयस्यते । अस-
खपत्ते “नः क्ये” [१।२।१०४] इति नियमात् पदस्वाभावे रिखादिविधिर्न भवति । कर्तुरिति सखापेक्षया
तथा विपरिणम्यते तेनान्यस्य खम् । इह न भवति । सारसायते । “आचारे सर्वमृद्भ्यः क्तिवा भवतीत्येके”
[वा०] अथ इवाचरति अश्चति । अश्वायते ।

भृशादेश्चवौ हलो भुवि ॥२।१।१०॥ कर्तुरिति वर्तते । भृश इत्येवमादिभ्यः च्यर्थे वर्तमा-
नेभ्यो भवत्यर्थे वा क्यङ् भवति यद्यन्ते हल् तस्य^१ च नित्यं खम् । च्विर्विकल्पेन विधीयते । यत्र नोत्पद्यते
तत्रायं क्यङ् । अभृशो भृशो भवति भृशायते । भृश शीघ्र चपल परिडत उत्सुक । नात्र गेर्बहिर्भावः । उन्म-
नस् सुमनस् दुर्मेनस् अभिमनस् । संग्राम युद्ध इति शपकादुदादीनामडागमादिषु बहिर्भावः । रेहत् वेहत्
शश्चत् तृपत् वर्चस् ओजस् आण्डर शुचि मन्द नील मद्र फेन हरित ।

डाजलोलोहितात् क्यष् ॥२।१।११॥ डाजन्ताल्लोहितशब्दाच्च च्यर्थोद्भवत्यर्थे वा क्यष् भवति ।
च्यर्थग्रहणं लोहितस्य विशेषणं न डाजन्तस्याव्यभिचारात् । पटपटायति । पटपटायते । यदा न क्यष् तदा
पटपटाभवतीति प्रयोगः । अलोहितो लोहितो भवति लोहितायति । लोहितायते । एवं हि “नः क्ये”
[१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः ककारः शोभेत यदि चर्मादिभ्योऽपि स्यात् । चर्मायति । चर्मायते ।
निद्रायति । निद्रायते । कर्णायति । कर्णायते । कृपायति । कृपायते । वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यष्ठाऽभिहितः ।

कष्टाय ॥२।१।१२॥ क्यङ् अनुवर्तते । कष्टायति तादर्थ्ये अप् । कष्टाय ये शब्दा वर्तन्ते तैभ्यः क्यङ्
भवति । कष्टार्थादिति वक्तव्यम् । अवन्तनिर्देशः समर्थविभक्त्युपादानार्थः । अभिधानवशात् क्रमणोऽनाजर्व
क्यङ् द्रष्टव्यः । यथा “नमोवरिवश्चित्रः क्यच्” [२।१।१६] इत्यत्र पूजाद्यर्थनियमः । कष्टाय कर्मणे क्रामति
कष्टायते । अनाजर्व पापं करोतीत्यर्थः । सत्राय कर्मणे क्रामति सत्रायते । कृत्वायते । गहनायते । अनाजर्व इति
किम् ? अजः कष्टं क्रामति । नात्र पापं गम्यते ।

वाष्पोष्मफेनादुद्धमे ॥२।१।१३॥ इप इति वर्तते । वाष्प ऊष्मन् फेन इत्येतेभ्यः उद्धम इत्यर्थे क्यङ्
भवति । वाष्पमुद्धमति वाष्पायते । ऊष्माणमुद्धमति ऊष्मायते । फेनायते ।

रोमन्थतपःशब्दैरकलहाभ्रकण्वमेघान् कृजि ॥२।१।१४॥ रोमन्थ तपस् शब्द वैर कलह
अभ्र कण्व मेघ इत्येतेभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् भवति । रोमन्थं करोति रोमन्थायते गौः । अभ्र करोतिः क्रिया-
सामान्ये वर्तमानोऽपि अभ्यवहृतचर्वणक्रियायां गृह्यते । तेनेह न भवति । क्रीटको रोमन्थं वर्तयति । “तपसो
मञ्जेति वक्तव्यम्” [वा०] तपः करोति तपस्यति । तपश्चरतीत्यर्थः । शब्दं करोति शब्दायते । वैरायते । कल-
हायते । अभ्रायते । कण्वायते । पापं करोतीत्यर्थः । मेघायते । तत्करोतीत्यस्मिन्नर्थे णिजपि भवति । शब्दयति ।
वैरयति । “सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] सुदिनायते । दुर्दिनायते । नीहारायते । “अटाटाशी-
काकोटापोटासोटापुष्टाभ्योऽपीति केचित् ।” [वा०] अटायते । अट्टायते । शीकायते । कोटायते । पोटायते ।
सोटायते । पुष्टायते ।

सुखादेः स्वभोगे ॥२।१।१५॥ भोगोऽनुभवो वेदना वा । सुख इत्येवमादिभ्यः इवन्तेभ्यः स्वभोगे
क्यङ् भवति । सुखमात्मनः करोति सुखायते । सुखं भुङ्क्ते अनुभवति वेदयतीत्यनर्थान्तरम् । एवं दुःखायते ।
सुख दुःख तृप्त कृच्छ्र अल अलीक करुण कृपण सोढ प्रतीप । स्वभोग इति किम् ? सुखं करोति प्रसाधको
देवदत्तस्य ।

१. तस्य नित्यं खम् ब०, स०, सु० । २. कण्ट अ०, ब०, स० । ३. कण्ट अ०, ब०, स० ।
४. कण्ठायते अ०, ब०, स० ।

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ॥२।१।१६॥ कृजोति वर्तते । नमस् वरिवस् चित्रङ् इत्येतेभ्यः क्यञ् भवति करोत्यर्थे । पूजापरिचर्याश्चर्यविशेषे । नमः करोति नमस्यति देवान् । अत्र नमःशब्दस्यानर्थकत्वात्तद्योगे नाञ् भवति । वरिवः करोति वरिवस्यति गुरुन् । चित्रङ् करोति चित्रीयते । डित्वाद्दः । पूजादिभ्योऽन्यत्र नमः करोतीति भवति ।

पुच्छभाण्डचीवरण्शिङ् ॥२।१।१७॥ पुच्छ भाण्ड चीवर इत्येतेभ्य इबन्तेभ्यो णिङ् भवति करोत्यर्थविशेषे । कोऽसौ विशेषः । “पुच्छादुदसने पयंसने वा” [वा०] उत्पुच्छयते । परिपुच्छयते । “भाण्डात्सञ्चयने परिचयने वा” [वा०] संभाण्डयते परिभाण्डयते । “चीवरादजने परिधाने वा” [वा०] संचीवरयते भिद्युः । शकारः “णाविष्टवन्मृदः” [४।४।१४४] इत्यत्र सामान्यग्रहणाविधातार्थः । अर्थविशेषादन्यत्र णिजेव भवति ।

मुण्डमिश्रश्चणलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततृस्तेभ्यो णिच् ॥२।१।१८॥ मुण्ड इत्येवमादिभ्य इबन्तेभ्यो णिञ् भवति करोत्यर्थे । चुरादिषु “मृदो ध्वर्थे” इति णिचि सिद्धे अर्थविशेषपरिग्रहार्थमिदम् । च्यर्थे वायमिति केचित् । अमुण्डं मुण्डं करोति मुण्डयति । मिश्रयति । श्लक्ष्णयति । लवणयति । “व्रताद्भोजने तन्निवृत्तौ च” [वा०] पयो व्रतयति । पयो भुङ्क्ते इत्यर्थः । सावद्यं व्रतयति । सावद्यं न भुङ्क्ते इत्यर्थः । “बस्त्रात् समाच्छादने” [वा०] वस्त्रेण संच्छादयति संवस्त्रयति । हलिं गृह्णाति हलयति । कलिं गृह्णाति कलयति । “हलिकल्योरकारान्तता णिच्चा योगे निपात्यते” [वा०] “धौ कच्यनक्खे सन्वत्” [१।२।१८६] इति सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम् । कलिं गृहीतवानचकलत् । अजहलत् । अन्यथा परत्वादपि कृते टिङ् स्यात् ततः सन्वद्भावः प्रसज्येत । यथा अलीलघत् अपीपटत् इति । कुतं गृह्णाति कृतयति । तृस्तानि केशजटाः विहन्ति विदूस्तयति ।

धोर्यङ् क्रियासमभिहारे ॥२।१।१९॥ पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः । धोर्यङ् भवति क्रियासमभिहारे । पुनः पुनः पचति भृशं वा पापच्यते । बोभुज्यते । क्रियान्तरैरव्यवहितयाः प्रधानभूतविकले-दनक्रियायाः पुनः पुनरारम्भः पौनःपुन्यम् । गुणभूताधिभ्रयणादिक्रियाणां क्रियान्तरैरव्यवहितानां साकल्येन करणं भृशार्थता । सूचिसूत्रिमूख्यव्यर्थशृङ्खलातोनां ग्रहणं नियमार्थं कर्तव्यम् । सोसूच्यते । सोसूच्यते । मोमूच्यते । अनेकाभ्य एव नान्यस्मात् । अत्यर्थं जागर्ताति । अटाप्यते । अरार्यते । “यङि” [१।२।१३६] इत्येप् । अत्यर्थमश्नुते अशाशयते । प्रोषणोच्यते । अट्यादिग्रहणं किमर्थम् ? अन्यस्मादजादेर्मा भूत् । भृशमीक्षते । पुनः पुनरीहते । क्रियासमभिहारे सर्वस्य द्वित्वे वेति विभाषानुवर्तते । तेन यङन्तस्य द्वित्वं न भवति । तत एव क्रियासमभिहारे यो लोट् तदन्तस्य भवति । लोलूयस्व लोलूयस्व इत्येवायं लोलूयते । धोरिति किम् ? सगेरुत्पत्तिर्मा भूत् । अगसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । पेपीयते । “शुभिरुचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । अत्यर्थं शोभते । अत्यर्थं रोचते ।

नित्यं गतिविशेषे ॥२।१।२०॥ नित्यं यङ् भवति गतिविशेषे गम्यमाने । चङ्क्रम्यते । दन्द्रम्यते । आवनीक्यते । गतिविशेषो हि यङन्तवाच्यः । तेनास्वपदेनार्थमात्रकथनमिदं कुटिलं क्रामतीति । नित्यग्रहणं तु विषयनियमार्थम् । एतयोयोग्योर्गतिविशेष एव गह्वे एव च यङ् यथा स्यात् क्रियासमभिहारे मा भूत् । भृशं क्रामति । भृशं लुम्पति ।

लुपसदचरजपजभदहृदशो गह्वे ॥२।१।२१॥ लुपादिभ्यो गह्वे गम्यमाने नित्यं यङ् भवति । प्रत्यासत्तेर्ध्वर्थस्य गह्वे गृह्यते न साधनस्य । अनर्थकं लुम्पति लोलुप्यते । सासद्यते । चञ्चूर्यते । जञ्जयते । जञ्जयते । दन्द्रयते । निवेगित्यते । दन्द्रयते । दशोः कृतनलस्य निर्देशाद्यङुप्यपि खं भवतीति केचित् । दंशीति । तदयुक्तं सौत्रत्वान्निर्देशस्य । गह्वे इति किम् ? सुखं सीदति स्वयह्वे ।

पाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादेर्णिच् ॥२।१।२२॥ पाशरूपवीणा-
तूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यश्च णिच् भवति । चुरादौ “मृदो ध्वर्थे” इति सिद्धेऽपि अर्थ-
विशेषपरिग्रहार्थं पाशादेः पृथग्ग्रहणम् । “पाशाद्विमोचने” [वा०] पाशं विमोचयति विपाशयति । “रूपादृशने,
[वा०] रूपं दर्शयति रूपयति । वीण्या उपगायति उपवीणयति । तूलैरनुकुष्णाति अनुतूलयति । श्लोकै-
रुपस्तौति उपश्लोकयति । सेनया अभियाति अभिषेणयति । लोमान्यनुमाष्टि अनुलोमयति । त्वचं गृह्णाति
त्वचयति । त्वच इति अकारान्तनिपातनात् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।२७] इत्यखस्य स्थानिवद्भावात्
“उङोऽतः” [२।२।४] इत्येव भवति । वर्मणा सन्नहति संवर्मयति । वर्णान् गृह्णाति वर्णयति । चूर्णैरव-
किरति अवध्वंसयति वा अवचूर्णयति । चुरादिभ्यः-चोरयति । मन्त्रयते ।

आ चार्थवेदसत्यानाम् ॥२।१।२३॥ अर्थ वेद सत्य इत्येतेषां आकारश्चान्तादेशो भवति णिच् ।
अर्थमाचष्टे अर्थापयति । वेदापयति । सत्यापयति ।

हेतुमति ॥२।१।२४॥ हेतुस्तद्योजकः । हेतुमति ध्वर्थेऽभिधेये णिच् भवति अन्येषां दर्शनं प्रयोज-
कव्यापारः प्रेषणाध्येषणरूपो हेतुमान् तस्मिन्नाभिधेये णिच् भवति । कटं कारयति । ओदनं पाचयति ।
अत्र वाग्विसर्गो हेतुव्यापारः । कचित् समर्थाचरणम् । यथा भिक्षा वासयति । कारीषोऽग्निरध्यापयति ।
“आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुप्प्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति” [वा०] आख्यायते यत्तदाख्यातं
तस्मात् कृदन्तात् आचष्ट इत्यस्मिन्नर्थे णिच् वक्तव्यः कृदुप्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्त-
व्यम् । कंसवधमाचष्टे कंसं वातयति । वलिबन्धमाचष्टे वलिं बन्धयति । राजागममाचष्टे राजानमागमयति ।
“आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] आख्यानमाचष्टे इति वाक्यमेव भवति । मृगरमणमाचष्टे मृगान्
रमयति । यदा ग्रामे मृगरमणमाचष्टे तदा नेष्यते । “आङ्निवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्” [वा०]
कृदन्तात् णिच् तदाचष्टे इति कृदुप्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति वर्तते । आरात्रिविवासमाचष्टे रात्रिं
विवासयति । “चित्रीकरणे च प्राप्त्यर्थे णिच् वक्तव्यः” [वा०] उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं
सम्भावयति सूर्यमुद्गमयति । “नक्षत्रयोगो ज्ञार्थे” [वा०] पुष्येण योगं जानाति पुष्येण योजयति । चन्द्रमवा
मवाभियोगं जानाति मघाभियोजयति । नेदं बहु वक्तव्यमत्रापि कथञ्चिद्धेतुव्यापारोऽस्ति बहुलग्रहणाद्वा सिद्धम् ।

कण्डवादेर्यक् ॥२।१।२५॥ कण्डून् इत्येवमादिभ्यो यक् भवति । यकः क्लिप्तरणं एषप्रतिषेधार्थं
ज्ञापकमिह कण्डवाद्यो धवो गृह्यन्ते न मृद्रूपाणि (मृद्रूपाः) । कण्डून् हृणीडादिषु दीप्तोच्चारणं ज्ञापकं विकल्पेन
धुरूपतैवामन्यथा “दोरकृद्गे” [२।२।१३] इति दीप्तेनाप्येतत्सिद्धयेत । तेन मृत्पदे कण्डुः मन्तुः वल्गुः
इत्यादिप्रयोगा ज्ञातव्याः । कण्डूयति । कण्डूयते । कण्डूतिः । मन्तूयति । कण्डून् मन्तु वल्गु असङ् हृणीङ्
महीङ् वेदलीङ् । ङकारो दावध्यर्थः । इयस् इरस् तिरस् मगधस् पम्पस् कुषुभ उपस् तन्तस् सुख दुःख
भिषज् भिषण्ज् अरर चुरण् तुरण् तरण् सरण् (चरण्) सपर इषुध इषुभ गद्गद एला वेला केला खेला
लेट् लोट् उरस् । अकारान्तानाम् अतः खम् ।

गुपूधूपविच्छिपणपनेरायः ॥२।१।२६॥ गुपू धूप विच्छिपणि पनि इत्येतेभ्यो धुभ्य आयो भवति ।
गोपायति । धूपायति । विच्छेन्तरङ्गत्वात्कुकि कृते आयः । विच्छायति । अनुदात्तेत्वं केवले चरितार्थमिति दो
न भवति । गुपादिभर्मावादिदैः साहचर्यात्परोर्मावादिभ्यो ग्रहणं न तौदादिकस्य । शतस्य पणते । “व्यवहृपणोः
सामर्थ्ये” [१।४।६४] इति कर्मणि ता । पनिरिहैव पणिना समानार्थः उपदिश्यते । पनायति ।

वाऽगे ॥२।१।२७॥ अगविषये गुपादिभ्यो वा आयो भवति । गोपायिता । गोता । गोपायांकार ।
जुगोप । गोपाया । गुप्तिः । इत्येवमादि योज्यम् ।

कम्पुत्योर्णिङोयङ् ॥२।१।२८॥ सूत्रवात्कायाः स्थाने ता कृता । कम् ऋति इत्येताभ्यां णिङ् ईयङ् इत्येतौ ल्यौ भवतः । कामयते । खकारः ऐवर्थः । “न कम्पमिचमाम्” इत्यत्र कमेर्मित्संज्ञाप्रतिषेधः किमर्थः ? “जिणमोर्दीमिताम्” [४।४।८६] इति वा प्रादेशो मा भूदित्येवमर्थः । अकामि । कामं कामम् । “वाङो” [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तौ णिग्निमित्तस्यैषः प्रादेशनिवृत्त्यर्थश्च । ङकारो दविध्यर्थः । णिङ्तीत्येप्रतिषेधार्थं न भवति इकस्तत्रानुवृत्तेः । ऋतिरिहैव दृणार्थमुपदिश्यते ऋतीयते । वाऽङ्ग इति च वर्तते । तेन कमिता । कामयिता । अर्तिता । ऋतीयिता ।

तदन्ता धवः ॥२।१।२९॥ येऽनुक्रान्ताः सनादयस्ते अन्ता येषां ते धुसञ्ज्ञका भवन्ति । तथा चैवो दाहृतम् । पदसंज्ञायामन्तग्रहणं नियमार्थमुक्तम् । अन्यत्र “संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” [५०] इति एष प्रतिषेधो मा भूदित्यन्तग्रहणम् ।

स्यतासी लृलुटोः ॥२।१।३०॥ लृ इति लृङ्लृटोः सामान्येन ग्रहणम् । धोः स्यतासी इत्येतौ मध्ये ल्यौ भवतः लृलुटोः परतः । शब्दापेक्षमत्र यथासंख्यम् । धोरधिकात् पूर्वभक्ततानिबृतिः । अगा संज्ञा च । भावकर्मकर्तृषु लो विहितः । तत्र यक्षापादुत्सर्गौ स्यादयस्तदपवादाः । करिष्यति । अकरिष्यत् । कर्ता । तासे-रिदित्करणं किम् ? “हलुङः ऋल्यनिदितः” [४।४।२३] इति नखप्रतिषेधार्थम् । हन्ता । मन्ता ।

कास्यनेकाञ्ज्यालिट्याम् ॥२।१।३१॥ कासेरनेकाञ्जस्त्यान्ताच्च लिटि परतः आम्भवति । कासाञ्जके । अनेकाञ्ज्यः—चकासाञ्जकार । चुलुम्प इति सौत्रो धुः । चुलुम्पाञ्जकार । दरिद्राञ्जकार । त्यान्तात्—लोलूयाञ्जके । कारयाञ्जके । गवाञ्जकार । “आचाराधै सर्वभृद्भ्यः” इति क्तिप् । अनेकाञ्जग्रहणमत्यान्तार्थम् । आमिति नाय-मागमः । कासेर्विधानात् ।

सरोरिजादेः ॥२।१।३२॥ सह रुणा वर्तते इति सरुः । सरोरिजादेर्धोः लिट्याम्भवति । ईहाञ्जके । हन्दाञ्जकार । उपदेशावस्थायां नुम् । ऊहाञ्जके । उञ्हाञ्जकार । उदम्भाञ्जकार । सरोरिति किम् ? इयेष । उवोष । एपि कृते सररिति चेत् ; “संज्ञिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” [५०] इति न भवति । इजा-देरिति किम् ? ततद् । “ऋञ्छलृताम्” [५।२।१२३] इति लिट्येभ्यश्चनं ज्ञापकं ऋञ्छेरात्मन भवति । आनच्छुः । आनच्छुतुः । आनच्छुः । कथं प्रोणुर्नाव ? “वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् । आमश्च प्रति-षेधार्थमेकाञ्जश्चेप्तिनृत्तये” । प्रोणुर्नृषति । “सनिग्रहश्च” [१।१।११८] इतीट्प्रतिषेधः ।

दयायासः ॥२।१।३३॥ दय अय आस इत्येतेभ्यश्च लिटि आम्भवति । दयाञ्जके । पलायाञ्जके । “गेरयतौ” [१।३।३७] इति लत्वम् । आसाञ्जके ।

वोषजागृविदात् ॥२।१।३४॥ उष जागृ विद् इत्येतेभ्यश्च लिटि परतो वा आम् भवति । ओषाञ्ज-कार । उवोष । जागराञ्जकार । जजागार । विदाञ्जकार । विवेद । विदेरायकारान्तत्विनिपातनात् एम्न भवति । जागृसाहचर्यादादिकस्य ग्रहणम् ।

भोहोभृहुवामुज्वत् ॥२।१।३५॥ भौ हौ भृ हु इत्येतेभ्यो लिटि आम् भवति उचीव कार्यं भवत्ये-षाम्, उच्चि कार्यं द्वित्वमित्येव । तदतिदिश्यते । लिङपेक्षं द्वित्वमामा व्यवधानात् प्राप्तोति । विभयाञ्जकार । विभाय । जिह्याञ्जकार । जिहाय । विभराञ्जकार । वभार । “भृजो त्रयाणाम्” [५।२।१७५] इति चस्ये-त्वम् । जुहवाञ्जकार । जुहाव ।

लिङ्वत् कृजि ॥२।१।३६॥ कृजिति प्रत्याहारेण कृन्वस्तीनां त्रयाणां ग्रहणम् । मयङ्कलुत्या वेति विभाषाऽपेक्षणीया । तेन सम्पदो बहिर्भावः । य उक्त आम् स लिङ्वत्कृजि प्रयुक्ते साधुर्भवति । लिङ्वत् कृजीतीन्निर्देशात् आमन्तस्याव्यवहितस्य पूर्वं प्रयोगः । ईहाञ्जके । “आम्बत् तत्कृजः” [१।२।४६] इति दः । इहाम्ब्रम् । ईहामास । “अस्तिभृजोभूवची” [१।४।१२४] इत्यत्रोक्तमस्तीरनुप्रयोगस्य भूभावो न भवति । कृजि प्रत्याहारग्रहणसामर्थ्याद्वा ।

विदाङ्कुर्वन्तु वा ॥२।१।३७॥ विदाङ्कुर्वन्त्विति एतद्वा निपात्यते । किमत्र निपात्यते ? लोटि वा आम् एवभावो लोडन्तस्य करोतेरनुप्रयोगश्च निपात्यते । विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु । सर्वेषु लोड्यचनेषु निपातनमिदं प्रायेण । ल्यन्तस्य प्रयोगान्ते निर्देशः । विदाङ्करवाणि । वेदानि । विदाङ्करवाव । वेदाव । विदाङ्करवाम । वेदाम । विदाङ्कुर । विद्धि । विदाङ्कुरतम् । वित्तम् । विदाङ्कुरत । वित्त । विदाङ्कुरोतु । वेत्तु । विदाङ्कुरताम् । वित्ताम् । (विदाङ्कुर्वन्तु । विदन्तु ।)

सिलुडि ॥२।१।३८॥ धोः सिर्भवति लुडि परतः । अक्रार्षीत् । अभैसीत् । अकृषातां कटौ देव-
दत्तेन । इदिकरणं किम् ? अमस्त । “अनिदितः” [४।४।२३] इति प्रतिषेधात् नोडः खं न भवति ।

सृशमृशकृषत्पटपो वा ॥२।१।३९॥ सृश मृश कृष तृप टप इत्येतेभ्यो लुडि वा सिर्भवति ।
तृपिट्ठयोः पुषादित्वाचित्यमङ् प्रातः । अन्यत्र “शलः” [२।२।४०] इति क्तः । अस्प्राक्षीत् । अस्या
क्षीत् । “वाऽनुदात्तस्यदुङः” [४।३।१२] इति वामागमः । यणादेशे कृते “वद्वज्रजहल” [५।१।७९]
इत्येप् । पत्ने-असृक्षत् । अम्राक्षीत् । अमार्क्षीत् । अमृक्षत् । अक्राक्षीत् । अक्रार्क्षीत् । अकृक्षत् । अत्राप्सीत् ।
अत्राप्सीत् । अतृपत् । अट्राप्सीत् । अट्राप्सीत् । अटपत् ।

इगुङः शलोऽनिटोऽदृशः क्तः ॥२।१।४०॥ इगुङ् शलन्तो धो धुः अनिट् तस्माद् इशिर्वर्जितात्
मे क्सो भवति । दिह—अधिक्त । दुह—अधुक्त । लिह—अलिक्त । इगुङ इति किम् ? दह—अधाक्षीत् ।
शल इति किम् ? अभैसीत् । अनिट इति किम् ? अक्रोषीत् । “नेटि” [१।१।८०] इत्यैप्रतिषेधः । अदृश
इति किम् ? अदर्शत् । अट्राक्षीत् । “बेरितः” [२।१।४९] इत्यङ् ।

श्लिषः ॥२।१।४१॥ अनिट इत्यधिकारात् श्लिष दाहे इत्यस्य ग्रहणं न भवति । श्लिषः क्सो भवति
लुडि परतः । आश्लिक्त । पूर्वैण प्रातस्य बाधके पुषादित्वादङि प्राप्ते अयमारम्भः । “पुरस्तादपवादा अन-
न्तरात् विधीन् बाधन्ते नोत्तरात्” [प०] इत्यङ एव बाधा न ज्ञेः । आश्लेषि ।

स्वार्थे ॥२।१।४२॥ स्वार्थः आलिङ्गनम् । श्लिषः स्वार्थ एव क्सो भवति । आश्लिक्त कन्यां देवदत्तः ।
स्वार्थ इति किम् ? समाश्लिप्त जतु च काष्ठं च (जतुकाष्ठम्) । दविष्ये सिले समाश्लिष्टत्वं धवलदिरेण ।
“भूलो भुलि” [५।३।४४] इति सेः खम् ।

णिश्चिद्रुश्रुकमेः कर्तरि कच् ॥२।१।४३॥ णिजन्तेभ्यः श्रि द्रु श्रु कर्म इत्येतेभ्यः कर्तृवाचिनि
लुडि कञ्भवति । ककार किकार्यार्थः । चकार “लुडि कचि धोः” [लिङ्कचि धोः] [४।३।७] इति
विशेषणार्थः । अचीकथत् । अपीपचत् । “अोनयत्यादेः कचप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] औनयीत् । अशिश्चि-
यत् । अदुद्रुवत् । कमिग्रहणं “वाऽजे” [२।१।२७] इति यदा णिङ् न भवति तदा प्रयोजयति । अचकमत् ।
अकः खं यस्मिन् णाविति तत्र विग्रहात् सन्वद्भावो न भवति । णिङ्पक्षे सन्वद्भावः । अचीकमत् । आत्मक-
र्मणापि चङ् भवति । अचीकरत् कटः स्वयमेव । “णिश्चिअन्धिअन्धिब्रूवां दविधौ धीनाञ्च” [वा०] इति
जियक्कोः प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

वा धेट्ठश्च्योः ॥२।१।४४॥ धेट् शिव इत्येताभ्यां वा कञ्भवति कर्तरि लुडि परतः । अदधत् ।
“द्वित्वेऽचि” [१।१।१६] इत्यात्वस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं यदा सिस्तदा “वा प्राधेट्च्छाशासः” [१।४।१४७]
इति वा सेरप् । अधात् । अधाक्षीत् । अतुपि “यमरमनमातः सकच” [२।१।१३२] इति सगियौ । अशिश्चि-
यत् । “न जौ जिः” [४।३।३१] इत्यत्रेकारप्रश्लेषात् जिप्रतिषेधः । कचा मुक्ते पक्षे “जृश्चि” [२।१।१०]
इत्यादिना विकल्पेनाङ् । अश्वत् । अश्वयीत् । “ह्यक्षय” [२।१।८१] इत्यादिना सावैप्रतिषेधः ।
कर्तरीत्येव । अधिधातां वत्सेन ।

वक्तृयसुख्यातेरङ् ॥२।१।४५॥ वक्ति अमु ख्याति इत्येतैभ्यो लुङि परतः अङ् भवति । इदमेव वक्तिवचनं ज्ञापकं गेऽपि ब्रूओ वचिरादेशो भवतीति । अत्रोचत् । अत्रोचत । “श्वयस्पद्वचोऽथुक् पुमुमोऽङि” [१।२।१२८] इत्युमागमः । अस् । उदास्थत् । उदास्थेताम् । उदास्थन्त । “अगेरस्यस्यहोर्वचनम्” [वा०] इति दः । मविषये पुषादित्वादेवाङ् सिद्धः । ख्यातिरिति ख्या प्रकथन इत्यस्य चत्वादिशस्य च कृतयकारस्या-विशेषण ग्रहणम् । आख्यत् । आख्यताम् । आख्यन् ।

ह्यालिप्सिचः ॥२।१।४६॥ हा लिप् सिच् इत्येतैभ्यश्चाङ् भवति लुङि परतः । आहत् । अलिपत् । असिचत् । पृथगारम्भ उत्तरार्थः ।

दे वा ॥२।१।४७॥ हा लिप सिच् इत्येतैभ्यो लुङि दे वा अङ् भवति । आहत् । आह्रास्त । अलिपत् । अलित । असिचत् । असिक् । “सिलिङ् दे” [१।२।८२] इति कित्वादेऽप्रतिषेधः । पूर्वेण नित्ये प्राते विकल्पोऽयम् ।

द्युत्पुषादिलित्सर्तिशास्यर्तैर्मे ॥ २।१।४८ ॥ द्युतादिभ्यः पुषादिभ्यः लृकारेद्भ्यः सर्ति शास्ति अर्ति शा इत्येतैभ्यश्च लुङि मे परतः अङ् भवति । वेति नानुवर्तते । द्युतादयः कृपपर्यन्ताः । व्यद्युत् । व्यलुद्यत् । अश्रिवत् । “द्युद्भ्यो लुङि” [१।२।८७] इति वा मम् । पुषादयः आ गणपरिसमाप्तेः । अपुषत् । अशुषत् । क्सः प्रातः लृकारेद्भ्यः । आपत् । अगमत् । अशकत् । असरत् । अशिषत् । आरत् । म इति किम् । व्यद्योतिष्ठ । व्यद्यपुचत् । अर्तैरपि दविषये —मा समृपातां मा समृपत् ।

वेरितः ॥२।१।४९॥ म इति वर्तते । इरशब्देतो धोर्वाऽङ् भवति लुङि मे परतः । अरुधत् । अरौसीत् । अभिदत् । अभैसीत् । म इत्येव । अरुद्ध । अभित्त ।

जृश्विस्तम्भुचम्लुचग्रुचग्लुचः ॥२।१।५०॥ वेति वर्तते । जृ श्वि स्तम्भु मुच् ग्लुच् ग्रुच् ग्लुच् इत्येतैभ्यः कर्तरि लुङि वाङ् भवति । जृष् । अजरत् । आजारीत् । अङि “इशुरेप्” [५।२।१२६] अश्वत् । अश्वयीत् । कजपि विमाषितः । अशिश्चियत् । स्तम्भुरिहैवोपदिष्टः । अस्तभत् । अस्तम्भीत् । न्यमुचत् । न्यम्रोचीत् । न्यमुचत् । न्यम्लोचीत् । अग्रुचत् । अग्रोचीत् । अग्लुचत् । अग्लोचीत् । ग्लुञ्चेर्नोङो ग्रहणमनर्थकम् । अङ्प्चे विशेषाभावात् नोङ्ग्रहणसामर्थ्यान्नखं न भवति इत्यपि न युक्तं न्यग्लुञ्चदिति लडा सिद्ध्यति ।

जिस्ते पदः ॥२।१।५१॥ वेति निवृत्तमुत्तरत्र वाग्रहणात् । कर्तरिर्ति वर्तते । पदधोर्लुङि ते परतः जिर्भवति । उदपादि मैक्षम् । समपादि शस्यम् । त इति किम् ? उदपत्साताम् । उदपत्सत ।

दीपजनबुधपूरितायिप्यायो वा ॥२।१।५२॥ दीपादिभ्यः लुङि ते परतः वा जिर्भवति । अदीपि । अदीपिष्ठ । अजनि । अजनिष्ठ । ओ “जनिवध्योः” [५।२।४०] इत्यैप्रतिषेधः । साहचर्याद् बुधेरनुदात्तेतो ग्रहणम् । अत्रोधि । अत्रुद्ध । अपूरि । अपूरिष्ठ । अतायि । अतायिष्ठ । अप्यायि । अप्यायिष्ठ । अयं कर्तरि विकल्पः । अन्यत्र “जिडौ” [२।१।६२] इत्यनेन नित्यो जिः ।

कर्मण्यात्मनि ॥२।१।५३॥ आत्मशब्देन कर्ताऽभिप्रेतः । यदा सौकर्यात् कर्म कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तदा कर्मणि आत्मनि विहिते तशब्दे परतः वा जिर्भवति । अकारि कटः स्वयमेव । अकृत कटः स्वयमेव । “उः” [१।१।८६] इति सेः क्तिवम् । अलावि केदारः स्वयमेव । अलविष्ठ केदारः स्वयमेव । “जिडौ” [२।१।६२] इति नित्ये औ प्राते विकल्पोऽयम् । आत्मकर्मणीति किम् ? अकारि कटो देवदत्तेन ।

दुहृश्च ॥२।१।५४॥ चशब्दो विकल्पानुकर्षणार्थः । दुहेर्वा जिर्भवति तशब्दे परतः कर्मण्यात्मनि । नियमोऽयं हलन्तेषु दुहेरेव विकल्पः, तेन पूर्वसूत्रेऽजन्तेषु विकल्पो द्रष्टव्यः । अदोहि गौः स्वयमेव । अदुग्ध गाः स्वयमेव । “वाप् दुहृदिहलिहगुहो दे दस्ये” [१।२।७०] इति क्सत्योप् । आत्मकर्मणीत्येव । अदोहि गौर्गोपालकेन ।

न रुधः ॥ २।१।५५ ॥ जिर्जिविति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । भावे कर्मण्यात्मनि जिर्न भवति । अन्व-
वारुद्ध गौः स्वयमेव ।

तपोऽनुतापे च ॥ २।१।५६ ॥ तपतेरनुतापे च कर्मण्यात्मनि च जिर्न भवति । अनुतापः
पश्चात्तापः तत्र तावत् भावकर्मणोरनुपि प्रतिषेधः । अन्ववातस पापेन कर्मणा । कर्मण्यात्मनि । अतस्त तपः
स्वयमेव । साधुस्तावदुपवासादिलक्षणं तपस्तप्यते । तद्यदा तीव्रत्वात् कर्तृत्वेन विवक्षितं तदाऽयं प्रयोगः ।

यग् दुहः ॥ २।१।५७ ॥ नेति वर्तते । दुहेः कर्मण्यात्मनि यङ् न भवति । दुग्धे गौः स्वयमेव ।
लङि-अदुग्ध गौः स्वयमेव ।

नमः शप्नु ॥ २।१।५८ ॥ नमः कर्मण्यात्मनि यङ् न भवति शप् तु भवति । नमते दण्डः स्वय-
मेव । अनमत दण्डः स्वयमेव । कर्त्राश्रयः शप्न स्यात् ।

स्नोश्च जिश्च ॥ २।१।५९ ॥ स्नोश्च नमश्च कर्मण्यात्मनि जियेगच् न भवतः । प्रास्नोष्ट गौः स्वय-
मेव । प्रस्तुते गौः स्वयमेव । लङि प्रास्तुत गौः स्वयमेव । जिप्रतिषेधार्थं नमोऽनुकर्षणम् । यक् तु पूर्वैणैव
प्रतिषिद्धः । अनस्त दण्डः स्वयमेव । “जियकोः प्रतिषेधे णिअन्धिग्रन्थिग्रन्थां दविधौ धीनां चोपसंख्यानं
कर्तव्यम्” [वा०] णिरिति हेतुमणिरुचोऽन्यस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । अचीकरत कटः स्वयमेव । कारयते
कटः स्वयमेव । अश्रन्धिष्ट मेखला स्वयमेव । श्रन्तीते माला स्वयमेव । अग्रन्धिष्ट मेखला स्वयमेव । ग्रन्तीते मेखला
स्वयमेव । अवोचत वाक् स्वयमेव । ब्रूते वाक् स्वयमेव । दविधौ धीनाम् व्यकृषत सैन्धवाः स्वयमेव । व्यकुर्वत
सैन्धवाः स्वयमेव । विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव । जियकोः प्रतिषेधे कथं कर्त्राश्रयाः कजादयः । “नमः शप्नु”
[२।१।५९] इत्यतस्तु शब्दोऽनुवर्तते तेन कर्त्राश्रयविकरणसिद्धिः । अत इदमपि सिद्धम् । आरोहन्ति हस्तिनं
हस्तिपकाः । आरोहयते हस्ती स्वयमेव । सिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः । सेचयते हस्ती स्वयमेव । “झै” [१।२।७]
इति दविधिः । यदान्यत्कर्म प्रति स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा कर्त्राश्रया विषयो भवन्ति । आरोहयमाणो हस्ती
स्थलमारोहयति मनुष्यान् । यथा भिद्यमानः कुशलः पात्राणि भिनत्ति । इह कस्मादो न भवति । स्मरति वन-
गुल्मस्य कोकिलः । स्मरयत्येनं वनगुल्मः स्वयमेव । कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां चात्मकर्म विवक्षा । कर्तृ-
स्वभावकं चाऽध्यानमिति दो न भवति ।

कुषिरञ्जेः श्यो मे वा ॥ २।१।६० ॥ कुषिरञ्जीत्येताभ्यां कर्मण्यात्मनि वा श्यो भवति मे परतः ।
कथं मविधिः बृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन यथा बहुक्षीरघृतमोदनं मम पुत्रा भुङ्क्षीरन्नित्यत्र वरादिलङ्घिः ।
कुष्यति पादः स्वयमेव । रज्यति वस्त्रं स्वयमेव । यदा श्यो न भवति तदा यग् दविधौ भवतः । कुष्यते पादः
स्वयमेव । रज्यते वस्त्रं स्वयमेव । यगनुवर्तते तदपवादोऽयं तेन लिङ्लिङोः स्यादविषये च नायं विधिः ।

तपस्तपःकर्मकस्य कर्मवत् ॥ २।१।६१ ॥ तपतेस्तपःकर्मकस्य कर्त्ता कर्मवद्भवति । कर्मातिदेशस्य
यद्दविधौ प्रयोजनम् । तप्यते तपः साधुः । अर्जयतीत्यर्थः । अतप्यत तपः साधुः । अतस्त तपः साधुः ।
तपःकर्मकस्येति किम् ? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः ।

जिडौ ॥ २।१।६२ ॥ मण्डूकलुत्याते इति वर्तते लुङीति च । जिरित्ययं त्यो भवति ङवर्थे लुङि ते
परतः । भावे-आसि भवता । अशाधि भवता । कर्मणि-अकारि कद्ये भवता । अलावि केदारो भवता ।
पुनर्निग्रहणं किम् ? जिरेव यथा स्यात् । यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूत् । उपाश्लोषि कन्या । “श्लेषः”
[२।१।६१] इति क्लो न भवति ।

गे यक् ॥ २।१।६३ ॥ ङाविति वर्तते । ङिवाचिनि गे यक् भवति । आख्यातवाच्यस्य भावस्यैकत्वात्

अस्सद्युभत्सञ्ज्ञाऽभावाच्च अन्यसञ्ज्ञक एक एव च भवति । आस्यते भवता । सुप्यते भवता । कर्मणि—क्रियते कटः । भुज्यते ओदनः । ऋकारस्य दीत्वे प्राप्ते “रिङ्यगिल्ङ्गश्चे” [१।२।१३७] इति रिङ् । कर्मसामान्यात् आत्मकर्मण्यपि यग् भवति । क्रियते कटः स्वयमेव । भिद्यते कुशलः स्वयमेव । कथं भिद्यते कुशलं स्वयमेवेत्यत्र कर्त्तरि भा । अत्राकर्मकत्वविवक्षा । तेन भावे लकारः । लान्तस्यो (तस्यो) भयविवक्षा । व्यक्तस्वार्थेष्वकर्मकविवक्षैव (क्षयैव) । भेतव्यं कुशलं स्वयमेव । भिन्नं कुशलं स्वयमेव । ईषद्दे दं कुशलं स्वयमेव ।

कर्तरि शप् ॥२।१।६४॥ कर्तृवाचिनि गे परतो धोः शब्भवति । जयति । भवति । तरति । शकारः “मिङ्शिद्गः” [२।१।६३] इति विशेषणार्थः । पकारः “गोऽपित्” [१।१।७८] इति विशेषणार्थः ।

दिवादेः श्यः ॥२।१।६५॥ दिव इत्येवमादिभ्यः श्यो भवति गे परतः । दीव्यति । सौव्यति । श्रीव्यति । “हल्यभकुच्छ्ररः” [५।३।८६] इति उङो दीत्वम् । इमे श्यादय शपोऽपवादाः ।

वा आशभ्लाशभ्रमुकमुवसिब्रुटिलषः ॥२।१।६६॥ आश भ्लाश भ्रम् क्रम् वसि ब्रुटि लष इत्येतेभ्यो धुभ्यो वा श्यो भवति । उभयत्र विभाषेयम् । आशते । आश्यते । भ्लाशते । भ्लाश्यते । भ्रमति । भ्रम्यति । श्ये (शिति) भौवादिकस्याशमादित्वादीत्वं नास्ति । दैवादिकस्य दीत्वम् । भ्रमति । भ्राम्यति । क्रमति । क्राम्यति । “क्रमो मे” [१।२।७४] इति दीत्वम् । वसति । वस्यति । ब्रुति । ब्रुव्यति । लषति । लष्यति । क्लमिग्रहणं न कर्तव्यम् । दिवादिपाठात् श्ये सति “श्रुमित्यामदो दीः” [१।२।७२] इति दीत्वं सिद्धम् । “छिबुकलम्बाचमां शिति” [१।२।७३] पुनर्दीत्ववचनं ज्ञापकं शवपि भवतीति ।

यसः ॥२।१।६७॥ यसु प्रयत्न इत्यस्माद्वा श्यो भवति । यसति । यस्यति ।

समः ॥२।१।६८॥ संपूर्वाच्च यसः वा श्यो भवति । संयस्यति । संयसति । नियमोऽयं सम एव च गेर्विकल्पो नान्यस्मात् । आयस्यति । प्रयस्यति । दिवादिपाठान्नित्यः श्यः ।

स्वादेः श्नुः ॥२।१।६९॥ शुञ् इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्नुरित्ययं त्यो भवति । सुनोति । सिनोति ।

श्रुवः शृ ॥२।१।७०॥ शृ इत्येतस्मात् श्रुर्भवति शृ इत्ययं चादेशः । श्रु इति शुवादौ स्वादौ च पठ्यते । शृणुतः । शृण्वन्ति ।

वाऽक्षः ॥२।१।७१॥ अक्ष इत्येतस्मादोः वा श्रुर्भवति । अक्ष्णोति । अक्षति । भौवादिकोऽयम् ।

तक्षः स्वार्थे ॥२।१।७२॥ स्वार्थस्तनूकरणम् । तक्षु इत्यस्मात् स्वार्थे वा श्रुर्भवति । तक्ष्णोति काष्ठम् । तक्षति काष्ठम् । स्वार्थे इति किम् ? सन्तक्षति वाग्भिर्दुर्जनः ।

रुधितुदादिभ्यां श्नम्शौ ॥२।१।७३॥ रुधादिभ्यस्तुदादिभ्यः श्नम्शौ ल्यौ भवतः । शकारः “श्नाञ्छम्” [४।४।२२] इति विशेषणार्थः । मकारः “परोऽचो मित्” [१।१।२५] इति विशेषणार्थः । रुधादि । भिनत्ति । तुदादिभ्यः शः । तुदति । क्षिपति ।

कृवतनादेरुः ॥ २।१।७४ ॥ कृञ् इत्येतस्मात्तनादिभ्यश्च उरित्ययं त्यो भवति । करोति । कुरुतः न कुर्वन्ति । तनादिभ्यः—तनोति । सनोति । क्ष्णोति । तनादित्वादेव सिद्धे पृथक् कुञो ग्रहणं किम् ? अन्यत्तनादिकार्यं करोतेर्मा भूत् । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति विभाषया सेरुम्न भवति । अकृत । अकृथाः । न चानुप्पन्ने “प्रादु गोः” [१।३।४५] इति खं सम्भवति । तस्मिन् प्राप्ते उप आरम्भात्तेः अवर्णां प्रसज्येत ।

धिन्विक्कणञ्योर च ॥२।१।७५॥ 'धिन्वि प्रीणने', 'क्वि हिंसाकरणयोः' इत्येताभ्यां उरित्ययं ल्यो भवति अकारश्चान्तादेशः । धिनोति । कृणोति । अतः खम् । "न खुखेऽगे" [१।१।७८] इति प्रतिषेधात् "परेऽचः पूर्वविधौ" [१।१।२७] इति स्थानिवद्भावाद्वा (एप्) न भवति । सनुष्कोच्चारणं ज्ञापकं त्योत्पत्तेः प्रागेव नुम्भ-वतीति । तेन कुण्डा हुरडेति सिद्धम् ।

क्र्यादेः श्ना ॥२।१।७६॥ क्री इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्रा इत्ययं ल्यो भवति । क्रीणाति । प्रीणाति ।

स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कञ भ्यः श्नुश्च ॥२।१।७७॥ स्तम्भ्वादिभ्यः श्नुर्भवति श्रा च । स्तभ्नोति । स्तभ्नाति । स्तुभ्नोति । स्तुभ्नाति । स्कुभ्नोति । स्कुभ्नाति । स्कुनोति । स्कुनाति । स्कुञ् क्र्यादिषु पठ्यते । इतरेषामिहैवोपदेशः । उदित्करणादन्यत्रापि प्रयोगः ।

हौ हलः श्नः शानः ॥२।१।७८॥ हल उत्तरस्य श्रा इत्येतस्य शान इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । अशान । पुषाण । हाविति किम् ? अभाति । हल इति किम् ? क्रौणीहि । अ इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? स्तम्भादीनां यदा श्रुस्तदा मा भूत् । स्तन्हुहि । त्यान्तरं वा सर्वेभ्यः सम्भाव्यते । शानस्य शित्करणं ज्ञापकम्-अनिल्योऽनुबन्धस्य स्थानिवद्भाव इति । तेन लङादीनां मित्रादिषु स्थानिवद्भावाद्भित्त्वं भित्त्वं च न भवति । पचमाना स्त्री । अचिनवम् । असुनवम् ।

ईपाऽत्र वाक् ॥२।१।७९॥ धोरिति वर्तते । अत्र धोरधिकारे ईपा निर्दिष्टं वाक्संज्ञं भवति । गम्यमानक्रियापेक्षया ईपेत्यस्य करणत्वम् । वक्ष्यति "कर्तृण्यण्" [२।२।१] कुम्भकारः । शरलावः । मृदूप-स्थेयं वाक्संज्ञा तेन "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति कर्मणि ता भवति । तासां वाक्सः परत्वेन । अत्र-ग्रहणं विस्पष्टार्थम् । वागितीयमन्वर्था संज्ञा । ब्रूतेऽर्थे वागिति तेनासामर्थ्ये वाक्संज्ञा नास्ति । पश्यं कुम्भं करोति कटम् । मृत्पिण्डं कुम्भं करोति । महान्तं कुम्भं करोति । सविशेषणानां च न भवति । हरतेः "इतिनाथयोः पञ्चौ" [२।२।३०] इति पशुशब्दस्य न भवति । यत्र वाचकत्वं तत्र भवति । काशकटकारः ।

कृदमिङ् ॥२।१।८०॥ अत्र धोरधिकारे मिङ्वर्जितास्याः कृत्संज्ञा भवन्ति । अत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तेषामधिकारेण्येयं संज्ञा । वक्ष्यति "तव्यानीयौ" [२।१।८३] । कर्तव्यः । करणीयः । अत्र मृत्संज्ञाप्रयोजनम् । इत्यः । स्तुत्यः । "पिति कृति" [४।३।२६] इति तुक् । अमिङिति किम् ? चीयात् । सूयात् । अकृद्यकारादीत्वं सिद्धम् ।

प्राक्तेर्वाऽसमः ॥२।१।८१॥ स्त्रियां किरिति वक्ष्यते । प्रागेतस्मादसमो यस्यः कृत् स वा भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । सरूपस्वपवादो बाधक एवेति भावः । विक्षेपकः । विक्षेप्ता । विक्षिपः । इगुङ्लक्षणा-कविषये ण्वुत्तुचावपि भवतः । प्राक्तेरिति किम् ? चिकीर्षा । "अस्यत्वात्" [२।३।८४] इत्यकारः क्लेर्बाधकः । व्याक्रोशी । व्याक्रुष्टिरित्येवमादिषु यत्नो विधेयः । असम इति किम् ? गोदः । कम्बलदः । "आतः कः" [२।२।३] इति को भवति । अणोऽपवादः । अनुबन्धापाये रूपगतं समत्वमत्र ।

ण्वोर्व्याः ॥२।१।८२॥ प्रागिति वर्तते "ण्वुत्तुचौ" [२।१।१०६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद्यो त्यास्ते व्यसंज्ञा वेदितव्याः । देवदत्तस्य कर्तव्यम् । देवदत्तेन कर्तव्यम् । व्यप्रदेशाः "व्यस्य वा कर्तरि" [१।४।७५] इत्येवमादयः ।

तव्यानीयौ ॥२।१।८३॥ तव्य अनीय इत्येतौ ल्यौ भवतः । कर्तव्यः । करणीयः । कथं वास्तव्यः ? वास्तु क्षेत्रं तस्माद्भवाद्यर्थे दिगादित्वाद्यः । एवं वस्तुनि भवो वस्तव्यः ।

योऽचोऽरासुयुवः ॥२।१।८४॥ य इत्ययं ल्यो भवत्यजन्ताद्धोः ऋवर्णान्त आसु यु इत्येतान् वर्जयित्वा । देयम् । गेयम् । "ईद्ये" [४।४।६४] इति ईत्वम् । "गागयोः" [२।२।८१] इति पुनरेप् । "देयसृजे" [३।३।२२] इति निर्देशादीन् गुकार्ये निवृत्ते पुनरेप् । दित्यं धित्यमित्यत्र अग्रे ये परतोऽतः खम् । अच इति किम् ? पाक्यम् । अरासुयुव इति किम् । कार्यम् ? हार्यम् । आवाय्यम् । याव्यम् ।

पोरदुडोऽत्रपिवपिरपिलपिचमः ॥२।१।८५॥ पवर्गान्ताद्पोरदुडो य इत्ययं त्यो भवति त्रपिवपि-
पिलपिचमीन् वर्जयित्वा । रभ्यम् । लभ्यम् । समत्वेन एयापवादोऽयम् । पोरिति किम् ? वाच्यम् । अदुड इति
किम् ? डेप्यम् । कुटादित्वादेन स्यात् । तपरकरणमसन्देहार्थम् । अत्रपिवपिरपिलपिचम इति किम् ? वाच्यम् ।
वाच्यम् । राच्यम् । लाच्यम् । आचाच्यम् ।

शकिसहश्च ॥२।१।८६॥ शकि सह इत्येताभ्यां यो भवति । शक्यम् । सह्यम् । चकारोऽनुक्तसमुच्च-
यार्थः । तेन ससितकिचितयतिथिजिजनीनां संग्रहः । सस्यम् । तक्यम् । चत्यम् । यत्यम् । यज्यम् । जन्यम् ।
“हनो वा वध इति च वक्तव्यम्” [वा०] वध्यम् । धत्यम् ।

गदमदचरयमोऽगो ॥२।१।८७॥ गद मद चर यम इत्येतेभ्योऽगिपूर्वेभ्यः यस्त्वो भवति । गद्यम् ।
मद्यम् । चर्यम् । यभ्यम् । अगोरिति किम् ? निगाद्यम् । प्रमाद्यम् । अभिचार्यम् । प्रयाम्यम् । यमः “पोर-
दुडः” [२।१।८५] इति सिद्धे नियमार्थमिदम् । अगोरेव यथा स्यात् । इतरेषामप्राप्ते विधिः । “चरेराडि चागु-
राविति वक्तव्यम्” [वा०] आचर्य व्रतम् । अगुराविति किम् ? आचार्यो गुरुः ।

पण्याऽवद्यवर्यावह्याऽर्योपसर्याऽज्यणि ॥२।१।८८॥ पण्य अवद्य वर्या वह्य अर्य उपसर्या अज्य
इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । पण्यमिति निपात्यते व्यवहर्तव्यं चेद्भवति । पण्यः कम्बलः । पण्या गौः ।
पाण्यमित्यन्यत्र । अवद्यं भवति गर्ह्यं चेत् । अवद्यं द्यूतम् । अवद्यं पापम् । न उद्यते इत्यनुद्यमन्यत् । वर्येति
वृद्धो यो भवत्यनिरोधेऽर्थे । शतेन वर्या । सहस्रेण वर्या । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र एय एव भवति । वार्या ऋषयः धन-
संविभागरूपोऽन्नाप्यनिरोधोऽस्ति । अनिरोध इति किम् ? वार्या गौः शस्त्रेषु । वह्यमिति निपात्यते कर्षणं चेद्भव-
ति । वहति तेन वह्यं शक्यम् । बाह्यमन्यत् । अर्य इति निपात्यते स्वामिनि वैश्ये च । अर्यः स्वामी । अर्यो
वैश्यः । अन्यत्र एय एव । आर्य साधु । उपसर्येति निपात्यते काल्या प्रजने चेत् । प्रजनो गर्भग्रहणकालः
प्राप्तोऽस्याः काल्या । “तद्वय प्रासम्” [३।४।१७] इति वर्तमाने “कालाद्यः” [३।४।१००] इति यः ।
उपसर्या गौः । उपसर्या वडवा । उपसर्या शरदि मथुरा अन्यत्र । अज्यमिति नञ्पूर्वाङ्कृषः कर्तरि यो निपात्यते
सङ्गतेऽर्थे । न जीर्यत इत्यज्यमर्थसङ्गतम् । अजरिता कम्बल इत्यन्यत्र ।

वदः सुपि क्यप् च ॥२।१।८९॥ अगोरिति वर्तते । वदतेः क्यम्भवति यश्च गिबर्जिते सुपि वाचि ।
सत्यमुद्यत इति सत्योद्यम् । सत्यवद्यम् । मिथ्योद्यम् । मिथ्या वद्यम् । “वागमिड्” [१।३।८२] इति षसः । सुपीति
किम् ? वाद्यम् । अगोरित्येव । अनुवाद्यम् ।

भूयहत्ये ॥२।१।९०॥ सुप्यगोरिति वर्तते । भूय हत्य इत्येते शब्दरूपे निपात्यते गिबर्जिते सुपि वाचि ।
देवभूयं गतः । देवत्वं गत इत्यर्थः । साधुभूयं गतः । क्यवत्र निपात्यते । दरिद्रहननं दरिद्रहत्या । चोरहत्या ।
हन्तेः स्त्रीलिङ्ग भावे क्यञ्निपात्यते । सुपीत्येव । भव्यम् । वातो वर्तते । अगोरित्येव । प्रभव्यमुपधातः ।

स्तुशासिण्वृद्धजुषः क्यप् ॥२।१।९१॥ सुप्यगोरिति निवृत्तम् । सामान्येनायं विधिः । स्तु शास् इण
वृणोति ङ जुष इत्येतेभ्यः क्यम्भवति । स्तुत्यः । शिष्यः । इत्यः । आवृत्यः । आहत्यः । पुनः क्यम्ब्रह्मणं
किमर्थम् ? “श्रोतावश्यके” [२।१।१०२] इत्यस्यापि बाधनार्थम् । अवश्यस्तुत्यः । “शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति
वक्तव्यम्” [वा०] शस्यम् । दुह्यम् । शंस्यम् । दोह्यम् । गुह्यम् । गोह्यम् । “आङ्पूर्वाद्भजेः सञ्ज्ञार्या क्यब्
वक्तव्यः” [वा०] आज्यम् । न वक्तव्यम् । पुनः क्यम्ब्रह्मणाद्योगविभागाद्भवित्यति । उपेयमिति ईडो रूपम् ।

ऋदुडोऽकृत्पिचृते ॥२।१।९२॥ ऋकारोडो धोः क्यम्भवति कृपिचृती वर्जयित्वा । वृत्यम् ।
वृद्धयम् । एयापवादोऽयम् । अकृपिचृतेरिति किम् ? कृत्यम् । चर्यम् । “पाणौ समर्वशब्दे च सृजेप्यो
वक्तव्यः” [वा०] पाणिसर्ग्या रज्जुः । समवसर्ग्यः कः ।

भृचोऽखौ ॥२।१।६३॥ भृजः क्यञ्भवति अखुविषये । भृत्याः कर्मकराः । भृत्याः शिशवः । भर्तव्या इत्यर्थः । अखाविति किम् ? भार्या नाम क्षत्रियाः केचित् । देवदत्तस्य भार्या । स्त्रियां “समजनिषद्” [२।१।८१] इत्यादिना भावे क्यप् । कर्मणि चायं भार्याशब्दः । ‘संपूर्वाद्भेति वक्तव्यम्” [वा०] सम्भृत्या सभार्याः कर्मकराः ।

खेयराजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्यव्यथ्याः ॥२।१।६४॥ खेयादयः शब्दा निपात्यन्ते । खेयमिति खनतेर्यो निपात्यते इकारश्चान्तादेशः । आदेप् । ‘ये वा’ [४।४।४१] इत्यात्वं नाशङ्कनीयं निपातनादेव । राजसूयमिति राजशब्दे भान्ते भान्ते सुनोतेः क्यप् दीत्वं च निपात्यते । राज्ञा सूयते राजा वा अस्मिन् सूयते इति राजसूयम् । सरति कर्माणि सुवतीति वा सूर्यः । सत्तेरत्वं सुवतेर्वा रुडागमः क्यञ्च निपात्यते । मृषापूर्वस्य वदतेर्नित्यं क्यञ्चिनात्यते । मृषोद्यम् । रुच्यमिति कर्तरि क्यप् निपात्यते । कुप्यमिति संज्ञायां गुपेरादौ कत्वं क्यञ्च निपात्यते । कुप्यं फल्गु भाण्डमित्यर्थः । गोप्यमन्यत् । कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव कृष्टपच्या ब्रीहयः । आत्म-कर्मणि क्यप् । न व्यथतेऽसावव्यथ्यः । नप्यूर्वाद्व्यथतेः कर्तरि क्यप् निपात्यते ।

भिद्योद्ध्वौ नदे ॥२।१।६५॥ भिद्य उद्ध्व इत्येतौ निपात्येते नदेऽभिधेये । भिनत्ति कूलानि भिद्यः । उज्झत्युदकमिति उद्ध्वः । कर्तरि काक्के क्यप् उज्झेर्धत्त्वं च निपात्यते । नद इति किम् ? भिदः । उज्झः । इगुङ्लक्षणः कः पचाद्यच्च यथाक्रमम् ।

पुष्यसिद्धौ भे ॥२।१।६६॥ पुष्य सिध्य इत्येतौ निपात्येते भेऽभिधेये । पुष्यन्त्यस्मिन्नर्था आरभमा-
णानामिति पुष्यः । सिध्यन्त्यस्मिन्नर्था इति सिद्धः । अधिकरणे क्यञ्चिनात्यते नक्षत्रे वाच्ये । अन्यत्र पोषणः सेधन इति च भवति ।

विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ॥२।१।६७॥ विपूय विनीय जित्या इत्येते शब्दा निपा-
त्यन्ते यथासंख्यं मुञ्ज कल्क हलि इत्येतेषु वाच्येषु । विपूयते इति विपूयो मुञ्जः । पवतेः क्यञ्चिनात्यते । विपव्यम-
न्यत् । विनीयतेऽसौ घृतादिना विनीयः । त्रिफलादिकल्कः । विनेयमन्यत् । जित्यो हलिः । जेयमन्यत् ।

पदास्वैरिवाह्यापच्येषु ग्रहः ॥२।१।६८॥ पदे अस्वैरिणि बाह्यायां पच्ये चार्थे ग्रहेर्धोः क्यञ्भवति । प्रगृह्यते इति प्रगृह्यं पदम् । अवगृह्यं पदम् । अस्वैरी परवशः । गृह्यका इमे । अनुक्रमपायां कः । परतन्त्रा इत्यर्थः । बहिर्भवा बाह्या । गृह्यते इति गृह्याः ग्रामस्य गृह्या ग्रामगृह्या नगरगृह्या सेना । ताभ्यां बहिर्भूता इत्यर्थः । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र न भवति । पचे भवः पच्यः । भरतगृह्यः । भुजवलिगृह्यः । तत्पच्य इत्यर्थः ।

कृषिभृजं यशोभद्रस्य ॥२।१।६९॥ कार्ये ता । कृ ऋषि मृज् इत्येतेभ्यः क्यञ् भवति यशो-
भद्रस्याचार्यस्य मतेन । कृत्यम् । कार्यम् । नित्यं ययः प्राप्तः । वृष्यम् । वर्ष्यम् । परिमृज्यम् । परिमार्ग्यम् । “ऋहुङः” [२।१।६२] इति नित्यं क्यप् प्राप्तः ।

युग्यं पत्रे ॥२।१।७०॥ पतति अनेनेति पत्रं वाहनम् ; तस्मिन्नर्थे युग्यमिति निपात्यते । युज्यते इति युग्योऽश्वः । युग्यो गौः । क्यप् कुत्वं च निपात्यते । पत्रादन्यत्र योग्यमिति ।

पयः ॥२।१।७१॥ यय इत्ययं त्यो भवति धोः । अयमुत्सर्गः । अजन्ताद्यः क्यप् चास्यापवादौ । कार्यम् । हार्यम् । पाक्यम् । पाठ्यम् ।

ओरावश्यके ॥२।१।७२॥ उवार्णान्ताद्दोषयो भवत्यावश्यके द्योत्ये । अवश्यमित्यस्य भावः आवश्य-
कम् । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । लाव्यम् । पाव्यम् । यद्यावश्यकेऽर्थेऽवश्यलाव्यमिति कथं सविधिः ? मयूर-
व्यंसकादित्वाद्भिभाषया । आवश्यक इति किम् ? लाव्यम् । पव्यम् ।

अमावस्या वा ॥२।१।७३॥ अमावस्य इति वा प्रादेशो निपात्यते । अमा वसतः सूर्याचन्द्रमसावस्यां

अमावस्या । अमावास्या । अमाशब्दे सहार्थे वाचि वसेरधिकरणेऽर्थे रयो विभाषया उडः प्रादेशश्च निपात्यते । प्रदेशेषु एकदेशविकृतस्य ग्रहणार्थम् ।

**पाथ्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्याऽऽनाय्यप्रणाय्या मानहविर्निवाससामिधेयनित्याऽसम्म-
तिषु ॥२।१।१०४॥** पाथ्य सान्नाय्य निकाय्य धाय्य आनाय्य प्रणाय्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं मान हविर्निवास सामिधेनी अनित्य असम्मति इत्येतेष्वर्थेषु । मीयतेऽनेनेति पाथ्यं मानम् । माङः करणे रयः । आदिपत्वञ्च निपात्यते । मानमन्यत् । सञ्जीयते इति सान्नाय्यं हविः । सम्पूर्वाञ्जयतेः रयः आयादेशो गेर्दात्वं च निपात्यते । सन्नेयमन्यत् । निचीयते इति निकाय्यो निवासश्चेत् । निपूर्वाञ्चिजः रयावादेशाशदिकत्वं च निपात्यते । निचेयमन्यत् । धीयते इति धाय्या सामिधेनी । दधातेऽर्थो निपात्यते । विशिष्टा ऋचः सामिधेयः । तत्र रुदिवशात्काचिदेवोच्यते । धेयमन्यत् । आनाय्य इति नयतेराङ्पूर्वाण्ययादेशौ निपात्यावन्त्येऽर्थे । आनाय्यो दक्षिणाग्निः । रुदिरेश दक्षिणाग्निविशेषस्य । आनेयोऽन्यः । अविद्यमानसम्मतिरसम्मतिः प्रपूर्वाञ्जयतेऽर्थयादेशौ निपात्यौ । प्रणाय्यश्चौरः । प्रणेयोऽन्यः ।

कुण्डपाथ्यसंचाय्यपरिचाय्योपचाय्यचित्याग्निचित्याः ॥२।१।१०५॥ कुण्डपाथ्य सञ्चाय्य परिचाय्य उपचाय्य चित्य अग्निचित्या इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुण्डेन पीयतेऽस्मिन्त्योम इति कुण्डपाथ्यः क्रतुः । कुण्डशब्दे भान्ते रयोऽधिकरणे निपात्यते । कुण्डपानमन्यत् । सञ्जीयते इति सञ्चाय्यः क्रतुः । सञ्चेयमन्यत् । परिचाय्योपचाय्यौ निपात्येते अग्नावभिधेये । परिचेय उपचेय इत्यन्यत् । चित्याग्निचित्याशब्दौ निपात्येते अग्नावभिधेये । चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः । अग्निघयनमग्निचित्या । अन्त्ये स्त्रीलिङ्गे भावे क्यप्प्रिपात्या ।

ण्युतुचौ ॥२।१।१०६॥ एतु तृच इत्येतौ त्वौ भवतः । कारकः । कर्ता । भोजकः । भोक्ता ।

नन्दिग्रहिपचिभ्यो ल्युणिन्यचः ॥२।१।१०७॥ नन्दादिभ्यो ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च यथासंख्यं ल्यु णिन् अच् इत्येते ल्या भवन्ति । नन्दयतीति नन्दनः । लकारः “युवोरनाकौ” [५।१।१] इति सामान्य-ग्रहणाविषातार्थः । नन्दिवाशिमदिनर्दिभूषिसाधिशोभिवर्द्धिभ्यो रयन्तेभ्यः संज्ञायां सहितपिदमिज्वलचिज्जलिप-टपरिसिडक्कन्दिसङ्कर्षिभ्यः संज्ञायामख्यन्तेभ्यः । जनार्दनः । मधुसूदनः । लवण इति निपातनाण्यत्वम् । विभीषणः । पवनः । वितनाशनः । कुलदमन एतावणोऽपवावौ इति नन्यादिः । ग्रह उत्सह उद्दास स्था उद्दास मंत्र संमर्द निरक्षी निश्रावी निवापी निवेशी एतेभ्यः निपूर्वेभ्यः । अयाची अव्याहारी असंव्याहारी अवादी अत्राजी अवासी एतेभ्यः प्रतिषिद्धेभ्यः । अचामचित्तकर्तृकाणां प्रतिषिद्धिनामिति वर्तते । अकारी अहारी अविनाथी विशयी विषयीशब्दौ देशे निपतनात् अद्रिभावी प्रविभावी भूते भवतः । अपराधी उपरोधी परिमवी परिभावी इति ग्रहादिः । पच पठ वप वद चल पत तथा चरिचलिपतिवदिनामन्याकचस्येति वक्ष्यते । नदट् स्रवट् तरट् चरट् चोरट् चेलट् गा हट् देवट् टित्करणं स्त्रियां ड्यर्थम् । जर मर क्षर सेच मेप कोप दर्भ सर्प नर्त प्रण डर । अणि विषयेऽपि । श्रपच चक्रधर । पचादिराकृतिगायः ।

झाकृप्रीगुडः कः ॥२।१।१०८॥ जा कृ प्री इत्येतेभ्यः इगुडञ्च धोः को भवति । जानातीति ज्ञः । आकारान्तलक्षणो णः प्रातः । इह अर्थं जानातीति अर्थज्ञः । परत्वादातः के सति नित्यः सविधिः । उत्क्रितीति उत्क्रिः । विक्रिः । प्रीणातीति प्रियः । इगुडः । वित्तिपः । विबुधः । विरुतः । इह काष्ठभेदः इति परत्वादण् । **आतो गौ ॥२।१।१०९॥** आकारान्ताद्धोः को भवति गौ वाचि । णापवादोऽयम् । प्रस्थः । सुलः । इह वडवासन्दाय इति परत्वादण् ।

पाघ्राध्माधेदृशः शः ॥२।१।११०॥ गाविति वर्तते । पादिभ्यः शो भवति । पा इति साहचर्या-दलाक्षणिकत्वाच्च पिबतेर्ग्रहणम् । उत्पिबः । विपिबः । उज्जिब्रः । विजिब्रः । संज्ञायां तु “व्याघ्रैरुपमेयेऽतद्योगे”

[१।३।११] इति निर्देशात् कः । व्याघ्रः । उद्धमः । विधमः । उद्धयः । विधयः । उत्पश्यः । विपश्यः । गाविति केचिदिह नाभिसम्बन्धन्ति । तेन पश्यतीति पश्यः । जिघ्रः ।

लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेति सातिसाहिभ्योऽङोः ॥२।१।१११॥ लिम्प विन्द धारि पारि वेदि उदेजि चेति साहि इत्येतेभ्यः अगिपूर्वभ्यः शो भवति । लिम्पतीति लिम्पः । कथं कुञ्चलेप इति ? “मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधन् वाधन्ते नोत्तरात्” [प०] इति इगुङः कस्यायं शो वाधको नाणः । विन्दतीति विन्दः । लिम्पविन्द इति सानुषङ्गनिर्देशादन्यत्राप्ययं विधिर्भवति । संज्ञायां गावपि । निलिम्पा नाम देवाः । अरविन्दं गोविन्द इत्यण्विषयेऽपि शः सिद्धः । धारयतीति धारयः । पारयः । वेदयः । उदेजयः । निर्देशादेव गिपूर्वस्य ग्रहणम् । चेतयः । सातं करोतीति णिच् । खातयः । साहयः । आद्याभ्यां के इतरेभ्योऽञि प्राप्ते वचनम् ।

दान्धाजोर्वा ॥२।१।११२॥ कार्थे ताविभक्ती । दान् धान् इत्येताभ्यां अगिपूर्वाभ्यां वा शो भवति । ददः । दधः । दायः । धायः । अगावित्येव । प्रदः । प्रधः । अनुबन्धनिर्देशो यङुबन्तयोः शो मा भूदित्येवमर्थः ।

ज्वलितिकसन्ताण्णः ॥२।१।११३॥ इतिः आद्यर्थे अविभक्तिकश्च निर्देशः । ज्वालादिभ्यः कस गतौ इत्येवमन्तेभ्यो वा शो भवति । ज्वालः । ज्वलः । कासः । कसः । चालः । चलः । अगावित्येव । प्रज्वलः ।

श्याद्व्यधासुसंखुलिहश्लिषश्वसतीणः ॥२।१।११४॥ श्यैङ् आकारान्त व्यध आसु संखु लिह श्लिष श्वस् अतीण इत्येतेभ्यो शो भवति । वेति निवृत्तं अगाविति च । अवश्यायः । आदिति सिद्धे पुनः श्याग्रहणम् “आतो गौ” [१।१।१०६] इत्यस्य बाधनार्थः । आत् । दायः । धायः । व्याधः । आस्त्रावः । संस्त्रावः । लेहः । श्लेषः । श्वासः । अस्यायः । “अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्” [वा०] अवतनोतीत्यवतानः ।

हसोऽवे ॥२।१।११५॥ ह सा इत्येताभ्यामवपूर्वाभ्यां शो भवति । अवहारः । अवसायः ।

दुन्योरगौ ॥२।१।११६॥ दुनी इत्येताभ्यां शो भवति । दुनोतीति दावः । नायः । अगाविति किम् ? प्रदवः । प्रणयः ।

विभाषा ग्रहः ॥२।१।११७॥ ग्रहेर्विभाषया शो भवति । ग्राहः । ग्रहः । व्यवस्थितविभाषेयम् । जलचरे ग्राह एव । ज्योतिषि ग्रह एव । विभाषेति योगविभागाद् भवतीति भावः ।

गेहे कः ॥२।१।११८॥ ग्रहेर्गेहेऽभिधेये को भवति । गेहं सञ्ज्ञ । तात्स्थ्याद्वारा अपि । गृहं गृहाः ।

शिल्पिनि द्युः ॥२।१।११९॥ शिल्पिन्यभिधेये द्युर्भवति धोः । नर्त्तकः । खनकः । रजकः । रजक-रजनरजसां नखं वक्ष्यति । एत एव धवः प्रयोजयन्तीति केचित् ।

गौ ण्युथकौ ॥२।१।१२०॥ गायतेऽयु थक इत्येतौ त्वौ भवतः । शिल्पिनीति वर्तते । गायनः । गायकः ।

हायनः ॥२।१।१२१॥ हायन इति निपात्यते ग्रीहिकालयोः कर्त्रोः । जहात्युदकमिति हायना नाम ग्रीहयः । जहाति सहृताः क्रियाः हायनः संवत्सरः ।

प्रुसुत्वः साधुकारिणि वुन् ॥२।१।१२२॥ प्रु सु लू इत्येतेभ्यः धुम्यः साधुकारिणि कर्तरि वुन् भवति । साधु प्रवते यः स प्रवकः । एवं सरकः । सवकः । साधुकारिणीति किम् ? प्रवः ।

आशिषि ॥२।१।१२३॥ आशिषि चार्थे वुन् भवति धोः । जीवतादिति य उच्यते स जीवकः । एवं नन्दकः । वर्धकः ।

इत्यभयनान्दिवरचितायां जैनैन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ।

कर्मण्यण् ॥२।२।१॥ कर्मणि कारके वाचि धोरणित्ययं ल्यो भवति । कुम्भकारः । शरलावः । चर्चापारः । कुम्भादिशब्दात् “कर्तृकर्मणोः कृति” [१।४।६८] इति ता । “वागमिङ्” [१।३।८२] इति षतः । “शीलिकामिमक्ष्याचरीक्षिमिभ्यो णो वक्तव्यः” [वा०] धर्मशीलः । धर्मशीला । धर्मकामः । वायुभक्तः । धर्माचारः । धर्मापेक्षः । क्लेशक्षमः । नेदं वक्तव्यम् । घञन्तेन वक्षे सति सिद्धम् । धर्मं शीलमस्य धर्मशीलः । धर्मे कामोऽस्य धर्मकामः । धर्मं शीलयतीत्येवमादिविग्रहे अनभिधानादण् न भवति यथा आदित्यं पश्यति हिमवन्तं शृणोतीत्येवमादौ न भवति । कुम्भकारादिष्वण् घञन्तेन च वक्ष इत्युभयं भवति ।

ह्वाचामः ॥२।२।२॥ ह्वा वा मा इत्येतेभ्यश्चाण् भवति कर्मणि वाचि । के प्राप्ते इदं वचनम् । स्वर्गह्वायः । तन्तुवायः । वातिवायत्योर्मातेश्चार्कर्मकत्वादग्रहणम् । धान्यं मिमीते मयते वा धान्यमायः । मीनातिमिनोत्योः कप्रात्तेरभावात् पूर्वैणैवाण् ।

आतः कः ॥२।२।३॥ आकारान्ताद्धोः कर्मणि वाचि क इत्ययं ल्यो भवति । गोदः । अर्थज्ञः । पार्थिवः । अङ्गुलित्रम् । ज्या वयोहानावित्यस्य ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्यः । के कृते परत्वादातः खं पश्चाजिः । “असिद्धवदत्राभात्” [४।४।२१] इत्यात्वस्यासिद्धत्वादियादेशो न भवति । यणादेशः सिद्धः । जुहुवतुः जुहु-वुरित्यत्र ह्येज आत्मकत्वा जिः क्रियते इत्यात्वं नास्तीत्युवादेशः सिद्धः । आहः । प्रह्वः । इत्याकारान्तात् “आतो गौ” [२।३।८८] इति कः । प्रागात्वं पश्चाजिः ।

प्रे ॥२।२।४॥ प्रपूर्वादातः को भवति कर्मणि वाचि । तत्त्वप्रज्ञः । भोक्तृप्रज्ञः । नियमार्थोऽयमारम्भः । प्र एव गौ नान्यस्मिन्नातः को भवति । गोसंदायः । वडवासंदायः ।

दाज्ञः ॥२।२।५॥ अयमपि नियमः । दा ज्ञा इत्येताभ्यामेव प्रपूर्वाभ्यां कर्मणि को भवति । धर्म-प्रदः । धर्मप्रज्ञः । नियमादिह न भवति । पार्थिवप्रत्रायः । अङ्गुलिप्रत्रायः । कथं भाष्ये प्रयोगः “अभिज्ञश्च पुनरेक्त्वादीनामर्थानाम्” इति । अत्राभिधानवशात् “आतो गौ” [२।३।८८] इति को भविष्यति ।

संख्यः ॥२।२।६॥ प्र इति नियमेन निर्वर्तिते के पुनरारम्भः । सम्पूर्वात् ख्या इत्येतस्मात्कर्मणि वाचि को भवति । पशून् संख्यं पशुसंख्यः । अश्वसंख्यः ।

सुपि ॥२।२।७॥ सुव्रत्ते वाचि घोरातः को भवति । पादैः पिबति पादपः । कच्छेन पिबति कच्छपः । द्वाम्यां पिबति द्वीपः । समस्थः । विषमस्थः । धर्माय प्रददाति धर्मप्रदः । शास्त्रेण प्रजानाति शास्त्रप्रज्ञः । अकर्मण्यपि वाचि यथा स्यादिति सुवग्रहणम् । इह केचिदात इति नानुवर्तयन्ति । तेन मूलविभुजादिष्वभिधानवशात् कः सिद्धः । मूलान् विभुजति मूलविभुजो रथः । जलरहम् । नखमुचानि धनूषि । काकगुहास्तिलाः ।

स्थः ॥२।२।८॥ सुपि वाचि तिष्ठतेः को भवति । कर्तरि पूर्वो योगः । अनिर्दिष्टार्थत्वात् भावेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । आखूनामुत्थानमाखूत्यः । शलभोत्थः । “स्थास्तभोः पूर्वस्योदः” [२।४।१३५] इति सका-रस्य पूर्वस्त्वल् ।

दुहो घश्च ॥२।२।९॥ इतः प्रभृति कर्मणीति सुपीति च द्वयमनुवर्तते । कर्मणि वाचि दुहेः को भवति वकारश्चादेशः । कामान्दोषि कामदुघो धर्मः । कामदुधा धेनुः ।

तुन्दशोकयोः परिमृज्जापनुदोः ॥२।२।१०॥ तुन्द शोक इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः परिमृज्ज अपनुद इत्येताभ्यां को भवति । अविशेषेण “सुपि” [२।२।७] इत्येतैनैव के सिद्धे आलस्यसुखाहरणयोरर्थयोर्यथा स्यादित्यारम्भः । तुन्दपरिमृज्जः अलसश्चेत् । शोकापनुदः पुत्रो जातः । पूर्वं “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति षतः पश्चाद्वाक्सः । आलस्यसुखाहरणयोरिति किम् ? तुन्दपरिमाजं आतुरः । शोकापनोदो धर्माचार्यः ।

गष्टक् ॥२।२।११॥ गा इत्येतस्माद्वोः कर्मणि वाचि टगित्यं त्यो भवति । वक्त्रगः । वक्त्रगी । “प्रे” [२।२।४] “दाज्ञः” [२।२।१५] इति निश्मादगिपूर्वादातः कर्मणि को विहितस्तस्मिन्नेव विषये टक् । अन्यत्राण्येव भवति । वक्त्रसंगायः ।

सुराशोभ्योः पिबः ॥२।२।१२॥ सुरा शीघ्र इत्येतयोः कर्मणोः पिबतैः टग्भवति । सुरापः । सुरापी । शीघ्रपः । शीघ्रपी । अयमपि कापवादः । सुराशीघ्वोरिति किम् ? क्षीरं पिबतीति क्षीरपा कन्या । पिब इति विवृतनिर्देशः किम् ? सुरां पातीति सुरापा ।

ग्रहेरः ॥२।२।१३॥ ग्रहेर्घोः कर्मणि वाचि अ इत्यं त्यो भवति । शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटी धनुःषु वाङ्गु प्रायेणाभिधानम् । शक्तिग्रहः । लाङ्गलग्रहः । अङ्कुशग्रहः । यष्टिग्रहः । तोमरग्रहः । घटग्रहः । घटीग्रहः । धनुर्ग्रहः । सूत्रग्रहो भवति धारयति चेत् । सूत्रग्राहोऽन्यः ।

हृजोऽनुत्सेधे ॥२।२।१४॥ उत्सेध उत्त्लेपणम् । हृजोऽनुत्सेधे वर्तमानात् कर्मणि वाचि अत्यौ भवति । अंशं हरति अंशहरः । भागहरः । रिक्तहरः । अनुत्सेधे इति किम् ? भारहारः । न केवलमुत्सृज्ये उत्त्लेपणेऽप्युत्सेध इति शब्दो वर्तते तद्यथा नानाजातीया अनियता (तवृत्तयः) उत्सेधजीविन इति ।

वयसि ॥२।२।१५॥ शरीरिणां कालकृतावस्था वयः, तत्र अत्यो भवति वयसि गम्ये । अयमुत्सेधार्थं आरम्भः । कवचहरः क्षत्रियकुमारः । अस्थिहरः श्वशिशुः । दृशोर (दृश्यमानेन) संभाव्यमानेन वा भारोत्त्लेपणेन वयो गम्यते ।

आङ्गि शीले ॥२।२।१६॥ शीलं स्वामाविकी प्रवृत्तिः । आङ्गि च वाचि हृजोऽत्यो भवति शीले गम्यमाने । पुष्पाहरः । फलाहरः । सुखाहरः । उत्सेधानुत्सेधयोरयं विधिरिध्यते । अनुत्सेधे पूर्वेण कस्मान्न भवति ? शीले परत्वात्तृत्वात् । शील इति किम् ? भारमाहरति भारहारः ।

अर्हः ॥२।२।१७॥ अर्हतेः कर्मणि वाचि अत्यो भवति । पूजार्हा प्रतिमा ।

स्तम्बेरमकर्णेजपौ ॥२।२।१८॥ स्तम्बेऽम कर्णेजा इत्येतौ शब्दौ हस्तिपूचकयोरर्थयोर्निपात्येते । स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेजपः सूचकः । स्तम्बकर्णयो रमिजपोरिति सूत्रं कर्तव्यं सुपीति वर्तते । “षे कृति बहुलम्” [१।३।१३२] इत्यनुपा सिद्धम् । अर्थविशेषपरिग्रहार्थं निपातनम् । इह मा भूत् । स्तम्बे तृणस्तवके रन्ता गौः । कर्णे जपिता वैद्यः ।

शमि घोः खौ ॥२।२।१९॥ शमि वाचि घोः खुविषये अत्यो भवति । शम्भवः । शंवदः । शङ्करः । धुप्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्धुग्रहणं बाधकबाधनार्थम् । शङ्करा नाम परिव्राजिका । खुविषये कुञ्जो हेत्वादिषु परत्वाद्गो मा भूत् । खविति किम् ? शङ्करी जिनविद्या ।

श्रीङोऽधिकरणे ॥२।२।२०॥ शोतेरधिकरणे सुवन्ते वाचि अत्यो भवति । खे शोते खशयः । खेशयः । गर्तशयः । गर्तेशयः । “षे कृति बहुलम्” [१।३।१३२] इति पक्षेऽनुपु । श्रीङ इति योगविभागात् पार्श्वदिषु सुवन्तेषु वाङ्गु अत्यो भवति । पार्श्वीभ्यां शोते पार्श्वशयः । पृष्ठशयः । उदरशयः । “उत्तानादिषु च कर्तृषु” [वा०] उत्तानः शोते उत्तानशयः । अवमूर्द्धशयः । “दिग्धसहपूर्वाच्च अत्यो भवति” [वा०] दिग्धेन सह शोते दिग्धसहशयः । कथं गिरिशः । लोमादिपाठान्मत्वर्थीयः शः । यो हि गिरौ शोते गिरिस्तस्यास्त ।

चरेष्टः ॥२।२।२१॥ चरेष्टोरधिकरणे वाचि टो भवति । कुरुषु चरति कुरुचरः । मद्रचरः । मद्रचरी । अधिक्करण इत्येव । कुरुँश्चरति कुरुचारा ।

भिन्नासेनादाये ॥२।२।२२॥ अनधिकरणार्थमेतत् । भिन्ना सेना आदाय इत्येतेषु वाचु चरेष्टो भवति । भिन्नाचरः । सेनाचरः । आदायशब्दः प्यान्तः । आदाय चरति आदायचरः ।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सुः ॥२।२।२३॥ पुरस् अग्रतस् अग्रे इत्येतेषु सुङ्गतेषु वाचु सरतेष्टो भवति । पुरःसरः । “अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इत्येवन्तात्तसिः । अग्रतःसरः । अग्रेसरः । अग्रेसरी । अनीवन्तत्वेऽप्येकारो निपातनात् ।

पूर्वे कर्त्तरि ॥२।२।२४॥ कर्तृग्रहणं कर्मनिवृत्त्यर्थं पूर्वशब्दे कर्तृवाचिनि सुवन्ते वाचि सरतेष्टो भवति । पूर्वः सरति पूर्वसरः । क्रियाया विशेषण्येऽपीष्यते । पूर्वं प्रथमं सरति पूर्वसरः । कर्त्तरीति किम् ? पूर्वं देशं सरति पूर्वसारः ।

कृजो हेतुशीलानुलोम्येऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदे ॥२।२।२५॥ शब्द-श्लोकादिर्वर्जिते कर्मणि वाचि कृजः ट इत्ययं त्यो भवति हेतौ शीले आनुलोम्ये च गम्यमाने । हेतुशब्दोपादानात् इह हेतुः प्रकृष्टं कारणम् । विद्या यशस्करी । धनं कुलकरम् । शीलं स्वभावः । समासकरः । अर्थकरः । आनुलोम्यमनुकूलता । प्रेषकरः । वचनकरः । एतेष्विति किम् ? कुम्भकारः । अशब्दादिष्विति किम् ? शब्दकारः । श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः । पदकारः ।

दिवाविभाभिनाशप्रभाभास्करान्तानन्तादिनान्दीलिपिलिविलिभक्तिकर्त्तृचित्रक्षेत्रसंख्या-जङ्घाबाह्वर्धनुरःषु ॥२।२।२६॥ अहेत्वाद्यर्थं आरम्भः । दिवाशब्दे सुवन्ते वाचि विभादिषु कर्मसु वाचु करोतेष्ट इत्ययं त्यो भवति । दिवेति भिन्नं पदम् । दिवा करोतीति दिवाकरः । विभां करोतीति विभाकरः । निशाकरः । प्रभाकरः । भासनं भाः । भासं करोति भास्करः । सूत्रे भास्करान्तेति सकारस्य निपातनात् जिह्वा-मूलीयविसर्जनीयौ न भवतः । कारं करोतीति कारकरः । अन्तकरः । ग्रान्तकरः । अन्तकरस्य नञ्से अन्योऽर्थः प्रतीयते इत्यनन्तग्रहणम् । आदिकरः । नान्दीकरः । लिपिकरः । लिविकरः । बलिकरः । भक्तिकरः । कर्तृकरः । चित्रकरः । क्षेत्रकरः । संख्या एकत्वद्वित्वादिका । एककरः । बहुशब्दोऽपि नानाधिकरणवाची संख्याशब्दः । बहुकरः । जंवाकरः । बाहुकरः । अहस्करः । “रोऽसुपि” [१।१।७८] इति रेफः । तस्य “कृकमि” [१।१।३४] आदि सूत्रेण सत्वम् । धनुष्करः । अरुष्करः । “सस्सेऽधु स्थस्य” [१।१।३३] इति सत्वम् । “इणः षः” [१।१।२७] इति पत्वम् ।

कर्मणि भृतौ ॥२।२।२७॥ कर्मशब्दे वाचि कृजष्टो भवति भृतौ गम्यमानायाम् । भृतिर्नियतं कर्ममूल्यम् । कर्म करोति कर्मकरः । भृताविति किम् ? कर्मकारः ।

किंयत्तद्बहुष्वः ॥२।२।२८॥ किम् यद् तद् बहु इत्येतेषु वाचु कृजः अ इत्ययं त्यो भवति । किङ्करः किङ्करा । यत्करः । यत्करा । तत्करः । तत्करा । चौर्ये तत्करः । बहुकरा । इह बहुशब्दे वैपुल्यवाची । हेत्वादिषु ट एव भवति । किङ्कराशीला किङ्करी ।

सकृत्स्तम्बे वत्सव्रीह्योरिः ॥२।२।२९॥ सकृत् स्तम्ब इत्येतयोः कर्मणोः कृज इतिव्यं त्यो भवति वत्सव्रीह्योः कर्त्रोः । सकृत्करिवत्सः । स्तम्बकरिः व्रीहिः । वत्सव्रीह्योरेति किम् ? सकृत्कारः । स्तम्बकारः ।

दतिनाथयोः पशौ हृजः ॥२।२।३०॥ दति नाथ इत्येतयोर्वाचोः पशौ कर्त्तरि हृज इतिव्यं त्यो भवति । दतिहरिः । नाथहरिः पशुः । पशाविति किम् ? दतिहारः । नाथहारः ।

फलेग्रह्यात्मम्भरिकुक्षिम्भरयः ॥२।२।३१॥ फलेग्रहि आत्मम्भरि कुक्षिम्भरि इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । फलानि ग्रह्णाति फलेग्रहिः । वाच एत्वमिश्र निपात्यते । आत्मानं विभर्ति आत्मम्भरिः । कुक्षिम्भरिः । वाचो मन्तत्वमिश्र निपात्यते ।

एजेः खश् ॥२।२।३२॥ एजतेर्यन्तात्खशित्ययं ल्यो भवति कर्मणि वाचि । खकारः “खित्यक्तेः” [४।३।१७६] इति विशेषणार्थः । शकारो गसंज्ञार्थः । अङ्गान्येजयति अङ्गमेजयः । जनमेजयः । “वाततिल-
सार्धेषु अजतुदजहतिभ्यः खश्वक्तव्यः” [वा०] वातमजः मृगाः । तिलन्तुदः काकः । सार्धङ्गहा मृगाः ।

नासिकादौ घेट्धमः ॥२।२।३३॥ नासिकादिषु कर्मसु घेट् ध्मा इत्येताभ्यां खश् भवति । नासि-
कान्धयति नासिकन्धयः । नासिकान्धमः । स्वरिन्धयः । स्वरिन्धमः । नाडिन्धयः । नाडिन्धमः । मुष्टिन्धयः ।
मुष्टिन्धमः । घटिन्धयः । घटिन्धमः । वातन्धयः । वातन्धमः । शुनीस्तनयोर्धेट एव । शुनिन्धयः । स्तनन्धयः ।
आदिशब्दः प्रकारवाची ।

उदि कूले रुजिवहोः ॥२।२।३४॥ उदीति कास्थाने ईप् । उत्पूर्वाभ्यां रुजि वहि इत्येताभ्यां कूले
कर्मणि खश् । कूलमुद्रुजः । कूलमुद्रहः ।

वहाभ्रे लिहः ॥२।२।३५॥ वह अभ्र इत्येतयोः कर्मणोः लिहैर्धोः खश् भवति । वहं लेटि वहंलिहो
गौः । अभ्रंलिहः प्रासादः ।

मितनखपरिमाणे पचः ॥२।२।३६॥ मितशब्दस्य पृथग्निर्देशात् परिमाणं प्रस्थादि गृह्यते । मित
नख परिमाण इत्येतेषु कर्मसु पचैर्धोः खश् भवति । मितं पचते मितम्पचा कन्या । नखम्पचा यवागूः । प्रस्थ-
म्पचा । आढकम्पचा । द्रोणम्पचा ।

विध्वरुषोस्तुदः सखम् ॥२।२।३७॥ विधु अरुष् इत्येतयोः कर्मणोः तुदैर्धोः खश् भवति ।
सकारस्य च खम् । विधुन्तुदः । अरुन्तुदः ।

वाचंयमासूर्यं पश्योग्रम्पश्यललाटन्तपपरन्तपद्विषन्तपेरम्मदपुरन्दरसर्वं सहाः ॥२।२।३८॥
एते शब्दा निपात्यन्ते । वाक्छब्दे कर्मणि यमैर्धोः ल्यो निपात्यते व्रते । वाचं यच्छति वाचंयमस्तपस्वी । वाग्या-
मोऽन्यः । सूर्यं न पश्यति असूर्यपश्यं सुखम् । असूर्यं पश्या राजदाशः । निपातनादसामर्थ्येऽपि नञ्सः दृशोः
खश् । उग्रं पश्यति उग्रम्पश्यः । उग्रे कर्मणि दृशोः खश् निपात्यते । ललाटन्तपति ललाटन्तपो भास्वान् ।
खश् निपात्यः । परांस्तापयति परन्तपः । द्विषतस्तापयति द्विषंस्तपः । परद्विषतोः कर्मणोस्तापेः खञ्जिनाप्यते ।
तकारस्य च खम् । “खचि” [४।१।८८] इति प्रादेशः । स्त्रियामनभिधानम् । द्विषतीतापः । इरया माद्यति
इरम्मदम् । खञ्जिनाप्यः । पुरो दारयति पुरन्दरः । खच् वाचो मन्तता च निपात्यते । सर्वं सहते इति
सर्वं सहः । खश् निपात्यः । कथं पाणयो ध्मायन्ते एषु पाणिन्धमा पन्थान इति ? नासिकादौ पाणिशब्दः; तत्र
पाणिन्धमाः पथिकाः तात्स्थ्यात्पन्थानोऽपीत्यधिकरणे खश् न वक्तव्यः ।

प्रियवशे वदः खच् ॥२।२।३९॥ प्रिय वश् इत्येतयोः कर्मणोः वदैर्धोः खजित्ययं ल्यो भवति ।
प्रियंवदः । वशंवदः । खकारो वागर्थः (मुमर्थः) । चकारः “खचि” [४।१।८८] इति विशेषणार्थः ।
त्यान्तरकरणं किमर्थम् ? खशि सति उत्तरत्र करोतेर्भिभर्तेश्च विकरणाः स्यात् । घोरिहोडः प्रादेशश्च
न स्यात् ।

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः ॥२।२।४०॥ सर्व कूल अभ्र करीष इत्येतेषु वाचु कषतेः खज् भवति ।
सर्वं कषो विप्रः । कूलङ्कषा नदी । अभ्रङ्कषो वायुः । करीषङ्कषा वात्या । “भगे दारेः खज् वक्तव्यः” [वा०]
भगन्दरः ।

मेघर्तिभयेषु कृजः ॥२।२।४१॥ मेघ ऋति भय इत्येतेषु कर्मसु करोतेः खज् भवति । मेघङ्करः ।
ऋतिङ्करा । भयङ्करः । “अभयाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] अभयङ्करो जिनः । नञ्से अन्योऽर्थः प्रतीयते ।
अणोऽपवादोऽयम् । परत्वेन हेत्वादित्य च बाधकः ।

क्षेमप्रियमद्रेऽण् च ॥२।२।४२॥ क्षेम प्रिय मद्र इत्येतेषु कर्मसु करोतेरणित्यर्थं ल्यो भवति खच्च । वेति सिद्धे कृजो हेत्वादिष्वपि टप्रतिषेधार्थमण्ग्रहणम् । क्षेमकारः । क्षेमङ्करः । प्रियकारः । प्रियङ्करः । मद्र-कारः । मद्रङ्करः ।

आशितम्भवः ॥२।२।४३॥ आशितम्भव इति निपात्यते । आशितशब्दे सुवन्ते वाचि भवतेर्भाव-करणयोः खञ् निपात्यते । आसित इति कर्तरि क्लो दीत्वं चात एव निपातनात् । आशितस्य भवनमाशितम्भवो वर्तते । आशितो भवत्यनेनालमयमाशितम्भव ओदनः । प्रकरणान्तरविहितो युडपि भवति । भावे घञः समत्वा-दयं बाधकः ।

भृतवृजिधारिसहितपिदमः खौ ॥२।२।४४॥ भृ तृ वृ जि धारि सहि तपि दमि इत्येतेभ्यः खुविषये खञ् भवति । कर्मणि सुपि वाचि यथासम्भवमयं विधिः । विश्वम्भरा । वसुन्धरा । रथन्तरो नाम राजा । वृडावृजोः-पतिवरा कन्या । अरिञ्जयः । युगं धारयति इति युगन्धरः । “खचि” [४।४।८८] इत्युङः प्रादेशः । शत्रुंसहः । शत्रुन्तपः । दभिरन्तर्गतण्यर्थः । अरिन्दमः । खाविति किम् ? कुटुम्बमारः ।

गमः ॥२।२।४५॥ खाविति वर्तते । सुवन्तवाचि गमेर्धोः खञ् भवति । सुतङ्गमो नाम कश्चित् । क्वचिद्विषयवर्ष्यते । मितंगमोऽश्वः । अमितङ्गमा हस्तिनी । “विहायसो विहादेशः खच्च वा द्वित्वकव्यः” [वा०] विहायसा गच्छति विहङ्गः । विहङ्गमः । “तुरभुजयोश्च” [वा०] तुरङ्गः । तुरङ्गमः । भुजङ्गः । भुजङ्गमः ।

ङः ॥२।२।४६॥ खाविति निवृत्तं गम इति वर्तते । गमेर्धो भवति सुवन्ते वाचि । अन्तादिषु वाच्यु प्राये-णामिधानम् । अन्तगः । अत्यन्तगः । अन्वगः । दूरगः । पारगः । अनन्तगः । गुप्तहृत्पगः । स्त्रयागारगः । ग्रामगः । सर्वत्र गच्छति सर्वत्रगः । पन्नं गच्छति पन्नगः । “उरसः सखञ्चेति वक्तव्यम्” [वा०] “विहायसो विहं च” [वा०] उरसा गच्छति उरगः । विहायसा गच्छति विहगः । “सुदुरोरधिकरणे ङो वक्तव्यः” [वा०] सुखेन गच्छति अस्मिन् सुगः । दुर्यः । “निसो देशे” [वा०] निर्गो देशः । हित्यभस्यापि डित्करणसामर्थ्यादेः खम् ।

आशिषि हनः ॥२।२।४७॥ आशिष्यर्थे हन्तेर्धो भवति कर्मणि वाचि । तिमि हन्ति तिभिहः । शापहः ।

अपे क्लेशतमसोः ॥२।२।४८॥ अप इति कास्थाने ईप् । अपपूर्वात् हन्तेः क्लेशतमसोः कर्मणो-र्वाचोर्धो भवति । अनाशोरथाऽयमारम्भः । क्लेशापहः । तमोपहः ।

कुमारशीर्षयोर्णिन् ॥२।२।४९॥ कुमार शीर्ष इत्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्णिन् भवति । अशीलाशौऽ-यमारम्भः । कुमारघातो । शीर्षघातो । शीर्षशब्दोऽकारान्तः शिरःस्थोऽस्ति ।

टगमनुष्ये ॥२।२।५०॥ हन इति वर्तते । हन्तेः कर्मणि वाचि टग् भवति अमनुष्ये कर्तरि । पित्तं हन्ति पित्तघ्नं घृतम् । श्लेष्मघ्नमौषधम् । जायाघ्नस्तिलकः । पतिघ्नो रेखा । अमनुष्य इति किम् ? पापघात-स्तपस्वी । चौरघातो हस्तीत्यत्र “युडव्या बहुलम्” [२।३।१४] इति बहुलवचनादण् ।

जायापत्योर्लक्षणे ॥२।२।५१॥ लक्षणं चिह्नं तदस्यास्तीति लक्षणः । अर्शआदिपाठादः । जाया पति इत्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्लक्षणावति कर्तरि टग्भवति । जायाघ्नो ब्राह्मणः । लक्षणमस्य तद्विधमस्ति । पतिघ्नो कन्या ।

शकि हस्तिकवाटे ॥२।२।५२॥ शकनं शक् शक्तिरित्यर्थः । हस्ति कवाट इति एतयोः कर्मणोः हन्तेष्टग् भवति शकि गम्यमानायाम् । अयं पूर्वश्च मनुष्यकर्तृ कार्यं आरम्भः । हस्तिनं हन्ति हस्तिघ्नो मनुष्यः । हस्तिनं हन्तुं शक्न इत्यर्थः । कवाटघ्नो मनुष्यः । शकीति किम् ? हस्तिघातो व्याधः उपायेन ।

पाणिघताडघराजघाः ॥२।२।५३॥ एते शब्दा निपात्यन्ते । पाणिघताडघौ शिल्पिनि निपात्येते । अन्यत्र-पाणिघातः । ताडघातः । राजघ इत्यविशेषेण । उग्वत्वं टिङ् च निपात्यम् ।

सुभगाढ्यस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेऽन्धो स्तुब्धुकुञ्जौ भुवः ॥२।२।५४॥ अच्वाविति च्यन्त-प्रतिषेधात् नजिवधुकन्यायेन च्यर्थविज्ञानम् । अच्यन्तेषु च्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाक्तुं भवतेः स्तुब्धुः कुञ्जः इत्येतौ त्वौ भवतः । असुभगः सुभगो भवति सुभगः भविष्णुः । सुभगम्भावुकः । आढ्यम्भविष्णुः । आढ्यम्भावुकः । स्थूलम्भविष्णुः । स्थूलम्भावुकः । पलितम्भविष्णुः । पलितम्भावुकः । नग्नम्भविष्णुः । नग्नम्भावुकः । अन्धम्भविष्णुः । अन्धम्भावुकः । प्रियम्भविष्णुः । प्रियम्भावुकः । अत्र तदन्वयविधिरिष्टः । श्रीसुभगम्भविष्णुः । श्रीसुभगम्भावुकः । अच्वाविति स्मि ? सुभगीभविता । आढ्यीभविता । नञिर्दिष्टे सदृशसंप्रत्ययादिह न भवति-सुभगो भविता ।

कुजः करणे ख्युट् ॥२।२।५५॥ कुजः करणे कारके ख्युट् भवति अच्यन्तेषु च्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाक्तुं । असुभगं सुभगं कुर्वन्त्यनेन सुभगङ्करणम् । आढ्यङ्करणम् । स्थूलङ्करणम् । पलितङ्करणम् । नग्नङ्करणम् । अन्धङ्करणम् । प्रियङ्करणम् । सुभगङ्करणी विद्या । अच्यन्तेषु इत्येव । सुभगीकुर्वन्त्यनेन । नन्वत्र ख्युटि युटि वा नास्ति विशेषः । सत्यम् । अच्यन्तानुवृत्तेस्तु युटोऽप्यत्रार्थः प्रतिषेधः । च्यर्थे वर्तमानेष्वित्येव । आढ्यं कुर्वन्ति तैलेन । अभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

स्पृशोऽनुदके किः ॥२।२।५६॥ उदकवर्जिते सुपि वाचि स्पृशेधोः किर्भवति । ककारः कित्कार्यार्थः । वकारः सति साम्ये क्पिो बाधनार्थः । मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक् । दलं स्पृशति दलस्पृक् । “घरश्च” [५।३।५३] आदि सूत्रेण षत्वं जश्त्वं “क्त्विष्य कुः” [५।३।७५] इति कुत्वम् । अनुदक इति किम् ? उदकं स्पृशति उदकस्पर्शः ।

ऋत्विग्दधृगस्त्रिगुणिगञ्चुयुजिकञ्चः ॥२।२।५७॥ ऋत्विक् दधृक् सक् दिक् उष्णिक् इत्येते च्यन्ता निपात्यन्ते । अञ्चु युजि कुञ्चि इत्येतैर्म्यस्तु किर्भवति । ऋतौ यजते ऋतुप्रयोजनो वा यजते ऋत्विक् । ऋतुशब्दे वाचि यजः किर्निपात्यते । धृष्णोतीति दधृक् । धृषेः किर्द्वित्वं च निपात्यते । सजन्ति तामिति सक् । सृजेः कर्मणि किरमागमश्च निपात्यः । दिशन्ति तामिति दिक् । दिशेः कर्मणि किः । उस्तिनहतीति उष्णिक् । उपूर्वा स्निहः ग्यन्तखं षत्वं च । उष्णीषेण नहतीति वा उष्णिक् । षनखं प्रश्च । अञ्चु । प्राङ् । दध्यङ् । सुब्रन्तमात्रे किर्भवति । युजेः केवलादेव किः । युङ् । युञ्जौ । युञ्जः । क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुञ्चः । क्रुञ्चरेपि केवलात् किः । नखं न भवति । स एष विशेषो निपातनैः सह निर्देशास्तस्यते ।

त्यदादौ दशोऽनालोके टक् च ॥२।२।५८॥ त्यदादिषु वाक्तुं दशोर्धोरनालोकेऽर्थे टग् भवति किश्च । आलोकश्चक्षुर्विषयः पर्युदस्यते । त्यादक् । त्यादशः । “दशदृक्क्षवतौ” [४।३।१६६] इति निर्देशात्कोऽपि भवति । त्यादक्षः । “आसर्वनाम्नः” [४।३।१६७] इत्यालम् । एवं तादक् । तादशः । तादक्षः । यादक् । यादशः । यादक्षः । रुदिशब्दा एते तेन नैतेष्ववयवार्थोऽस्ति । तमिव पश्यति अथवा स इव दृश्यते इति यथा कथञ्चिद्वाक्यम् । “समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] सदृशः । सदृक् । सदृक्षः । अन्यादक् । अन्यादशः । अन्यादक्षः । “दशदृक्क्षवतौ” [४।३।१६५] इति समानस्य सभावः । अनालोक इति किम् ? यं पश्यति यदृशः । तद्दर्शः ।

सत्सूद्विषदुहद्रहयुजविदभिदक्षिद्वजिनीराजो गावपि क्पि ॥२।२।५९॥ सदादिभ्यो धुभ्य क्पि भवति गो वाचि अपिशब्दात् सुवन्तेऽपि । प्रसत् । दिवि सीदतीति द्युषत् । अन्तरिक्षसत् । स इति

द्विधा सहचरितः आदादिकः । प्रसृते प्रसृः । अण्डं सृते अण्डसृः । शतसृः । गर्भसृः । विद्वेष्टीति विद्विट् । मित्रद्विट् । प्रदुहतीति प्रधुक् । मित्राय द्रुहति मित्रधुक् । प्रदोग्धि प्रधुक् । युजिर् योगे युज समाधाविति चाविशेषेण ग्रहणम् । प्रयुनक्ति प्रयुक् । अश्वयुक् । युजेर्यन्तस्याऽपि युज इति निपातनात् णेरप् । प्रयोजयतीति प्रयुक् । अश्वान् योजयति-अश्वयुक् । विदेरविशेषेण ग्रहणम् । प्रवित् । धर्मवित् । प्रभित् । बलभित् । प्रच्छित् । रजुच्छित् । प्रजित् । कर्मजित् । प्रणीः । ग्रामणीः । विराजते विराट् । सम्राट् । “मन्वन्कनि-
न्विचः क्वचित्” [२।२।६२] “क्विप्” [२।२।६३] इति क्विपि सिद्धे नियोगार्थमिदम् । सुपीति वर्तमाने गिग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र सुबृग्रहणे गिग्रहणं नास्तीति ज्ञापनार्थम् । तैन “वदः सुपि क्यप् च” [२।१।८१] इति गे क्यम्न भवति । प्रवाद्यमनुवाद्यम् ।

अदोऽनन्ने ॥२।२।६०॥ अदेधोः किम्भवति अनन्ने सुवन्ते वाचि । आममत्ति आमात् । वृक्षात् । अनन्न इति किम् ? अन्नादः ।

क्रव्ये ॥२।२।६१॥ क्रव्यमाममासम् । क्वयशब्दे वाचि अदेः किम्भवति । क्रव्यमत्ति क्रव्यात् । पूर्वै-
णैव सिद्धे पुनरारम्भः असुरूपस्याणो बाधकः । कथं तर्हि क्रव्यादः ? पृषोदरादिषु कृत्तविकृतादः क्रव्याद इति द्रष्टव्यम् ।

मन्वन्कनिन्विचः क्वचित् ॥२।२।६२॥ मन् वन् कनिप् विच् इत्येते त्याः क्वचिद् दृश्यन्ते । गावपीत्यनुवर्तते । सुशर्मा । सुवर्मा । क्वचिदिति वचनात् केवलादपि । दामा । पामा । वामा । हेमा । वन् । विजावा । अग्रेगावा । “वन्याः” [४।४।४२] इत्यात्वम् । कनिप् । प्रातरित्वा । प्रातरित्वानौ । केवलादपि । कुत्वा । कुत्वानौ । धीवा । पीवा । विच् । विशतीति वेट् । रेट् । वकारः कृत्कार्यार्थः । इकार उच्चारणार्थः । चकारः एवर्थः । जागर्ति जागः । विरित्युच्यमाने “जागुरविजिण्हित्” [५।२।८२] इति एप्रतिषेधः शङ्क्यते ।

क्विप् ॥२।२।६३॥ क्विप् धोः क्वचिद् दृश्यते गावपि । उखेन (उखायाः) खंसते ^१उखाश्रुत् । बाह्रात् भ्रश्यति बाह्राभ्रट् । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । क्वचिदधिकारात्केवलादपि । याति याः । वाति वाः ।

स्थः कः ॥२।२।६४॥ गावपीति वर्तते । तिष्ठतेः को भवति । शन्तिष्ठति शंस्थः । सुस्थः । ननु “सुपि” [२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इत्यनेनैव कः सिद्धः । न सिध्यति । “शमि धोः खौ” [२।२।११] इत्यत्र धुग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तं समत्वेन पूर्वस्य कस्य बाधनमिति । यथा शङ्करा परित्राजिकेत्यत्र हेलादिलक्षणस्य टस्य बाधात्कस्याकारस्य बाधनार्थं पुनः कविधानं क्विपोऽसमत्वादस्त्यो न बाधक इति पूर्वेण क्विप्सिद्धः । शंस्थाः ।

भजो णिवः ॥२।२।६५॥ भजतेऽपिर्भवति सुपि गावपि । अर्द्धभाक् । प्रभाक् । णकार एवर्थः । वकारः सति साम्ये बाधार्थः । इकारः उच्चारणार्थः । समत्वेन क्विचिर्बाधकोऽस्ति णिवः ।

सुपि शीलेऽजातौ णिन् ॥२।२।६६॥ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्यस्मिन् दर्शने जातिप्रतिषेधोऽ-
यम् । अजातिवाचिनः सुवन्ते वाचि शीले गम्यमाने धोर्णिन्भवति । सुपीति वर्तमाने पुनः सुबृग्रहणं सुम्मा-
नार्थम् । अन्यथा अजाताविति सत्त्ववाचिनः प्रतिषेधादन्यस्यापि सत्त्ववाचिनो ग्रहणं न स्यात् । उष्णं मुङ्क्ते

१. “पिठरस्थास्तुखाकुण्डम्” इत्यमरादिप्रामाण्यादुखाशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् “उखायाः शंसते” इति वक्तुमुचितम् । मूले “उखेन शंसते” इति कण्ठतृतीयाऽस्त्रीत्वं च चिन्त्यम् । २. बह्राद् अ०, ब० । ३. बह्राभ्रट्-अ०, ब० ।

इत्येवंशीलः उष्णभोजी । उदासारिण्यः । प्रत्यासारिण्यः । अजाताविति किम् ? शालीन् भुङ्क्ते इत्येवं शीलः शालिभोजः । साधूनामन्त्रयिता । शील इति किम् ? उष्णभोजः आतुरः । कचिदित्यनुवृत्तेः साधुकारिण्य-
प्यर्थे णिन् । साधुकारी । साधुदायी । “ब्रह्मणि वदेहिन् वक्तव्यः” [वा०] असमस्याणो बाधकः । ब्रह्म-
वादिनो वदन्ति ।

कर्त्तरीवे ॥२।२।६७॥ कर्त्तरि वाचि इवार्थे धोरिण् भवति । उपमानभूते कर्त्तरीत्यर्थः । जात्यर्थम्-
शीलार्थं चेदम् । उष्ट्र इव क्रोशते उष्ट्रक्रोशी । ध्वाङ्कुरावी । खरनादी । सिंहनर्दी । वृत्त्यैवार्थस्योक्तत्वादिवशब्द-
स्याप्रयोगः । कर्त्तरीति किम् ? तिलानिव भुङ्क्ते कोद्रवान् । इव इति किम् ? उष्ट्रः क्रोशति ।

व्रते ॥२।२।६८॥ सुबन्ते वाचि धोरिण् भवति समुदायेन चेद् व्रतं गम्यते । शास्त्रपूर्वको नियमो
व्रतम् । पार्श्वशायी । स्थण्डिलशायी । वृद्धमूलवासी । श्राद्धं न भुङ्क्ते व्रतमस्य अश्राद्धभोजी । अलवण-
भोजी । सापेक्षस्यास्यापि नञो वृत्तिर्व्याख्याता । व्रत इति किम् ? स्थण्डिले शेते कामचारेण ।

प्रायो (य आ) ऽभोक्ष्ये ॥२।२।६९॥ सुबन्ते वाचि धोराभीक्ष्ये गम्ये प्रायो णिन् भवति । शीलं
गुणान्तरे द्वेषः । ततोऽन्यमुहुर्मुहुः सेवनमाभीक्ष्यम् । कषायपायिणो गान्धारयः । सौवीरपायिणो इपिलाः^१ ।
तक्रपायिणो अन्त्राः । क्षीरपायिण उशीनराः । “मृदन्तनुम्बिभक्त्याम्” [१।१।६९] इति णत्वम् । प्रायो-
ग्रहणादिह न भवति । कुल्माषखादाश्चोलाः ।

मनः ॥२।२।७०॥ मन्यतेः सुपि वाचि णिन् भवति । अशीलाद्यर्थमेतत् । शोभनं मन्यते परं शोभ-
नमानी । दर्शनीयमानी । मन इति श्यविकरणस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । उत्तरत्र खशि विशेषो भविष्यति ।

खरचात्मनः ॥२।२।७१॥ आत्मनो यत्सुबन्तं तस्मिन् वाचि मन्यतेः खश् भवति णिश्च । शोभ-
नमात्मानं मन्यते शोभनम्मन्यः । शोभनमानी । पण्डितम्मन्यः । पण्डितमानी ।

भूते ॥२।२।७२॥ भूत इत्यधिकारो वेदितव्यः । धोरिति वर्तते । अर्थवशाद् भूते ध्वर्थे वक्ष्यमाणा
विधयो भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति द्योः कनिप् । मेरं दृष्टवान् मेरुदन्त्रा । भूत इति किम् ? मेरं द्रक्ष्यति । न
च भूतशब्दस्येतेतराश्रयत्वेनासिद्धिः, अनदिवाञ्छब्दव्यवहारस्य । भूत इति निसंज्ञको वा शब्दः । “इयन्त
इति संस्थानं निसंज्ञानं न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥”

करणे यज्ञः ॥२।२।७३॥ णिन्निति वर्तते । करणे सुबन्ते वाचि यज्ञेर्धोर्भूते णिन् भवति । अग्नि-
द्योमेनेष्टवान् अग्निद्योमयाजी । वाजपेययाजी । विशेषस्य करणत्वम् । यज्ञसामान्यं यज्ञेयार्थः ।

कर्मणि हनः ॥२।२।७४॥ कर्मणि वाचि हन्तेर्णिन् भवति भूते । पितृव्यं हतवान् पितृव्यघाती ।
मातुलघाती । कुत्साविशेष इति वक्तव्यमिह मा भूत् । देवदत्तं हतवान् देवदत्तघातः ।

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु किप् ॥२।२।७५॥ ब्रह्म भ्रूण वृत्र इत्येतेषु कर्मसु हन्तेः क्तिन्भवति । ब्रह्माणं
हतवान् । ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा । सामान्येन क्तिपि सिद्धे नियमार्थमिदम् । ब्रह्मादिष्वेव कर्मसु हन्तेः
क्तिन्मान्यसिन् । मित्रं हतवान् मित्रघातः । उभयथा नियमश्चायम् । ब्रह्मादिषु कर्मसु भूते क्तिवेव नान्यस्यः ।
उभयथा शिष्यैः प्रतिपन्नत्वात् उभयथा नियमो लभ्यते । कथं मधुहा ? चिन्त्यमेतत् । हन इत्येव । ब्रह्माणं
कृतवान् । भूत इत्येव । ब्रह्माणं हन्ति हनिष्यति वा ।

सुकर्मपापमन्त्रपुण्ये कृञः ॥२।२।७६॥ क्तिविति वर्तते । सुशब्दे वाचि कर्मादिषु च करोतेः
क्तिन्भवति भूते । सुष्ठु कृतवान् सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यकृत् । एषोऽप्युभयथा नियमः ।

स्वादिष्वेव वात्तु कृजः किम्भवति नान्यस्मिन् । स्रं कृतवान् स्रकारः । स्वादिषु च भूते किमेव नान्यस्त्यः । कृज इति किम् ? पापं चितवान् । भूत इत्येव । कर्म करोतीति कर्मकारः । स्वादिष्वेव भूते किम्भवतीति नायमिह नियम इत्येके । तैन भाष्यकृत् शास्त्रकृत् तीर्थकृदित्येवमादि सिद्धम् । वर्तमानकालविवक्षा वा तेनानियमः ।

सोमे सुवः ॥२।२।७७॥ सोमे कर्मणि सुनोतेः किम्भवति भूते । सोमं सुतवान् सोमसुत् । सोम-सुतौ । सोमसुतः । एषोऽप्युभयथा नियमः । सोम एव वाचि सुनोतेः किम्नान्यस्मिन् । सुरां सुतवान् सुरासावः । सोमे वाचि भूते किमेव नान्यस्त्यः । सुज इति किम् ? सोमं कृतवान् । भूत इत्येव । सोमं सुनोति सोमसावः ।

अग्नौ चेः ॥२।२।७८॥ अग्नौ कर्मणि चिनोतेः किम्भवति भूते । अग्निं चितवान् अग्निचित् । अग्निचितौ । अग्निचितः । अयमप्युभयथा नियमः । अग्नावेव वाचि नान्यस्मिन् । कुड्यं चितवान् कुड्यचायः । अग्नौ वाचि भूते किमेव नान्यस्त्यः । चेरिति किम् ? अग्निं कृतवान् । भूत इत्येव । अग्निं चिनोति अग्निचायः ।

कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ॥२।२।७९॥ कर्मणीति प्रकृतं वर्त्तते । कर्मणि वाचि चिनोतेः कर्मणि कारके किम्भवति समुदायेन चेदग्न्याख्या गम्यते । श्येन इव चितः श्येनचित् । काक इव चितः काकचित् । रथचक्रचित् । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? रुढेः परिग्रहार्थम् । अग्न्यर्थं इष्टकाचयः श्येनचिदुच्यते ।

कर्मणोन्विक्रियः ॥२।२।८०॥ कर्मणि वाचि इन्नित्यं त्यो भवति । विपूर्वात् क्रीणातेः । कर्मणीति वर्तमाने पुनः कर्मग्रहणमभिधेयनिवृत्त्यर्थम् । कर्मणि वाचि कर्त्तरि कारके यथा स्यात् । तैलं विक्रीतवान् तैलविक्रीयी । घृतविक्रीयी । “कुत्सायामिति वक्तव्यम्” [वा०] इह न भवति । धान्याविक्रायः ।

दशोः कनिप् ॥२।२।८१॥ भूते कर्मणीति च वर्त्तते । कर्मणि वाचि दशेर्धोः कनिम्भवति । मेरुं दृष्टवान् मेरुदृष्ट्वा । विश्वदृष्ट्वा । पित्करणमुत्तरार्थम् । सामान्येन कनिपि सिद्धे पुनर्वचनं भूते मन्वन्विचां निवर्तकम् ।

राक्षि युधिक्कजः ॥२।२।८२॥ राजशब्दे कर्मणि युधि कृज् इत्येताभ्यां कनिम्भवति । युधिरन्तर्भावित्वयर्थः सकर्मकः । राजयुध्वा । राजकृत्वा । अयमपि योगः मन्वन्विचां निवृत्त्यर्थः । कर्मणीत्येव । राज्ञा युद्धवान् ।

सहे ॥२।२।८३॥ सहशब्दे वाचि युधिकृजित्येताभ्यां कनिवृभवति भूते । सह युद्धवान् सहयुध्वा । सहकृत्वा । “वा नोचः” [४।३।१०] इत्यत्र न्यगवयवस्य वसस्य ग्रहणात् सहशब्दस्य सभावो न भवति । योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।

जनेर्डः ॥२।२।८४॥ सुपि शील इत्यतः सुपीति संवध्यते । जनेर्धोः सुपि वाचि ड इत्ययं त्यो भवति । उपसरे जातः उपसरजः । मन्दुरायां जातः मन्दुरजः । “त्वे ड्यापोः कचित् खौ च” [४।३।१७३] इति प्रादेशः । बलभीजः । “कायामजातावभिधानम्” [वा०] जाड्याजातं जाड्यजं दुःखम् । सन्तोषजं सुखम् । सङ्कल्पजः कामः । बुद्धिजः संस्कारः । अजाताविति किम् ? मृगाज्जातः । हस्तिनो जातः । गौ वाचि खुविष्ये प्रजाताः प्रजाः । “अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्” [वा०] पुमांसमनुजातः पुमनुजः । स्त्र्यनुजः । “अन्यस्मिन्नपि वाचि दृश्यते कारकान्तरेऽपि” [वा०] किञ्जातेन किञ्जः । अलं जातेन अलज्जः । द्विर्जातो द्विजः । न जातः अजः । “कायामजातौ” इत्युक्तम् । जातावपि दृश्यते ब्राह्मणजः पशुवधः । क्षत्रियजं युद्धम् । गौ वाचि खावित्युक्तः अखावपि दृश्यते । अधिजातः । अधिजः । अभिजः । परिजः । अनौ कर्मणीत्युक्तम् । अकर्मण्यपि दृश्यते । अनुजातः अनुजः । यद्यपि विशेषेण सुमीत्युच्यते इहापि प्राप्नोति सर्वाङ्गपरिपूर्णं जातः गृहस्थो जातः । अनभिधानान्न भवति । “युड्या बहुलम्” [२।३।१४] इति बहुलवचनात् । कर्मणि कारके अन्यस्मादपि भवति । परिखाता परिखा । पुंसा अनुजातः पुंसानुप्रकरणे पुंसानुजो अनुषान्ध इत्यत्रानुवच्यते ।

तः ॥२।२।८५॥ तसंज्ञस्त्यो भवति धोर्भूते । इह वाग्विशेषपरिग्रहो नास्ति । कृतः । कृतवान् । भुक्तः । भुक्तवान् । कृक्त्वत्वोर्भाविनोः तसंज्ञाश्रिता तेन संज्ञया त्यविधाने इतरेतराश्रयं नास्ति । आदिकर्मस्यपि कथञ्चित् भूतत्वमस्ति । प्रकृतः कटं देवदत्तः । प्रकृतवान् कटं देवदत्तः ।

सुयजोर्वनिप् ॥२।२।८६॥ सुपीति निवृत्तम् । सु यजि इत्येताभ्यां वनिप् भवति भूते । सुतवान् । सुत्वा । इष्टवानिति यज्वा ।

जृषोऽन्तु ॥२।२।८७॥ जीर्थितैरन्तु इत्ययं त्यो भवति भूते । जरन् । जरन्तौ । जरन्तः । कृक्त्वत्वो-
रसमत्वादवाधकोऽयम् ।

वस्सदिणो वसुर्लिङ्गम् ॥२।२।८८॥ वस् सद् इण् इत्येतेभ्यः भूते वसुर्भवति लिङ्वन्मसंज्ञश्च । अन्वेषिवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । उपसेदिवान् उपाध्यायं शिष्यः । ईयिवान् उपेयिवान् उपाध्यायं शिष्यः । इणः क्रादिनियमादिटि द्वित्वम् । धुरूपस्य “यणेत्योः” [४।४।७७] इति यणादेशः । चस्य “किलीणो द्वीः” [१।२।१६६] इति दीत्वम् । अथ क्रादिनियमलक्षणस्येदः “वशि” [१।१।११४] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र “श्रुवोऽनिट्” [२।२।८६] इत्यनिट्त्वचनं ज्ञापकं “वशि” [१।१।११४] इति प्रतिषेधो न भवति । उदात्तस्य वा स प्रतिषेधः । लिङ्वदतिदेशाद्वित्वम् । “न भित्तलोक” [१।४।७२] इत्यादिना कर्मणि ताप्रतिषेधश्च भवति । मसंज्ञायाः किं प्रयोजनं कर्मव्यतिहारे मा भूत् । व्यत्यये जनपद इति । “प्राक्तेर्वाऽसमः” [२।१।८१] इति लुङादयोऽपि भवन्ति । अन्ववासीत् । अन्ववसत् । अनूवास । उपासदत् । उपासीदत् । उपससाद । उपागात् । उपैत् । उपेयाय । कसुकानौ लिङादेशौ सर्वधुभ्य इत्येके । “कसुर्दो मम्” इति मसंज्ञकः । कानस्य “इङानं दः” [१।२।१२१] इति दसंज्ञा । भावकर्मकर्तृषु च सम्भवः । लिङादेशत्वादेव कित्त्वे सिद्धे स्फान्तार्थं कित्करणमनयोः । अङ्गेः आजिवान् । स्वङ्गेः सस्वज्वान् इति कित्त्वान्नखं सिद्धम् । श्रुकारान्तस्यैवप्रतिषेधार्थं च कित्करणं तितीर्त्तानः । “कृच्छ्रत्यृताम्” [१।२।१२३] इत्येभ्यः भवति । कर्मणि ततिराणः । “ऋत इङ्गोः” [५।१।७३] इति इत्वस्य “द्वित्वेऽचि” [१।१।२६] इति स्थानिवन्द्वावे तु इति द्वित्वम् । “उरः” [१।२।१६६] इति अत्वम् । तैरेवाचार्यैः “वस्वेकाज्जङ्घसामिङ्” इति वसौ परतः एकाचामाकारान्तानां घसेश्चेड्विहितः । पेचिवान् । पपिवान् । जज्ञिवान् । इह कस्मान्न भवति ? विभिद्धान् चिच्छिद्धान् । “हलमध्ये लिट्यतः” इत्यनेन एत्वचखयोः कृतयोर्वसौ य एकाच तत्रैवेड् भवति । यद्येवं ययिवानित्यत्रापि “इटि चात् खम्” [४।४।६३] इति खे कृते एकाचत्वमस्तीति आद्रग्रहणमनर्थकम् । नियमार्थं मेतत् । यथा इषिनिमित्तमेकाचत्वं तेषामाकारान्तानामेव [इड्भवति] नान्येषां चखत्वानिति । अत्रापिपी कृते उङ्गः खे क्रियमाणे एकाचत्वसम्भवोऽस्ति । अत एव नियमात् घसेरिट्प्राप्ते ग्रहणम् । तथा वा दृशिगमहन-
षिदविशाम् । ददृशिवान् । ददृश्वान् । जग्मिवान् । जगन्वान् । जध्निवान् । जघन्वान् । “मो नः” [१।३।८३] “भ्वोः” [१।३।८४] इति मकारस्य नत्वम् । दृशेर्नेकाचत्वात् गमहनोरात इति नियमात् इट्प्राप्ते विभाषा । वसौ परतो विदेः शक्विकरणस्य ग्रहणम् । विविदिवान् । विविद्धान् । ज्ञानार्थस्य ग्रहणे ते “यस्य वा” [१।१।१२१] इति प्रतिषेधः स्यात् । विविशिवान् । विविश्वान् ।

श्रुवोऽनिट् ॥२।२।८९॥ श्रु इत्येतस्माद्रसुर्भवत्यनिट् । उपशुश्रुवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । असमत्वा-

लुङादयोऽपि । उपाशृणोत् । उपशृश्रव ।

अनाश्वाननूचानौ ॥२।२।९०॥ अनाश्वान अनूचान् इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । नञपूर्वादश्नातेः वसुर्लिङ्वदिङ्भावश्च निपात्यते । अनाश्वान्तपञ्चकार । असमत्वात् नाश्वत् नाश इत्यपि भवति । वचेरनुपूर्वात् कर्तरि कानो निपात्यते । अनूचानो व्रतोपपन्नः । असमत्वात् अनूकृत्वान् अन्ववोचत् अनूवाच इति च भवति ।

लुङ् ॥२।२।९१॥ लुङ् इत्ययं त्यो भवति भूते धोः । अकार्षात् । अहार्षात् । क भवानुषितः । अनुज्ञा-
वात्समिति । अत्र भूतमात्रस्य विवक्षा, अतएव लङ् न भवति ।

अनद्यतने लङ् ॥२।२।९२॥ भूत इति वर्तते । अविद्यमानाद्यतने भूते धोर्लङ् भवति । अतीताया रात्रेः आ पश्चिमयामात् आगामिन्याश्च रात्रेराप्रथमयामात् अद्यतनकालः । तत्प्रतिषेधादनद्यतनः । अकरोत् । अहरत् । अनद्यतनभूतविवक्षायाः समत्वाल्लुङो बाधको लङ् । अनद्यतन इति वसनिर्देशाच्चानाद्यतनगन्धोऽप्यस्ति तत्र लङ् न भवति । अद्य ह्यश्चाभुञ्महि । यदि वसः अद्यतनेऽप्यद्यतने नास्तीति लङ् प्राप्नोति । नायं दोषः । विशेषाद्यतने सामान्याद्यतनस्य विद्यमानत्वात् । इह भूतमात्रं विवक्षितम् । आगच्छाम घोषात् अपिबाम पय इति । ‘परोक्षे लोकाविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः’ [वा०] अरुणान्महेन्द्रो मथुराम् । अरुणद्यवनः साकेतम् । परोक्षे इति किम् ? उदगादादित्यः । लोकाविज्ञात इति किम् ? जगाम ग्रामं देवदत्तः । प्रयोक्तुः दर्शनविषय इति किम् ? जघान कंसं किल वासुदेवः ।

अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट् ॥२।२।९३॥ अभिज्ञोक्तिः स्मृतिवचनम् । अविद्यमाने यच्छब्दे अभिज्ञावचने वाचि अनद्यतने लृट् भवति । अभिज्ञानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः । मन्त्रेषु वत्स्यामः । उक्तिग्रहणं पर्यायार्थम् । स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा कश्मीरेषु वत्स्यामः । लङोऽपवादोऽयम् । अयदोति किम् ? अभिज्ञानासि देवदत्त यत् कश्मीरेष्ववसामः ।

न वा साकाङ्क्षे ॥२।२।९४॥ आकाङ्क्षा सम्बन्धः । अनद्यतन इत्येव । साकाङ्क्षे अभिज्ञावचने वाचि धोर्न वा लृट् भवति । अयद्यभिज्ञावचने पूर्वेण प्राप्तो लृट् नेति प्रतिषिध्यते । ततः केवले यच्छब्दसहिते चाभिज्ञावचने साकाक्षे वाचि । वेति सर्वत्र विभाषा । अभिज्ञानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदानान् भोक्ष्यामहे तत्रौदानान्मुञ्जमहि । यच्छब्दसहिते अभिज्ञानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः यत्तत्रौदानान् भोक्ष्यामहे यत्तत्रौदानान्मुञ्जमहि ।

परोक्षे लिट् ॥२।२।९५॥ भूते अनद्यतने इति च वर्तते । परावृत्तोऽन्वेभ्यः परोक्षः इन्द्रियागोचर इत्यर्थः । परोक्षशब्दस्य चेदमेव निपातनम् । भूतानद्यतनपरोक्षे ध्वर्थे लिङ् भवति । यद्यपि सर्वो ध्वर्थः साध्यत्वेनानुमेयत्वेन वा परोक्षस्तथापि यत्राश्रयद्वारेण प्रत्यक्षाभिमानो नास्ति लोकास्य स परोक्ष उक्तः । पपाच । चकार । आत्मनानुष्ठिता हि क्रिया सर्वस्य प्रत्यात्मं प्रत्यक्षेति सुतमत्तयोरस्मदः प्रयोगः । सुतोऽहं किल विललाप । मतोऽहं किल जघान । ‘अत्यन्तापह्नवे लिङ् वक्तव्यः’ [वा०] नाहं कलिङ्गं जगाम । कलिङ्गगमनस्य प्रत्यक्षलालिङ्गप्राप्तः ।

हशश्वतोर्लङ् च ॥२।२।९६॥ ह शश्वदित्येतयोर्वाचोर्लङ् भवति लिट् च भूतानद्यतनपरोक्षे । इति हाकरोत् । इति ह चकार । शश्वदकरोत् । शश्वच्चकार ।

प्रश्ने चान्तर्युगे ॥२।२।९७॥ प्रष्टव्य इति प्रश्नः । पञ्चवर्षं युगम् । युगाभ्यन्तरे प्रश्ने भूतानद्यतने परोक्षे लङ्लिटौ भवतः । चकारः किमर्थः ? पूर्वसूत्रे चानुकृष्टस्य लियोऽनुकर्षणार्थः । किमगच्छस्त्वं पाटलिपुत्रम् । अददादसौ दानम् । ददावसौ दानम् । प्रश्न इति किम् ? देवदत्तो जगाम । अन्तर्युग इति किम् ? अहं त्वां पृच्छामि । जघान कंसं किल वासुदेवः ।

पुरि लुङ् वा ॥२।२।९८॥ पुराशब्दो भूतानद्यतने वर्तते न भूतमात्रे । पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने वा लुङ् भवति पक्षे यथाप्राप्तं च । अवात्सुरिह पुरा छात्राः । अवसन्निह पुरा छात्राः ।

लट् ॥२।२।९९॥ वेति निवृत्तम् । लङ् भवति पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने । वसन्तीह पुरा छात्राः । योगविभाग उत्तरत्र लट् एवानुवर्तनार्थः ।

स्मे ॥२।२।१००॥ स्मशब्दोऽप्यनद्यतने परोक्षे च वर्तते न भूतमात्रे । स्मशब्दे वाचि अनद्यतने लङ् भवति । इति स्मोपाध्यायः कथयति स्वयंप्रभार्थं युध्यन्ते स्म विद्याधराः । लङ्लिटोरपवादोऽयम् । स्मपुराशब्दयोर्गुणप्रयोगे परत्वात् सलक्षणो लट् । सुलोचनार्थं पुरा युध्यन्ते स्म पार्थिवाः । हशश्वत्तयादपि विधिः

परत्वेन स्मलक्ष्णः । इति हाधीयते स्म । शश्वदधीयते स्म । तथा हशश्वलक्ष्णात् परत्वेन पुरालक्ष्णो विधिः । इति ह पुरा अध्यगीषत । शश्वत्पुरा अध्यगीषत । “ननौ पृष्टप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः” [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त ! ननु करोमि भोः । तथा “नशब्दे नुशब्दे च वाचि पृष्टप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः” [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त ! न करोमि भोः नाकार्षी भोः । अहं नु करोमि अहं न्वकार्षम् । नेदं दयं वक्तव्यम् । पूर्वत्र क्रियाया अपरिसमाप्तेर्वर्तमानत्वम् । उत्तरत्रासमाप्तिः समाप्तिश्च क्रियाया विवक्षिता ।

सम्प्रति ॥२।२।१०१॥ सम्प्रति ध्वयै लट् भवति । आरम्भात्प्रभृत्याऽनुपरमाद्वर्तमानः कालः सम्प्रति इत्युच्यते । उक्तं च—“आरम्भाय प्रसृता यस्मिन् काले भवन्ति कर्तारः । कार्यस्यानिष्ठातस्तन्मध्यं कालमिच्छन्ति ॥” तरति । नयति । याति ।

तस्य शतृशानाववैकार्थे ॥२।२।१०२॥ तस्य सम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने शतृ शान इत्येतावादेशौ भवतः न चेद्वान्तेनैकार्थ्यं भवति । पचन्तं पश्य । पचता कृतम् । पचमानेन कृतम् । तस्य ग्रहणं किम् ? असम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने मा भूत् । उच्यते इह पुरा छात्रैः । अधीयते स्म नटैः । अवैकार्थं इति किम् ? पचति देवदत्तः । अत्र तस्य शतृशानाविति योगविभागः कर्तव्यः । “न वा साकाङ्क्षे” [२।२।१४] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या नवाग्रहणं चाभिसम्बन्धनीयम् । ततो नेत्यनेन इतिशब्दयोगे प्रतिषेध एव भवति । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन इत्रादिभिर्योगे द्यौ भिन्नाधिकरणेषु च ह्रस्व नित्यो विधिः । कुर्वती भक्तिः । कुर्वद्भक्तिः । कौर्वदत्तः । पाचमानः । भक्तिशब्दः प्रियादौ पठ्यते । तेन ‘पुंवग्रजातीयदेशीये’ [४।३।१२४] इति पुंवद्भावः । समानाधिकरणेषु ह्रस्व विकल्पः । कुर्वत्तरः । कुर्वद्भूः । कुर्वारूपः । करोतितराम् । करोतिरूपम् । तस्मात् द्युत्ययोरुपसंख्यानं न कर्तव्यम् । पुनरवैकार्थं इति द्वितीयो योगः । अत्रापि नवेत्यधिकारात् कचिद्वान्तेन सामानाधिकरण्येऽपि शतृशानौ भवतः । सन् घटः । अस्ति घटः । विद्यमानो घटः । विद्यते घटः । जुह्वन् जुहोति वा देवदत्तः । अधीयानो मुनिः । अधीते मुनिः । व्यवस्थितविभाषाबलात् माड्याक्रोशे लुङपि । मा पचन् । मा पचमानः । मा पात्रीत् ।

संबोधने ॥२।२।१०३॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । तद्विषये लटः शतृशानौ भवतः वैकार्थत्वे । नित्यार्थमिदम् । हे पचमान । उभयोर्द्यौत्यं सम्बोधनमिति वाविभक्तयपि भवति ।

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ॥२।२।१०४॥ लक्षणं ज्ञापकं चिह्नम् । हेतुर्जनकः । लक्षणं च या क्रिया क्रियाया हेतुश्च या क्रिया तत्र वर्तमानाद्बोः परस्य लटः शतृशानौ भवतः । शयाना भुञ्जते यवनाः । तिष्ठन्तोऽनुशासति गणकाः । व्यभिचार्यपि लक्षणं दृश्यते यथा यत्रासौ काकस्तद्देवदत्तग्रहमिति । अन्यथेद्वै स्यात् शयाना वर्द्धते दूर्वा । आसीनं वर्द्धते विसम् । हेतौ । अधीयान आस्ते । अर्जयन् वसति । नवेत्यनुवृत्तेरिह न भवति । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । लक्षणहेत्वोरिति किम् ? यो वेपते सोऽश्वत्थः । शङ्कुलवते तल्लघु । द्रव्यस्य गुणस्य च लक्षणे न भवतः । इह शास्त्रे अन्यत्र हेतुग्रहणे कारकग्रहणमिति लक्षणग्रहणे च ज्ञापकग्रहणमिति अन्यतरनिर्देशोभयप्रतिपत्तेर्द्वयोरुपादानं द्वन्द्वेषु अल्पात्तरमिति पूर्वनिपातव्यभिचारार्थं [च] ।

तौ सत् ॥२।२।१०५॥ तौ शतृशानौ सत्संज्ञौ भवतः । शतृशानयोः प्रकृतत्वात् तौग्रहणं शतृशानरूपपरिग्रहार्थम् । तेन लृडादेशयोरपि सत्संज्ञा सिद्धा । देवदत्तस्य कुर्वन् करिष्यन् । “डङ्ग्रहण” [१।३।७२] इत्यादिना तासप्रतिषेधः ।

पूङ्ग्यजोः शानः ॥२।२।१०६॥ सम्प्रतीति वर्तते । पूङ्ग्यज् इत्येतान्यां शानस्त्यो भवति । अत्रादेशोऽयं कर्तव्येव भवति । ममाग्न्योऽपि धुभ्यो विधास्यते । सोमं पवमानः । यजमानः । “न स्मिन्” [१।३।७२] आदिष्वे शतृ इत्यतः प्रभृति आ तृनो नकारात् तुभ्रिति प्रत्याहार उक्तः । तेन कर्मणि ताप्रतिषेधः ।

वयःशक्तिशीले ॥२।२।१०७॥ वयस् शक्ति शील इत्येतेषु गम्यमानेषु धोः शानो भवति । शरीरावस्था वयः । कतीह शिखण्डं वहमानाः । कतीह कवचं पर्यस्यमानाः । शक्तिः सामर्थ्यम् । कतीह भटं निघ्नानाः । कतीह भुञ्जानाः । शीलं गुणान्तरद्वेषः । कतीह मण्डयमानाः । कतीह मण्डयमानाः ।

धारीढः शत्रुकृच्छिणि ॥२।२।१०८॥ अकृच्छ्रमनायाधो यस्यास्ति सोऽकृच्छी । धारि इह इत्येताभ्यां शत्रुत्यो भवति अकृच्छिणि कर्तरि । धारयन् धर्मशालम् । अधीयन् जैनेन्द्रम् । अकृच्छिणीति किम् ? कृच्छ्रेण धारयति । कृच्छ्रेणाधीते ।

द्विषोऽरौ ॥२।२।१०९॥ द्विषः शत्रुत्यो भवत्यरौ कर्तरि । चौरस्य द्विषन् । चौरं द्विषन् । “द्विषः शत्रुर्वा वचनम्” [वा०] इति कर्मणि वा ता । अराविति किम् । द्वेष्टि पतिं भार्या । असमा एते त्या लटं न बाधन्ते ।

सुजो यज्ञसंयोगे ॥२।२।११०॥ संयुज्यते इति संयोगः संयुक्त इत्यर्थः । सुनोतेर्यज्ञसंयोगे कर्तरि शत्रुत्यो भवति । सर्वे सुन्वन्तः । यज्ञस्वामिन इत्यर्थः । यज्ञसंयोग इति किम् ? सुनोति सुराम् ।

प्रशंसेऽर्हः ॥२।२।१११॥ अर्हतेः प्रशंसेऽर्थे शत्रुत्यो भवति । अर्हन्निह भवान् पूजाम् । अर्हन्निह भवान् विद्याम् । प्रशंस इति किम् ? अर्हति चोरो वधम् ।

आक्तेः शोलधर्मसाधुत्वे ॥२।२।११२॥ आढभिविधौ द्रष्टव्यः । वक्ष्यति प्रावस्तुवः किप् । आ एतस्मात् किप्संशब्दानात् यानित ऊर्ध्वं वक्ष्यामः शीलधर्मसाधुत्वेषु वेदितव्याः । शीलं व्याख्यातम् । धर्म आचारः । धर्मस्य साधु करणं साधुत्वम् ।

तृन् ॥२।२।११३॥ तृन्नित्यं त्यो भवति सर्वधुम्यः शीलादिषु । शीले—कर्ता कटान् । वदिता जनाप-वादान् । धर्मे—मण्डयितारः आविष्टायना भवन्ति । वधूमूढाम् अन्नमपहर्तार आह्वरका भवन्ति आर्द्धे सिद्धे । साधुत्वे । कर्ता कटम् । गन्ताऽखेटम् । गमेरकञ् वक्ष्यते । अधिकारात्तृन् भवति ।

अलङ्कृन्निराकृन्नप्रज्जनोत्पत्तोन्मदरुच्य-पत्रपवृत्तवृध्सहचर इष्णुः ॥२।२।११४॥ अलङ्कृतित्वेवमादिभ्य इष्णुर्भवति शीलादिषु । अलङ्कृतिष्णुः । मण्डनार्थे पूर्वविप्रतिषेधेन युक्तोऽयं बाधकः । निराकरिष्णुः । प्रज्जनिष्णुः । उत्पत्तिष्णुः । उत्पत्तिष्णुः । उन्मदिष्णुः । रोचिष्णुः । अपत्रपिष्णुः । वर्तिष्णुः । सहिष्णुः । चरिष्णुः ।

ग्लाम्भूजिस्थः क्स्तुः ॥२।२।११५॥ ग्लाम् भू जि स्था इत्येतेभ्यो धुम्यः क्स्तुर्भवति शीलादिषु । ग्लालुः । भूष्णुः । जिष्णुः । स्थास्तुः । “क्स्तोर्गित्वाञ्च स्थ ईकारः किङ्त्तोरीत्वस्य शासनात् । एवभाव-क्षिप् स्मार्थः श्रुकोऽनित्त्वङ्कोरितोः ॥”

त्रसिगृध्रिधृषिन्निपः क्तुः ॥२।२।११६॥ त्रसि गृधि धृषि निप इत्येतेभ्यः क्तुर्भवति शीलादिषु । त्रस्तुः । गृध् । धृष्णुः । निप् । ध्युङ् । एप्रतिषेधार्थं किकरणमिदं ज्ञापकं त्यादिहलपेक्षया रुसंज्ञायामपि “ह्युङ्” [१।१।८३] एन्भवतीति । वेत्ता । बोद्धा ।

शमित्यामदेर्धिणिन् ॥२।२।११७॥ इति आद्यर्थे आढभिविधौ । शमादिभ्य आ मदेर्धिणिण् भवति । अष्टौ च शमादयः—शमी । तमी । दमी । शमी । अमी । क्षमी । क्लमी । प्रमादी । उन्मादी । “उङोऽस्तः” [१।२।१३] इत्येष्यास्तः “न सेटस्तासि मोऽवमिकमिचमः” [१।२।३३] इति प्रतिषिद्धः । मदेस्तु भवति । घकारः उत्तरत्र कुकार्थः । इकारः उच्चारणार्थः । अन्ये उकारमितं कुर्वन्ति तेषामिह शमिनितरा इति “उगितश्च” [४।३।१५७] इति वा प्रादेशः प्राप्नोति । आमदेरिति किम् ? यस्मिन् ।

दुहानुरुधदुषद्विषद्रुहयुजत्यजरजभुजाभ्याहनः ॥२।२।११८॥ दुहादिभ्यो धिनिष् भवति शीलादिषु । दोही । अनुरोधी । दोषी । द्वेषी । द्रोही । योगी । त्यागी । रज इति सूत्रे निपातनाजसम् । रागी । भोगी । अभ्याधाती । अकर्मकाणामिति वक्तव्यमिह मा भत् । गां दोग्धा । शत्रूनभ्याहन्ता ।

परेः सुदेविक्षिपरटवदहमुहः ॥२।२।११६॥ परिपूर्वैभ्यः सुप्रभृतिभ्यो धुभ्यः घिनिष् भवति । परिसारी । देव देवन इत्यस्य परिदेवी । क्षिपेरविशेषेण ग्रहणम् । परिक्षेपी । परिपाटी । परिवादी । परिदाही । परिमोही ।

वौ कषचिचलसकत्थस्त्रम्भः ॥२।२।१२०॥ विपूर्वैभ्यः कषादिभ्यो धुभ्यो घिनिष् भवति । विक्षापी । विलापी । विकृथी । विलम्भी ।

अपे च लषः ॥२।२।१२१॥ अपे च वौ वाचि लपेर्घिनिष् भवति । अपलापी । विलापी ।

चरेः ॥२।२।१२२॥ अप इति वर्तते । अपपूर्वाचरेः घिनिष् भवति । अपचारी ।

अतेः ॥२।२।१२३॥ अतिपूर्वाचरेर्घिनिष् भवति । अतिचारी ।

समि पृचिसृजिज्वरः ॥२।२।१२४॥ सम्पूर्वैभ्यः पृचि सृजि ज्वरि इत्येतेभ्यो घिनिष् भवति । सम्पर्की । संसर्गी । संज्वरी । अकर्मकाणामित्येव । संपृणक्ति साकम् ।

आङि यमियसिक्रीडिमुषः ॥२।२।१२५॥ आङ् पूर्वैभ्यः यमि यसि क्रीडि मुषि इत्येतेभ्यो घिनिष् भवति । आयासी । तासाव'निङ्भावदै'प्रतिषेधो न भवति । आयासी । आक्रोडी । आमोषी ।

प्रे लपसृद्रु मथवदवसः ॥२।२।१२६॥ प्रशब्दे वाचि लप सृद्रु मथ वद वस इत्येतेभ्यो घिनिष् भवति । प्रलापी । प्रसारी । प्रद्रावी । प्रमाथी । प्रवादी । वसेरनुच्चि'करणस्य प्रवासी ।

निन्दहिंसकिलशखादविनाशव्याभाषासूयो बुञ् ॥२।२।१२७॥ निन्दादिभ्यो बुञ् भवति शीलादिषु । निन्दकः । हिंसकः । किलशोरविशेषेण ग्रहणे युचोऽपि बाधा । क्लेशकः । खादकः । विनाशोर्यन्तस्य विनाशकः । अस्य इति कण्ठ्वादिर्यगन्तः । अस्यकः । एबुना सिद्धे बुञ्ग्रहणं ज्ञापकमन्येभ्यः शीलादिषु एव्यादयो न भवन्तीति ।

परौ वादिक्षिपरटः ॥२।२।१२८॥ परिपूर्वैभ्यः वादि क्षिप रट् इत्येतेभ्यो बुञ् भवति । परिवादकः । परिक्षेपकः । परिराटकः ।

देचिकुशो गौ ॥२।२।१२९॥ देवि कुश इत्येताभ्यां गौ वाचि बुञ् भवति । देवीति देवतेर्यन्तस्य । परिदेवकः । आदेवकः । परिक्रोशकः । आक्रोशकः । गाविति किम् ? देवयिता ।

रुचलार्थाद्धेर्युच् ॥२।२।१३०॥ रौत्यर्थेभ्यश्चलत्यर्थेभ्यश्च धिसंज्ञकेभ्यो युञ् भवति । रवणः । शब्दनः । कथनः । चलत्यर्थेभ्यः-चलनः । चोपनः । कम्पनः । धेरिति किम् ? पठिता शास्त्रम् ।

अनुदात्ते तोऽयसूददीपदीक्षो हलादेः ॥२।२।१३१॥ अनुदात्तेतो हलादेशोयुञ्भवति यकारान्त-सूद-दीप दीक्ष इत्येतान्वर्जयित्वा । द्योतनः । रोटनः । अनुदात्तेत इति किम् ? यथा । अयसूददीपदीक्ष इति किम् ? कथिता । क्षमायिता । सूदेः सकर्मकस्यापि सूदिता । कथं मयुसूदनः । नन्यादिपाठाण्युः । दीपिता । दीपेर्विशेषेण रो विभास्यते युचः प्राप्तिर्नास्ति । इदं प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं शीलादिषु असमविधिर्न भवतीत्यनित्यमेतत् । तेन कम्पनः । कम्पः । कम्पनः । कम्पः । विकृत्य विकृत्यनः इति च भवति । दीक्षिता । हलादेरिति किम् ? एधते इत्येवं शील एधिता । आदिग्रहणं किम् ? हला तदन्तविधिर्मा भूत् । इह न स्यात् । जुगुप्सनः । मीमासनः । धेरेव । वसिता वल्लम् ।

सृजुज्वलगृधशुचलषपतपदः ॥२।२।१३२॥ सृप्रभृतिभ्यो युञ्भवति । शरणः । ज्वनः । ज्वलनः । गद्गर्नः । शोचनः । लषणः । पतनः । पदनः । चत्यर्थानां पदेश्च ग्रहणं सकर्मकार्थम् । पदिग्रहणं

ज्ञानार्थमित्यन्ये । शीलादिकेषु चासमविधिर्न भवतीति । पदेकज्ञा विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य युचो वाधि-
तत्वात् पुनरनेन प्रत्यापत्तिः ।

कुधमण्डार्थात् ॥२।२।१३३॥ कुध्यर्थेभ्यो मण्डार्थेभ्यश्च धुभ्यो युज्भवति । क्रोधनः । कोपनः ।
रोषणः । मण्डार्थेभ्यः-मण्डनः । रचनः । भूषणः ।

कमिद्रमो यङः ॥२।२।१३४॥ कमिद्रमिभ्यां यङन्ताभ्यां युज्भवति । चङ्क्रमणः । दन्द्रमणः ।

यजिज्जपिबद्दशामूकः ॥२।२।१३५॥ यङ् इति वर्तते । यज्यादिभ्यो यङन्तेभ्यः ऊको भवति ।
यायजूकः । जञ्जपूकः । वावजूकः । दन्दशूकः । जपिदंशिभ्यां “लुपसदचरजपजभद्दहृदशो गह्”
[२।१।२९] इति यङ् । “जपजभद्दहृदशमञ्जपशाम्” [२।२।१८४] इति चस्य नुमागमः ।

जागुः ॥२।२।१३६॥ जागुरूको भवति । जागरूकः ।

लषपतपदस्थाभूवृषहनशृकमगम उकञ् ॥२।२।१३७॥ लषादिभ्यः उकञ् भवति । अपलाधुकं
नीचसङ्गतम् । “अपे च लषः” [२।२।१२९] इति वचनात् ध्वनिणपि भवति । प्रपातुका गर्भाः । उपपादुकाः
देवाः । उपस्थायुको गुरुन् । प्रभावुकः । प्रवर्षुकः । आघातुकः । शृणोतेः शासकः । कामुका वन्यस्य स्त्रियो
भवन्ति । “न स्मित” [१।४।७२] इत्यादिना कर्मणि तायाः प्रतिषेधे प्राप्ते उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेधे इत्यु-
क्तम् । आगामुकः स्वगृहम् ।

जल्पाभिक्तकुट्टलुण्टवृडष्टाकः ॥२।२।१३८॥ जल्पादिभ्यो धुम्यष्टाको भवति । जल्पाकः । जल्पाक्षी ।
अकर्मकविवक्षायां “रुचलार्थाद्देयुच्” [२।२।१३०] इति युच् प्राप्तः । भिक्ताकः । अनुदात्तेतो युच् प्राप्तः ।
कुट्टाकः । लुण्टाकः । बराकः ।

प्रे सृजोरिन् ॥२।२।१३९॥ प्रपूर्वाभ्यां सृजुभ्यां इन् भवति । प्रसवी । प्रजवी ।

परिभूजिद्विचित्रीण्वमव्यथाभ्यमः ॥२।२।१४०॥ इन्निति वर्तते । परिभू जि द् वि विश्रो इण
वम अव्यथ अभ्यम इत्येतेभ्य इन् भवति । परिभावी । जयी । आदरी । क्षयी । विश्रयी । अत्ययी । वमी ।
अव्यथी । अभ्यमी ।

सृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुः ॥२।२।१४१॥ सृहिप्रभृतिभ्यो धुभ्यः आलुर्भवति ।
सृहयालुः । गृहयालुः । पतयालुः । एते तुरादिष्वदन्ताः । दयालुः । निद्रालुः । तन्द्रालुः । तन्निति निपातनमालु-
विषये भवति । श्रद्धालुः । इह शीघ्रो ग्रहणं कर्तव्यम् । शयालुः ।

दाधेद्रसिशदसदो रुः ॥२।२।१४२॥ दा धेट् सि शद सद इत्येभ्यो रुर्भवति । दा इत्यविशेषेण
ग्रहणम् । दाहः । धाहः वत्सो मातरम् । “न स्मित” [१।४।७२] इत्यत्र उकारप्रश्लेषात् तदन्तविधिना तायाः
प्रतिषेधः । सेहः । शद्रुः । सद्रुः । यत्वात्मकर्मणि घतेर्दाह काष्ठं तदुणादिषु द्रष्टव्यम् ।

सृघस्थदः क्मरः ॥२।२।१४३॥ सृ घसि अद् इत्येतेभ्यः क्मरो भवति । सृमरः । घस्रमरः ।
अद्मरः । अनेनैवादेः घस्भावो निपात्यते ।

भञ्जभासमिदो घुरः ॥२।२।१४४॥ भञ्जादिभ्यो घुरो भवति । भञ्जेरात्मकर्मण्यभिधानम् । भङ्गुरं
काष्ठम् । भासुरं ज्योतिः । मेदुरं सुखम् ।

विङ्गिच्छिदः कुरः ॥२।२।१४५॥ विद् मिद् छिद् इत्येतेभ्यः कुरो भवति । विदुरः इति ज्ञानार्थस्यैव ।
भिच्छिदोरात्मकर्मणि कुर इष्यते । मिदुरं काष्ठम् । छिदुरा रज्जुः ।

सृजीण्णशः करप् ॥२।२।१४६॥ सृ जि इण् नश् इत्येतेभ्यः करप् भवति । सूत्वरः । जित्वरः ।
इत्वरः । नश्वरः । नश्वरी ।

गतवरः ॥२।२।१४७॥ गलर इति निपात्यते गमेः करप, मकारस्य खं निपात्यते । गलरः । गलरी ।

नमिकम्पिस्म्यजस्कमहिंसदीपो रः ॥२।२।१४८॥ नमि कम्पि स्मि अजस्र कम हिंस दीप इत्ये-
तेभ्यो रो भवति । नमेरात्मकर्मण्यपि । नम्रं काष्ठम् । नम्रो देवदत्तः । कम्पा शाखा । स्मेरं मुखम् । जस्यतेर्नञ्-
पूर्वात् अजस्रं ज्ञानं भावयामः । कम्पा युवतिः । हिंसः पापमेति । दीपो मणिः । कम्पेश्च ग्यर्थत्वात्
कमदीप्योरनुदात्तेलादयुच् प्रातः ।

सनाशंसभिन्न उः ॥२।२।१४९॥ सन्नन्त आशंस भिन्न इत्येतेभ्य उत्यो भवति । चिकीर्षुः । आङः
शसि इच्छायामित्यस्य आशंसुः । भिन्नुः ।

विन्द्विच्छ २।२।१५०॥ विन्दु इच्छु इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । वेत्तेरुकारः नुमागमश्च निपात्यते ।
विन्दुः । इच्छतीत्येवंशील इच्छुः । उश्छत्वं च निपात्यते ।

स्वपितृषोर्नजिङ् ॥२।२।१५१॥ स्वपितृषिभ्यां नजिङ् भवति शीलादिषु । स्वमक् । स्वमजौ ।
तृष्णक् । तृष्णजौ ।

शृवन्द्योराहः ॥२।२।१५२॥ शृ वन्दि इत्येताभ्यामाह इत्ययं त्यो भवति । शराहः । वन्दाहः
जिनान् ।

भियः क्रुक्लुकौ ॥२।२।१५३॥ भिमेतेः क्रु क्रुक इत्येतौ भवतः । भीरुः । भीलुकः । क्रुकोऽपि
वक्तव्यः । भीरुकः ।

स्थेशभासपिसकसो वरः ॥२।२।१५४॥ स्था ईश भास पिस कस इत्येतेभ्यो वरो भवति ।
स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेश्वरः । कस्वरः ।

यो यङः ॥२।२।१५५॥ यातेयङन्ताद्वरो भवति । यायावरः । वरे अतः खम्, तस्य यखविधिं प्रति न
स्थानिवद्भाव इति “वलि व्योः खम्” [४।३।१५] इति यखम् । यखे कृते अतः खस्य स्थानिवद्भावात् “इटि
चात्खम्” [४।४।६३] इति आत्वं प्रातम् । वरे पूर्वादेशस्य न स्थानिवद्भाव इति न भवति । “शीलादि-
प्रकरणे धाक्कृत्यजननिभ्य इर्लिट् वक्तव्यः” [वा०] धानशीलो दधिः । करणशीलः चक्रिः । सरणशीलः
सखिः । जननशीलः जजिः । नमनशीलः नेमिः । “हल्मध्ये लिट्यतः” इति एत्वचले ।

ग्रावस्तुवः किप् ॥२।२।१५६॥ ग्रावपूर्वात् स्तौतेः किप् भवति शीलादिषु । ग्रावाणं स्तौतीत्येवंशीलः
ग्रावस्तुत् । शीलादिषु वाऽसमविधिर्नास्तीति सामान्यलक्षणः किप् न प्राप्नोति पुनर्विधीयते ।

अन्येभ्योऽपि ॥२।२।१५७॥ अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिषु किब् भवति । अपिग्रहणं
विकल्पार्थम् । अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिष्वपि भवत्यशीलादिष्वपि तत्रामिधानवशात् । भ्राजभासधुर्विद्युतेर्जि-
पृजुभ्यः शीलादिषु किब् भवति । अन्येभ्योऽन्यत्र । विभ्राजनशीले विभ्राट् । विभ्राजौ । भाः । भासौ ।
धूर्वणाशीलः धूः । धूरो । विद्युत् । विद्युतौ । ऊर्क् । ऊर्जौ । पूः । पुरौ । जूः । जुवौ । जुवः । “क्विपिचिप्र-
च्छायतस्तुकटप्रुजुश्रीणा दीरजिश्च” [वा०] इति दीलम् । अन्येभ्योऽशीलादिषु । पक् । पचौ । भित् ।
भिदौ । छित् । छिदौ । वाक् । प्रच्छेः प्राट् । आयतस्तुः । कट्प्रुः ।

भुवः ख्वन्तरे ॥२।२।१५८॥ भवतेः किब् भवति खावन्तरे च गम्यमाने । मित्रभूः । मित्रभुवौ ।
मित्रभुवः । अन्तरैः । प्रतिभूः । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । पूर्वैश्चैव सिद्धे नियमार्थमेतत् ख्वन्तरयोरेव भुवः शीला-
दिषु नान्यत्र । भविता । भावुकः ।

विप्रसमोऽखौ डुः ॥२।२।१५९॥ शीलादिष्विति निवृत्तम् । सम्प्रतीत्यनुवर्तते एव । विप्रसंपूर्वाद्धो-

भुवो दुर्भवत्यखौ । विसुः । प्रसुः । शम्भुः । अखाविति किम् ? विभुर्नाम कश्चित् । “हुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीनामुपसंख्यानम्” [वा०] मितं द्रवति मितद्रुः । शम्भुः ।

दाघ्नीशसयुजस्तुतदसिचमिहपतदशनहः करणे ऋट् ॥२।२।१६०॥ दाप् लवन इत्येवमादिभ्यः करणे कारके ऋट् भवति । दान्ति तेन दात्रम् । नेत्रम् । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेद्रम् । पत्रम् । दंष्ट्रा । अजादिषु पाठाष्टाप् । नष्ट्री । दंशेः कृतनखस्य निर्देशो शापकः कचिदन्यत्रापि नखम् । दशनः ।

धात्रपोत्रे ॥२।२।१६१॥ धात्र पोत्र इत्येते शब्दरूपे निपात्येते । घेटः कर्मणि ऋट् निपात्यते । धयन्ति तामिति धात्री । पोत्रमिति पुनातेः पवतेर्वा करणे ऋट् निपात्यते । हलस्य सूकरस्य वा मुखं चेद्भवति हलस्य पोत्रम् । सूकरस्य पोत्रम् ।

लघूसूखनर्तिसहचर इत्रः ॥२।२।१६२॥ करण इति वर्तते । त्वादभ्यो धुभ्यः करणे इत्रो भवति । लुनाति तेन लवित्रम् । धुवति तेन धवित्रम् । सुवति तेन सवित्रम् । खनित्रम् । अरित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ।

पुवः खौ ॥२।२।१६३॥ करण इति वर्तते । पवतेः पुनातेर्वा करणे इत्रो भवति खुविष्ये । पूयतेऽनेन पवित्रम् । पवित्रा नाम नदी ।

कर्तरि चर्षिदेवतयोः ॥२।२।१६४॥ पुव इत्रो भवति कर्तरि करणे च कारके ऋषिदेवतयोरभिधेययोः । मित्रयोगनिर्दिष्टत्वाद्यथासंख्यं न भवति । पूयतेऽनेन पुनाति वा पवित्रोऽयमृषिः । देवतायां पवित्रोऽईन् स मां पुनातु ।

जीतः क्लः ॥२।२।१६५॥ संप्रतीति वर्तते । जिशब्देतो धोः संप्रति क्लो भवति । जिमिदा मिन्नः । जिघृषा । घृष्टः । जिघ्रिवा । ज्विगणः ।

मतिबुद्धिपूजार्थाच्च ॥२।२।१६६॥ मतिरनुमतिः । बुद्धिर्ज्ञानम् । पूजा अर्चा । मत्यर्थेभ्यो बुद्धयर्थेभ्यः पूजार्थेभ्यश्च धुभ्यः संप्रति क्लो भवति । राज्ञां मतः । राज्ञामिष्टः । राज्ञां बुद्धः । राज्ञां ज्ञातः । राज्ञां पूजितः । राज्ञामर्चितः । क्लयोगे कर्तरि ता प्राप्ता “न क्लित” [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन पुनर्विधीयते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः ।

शीकृतो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि । रुष्टश्च रुषितश्चोभौ अभिव्याहृत इत्यपि ॥

हृष्टतुष्टौ तथा कान्तः दयितोऽन्यः संयतोद्यतौ । कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृताः पूर्वकस्मृताः ॥

अमृतशब्दः संप्रति बहुत्वनिर्देशात् । सुप्तः शयितः स्थितः आशित इत्येवमादयोऽपि संप्रति बोद्धव्याः ।

उणादयो बहुलम् ॥२।२।१६७॥ “पुवः खौ” [२।२।१६३] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या खाविति वर्तते । उण् इत्येवमादयस्त्याः संप्रति ध्वयं बहुलं भवन्ति । खुविष्ये कचिच्यसंज्ञा भवति । “कुवापाजिमिस्वदि-साध्यशून्य उण् ।” कादः । वायुः । पायुः । नायुः । मायुः । स्वादुः । साधुः । आशुः । कचिच्यसंज्ञा न भवति । कधूभ्यां कसरः । कुसरः । धूसरः । त्यसंज्ञाविरहात् “त्यादेशयोः” [२।४।३६] इति षत्वं न भवति । इह च शङ्खः शण्ड इण् न भवति । कचिदुभयथा । “वृत्तवदिह्निकमिकाषिभ्यः सः ।” वर्सम् । तर्सम् । एपम्यति त्यसंज्ञा षत्वं प्रति नास्ति । इह च षण्ड इति प्रकृतिकार्यं ध्वादिसत्त्वं न भवति उक्तं च-

“क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥”

तथा अनुक्ताभ्योऽपि प्रकृतिभ्यस्तथा भवन्ति । अरुडः । जूकसुवृङ्गः—जरुडः । करुडः । सरुडः । वरुडः । अरुडि ईतैरपीष्यते । एरुडः । अनुक्ता अपि त्या भवन्ति अरुडिः अरुडः इत्येवमादिषु । तथा सप्रतिकाले उपादयो विहिताः क्वचिद्भूतेऽपि दृश्यन्ते । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तिः । भसितं भस्म । चरितं चर्म । वृत्तं तदिति वर्त्म । तदुक्तं “बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादाप तेषाम् । कार्यसशेषावधेश्व तदुक्तं नैगमरूढमवं हि सुसाधु ॥” जाल्यपेक्षयैकवं तनुदृष्टेरिति प्यवे कमपि का । तनुदृष्ट वीक्ष्य तनुदृष्टः प्रकृतेस्तनुर्गुणस्य दर्शनादित्यर्थः । तदबाहुलकमुक्तम् । एवं हि नैगमाः गौरित्येवमादयः रुढिभावाः पलाश इत्येवमादयः शब्दा सुसाधवो भवन्ति ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

गम्यादिर्वर्त्स्यति ॥२।३।१॥ उपादयो अन्यत्र च ये साधिता गम्यादयः शब्दास्ते च वर्त्स्यति काले साधवो भवन्ति । वर्त्स्यतीत्यनागतस्य कालस्य सामान्येन ग्रहणम् । संप्रत्यादिकाले तेषां साधुत्वव्यवच्छेदार्थं आरम्भः । गमिष्यति गमी ग्रामम् । आगमिष्यति आगमी नगरम् । “आधमण्यं चेनः” ; [१।३।७७] इति कणाईर्म्मपि तायाः प्रतिषेधात् “कम्म” [१।३।२] इतीवेव भवति । एवं भविष्यति भावी । प्रस्थास्यते प्रस्थायी । प्रतिभोत्स्यते प्रतिबोधी । प्रतियोक्ष्यते प्रतियोगी । प्रयास्यति प्रयायी । “गमेरिन्” इति इन् । स एव “आङ्गिण्” इति णिन् । “भुवश्च” इति भवतेरपि णिन् । अन्येभ्यः “सुपि शीलेऽज्ञातौ णिन्” [२।२।६६] इति णिन् । कथं श्वो गमी ग्रामम् । “अनद्यतने लुङ्” इति लुङ्प्रतिः ? तदसत् । यतो वर्त्स्यतीत्यनेन सामान्यशब्देनानद्यतनविशेषोऽप्यत्र गृहीतो यथा गौरित्यनेन खरुडमुण्डोऽपि । अतो वर्त्स्यतीत्यविशेषेण वृत्तावप्यर्थकरणादेर्विशेषप्रतिपत्तिः । अथवा “अनद्यतने लुट्” [२।३।१४] इत्यत्र “गम्यादिर्वर्त्स्यति” इत्येतदनुवर्तिष्यते । तेनानद्यतनविषयेऽपि गम्यादयः सिद्धा भवन्ति । असमाद्धा अनद्यतने भवन्ति । लुङ्लुट्यवपि भवतो गमिष्यति गन्तेति ।

पुरायावतोर्लट् ॥२।३।२॥ पुरा च यावच्च पुरायावतौ । तयोः पुराया-च्छब्दयोर्वाचोर्वर्त्स्यति धोर्लट् भवति । पुरा भुङ्क्ते । पुराधीते । यावद्भुङ्क्ते । यावदधीते । भविष्यदनद्यतने लुटोऽयमपवादो लट् । लुङ्पि लुङ्पवादः, तत्रापवादयोः स्पष्टं परत्वाल्लुट् प्रातः पूर्वनिर्णयेन लङ् भवति । श्वः पुराऽधीते । श्वो यावदधीते । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं न तु लक्षणिकस्येत्यभिधानात् । तेनेह न भवति । यावद्दास्यति तावद्भोक्ष्यते । महत्या पुरा जेष्यति ।

वा कदाकह्योः ॥२।३।३॥ कदा कर्हि इत्येतयोर्वाचोर्वर्त्स्यति धोर्वा लङ् भवति । कदा भुङ्क्ते । कदा भोक्ष्यते । कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते । कर्हि भोक्ता ।

किंवृत्ते लिप्सायाम् ॥२।३।४॥ किमो वर्तनं किंवृत्तं तस्मिन् वाचि लिप्सायां गम्यमानायां वर्त्स्यति वा लङ् भवति । लुटि लृटि च प्राते अयमारम्भः । लब्धुमिच्छा लिप्सा प्रार्थनाभिलाषः । को भवद्भ्यो भिक्षां ददाति । को भवद्भ्यो भिक्षां दास्यति । को भवद्भ्यो भिक्षां दाता । इह कस्मान्न भवति । कदा भोजयिष्यसि भोजयितासि वा । किमो हि विभक्त्यन्तस्य डतरडतमान्तस्य च वर्तनं किंवृत्तमिति वैयाकरणानामभिप्रायः । तच्चेह नास्ति ततोऽत्र लटोऽभावात् लुङ्लुट्यवेव भवतः । लिप्सायामिति किम् ? कः पाठलिपुत्रं यास्यति ?

लिप्स्यसिद्धौ ॥२।३।१॥ वत्स्यतीत्यनुवर्तते । लिप्सति हि लिप्स्यो दाता ओदनादिश्च । तत्र दातरि तासः । लिप्स्यस्य सिद्धिः लिप्स्यसिद्धिः । याचकेन हि यो लिप्स्यते दाता तस्य सिद्धौ स्वर्गादिफलप्राप्तौ । ओदनादौ तु भासः । याचकेन हि यो लिप्स्यते ओदनादिना करणभूतेन सिद्धिः दातुः स्वर्गादिफलप्राप्तिः तस्यां गम्यमानायां वत्स्यति वा लङ् भवति । यो भवद्भयो भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गलोकं गच्छति गमिष्यति गन्ता वा । दानादातुः स्वर्गसिद्धिं ब्रुवाणो दातारमेवमुत्साहयति । ननु चात्र उभयत्रापि लिप्साया गम्यमानत्वात् “किंवृत्ते लिप्सायाम्” [२।३।४] इत्येव लङ्विकल्पसिद्धेर्व्यर्थोऽयमारम्भः । न व्यर्थोऽकिंवृत्तार्थत्वादेतदशरम्भस्य । पूर्वेषु हि किंवृत्ते वाचि लङ्विकल्पो विहितः ।

लोडर्थलक्षणम् ॥२।३।६॥ वत्स्यतीति वेति च वर्तते । लोडर्थः प्रेषादिः, स लक्ष्यतेऽनेन लोडर्थ-लक्षणम्, तस्मिन् लोडर्थलक्षणे ध्वर्थे वर्तमानात् धोर्वत्स्यति वा लङ् भवति । उपाध्यायश्चेदागच्छति । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति । उपाध्यायश्चेदागन्ता । अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ गणितमधीष्व । अत्रोपाध्यायागमनेन प्रेषो लक्ष्यते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।७॥ वेति वर्तते । लोडर्थलक्षण इति । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः काल ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातनात्सविधिरुत्तरपदस्यैव । ऊर्ध्वमौहूर्तिके वत्स्यति काले लोडर्थलक्षणे वर्तमानाद्धोलिङ् भवति लङ् वा । ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत् उपाध्यायश्चेदागच्छति उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागन्ता अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ त्वं गणितमधीष्व ।

बुण्णुमौ क्रियायां तदर्थायाम् ॥२।३।८॥ वत्स्यतीत्येव वर्तते । यस्माद्धोस्त्योत्पत्तिः प्रार्थ्यते तद्वाच्य-क्रिया तच्छब्देनाभिप्रेता सा क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्या व्रजनादिक्रियायाः सा तदर्था, तस्यां वाचि वत्स्यति-काले बुण्णुमौ भवतः । कारको व्रजति । कर्तुं व्रजति । भोजको व्रजति । भोक्तुं व्रजति । क्रियायामिति किम् ? भिक्षुष्ये इत्यस्य जगः । अध्येष्ये इत्यस्य कमण्डलुः । द्रव्यमत्र तदर्थम् । तदर्थायामिति किम् ? धावतस्ते पति-ष्यति दण्डः । नात्र धावनं दण्डपतनार्थम् । ननु सामान्यविहितेन एवना सिद्धं किमर्थं बुण्णिवधीयते भिक्षुतो भावे भवन्तीति भिन्नविषयत्वात्तुमपि न बाधकः । क्रियायां तदर्थायां वाचि लृङ् वक्ष्यते स बाधकः स्यात् । वाऽसमविधिना एवुमविष्यतीति चेत् ; एवं तर्हि नियमार्थं बुण्णवचनम् । वत्स्यति क्रियायां तदर्थायां वाचि बुण्णेव यथा स्यात् तृजादयो मा भूवन् इति । कर्ता व्रजति विकिरो व्रजति इत्येवमादि न भवति ।

भाववाचिनः ॥२।३।९॥ भाववाचिनो घञादयस्ते वत्स्यति काले क्रियायां तदर्थायां वाचि भवन्ति । यद्यपि सामान्येन विहिता घञादयस्तथापि बुण्णग्रहणं ज्ञापकमुक्तम् सामान्यविहितास्तस्या वत्स्यति काले क्रियाया तदर्थायां न भवन्तीति तुमा च बल्येरन् । तेनायं यत्नः । पाकाय व्रजति । त्यागाय व्रजति । मतये व्रजति । पुष्टये व्रजति । “तुमर्थाद् भावे” [१।४।२५] इत्यप् । भाव इति विशेषणेन । वाचि ग्रहणं किमर्थम् ? यकाम्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन त्या विहितास्ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषणेन क्रियायां तदर्थायां वाचि यथा स्युरित्येवमर्थम् ।

कर्मणि चाण् ॥२।३।१०॥ कर्मणि वाचि तदर्थायां च क्रियायामण् भवति । पूर्वेषु बुण्णप्राप्तः । वाऽसमविधिश्च नास्तीत्युक्तम् । अण् न स्यात् तेनायमारम्भः । कुम्भकारो व्रजति । काण्डलावो व्रजति । वाचिग्रहणानुवृत्तेर्यथाविहितमण् भवति इति कर्मण्येव वाचि भविष्यति । कर्मग्रहणं किमर्थम् ? अपवादविषयेऽपि यथा स्यादित्येवमर्थम् । गोदायो व्रजति । तुषपायो व्रजति । क्रियायां तदर्थायामनुवर्तते । चकारः किमर्थः ? केवले कर्मणिः केवलायां च क्रियायां वाचि मा भूत् । प्रत्येकमीप निर्देशात् वाक्यः ।

लृट् ॥२।३।११॥ लृङ् भवति क्रियायां तदर्थायां वाचि । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । उदाहरणे इतिशब्दो हेतुहेतुमद्भावव्योतनार्थः ।

शेषे ॥२।३।१२॥ उक्तादन्यः शेषः; शुद्धं वर्त्यत् कालमात्रम्. शेषे वर्त्यति लृट् भवति । करिष्यति । हरिष्यति ।

विभाषा लृट्: सत् ॥२।३।१३॥ वर्त्यति लृट् तस्य स्थाने सत्संज्ञौ शतृशानौ विभाषया भवतः । पद्यन्तं पश्य । पद्यमाणं पश्य । पद्यता कृतम् । पद्यमाणेन कृतम् । हे पद्यन् । हे पद्यमाण । अर्जयिष्यन् वसति । अध्येष्यमाण आस्ते । देवदत्तः पद्यन् पद्यति वा पद्यमाणः पद्यते वा । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन इवादिभिर्योगे सम्बोधने लक्षणहेत्वोः क्रियायामित्यत्र नित्यो विधिः । वान्तैकार्थत्वे विकल्पः । इतिशब्दयोगे तु न भवति । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । लङ्ग्रहणं किम् ? त्यान्तरत्वं मा विज्ञायि ।

अनद्यतने लृट् ॥२।३।१४॥ वर्त्यतीति वर्तते । वर्त्यत्यनद्यतने ध्वर्थे वर्तमानाद्धोलुङ् भवति । श्वः कर्ता । श्वोऽध्येता । अनद्यतन इति वसनिर्देशादय श्वो भोक्षयामहे इत्यत्र न भवति । विभाषानुवर्तनात् परिदेवने लृट् विषयेऽपि लुङ् भवति । इयन्तु कदा गन्ता एवं निदधती पादौ । अयं तु कदाध्येता एवमनभियुक्तः ।

पदरुजविशस्पृशो घञ् ॥२।३।१५॥ पद रुज विश स्पृश इत्येतेभ्यो घञ् भवति । पद्यतेऽसौ पादः । यवतुचोरयमपवादो न पचाद्यचः “सुम्भिङन्तं पदम्” [१।२।१०३] इति पदनिर्देशात् । रुजत्यसौ रोगः । विशत्यसौ वेशः । इगुङ्लक्षणस्यापवादः । स्पृश उपतापेऽभिधातम् । स्पृशतीति स्पर्शो रोगः । उपतापादन्यत्र स्पृष्टा । स्पर्शकः ।

सु स्थिरे ॥२।३।१६॥ सतेः स्थिरे कर्तरि घञ् भवति । कालान्तरं सरतीति सारः । मधूकसारः । विभाषानुवर्तनात् स्थिरव्याधिमत्स्यबलेष्वभिधानम् । अतीसारो व्याधिः । विसारो मत्स्यः । सारो बलम् । एतेष्विति किम् ? सर्ता । सारकः ।

भावे ॥२।३।१७॥ भावे धोर्वञ् भवति । भाव इति क्रियासामान्यं ध्वर्थः । तद्यद्यपि पूर्वापरीभूतमपरिनिष्पन्नमलिङ्गसंख्यं प्रकृत्यैवोच्यते, तथापि यस्त्वस्यासिद्धताधर्मः स लिङ्गसंख्यावानिति तत्र घञादयः । पाकः । त्यागः । रागः ।

अकतरि ॥२।३।१८॥ कर्तुरन्यस्मिन् कारके घञ् भवति ।

“नङ्युक्तमिवयुक्तं वा यत्कार्थं संप्रतीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिन् लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा ॥”

प्राप्त्यन्ति तं प्राप्तः । प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः । आहरन्ति तस्मादाहारः । संज्ञायामसंज्ञायामपि दृश्यते । को भवता दायो दत्तः । को भवता लाभो लब्धः । कर्तव्यः कटः इत्येवमादिषु अनभिधानात् भवति ।

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥२।३।१९॥ आख्याग्रहणात्परिमाणमिह संख्यादिकं गृह्यते । परिमाणस्याख्यायां गम्यमानायां सर्वेभ्यो घञ् भवति । एकस्तृण्डुलनिचायः । एकस्तृण्डुलावचायः । द्वौ केदारलावौ । द्वौ बीजकारौ । “ध्वग्रहवृद्धगमोऽच्” [२।३।१२] इति अचि प्राप्ते इदम् । परिमाणाख्यायामिति किम् ? निश्चयः । सर्वग्रहणं बाधकबाधनार्थम् । एकस्तृणनिघासः । अन्यथा पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमेवाचं बाध्येत न व्यवहितम् । नौ एश्चेति णम् । घञि घस्तुभावः सिद्धः । इहाकर्तरीत्येवामिसंख्यते । स्त्रीलिङ्गे भावे घञमा भवेत् । एका तिलोच्छ्रितिः । द्वे श्रुती । सर्वग्रहणं बाधकबाधनार्थमुक्तं क्लिरपि बाध्येत ।

इङ् ॥२।३।२०॥ इत उत्तरं भावे अकर्तरीति च वर्तते । इङ्श्च धोर्वञ् भवति । अभीयते इत्यध्यायः । उपेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः । अपादाने यो घञ् तदन्ताद्वा जीर्वक्तव्यः । उपाध्यायी । उपा-

ध्याया । वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेनास्मिन्विषये क्तिमपि घञ् बाधते । “शृणातेर्वाथुवर्णयोर्घञ् वक्तव्यः” [वा०]
शारो वायुः । शारो वर्णः ।

गौ रवः ॥२।३।२१॥ गिसंज्ञे वाचि रौतेर्घञ् भवति । विरावः । संरावः । अचोऽपवादोऽयम् ।
गाविति किम् ? रवः ।

समि युद् दुवः ॥२।३।२२॥ संपूर्वेभ्यः यु ड् दु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । संयाव । संद्रावः । संदावः ।
समीति किम् ? यवः ।

यज्ञे स्तुवः ॥२।३।२३॥ समीति वर्तते । सम्पूर्वात् स्तौतेर्घञ् भवति यज्ञविषये । समेत्य स्तुवन्ति
अस्मिन्निति संस्तावः छन्दोगानम् । यज्ञ इति किम् ? सतां संस्तवः ।

अग्निमुवाऽगौ ॥२।३।२४॥ अग्निपूर्वेभ्यः श्री णी भू इत्येतेभ्यो घञ् भवति । आयः । नायः ।
भावः । अगाविति किम् ? प्रश्रयः । प्रभवः । कथं प्रभावो धर्मस्य । प्रकृष्टो भावः प्रभावः इति प्रादिसः ।
कथं षाड्गुण्यस्य यथावत्प्रयोगो यथावत्प्रयोगो नयः “पुंल्लौघः प्रायेण” [२।३।१००] इति करणे षो द्रष्टव्यः ।

नियोऽवोदोः ॥२।३।२५॥ अय उद् इत्येतयोर्वाचोर्नयतेर्घञ् भवति । अयनायः । उन्नायः ।
कथमुन्नयः । शब्दानां पूर्ववत्करणे षो विधेयः ।

निरभ्योः पूल्वोः ॥२।३।२६॥ निस् अभि इत्येवंपूर्वाभ्यां पू लू इत्येताभ्यां यथासंख्यं घञ्
भवति । पू इति सामान्येन ग्रहणम् । निष्पावः । अभिलावः । निरभ्योरिति किम् ? पवः । लवः ।

उन्न्योर्ग्रः ॥२।३।२७॥ उद नि इत्येवंपूर्वात् गृ इत्येतस्मात् घञ् भवति । गृ इति सामान्येन ग्रहणम् ।
उद्गारः । निगारः ।

कृ धान्ये ॥२।३।२८॥ उन्न्योरिति वर्तते । कृ इत्येतस्माद्वोरुदनिपूर्वात् घञ् भवति धान्यविषये ।
उत्कारो धान्यस्य । निकारो धान्यस्य । धान्य इति किम् ? पुष्पोत्करः । पुष्पनिकरः ।

प्रे द्रु स्तु श्रुवः ॥२।३।२९॥ प्रशब्दे वाचि ड् स्तु श्रु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । प्रद्रावः । प्रस्तावः ।
प्रश्रावः । प्र इति किम् ? द्रवः ।

स्तोऽयज्ञे ॥२।३।३०॥ प्र इति वर्तते । प्रपूर्वात् स्तृ इत्येतस्मात् घञ् भवति अयज्ञविषये । शङ्ख-
प्रस्तारः । मणिप्रस्तारः । ऋषारान्तत्वादभि (चि) प्राप्ते इदम् । अयज्ञ इति किम् ? बर्हिष्प्रस्तरः । “इदुदुङोऽ
व्यपुस्सुहुसः” [१।३।२८] इति षत्वम् ।

प्रथने वावशब्दे ॥२।३।३१॥ प्रथनं विस्तीर्णता । विपूर्वात्स्तृ इत्येतस्मात् घञ् भवति अशब्दविषये
प्रथने । पटस्य विस्तारः । गृहस्य विस्तारः । प्रथन इति किम् ? तृणविस्तरः । अशब्द इति किम् ?
वाक्यविस्तरः ।

छन्दः खौ ॥२।३।३२॥ छन्दः पद्ये वर्णविन्यासः । छन्दःसंज्ञायां च विपूर्वात् स्तृणातेः घञ् भवति ।
विष्टारः पङ्क्तिच्छन्दः । विष्टारो वृहतीछन्दः । पलप्रकरणे विष्टार इति निपातनादेव सिद्धे छन्दःसंज्ञा-
ज्ञापनार्थमिदम् ।

क्षुश्रुवः ॥२।३।३३॥ वाविति वर्तते । क्षु श्रु इत्येताभ्यां विपूर्वाभ्यां घञ् भवति । विक्षावः । विश्रावः ।
वावित्येव । क्षवः । श्रवः ।

उदि ग्रहः ॥२।३।३४॥ उत्पूर्वाद् ग्रहेर्घञ् भवति । उद्ग्राहः । अचोऽपवादोऽयम् ।

समि मुष्टौ ॥२।३।३५॥ संपूर्वाद् ग्रहेर्घञ् भवति मुष्टिविषये । शाकमुष्ट्यादौ परिमाणवचनो
मुष्टिशब्दः । तत्र परिमाणवचनयामित्येव सिद्धं ततोऽन्यदुदाहरणम् । अहो मल्लस्य संग्राहः । अहो मौष्टिकस्य
संग्राहः । मुष्टेर्दार्ढ्यमित्यर्थः । मुष्टाविति किम् ? संग्रहः शास्त्रस्य ।

न्यायपरिणायपचर्यायः ॥२।३।३६॥ न्यायादयः शब्दाः निपात्यन्ते । निपूर्वादिशः अभ्रेषे घञ् निपात्यते । अभ्रेषो युक्त्करणमकुत्सा वा । एषोऽत्र न्यायः । अभ्रेष इति किम् ? न्ययं गतश्चौरः । परिपूर्वात् नयतेर्द्युतविषये घञ् निपात्यते । परिणयेन सारान् हन्ति । द्यूतविषयादन्यत्र परिणयः परिपूर्वादिशः अनुपात्यये गम्यमाने घञ् निपात्यते । अनुपात्ययः क्रमप्राप्तस्यानतिवृत्तिः । तव पर्यायो भोक्तुम् । मम पर्यायो भोक्तुम् । अनुपात्यय इति किम् ? स्वाध्यायकालस्य पर्ययः । अतिक्रम इत्यर्थः ।

व्युषे शीङोऽन्त्ये ॥२।३।३७॥ अन्य इति पूर्वसूत्रे विन्यासापेक्षया पर्यायोऽभिप्रेतः । वि उप इत्येतयोर्वाचोः शीङो घञ् भवति पर्याये गम्ये । तव विशायो मम विशायः । तव राजोपशायः । मम राजोपशायः । राजानमुपशाययितुमवसर इत्यर्थः । अन्य इति किम् ? विशयः । उपशयः ।

हस्तादाने चेरस्तेये ॥२।३।३८॥ हस्तादाने गम्यमाने चिनोतेर्घञ् भवति न चेत्स्तेयं भवति । पुष्पप्रचायः । फलप्रचायः । हस्तादानशब्देन निकटस्य गुच्छादेर्ग्रहणं लक्ष्यते । हस्तादान इति किम् ? पुष्पप्रचयः । अस्तेय इति किम् ? पुष्पप्रचयं करोति चौरेण ।

निवासचितिशरीरोपसमाधाने चः कः ॥२।३।३९॥ चेरिति वर्तते । निवास चिति शरीर उपसमाधान इत्येतेष्वर्थेषु चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च ककारः । निवासे-साधुनिकायः । उत्कृष्टनिकायः । अधिकरणे घञ् । चीयतेऽसौ चितिः । यज्ञे अग्निविशेषः । अक्रायमग्निं चिन्वीत । शरीरे-चीयते इति कायः । उपसमाधानमुपर्युपरि राशीकरणम् । महान् गोमयनिकायः । उपर्युपरीति विशेषणादिह न भवति । महान् काष्ठनिचयः । एतेष्विति किम् ? चयः ।

संघेऽनूर्ध्वे ॥२।३।४०॥ संघः प्राणिविशेषसमुदायः । अनूर्ध्वं संघे वाच्येचिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च कत्वम् । निचोयते इति निकायः । साधुनिकायः । पण्डितनिकायः । प्राणिविशेषस्य सङ्घस्य ग्रहणादिह न भवति । काष्ठचयः । पदसमुच्चयः । विशेषग्रहणं किम् ? प्राणिसमुच्चयः । सामान्येन समुदायोऽयम् । अनूर्ध्वं इति किम् ? उपर्युपरि सूकरनिचयः ।

आक्रोशेऽचन्योर्ग्रहः ॥२।३।४१॥ आक्रोशः शपनम् । अव नि इत्येतयोर्वाचोर्ग्रहेर्घञ् भवति आक्रोशे गम्ये । अवग्रहो ह ते वृषल भूयात् । निग्रहो ह ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अवग्रहः पदस्य । निग्रहो दुष्टस्य ।

प्रे लिप्सायाम् ॥२।३।४२॥ प्रशब्दे वाचि लिप्सायां गम्यमानायां ग्रहेर्घञ् भवति । प्रग्राहेण चरति भिक्षुः । पात्रं ग्रह्य अन्नं लिप्सुर्भ्रमतीत्यर्थः । लिप्सायामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य राज्ञा ।

परौ यज्ञे ॥२।३।४३॥ परिपूर्वाद्ग्रहेर्घञ् भवति यज्ञविषये । उत्तरः परिग्राहः । यज्ञ इति किम् ? परिग्रहो देवदत्तस्य ।

नौ वुर्धान्ये ॥२।३।४४॥ निशब्दे वाचि वृ इत्येतस्मात् घञ् भवति धान्यविशेषे वाच्ये । वृ इति वृद्धवृजोर्ग्रहणम् । नीवारं नाम व्रीहयो भवन्ति । धान्य इति किम् ? निमित्तयत इति निवार कन्या ।

उदि पूद् यौतिश्रिजः ॥२।३।४५॥ उत्पूर्येभ्यः पू ड यौति श्रिज् इत्येतेभ्यो घञ् भवति । उत्पावः । उद्गावः । उद्यावः । उच्छ्रायः ।

वाडि रुण्णुवोः ॥२।३।४६॥ आङ्पूर्वाभ्यां रु ण् इत्येताभ्यां वा घञ् भवति । आरावः । आरवः । “गौरवः” [२।३।२१] इति नित्यं घञ् प्रातः । आस्रावः । आस्रवः ।

प्रहोऽवे वर्षप्रतिबन्धे ॥२।३।४७॥ वेति वर्तते । अवशब्दे वाचि ग्रहेर्घञ् भवति वर्षप्रतिबन्धे वाच्ये । अवग्रहो देवस्य । अवग्रहो देवस्य । वर्षप्रतिबन्ध इति किम् ? अवग्रहः पदस्य ।

प्रे वणिजाम् ॥२।३।४८॥ वेति वर्तते । प्रशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति समुदायेनाभिधेयं वणिजां सम्बन्धि चेद्भवति । तुलाप्रग्राहेण चरति । तुलाप्रग्राहेण चरति । तुलासूत्रं गृहीत्वा वणिक् चेष्टते इत्यर्थः । वणिजामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य ।

रश्मौ ॥२।३।४९॥ प्र इति वेति च वर्तते । इह रश्मिशब्देन अश्वादिसंयमनरञ्जुरेव गृह्यते । प्रशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति समुदायेन रश्मावभिधेयायाम् । प्रगृह्यते इति प्रग्राहः । प्रग्रहः ।

आच्छादने वृजः ॥२।३।५०॥ वेति वर्तते प्र इति च । प्रपूर्वाद्द्रुणोतेर्वा घञ् भवति आच्छादन-विशेषे वाच्ये । प्रवृणोति तं प्रावारः । प्रवरः । आच्छादन इति किम् ? प्रवरः ।

परौ भुवोऽवज्ञाने ॥२।३।५१॥ वेति वर्तते । अवज्ञानमवज्ञेयः परिपूर्वाद्भू इत्येतस्माद्वा घञ् भवति अवज्ञाने वाच्ये । परिभावः । परिभवः । अवज्ञान इति किम् ? सर्वतो भवः परिभवः ।

य्वृग्रहवृद्धगमोऽच् ॥२।३।५२॥ भावे अकर्तरीत्येवानुवर्तते । इवर्णान्तात् उवर्णान्तात् ऋवर्णान्तात् ग्रह वृद्ध गमि इत्येतस्यः वाजित्ययं ल्यो भवति । घञोऽपवादोऽयम् । चयः । जयः । रयः । रवः । लवः । करः । गरः । शरः । ग्रहः । वरः । आदरः । गमः । चकारः “व्यजोऽघञचोः [१।४।१२८] इत्यत्र विशेषणार्थः । “अजिवधौ भयादीनामुपसंख्यानं नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्” [वा०] भयम् । वर्धम् । “रखिव-झिभ्यामज्वक्तव्यः” [वा०] रणः । वशः । “घञर्थे कविधानं स्थासनापाव्यधिहनिष्यर्थ” कर्तव्यम्” [वा०] प्रतिष्ठतेऽस्मिन् प्रस्थः । प्रस्तात्यस्मिन् प्रस्तनः । प्रपिबन्त्यस्यां प्रपा । आविष्यन्त्यनेन आविधम् । विहन्त्येऽनेनास्मिन्वा विघ्नः । आयुध्यन्तेऽनेनेति आयुधम् ।

गावदः ॥२।३।५३॥ गिपूर्वाद् अदेरञ् भवति । प्रादनं प्रघसः । विघसः । संघसः । “घस्त्वुल्लङ्घञ्-सनञ्चु” [१।४।१११] इति अदेर्घस्त्वादेशः । गाविति किम् ? घासः । अस्मिन् प्रकरणे यत्रेपा गिर्निर्दिश्यते तत्र वाग्लक्षणः प्रादिलक्षणो वा सविधिः ।

नौ एश्च ॥२।३।५४॥ निपूर्वाददेरणो भवति अच् । न्यादः । निघसः ।

पणः परिमाणे ॥२।३।५५॥ पणोर्घञि णे वा नास्ति विशेषः इत्यारम्भसामर्थ्यादच एवानुवृत्तिः । पणः परिमाणे गम्यमाने अञ् भवति । पणयत इति पणः मूलकपणः । शाकपणः । ‘परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः’ [२।३।१६] इति घञ् प्राप्तः । परिमाण इति किम् ? पाणः ।

पशुष्वजः समुदोः ॥२।३।५६॥ सम उद् इत्येतयोर्वाचोरजेषोरञ् भवति पशुविषये । समजः । पशूनां समुदाय इत्यर्थः । उदजः । पशुनाममुच्चालनमित्यर्थः । पशुष्विति किम् ? समाजः साधूनाम् । उदाजः शकुनीनाम् । “चजोः कुघिण्यतोस्तेऽनितः” [५।२।५६] कुत्वं विधीयते अजेस्तु वीभावेन भवितव्यमित्यसत्वाद् विशेषणं नास्तीति कुत्वं न भवति ।

ग्लहोऽस्ते ॥२।३।५७॥ ग्लह ग्रहणे इत्यस्मादज् भवति अक्षविषये + अक्षेषु ग्लहः । अक्ष इति किम् ? ग्लहाः ।

प्रजने सुः ॥२।३।५८॥ प्रजने गर्भाधानम् । प्रजनविषये सु इत्येतस्मादज् भवति । गवामुपसरः । गर्भाधानाय स्त्रीगवीषु वृषाणामुपसरणमित्यर्थः । एवं पशूनामुपसरः । प्रजन इति किम् ? उपसारी भृत्यै राज्ञाम् ।

हो जिश्च न्यभ्युपविषु ॥२।३।५९॥ नि अभि उप वि इत्येतेषु वाञ्छु ह्येतोर्जर्भ्वत्यञ् । निहवः । अभिहवः । उपहवः । विहवः । हुरादेशो वक्तव्य इति चेत् इह निजोहवः इति यङुबन्तस्य सचस्य प्रसज्येत । एतेष्विति किम् ? संहारः ।

आङ्गयाजौ ॥२।३।६०॥ अजिः संग्रामः । आङ्पूर्वात् हूयते अजावभिधेयायां जिर्भवत्यच्च ।
आहूयन्तेऽस्मिन्निति आहवः । अजाविति किम् ? आहायः ।

निपानमाहावः ॥२।३।६१॥ निपिबन्त्स्मिन्निति निपानं जलस्थानम् । आहाव इति निपात्यते
निपानं चेद्भवति । आङ्पूर्वस्य हूयतेरधिकरणे घञ् निपात्यते । आहूयन्तेऽस्मिन्निति आहावः शकुनीनाम् ।
निपानमिति किम् ? आहायः ।

भावेऽगौ ॥२।३।६२॥ अगिपूर्वस्य हूयतेर्भावे जिर्भवत्यच्च । हानं हवः । अगाविति किम् ? आहायो
वर्तते । कर्तरीत्यस्यानुप्रवेशो मा भूदिति पुनर्भावग्रहणम् ।

हनश्च वधः ॥२।३।६३॥ हन्तेरगिपूर्वस्य भावे वधादेशो भवत्यच्च । हननं वधः । चकारो घञ् समु-
च्चयार्थः । घातो वर्तते ।

व्यधमदजपोऽगौ ॥२।३।६४॥ अगाविति वर्तमाने पुनरगिग्रहणं भावनिवृत्त्यर्थम् । तेन भावे
अकर्तरीति द्वयं संवध्यते । अगिपूर्वस्य व्यध मद जप इत्येतेभ्यः अज् भवति । व्यधः । मदः । अगाविति
किम् ? प्रव्याधः । उन्मादः । उपजपः ।

स्वनहसोर्वा ॥२।३।६५॥ अगाविति वर्तते । अगिपूर्वाभ्यां स्वन हस इत्येताभ्यामज् भवति वा ।
स्वनः । स्वनः । हसः । हासः । अगावित्येव । प्रस्वानः । प्रहासः ।

यमः सन्निव्युपे च ॥२।३।६६॥ यमेषोः सम् नि वि उप इत्येतेषु वाञ्छु अगौ च अज् भवति ।
वेति वर्तते । संयमः । संयामः । नियमः । नियामः । वियमः । वियामः । उपयमः । उपयामः । अगौ-
यमः । यामः ।

नौ गदनदपठस्वनः ॥२।३।६७॥ वेति वर्तते । निपूर्वेभ्यः गद नद पठ स्वन इत्येतेभ्यो वा अज्
भवति । निगदः । निगादः । निनदः । निनादः । निपठः । निपाठः । निस्वनः । निस्वानः ।

क्वणो वीणायां च ॥२।३।६८॥ नौ वा अगाविति त्रयं वर्तते । कणेषोः निपूर्वादिगिपूर्वाच्च अवीणायां
वीणायां च विषये अज् भवति । निकणः । निकाणः । अगौ-क्वणः । क्वाणः । वीणाग्रहणं गावपि
प्रापणार्थम् । कल्याणप्रकाशा वीणा । कल्याणप्रकाशा वीणा । एतेष्विति किम् ? अतिक्राणः ।

घनान्तर्घणप्रघणप्रघाणोद्धनापघनायोघनविघनद्रुघणस्तम्बघ्नस्तम्बघनपरिघोपघ्नसंघो-
द्धनिघप्रमदसम्मदाः ॥२।३।६९॥ घनादयः शब्दा निपात्यन्ते । हन्तेरच् घनभावश्च मूर्तावभिधेयायां
निपात्यते । मूर्तिः काठिन्यम् । अघ्नघनः । दधिघनः । कर्मणि घनं दधीति भवति । अन्तःशब्दपूर्वस्य
हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते देशाभिधाने । अन्तर्हन्त्यतेऽस्मिन्निति अन्तर्घणो वाहीकेषु देशविशेषः ।
केचिन्नकारं पठन्ति । अन्तर्घातोऽन्यः । प्रपूर्वस्य हन्तेः अचि घञि च घनभावो निपात्यते अगारैकदेशेऽभिधेये ।
प्रघणः । प्रघाणः । गृह्णद्देश इत्यर्थः । प्रघातोऽन्यः । उपूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते
अत्याधानं चेद्भवति । अत्याधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम् । यत्र काष्ठानि लोहानि चाह्न्यन्ते तदुच्यते । ऊर्ध्वं
हन्यतेऽस्मिन्नुद्धनः । उद्धातोऽन्यः । अपघन इति निपात्यते अङ्गं चेद्भवति । अपघातोऽन्यः । अयोघनः ।
दुघणः स्तम्बघ्नः स्तम्बघनः परिघ इत्येते कण्ये कारके अजन्ता निपात्यन्ते । दुघणे केचिन्नकारं पठन्ति ।
स्तम्बघ्ने कमात्रं निपात्यते । परिपूर्वस्य हन्तेर्भावश्च निपात्यते । उपपूर्वात् हन्तेराश्रयेऽभिधेये को निपात्यते ।
गुरुपघ्नः । पर्वतोपघ्नः । उपघातोऽन्यः । सम्पूर्वस्य हन्तेर्भावोऽच्च निपात्यते गणश्चेद्भवति । गणः प्राणि-
समुदाय एव । पशूनां संघः । अन्यत्र संघातः । उपूर्वस्य हन्तेर्वादेशोऽच्च निपात्यते प्रशंसायाम् । उद्धो
मनुष्यः । उद्धातोऽन्यः । निघ इति निपात्यते निमित्तेऽर्थे । संमतादारोहपरिणाह्या मितंतुल्यनिमित्तम् ।
निघाः शालयः । निघातोऽन्यः । प्रमदसंमदौ हर्षेऽभिधेये । अन्यत्र प्रमादः । सम्मादः ।

ड्वितः कित्रः ॥२।३।७०॥ डुशब्देतो धोः कित्रत्यो भवति । भावे अकर्तरीति वर्तते । डुपचप्-
पकित्रमम् । “भावादिसः” [३।३।१४३], “त्रेः” [३।३।१४४] इति इमः । व्यन्तस्य केवलस्य प्रयोगो
नास्तीत्यस्वपदेनार्थकथनम् । पाकेन निर्वृत्तमिति । एवं डुवप् उन्त्रिमम् । डुयाचृ याचित्रिमम् ।

ट्वितोऽथुः ॥२।३।७१॥ टुशब्देतो धोरथुस्त्यो भवति । टुवेपृ-वेपथुः । टुओषिव-श्वयथुः । टुलु-
ल्वथुः ।

यजयाचयतविच्छप्रच्छरत्तस्वपो नङ् ॥२।३।७२॥ यजादिभ्यो नङ् भवति । भावे अकर्तरीति
वर्तते । यज्ञः । “स्तो रचुना रचुः” [५।४।११६] इति चुत्वम् । आच्चा लिङ्गं लोकवशात् । यत्नः । विश्नः ।
नङो डिकरणमेपप्रतिषेधार्थं शापकं प्रागेव तुकः । “ढ्योः शूङ् (ङे) च” [४।४।१७] इति शत्वम् । प्रश्नः ।
“प्रश्ने चान्त्युंगे” [२।२।१७] इति निर्देशजिर्न भवति । रक्षणः । “ष्टुना ष्टुः” [१।४।१२०] इति
डुत्वम् । स्वप्नः ।

गौ भोः किः ॥२।३।७३॥ गौ वाचि भुसंज्ञकेभ्यो धुभ्यः किर्भवति । भावे अकर्तरीति वर्तते ।
प्रादीयते ‘अस्मात् प्रादिः । निधीयतेऽसौ निधिः । संधानं संधिः ।

कर्मण्यधिकरणे ॥२।३।७४॥ कर्मणि वाचि अधिकरणे कारके भुसंज्ञकेभ्यः किर्भवति । जलं
धीयते अस्मिन् जलधिः । बालधिः । अधिकरणग्रहणं कारकान्तरनिवृत्त्यर्थम् ।

स्त्रियां क्तिः ॥२।३।७५॥ भावे अकर्तरीति वर्तते । स्त्रीलिङ्गे धोः क्तिर्भवति । वज्रचोरपवादोऽयम् ।
कृतिः । सृष्टिः । संपत्तिः । “संपदादिभ्यः क्तिर्वापि वक्तव्यः” [वा०] संवत् । विपत् । “ग्लाज्याहभ्यो निः
स्त्रियां वक्तव्यः” [वा०] ग्लानिः । ज्यानिः । हानिः । “ऋकारान्तत्वादिभ्यः क्तिस्तवद्भवतीति वक्तव्यम्”
[वा०] कीर्षिः । गीर्षिः । लूनिः । पूनिः । इत उत्तरः स्त्रियामित्यधिकारः ।

कर्मव्यतिहारे चः ॥२।३।७६॥ इह कर्मव्यतिहारः क्रियाव्यतिहारे गृह्यते धोरधिकारात् । कर्म-
व्यतिहारे गम्यमाने धोर्वा इत्ययं त्यो भवति स्त्रियाम् । परस्परस्य व्याक्रोशं व्याक्रोशी “जात् स्त्रियाम्”
[४।२।२२] इति स्वार्थिकोऽण् । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि” [परि०] सतिकाद्भवति । एवं व्यावलेखी
व्यावहारी वर्तते । स्त्रियामित्येव । व्यतिपाको वर्तते । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधोन्वाधान्ते नोत्तरान्”
[परि०] इति “स्त्रियां क्तिः” [२।३।७५] इत्यस्यैव बाधको न “सरोर्हलः” [२।३।२५] इति अत्यस्य ।
व्यतीक्षा व्यतीहा वर्तते । कथं व्यालुङ्गी । “युङ् व्या बहुलम्” [२।३।१४] इति बहुलवचनात् । व्याक्रुष्टिरित्येव-
मादिषु क्तिरपि ।

शेः ॥२।३।७७॥ एयन्ताच्च कर्मव्यतिहारे ओ भवति । अस्य बाधके युचि प्राप्तेऽयमारम्भः । व्याव-
चोरी व्यावचर्ची वर्तते ।

यूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयः ॥२।३।७८॥ यूत्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । यौतिजवत्योर्दीत्वं निपात्य-
ते । यूतिः । जूतिः । स्यतेः सुनोतेर्वा सातिः । इत्याभावः आत्वं च निपात्यते । हिनोतेर्हन्तेर्वा हेतिः । कीर्तयतेः
युचि प्राप्ते कीर्तिः ।

स्थागापापचो भावे ॥२।३।७९॥ स्था गा पा पच् इत्येतेभ्यः स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिर्भवति । मावग्रहण-
मकर्तरीत्यस्य निरासार्थम् । प्रस्थितिः । संस्थितिः । गा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । उपगीतिः । उद्गीतिः । पिबतेः

१. आदीयतेऽस्मादादिः अ०, स० । २. सृष्टिः अ० । ३. व्यापलेखी अ०, ब०, स० ।
४. व्यापहारी अ०, ब०, स० । ५. व्यापचोरी अ०, ब०, स० । ६. व्यापचर्ची अ०, ब०, स० ।

प्रपीतिः । निपीतिः । पक्तिः । ‘‘आतो गौ’’ [२।१।१०६] इति ‘‘विद्ः’’ [२।३।८६] इति च अङ् प्राप्तः तद्वाधनार्थमिदम् । गणो ‘‘व्यवस्थायामसंज्ञायाम्’’ इति निर्देशादङ्गपि भवति । संस्था । ‘‘श्रुयज्ञोषिस्तुभ्यः स्त्रियां करणे युङ्वाधनार्थं क्तिर्वक्तव्यः’’ [वा०] श्रूयतेऽनयेति श्रुतिः । इष्टिः । स्तुतिः ।

व्रजयजः क्वाप् ॥२।३।८०॥ भाव इति वर्तते । व्रज यज इत्येताभ्यां स्त्रीलिङ्गे भावे क्यप् । व्रज्या । प्रव्रज्या । इज्या । पितृकरणमुत्तरार्थम् ।

समजनिषदनिपदमनविदपुशीङ्भृजिणः खौ ॥२।३।८१॥ भाव एवेति निवृत्तम् । द्वयमनु-वर्तते । समजादिभ्यः स्त्रियां क्यप् भवति खुविषये । समजन्ति अस्यां समज्या । क्यपि वीभावः कस्मान्न भवति । ‘‘बहुलं खौ’’ [१।४।१२६] इति तत्रापेक्ष्यते । निषीदन्ति अस्यां निषद्या । निपद्यन्ते अस्यां निपद्या । केचित्प-दिस्थाने पतिं पठन्ति । मन्यते अनया मन्या । विद्यते अनया विद्या । सुनोति तस्यां सुत्या । शेते अस्यां शय्या । भरणं भृत्या । भाव एवाभिधानं करणे वा । इत्या । कथं भार्या कर्मणि भविष्यति ? अथवा ‘‘तृज्याश्चाहं’’ [२।३।१४५] इत्येवमादिषु विशेषेण विधानात् । व्यसज्जानामिमे स्त्रीत्या न वाधकाः । ‘‘मातृबुद्धिपूजार्थाच्च’’ [२।२।१६६] ‘‘कर्मणि भृतौ’’ [२।२।२७] ‘‘रजःकृष्यासुतिपारषदो बलः’’ [४।१।३८] इति ज्ञापकात् कचित् क्तिरपि भवति । मतिः । वित्तिः । आसुतिः । भृतिः ।

कृजः श च ॥२।३।८२॥ करोतेः स्त्रियां शो भवति क्यप् च । यदा भावकर्मणोः शस्तदा मध्ये यक् ‘‘रिङ्यगिङ्देशो’’ [२।२।१३७] इति रिङादेशः । यदापादानादिविवक्षा तदा यगनास्तीति रिङादेशोयादेशौ । क्रिया । कृत्या । ‘‘गेरसेऽपि विवृतेः’’ [५।४।६८] इति ज्ञापकात् क्तिरपि भवति । कृतिः ।

इच्छा ॥२।३।८३॥ इच्छेति निपात्यते । इष इच्छायामित्यस्माद्भावे शः यगभावश्च निपात्यते । क्तेरपवादोऽयम् । ‘‘परिचर्यापरिसर्यासृगयाणां निपातनं वक्तव्यम्’’ [वा०] परिपूर्वाच्चरेः शः सरतेरेप् च निपात्यते । मृगयतेः शप् शो यगभावश्च निपात्यते । ‘‘जागतैरशौ वक्तव्यौ’’ [वा०] जागरा । जागर्या । शे यक् । ‘‘जागुरविजिणहिङिति’’ [२।२।८२] इत्येप् ।

अस्त्यात् ॥२।३।८४॥ अ इत्यर्थं ल्यो भवति त्यान्तेभ्यो धुभ्यः स्त्रियाम् । चिकीर्षा । लोलूया । अराट्या । पुत्रीया । पुत्रकाम्या । कण्डूया ।

सरोहलः ॥२।३।८५॥ सह रुणा वर्तत सरः । सहर्हलन्तो यो धुस्ततः स्त्रियामस्त्यो भवति । कुरडा । चुण्डा^१ । मेधा । ईहा । ‘‘पर्यासिवचनेऽलमर्थे’’ [२।४।५१] इति निर्देशाद् ये सेटस्तेषामिह ग्रहणम् । तेनेह न भवति । आतिः । दीतिः । राद्धिः । श्रस्तिः । प्रध्वस्तिः । प्रशस्तिः । ‘‘प्रशंसायां रूपः’’ [४।१।१२५] इति निर्देशात् । शसेरत्योऽपि भवति । सरोरिति किम् ? निपठितिः । हल इत्येव । नीतिः ।

षिद्धिदादिभ्योऽङ् ॥२।३।८६॥ षिद्धयो धुभ्यो भिदादिषु च गणपठितेषु याः प्रकृतयस्ताभ्यश्चाङ् भवति स्त्रियाम् । जृष्-जरा । त्रपुष्-त्रपा । घटादयः पितः । घटा । व्यया । ‘‘युङ् व्या बहुलम्’’ [२।३।१४४] इति बहुलवचनात् लङ्घिर्लभेति च भवति । भिदादिभ्यः खल्वपि । भिदा विदारणे । भित्तिरन्या । छिदा द्वैधीकरणे । छित्तिरन्या । विदा विचारणे । वित्तिरन्या । क्षिपा प्रेरणे । क्षित्तिरन्या । गुहा गिर्योषधयोः । गृदिरन्या । कुहा । नयाम् । कुहना अन्या । आरा शस्त्याम् । आर्तिरन्या । आङि वाचि (अङि) कृते ‘‘इशुरेप्’’ [५।२।१२६] । कौ कृते ‘‘धावृति गोः’’ [४।३।७६] इत्येप् । कारा बन्धने । कृतिरन्या । तार

व्योतिषि । तार्क्षिरन्या । एपि कृते दीत्वमनयोर्निपातनात् । वपा मेदोविशेषे । उत्तिरन्या । वशा शरीरगतस्नेहे ।
उष्टिरन्या । मृजा शरीरसंस्कारे । मृष्टिरन्या । धारा वर्षप्रपाते । धृतिरन्या । निपातनादात्वम् । “क्रपेजिश्च”
[वा०] कृपा । गोधा । हारा । रेखा । लेखा । निपातनादेप् । चूडा । पीडा ।

चिन्तिपूजिकथिकुम्भचर्चः ॥२।३।८७॥ चित्यादिभ्यो धुभ्यः स्त्रियामङ् भवति । युचोऽपवा-
दोऽयम् । चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्भा । चर्चा ।

आतो गौ ॥२।३।८८॥ आकारान्तेभ्यो धुभ्यो गौवाचि अङ् भवति । क्लेरपवादः । प्रदा । प्रधा ।
प्रपिबन्त्यस्यां प्रपा । पिबतेर्भावे क्तिर्विहितः । “प्रज्ञाश्रद्धाचावृत्तिभ्यो णः” [४।१।२८] “तिरोऽन्तर्द्धौ”
[१।२।१४०] इति प्रयोगात् श्रदन्तरोर्गिवद्भुत्तिः । श्रद्धा । अन्तर्धा ।

ण्यासश्रन्थिघट्टिवन्दिविदो युच् ॥२।३।८९॥ एयन्तेभ्यः आस श्रन्थि घट्टि वन्दि विद् इत्येतेभ्यो
धुभ्यः स्त्रियां युच् भवति । एयन्तात् “अस्यात्” [२।३।८४] इति इतरेभ्यः “सरोर्हल्” [२।३।८५]
इत्यकारः प्रातः । विदेः क्तिः प्रातः । कारणा । गणना । कामना । आसना । श्रन्थना । घट्टना । वन्दना ।
वेदना । अनुभवे वेदनद्रष्टव्या । “इषोऽनिच्छायां युच् वक्तव्यः” [वा०] अन्वेषणा । “परेर्वा” [वा०]
पर्वेषणा । परोष्टिः । “युङ्ग्या बहुलम्” [२।३।९४] इति वा भविष्यति । व्यानां स्त्रीत्याः श्रवणाधका
इत्युक्तम् । तेन आस्या उपास्या ।

खौ विभाषा वुण् ॥२।३।९०॥ खुविषये विभाषया वुण् भवति धोः । क्यादीनामपवादाः । प्रस्कन्दिका ।
प्रच्छर्दिका । प्रवाहिका । विचर्चिका । एता रोगसंज्ञाः । उद्दालकपुष्पभञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । श्रम्यो-
षलादिका । शालभञ्जिका । एताः क्रीडासंज्ञाकाः । कृल्लक्षणा कर्मणि ता । “क्रीडाजीविकयोर्नित्यम्”
[१।३।८०] इति नित्यः सविधिः । उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायां इत्येवमादिरस्वपदविग्रहो बोद्धव्यः ।
विभाषाग्रहणादिह न भवति शीर्षर्षिः शीर्षामिततिः । शिरोऽर्तिः । “धावृति नेः” [४।३।७९] इत्यैषा
भवितव्यामिति चेत् ; न ; अर्दं हिसायामित्यस्य प्रयोगः । चन्दनतत्त्विका । क्रीडेयम् । विभाषाग्रहणाद्वर्धननिर्दे-
शोऽपि वुण् भवति । आसिका । शायिका वर्तते ।

वेञ्च प्रश्नाख्याने ॥२।३।९१॥ प्रश्ने आख्याने च गम्यमाने धोरिज् भवति वुण् च वा । कां त्वं
कारिमकार्षीः कां कारिकां वा । वचनाद्यथाप्राप्तं च भवति । कां क्रियां कां कृत्यां कां कृतिम् । आख्याने सर्वा
कारिमकार्षीं सर्वा कारिकां सर्वा क्रियां सर्वा कृत्यां सर्वा कृतिम् । कां त्वं गणिमजीगणः कां गणिकां कां
गणनाम् । सर्वा गणिर्मया गणिता । सर्वा गणिका सर्वा गणना । कां त्वं पाठिमपाठीः कां पाठिकां कां
पठितम् । सर्वा मया पाठिः पठिता सर्वा पाठिका सर्वा पठितिः । प्रश्नाख्यान इति किम् ? कृतिः ।

पर्यायाहर्णोत्पत्तौ वुण् ॥२।३।९२॥ पर्याय अर्ह ऋण उत्पत्ति इत्येतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु धोरिज्
भवति स्त्रियाम् । पर्यायोऽनुक्रमः तस्मिन् । भवतः शायिका । भवतोऽग्रगामिका । “कर्तृकर्मणोः कृति”
[१।३।९८] इति कर्तरि ता । “तृजकाभ्याम्” [१।३।७८] इति तासप्रतिषेधः । अर्हणमर्ह-
योग्यता । तत्र अर्हति भवानिच्छुभञ्जिकाम् । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् ! “तृजकाभ्याम्” [१।३।७८]
इत्यत्र कर्तरीत्यनुवर्तनात् कर्मणि या ता तत्र “कृति” [१।३।७९] इत्यनेन तासः । ऋणं यत्परस्य धार्यते ।
तत्र इच्छुभञ्जिकां मे धारयसि । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । उत्पत्तौ-इच्छुभञ्जिका मे उदपादि ।
ओदनभोजिका । पयःपायिका । विभाषानुवर्तनात् कचिन्न भवति । घटचिकीर्षा मे उदपादि । ओदनवुञ्ज्या
मे उदपादि ।

आक्रोशे नञ्यनिः ॥२।३।६३॥ आक्रोशे गम्यमाने नञि वाचि धोरनिस्त्यो भवति । कत्यादीनाम-
पवादः । अकरणिस्ते वृषल भूयात् । अप्रयागिस्ते वृषल भूयात् । आक्रोश इति किम् ? अकृतिस्तस्य पठस्य^१ ।
नञीति किम् ? मृतिस्ते वृषल भूयात् ।

युड्व्या बहुलम् ॥२।३।९४॥ भावे अकर्तरि स्त्रियामिति च निवृत्तम् । युड्व्यसंज्ञश्च बहुलं भवति ।
भावकरणाधिकरणेषु युड् विहितोऽन्यत्रापि भवति । निरदन्ति तदिति निरदनम् । अवसेचनम् । अवस्त्रावणम् ।
राज्ञा भुज्यन्ते राजभोजनाः शालयः । ज्ञत्रियपानं मधु । राजाच्छादनानि वस्त्राणि । प्रयतते तस्मात् प्रयतनम् ।
प्रस्कन्दनम् । प्रच्छर्दनम् । भावकर्मण्योव्या उक्तास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति । स्नान्ति तेन स्नानीयं चूर्णम् ।
दीयतेऽस्मै दानीयोऽतिथिः । ज्ञानमावृणोति आव्रियते वानेन ज्ञानावरणीयम् । दर्शनावरणीयम् । वेदनीयम् ।
मोहनीयम् । बहुलवचनादन्येऽपि कृतः उक्तादन्यत्र भवन्ति । गले चोप्यते गलचोपकः । पादाभ्यां ह्रियते
पादहारकः ।

नप् भावे क्लः ॥२।३।६५॥ नविति डित्वा कृत्वा निर्देशः । नपि नपुंसकलिङ्गे भावे क्लो भवति ।
घञचोरपवादः । हसितं छात्रस्य शोभनम् । जल्पितम् । आसितम् । शयितम् । नपुंसकलिङ्गे भावे क्लादि-
निवृत्त्यर्थं भयादीनामञ् वक्तव्य इत्युक्तम् । तेन भयं वर्षमित्यादौ क्लो युर्न भवति । येषां घञजन्तानां नपुंसक-
त्वमिष्टं तैः षड्चादिषु द्रष्टव्याः ।

जिन्नभिषिधौ ॥२।३।६६॥ नवभावे इति वर्तते । अभिविधिः क्रियागुणभ्यां कार्त्स्न्येन व्याप्तिः ।
नपि भावे धोर्जिन् भवति अभिविधौ गम्यमाने । क्लस्यायमपवादः । साङ्कौटिनं सामार्जिनं संराविणं सान्द्रा-
विणं वर्तते । “जिनोऽण्” [४।२।२१] इति स्वार्थिकोऽण् “नो पुंसोऽद्धति” [४।४।१३०] इति टित्वं प्राप्तं
“प्रायोऽनपत्येऽण्निः” [४।४।१५५] इति न भवति । मध्येऽपवादोऽयं युट् न बाधते । संकुटनं संमार्जनम् ।
अभिविधाविति किम् ? संरावः ।

युट् ॥२।३।९७॥ नवभावे इति वर्तते । नपि भावे युड् भवति धोः । हसनं छात्रस्य शोभनम् ।
जल्पनम् । आसनम् । शयनम् ।

कर्मणि यत्स्पर्शात्कर्त्रङ्गसुखम् ॥२।३।६८॥ युड् नवभावे इति च वर्तते । येन स्तस्पर्शात्
कर्त्रङ्गस्य सुखं भवति तस्मिन् कर्मणि वाचि नपुंसकलिङ्गे भावे युड् भवति । ओदनभोजनं सुखम् । पयः-
पानम् । चन्दनानुलेपनम् । पूर्वेण सिद्धेऽपि नित्यसविध्यर्थं आरम्भः । कर्मणीति किम् ? तूलिकाया उत्थानम् ।
युडत्र पूर्वेण सिद्धः । सविधिस्तु न भवति । यत्स्पर्शादिति किम् ? अग्निकुरण्डस्योपासनं सुखम् । युट् पूर्वेण ।
पात्निकः सविधिः । कर्तरीति किम् ? गुरोः स्नापनं सुखम् । नात्र स्नापयतेः कर्तुः शरीरसुखं किं तर्हि गुरोः
कर्मणः । अङ्गग्रहणं किम् ? पुत्रस्य परिष्वजनं सुखम् । मानसमिदम् । अन्यथा परपुत्रपरिष्वजनेऽपि स्यात् ।
सुखमिति किम् ? कण्टकानां मर्दनम् ।

करणाधिकरणयोः ॥२।३।६९॥ करणेऽधिकरणे च कारकेऽभिधेये युड् भवति । घञाद्यपवादः ।
करणे-इध्मवश्चनः । पलाशशातनः । अविलवनः । कर्मणि ता । कृतीति तासः । अधिकरणे गोदोहनी ।
शक्तुधानी । तिलपीडनी । परत्वात् तयादिकं स्त्रीत्वं बाधते ।

पुंस्त्रौ घः प्रायेण ॥२।३।१००॥ करणाधिकरणयोरिति वर्तते । पुंस्त्रिङ्गसंज्ञायां गम्यमानायां धोर्धो
भवति प्रायेण । घकारः “छादेर्वे” [४।४।६०] इत्यत्र विशेषणार्थः । प्रच्छदः । उरच्छदः । स्नवः ।
आखनः । अधिकरणे-एत्य कुर्वन्त्यस्मिन्नाकरः । आलवः । आपवः । पुंमग्रहणं किम् ? प्रधानम् । विचयनी ।

नपुंसकलिङ्गा स्त्रीलिङ्गा चेयं संज्ञा । खाविति किम् ? हरणो दण्डः । प्रायेणेति किम् ? कचिन्न भवति । प्रसाधनः । दोहनः ।

तृत्थोऽवे घञ् ॥२।३।१०१॥ तृ स्तृ इत्येताभ्यामवशब्दे वाचि घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंस्त्रौ । अवतारः । अवस्तारः । कथमसंज्ञायामवतारो नद्या इति ? चिन्त्यमेतत् ।

हलः ॥२।३।१०२॥ हलन्ताद्धोर्घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंस्त्रौ । घापवादोऽयम् । वेदः । नेगः । वेशः^१ । गन्धः । सङ्गः । विषङ्गः । तैलोदकम् । घृतोदकम् । नास्त्यत्र घञि घे वा विशेषः । इमानि तर्ह्युदाहरणानि । खेलः । निर्मार्गः । अपामार्गः । प्रासादः । आखानः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् हलन्तेभ्यः केभ्यश्चित् घञ् न भवति घ एव भवति । अधिकरणे-कषः । निकषः । निगमः । गोचरः । आपणः । करणे-संचरः । वहः । व्रजः । इह व्यञ्जन्यस्मिन्निति व्यञ्जः । घे कृते “बहुलं खौ” [१।४।१२१] इति बहुलवचनादजेर्वीभावो न भवति । इह उदकोदञ्चनः । दोहनः । प्रसाधन इति घघञौ न भवतः । आखनः आखानः इत्यत्रोभयं भवति ।

संहारोद्यावानायावहारावायाः ॥२।३।१०३॥ संहारादयः शब्दा घञि निपात्यन्ते पुंस्त्रौ । अहलन्तत्वात् पूर्वैणाप्राप्तिः । संहरति तेन संहारः । करणेऽधिकरणे वा उद्यावः । आनयन्ति तेन आनायो जालं चेत् । अवहरन्ति तेन अवहारः । एत्य तस्मिन् वयन्ति आवायः । “अध्यायानुवाकयोर्वोप्” [४।१।६४] “आधाराऽधिकरणः” [१।२।११६] इति शापकात् उच्छादिषु न्यायशब्दस्य निर्देशात् अधीयते अनेनाध्यायः । आश्रियते अस्मिन् आधारः । नीयतेऽनेन न्यायः । एतेऽपि शब्दाः साधवः ।

स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे खः ॥२।३।१०४॥ सु ईषत् दुष् इत्येतेषु वास्तु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे खो भवति धोः । कृच्छ्राकृच्छ्रग्रहणं स्वादिविशेषणम् । सुकरः कटो भवता । ईषत्करः कटो भवता । दुष्करः कटो भवता । “तयोर्व्यक्तकार्थाः” [२।४।१२५] इति कर्मणि खः । “न क्ति” [१।४।७२] इत्यादिना ताप्रतिषेधः । भित्वात्पूर्वपदस्य मुन्न भवति । कृच्छ्राकृच्छ्र इति किम् ? ईषत्कार्यः । मनाकार्य इत्यर्थः ।

कर्तृकर्मणोर्भू कृञ्भ्याम् ॥२।३।१०५॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे ख इति वर्तते । कृञ्ग्रहणसामर्थ्यात् कर्तृकर्मग्रहणं वाग्विशेषणम् । कर्तरि कर्मणि च वाचि भू कृञ् इत्येताभ्यां यथासंख्यं खो भवति सु ईषत् दुष् इत्येतेषु वास्तु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे । तस्य खित्करणं मुमर्थमिति पूर्वं कर्तृकर्मभ्यां योगः पश्चात्स्वादिभिः । प्रायेणेत्यनुवर्तनात् कर्तृकर्मणोश्च्यर्थयोग्रहणम् । अनाद्येन सुखमाद्येन भूयते स्वाद्यं भवं भवता । ईषदाद्यं भवं भवता । दुराद्यं भवं भवता । सुखमनाद्यमाद्यङ्कियते । स्वाद्यं करो देवदत्तो भवता । ईषदाद्यङ्करः । सूत्रन्यासे परत्वात्कर्तृकर्मणोः वाक्यं कृत्वा पश्चात्पूर्वस्य क्रियते । च्यर्थयोरिति किम् ? स्वाद्येन भूयते । स्वाद्येन क्रियते । यदा करोतिर्विकारार्थः तदा सुकटंकराणि वीरणानि । यदा निष्पत्तिवचना तदा सुकरः कटो वीरणैरिति ।

युजातः ॥२।३।१०६॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे इति वर्तते । आकारान्तेभ्यो धुभ्यो युञ् भवति स्वादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु वास्तु । उपानं पयो भवता । ईषत्पानम् । दुष्पानम् । सुलानम् । ईषद्ग्लानम् । दुर्लानम् । खापादोऽयम् । प्रायेणेति वर्तते । तेन “दुःशब्दे वाचि शासियुधिदृशि-धृषिमृषिभ्यः युञ् भवति” [वा०] । दुःशासनः । दुर्योधनः । दुर्दर्शनः । दुर्धर्षणः । दुर्मर्षणः । सुदर्शनादिषु बसो द्रष्टव्यः ।

भवद्ब्रह्मा तत्सामीप्ये ॥२।३।१०७॥ भवच्छब्दो वर्तमानपर्यायः । समीपमेव सामीप्यम् । भवतीव त्यविधिर्भवति वा तत्समीपे भूते भविष्यति च ध्वर्थे वर्तमानाद्भोः । संप्रतीत्यारभ्य आ पादपरिसमाप्तेर्विहितास्त्या अतिदिश्यन्ते । कदा देवदत्त आगतोऽसि । एष आगच्छामि । आगच्छन्तमेव मां विद्धि । एष आगामुकोऽसि । वाचचनाद्यथाप्राप्तम् । एष आगतोऽसि । कदा देवदत्त गमिष्यसि । एष गच्छामि । गच्छन्तमेव मां विद्धि । गन्तारमेव मां विद्धि । पक्षे एष गमिष्यामि । एषोऽसि गन्ता । वत्करणं किमर्थम् ? प्रकृतिविशेषादिपरिग्रहार्थम् । तत्सामीप्यग्रहणं व्यवहितनिरासार्थम् । कदा ग्राममगच्छत् । श्वः करिष्यति । इह मा भूत् । नन्वत्र लुटा भवितव्यं कथं लृट् ? पदसंस्कारवेलायां श्वःप्रभृतिपदानामसंनिधानाददोषः ।

भूतवच्चांशंसायाम् ॥२।३।१०८॥ आशंसनमाशंसा भविष्यत्कालविषया; तस्यां गम्यमानायां भूतवच्यविधिर्भवति भवद्ब्रह्म वा । भूतग्रहणेन भूतसामान्ये विहितस्य त्यस्य परिग्रहः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागमत् उपाध्यायश्चेदागतः तदा तर्कमधीमहे अध्येष्यामहे अध्यगीष्महि एषोऽधीतस्तर्कः । आशंसायामिति किम् ? उपाध्याय आगमिष्यति ।

क्षिप्रवचने लृट् ॥२।३।१०९॥ आशंसायामिति वर्तते । क्षिप्रार्थे शब्दे वाचि लृट् भक्त्याशंसायां गम्यमानायाम् । भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति क्षिप्रमध्येष्मामहे शीघ्रमध्येष्मामहे । नेति वक्तव्ये लृट्ग्रहणं लुट्विषयेऽपि यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । श्वः क्षिप्रमध्येष्मामहे ।

लिङ्गाशंसोक्तौ ॥२।३।११०॥ आशंसा उच्यते येन शब्देन तस्मिन् वाचि लिङ् भक्त्याशंसायां गम्यमानायाम् । अथमपि भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशंसे युक्तोऽधीयीय । अवकल्पये युक्तोऽधीयीय । परत्वाल्लुटो बाधकोऽयम् । आशंसे क्षिप्रमधीयीय ।

न लङ्लुट् सामीप्याव्युच्छित्योः ॥२।३।१११॥ सामीप्यं तुल्यजातीयेनाव्यवधानम् । अव्युच्छितिः क्रियाप्रवन्धः । लङ्लुटौ न भवतः सामीप्याव्युच्छित्योः गम्यमानयोः । अनद्यतनविहितयोर्लङ्लुटोर्यं प्रतिषेधः । सामीप्ये-येयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यां देवानपूपुजायाम् । अतिथीनवसुजायाम् । येयममावास्यागामिनी एतस्यां देवान् पूजयिष्यामः अतिथीन् भोजयिष्यामः । अव्युच्छित्तौ-यावदजीवीत् भृशमन्नमदात् । यावज्जीविष्यति भृशमन्नं दास्यति ।

वर्त्यत्यवरेऽवधेः ॥२।३।११२॥ यद्यपि लङ्लुङिति प्रकृतम्; तथापीह वर्त्यद्ग्रहणाल्लुट एव प्रतिषेधः । वर्त्यतिकाले अवरस्मिन् भागे लुण्णं भवति । असामीप्याव्युच्छित्यर्थोऽयमारम्भः । कालविभाग उत्तरत्र वक्ष्यते । देशविभागेऽयं प्रतिषेधः । योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायाः तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे द्विःसकृन्पास्यामः । वर्त्यतीति किम् ? योऽयमध्वागत आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वैमहि । अवर इति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यस्मिन् मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वेतास्महे । अवधेरिति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्यो निरवधिकः तस्य यदवरं मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्वेतास्महे ।

कालविभागेऽनहोरात्राणाम् ॥२।३।११३॥ वर्त्यत्यवरेऽवधेरिति वर्तते । वर्त्यतिकाले अवरस्मिन्कालविभागेऽनहोरात्रसंबन्धविवर्जिते लुण्णं भवति । पूर्वण प्रतिषेधे सिद्धेऽप्यनहोरात्रसंबन्धविभागप्रतिषेधार्थं वचनम् । कालविभागग्रहणमिहार्थमुत्तरार्थं च । योऽयं संवत्सर आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तवार्हत्पूजां करिष्यामहे अतिथिभ्यो दानं दास्यामहे । वर्त्यतीत्येव । योऽयं संवत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वैमहि । अवर इति किम् ? “वा परे” [२।३।११४] इति वक्ष्यति । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिकः काल आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्वेतास्महे । अनहोरात्राणामिति किम् ? योऽयं त्रिंशद्वात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता द्विरध्वेतास्महे । योऽयं त्रिंशद्वात्र अमीत्यागत

योऽवरोऽर्द्धमासस्तत्र द्विरध्येतास्महे । योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र द्विरध्येतास्महे । प्रसज्य [इति] प्रतिषेधात् त्रिविधमुदाहरणम् ।

वा परे ॥२।३।११४॥ कालविभाग इति वर्तते । परस्मिन्नवधेः कालविभागे वर्त्यति लुण् भवति न चेदहोरात्राणां विभागः । योऽयं संवत्सरः आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येष्यामहे अध्येतास्महे वा । सामीप्याव्युच्छित्तिविवक्षायामपि परत्वादयं विकल्पः । अनहोरात्राणामित्येव । योऽयं त्रिंशद्वात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रः तत्र द्विरध्येतास्महे । सामीप्याव्युच्छित्योर्लुट् प्रतिषेध एव । वर्त्यतीत्येव । योऽयं संवत्सरोऽतीतः तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येमहि । अवधेरित्येव । योऽयं निरवधिः काल आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येतास्महे । कालविभाग इत्येव । योऽयमध्वा गन्तव्यः आ चित्रकूटात् तस्य यत्परं मधुरायास्तत्र द्विरध्येतास्महे । सर्वत्र लुङ् भवति न चेदव्युच्छित्तिविवक्षा ।

लिङ्हेतौ लृङ् क्रियाऽवृत्तौ ॥२।३।११५॥ वर्त्यतीति वर्तते । हेतुर्निमित्तम् । लिङ्हेतौ वर्त्यति काले लृङ् भवति क्रियाया अवृत्तौ सत्याम् “हेतुफळयोलिङ्” [२।३।१३२] इत्येवमादि लिङ्निमित्तं वक्ष्यति । अतिथीश्चेदलिप्स्यत भृशमन्नमदास्यत् । अत्रान्नदानं फलं तद्धेतुभूतोऽतिथिलाभः तदनभिनिर्वृत्तिं प्रमाणादवगम्येदं वाक्यं प्रयुक्तम् । एवमुपाध्यायं चेदुपासिष्यत शास्त्रान्तमगमिष्यत् । अभोक्ष्यत भवान् दध्ना यदि मत्समीपे आसिष्यत । इह दक्षिणेन चेदयास्यत् न पर्याभवष्यदिति यानमनिष्पन्नं पर्याभवनं तु निष्पन्नमिति कथमवृत्तिः क्रियायाः । एवं तर्हि प्रत्यासत्तेर्हेतुभूतायाः क्रियाया अवृत्ताविति द्रष्टव्यम् । क्रियायाः अवृत्तावपि शक्तिरूपेण क्रियामप्यारोप्य कर्तृत्वेनाभिसंबन्धः क्रियते यथा भूतमविष्यत्कालविषयायाः कर्तृत्वेनाभिसंबन्धः ।

भूते ॥२।३।११६॥ भूते च काले लिङ्हेतौ क्रियाया अवृत्तौ सत्यां लृङ् भवति । “उत्ताप्योः पृष्ठोक्तौ लिङ्” [२।३।१२८] इत्यतः प्रभृति कालसामान्ये यल्लिङ्निमित्तं विधानं तत्रानेन भूते लृङ् । ततः पूर्वं तु “वाऽशेषात्” [२।३।११७] इत्येनेनैव विकल्पः सिद्धः । दृष्टो मथा भवतः पुत्रोऽनार्थी चङ्क्रम्यमाणः । इतरश्चातिथ्यर्थी यदि तेन दृष्टोऽभविष्यत् उताभोक्ष्यत । अप्यभोक्ष्यत अन्येन यथा स गतः नापि भुङ्क्त्वान् । इदं सर्वं प्रतिवचनम् ।

वाऽशेषात् २।३।११७॥ वक्ष्यति “शेषेऽयदौ लृट्” [२।३।१२७] इति आ एतस्मात्सूत्रावधेः यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः भूते काले लिङ्हेतौ क्रियायाः अवृत्तौ लृङ् वा भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । परस्तु लृङ्गे विधिनित्य इति तत्रैवोदाहरिष्यामः ।

लङ् गृह्णेऽपि जातवोः ॥२।३।११८॥ अपि जातु इत्येतयोर्वाचोः लङ् भवति गृह् गम्यमाने । अयं कालसामान्ये विहितो लट् कालविशेषे विहितान् लकारान् परत्वाद्वाधते । अपि तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । जातु तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । लिङ्हेत्वभावात् भूते क्रियाऽवृत्तौ लृङ् न भवति ।

वा कथमि लिङ् च ॥२।३।११९॥ गृह् इति वर्तते । कथंशब्दे वाचि लिङ् भवति लङ्वा । कथं नाम तत्र भवान् मांसं भक्ष्येत् । मांसं भक्ष्यति । गर्हामहे । अन्याय्यमेतत् । वावचनाद्यथाप्राप्तम् । अवब्रूत् । अभक्ष्यत् । भक्ष्याञ्चकार । भक्षयिष्यति । भक्षयिता । अत्र लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा लृङ् भवति । अभक्षयिष्यत् । वर्त्यति नित्यं लृङ् ।

किंवृत्ते लिङ् लृटौ ॥२।३।१२०॥ गृह् इति वर्तते । वेति नाधिकृतम् । विभक्त्यन्तस्य उत्तरद्वयमान्तस्य च किमो वर्तनं किंवृत्तम् । किंवृत्ते वाचि गृह् गम्यमाने लिङ् लृट्यौ भवतः । सर्वलकाराणामयमपवादः । किं तत्रभवान् अनृतं ब्रूयात् । अनृतं वक्ष्यति । लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् भवति । वर्त्यति तु नित्यः ।

अनवकलृप्त्यमर्षे ॥२।३।१२१॥ गर्ह इति निवृत्तम् । लिङ्लृटाविति वर्तते । अनवकलृप्त्यर्थे अव-
मर्षे च गम्यमाने लिङ्लृट् इत्येतौ त्रौ भवतः । अयमपि सर्वलकाराणामपवादः । अनवकलृप्तौ नावकल्पयामि
न संभावयामि न वा श्रद्धे किं तत्र भवानदत्तं गृह्णीयात् अदरां ग्रहीष्यति । अमर्षे । धिङ् मिथ्या नैतदस्त्यमर्षो
मे किं तत्रभवानदत्तं गृह्णीयात् अदरां ग्रहीष्यति । किंवृत्तेऽकिंवृत्ते च वाचि सामान्येनायं विधिः । लिङ्हेतु-
रस्तीति भूते क्रियावृत्तौ वा लृङ् । वत्स्यति तु नित्यः ।

किंकिलास्त्वर्थे लृट् ॥२।३।१२२॥ अनवकलृप्त्यमर्ष इति वर्तते । किंकिलशब्दे अस्त्यर्थेषु च
शब्देषु वाच्ये अनवकलृप्त्यमर्षयोर्लृट् भवति । लिङोऽपवादः । नावकल्पयामि किंकिल तत्र भवान् परदारान्
प्रकरिष्यते । गंधनादिसूत्रेणान्याये दः । अस्त्यर्था अस्तिभवतिविद्यतयः । अस्ति नाम भवति नाम विद्यते नाम
तत्रभवान् परदारान् प्रकरिष्यते ।

जातुयद्यदायदौ लिङ् ॥२।३।१२३॥ अनवकलृप्त्यमर्ष इति वर्तते । जातुयद्यदायदीत्येतेषु वाच्ये
अनवकलृप्त्यमर्षयोर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । नावकल्पयामि जातु तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यत्तत्रभवान्
सुरां पिबेत्, यदा तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यदि तत्रभवान् सुरां पिबेत् । न मृष्यामि जातु तत्रभवान् सुरां
पिबेत् इत्येवमादि योज्यम् । लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् । वत्स्यति तु नित्यः ।

यच्चयत्रयोः ॥२।३।१२४॥ अनवकलृप्त्यमर्ष इति वर्तते । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचोरनवकलृप्त्यमर्ष-
योर्लिङ् भवति । लृटोऽपवादः । उत्तरार्थो योगविभाग । न संभावयामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथ-
येत् । न मृष्यामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । यत्र तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । क्रियाऽवृत्तौ भूते
वा लृङ् । वत्स्यति तु नित्यः ।

गर्हे ॥२।३।१२५॥ अनवकलृप्त्यमर्ष इति निवृत्तम् । अर्थान्तरोपादानात् । यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचो-
गर्हे गम्यमाने लिङ् भवति । सर्वलकाराणामपवादः । यच्च तत्रभवान् अस्मान्क्रोशेत् विद्वान् वृद्धः सन्तु-
त्कृष्टः । गर्हामहे । अन्त्याय्यमेतत् । लिङ्हेतुरस्तीति यथासंभवं लृङ् वेदितव्यः ।

चित्रार्थे ॥२।३।१२६॥ चित्रशब्दस्यार्थे गम्यमाने यच्चयत्रयोर्वाचोर्लिङ् भवति । सर्वलकारापवादः ।
यच्च तत्रभवान् लोभं कुर्यात् यत्र तत्रभवान् लोभं कुर्यात् विद्वान् वृद्धः सन्तुत्कृष्टः । चित्रमाश्चर्यमद्भुतं
विस्मयमित्येषामन्यतमप्रयोगः । लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा । वत्स्यति तु नित्यः ।

शेषेऽयदौ लृट् ॥२।३।१२७॥ यच्चयत्राभ्यामन्यश्चित्रार्थः शेषः । शेषे चित्रार्थे गम्यमाने लृट्
भवति यदिशब्दश्चेद्वाङ् न भवति । अयमपि सर्वलकारापवादः । चित्रमाश्चर्यमद्भुतं विस्मयमित्ययमन्वो
नाम पुस्तकं वाचयिष्यति मूको नाम जैनेन्द्रमध्येष्यते । लिङ्हेत्वभावात् लृङ् वा न भवति । अयदाविति
किम् ? आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत । अत्रानवकलृप्तिश्चित्रार्थश्च प्रतीयते । “जातुयद्यदायदौ लिङ्”
[२।३।१२३] इति लिङ्भूते “वाऽशेषाद्” [२।३।११७] इति लृङ्धिकारो निवृत्तः ।

उताप्योः पृष्टोक्तौ लिङ् ॥२।३।१२८॥ उत अपि इत्येतयोर्वाचोः पृष्टयोक्तौ गम्यमानायां लिङ्
भवति । सर्वलकारापवादः । किमकार्षीः कर्तुं देवदत्त । इति पृष्टः प्रत्याह उत कुर्यात् । अपि कुर्यात् । कर्तुं
कृतवानित्यर्थः । इतः प्रभृति यत्र लिङ्हेतुरस्ति तत्र वत्स्यति भूते च नित्यो लृङ् । उताकरिष्यत् । अप्याकरि-
ष्यत् । पृष्टोक्ताविति किम् ? उत दण्डः पतिष्यति । अपि घास्यति द्वारम् । अत्र प्रश्नोद्बोधनं च प्रतीयते ।

इच्छोद्बोधेऽकच्चिति ॥२।३।१२९॥ इच्छोद्बोधः स्वामिप्रायनिवेदनम् । इच्छोद्बोधे गम्यमाने लिङ्
भवति कच्चिच्छब्दाप्रयोगे । सर्वलकारापवादः । कामो मे अधीयीत भवान् । अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान् ।

अकचितीति किम् ? कचिजीवति मे माता । कचिजीवति मे पिता । माराविद त्वां पृच्छामि कचिजीवति पार्वती ।

संभावनेऽलमि स्थानिनि ॥११३॥१३०॥ लिङिति वर्तते । संभावनं क्रियायां सामर्थ्यश्रद्धानम् । अलंशब्दश्चेह पर्याप्तिवचनः । यस्य यत्रार्थो गम्यते न चाधौ प्रयुज्यते स तत्र स्थानीशब्दः । अलमर्थविशिष्टे संभावने लिङ् भवति अलंशब्दे स्थानिनि । सर्वलकारापवादः । शक्यसंभावने-अपि हस्तिनं हन्यात् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अशक्यसंभावने - अपि पर्वतं शिरसा भिन्यात् । अपि श्वारीयकं भुञ्जीत । अपि समुद्रं दोभ्यां तरेत् । अलमीति किम् ? विदेशस्थायी मे देवदत्तो मन्ये गमिष्यति ग्रामम् । अत्राहमिति स्थानी । स्थानिनीति किम् ? वसति चेत् सुराष्ट्रेषु वन्दिष्यते अलमूर्जयन्तम् । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते लृङ् भवति ।

तद्वाचि धौ वाऽयदि ॥२१३॥१३१॥ अलमीति वर्तते । तच्छब्देन संभावनं परामृश्यते अलमर्थ-विशिष्टे सम्भावनवाचिनि धौ वाचि वा लिङ् भवति । यच्छब्दाप्रयोगे पूर्वैण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सम्भावयामि भुञ्जीत भवान् । श्रद्धे भुञ्जीत भवान् । पदे यो यतः प्राप्नोति स ततो भवति । अलमीति किम् ? सम्भावयामि यस्य भुञ्जीत । अत्रालमर्थे पूर्वैण नित्यो लिङ् ।

हेतुफलयोर्लिङ् ॥२१३॥१३२॥ हेतुः कारणम् ; फलं कार्यम् । हेतौ तत्कार्ये च ध्वर्थे वर्तमानाद्वोः लिङ् भवति । अतिथीश्चेल्लभेत भृशमन्नं ददीत । यदि गुहपूजां कुर्वीत स्वर्गमारोहेत् । वेत्यनुवर्तनात्पक्षे लृट् । अतिथीश्चेल्लप्स्यते भृशमन्नं दास्यते । लिङिति वर्तमाने पुनर्लिङ्ग्रहणं वर्त्यति यथा स्यादिह मा भूत् । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्यति भूते च नित्यो लृङ् ।

इच्छार्थे लिङ्लोटौ ॥२१३॥१३३॥ इच्छार्थे धौ वाचि लिङ्लोटौ त्रौ भवतः । सर्वलकारापवादौ । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तते । तेन कामप्रकाशने इदं विधानम् । इच्छामि भुञ्जीत भवान् । भुङ्क्तां भवान् । प्रार्थये अधीयीत भवान् । अधीतां भवान् । कामप्रकाशने इति किम् ? इह मा भूत् । इच्छन् करोति । नात्र प्रयोक्तुः कामप्रवेदनम् । “उताभ्योः पृष्ठोक्तौ” [२१३॥१३२॥] इत्यत आरभ्य यत्र केवलो लिङ्हेतुः शिष्यते तत्र क्रियाऽवृत्तौ लृङ् नान्यत्रेति केचित् ।

तुमेककर्तृके ॥२१३॥१३४॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि तुम्भवति यस्मात्तुम् विधीयते प्रत्यासत्तेस्तदपेक्ष्यैककर्तृकत्वम् । लिङ्लोटोरपवादोऽयम् । इच्छति भोक्तुम् । वाञ्छति कर्तुम् । कामयते कर्तुम् । एककर्तृक इति किम् ? देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति परः । इह कस्मान्न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । नात्र करोति प्रतीच्छतेः सामर्थ्यं किन्तु कटं प्रति तेनान्वर्थवास्संज्ञाविरहात्तुम् न भवति ।

लिङ् ॥२१३॥१३५॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि लिङ् भवति । पूर्वं तुमा लिङ्लोटौ बाधितौ पुनर्लिङ्प्रसवार्थमेतत् । योगविभाग उत्तरार्थः । अधीयीति इच्छति । भुञ्जीयेति वाञ्छति । इतिशब्दः क्रियाशब्दसंबन्धघातनार्थः ।

तेभ्यो भवति वा ॥२१३॥१३६॥ तेभ्य इच्छार्थेभ्यो धुभ्यः भवति कालं वा लिङ् भवति । इच्छेत् । इच्छति । कामयेत । कामयते । उश्यात् । वष्टि ।

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधोऽसंप्रश्नप्रार्थने लिङ् ॥२१३॥१३७॥ विधिराज्ञापनम् । निमन्त्रणं नियमेन करणम् । यदकरणे प्रत्यवाय इत्यर्थः । आमन्त्रणं स्वेच्छया करणम् । अधीष्टः सत्कारपूर्विका व्यापारणा । संप्रश्नः संप्रधारणा । प्रार्थनं याच्ना । विध्यादिष्वर्थेषु लिङ् भवति । सर्वत्यापवादः । विध्यादिविशिष्टेषु कर्मादिषु त्र्यर्थेषु लिङ् भवतीत्यर्थः । कटं भवान् कुर्यात् । प्राणिनो भवान्न हिंस्यात् । निमन्त्रणे-संध्यासु भवान् आवश्यकं कुर्यात् । आचारं भवानधीयीत । आमन्त्रणे-इह भवानासीत । इह भवान्

शयीत । अघीष्टे-अघीच्छामो भवान् व्रतं रक्षेत् । तत्त्वं भवान् गृह्णीयात् । संप्रशने—किन्तु खलु भोः जैनेन्द्रमधीयीय । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय । तर्कशास्त्रमधीयीय । यदि विध्यदिषु प्रकृत्युपाधिषु लिङ् विधीयेत; इह विदध्यात् निमन्त्रयेत् आमन्त्रयेत् अघीच्छेत् । प्रकृत्यैव विध्यादयोऽभिधीयन्ते इति (इहैव) लिङ् प्राप्नोति । तस्माद्विध्यादयः कर्तृकर्मभावानां विशेषणानि । तदभावादिह लिङ् न भवति । विदधाति । निमन्त्रयते । आमन्त्रयते । अघीच्छति । अत्र क्रियाया अवृत्तौ परस्मैल्लया लृङ् बाध्यते ।

लोट् ॥२।३।१३८॥ लोट् भवति विध्यादिविशिष्टेषु कर्त्रादिषु विधौ । ग्रामं भवान्नागच्छतु । प्राणिनो भवान्न हिनस्तु । निमन्त्रणे-संख्यासु भवानावश्यकं करोतु । आचारमधीताम् । आमन्त्रणे-इह भक्षणास्ताम् । इह शेताम् । अघीष्टे-अघीच्छामो भवान् व्रतं रक्षतु । तत्त्वं भवान् गृह्णीयात् । संप्रशने-किन्तु खलु भो काव्यमव्ययै । प्रार्थने-भवति मे प्रार्थना धर्मशास्त्रमध्ययै । योगविभाग उत्तरार्थः ।

प्रेषातिसर्गप्राप्तकाले व्याश्च ॥२।३।१३९॥ प्रेषणं प्रेषः । अतिसर्गः कामचारानुज्ञा । प्राप्तकालः प्राप्तकालता, विशिष्टस्य कालस्यावसर इत्यर्थः । प्रेषादिष्वर्थेषु कर्त्रादिविशेषणत्वेन गम्यमानेषु व्यसंज्ञकास्त्या भवन्ति लोट् च । भवता खलु दानं दातव्यं दानीयं देयम् । करोतु कदो भवानिह प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः । यद्यपि व्यसंज्ञा सामान्येन भावकर्मणोर्विहितास्तथापि सर्वापवादेषु प्रेषादिषु लोटा बाध्येरन्निति पुनर्विधीयते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।१४०॥ प्रेषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातात्स्विधिरुत्तरपदस्यैवैप् । ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे वर्तमानाद्धोः प्रेषादौ गम्यमाने लिङ् भवति चकाराद्व्याश्च । उपरि मुहूर्तस्य भवान् खलु दानं दद्यात् । भवता खलु दानं दातव्यं दानीयं देयम् । केचिच्चकारेण यथाप्राप्तं समुच्चिन्वन्ति । तेषां लोटपि भवति । भवान् खलु दानं ददातु । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

स्मे लोट् ॥२।३।१४१॥ प्रेषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति च । स्मशब्दे वाचि प्रेषादिषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे लोट् भवति । व्यानां लिङश्चापवादः । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवान् दानं ददातु स्म । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

अघीष्टे ॥२।३।१४२॥ ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति निवृत्तम् । अघीष्टे गम्यमाने स्मशब्दे वाचि लोट् भवति । लिङो बाधकः । अङ्ग स्म राजन् दानं देहि व्रतं रक्ष ।

कालसमयवेलासु तुम् वा ॥२।३।१४३॥ काल समय वेला इत्येतेषु वान्तु धोः तुम् भवति वा । कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । वेला भोक्तुम् वा । वाक्चनावध्याप्राप्तं च भवति । कालो भोक्तव्यस्य । प्रेषादिग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति ।

“कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुतेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥”

लिङ् यदि ॥२।३।१४४॥ यच्छब्दप्रयोगे कालादिषु वान्तु धोर्लिङ् भवति । तुमोऽपवादः । कालो यत्प्रजां कुर्वति भवान् । समयो यद्मुञ्जीत भवान् । वेला यच्छयीत भवान् । केचिद्वेत्यनुवर्तयन्ति तेषां यथाप्राप्तमपि ।

तृज्याश्चाहं ॥२।३।१४५॥ अर्हतीत्यहं । अहं कर्तारि गम्यमाने तृज्याश्च भवन्ति लिङ् च । भवान् खलु कन्यायाः वोढा । भवता कन्या वोढव्या वहनीया वाह्या । भवान् खलु कन्यां वहेत् । भवान् योग्य इत्यर्थः । अर्हेऽर्थे लिङ् विधीयमानेन तृचो व्यानां च बाधा मा भूत् इति पुनर्विधानम् ।

आवश्यकोधमण्ययोर्णिन् ॥२।३।१४६॥ अवश्यं भाव आवश्यकम् । मनोज्ञादिपाठाद्गुञ् । अधमम् ऋणमस्य अधमर्णः ; तद्भावाद्वाधमर्ण्यम् । आवश्यकोधमण्यविशिष्टे त्वार्थे कर्तरि णिन् भवति । अवश्यंहारी मयूरव्यंकादिवात्सविधिः । शतंदायी । सहस्रंदायी । निष्कदायी “आधमण्ये चेनः” [१।४।७४] इति कर्मणि तायाः प्रतिषेधः ।

व्याः ॥२।३।१४७॥ आवश्यकोधमण्ययोरिति वर्तते । आवश्यकोधमण्ययोर्व्यांलंज्ञा भवन्ति । सर्व-
त्पापवादेन णिना व्यसंज्ञा बाधिता इति पुनर्विधीयन्ते । भवता खलु अवश्यं धर्मः कर्तव्यः । करणीयः । कृत्यः । कार्यः । आधमण्ये भवता खलु निष्को दातव्यः । देयः । योगविभाग उत्तरार्थः ।

शक्लिङ् च ॥२।३।१४८॥ शक्तीत्यर्थनिर्देशः । शक्तीत्यर्थविशिष्टे ध्वर्ये लिङ् भवति चकाराद् व्याश्च । भवता खलु विद्या अध्येतव्या । अध्ययनीया । अध्येया । भवान् खलु विद्यामधीयीत । भवान् हि समर्थः । लिङ्-सर्वापवाद इति (चकारेण) व्यानामनुकर्षणं क्रियते । यदि शक्तीति प्रकृत्यर्थविशेषणम् । शक्नुयादित्यत्र लिङ् न प्राप्नोति प्रकृत्यैवाभिहितत्वात् शक्यर्थस्य । नैष दोषः । सामान्यविशेषभावेन भेदान्धुपगमात् । यथा पशितुमिच्छति पशिषिषति ।

आशिषि लिङ् लोटौ ॥२।३।१४९॥ इष्टस्याशंसनमाशीः । अतएव निपातनादिह इकारः । आशी-
र्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्गोलिङ्लोटौ भवतः । जीव्यात् । जीव्यास्ताम् । जीव्यासुः । जीवतु । आशिषीति किम् ? जीवति यदि पथ्याशी ।

क्लिचक्रौ खौ ॥२।३।१५०॥ आशिषीति वर्तते । आशिष्यर्थे क्लिचक्रौ त्वौ भवतः खुविष्ये । चकारः
“न क्लिचि दीश्च” [३।४।४०] इति विशेषणार्थः । तनुतात् तन्तिः । सनुतात् सातिः । भवताद्भूतिः । कृतः क्लिच्चा विशेषविहितेन बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते । देवा एनं देवासुरिति देवदत्तः । देवा एनं-
शृण्वन्तु देवश्रुतः ।

माङि लुङ् ॥२।३।१५१॥ माङि वाचि लुङ् भवति । सर्वलकारापवादः । मा कार्षीरधर्मम् । मा
हर्षीत्यस्वम् । ङकारः प्रतिषेधवाचिनो माङ्शब्दस्य ग्रहणं यथा स्यादित्येवमर्थः ।

सस्मे लङ् च ॥२।३।१५२॥ सह स्मशब्देन वर्तते सस्मः । तस्मिन् माङि वाचि लङ् भवति लुङ्
च । मा स्म क्रुध्यत् । मा स्म हरत् । मा स्म हर्षीत् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

— — —

धुयोगे त्याः ॥२१४१॥ धुशब्देन ध्वर्थोऽत्र निर्दिष्टः । अभिवेये अभिधानस्योपचारात् । धूनां योगे सति अयथाकालोक्ता अपि त्याः साधवो भवन्ति । विश्वदृष्ट्वाऽस्य पुत्रो जनिता । कृतः कटः श्वो भाविता । भाविकृत्यमासीत् । विश्वदृष्ट्वेति भूतकालः जनितेत्यनेन भवि यत्कालेन (अभिसम्बध्यमानः) साधुर्भवति । इहोपसर्जनभूतं सुवन्तं प्रधानभूतस्य मिडन्तस्य कालमनुवर्तते । धोरिति वर्तमाने पुनर्धुग्रहणं अस्तिभूजनिपरिग्रहार्थम् । त्य इति वर्तमाने पुनस्त्यग्रहणं त्यामात्रपरिग्रहार्थम् । गोमान् भवितेति मत्वन्तस्य वर्तमानकालस्य अयथाकालत्वेन साधुत्वम् ।

क्रियासमभिहारे लोट् तस्य हिस्वौ वा तध्वमोः ॥२१४२॥ क्रियासमभिहारविशिष्टे ध्वर्थे वर्तमानाद्धोलोङ् भवति । सर्वलकारापवादः । तस्य लोटो हि स्व इत्येतावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा भवतः । क्रियासमभिहारे लोटिति योगविभागः कर्तव्यः । ततस्तस्य हिस्वो भवतः । किमेवं सति लब्धम् ? अन्यत्र यौ लोडादेशौ हिस्वौ प्रसिद्धौ ताविव भवतः । तेन मविधिविधिव्यतिक्रो न भवति । वा तध्वमोरित्यत्र ध्वमा सह निर्देशात्तशब्दस्य थादेशस्य बहोर्ग्रहणम् । लुनीहि लुनीहि इत्येवाहं लुनामि । आवां लुनीवः । वयं लुनीमः । लुनीहि लुनीहि इत्येव त्वं लुनासि । युवां लुनीथः । यूयं लुनीथ । तशब्दस्य तु वा भवति । लुनीत लुनीत इत्येवं यूयं लुनीथ । लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति । इमौ लुनीतः । इमे लुनन्ति । भूते लुनीहि लुनीहि इत्येवाहमलाविष्म । आवामलाविष्म । वयमलाविष्म । एवं युष्मदन्ययोरपि । वत्स्यति-लुनीहि लुनीहीत्येवाहं लविष्यामि । आवां लविष्यावः । वयं लविष्यामः । एवं युष्मदन्ययोरपि । अधीष्म अधीष्म इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । एवं युष्मदन्ययोरपि योष्यम् । ध्वमस्तु पक्षे श्रवणम् । अधीध्वमधीध्वमित्येवं यूयमधीध्वे । भूते-अधीष्म अधीष्म इत्येवाहमध्यगीषि । आवामध्यगीष्महि । वयमध्यगीष्महि । एवं सर्वत्र । वत्स्यति-अधीष्म अधीष्म इत्येवाहमध्येष्ये । आवामध्येष्यावहे । वयमध्येष्यामहे । एवं युष्मदन्ययोरपि । एव शेषेर्ध्वापि लकारेषु योष्यम् । द्वित्वमपेक्ष्य लोट् क्रियासमभिहारस्य द्योतकः । धुयोग इति वर्तते । प्रत्यासत्तेर्यत्र एव लोट् विधीयते तस्यैवानुप्रयोगः कालात्मनदाद्यक्त्वादीनामभिव्यक्तये क्रियते ।

प्रचये वा ॥२१४३॥ प्रचयः समुच्चयः । स चैकस्मिन् द्विप्रभृतेरध्यावायः । प्रचये उपाधौ वा लोट् भवति तस्य हिस्वावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा । अयं सर्वलकारप्राप्तौ विकल्पः । कर्मप्रचयो ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवं त्वमटसि । युवामटथः । यूयमटथ । तशब्दस्य तु वा-ग्राममटत नगरमटत गिरिमटत इत्येव यूयमटथ । ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवायमटति । इमौ अटतः । इमे अटन्ति । वाचनान्तात् ग्राममटामि नगरमटामि गिरिमटामि इत्येवाहमटामि । आवामटावः । वयमटामः । एवं युष्मदन्ययोरपि । एवं भूते वत्स्यति सर्वलकारेषु योष्यम् । दभाम्यः । जैनेन्द्रमधीष्म तर्कमधीष्म गणितमधीष्म इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । जैनेन्द्रमधीष्म तर्कमधीष्म गणितमधीष्म इत्येव त्वमधीषे । युवामधीयाथे । यूयमधीध्वे । ध्वमस्तु वा-जैनेन्द्रमधीष्म तर्कमधीष्म गणितमधीष्म इत्येव यूयमधीध्वे । जैनेन्द्रमधीष्म तर्कमधीष्म गणितमधीष्म इत्येवायमधीते । इमौ अधीयाते । इमे अधीयते । वाचनान्तात् जैनेन्द्रमधीये गणितमधीये तर्कमधीये इत्येवाहमधीये । आवामधीवहे । वयमधीमहे । एवं भूते वत्स्यति सर्वलकारेषु योष्यम् । कर्तृसमुच्चये देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव वयमोदनमट्वाः । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव यूयमोदनमट्थ । देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव इमे ओदनमदन्ति । कर्तृसमुच्चये द्विवचनं बहुवचनं वा भवति एकस्य समुच्चयाभावात् । क्रियासमुच्चये । ओदनं भुङ्क्त्व सक्तून् पिव घानाः खाद इत्येवाहमभ्यवहरामि । आवामभ्यवहरावः । वयमभ्यवहरामः । बहूनां क्रियाणां समुच्चये सामान्यप्रयोगोऽभिधानवशात् । एवं सङ्करसमुच्चयोऽप्युक्तः ।

निषेधेऽलंखत्वोः तत्त्वा ॥२।४।४॥ वेति वर्तते । अलं खलु इत्येतयोर्निषेधवाचिनेर्वाचोर्धोः तत्त्वो भवति । अलं कृत्वा । अलं बाले रुदित्वा । “क्लिनाऽमैव” [१।३।८३] इति नियमात् वाक्सो न भवति । निषेध इति किम् ? अलंकारः । अलंखत्वोरिति किम् ? मा कार्षीः । वेत्येव । अलं रोदनेन । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा ।

माडो व्यतिहारे ॥२।४।५॥ माडो व्यतिहारेऽर्थे तत्त्वा भवति वा । परकालत्वादप्राप्तः तत्त्वा विभाष्यते । अप्रमिल्य याचते । अवमिल्य हरति । “वेमेडः” [४।४।६६] इतीत्वम् । वेत्यधिकारात् याचित्वा अप्रमयते । हृत्वा अप्रमयते । मेडः कृतालस्य निर्देशो ज्ञापकः — “जानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्” [परि०] ।

परावरयोगे ॥२।४।६॥ परावराम्यां योगे गम्यमाने धोः तत्त्वा भवति । वेति वर्तते । संबन्धिषड्भ्यः क्त्वा परेण पूर्वस्य योगे । अप्राप्य नदीं पर्वतः । परया नद्या युक्तः पर्वतः प्रतीयते । अवरेण योगे परस्य तत्त्वा । अतिक्रम्य पर्वतं नदी । अवरपर्वतयोगविशिष्टा परा नदी प्रतीयते । वावचनाल्लङादयो भवन्ति । न प्राप्नोति नदीं पर्वतः । अतिक्रामति पर्वतं नदी ।

परकालैककर्तृकात् ॥२।४।७॥ परः कालो यस्याः सेयं परकाला क्रिया, तथा एककर्ता यस्य सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनः स तथोक्तः । तस्माद्धोः तत्त्वा भवति । स्नात्वा भुङ्क्ते । स्नात्वा भुत्त्वा पीत्वा व्रजति । एककर्तृकादिति किम् ? भुङ्कवति देवदत्ते गच्छति जिनदत्तः । परकालग्रहणं किम् ? सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनो यथा स्यादिह मा भूत् । भुङ्क्ते च पिबति च आस्ते च जल्पति च इहापि कथञ्चित् पूर्वकालत्वविवक्षास्ति । व्यादाय स्वपिति । संमील्य हसति इति । वेत्यधिकारात् । भुङ्क्ते शेते च ।

णम् चाभीक्ष्ण्ये ॥२।४।८॥ परकालैककर्तृकादिति वर्तते । मुहुर्मुहुर्वृत्तिराभीक्ष्ण्यम् । एतच्च प्रकृत्यर्थविशेषणम् । परकालैककर्तृकात् णमित्ययं ल्यो भवति तत्त्वत्यश्च । आभीक्ष्ण्ये-भोजंभोजं व्रजति । भुत्त्वा भुत्त्वा व्रजति । पायं पायं गच्छति । पीत्वा पीत्वा गच्छति । तत्त्वाणमौ द्वित्वमपेक्ष्याभीक्ष्ण्यं द्योतयतः । पूर्वेषु तत्त्वान्ये सिद्धे णमर्थं वचनम् । इह वेति निवृत्तम् । उत्तरत्र वाग्रहणात् ।

न यदनाकाङ्क्षे ॥२।४।९॥ यच्छब्दे वाचि तत्त्वाणमौ न भवतोऽनाकाङ्क्षे सति वाक्ये । अनन्तर-व्यवहितमेदाभावात् पूर्वसूत्रविहितो अनन्तरश्च तत्त्वा निषिध्यते णम् च । यदयं भुङ्क्ते ततो गच्छति । यदयं शेते ततोऽधीते । अनाकाङ्क्ष इति किम् ? यदयं भुक्त्वा व्रजति । अधीत एव ततः परम् । अत्र पूर्वोत्तर-क्रियाभ्यां अतिरिक्तमध्ययनं काङ्क्षते ।

वाऽग्रे प्रथमपूर्वे ॥२।४।१०॥ आभीक्ष्ण्य इति निवृत्तम् । “परकालैककर्तृकात्” [१।४।७] इत्यनेन तत्त्वान्ये प्राप्ते विभाषेयम् । अग्रे प्रथमं पूर्वं इत्येतेषु वाञ्छु तत्त्वाणमौ वा भवतः । अग्रे भोजं ततो ददाति । अग्रे भुक्त्वा ततो ददाति । प्रथमं भोजं ततो ददाति । प्रथमं भुक्त्वा ततो ददाति । पूर्वं भोजं ततो ददाति । पूर्वं भुक्त्वा ततो ददाति । “क्लिनामैव” [१।३।८३] इत्यत्रैवकारोपादानात् केवलैर्नैवामा विहितेन वाक्सो भवति नान्यसहितेन । वावचनाल्लङादयोऽपि भवन्ति । अग्रे भुङ्क्ते ततो ददाति । प्रथमं भुङ्क्ते ततो ददाति । पूर्वं भुङ्क्ते ततो ददाति ।

कर्मण्यक्रोशे कृजः खमुज् ॥२।४।११॥ कर्मणि वाचि आक्रोशे गम्यमाने कृजः खमुज् भवति । चोरोऽशीत्येवमाक्रोशति चोरङ्कारमाक्रोशति । दस्युङ्कारमाक्रोशति । क्त्वाऽपवादोऽयम् । आक्रोश इति किम् ? चोरं कृत्वाङ् गच्छति । नावाऽक्रोशसंपादनार्थं चोरग्रहणम् ।

स्वादुमि णम् ॥२।४।१२॥ स्वादुमीत्यर्थनिर्देशः । स्वाद्वर्थेषु वाञ्छु कृजो णम् भवति । परकालैककर्तृकादिति वर्तते । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । सम्पन्नङ्कारं भुङ्क्ते । लवणङ्कारं भुङ्क्ते । स्वादुमीति णम्सन्नियोगे

मकारान्तता निपात्यते । खमुञि प्रकृते । “खित्यक्तेः” [४।३।१७६] “सुमचः” [४।३।१७७] इति सुमा सिद्धमिति चेत् व्यन्तविवक्षायां अक्षेरिति प्रतिषेधः प्रसज्येत । खमुज्येव मान्तनिपातनं कर्तव्यमिति चेन्न व्यन्तार्थमेव तत्संभाव्येत । णमि पुननिपातनं ङीनिवृत्त्यर्थं “च्चौ” [५।२।१३५] दीत्वनिवृत्त्यर्थं च । स्वाद्वीकृत्वा यवागू भुङ्क्ते । स्वादुङ्कारं भुङ्क्ते । च्विविवक्षायां स्वादुं स्वादुं कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुंकारं भुङ्क्ते । “च्चौ” [५।२।१३५] इति दीत्वं प्रसज्येत । उत्तरार्थं च इह णमग्रहणम् । विभाषाधिकारात् क्वापि भवति । क्वादय आतुमो विधीयमाना भावे भवन्ति । ननु स्वादुंकारं भुङ्क्ते देवदत्त इति णमा कर्तुरनुकृत्वात् कर्तरि ता प्राप्ता “न स्मिन्” [१।४।७२] इत्यादिना ता कर्तरि न भवति ।

अन्यथैवं कथमित्यंस्वनर्थात् ॥२।४।१३॥ अन्यथा एवं कथमित्यमित्येतेषु वाक्तु धुभ्यो णम् भवति अनर्थात् । येन विनापि यदर्थः प्रतीयते स तत्रानर्थस्तस्मिन्प्रयुज्यमाने ल्यो भवति । तथाहि यावनेवार्थोऽन्यथा भुङ्क्ते इति तावानेव कृञ्प्रयोगेऽपि अन्यथाकारं भुङ्क्ते । एवंकारं भुङ्क्ते । कथंकारं भुङ्क्ते । इत्यङ्कारं भुङ्क्ते । अनर्थादिति किम् ? अन्यथा कृत्वा शिरो भुङ्क्ते ।

यथातथयोरसूयाप्रत्युक्तौ ॥२।४।१४॥ कृजोऽनर्थादिति वर्तते । यथा तथा इत्येतयोर्वाचोः कृजोऽनर्थात् णम् भवति असूयाकृतायां प्रत्युक्तौ गम्यमानायाम् । कथं कृत्वा भवान् भुङ्क्ते इत्येवं पृष्ठोऽस्यकस्तं प्रत्याह यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहं भोक्ष्ये किं तवानेन । अनर्थादिति किम् ? यथा कृत्वाहं बलिं भोक्ष्ये किं तवानेन । असूयाप्रत्युक्ताविति किम् ? यथाकृत्वाहं भोक्ष्ये तथा द्रक्ष्यसि त्वम् । तथाकृत्वाहं भोक्ष्ये यदा द्रष्टव्यं भवता ।

कर्मण्यशेषे दृशिचिदः ॥२।४।१५॥ अशेषः कः ? साकल्यम् । इदं कर्मणो विशेषणम् । अशेषविशिष्टे कर्मणि वाचि दृशिचिदोर्ध्वोर्णम् भवति । साधुदर्शं प्रणमति । सर्वं साधुं प्रणमतीत्यर्थः । अतिथिवेदं भोजयति । यं यं विन्दति विन्दते वा तं सर्वं भोजयतीत्यर्थः । अशेष इति किम् ? अतिथिं दृष्ट्वा भोजयति ।

यावति विन्दजीवः ॥२।४।१६॥ यावच्छब्दे वाचि विन्दतिजीवत्योर्णम् भवति । यत्र पूर्वकालत्वं सम्भवति तत्र तत्त्वाऽपवादः । यत्र न सम्भवति तत्रापूर्वं एव विधिः । धुयोग इति वर्तते । यावद्वेदं भुङ्क्ते । यावल्लभते तावद्भुङ्क्ते इत्यर्थः । यावजीवमधीते । यावजीवति तावदधीते इत्यर्थः ।

चर्मोदरयोः पूरेः ॥२।४।१७॥ कर्मणीति वर्तते । चर्म उदर इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः पूरयतेर्णम् भवति । चर्मपूरं शेते । उदरपूरं भुङ्क्ते ।

वर्षप्रमाणे ॥२।४।१८॥ कर्मणीति वर्तते । कर्मणि वाचि पूरयतेर्णम् भवति समुदायेन वर्षप्रमाणे गम्यमाने । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । सीतापूरं वृष्टो देवः । कथं गोष्पदप्रं वृष्टो देवः ? प्रातेरातः के कृते क्रियाविशेषणत्वेन नपुंसकलिङ्गम् । एतस्य कान्तस्यैव विभक्त्यन्तच्छ्यादियु च प्रयोगः साधुः । गोष्पदप्रेण गोष्पदप्री भवति । गोष्पदप्रतरम् गोष्पदपूरं वृष्टो देव इत्येवमादाबुभयथा प्रयोग इष्यते । णमन्तस्य घञन्तस्य च क्रियाविशेषणभावेन हति विभक्त्यन्तरे च विशेषः । णमन्तस्य हि देश्यादिषु गोष्पदपूरं भवति गोष्पदपूरदेश्यम् गोष्पदपूरदेशीयम् गोष्पदपूरकल्पं गोष्पदपूरतराम् । घञन्तस्य गोष्पदपूरीभवति गोष्पदपूरदेश्यं गोष्पदपूरदेशीयम् गोष्पदपूरकल्पम् । गोष्पदपूरतराम् ।

चेलेषु क्रोपेः ॥२।४।१९॥ कर्मणीति वर्तते । चेलार्थेषु कर्मसु वाक्तु क्रोपयतेर्णम् भवति वर्षप्रमाणे गम्ये । चेलक्रोपं वृष्टो देवः । एवं वल्लक्रोपं वसनक्रोपम् ।

शुष्कचूर्णभक्षेऽपि पिबः ॥२१४१२०॥ कर्मणीति वर्तते । शुष्क चूर्णं भक्ष इत्येतेषु कर्मसु वाञ्छु पिबेर्धोर्णम् भवति । शुष्कपेषं पिनष्टि तगरम् । शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः । एवं चूर्णपेषं पिनष्टि । भक्षपेषं पिनष्टि । घञि सति क्रियाविशेषणे शुष्कस्य पेषं पिनष्टि इत्येवमादयः प्रयोगाः साधवः । इतः प्रभृति “उपदंशो भायाम्” [२१४१३३] इत्यतः प्राकृत एव धोर्णम् भवति तस्यैवानुप्रयोगोऽपि भवत्यभिधानवशात् ।

जीवाकृते ग्रहिकृञः ॥२१४१२१॥ कर्मणीति वर्तते । जीव अकृत इत्येतयोः कर्मवाचिनो-
र्वाचोर्ध्यासंख्यं ग्रहि कृञ् इत्येताभ्यां णम् भवति । जीवग्राहं गृहीतः । अकृतकारं करोति ।

निमूले कषः ॥२१४१२२॥ कर्मणीति वर्तते । निमूले कर्मणि वाचि कषेर्णम् भवति । निमूलकाषं कषति । घञि सति क्रियाविशेषणे निमूलस्य काषं कषति इत्यपि भवति ।

समूले हनश्च ॥२१४१२३॥ कर्मणीति वर्तते । समूले कर्मणि वाचि हन्तेः कषेश्च णम् भवति । समूलवातं हन्ति । समूलकाषं कषति ।

करणे ॥२१४१२४॥ हन इति वर्तते । करणे वाचि हन्तेर्णम् भवति । पाणिघातं कुडघं हन्ति । पाणिना हन्तीत्यर्थः । पादघातं शिलां हन्ति । यदा हिंसार्थो ‘हन्तेर्विवक्षितः तदा “हिंसार्थादिकर्मकात्” [२१४१३४] इतीममपि विधिं पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वाऽयमेव णम् । असिघातं हन्ति चौरान् । कोऽत्र विशेषः ? अनेन नित्यः सविधिः तस्यैव धोरनुप्रयोगश्च भवति ।

हस्ते वर्तिग्रहः ॥२१४१२५॥ करण इति वर्तते । हस्त इति अर्थनिर्देशः । हस्तवाचिनि करणे वाचि वर्तयति गृह्णातिभ्यां णम् भवति । हस्तवर्तं वर्तयति । हस्तेन वर्तयतीत्यर्थः । एवं पाणिवर्तम् । कर्तवर्तम् । हस्तग्राहं गृह्णाति । हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः । एवं पाणिग्राहं करग्राहम् ।

स्वेषु पुषः ॥२१४१२६॥ करण इति वर्तते । स्व इति स्वरूपस्य तद्विशेषाणां च ग्रहणम् । बहुत्व-
निर्देशात् । स्ववाचिकरणवाचिनि पुषेर्धोर्णम् भवति । आत्मात्मीयज्ञातिधनानि स्वशब्देनेष्यन्ते । स्वपोषं पुषः । विद्यापोषं गोपोषं मातृपोषं पितृपोषं रैपोषं पुष्णाति । सर्वत्र घञन्तेन णमन्तस्यार्थकथनं द्रष्टव्यम् । स्वेन पोषं पुष इति स एव पुषिः कालसाधनभेदादन्यत्वं गतः पुषिणा युज्यते । यथा एषितुमिच्छति एषिषिषति । इषिरिषिणा युज्यते ।

स्नेहने पिबः ॥२१४१२७॥ करण इति वर्तते । स्निह्यतेऽनेनेति स्नेहनम् । स्नेहनवाचिनि करणे वाचि पिबेर्धोर्णम् भवति । घृतपेषं पिनष्टि । घृतेन पिनष्टीत्यर्थः । एवं तैलपेषम् । उदपेषम् । ‘पेषमि’ [४१३१६६] इत्युदकस्योदादेशः ।

बन्धोऽधिकरणे ॥२१४१२८॥ अधिकरणे वाचि बन्नातेर्णम् भवति । चक्रबन्धं बद्धः । चक्रे बद्ध इत्यर्थः । एवं चारकबन्धम् । दृष्टिबन्धम् । गुप्तिबन्धम् । बध्यमानाधारे वाचि णम् भवति न बन्धाधारे । हस्ते बन्नातीति वेत्यधिकाराद्वा न भवति ।

खौ ॥२१४१२९॥ खुविषये च बन्नातेर्णम् भवति । चण्डालिकाबन्धं बद्धः । अट्टालिकाबन्धं बद्धः । महिषिकाबन्धं मयूरिकाबन्धं क्रोद्धबन्धं बद्धाः । णमन्ताः बन्धविशेषाणां संज्ञा एताः । अर्थप्रदर्शनं तु यथाकर्थावत्करणेन वाचा अन्यथा वा दर्शनीयम् । अन्ये तु व्याचक्षते खुभूतो यो बन्धः तस्मिन् करणवाचिनि वाचि बन्नातेर्णम् भवति ।

कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिबहोः ॥२१४१३०॥ जीव पुरुष इत्येतयोः कर्तृवाचिनोर्वाचोर्ध्यासं नशि-

वहिभ्यां णम् भवति । जीवनाशं नश्यति । जीवो नश्यतीत्यर्थः । पुरुषवाहं वहति । पुरुषो भूत्वा वहतीत्यर्थः । कर्त्रोरिति किम् ? जीवेन नष्टः । पुरुषं वहन्ति । अत्र करणं कर्म च वाक् ।

ऊर्ध्वं शुषिपुरोः ॥२॥४॥३१॥ कर्त्रोरिति वर्तते । ऊर्ध्वशब्दे कर्तृवाचिनि वाचि शुषि पूरि इत्येताभ्यां णम् भवति । ऊर्ध्वशोषं शुष्कः । ऊर्ध्वः इत्यर्थः । ऊर्ध्वपूरं पूर्यते । ऊर्ध्वः पूर्यत इत्यर्थः ।

कर्मणि चेवे ॥२॥४॥३२॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवादिवार्थं उपमानं गृह्यते । इवशब्दार्थे वर्तमाने कर्मणि कर्तरि भूवादिधोर्णम् भवति कर्मणि । घृतनिघायं निहितः । घृतमिव निहित इत्यर्थः । एवं जीवितरक्षं रक्षितः । कर्तरि—अक्रूरनाशं नष्टः । अक्रूर इव नष्ट इत्यर्थः । एवमजकनाशं नष्टः । चूडकनाशं नष्टः । पिषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगो न वक्तव्यः । धुयोग इति वर्तते तत्र प्रत्यासत्तेरभिधानवशाद्वा यत एव धोर्णम् तस्यैवानुप्रयोगः ।

उपदंशो भायाम् ॥२॥४॥३३॥ उपपूर्वाद् शोभान्ते वाचि णम् भवति । धुयोग इति च वर्तते । एककर्तृकादिति च पूर्वकालत्वं संभवतः संबन्धनीयम् । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते । “वा भादि” [१।३।८४] इति विभाषया वाक्सः । इत ऊर्ध्वं यानि वाक्संज्ञकानि वक्ष्यन्ते तानि भादिग्रहणेन गृह्यन्ते । सर्वत्रास्मिन् प्रकरणे वेत्यनुवर्तते । तेन तत्रापि भवति । मूलकेनोपदंश्य भुङ्क्ते । कर्मणः साधकतमत्वविवक्षायां भा भवति । अथवा उपदंशिगुणस्य भुञ्जेरेतत्करणम् ।

हिसार्थादेककर्मकात् ॥२॥४॥३४॥ भायामिति वर्तते । हिसार्थेभ्यो धुभ्योऽनुप्रयोगेणैककर्मकेभ्यो भान्ते वाचि णम् भवति । दण्डाघातं गाः सादयति । दण्डेनाघातम् । “करणे” [२।४।२४] इत्यनेन हन्तेर्यः पूर्वनिर्णयेन णम् विहितस्तस्यैवानुप्रयोगो द्रष्टव्यः । हन्तेरन्यदपीदोदाहरणम् । दण्डाताडं गाः कालयति । दण्डेनाताडम् । खड्गप्रहारं शत्रून् विजयते । खड्गेन प्रहारम् । एककर्मकादिति किम् ? दण्डेनाहत्य भूमिं गोपालको गाः सादयति ।

ईपि चोपपोडरुधकर्षः ॥२॥४॥३५॥ उपपूर्वेभ्यः पीडरुधकर्षेभ्य ईपि वाचि चकाराद्भान्ते वाचि णम् भवति । उपशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । व्रजोपरोधम् । व्रजे उपरोधम् । व्रजेनोपरोधम् । पार्श्वोपपीडं शेते । पार्श्वभ्यामुपपीडम् । पार्श्वव्येरोपपीडम् । पाण्युपकर्षं धानाः पिनाष्टि । पाण्युपकर्षम् । पाणिनोपकर्षम् ।

प्रमाणास्त्योः ॥२॥४॥३६॥ ईपि भायां चेति वर्तते । प्रमाणमायाममानम् । आसत्तिः सन्निकर्षः । ईवन्ते भान्ते वाचि धोर्णम् भवति प्रमाणास्त्योर्गम्यमानयोः । द्व्यङ्गुलोत्कर्षं गण्डकारिच्छन्ति । त्र्यङ्गुलोत्कर्षम् । त्र्यङ्गुलेनोत्कर्षम् । त्र्यङ्गुले उत्कर्षम् । आसत्तौ । केशग्राहं युध्यन्ते । केशेषु ग्राहं केशीग्राहम् । सन्निकृष्टं युध्यन्ते इत्यर्थः । एवमस्यपनोदं युध्यन्ते । असिष्वपनोदम् । असिभिरपनोदम् । हस्तग्राहम् । हस्तेषु ग्राहम् । हस्तैर्ग्राहम् ।

त्वर्यपादाने ॥२॥४॥३७॥ त्वरणं त्वरा त्वरीति सौत्रमात्रम् । त्वरायां गम्यमानायामपादाने वाचि धोर्णम् भवति । शय्योत्थायं धावति । शय्याया उत्थाय । मुखप्रक्षालनाद्यवश्यकार्यमकृत्वा त्वरत इत्यर्थः । एवं स्तनरन्ध्रापकर्षं पयः पिबति । स्तनरन्ध्रादपकर्षम् । भ्राष्टापकर्षमपूपात् भक्षयति । भ्राष्टादपकर्षम् । वेत्यनुवर्तनात् शय्याया उत्थाय धावति । त्वरीति किम् ? आसनादुत्थाय गच्छति ।

इपि ॥२॥४॥३८॥ त्वरीति वर्तते । इवन्ते वाचि त्वरायां गम्यमानायां धोर्णम् भवति । यष्टिग्राहं युध्यन्ते । यष्टिं ग्राहम् । त्वरायां युद्धप्रहरणमनपेक्ष्य यष्टिमादाय युध्यते इत्यर्थः । एवं पटापकर्षं धावन्ति पटमपकर्षम् । त्वरीत्येव । खड्गं गृहीत्वा युध्यन्ते ।

स्वाङ्गेऽध्रुवे ॥२।४।३९॥ इपीति वर्तते । यस्मिन्विनष्टेऽपि प्राणिनां मरणं न भवति तदध्रुवं स्वाङ्गम् । तस्मिन्निवन्ते वाचि धोर्यम् भवति । अक्षिन्निकोचं जल्पति । अक्षणी निकोचम् । भ्रूक्षेपं जल्पति । भ्रुवं क्षेपम् । अंगुलिन्निकोटं जल्पति । अंगुलिं निकोटं जल्पति । अध्रुव इति किम् ? शिर उल्लिख्य जल्पति ।

अद्रवं मूर्तिमत्स्वांगं प्राणिस्थमविकारकम् । अतत्त्वं तत्र दृष्टं च तेन चेतत्तथायुतम् ।

आद्यैश्वर्यमिर्विशेषणैर्लालाबुद्धिफलशोफादिरहितप्राणिस्थं वस्तु स्वाङ्गमुक्तम् । अतत्त्वं तत्र दृष्टं चेत्यनेन भूमिपतितकेशादिपरिग्रहः । तेन चेतत्तथायुतमित्यनेन काष्ठादिप्रतिमायां स्थितं पाययादि संगृहीतम् ।

सक्तेशे ॥२।४।४०॥ इपीति वर्तते स्वाङ्ग इति वा । सह क्लेशेन दुःखेन वर्तते इति सक्तेः शं क्षिप्र्यमानमित्यर्थः । इवन्ते सक्तेः शे स्वाङ्गे वाचि धोर्यम् भवति । ध्रुवार्थोऽयमारम्भः । उरःप्रतिपेपं युध्यन्ते । उरांसि प्रतिपेपम् । उरांसि पीडयन्तो युध्यन्ते इत्यर्थः । एवं शिरःप्रतिपेपम् । शिरांसि प्रतिपेपम् ।

विशिपतिपदिस्कन्दो व्याप्यासेव्ययोः ॥२।४।४१॥ इपीति वर्तते । विश्यादिभिः कात्स्न्येन व्यापनीयद्रव्यं व्याप्यम् । क्रियारूपं तात्पर्येण आसेवनीयमासेव्यम् । क्रियाधारभूतमुपचाराद्द्रव्यमप्यासेव्यम् । विशि पति पदि स्कन्द इत्येतेभ्यो ध्रुम्यः व्याप्य आसेव्ये च वाचि णम् भवति । गेहानुप्रवेशमास्ते । वृत्त्या व्यापनस्यासेवनस्य चोक्तत्वात् द्वित्वं न भवति । वाक्यपदे व्याप्यमानस्य द्रव्यस्य द्वित्वम् । आसेव्यविवक्षायां तु मुख्यस्यासेव्यस्य क्रियारूपस्य द्वित्वम् । गेहं गेहमनुप्रवेशमास्ते । गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते । गेहानु-प्रपातमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपातम् । गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते । गेहमनुप्रपादमास्ते । गेहं गेहमनुप्रपादम् । गेहमनुप्रपादमनुप्रपादम् । गेहावस्कन्दमास्ते । गेहं गेहमवस्कन्दम् । गेहमवस्कन्दमवस्कन्दम् । वेत्यधिकारात् गेहं गेहमनुप्रविश्य गेहमनुप्रविश्यानुप्रविश्यास्ते । वीप्सायामाभीक्ष्ण्ये च द्वित्वम् । व्याप्यासेव्ययोरिति किम् ? गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते । “णम् चामीक्ष्ये” [२।४।८] इति यद्यप्यासेव्ये णम् सिद्धः, तथापि वाक्यसर्विकल्पार्थमिदम् ।

तृष्यस्वोः क्रियान्तरे काले ॥२।४।४२॥ इपीति वर्तते । इवन्ते कालवाचिनि वाचि तृषि अस्तु इत्येतान्यां णम् भवति क्रियान्तरार्थे यद्यनुप्रयुज्यमानक्रियापेक्षया क्रियान्तरे वृत्तिरित्यर्थः । द्रव्यहापतर्षं गाः पाययति । द्रव्यहमपतर्षम् । व्यहापतर्षम् । व्यहमपतर्षम् । द्रव्यहात्यात्वं गाः पाययति । द्रव्यहमत्यासम् । व्यहात्यासम् । व्यहमत्यासम् । कालाध्वन्यविच्छेद इतीप् । तृष्यस्वोरिति किम् ? द्रव्यहमुपोष्य भुङ्क्ते । क्रियान्तर इति किम् ? अहरत्यस्य गतः । अत्रात्यतिर्न क्रियान्तरे वर्तते किन्तु गतावेव । काल इति किम् ? पञ्च पूलान् अत्यस्य तिलान् भक्षयति ।

नामन्यादिशिग्रहः ॥२।४।४३॥ इपीति वर्तते । इवन्ते नामशब्दे वाचि आदिशिग्रहिन्यां णम् भवति । नामादेशमाचष्टे । नामान्यादेशम् । नामग्राहमाकारयति । नामानि ग्राहम् ।

भ्तावनिष्टोक्तौ कृजः क्त्वाणमौ ॥२।४।४४॥ भिसंज्ञके वाचि अनिष्टोक्तौ गम्यमानायां कृजः क्त्वाणमौ भवतः । वेत्यधिकारात् क्त्वाण्ये सिद्धे पुनः क्त्वाग्रहणं क्त्वा इत्यनेन वृत्तविकल्पार्थम् । मादीति तत्र वर्तते तेनोत्सर्गे क्त्वाण्ये सविकल्पो न स्यात् । ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः किं तर्हि वृषल नीचैः कृत्याचष्टे । नीचैः कृत्वा । नीचैः कारम् । उच्चैर्नाम प्रेयमाख्येयम् । नीचैराख्यायमानमनिष्टं भवति । ब्राह्मण कन्या तै गर्भिणी । तर्हि वृषल उच्चैः कृत्याऽचष्टे । उच्चैः कृत्वा । उच्चैः कारम् । कन्यागर्भः उच्चैराख्यायमानोऽनिष्टः । अनिष्टोक्ताविति किम् ? उच्चैः कृत्याचष्टे पुत्रस्ते जातः ।

तिरस्क्यपवर्गे ॥२।४।४५॥ अपवर्गः समाप्तिः । तिर्यक्छब्दे वाचि अपवर्गे गम्यमाने कृजः क्त्वाणमौ

भवतः । तिर्यक्कृत्य गतः । तिर्यक्कृत्वा । तिर्यकारम् । समाप्य गत इत्यर्थः । अपवर्ग इति किम् ? तिर्यक् कृत्वा काष्ठं गतः । तिरश्चीति तिर्यक्कृद्भानुकरणनिर्देशः । “प्रकृतिवदनुकरणं भवति” [परि०] इति रूपसिद्धिः ।

स्वाङ्गे तस्त्ये कृभुवः ॥२।४।४६॥ तस्त्यो यस्मात्तत्थोक्तम् । तस्त्ये स्वाङ्गे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्वाणमौ भवतः । भिन्नयोगनिर्दिष्टलाघ्यासंख्यमत्र न भवति । मुखतःकृत्य गतः । मुखतः कृत्वा । मुखतः-कारम् । पृष्ठतःकृत्य । पृष्ठतः कृत्वा । पृष्ठतःकारम् । मुखतोभूय । मुखतोभूत्वा । मुखतोभावम् । पृष्ठतोभूय । पृष्ठतोभूत्वा । पृष्ठतोभावम् । “अपादानेऽहीयस्तेः” [४।२।५०] इति “आदिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति वा तसिः । स्वाङ्ग इति किम् ? सर्वतःकृत्वा । तस्त्यग्रहणं किम् ? मुखीकृत्य गतः । त्यग्रहणं किम् ? मुखे तस्यति मुखतः । अमुखतसं मुखतसं कृत्वा मुखतःकृत्य ।

नाधार्यत्वे च्यर्थे ॥२।४।४७॥ नार्थो धार्यश्च त्यो यस्मात् तथोक्तः । नार्थत्वे धार्यत्वे च शब्दे च्यर्थे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्वाणमौ भवतः । नार्थत्वे-विनाकृत्य गतः । विनाकृत्वा । विनाकारम् । विनाभूय । विनाभूत्वा । विनाभावम् । अनाना नाना कृत्य गतः । नानाकृत्वा । नानाकारम् । नानाभूय । नानाभूत्वा । नानाभावम् । “विनञ्भ्यां नानाञौ न सह” [३।१।४७] इति नानाञौ भवतः । धार्ये त्ये-अद्विधा द्विधा कृत्य गतः । द्विधाकृत्वा । द्विधाकारम् । द्विधाभूय । द्विधाभूत्वा । द्विधाभावम् । अद्वैधं द्वैधं कृत्य गतः । द्वैधं कृत्वा । द्वैधंकारम् । द्वैधं भूय । द्वैधं भूत्वा । द्वैधं भावम् । अद्वेधा द्वेधा कृत्य गतः । द्वेधाकृत्वा । द्वेधाकारम् । द्वेधाभूय । द्वेधाभूत्वा । द्वेधाभावम् । “संख्याया विधायै धा” [४।१।१०६] “द्वित्रेधंसुञ्” [४।१।१०८] एकधा । ऐक्यम् । “वैकाद्वयमुञ्” [४।१।१०७] । अर्थग्रहणं स्वरूपमात्रनिरासार्थम् । त्यग्रहणं किम् ? नाधार्ये वाचीत्युच्यमाने इहापि स्यात् । अहिरक् हिरक्कृत्वा पृथक्कृत्वा चिर्विकल्पेन विधास्यते । च्यर्थमात्रमत्र विवक्षितं न च्विः । अर्थ इति किम् ? नाना कृत्वा काष्ठानि गतः ।

तूष्णीमि भुवः ॥२।४।४८॥ तूष्णीमशब्दे वाचि भू इत्येताभ्यां क्वाणमौ भवतः । तूष्णींभूयास्ते । तूष्णीं भूत्वा । तूष्णींभावम् ।

अन्वच्यानुलोम्ये ॥२।४।४९॥ आनुलोम्यमनुकूलता । अन्वक्लब्दे वाचि आनुलोम्ये गम्यमाने भुवः क्वाणमौ भवतः । अन्वग्भूत्वा । अन्वग्भावम् । आनुलोम्य इति किम् ? अन्वग्भूत्वा आस्ते । पश्चाद्भूत्वेत्यर्थः । अन्वचीति निर्देशः प्रकृतिवदनुकरणमिति न्यायात् ।

शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थे तुम् ॥२।४।५०॥ शकादिषु अस्त्यर्थेषु च धुषु वाक्तु धोस्तुम् भवति । शक्नोति भोक्तुम् । धृष्णोति भोक्तुम् । जानाति भोक्तुम् । ग्लायति भोक्तुम् । घटते भोक्तुम् । आरभते भोक्तुम् । लभते भोक्तुम् । प्रक्रमते भोक्तुम् । सहते भोक्तुम् । अर्हति भोक्तुम् । अस्त्यर्थेषु-अस्ति भोक्तुम् । भवति भोक्तुम् । विद्यते भोक्तुम् । क्रियायां तदर्थ्यायां वाचि तुम् विहितः । अतदर्थ्यामपि यथा स्यादित्यारम्भः ।

पर्याप्तिवचनेऽलमर्थे ॥२।४।५१॥ पर्याप्तिः प्रभूतत्वं सामर्थ्यं च अलमर्थेन विशेष्यमाणत्वात्सामर्थ्यमेवावतिष्ठते । पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थविशिष्टेषु वाक्तु धोस्तुम् भवति । पर्याप्तो भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् । प्रभुर्भोक्तुम् । अलं भोक्तुम् । पारयति भोक्तुम् । इदमप्यस्योदाहरणम् । युक्तं पुनरिदं विचारयितुम् । “वा भाङि” [१।३।८३] इति षसो न भवति । अमैवेति तत्र वर्तते । पर्याप्तिवचन इति किम् ? अलङ्कृते कन्याम् । अलं स्रद्धत्वा । समर्थं भवति वक्तव्ये गुरुकरणं किम् ? सामर्थ्यमात्रे मा भूत् । शक्त्या भुङ्क्ते । बलेन भुङ्क्ते । अलमर्थे इति किम् ? पर्याप्तं भुङ्क्ते । प्रभूतं भुङ्क्ते । अन्यूनं भुङ्क्ते । पूर्वसूत्रे शक्तिः सौकर्यं वर्तते नालमर्थे ।

कर्तरि कृत् ॥२।४।१२॥ कर्तरि कारके कृत्संज्ञास्त्या भवन्ति । अनिर्दिष्टार्थास्त्याः स्वार्थे भावे प्राप्ताः । कारकः । कर्ता । ये कृतः कर्तरि नेष्टाः तेषां करणाधिकरणयोरुडित्येवमादिरपवाद उक्तः ।

भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ॥२।४।१३॥ भव्य इत्येवमादयः शब्दाः कर्तरि वा निपात्यन्ते । “तयोर्व्यक्तार्थाः” [२।४।५२] इत्यस्मिन् प्राप्ते पदे कर्तरि विधानम् । भव्यसौ भव्यः । भव्यमनेनेति वा । गेयो माणवकः षडङ्गस्य । गेयो माणवकेन षडङ्गः । प्रवचनीयो गुरुः शास्त्रस्य । प्रवचनीयं शास्त्रं गुरुणा । उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः । उपस्थानीयो गुरुः शिष्येण । जायते असौ जन्यः । जन्यमनेन । “जनिवच्योः” [२।२।४०] इत्यैपप्रतिषेधः । अथवा “शक्तिसहश्च” [२।१।८६] इति चकारेण जनेर्यः । आह्वयतेऽथै आह्वयः । आह्वयमनेन । आपततीत्यापात्यः । आपात्यमनेन ।

लः कर्मणि च भावे च धेः ॥२।४।१४॥ ल इति लडादीनां नवानामुत्सृष्टानुबन्धानां सामान्येन ग्रहणं जसा च निर्देशः । लकाराः सकर्मकेभ्यो धुभ्यः कर्मणि कर्तरि च कारके भवन्ति, भावे कर्तरि च धिसंज्ञेभ्यः । कर्मणि—क्रियते कटः । गम्यते ग्रामः । कर्तरि—करोति कटम् । गच्छति ग्रामम् । धेर्भावे—आस्यते भवता । सुप्यते । कर्तरि—आस्ते भवान् । स्वपिति भवान् । लो डौ चेति वक्तव्ये प्रपञ्चेन निर्देशः किमर्थः ? सकर्मकेभ्यो लो भावे मा भूवन् ।

तयोर्व्यक्तार्थाः ॥२।४।१५॥ तयोर्भावकर्मणोः व्यसंज्ञश्च कृश्च लार्थाश्च भवन्ति । “कर्तरि कृत्” [२।४।१२] इत्यस्यायमपवादः । कर्मणि—कर्तव्यः कटो भवता । भोक्तव्य ओदनो भवता । भावे—आसितव्यं भवता । शयितव्यं भवता । कृः कर्मणि । कृतः कटो भवता । भुक्त ओदनो भवता । भावे—आसितं भवता । शयितं भवता । लार्थाः कर्मणि—ईषत्करः कटो भवता । सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । दुष्पानं पयो भवता । भावे—स्वासं भवता । दुरासं भवता । सुस्नानं भवता । दुर्ग्लानं भवता । आत्मकर्मविवक्षायां व्यक्तलार्थप्रयोगविषये सकर्मका अप्यविवक्षितकर्मकत्वेनाकर्मकाः । तेन भावे व्यादयः । भेत्तव्यं कुशलेन स्वयमेव । भावकर्मग्रहणे तु वर्तमाने तयोरिति ग्रहणं यथाविधिप्रतिपादनार्थं सकर्मकेभ्यः कर्मण्यकर्मकेभ्यो भाव इति ।

कर्तरि चारम्भे कृः ॥२।४।१६॥ आरम्भः आद्यः क्रियाद्वयः । आरम्भे यो धुर्वर्तते तस्माद्यः कृः स कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । प्रकृतो भवान् कटम् । प्रकृतः कटो भवता । प्रकृतं भवता । प्रभुक्तो भवानोदनम् । प्रभुक्तः ओदनो भवता । प्रभुक्तं भवता । धिभ्यस्तु “धिगत्यर्थाच्च” [२।४।१८] इति वक्ष्यति । आद्यक्रियाद्वयकाले । कटो नाभिनिर्वृतः तस्योपचारात् भूतकालेन प्रकृतशब्देन सामानाधिकरण्यात् ।

श्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजृषश्च ॥२।४।१७॥ श्लिषादिभ्यः कर्तरि क्तो भवति यथाप्राप्तं च भावकर्मणोः । “धिगत्यर्थाच्च” [२।४।१८] इति सिद्धे इह सकर्मकार्थमुपादानम् । इदमेव ज्ञापकम् । अकर्मका (सकर्मका) अपि भवन्ति । आश्लिष्टः कन्यां देवदत्तः । आश्लिष्टा कन्या देवदत्तेन । आश्लिष्टं देवदत्तस्य । अतिशयितो गुरुं भवान् । अतिशयितो भवता गुरुः । अतिशयितं भवतः । उपस्थितो गुरुं भवान् । उपस्थितो भवता गुरुः । उपस्थितं भवतः । उपासितो गुरुं भवान् । उपासितो भवता गुरुः । उपासितं भवतः । अनूषितो गुरुं भवान् । अनूषितो भवता गुरुः । अनूषितं भवतः । अनुजातो माणवको माणविकाम् । अनुजातो माणविका माणवकेण । अनुजातं माणवकस्य । आरूढो वृक्षं देवदत्तः । आरूढ वृक्षो

१. षड्जस्य व०, स० । २. षड्जः व०, स० । ३. चाधेः मु० । ४. लाघौ च व०, व०, स० ।

५. लाघौ व०, व०, स० ।

देवदत्तेन । आरुढं देवदत्तस्य । अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः । अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन । अनुजीर्णं देवदत्तस्य । स्तेरगत्यर्थत्वादपि गत्यर्थकार्यं न भवति । आरोहयति वृत्तं देवदत्तेन । कर्मसंज्ञा न भवति ।

धिगत्यर्थाच्च ॥२।४।१८॥ धिवृत्तेभ्यः गत्यर्थेभ्यश्च धुभ्यः कृत्यस्यः कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च । आसितो भवान् । आसितं भवता । शयितो भवान् । शयितं भवता । गत्यर्थेभ्यः-गतो भवान् ग्रामम् । गतो भवता ग्रामः । गतं भवता । यातो भवान् । यातो भवता ग्रामः । यातं भवता । “कारुभावाध्वभिः कर्मभिः सकर्मकवद्भवति” [वा०] वत्करणत्वात् स्वाश्रयमपि भवति । अतस्त्वरूपम् । सुतो भवान् मासम् । सुतो भवता मासः । सुतं भवता । ओदनपाकं सुतो भवान् । ओदनपाकः सुतो भवता । ओदनपाकं सुतं भवता । क्रोशं सुतो भवान् । क्रोशः सुतो भवता । क्रोशं सुतं भवता ।

अधिकरणे चाद्यर्थाच्च ॥२।४।१९॥ कृ इति वर्तते । अद्यर्था अभ्यवहारार्थाः । अद्यर्थेभ्यो धिगत्यर्थेभ्यश्च कृतोऽधिकरणे भवति कर्तरि भावे कर्मणि च । यथाप्राप्तं कर्तृकर्मभावेषु । अद्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्मभावेषु कृः । अधिकरणे अस्मिन्निमे भुङ्गते स्म इदमेषां भुक्तम् । इदमेषां पीतम् । “कस्याधिकरणे” [१।४।७०] इति कर्तरि ता । कर्मणि-एभिर्भुक्तं ओदनः । एभिः पीतं मधु । भावे-भुक्तमेभिः । पीतमेभिः । धिभ्योऽधिकरणकर्तृभावेषु कृः । अधिकरणे-इदमेषामासितम् । आसितो भवान् । आसितं भवता । गत्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्तृकर्मभावेषु कृः । अधिकरणे-इदमेषां यातम् । यातो देवदत्तो ग्रामम् । यातो देवदत्तेन ग्रामः । यातं देवदत्तेन । इह विभुक्ताः भ्रातरः पीता गावः इति मत्वर्थयोऽकारः ।

दासगोक्षौ संप्रदाने ॥२।४।२०॥ दास गोत्र इत्येतौ शब्दौ निपात्येते संप्रदाने कारके । दासतेऽस्मै पचाद्यचि दासः । गां हन्ति अस्मै आगताय गोक्षोऽतिथिः । यत्र निपात्यः । स्त्रियां गोक्षी देवदत्ता ।

भीमादयोऽपादाने ॥२।४।२१॥ भीमादयः शब्दा अपादाने कारके ज्ञातव्याः । भीमादयः शब्दा अन्यत्र साधिताः कारकनियमार्थमिह तेषां पाठः । धिमेत्यस्मादिति भीमः । भीष्मः । भयानकः । चरुः । प्रस्कन्दनम् । प्रयतनम् । समुद्रवन्त्यस्मात् समुद्रः । खुवः । खुक् । भृष्टिः । रक्षा । संकसन्ति तस्मात् संकसुकः । खलिनः ।

उणादयोऽन्यत्राभ्याम् ॥२।४।२२॥ उणादयस्त्या आभ्यां संप्रदानापादानाभ्यामन्येषु कारकेषु भवन्ति । करोतीति कारुः । वृश्चति तं वृक्षः । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तुः । वृत्तं तत्र वर्त्म । चरितं तत्रेति चर्म । भसितं तत्रेति भस्म । ऋचन्ति तया ऋक् ।

लस्य ॥२।४।२३॥ अकार उच्चारणार्थः । लस्येत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो लस्य स्थाने तद्वेदितव्यम् । नव लकाराः पञ्च टितश्चत्वारो ङितः-लट् लिट् लुट् लृट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ् । एषामनुबन्धापायेन लकारमात्रं स्थानित्वेनाधिक्रियते । त्य इति वर्तते धोरिति च । धोर्विहितस्य त्यस्य लकारस्य ग्रहणात् लभते चूडाल इत्येवमादि परिहृतम् ।

मिब्वश्मस्सिप्थस्थतिसस्मोड्वहिमहिथासाथाध्वन्तातांभङ् ॥२।४।२४॥ लस्य स्थाने मिबादयः आदेशा भवन्ति । पकारः “गोऽपिप्” [१।१।७८] इति विशेषणार्थः । इष्टकारो “रञ्जकेटः” [२।४।८६] इति विशेषणार्थः । भङ्गो ङकारः प्रत्याहारार्थः । पचामि । पचावः । पचामः । पचसि । पचथः । पचथ । पचति । पचतः । पचन्ति । टितां दविष्ये आदेशान्तराणि वक्ष्यन्ते । लिटो मानां णालादयः आदेशाः वक्ष्यन्ते । लुट् । पक्तासि । पक्तास्वः । पक्तासः । इत्येवमादि ज्ञेयम् । लृट् । पक्ष्यामि । पक्ष्यावः । पक्ष्यामः । लोट् आदेशाः वक्ष्यन्ते । ङितां लकाराणां मविष्ये च इह तानुदाहरिष्यामः ।

लङ् । अपचे । अपचावहि । अपचामहि । वक्ष्यते लिङ् । लुङ् । अपक्षि । अपक्ष्वहि । अपक्षमहि । लृङ् । अपक्ष्ये । अपक्ष्यावहि । अपक्ष्यामहि ।

टिहट्टेरे ॥२।४।६५॥ टितां लकाराणां ये दास्तेषां टेरेत्वं भवति । यत्र एक एवाच् तत्र व्यपदेशिवद्भावाददन्तत्वमुक्तम् । यत्र च तदादिरन्यो नास्ति तत्रापि व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम् । पचे । पचावहे । पचामहे । “थासः से” [२।४।६६] इति वक्ष्यति । पचसे । पचेथे । पचध्वे । पचते । पचेते । पचन्ते । लिट् । पेचे । पेचिवहे । पेचिमहे । लुट् । पक्काहे । पक्कास्वहे । पक्कास्महे । लृट् । पक्ष्ये । पक्ष्यावहे । पक्ष्यामहे । लोटो वक्ष्यति । प्रकृतानां मिङां दस्य टेरेत्वम् । तेनेह न भवति । पचमान इति ।

थासः से ॥२।४।६६॥ टिद्ग्रहणमनुवर्तते । टितो लकारस्य थासः स इत्ययमादेशो भवति । पचसे । पेचिषे । पक्कासे । पक्ष्यसे ।

“एक्षिसेविधानेषु किं स्यादेत्वे प्रयोजनम् । आदेशे तु कृते मा भूत् ज्ञापकं भवितादिषु ।”

लिटस्तभयोरेशिरे ॥२।४।६७॥ लिङादेशयोस्त भ इत्येतयोः एश् इरे इत्येतावादेशौ भवतः । शकारः सर्वादेशार्थः । परस्यादिर्मा भूत् । पेचे । पेचिरे । नेमे । नेमिरे ।

मानां णत्वमथाथुसणलतुसुसः ॥२।४।६८॥ लिट इति वर्तते । लियो मानां स्थाने यथासंख्यं णलादयो नव आदेशा भवन्ति । शकारः ऐवर्थः । लकारः सर्वादेशार्थः । अ इति द्वयोरकारयोः प्रश्लेषनिर्देशः सर्वादेशार्थः । अन्त्यस्याकारस्याकारवचने प्रयोजनाभावात् सर्वादेश इति चेत् समसंख्यत्वं प्रयोजनं संभाव्येत । अथवा घोरिति कानिर्देशात् परस्यादेत्यकारस्याकारः । पपाच । पेचिव । पेचिम । पपक्थ । पेचिथ । पेचथुः । पेच । पपाच । पेचतुः । पेचुः । “बोपदेशे” [५।१।१०८] इत्यादिना वेट् । “सेडि” [४।४।१११] इति एत्वं च । वमयोः क्रादिनियमादिट् ।

विदो लटो वा ॥२।४।६९॥ मानामिति वर्तते । वेत्तेरुत्तरेषां लटो मानां स्थाने वा णलादयो भवन्ति । वेद । विद्व । विद्व । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विदतुः । विदुः । न च भवन्ति । वेद्मि । विद्वः । विद्वः । वेत्सि । वित्थः । वित्थ । वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । विद इति कानिर्देशात् शानार्थस्य ग्रहणम् । लाभा-र्थस्य शेन व्यवधानात् ।

ब्रुव आहश्च ॥२।४।७०॥ मानामिति वर्तते । लटो वेति वर्तते । ब्रुव उत्तरस्य लटो मानां वा णलादयो भवन्ति । तत्सन्नियोगे ब्रुव आहादेशः । अकार उच्चारणार्थः । “न थास्मदः” [२।४।७१] इत्युत्तरत्र प्रतिषेधादत्र पञ्चग्रहणम् । आत्थ । आहथुः । आह । आहतुः । आहुः । सिपस्थे कृते “आहस्थः” [५।३।५२] इति हकारस्य थकारः । “खरि” [२।४।१३०] इति चर्त्वम् । यद्यत्र स्थानिवद्भावात् “ब्रुव ईट्” [५।२।६१] इति ईट् स्यात् भूलादिप्रकरणे “आहस्थः” [२।३।५२] इति वचनमनर्थकं स्यात् । न च भवति । ब्रवीषि । ब्रूथः । ब्रवीति । ब्रूतः । ब्रुवन्ति ।

न थास्मदः ॥२।४।७१॥ ब्रूजः परस्य थस्यासदश्च पूर्वोक्ता आदेशा न भवन्ति । ब्रूथ । ब्रवीमि । ब्रूवः । ब्रूमः ।

लोटो लङ् वत् ॥२।४।७२॥ लोटो लङ् इव कार्यं भवति । लोङादेशानां लङादेशानामिव कार्य-मतिदिश्यते इत्यर्थः । पचाव । पचाम । क्तितः सखं सिद्धम् । पचतम् । पचत । पचताम् । “मिप्यस्थतसो-ऽमृतं वताम्” [२।४।८२] इत्येतत् सिद्धम् । “एरुः” [२।४।७३] इति उकारः पुंस्तादृशवादन्यायेन “एमं” [२।४।८१] इति इवमेव वाधते न जुसादेशम् । एवं च यथा अद्रुः अधुरिति भवति तथा यान्तु पान्तु इत्यत्रापि जुसादेशः प्राप्नोति । नैष दोषः । वक्ष्यते “आलः” [२।४।१०] “लङो वा”

[२।४।११] इत्यत्र लङ् ग्रहणस्य प्रयोजनं लङेव यो लङ् तस्य जुष् भवति अतिदेशेन यो लङ् तस्य मा भूत् । लङ्वदिति तांताद्वत् (अमृतताम्बत्) तेनाडागमो न भवति ।

परुः ॥२।४।७३॥ लोट इति वर्तते मानामिति च । लोटो मानामिकारस्य उकारादेशो भवति । इक्षस्यापवादः । पचतु । पचन्तु । करोतु । कुर्वन्तु । मिथिपोरादेशान्तरमुत्त्वस्य बाधकं वक्ष्यते ।

सेह्यपिच ॥२।४।७४॥ लोट इति वर्तते । सेह्यरादेशो भवति अपिच । लुनीहि । पुनीहि । आग्नूहि । गन्तूहि ।

मेर्निः ॥२।४।७५॥ लोटो मेर्निरित्ययमादेशो भवति । पचानि । करवाणि ।

आमेतः ॥२।४।७६॥ लोट इति वर्तते । लोडादेशस्य य एकारस्तस्य आमित्ययमादेशो भवति । निर्दिश्यमानस्यादेशो भवति । पचेयाम् । पचताम् । पचेताम् । पचन्ताम् ।

स्वो वामौ ॥२।४।७७॥ लोट इति वर्तते एत इति च । सकारवकाराभ्यां परस्य एतो व अम् इत्येता-
वादेशौ भवतः । पचस्व । पचध्वम् । वयस्व । वयध्वम् ।

पिच्चाडस्मदः ॥२।४।७८॥ लोट इति वर्तते । लोटोऽस्मदः आडागमो भवति पिच्च । करवाणि । करवाव । करवाम । करवै । करवावहै । करवामहै ।

एत पे ॥२।४।७९॥ लोटोऽस्मद इति वर्तते । लोटोऽस्मदः एकारस्यैकारादेशो भवति । निर्दिश्य-
मानस्यादेशोऽयमामोऽपवादः । करवै । करवावहै । करवामहै । चिनवै । चिनवावहै । चिनवामहै ।

ङितः सखम् ॥२।४।८०॥ अस्मद इत्येव । ङितो लकारस्य योऽस्तस्य सखं भवति । लङ्-
अपचाव । अपचाम । लिङ्-पचेव । लुङ्-अपाद्व । अपाद्वम् । लृङ्-अपद्याव । अपद्याम् ।

एमे ॥२।४।८१॥ ङित इति वर्तते । ङित्लकारसम्बन्धिन इकारस्य खं भवति मविषये । लङ्-
अपचः । अपचत् । अपचन् । लिङ्-पचेरन् । पचेत् । लुङ्-अपादीः । अपादीत् । लृङ्-अपद्यः ।
अपद्यत् । अपद्यन् । म इति किम् ? अपचावहि । अपचामहि ।

मिप्यस्थतसोऽमृतंतताम् ॥२।४।८२॥ ङितां लकाराणां मिप् थस् थ तस् इत्येतेषां यथासंख्यं
अम् तं त ताम् इत्येते आदेशा भवन्ति । अपचम् । अपचतम् । अपचत । अपचताम् । लिङ्-पचेयम् ।
पचेतम् । पचेत । पचेताम् । लुङ्-अपाद्वम् । अपाद्वम् । अपाद्व । अपाद्वाम् । “वदव्रज (व्रजवद)”
[२।१।७९] इत्यादिनैप । “कृदो कृदि” [५।३।४४] इति सखम् । लृङ्-अपद्यम् । अपद्यतम् ।
अपद्यत । अपद्यताम् ।

लिङः सीयुट् ॥२।४।८३॥ लिङादेशानां सीयुडागमो भवति । मे यासुटो विधानाद्दे सीयुट् द्रष्टव्यः ।
टकारः “टिदादिः” [१।१।५३] इति विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । पचेय । पचेवहि । पचेमहि ।
पचेथाः । पचेयाथाम् । पचेध्वम् । पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् । “कृदादेर्गे” [२।१।१३५] इति वर्तमाने
“लिङोऽनन्त्यसखम्” [२।१।१३८] इति सीयुट्सकारस्य “सुट्तथोः” [२।४।८७] इति सुट्सकारस्य च
खम् । आशिषि लिङ्-पदीय । पदीवहि । पदीमहि । पदीष्ठाः । पदीयास्याम् । पदीध्वम् । पदीष्ट ।
पदीयास्ताम् । पदीरन् ।

यासुण् मो ङित् ॥२।४।८४॥ लिङ इति वर्तते । लिङो मविषयस्य यासुडागमो भवति ङित्च ।
सीयुटोऽपवादोऽयम् । अत्र “किदाशिषि” [२।४।८५] इति वचनात् विध्यादिलक्षणस्य लिङ इहोदाहरणम् ।

कुर्याम् । कुर्याव । कुर्याम । कुर्याः । कुर्यातम् । कुर्यात । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । “कृजो ये च” [४।४।१६] इति विकरणस्य खम् । “भेजुस्” [२।४।८८] इति जुस् । “उसि” [४।३।८३] इति पररूपम् । स्थानिषद्भावादेव लिङादेशस्य डित्वे सिद्धे यासुथे डिट्त्वचनं ज्ञापकं लकाराश्रयमादेशानां डित्वं च न भवति । तेन अचिनवमित्येप् सिद्धः । पचमाना स्त्री । टित इति ङीत्यो न भवति ।

किदाशिषि ॥२।४।८२॥ आशिषि लिङो यासुट् किङ्भवति । डित्वे प्राप्ते कित्त्वं विधीयते । ज्यर्थं जागर्तेरेवर्थं च । उह्यासम् । उह्यास्व । उह्यास्म । उह्याः । उह्यास्तम् । उह्यास्त । उह्यात् । उह्यास्ताम् । उह्यासुः । जागर्यासम् । जागर्यास्व । जागर्यास्म । “जागुरविजिण्यलङिति” [१।२।८२] इत्येप् ।

रज्जुभेडः ॥२।४।८६॥ लिङादेशयोर्ज्ञ इट् इत्येतयोर्थथासंख्यं रन् अट् इत्येतावादेशौ भवतः । पचेरन् । पक्षीरन् । “भोऽन्तः” [१।१।३] इत्यस्यापवादोऽयम् । पचेय । पक्षीय । “क्षीयाक्षीःप्रैषेबु मिङाकाङ्क्षम्” [१।३।१०२] इत्येवमादिना प्रातस्य पस्य निवृत्त्यर्थं तपरकरणम् ।

सुट् तथोः ॥२।४।८७॥ लिङो यौ तकारथकारौ तयोः सुडागमो भवति । अगविषये लिङ् प्रयोजयति । गे सखेन भवितव्यम् । पक्षीष्ठाः । पक्षीयास्थाम् । पक्षीष्ट । पक्षीयास्ताम् ।

भेजुस् ॥२।४।८८॥ लिङादेशस्य भेजुसित्ययमादेशो भवति । अन्तादेशापवादः । कुर्युः । क्रियासुः । निर्दिश्यमानस्यादेशो न यासुट् ।

थवित्से ॥२।४।८९॥ थसंज्ञक वेत्ति षि इत्येतेभ्यः परस्य भेजुसादेशो भवति । डित् इति वर्तते । तत्र लिङ् आदेश उक्तः । लृङः स्येन व्यवधानमस्ति । लुङोऽपि सेरिति भविष्यति । पारिशेष्यात्थविद्-ग्रहणं लङर्थम् । अविभरुः । अजागरुः । “उसि” (जुसि) [५।२।८०] इत्येप् । विदेः । अविदुः । अकार्षुः । अहार्षुः ।

आतः ॥२।४।९०॥ सेरिति वर्तते । आकारान्तात्सेः परस्य भेजुस् भवति । श्रुतिवृत्तं भेरातः परत्वं सेरपि कृते त्याश्रयलक्षण्येन सेः परत्वम् । अत उभयगतमानन्तर्यं भेरस्ति । अश्नुः । अगुः । अयुः । अदुः । अधुः । त्याश्रयलक्षण्येन भेरिति पूर्वैर्णैव सिद्धे नियमार्थमेतत् । आत एव सेरपि कृते नान्य स्मात् अभूवन्निति ।

लङो वा ॥२।४।९१॥ आत इति वर्तते । आकारान्तात्परस्य लङादेशस्य भेर्वा जुस् भवति । अयुः । अयान् । अधुः । अधान् । ननु लङ्ग्रहणभनर्थकम् । डित् इति वर्तते । पारिशेष्यात् लङ् एव संप्रत्ययः । नानर्थकम् । इह लङेव यो लङ् तस्य भेजुस् भवति । अतिदेशो मा भूत् । यान्तु । वान्तु । “थवित्सेः” [२।४।८६] इत्यनेनापि मुख्यस्य लङो ग्रहणादिह न भवति । विभ्यतु । जाग्रतु । विदन्तु ।

द्विषः ॥२।४।९२॥ लङो वेति वर्तते । द्विषः परस्य लङो भेर्वा जुस् भवति । अद्विषुः । अद्विषन् । अनिगन्तत्वात् “जुसि” [५।२।८०] इत्येन्न भवति ।

मिङ्शिद्धः ॥२।४।९३॥ मिङः शितश्च त्या धोर्विहिताः गसंज्ञा भवन्ति । भूयते । नयति । रोदिति । शित् । पचमानः । यजमानः । गसंज्ञाश्रयो विकरण एवभवति ।

शेषोऽग एव ॥२।४।९४॥ मिङ्शिद्धम्यामन्यः शेषः । धोरित्येवं विहितस्त्यः शेषोऽगसंज्ञ एव भवति । लविता । लवितुम् । लवितव्यम् । अगसंज्ञाकार्यमिडागम एप् च । धोरिति विशेषणं किम् ? जुगुप्सते । श्रोकाभ्यति । लभ्याम् । अमिलम् । एवकार उत्तरार्थः । अगप्रदेशाः-“वडाद्यगस्येट्” [५।१।८४] “गागयोः” [५।२।८१] इत्येवमादयः ।

लिट् ॥२।४।६५॥ एवशब्दोऽनुवर्तते । लिङादेशो मिङ् अगसंज्ञ एव भवति । पेचिथ । शेकिथ । “वोपदेश” [५।१।१०८] इत्यादिनेट् । “सेटि” [४।४।१११] इत्येत्वचखे । गसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थमेवकारोऽभिर्भवत्येते । तैरिम इत्यत्र गसंज्ञायामस्तथां तदाश्रयः शम्भ भवति । -

लिङाशिषि ॥२।४।६६॥ एवेति वर्तते । आशिषि यो लिङ् तदादेशश्चागसंज्ञ एव भवति । भावे—जागरिषीष्ट । कर्मणि—लविषीष्ट । अगसंज्ञायां गाश्रयं “लिङोऽनन्त्यसखम्” [५।१।१३८] इति सखं न भवति । एवकाराधिकारात् गसंज्ञासमावेशो न भवति । यदि स्याद्यक् प्रसज्येत । आशिषीति किम् ? जाग्रयात् । जाग्रयाताम् । जाग्रयुः ।

इत्यभयनन्दिरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समाप्तः । समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः ।

—:०:—

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके सान्त्वयं संप्रतीयते ।

तत् सर्वं भ्रातुर्भिर्याप्तं शरीरमिव भ्रातुभिः ॥

— — —

तृतीयोऽध्यायः

अध्यान्मृदः ॥३।१।१॥ डी इति स्वरूपग्रहणम् । आबिति यब्डापोः सामान्येन ग्रहणम् । मृदिति-संज्ञानिर्देशः “अधु मृत्” [१।१।५] “कृद्धत्साः” [१।१।६] इति । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आ कपो विधानात् ड्यन्तादाबन्तान्मृद्रूपाच्च तदभवतीत्येवं वेदितव्यम् । ननु वक्ष्यमाणास्तथाः “परः” [२।१।२] इति नियमेन परे प्रयुज्यन्ते । धोः परत्वञ्च तव्यादिभिराक्रान्तम् । मिङन्तं च क्रियावाचि सुबन्तमपि पदं क्रियावापेक्षं क्रियात्वभूतमित्यतः पारिशेष्यान्ड्यान्मृद एव भविष्यन्ति । एवं तर्हि वाक्यान्मा भूवन् । वृद्धस्य उपगोरपत्वमिति । गुपदभसंज्ञाश्च प्रयोजनम् । द्वद्वकारद्व्यजादिग्रहणानि च व्यामृदो विशेषणानि न समर्थविभक्त्यन्तस्येत्यधिकारः क्रियते । दु इति मृद्रूपम् । दु—ज्ञानामपत्यमित्यत्र मृद्रूपापेक्षया “वाङ्बुद्धाद्दोः” [३।१।१४४] इति दुलक्षणः फिज् न भवति । अदुलक्षण एव “फिर्दोः” [३।१।१४७] इति फिर्भवति । दक्षाणामपत्यमिति मृद्रूपापेक्षया अदन्तलक्षणः इज् भवति । घटेन तरतीत्यत्र मृदपेक्षया “नौद्व्यचलः” [३।३।१३१] इति “द्व्यजलक्षणः सिद्धः” वाचा तरतीत्यत्र न भवति । मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिद्धे ड्याब्ग्रहणं किम् ? कालितरा । मालितरा । एनिका । हरणिका । परमपि हृतं बाधित्वा स्त्रीत्यो यथा स्यात् । अथ “भरूपकल्पचेष्टद्वुवगोभ्रमतहते प्रोऽनेकाचः” [४।३।१५५] [करणे] इति प्रादेशवचनसामर्थ्यादेतल्लभ्यते । एवं तर्हि मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि परिभाषेयमनित्येति ज्ञाप्यते । तेन गोमतीति उगिल्लक्षणे नुम्न भवति । युवतीः पश्येति जिर्न्म भवति । सख्यौ । सख्यः । इति च णिन् भवति । हे भवति भगवति अघवति इत्यत्र “भघद्भगवदघवतो वा रिः काचवस्यौः” [५।४।३] इत्येष विधिर्न भवति । इह त्यग्रहणं न कर्तव्यम् । कथं युवतितरा वामोरुतरा ? हृदन्तत्वाद्युवतिशब्दस्य मृत्संज्ञा, वामोरु-शब्दस्यापि मृदमृदोरेकादेशो मृद्ग्रहणेन गृह्यते । अजादिषु हलन्ताद्यापं विधास्यति डापि च टिखेन भवितव्यमिति एकादेशो नास्ति तस्मात् ड्याप्ग्रहणं कर्तव्यम् ।

स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ॥ ३।१।२ ॥ ड्यान्मृदः स्वादयो भवन्ति । उकाराद्यनुबन्धनाशः । अनेन विहितानां स्वादीनां “कर्मणीप्” [१।४।२] इत्येवमादिना विभक्तिनियमः “साधने स्वार्थे” [१।२।१२३] इति वचननियमश्च ज्ञातव्यः । ड्यन्तात्तु कुमारी ।

कुमार्यौ । कुमार्यः । कुमारीम् । कुमार्यौ । कुमारीः । कुमार्या । कुमारीभ्याम् । कुमारीभिः । कुमार्यै ।
 कुमारीभ्याम् । कुमारीभ्यः । कुमार्याः । कुमारीभ्याम् । कुमारीभ्यः । कुमार्याः । कुमार्योः । कुमारीणाम् ।
 कुमार्याम् । कुमार्योः । कुमारीषु । आवन्तात्—माला । माले । मालाः । मालाम् । माले । मालाः ।
 मालया । मालाभ्याम् । मालाभिः । मालायै । मालाभ्याम् । मालाभ्यः । मालायाः । मालाभ्याम् । मालाभ्यः ।
 मालायाः । मालयोः । मालानाम् । मालायाम् । मालयोः । मालासु । एवं डावन्तात् । दामावहुराजादथो
 नेयाः । मृदः—दृषद् । दृषदौ । दृषदः । दृषदम् । दृषदौ । दृषदः । दृषदा । दृषद्भ्याम् । दृषद्भिः ।
 दृषदे । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृषदोः । दृषदाम् । दृषदि ।
 दृषदोः । दृषत्सु ।

स्त्रियाम् ॥३।१।३॥ स्त्रियामिति प्रकृतिविशेषणम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः स्त्रियां वर्तमानान्मृदः
 स्वाथै तद्वेदितव्यम् । यदि स्त्रियामभिधेयायामिति स्यात् द्विवहू न स्याताम् । कुमार्यौ कुमार्य इति । एकत्वात्
 स्त्रीत्वस्य अनेकत्योत्पत्तिश्च न स्यात् । कालितरा । भावप्रधानत्वात् स्त्रियामिति निर्देशस्य कुमारी देवदत्तेति
 सामानाधिकरण्यं च न स्यात् । अथापि स्त्रीसामानाधिकरणान्मृद इत्यभ्युपगम्येत एवमपि भूतमियं नारी ।
 कारणमियं कन्या । आवपनमियमुर्ध्विकेति । भूतशब्दादिषु स्त्रीत्याः प्रसज्येरन् । तस्मात् स्त्रियां वर्तमानान् मृद
 इत्येवाधिकृतम् । वक्ष्यति “अजाद्यतष्टाप्” । अजा । देवदत्ता । स्त्रियामिति किम् ? अजो देवदत्तः । शब्दजनित-
 प्रत्ययवर्गाः स्त्रीलादय इहाभिप्रेता न वस्तुवर्गाः । अव्याप्तेः । शब्दो हि श्रोत्रपथं गतो लिङ्गसंख्यावन्तं स्वप्रत्ययं
 जनयति स प्रत्ययः । खट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु संभवति ।

अजाद्यतष्टाप् ॥३।१।४॥ अजादिभ्यः अकारान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रियां वर्तमानेभ्यश्चावित्ययं ल्यो भवति ।
 पकारः टाडपोः सामान्यग्रहणार्थः । टकारः सामान्यग्रहणविधातार्थः । अन्यथा एकानुबन्धकग्रहणे न
 द्व्यनुबन्धकस्येति विघातः स्यात् । बाधकत्वाधनार्थमनकारान्तार्थं चाजादिग्रहणम् । अजा । एडका । अश्वा ।
 चटका । मूषिका । “जातेरयोडः” [३।१।२३] इत्यस्यापवादः । बाला । होदा । पाका । वत्सा । मन्दा ।
 विलाता । “वयस्यनन्त्ये” [३।१।२४] इत्यस्य प्राप्तिः । पूर्वापहाणा । अपरापहाणा । टिक्लक्षणास्यापवादः ।
 निपातनाएणलम् । “संभस्त्राजिनशरणपिण्डेभ्यः फलाष्टाप्” [वा०] संफला । मन्त्राफला । अजिनफला ।
 शरणफला । पिण्डफला । “सत्पाङ्कण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पाष्टाप्” [वा०] सत्पुष्पा । प्राक्पुष्पा । काण्डपुष्पा ।
 प्रान्तपुष्पा । शतपुष्पा । एकपुष्पा । “पाककर्णपर्णपुष्कफलमूलवालद्योः” [३।१।२४] इत्यस्यापवादः ।
 “शूद्राच्चामहत्पूर्वात् जातिश्चेत्” [वा०] शूद्रा नाम जातिः । अमहत्पूर्वादिति किम् ? महाशूद्री । आभीर-
 जातिरियम् । अमहत्पूर्वादिति शब्दपरस्य महत्तः आत्वं न भवति । जातिरिति किम् ? शूद्रस्य भार्या शूद्री ।
 पुंयोगादीकारः । अमहत्पूर्वादिति प्रतिषेधवचनं शापकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तेन महाजा ।
 धीवानमतिक्रान्ता अतिधीवरी । अतिभवती । अतिमहतीति सिद्धम् । कुश्वा । उष्णिहा । देवविशा । “हन्लता-
 ष्टाप्” [वा०] ज्येष्ठा । कनिष्ठा । मध्यमा । पुंयोगलक्षणा प्राप्तिः । कोकिला जातिः । “मूलान्ताच्च टाप्” [वा०]
 अमूला । पकाराद्यजष्टाप । शार्कराक्ष्या । पौतिमाष्या । गौकक्ष्या । अतः खल्वपि खट्वा । देवदत्ता । तपरकरणं
 किम् ? स्त्रीयाः स्त्री ।

आवख्यात् ॥३।१।५॥ आवख्यशब्दादाप् भवति । अवटस्यापत्यं स्त्री आवख्या । यश्च इति ङीवि-
 धेरपवादः । पुरस्तादपवादोऽयं फटो न बाधकः । आवख्यायनी ।

उगिहृत्तान्डो ॥३।१।६॥ उक् इत् यस्य त्यस्य मृदो वर्णस्य वा तदन्तात् ऋकारान्तेभ्यो नका-
 रान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रियां वर्तमानेभ्यो ङीत्यो भवति । डकारो “हल्ङयापः” [३।१।६] इत्यत्र विशेषणार्थः ।

गोमती । तत्रभवती । पचन्ती । उगिदिति यदीदं त्यग्रहणेन स्यात् त्यग्रहणे यस्मात् तदादेरिति इह न स्यात् । अतिभवती । निर्गोमती । अथ मृद्विशेषणमेव स्यात् मृद्वग्रहणेन तदन्तविधिरिति तथाषोडह न स्यात् । अतिमहतीति । तस्मान्नेदं त्यग्रहणमेव; नापि मृद्वग्रहणमेव; अपि त्वेकदेशग्रहणमिदम् । उक् इत् यस्यैकदेशस्य तदन्तान्मृद इति । स चैकदेशः त्यो मृद्वर्णाश्च संभवति । त्यः । श्रेयसीत्यादि । मृद्-तत्रभवतीत्यादि । वर्णः । पुमांसमतिक्रांता अतिपुंसीति । “पुनातेसु सुकौ प्रश्च” इति सकारो वर्ण उगित् । यद्यागमेषु वर्ण उगिदिति^१ ङीविधिर्विधीयते तु क्यपि प्राप्नोति अग्निचित् कन्येति । उभयोरुकारयोर्ग्रहणसामर्थ्यद्वैदेव भवति नान्यत्र । अञ्जतेरुपसंख्यानं नियमार्थं कर्तव्यम् । प्राची । प्रतीची । उदीची । धोरुगितः नान्यस्मात् । उखास्तकन्या । ऋकारान्तात् कर्त्री । हर्त्री । नकारान्तात् । दण्डिनी । छत्रिणी ।

वनोऽहशो रश्च ॥३१।७॥ वन इति वनः कनिपश्च ग्रहणम् । अहशन्ताद्यो विहितो वन् तदन्तात् स्त्रियां वर्तमानान्मृदो रेफश्चान्तादेशो भवति ङीश्च । पूर्वेषु सिद्धे रेफार्थमिदम् । धयतिपिबतिभ्यां कनिप् । धीवरी । पीवरी । मेरुहश्वरी । कथं शर्वरी ? शृणातेरञ्जन्ताद् वन् । कथमवावरी ? अत्र ओण-तेरगविषय आत्वे कृते वन् । “अनीचः” [३।१।१७] इत्यत्र वक्ष्यति । पूर्वो विधिर्नाचोऽपि भवति । बहु-धीवरी । अतिधीवरी । अथवा अमहत्पूर्वादित्यत्र तदन्तविधिर्ज्ञापितः । अहश इति किम् ? सहयुद्धा स्त्री “राज्ञि युधि कुजः” [२।२।८२] “सहे” [२।२।८३] इति कनिप् । “सन्नियोगश्चिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः” [परि०] इति रेफादेशाभावे पूर्वेषूप्यत्र ङीत्यो न भवति । एवमर्थश्चकारः क्रियते ।

नेत्स्वस्त्रादेः ॥३१।८॥ स्त्रियामिति वर्तते । इलसंज्ञकेभ्यः स्वस्त्रादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रियां यदुक्तं तत्र भवति । पञ्च कुमार्यः । सप्त रोहिण्यः । अथात्रानेन ङीप्रतिषेधे कृते नखे सति अत इति टाप् कस्मान्न भवति । सुब्बिधौ नखस्यासिद्धत्वात्तदन्तत्वाभावात् टाप् । कथमयं सुब्बिधिः ? तत्र टाप् पकारेण सुपो ग्रहणात् । यद्येवं बहुचर्मिकेत्यत्र नखस्यासिद्धत्वात् “त्यस्ये क्यापी” [३।१।१०] इति कात्पूर्वस्यात् इत्वं न स्यात् । एवं तर्हि इहोभौ ङीटापौ प्रतिषिध्यते । उक्तं च—

“इलसंज्ञानामन्ते नष्टे टाडुपत्तिः कस्मान्न स्यात् ? प्रत्याहारादाया सिद्धं दोषस्त्वित्वे तस्मादोभौ ।”
स्वस्त्रादिभ्यः-स्वसा । दुहिता । स्वस्त्र दुहितृ ननान्द याट् माट् तिसृ चतसृ ।

मनो डाप् च ॥३१।९॥ ङी इति वर्तते नेति च । मज्जन्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाङ्गाव् भवति ङी-प्रतिषेधश्च । डकारः टिखार्थः । पकारः सामान्यग्रहणार्थः । पामे । पामाः । पामानौ । पामानः । “अजि-नस्मन्ग्रहणेष्वर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिः” [परि०] सीमे । सीमानौ । सुप्रथिमे । सुप्रथिमानौ । अतिमहिमे । अतिमहिमानौ ।

अनश्च बात् ॥३१।१०॥ अन्नन्ताद् बसात् स्त्रियां वर्तमानाङ्गाव् भवति ङीप्रतिषेधश्च । चकारो ङीप्रतिषेधानुकर्षणार्थः । अर्थवतोऽनर्थकस्य चानो ग्रहणम् । अनुङ्गवतो वसस्येहोदाहरणम् । उङ्गवतजैरूप्यं वक्ष्यति । सुपर्वे । सुपर्वाः । सुपर्वाणौ । सुपर्वाणः । नकारान्तत्वाङ्गी प्रसज्येत । वादिति किम् ? अतिक्रान्ता पर्वाणि अतिपर्वणी ।

बोद्धे ॥३१।११॥ अन्नन्ताद्बसात् उङः स्त्रे वर्तमानात् डाङ्गीप्रतिषेधौ वा भवतः । वावचनाद्यथा-प्राप्ताः । नकारान्तान्ङीविधिः “वनोऽहशो रश्च” [३।१।७] इत्यन्यनुज्ञायते । बहुराजे । बहुराजाः । बहु-राजानौ । बहुराजानः । बहुराज्यौ । बहुराज्यः । बहुतद्वे । बहुतदाः । बहुतदाणौ । बहुतदाण्यः । बहुतद्वणौ ।

१. उगिदचां भेदोः [३।१।४१] इति सूत्र इति शेषः ।

बहुतदणः । बहुधीवे । बहुधीवाः । बहुधीवानौ । बहुधीवानः । बहुधीवर्यौ । बहुधीवर्यः । उह्व इति किम् ? सुपर्वा । सुपर्वाणौ । पूर्वेण द्वैरूप्यम् । अन इत्येव सुमत्स्या नदी ।

डी खौ ॥३१।१२॥ खुविषयेऽन्नताद् बसान्डी भवति । अधिराज्ञी नाम ग्रामः । पुनर्डी-ग्रहणं नित्यार्थम् ।

ऊधसः ॥३१।१३॥ बादिति वर्तते । ऊधःशब्दान्ताद्बसान्डी भवति । कुरण्डमिवोधो यस्याः कुरण्डोष्णी । द्वे ऊधसी यस्या द्यूष्नी । निर्गतमूषोऽस्या निरुष्नी “ऊधसोऽनङ्” [४।२।१३२] इति अनङ्-सान्तः । “बोङ्खे” [३।१।११] इति त्रैरूप्यं प्रातम् । स्त्रियामेवानङ् । सान्त इत्येव । इह मा भूत् । महोधाः । पर्जन्यः । बादित्येव । प्राप्ता ऊधः प्रातोधा गौः । “इपा च प्राप्तापन्ने” [१।३।२०] इति षसः । तत्रैव पूर्ववत्स्त्रिं व्याख्यातम् ।

दामहायनात्संख्यादेः ॥३१।१४॥ संख्यादेर्बसात् दामान्तात् हायनान्ताच्च डी भवति । द्विदाम्नी । त्रिदाम्नी । “बोङ्खे” [३।१।११] इति त्रैरूप्यं प्रातम् । “हायनाद्वयसि स्मृतः” [वा०] द्विहायनी । त्रिहायणी । चतुर्हायणी वसा । “त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वमपि वयसीष्यते” [वा०] तेनेह डीविधिर्युक्तं च न भवति । द्विहायना । त्रिहायना । चतुर्हायना शाला । संख्यादेरिति किम् ? उद्दामा वडवा । “बोङ्खे” [३।१।११] इत्यनेन त्रैरूप्यं भवति ।

पादो वा ॥३१।१५॥ पाच्छब्दान्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाद्वा डी भवति । द्विपात् । द्विपदी । त्रिपात् । त्रिपदी । “सुसंख्यादेः” [४।२।१४०] इति पादशब्दस्य खम् । पादयतेः क्तिवन्तस्य प्रयोगो नास्ति ।

टावृचि ॥३१।१६॥ पाद इति वर्तते । पाच्छब्दान्तान् मृदशाब् भवति ऋच्यभिधेयायाम् । द्विपदा ऋक् । त्रिपदा ऋक् । ऋचीति किम् ? द्विपदी देवदत्ता ।

अनीचः ॥३१।१७॥ न्यक्छब्दोऽत्राप्रधानवचनो नञ्पूर्वः । यदित् ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽनीच इत्येवं तद्वेदितव्यम् । नीचो ङ्यादयो न भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति “टिङ्ढाणञ्” [३।१।१८] इति । कुरुचरी । भद्रचरी । “जातेर्योङः” [३।१।२३] । कुक्कुटी । शूकरी । अनीच इति किम् ? बहुकुरुचरा । बहुकुक्कुटा मथुरा । ननु पूर्वत्र समुदायः स्त्रियां वर्तते नावयवः । अवयव एव च टिङ्ग समुदायः । द्वितीयेऽपि वसे न समुदायो जातिवाचीः किं त्ववयवः, तत्कथं प्राप्तिः ? इदमेव ज्ञापकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति । तथाहि प्रधानभूतेन तदन्तविधिः कुम्भकारी देवदत्तकुक्कुटी । यद्येवं पूर्वमेवेदं सूत्रं वक्तव्यम् । इह करणात् पूर्वोक्त-विधिर्नीचोऽपि भवतीति ज्ञायते । बहुधीवरी बहुपीवरीति ।

टिङ्ढाणञ्ठञ्क्करणः ॥३१।१८॥ अत इति वर्तते । टिट् ढ अण् अञ् ठण् ठञ् करप् इत्येवमन्तेभ्यः स्त्रियां डी भवति । टापोपवादः । “अनीचः” [३।१।१७] इत्यधिकारात् प्रधानेन तदन्तविधि-रुक्तः । कुरुचरी । भद्रचरी । “कृदग्रहणं तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्” [परि०] न मन्तव्यम् । इह कृदकृतो-ग्रहणात् । ढ-सौपर्येयी । वैनतेयी । “शिलाया ढः” [४।१।१२६] इत्यस्य निरनुबन्धकस्य स्त्रियामभिधानं नास्ति । अण्-कुम्भकारी । औपगवी । कथं चुराशीला चौरी । तपःशीला तापसी ? णोऽप्यण्कृतं भवतीति वक्ष्यति । अञ्-औत्सी । वैदी । ठण्-लाङ्गिकी । रौचनिकी । ठञ्-पारायणं वर्तयति पारायणिकी । प्राग्बतेष्टञ् । करप्-इत्तरी । नश्यरी । अनीच इत्येव । बहुकुरुचरा । ख्युट्प्रभृतीनां ह्यथनुबन्धकत्वेऽपि टिकरणसामर्थ्याद् ग्रहणम् । लकाराणां स्थानिवद्भावाद्द्वित्वं द्वित्वं च न भवतीत्युक्तम् । पचमाना स्त्री । अचिनवम् । त्यसाहचर्यादागमस्य न ग्रहणम् । लिखिता विद्येति ।

यजः ॥३१११६॥ यजन्तान्मृदः स्त्रियां ङी भवति । गार्गी । वात्सी । “हृत्तो हृत्तो ङ्याम्” [४।४।१४०] इति यकारस्य खम् । “द्वीपादनुसमुद्देश्यज्” [३।२।१३०] इति अयज् । द्वयनुबन्धकः । तस्येहाग्रहणम् । द्वीपे भवा द्वैप्या । योगविभाग उत्तरार्थः ।

फट् ॥३११२०॥ यज इति वर्तते । यजन्तान्मृदः स्त्रियां फडित्ययं त्यो भवति । टकारो ङ्यर्थः । अथ गार्ग्यायणी इति स्थिते फटो हृत्संज्ञाविरहात् “कृद्घृत्साः” [१।१।६] इति मृत्संज्ञा नास्ति । कथं ङीविधिः ? ट्कारणसामर्थ्यात् भविष्यति । गार्ग्यायणी । वात्स्यायनी । आबट्यायनी । वचनात्पूर्वोऽपि विधि-र्भवति । गार्गी । वात्सी ।

लोहितादिसकलान्तात् ॥३११२१॥ यज इति वर्तते । लोहितादिर्गर्गादिष्वन्तर्गणः । लोहितादिभ्यः सकलशब्दपर्यन्तेभ्यो यजन्तेभ्यः स्त्रियां फट् त्यो भवति । पुनरारम्भो नित्यार्थः । तेन फडेव भवति । “यजः” [३।१।१६] इत्यनेन ङीः प्राप्ते निवर्त्यते । लौहित्यायनी । सांसित्यायनी^१ । बाभ्रव्यायणी । सौक्ष्म्यायणी । सांचव्यायनी । लान्तव्यायनी । जैगीषव्यायणी । मानव्यायनी । मांतव्यायनी । मनायीशब्दस्य पाठसामर्थ्यात् “भस्य हृत्यडे” [वा०] इति पुंवद्भावो न भवति । मानाव्यायनी । काव्यव्यायनी । रौक्ष्यायणी । तारुक्ष्यायणी । तालुक्ष्यायणी । तारुड्यायनी । वातरुड्यायनी । आङ्गिरसे तु वतरुडौत्येव भवति । काप्यायनी । कात्यायनी । शाकल्यायनी ।

कौरव्यासुरिमाण्डकात् ॥३११२२॥ कौरव्य आसुरि माण्डक इत्येतेभ्यः फट् भवति । कौरव्यायणी । टाप्प्रातः । अ आसुरीति प्रश्लेषनिर्देशात् अकारश्चान्तादेश आयनादेशो (शे) न स्वेको दीर्घार्थः । अट्त्वाद् “यस्य ङ्या च” [४।४।१३६] इति इत्वं प्राप्नोति । आसुरायणी । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५२] इति ङीत्यः प्रातः । माण्डकस्यापत्यं स्त्री माण्डकायनी । “हण्च मण्डकात्” [३।१।१०८] इत्यण् । ङी प्रसज्येत । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यणि विवक्षिते कौरवीति भवति । शैषिकार्थविवक्षायां “इजः” [३।२।८८] इत्यणि प्राप्ते “दोश्चः” [३।२।१००] इष्यते । आसुरिणा प्रोक्ता आसुरीया शिक्षा ।

गौरादेः ॥३११२३॥ गौरादिभ्यः स्त्रियां ङी भवति । गौरी । वर्णत्वे बहुलं ङीप्राप्तेः संज्ञायामप्राप्तेः । गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग गवय हय सुकय ऋष्य^२ “अयोडः” [३।१।५३] इति ङीप्रतिषेधः प्रातः । शृङ्गाद्याप् प्रातः । एवमुत्तरत्रायुहम् । पुट पट इण द्रोण हरिण कण शरीहरण वरट उर्कण आमलक कुवल वदर विल्व (वल्लक) बिम्ब कर्कर तर्कार शर्कार शष्कण्ड शबल सुषव पारडशौ केषाञ्चित् । सालन्द (सलद) गडुल पडुश^३ आटक आनन्द सुपाट शङ्कुल सूर्य पूष मूष धातक सल्लक मालक मालत साल्वक वेतस वृत (वृस) अतस उमा (उभय) भृङ्ग मह मठ छेद स्वन् तन्नन् अनडुही अनडूवाही । एषणात्करणे कारके । देहमेथकाका-दनगवादनादय । यान मेघ गौतम (गोतम) अयस्थूण भौरिकि भौलिकि भौलिङ्गी औद्गाहमानि आलम्बि आयामक आलम्बि आपाच्याङ्क (आपचिक) ऊपत्तश्च^४ (?) आरट टोट नट मूलाट आसुरण (आस्तरण) अधिकार प्रत्यवारोहिणी आग्रहायणी^५ । आग्रहायनस्य स्वार्थे अण् शत्वं च निपात्यते । सेचनी । सुमंगलात्संज्ञायाम् । सुन्दर मण्डल मन्थर मन्दुल पेट (पट, पिट (विट) पिण्ड ऊर्द गूर्द सूर्द । केषाञ्चित् रेफा-त्परो मकारः । सूर्म हर्द भाण्ड लोहाण्ड कदर कन्दर बदल कन्दल तरुण तलुन सौधर्म । रोहिणी रेवती च नक्षत्रे । विकल निष्कल पुष्कल । कटान्छोरयाम् । पिप्पल्यादयश्च । पिप्पली हरीतकी कोशातकी शमी करीरी

१. सांसित्यायनी मु० । २. ऋषय अ० । ३. त्राऽप्यभ्युहम् अ०, ब०, स० । ४. पद मु० । ५. उणक मु० । ६. पण्डुश अ० । पटुस ब० । ७. अपामक ब० । आपामक स० । ८. ऊपत्तश्च ब० । ९. प्रत्यवासेहिन् मु० । १०. आग्रहायण मु० ।

पृथिवी क्रोष्टु मातामह पितामही एही पर्येही आश्मरस्थात्कट् प्रातः । काव्या शैव्या एतौ व्यान्तौ । आरोह चण्ड । “नृनरयोरैप् च” [वा०] नारी । येऽत्रानडुहीप्रभृतय ईकारान्ताः पठ्यन्ते तेषां से पुंवद्भावो न भवति । अनडुहीभार्यः । प्रत्यवरोहिणीभार्यः । आग्रहायणीभार्यः । इति ।

वयस्यनन्त्ये ॥३१।२४॥ प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था वयः । वयस्यनन्त्ये वर्तमानान्मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । कुमारी । किशोरी । वर्करी । वधूटी । चिरण्टी । तरुणी । तलुनी । अनन्त्य इति किम् ? स्थविरा । वृद्धा । “कन्यायाङ्कनीच” [३१।१०५] इति निपातनात् कन्या । अत इत्येव । शिशुः । उत्तान-शया । लोहितपादिका । द्विवर्षा । नैते सान्नाद्वयोवाचिनः शब्दाः । अथवा द्विवर्षादिषु “परिमाणाद्दृदुपि” [३१।२६] इत्येतस्मान्नियमान्न भविष्यतीति ।

रात् ॥३१।२५॥ रसंज्ञकान्मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां भाष्यते । पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली । दशपूली । अन्नन्तस्य रसस्य खं स्त्रियां चेति पञ्चपत्नी दशतन्त्री । पञ्चाजी । अजादिष्वजशब्दो जातिवचनोऽभिप्रेतः । कथं त्रिफला ? अजादिषु पाठात् ।

परिमाणाद्दृदुपि ॥३१।२६॥ सर्वतो मानं परिमाणम् । परिमाणान्ताद् रात् दृदुपि सति ङीत्यो भवति । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीता आर्हीयस्य त्यस्य “रादुबखौ” [३१।२६] इत्युप् । द्विकुडवी । द्र्याढकी । “रात्” [३१।२५] इति सिद्धे नियमार्थोऽयम् । यतः परिमाणादेव दृदुपि नान्यतः । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । दशाश्वा । तुल्यजातीयस्य नियमान्निवृत्तिः । समाहारे भवत्येव । पञ्चाश्वी । परिमाणादिति योगवियोगः कर्तव्यः । तत इष्टतोऽवधारणं लभ्यते परिमाणशब्देनेह रुदिवशात् प्रस्थादिर्गृह्यते । कालसंख्ययोरग्रहणम् । तेन द्विवर्षा । त्रिवर्षा । द्विशता । त्रिशता । द्वे वर्षे प्रमाणमस्याः “प्रमाणे ध्वंसनं राच्च” इति द्वयसडादीनामुप् । उक्तं च— “ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयाप्तस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः” ।

न विस्ताचितकम्बल्यात् ॥३१।२७॥ विस्त आचित कम्बल्य इत्येवमन्ताद् रात् दृदुपि ङीत्यो न भवति । विस्तादीनां परिमाणत्वात् सर्वेण प्राप्तिः—द्वाभ्यां विस्ताभ्यां क्रीता द्विविस्ता । त्रिविस्ता । द्र्याचिता । व्याचिता । द्विकम्बल्या । त्रिकम्बल्या ।

काण्डात् क्षेत्रे ॥३१।२८॥ काण्डशब्दान्तात् रात् दृदुपि सति क्षेत्रेऽभिषेधे ङीत्यो न भवति । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । “प्रमाणेणद्वयसड्द्वय मात्रतः” [३१।५८] इत्यागतानां द्वयसडादीनां प्रमाणे ध्वंसनं राच्चेति वक्ष्यमाणशब्दा इष्टथा उप । काण्डं धनुः । तस्य परिमाणशब्देनासंगृहीतमतः “परिमाणाद्दृदुपि” [३१।२६] इत्यनेन नियमेन प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थमिदम् । क्षेत्र एव प्रतिषेधो भवति नान्यत्र । द्विकाण्डा । त्रिकाण्डा रज्जुः । “रात्” [३१।१०५] इति ङीविधिः ।

पुरुषात्प्रमाणे वा ॥३१।२९॥ दृदुपीति वर्तते । प्रमाणे यो वर्तते पुरुषशब्दस्तदन्ताद्वा दृदुपि वा ङीत्यो भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः खातायाः द्वयसडादीनां “प्रमाणे ध्वंसनं राच्च” इति उप । द्विपुरुषा । द्विपुरुषी । त्रिपुरुषा । त्रिपुरुषी । अपरिमाणात्वात्पुरुषस्य “परिमाणाद्दृदुपि” [३१।२६] इति नियमान्निवर्तितो ङीत्यो विकल्पते । प्रमाण इति किम् ? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां क्रीता द्विपुरुषा । दृदुपीत्येव । समाहारे पञ्चपुरुषी ।

गुणोक्तेस्तोऽखरुस्फोडः ॥३१।३०॥ वेति वर्तते । गुणोक्तेर्मृद उकारान्ताद् वा ङीत्यो भवति खरुशब्दं स्फोडं च वर्जयित्वा । यः शब्दो गुणे वर्तित्वा द्रव्ये वर्तते स गुणोक्तिरित्युच्यते । पट्टः । पट्टी । मृदुः । मृद्वी । गुणोक्तिरिति किम् ? आखुः । जातिशब्दोऽयम् । उत इति किम् ? शुचिरियं कन्या । अखरुस्फोड इति किम् ? खरियं कन्या । पाण्डुरियं कन्या । “सत्त्वे निविज्ञतेऽपैति पृथग्जातिषु हरयते ।

आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिगुणः ।” सत्त्वं द्रव्यं तत्र निविशते उत्पद्यते आश्रयति वा स गुण इति संबंधः । द्रव्यादपैति अपगच्छति यथाम्रात् हरितता पीततायां उत्पन्नायाम् । पृथग्जातिषु दृश्यते, यथा सैव हरितता तरुणतृणेषु । आधेयः उत्पाद्यः, यथा कुमुदयोगात् गन्धो वस्त्रे, यथा वा घटे रक्तता । अक्रियाजश्च क्रियाजश्च क्रियातो नोत्पद्यते यथाऽऽकाशादिषु महत्त्वादि । चकारात् क्रियाजश्च यथा संयोगो विभागो वा असत्त्वप्रकृतिर्द्रव्यस्वभावरहितो निर्गुण इत्यर्थः ।

बह्वादेः ॥३१॥३१॥ वेति वर्तते । बहु इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रियां वा ङीत्यो भवति । बहुः । बह्वी । पद्धतिः । पद्धती । बहु पद्धति अद्भुति अद्भुति अंहति शकटि शक्ति । केचिच्छब्दे ऽर्थे शक्तिं पठन्ति । सामर्थ्ये शक्तिरेव तेषाम् । शस्त्रि शारि रति राधि शाधि अहि कपि मुनि यष्टि । किमर्थमिकारान्ताः पठ्यन्ते । यावता कृदिकारादक्तेरित्येव सिद्धे पद्धतिशब्दान्न स्यात् इतरेभ्यश्चाव्युत्पत्तिपत्तः “इतः प्राण्यङ्गात्” [ग०] श्रोणिः श्रोणी । धमनिः । धमनी । इत इति किम् ? ग्रीवा । प्राण्यङ्गादिति किम् ? कौणिः । साणिः । “कृदिकारादक्तेः” [ग०] भूमिः । भूमी । अक्तेरिति किम् ? कृतिः । हृतिः । अत्यर्थवि(दि)त्येके । इहापि मा भूत् । अकरणिर्हन्ते ते वृषल । कृदिकारादिति किम् ? सुगन्धिः । सुरभिगन्धिः । स्त्रीहृतो न भवति । व्युत्पत्तिपक्षे कृदिकारस्यैव पूर्वः प्रपञ्चः । चण्ड अगल कमल कृपण विकट विशाल विशङ्कट भरुज । चन्द्रभागाभयाम् । कल्याण उदार पुराण । अहःशब्दस्येह पाठोऽनर्थकः । केवलस्य स्त्रियामवृत्तेः । सविधौ तु उत्तरपदभूतस्य “बोद्ध्वे” [३१॥३१] इत्यनेनैव त्रैरूप्यं सिद्धम् । बहुशब्दस्य गुणवाचित्वात्पूर्वेष्वेव विकल्पे सिद्धे द्विर्वचं सुबद्धं भवतीति पुनर्ग्रहणम् । तेन सकृदुक्तो अणुन्तान्ङीविधिः । कचिन्न भवति । कामिकेति ।

पतिवत्स्यन्तर्वत्स्यौ ॥३१॥३२॥ पतिवत्नी अन्तर्वत्नी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । पतिमच्छब्दस्य ङीत्ये परतः मतोर्वत्त्वं नुमागमश्च निपात्यते । जीवति भर्तारं पतिवत्नी । जीवत्यतिरित्यर्थः । अन्यत्र पतिमती पृथिवी । अन्तःशब्दादधिकरणप्रधानात् अस्तिसामानाधिकरण्याभावात् विहितो मनुर्नुक् च निपात्यते गर्भिण्याम् । अन्तर्वत्नी गर्भिणी । अन्यत्र अन्तरस्यामस्ति शालायाम् । उक्तं च—“पतिवत्स्यौ नुका वत्समन्तर्वत्स्यौ मनुर्नुका । जीवत्पत्यां च गर्भिण्यां यथासङ्ख्यं निपात्यते ॥”

पत्नी ॥३१॥३३॥ पत्नीति निपात्यते । पतिशब्दस्य स्त्रियां नकारोऽन्तादेशः पुंयोगे निपात्यते ङीत्यो नकारान्तत्वादेव भवति । इयमस्य पत्नी । अस्य पुंसः वित्तस्य स्वामिनीत्यर्थः । पुंयोगादन्यत्र पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

सपत्न्यादौ ॥३१॥३४॥ सपत्न्यादिषु पत्नीशब्दो निपात्यते “वा से” [३१॥३५] इति विभाषया पत्नीशब्दस्य निपातने प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । समानः पतिरस्याः सपत्नी । यद्येवं पत्नीति वर्तते समानादिभ्य इति वक्तव्ये सनकारेकारस्य समुदायस्योच्चारणं किमर्थम् ? समानशब्दस्य सभावार्थम् । इकारापायेऽपि नकार-श्रवणार्थं च । सपत्न्याः अयं सापत्यः । कृतेकारस्योच्चारणं पुंवद्भावप्रतिषेधार्थमित्येके । सपत्नीभार्यः । एवं एकपत्नी । वीरपत्नी । पियडपत्नी । पुत्रपत्नी । भ्रौतृपत्नी ।

वा से ॥३१॥३५॥ से पत्नी वा निपात्यते । पतिशब्दान्तस्य मृदः स्त्रियां वा नकारोऽन्तादेशो निपात्यते । वसे वसे चेदं निपातनम् । अनीच इति नामिसम्बध्यते । गृहमाणस्य शब्दस्याभावात् । वसे-दृढः पतिरस्या दृढपतिः । दृढपत्नी । स्थिरपतिः । स्थिरपत्नी । वृद्धपतिः । वृद्धपत्नी । स्थूलपतिः । स्थूलपत्नी । वसे ग्रामस्य पतिः ग्रामपतिः । ग्रामपत्नी । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् । पुंसा योगे पत्नीति नित्यं निपातनम् । तेन पत्नीशब्देन तासे राजपत्नीत्येव भवति । स इति किम् ? पतिरियमस्य ग्रामस्य ।

वर्णाद्बहुलं तो नस्तु ॥३१॥३६॥ वर्णावाचिनो मृदः स्त्रियां बहुलं ङीत्यो भवति तकारस्य तु नकार-शब्दः । तुशब्दः किमर्थः ? बहुलं ङीविधिर्भवति तकारस्य तु नकारो नित्यं यथा स्यादित्येवमर्थः । एता ।

एनी । स्वेता । स्वेनी । रोहिता । रोहिणी । हरिता । हरिणी । शवली । पिशङ्गी । कल्माषी । सारङ्गी । काली संज्ञायां वर्णे च । काला अन्या । क्वचिदप्रवृत्तिरेव श्वेता । असिता । पलिता । कृष्णा । कपिला । क्वचिदुभयथा । शोणी । शोणा । वडवा । नीली औषधिः । प्राणिनि च नीली वडवा । नीली गौः । संज्ञायामुभयम् । नीली । नीला । आच्छादने न भवत्येव । नीला शाटी । नीला मेघसंहतिः । वर्णादिति किम् ? कृता । हृता । अत इत्येव । सितिः कन्या ।

कुरङ्गोणस्थलभाजनागकुशकामुककबरादत्रमावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यायोविकारमै-
थुनेच्छाकेशवेशेषु ॥३१॥३७॥ कुरङ्गादिभ्यः कबरशब्दपर्यन्तेभ्योऽमत्रादिष्वर्थेषु यथासंख्यं स्त्रियां ङीत्यो
भवति । कुरङ्गी भवति अमत्रं चेत् । कुरङ्गा अन्या । दाह इत्यर्थः । गोणी भवति आवपनं चेत् । गोणा
अन्या । संज्ञेषा । स्थली भवति अकृत्रिमा चेत् । स्थला अन्या । भाजी भवति आणा चेत् । भाजा अन्या ।
भाजयते स्त्रियां युचि प्राप्ते अत एव निपातनादकारः । नागी भवति स्थौल्यं चेत् । नागा अन्या ।
तन्वी दीर्घा वा । संज्ञायां वा । जातिविवक्षायां तु नित्यं ङो । कुशी भवति अयोविकारश्चेत् । कुशा अन्या ।
काष्ठादिमयी तदाकृतिः । कामुकी भवति मैथुनेच्छा चेत् । कामुका अन्या । कबरी भवति केशवेशश्चेत् ।
कबरा अन्या ।

पुंयोगात् खोरगोपालकादेः ॥३१॥३८॥ अत इति वर्तते । पुंयोगाद्धेतोर्यः शब्दः स्त्रियां वर्तते
लुभृतस्तस्मान्ङीत्यो भवति गोपालकादौ वर्जयित्वा । उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायी । गणकी । प्रष्टी । महा-
मात्री । एते संज्ञाशब्दा पुंयोगात् स्त्रियां वर्तन्ते । पुंयोगादिति किम् ? देवदत्ता । खोरिति किम् ? प्रसूता ।
प्रजाता । परिभ्रष्टा । पुंयोगादेते शब्दाः स्त्रियां वर्तन्ते, न तु पुंसि संज्ञाभूताः । अगोपालकादेरिति किम् ?
गोपालिका । पशुपालिका । आदिशब्दः प्रकारवाची । तेन सूर्यादेस्तायां ङीर्न भवति । सूर्यस्य भार्या सूर्या ।
देवतायामिति किम् ? सूर्यो नाम मनुष्यः तस्य सूर्येति ।

पूतक्रतोरै च ॥३१॥३९॥ पुंयोगादिति वर्तते । पूतक्रतुशब्दान्ङीत्यो भवत्येकारश्चान्तादेशः ।
पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी । पुंयोगादित्येव । पूताः क्रतवो यस्याः सा पूतक्रतुः ।

वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदात् ॥३१॥४०॥ ऐं चेति वर्तते पुंयोगादिति च । वृषाकपि अग्नि
कुसित कुसीद इत्येतेभ्यः स्त्रियां ङीत्यो भवति ऐकारश्चान्तादेशः । वृषाकपयी । अग्नयी । कुसितायी ।
कुसीदायी । कुसितकुसीदयोः संज्ञाशब्दत्वात् पूर्वैरेव सिद्धेऽप्यैकारार्थं वचनम् । पुंयोगादित्येव । वृषाक-
पिर्नाम काचित् ।

मनोरै च ॥३१॥४१॥ पुंयोगादिति वर्तते । औकारश्चान्तादेश ऐकारश्च । मनोः स्त्री मनवी ।
मनायी । केषाञ्चिन्मनुरित्यपि ।

वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक ॥३१॥४२॥ वरुणादिभ्यो
मृद्भ्यो स्त्रियां ङीत्यो भवति आनुगागमः । अत्र केषाञ्चिच्छब्दानां पुंयोगादिति सिद्धेऽप्यानुगर्थं ग्रहणम् । वरु-
णानी । भवानी । शर्वाणी । रुद्राणी । मृडानी । “हिमारण्ययोमेहत्वे” [वा०] महद्भिर्न हिमानी ।
महदरण्यमरण्यानी । “यवद्दोषे” [वा०] सदोषो यवः यवानी । “यवनाल्लिप्याम्” [वा०] यवनानां लिपिः
यवनानी । उपाध्यायमातुलाभ्यां वा । आनुक एवायं विकल्पाः उपाध्यायी । उपाध्यायानी । मातुली । मातुलानी ।
“आचार्यादणत्वं च” [वा०] आचार्यानी । आचार्या । “आर्यश्चित्रियाभ्यामपुंयोगे वेति क्लृप्यम्” [वा०]

आर्याणी । आर्या । क्षत्रियाणी । क्षत्रिया । अपुंयोग इति किम् ? आर्यस्य भार्या आर्या । क्षत्रियस्य भार्या क्षत्रियो । आनुगति द्विमात्रोच्चारणमिष्टिसंग्रहार्थम् ।

क्रीतात्करणादेः ॥३॥१॥४३॥ क्रीतशब्दान्तान्मृदः करणादेः क्ष्रियां ङीत्यो भवति । वज्रेण क्रीयते या वज्रक्रीती । वसनक्रीती । “साधनं कृता बहुलम्” [१॥३॥२६] इत्यत्र बहुलवचनान्त्वम् । “तिवाक्कारकाणां कृद्भिः सविधिः प्राक्सुबुत्पत्तेः” [परि०] इति करणवाचिशब्दस्य क्रीतशब्देन सविधिः । पश्चादकारान्तलक्षणो ङीविधिः । करणादेरिति किम् ? सुक्रीता । दुष्क्रीता । “इदुदुङोऽस्यपुग्मुहुसः” [१॥४॥२८] इति सत्वषत्वे । कथं “सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी” बहुलवचनान् । सुवन्तेन वृत्तिर्न कृदन्तेन । सुबुत्पत्तिश्च बहिरङ्गा अन्तरङ्गे यपि कृते भवतीति सिद्धम् । क्रीतान्तान्मृद इति विशेषणात् वाक्ये न भवति, वत्येन (वित्तेन) क्रीता ।

क्तादल्पे ॥३॥१॥४४॥ करणादेरिति वर्तते । करणादेर्मृदः क्तान्तादल्पे ङीत्यो भवति । अत्रापि प्राक् सुबुत्पत्तेः सविधिः । अभ्रविलिप्ती द्यौः । अल्पान्यस्यामभ्राणीत्यर्थः । रूपविलिप्ती पानी । अल्प इति किम् ? चन्दनानुलिप्ता ।

जातेर्वात् ॥३॥१॥४५॥ क्तादिति वर्तते । जातिशब्दपूर्वः क्तान्तो यो वसस्तस्मान्ङीत्यो भवति । अस्वाङ्गादेशत्तरत्र विकल्पो वक्ष्यते । स्वाङ्गे पूर्वपदमिहोदाहरणम् । शङ्खौ भिन्नौ यस्याः सा शङ्खभिनी । उरुच्छुन्नी । गलकोक्कुत्ती । केशलूनी । जातेरिति किम् ? मासजाता । बहुजाता । अजाता । सुखजाता । दुःखजाता । बादिति किम् ? सव्यजानुप्रतिष्ठिता । “जातान्ताप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] दन्तजाता । स्तनजाता । “पाणिगृहीत्यादीनां गुर्वनुज्ञातेन ङी वक्तव्यः” [वा०] पाणिगृहीता भार्या । यस्यास्तु यथाकथाञ्चत् पाणिगृहीतः सा पाणिगृहीता । त इति दतोक्तं (त इत्यत्रोक्तं) जातिकालमुखादिभ्यः परनिपातस्तान्तस्योते जातिरत्र सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या ।

वाऽस्वाङ्गादेः ॥३॥१॥४६॥ क्तादिति वर्तते बादिति च । अस्वाङ्गादेः क्तान्ताद्वसाद् वा ङीत्यो भवति । सारङ्गं जग्धमनया सारङ्गजग्धी । सारङ्गजग्धा । पलाण्डुभक्षिती । पलाण्डुभक्षिता । सुरापीती । सुरापीता । अस्वाङ्गादेरिति किम् ? शङ्खभिनी । स्वाङ्गादेः पूर्वेषु नित्यो विधिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवति । वज्रं छन्नमस्याः वज्रच्छन्ना । वसनच्छन्ना । षतेऽपि संज्ञायां विकल्पः । प्रवद्धविलूनी । प्रवद्धविलूना ।

स्वाङ्गान्नोचोऽस्फोडः ॥३॥१॥४७॥ वेति वर्तते । स्वाङ्गं न्यक् अस्फोड् यत् तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा । गौरमुखी । गौरमुखा । स्वाङ्गादिति किम् ? बहुयवा । अस्फोड इति किम् ? कल्याणगुल्फा । कल्याणपार्श्व । वेति व्यवस्थितविभाषा व्याख्याता । तेन ‘अङ्गगान्नकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः’ [वा०] मृदङ्गी । मृदङ्गा । मृदुगान्नी । मृदुगात्रा । स्निग्धकण्ठी । स्निग्धकण्ठा । वसाधिकारे पुनर्न्यगप्र-हणं पार्थम् । अतिकेशी । अतिकेशा । निष्केशी । निष्केशा माला । इह कस्मान्न भवति ? कल्याणं पाणिपा-दमस्याः कल्याणपाणिपादा । स्वाङ्गसमुदायः स्वाङ्गग्रहणेन न गृह्यते । किं स्वाङ्गम् ? “अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् । अतस्थं तत्र दृष्टं चेत् तस्य चेत् तत् तथायुतम् ।” स्वाङ्गं मुखादि । अद्रवमिति किम् ? बहुकफा । मूर्तिमदिति किम् ? बहुज्ञाना । प्राणिस्थमिति किम् ? श्लक्ष्णमुखा शाला । अविकारजमिति किम् ? बहुशोका । अतस्थं तत्र दृष्टं च प्राक् प्राणिनि दृष्टं संप्रत्यप्राणिस्थमपि स्वाङ्गम् । दीर्घकेशी । दीर्घकेशा रथ्या । तस्य चेत् तत् तथायुतम् येन प्रकारेण प्राणिनो युतं दृष्टं तस्याप्राणिनोऽपि यदि तत्तथायुतं दृश्यते एवमपि स्वाङ्गम् । दीर्घमुखी दीर्घमुखा अर्चा ।

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गात् ॥३१।४८॥ स्वाङ्गाबीच इति वर्तते वेति च । नासिका-
दयो वे यच्चस्तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति । दीर्घनासिका । दीर्घनासिका । तनूदरी । तनूदरा । विम्बोष्ठी ।
विम्बोष्ठा । “ओत्वोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यस्यते” [वा०] समजङ्घी । समजङ्घा । समदन्ती । समदन्ता ।
चारुकर्णी । चारुकर्णा । तीक्ष्णशृङ्गी । तीक्ष्णशृङ्गा । नासिकोदरयोः “बह्वचः” [३१।४९] इत्यनन्तरे
प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् । सहनञ् विद्यमानलक्षणस्तु प्रतिषेधो भवत्येव । शेषाणामस्फोट इति पूर्वस्मिन् प्रतिषेधे
प्राप्ते उपादानम् । सहादिप्रतिषेधस्तु भवत्येव । “पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] दीर्घपुच्छी । दीर्घपुच्छा ।
“कवरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्” [वा०] कवरं पुच्छमस्याः कवरपुच्छी । मणिः पुच्छेऽस्याः
मणिपुच्छी । विषं पुच्छेऽस्याः विषपुच्छी । “ईद्विबशेषणे वे” [१३।१०१] इत्यत्र खङ्गादिभ्यः ईवन्तस्य
परवचनमुक्तम् । “उपमानात् पक्षपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्” [वा०] उलूक इव पद्मावस्याः उलूकपद्मी शाला ।
उलूक इव पुच्छमस्या उलूकपुच्छी सेना ।

न क्रोडादिवह्वचः ॥३१।४९॥ क्रोडादिर्गणः । क्रोडाद्यन्तात् बहुजन्ताच्च मृदो ङीत्यो न भवति ।
“स्वाङ्गाबीचः” [३१।४७] इति प्राप्तिः । क्रोडाशब्दः स्त्रीलिङ्गः । कल्याणी क्रोडा अस्याः कल्याणक्रोडा ।
कल्याणगोला । कल्याणबाला । कल्याणखुरा । कल्याणशफा । कल्याणगुदा । क्रोडादिराकृतिगणः । सुभगा ।
सुगला । बह्वचः खल्वपि । पृथुजघना । दृढहृदया । महाललाटा ।

सहनञ् विद्यमानात् ॥३१।५०॥ सह नञ् विद्यमान इत्येतेभ्य उत्तरं यत्स्वाङ्गं तदन्तात्
ङीत्यो न भवति । सकेशा । अकेशा । विद्यमानकेशा । सनासिका । अनासिका । विद्यमाननासिका । सुदन्ता ।
अदन्ता । विद्यमानदन्ता ।

नखमुखात्खौ ॥३१।५१॥ नख मुख इत्येवमन्तान्मृदः खुविषये ङीतो न भवति । शर्पणखा ।
व्याघ्रणखा । वज्रणखा । “पूर्वपदात् खावगः” [१।४।८७] इति शत्वम् । गौरमुखा । रत्नचणमुखा ।
कालमुखा । संज्ञाशब्दा एते । खाविति किम् ? शर्पमिव नखा अस्या शर्पणखी । शर्पणखा ।
चन्द्रमुखा । चन्द्रमुखा ।

संख्यशिश्वी ॥३१।५२॥ सखी अशिश्वी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । ङीविधिर्निपात्यते । सखीयं ।
कुमारी । नास्याः शिशुरस्ति अशिश्वी ।

जातेरयोङ् ॥३१।५३॥ अत इति वर्तते । जातिवाचिनः अयकारोऽङो मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति ।
“आकृतिग्रहणां जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ।” आकृतिः
संस्थानम् । आकृतिग्रहणमस्याः आकृतिग्रहणा । ब्राह्मणत्वादीनां जातिविशेषाणां संस्थानविशेषाभावात् कथं
संग्रहः ? लिङ्गानां च न सर्वभाक् । एकलिङ्गो द्विलिङ्गो वा भावो जातिः । ब्राह्मणत्वादेषु केवलमुपदेशमात्रं
जातिव्यवहारस्य निर्वन्धनम् । जात्यभावेऽपि द्विलिङ्गास्तस्ति देवदत्तः देवदत्ता इति । अथ कथं त्रिलिङ्गेषु तद्वत्तदी
तदभित्येवमादिषु जातिवाचित्वम् ? सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या । अभिधानप्रत्यययोरनाकस्मिकत्वात्तन्निमित्तं जातिरि-
ति । एवं सकृदाख्याता निश्चयेन ग्राह्या । ननु सर्वे शब्दा जातिवाचिनः इत्यस्मिन् दर्शने यद्वच्छाशब्दानां
क्रियागुणशब्दानां च जातिशब्दत्वं देवदत्तादयोऽपि संज्ञाशब्दा बाल्यकौमारयौवनादिष्वन्वयिनीमाकृतिमवल-
म्बन्ते । एवं च देवदत्ता कारणा शुक्लेत्यत्र ङीविधिः प्रसज्येत ? यदीदं दर्शनमाश्रीयेत व्यावर्त्य नास्तीति
ग्रहणमनर्थकं स्यात् । तस्माद्येषां जातिरेव प्रवृत्तेर्निमित्तं त इह जातिशब्दाः । गोत्रं च लौकिकमपत्यमात्रं

जातिः । नात्राकृतिः प्रतीयते नापि किञ्चिल्लिङ्गमस्ति येन सकृदाख्यायेत । लिङ्गानां च न सर्वभागित्यस्मिन् दर्शने गोत्रं चेति न वक्तव्यम् । चरणैः सहेति चरणमध्ययनवशात् क्रिया तदात्मकं^१ जातिः । कुक्कुटी । ब्राह्मणी । तटी । नाडायनी । बह्वी । कठी । कठेन प्रोक्तमधीते या “शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन्” [३।३।७७] इति णिन् । परस्याणः “उपप्रोक्तात्” [३।२।१४] इत्युप् । शौनकादिष्वेव । “कठचरकात्” इति इन उप् । जातेरिति किम् ? सुपडा । अयोङ इति किम् ? आर्या । क्षत्रिया ।

पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालयोः ॥३।१।५४॥ पाकादयो युभूता यस्य तस्माज्जातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । ओदनपाकी । क्षयपाकी । मूषिककर्णी । शङ्कुकर्णी । पृष्टिपर्णी । शालिपर्णी । शङ्खपुष्पी । हिरण्यपुष्पी । दासीफली । पूगफली । दर्भमूली । शीर्यमूली । गोवाली । अश्ववाली । पुष्पफलमूलोत्तरपदाद्यतो ङीविधिर्नैष्यते तदजादिषु पठनीयम् । पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमेतत् । स्त्रियामेव ये जातिवाचिनः शब्दास्तेषु एतेभ्य एव ङीविधिर्नान्यस्मात् । बलाका । मन्त्रिका ।

इतो मनुष्यजातेः ॥३।१।५५॥ इकारान्तान्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ङीत्यो भवति । कुन्ती । अवन्ती । अपत्यार्थे “द्वित्कुरुनाद्यजादकौशलाब्ज्यः” [३।१।१५३] इति ज्यः । तस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्युप् । एवं दाक्षी । स्नाक्षी । इत इति किम् ? विट् । दरत् । यथासंख्यमजणोः “अतोऽप्राच्यभगदिः” [३।१।१५८] इत्युप् । मनुष्यग्रहणं किम् ? तित्तिरिः । जातेरिति वर्तमाने पुनर्जातिग्रहणं योङोऽपि यथा स्यात् । औदमेयी । “अयोङः” [३।१।५३] इति प्रतिषेधः उत्तरत्र त्रिसूत्र्यां च वर्तते । “इज उपसंख्यानमजात्यर्थं कर्तव्यम्” [वा०] सुतङ्गमेन निवृत्ता नगरी सौतङ्गमी । “बुच्छण्कठे” [३।२।६०] इत्यादिना सुतङ्गमादिभ्य इज् ।

ऊरुतः ॥३।१।५६॥ मनुष्यजातेरिति वर्तते । उकारान्तान्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रियां ऊकार-स्थो भवति । कुरुः । इक्ष्वाकूः । पर्षः । अस्य “कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इति अजणोः “अतोऽप्राच्यभगदिः” [३।१।१५८] इत्युप् । द्विमात्रोच्चारणं “शेषाद्वा” [३।२।१५४] इति परस्यापि कपो बाधनार्थम् । तथाहि ब्रह्मा बन्धुर्यस्याः सा ब्रह्मबन्धूः । वीरबन्धूः । अत्र च समुदायो ब्राह्मणविशेषजातिः । यन्द्रावेन मृदमुदोरेकादेशो मृद्वद्भवतीति मृत्सजायां स्वायुत्पत्तिः । मनुष्यजातेरित्येव । ररुः । कुक्कुवाकुः । आलुः । अयोङ इत्येव । अच्युः स्त्री । अलावूः । कर्कन्धूरित्येवमादय औणादिकाः । कथं अलावुकर्कन्धु-न्मुफलमिति ? “इकः प्रोङ्याः” [३।१।७२] इति प्रादेशेन सिद्धम् ।

पङ्गोः ॥३।१।५७॥ पङ्गुशब्दात् स्त्रियामूत्यो भवति । पङ्गूः । अशुरशब्दस्योकाराकारयोः लमूश्च लो वक्तव्यः । अशूः ।

ऊरुद्योरिवे ॥३।१।५८॥ ऊरुशब्दो द्युर्यस्य तस्मान्मृद इवार्थे गम्ये स्त्रियामूत्यो भवति । करभोरुः । कदलीस्तम्भोरुः । नागनासोरुः । इव इति किम् ? वृत्तोरुः कन्या ।

संहितशफलक्षणवामादेः ॥३।१।५९॥ संहिताद्यादेर्मृदः ऊरुद्योः स्त्रियामूत्यो भवति । अनिवार्यो-ऽयमारम्भः । संहितोरुः । शफोरुः । लक्ष्णोरुः । वामोरुः । “संहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [वा०] संहितोरुः । सहोरुः ।

बाह्वन्तकद्रकमण्डलुभ्यः ॥३।१।६०॥ बाहुशब्दान्तान्मृदः कद्रकमण्डलुशब्दाभ्यां लुविषये ऊत्यो भवति । मद्रवाहूः । भद्रवाहूः । कद्रूः । कमण्डलूः । कासाञ्चिदेताः संज्ञाः । खाविति किम् ? वृत्तौ बाहू अस्याः वृत्तवाहूः । कद्रुः । कमण्डलुः ।

उत्सादेरञ् ॥३१।७१॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते । उत्स इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्तयन्तेभ्यः प्राग्द्रोरर्थेष्वञ् भवति । अणस्तदपवादानां च बाधकः । अञि सति “यजजोः” [१।४।१३२] इति बहुत्वे उन्भवति । उत्स-स्यापत्यं श्रौत्सः । उदपानस्यापत्यमौदपानः । उत्स उदपान विकर विनद महानद महानस महाप्राण तरुण तलुन । वष्कयशब्दादसे । असमास इत्यर्थः । घेनु पङ्क्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर पीलु-कुण । उदस्थानशब्दाद्देशे । पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत् । सत्वतशब्दो सत्वन्तुशब्दो मत्वन्तः आगतनुङ्को गृह्यते । कुरु पञ्चाल इन्द्रावसान उष्णिह् ककुम् सुवर्ण । ग्रीष्मादच्छन्दसीति वक्तव्यम् । छन्दश्चेह वृत्तवातिः । तरुणशब्दस्य लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम् । तद्वत्या अपत्यं तारुणः । ययादयोऽर्थविशेषलक्षणादण्- (णोऽ)पवादात् पूर्वनिर्णयेन भवन्तीति ।

स्त्रीपुंसानुक्त्वात् ॥३१।७२॥ वक्ष्यति “ब्रह्मणस्त्वः” [३।४।१३६] एतस्मात्त्वसंशब्दनात् प्राग्योऽर्थे वक्ष्यते तेषु स्त्रीशब्दात् पुंशब्दाच्च अञ् भवति नुगागमः । स्त्रीषु भवं स्त्रीणां समूहः स्त्रीभ्यः आग-तम् स्त्रीभ्यो हितं स्त्रीणां भावो वा स्वैरण् । एवं पौंसनम् । “नोऽपुंसो हति” [४।४।१३०] इति प्रतिषेधात् पुं सष्टिर्न भवति । स्त्रीशब्दस्य तु नुक्त्वचनसामर्थ्यात् । स्वैणाः पौंस्ना इत्यत्र “यजजोः” [१।४।१३५] इत्युप् प्राप्नोति । इह च स्वैणानां संघ इति “संघाङ्गलक्षण” [३।३।१५] इत्यण् प्राप्नोति चेत् नैतो दोषौ । अपत्याधिकारात् प्रागूर्ध्वं च वृद्धग्रहणेषु लौकिकगोत्रग्रहणमिति वक्ष्यते । न च स्वैणं पौंसमिति वा लौकिकं गोत्रं तस्मादुच्यते न भवतः । “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४।३।१५४] इति वचनं योगापेक्षं ज्ञापकम् । वतोऽर्थे नायं विधिरिति । स्त्रीवत् । पुंभ्वत् ।

वृद्धेऽच्यनुप् ॥३१।७३॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते । “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१।४।१३४] इत्यत्र प्रकरणे वृद्धे यस्य त्यस्य उबुक्तः तस्यानुभवति प्राग्द्रवीयेऽजादावुत्पत्त्यमाने । गर्गाणां छात्राः गार्गीयाः । “यजजोः” [१।४।१३२] इति बहुत्वे उप् प्रातः । ईयविषये प्रतिषिध्यते । “यस्य ह्यां च” [४।४।१३६] इत्यखम् “अ्यच्यनाद्घृत्त्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यखम् । त्याश्रयलक्षण एवभवति । यास्कीयाः । शिवादिलक्षण-स्याणः “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१।४।१३४] इत्युप् प्रातः । आत्रेयीयाः । “द्वयचः” [३।१।११०] “इतोऽ-निजः” [३।१।१११] इति दण् तस्य “भृग्वन्निकृत्सवशिष्टगोतमाङ्गिरोभ्यः” [१।४।१३६] इत्युप् प्रातः । खारपायणीयाः । “यस्कादिभ्यो वृद्धे” [१।४।१३४] इत्यनेन नडादिकण उप् प्रातः । वृद्ध इति किम् ? कुवलस्येदं कौवलम् । वादरम् । अवयवार्थे आगतस्याणः “उष्णले” [३।३।१२१] इति उवेव भवति । अचीति किम् ? गर्गभ्यः गर्गरूप्यम् । गर्गमयम् । प्राग्द्रोरित्येव गर्गभ्यो हितं गार्गीयम् । वृद्धाद्वहन्तात् एकस्मिन् यूनि द्वयोर्वा यूनोर्यस्य तस्मिन्नष्टेऽप्यनुभवति । विदानामपत्यं युवा वैदः । वैदौ । अजन्तादत् इञ् । तस्य “जिण्यराज(र्षां) न्युवणिजोः” [१।४।१३०] इत्युप् । “त्यखे त्याधयम्” [१।१।६३] इत्यजादित्व-मस्ति । वर्षाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति न मन्तव्यम् । अचीति विषयनिर्देशः । एकद्वयन्ताच्च वृद्धात् युवबहुत्व-विवक्षायां उपच वक्तव्यः । वैदस्य वैदयोरपत्यानि युवानः विदाः ।

रस्योवनपत्ये ॥३१।७४॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते । रस्य निमित्तत्वेन संबन्धी यो हत् अपत्यवर्जिते प्राग्द्रोरर्थे विहितस्तस्योभवति । पञ्चसु गुरुषु भवः पञ्चगुर्नमस्कारः । दशसु धर्मेषु भवः दशधर्मः । द्वावनुयोगावधीते द्वयनुयोगः । त्र्यनुयोगः । हृदये षसः । संलक्षदीरसंज्ञः । भवार्थे आगतस्याण उप् । रस्येति निमित्तविशेषणं किम् ? उवन्ताद्यो हत् तस्योन्मा भूत् । पञ्चगुरोर्नमस्कारस्येदं पाञ्चगुरवम् । यदि रस्य निमित्तं यो हत् तस्योप्

इह तर्हि न प्राप्नोति पञ्चानां कपालानां समाहारः पञ्चकपाली । पञ्चकपाल्यां संस्कृतः पञ्चकपालः । नैव दोषः । अव्यविकन्यायेन पञ्चकपालशब्दात् त्योत्पत्तिः । यथा अवेर्मासं आविक्रमिति अविक्रशब्दादेव त्यो नाविशब्दात् । अनपत्य इति किम् ? द्वयोर्देवदत्तयोरपत्यं द्वैदेवदत्तिः । अजग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति । पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतं पञ्चगर्गरूप्यम् । प्राग्द्रोरित्येव । द्वाभ्यामन्नाभ्यां दीव्यति द्वैयन्त्रिकः । त्रैयन्त्रिकः ।

यूनि ॥३१७५॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते अचीति च । यूनि यस्त्यस्तस्योव भवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्ये उत्पत्त्यमाने । फाण्याहृतस्यापत्यं फाण्याहृतिः । तस्यापत्यं युवा “फाण्यहृतेर्यः” [३१११३८] इति णः । फाण्याहृतः । तस्य यूनश्छात्रा बुद्धिस्त एवानुत्पन्नेऽजादौ त्ये णस्योपि कृते इजन्तमिदं जातम् । “इजः” [३१२१८८] इत्यण् भवति । फाण्याहृताः । भगवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः । तस्यापत्यं युवा “दोष्टण् सौवारेषु प्रायः” [३१११३६] इति ठण् । भागवित्तिकः । तस्य यूनश्छात्राः ठण् उपि कृते “इजः” [३१२१८८] इत्यण् । भागवित्ताः । तिकस्यापत्यं तैकायनिः । तस्यापत्यं युवा “फेश्छः” [३१११३७] इति छः । तैकायनीयः । तस्य यूनश्छात्राः छस्योपि कृते “दोश्छः” [३१२१९०] इति छः । तैकायनीयाः । ग्लुचुकस्यापत्यं “फिरदोः” [३१११३७] इति फिः । ग्लुचुकायनिः । तस्यापत्यं युवा “प्राग्द्रोरण्” [३१११३८] ग्लौचुकायनः । तस्य यूनश्छात्रा अण् उपि तस्येदमित्यण् । ग्लौचुकायनाः । कपिञ्जलादस्यापत्यं कपिञ्जलादिः तस्यापत्यं युवा “कुवाद्धेर्ण्यः” [३१११३९] इति ण्यः । कपिञ्जलाद्यः । तस्य यूनश्छात्रा ण्यस्योपि कृते “इजः” [३१२१८८] इत्यण् कपिञ्जलादाः । अचीत्येव । फाण्याहृतरूप्यम् । फाण्याहृतमयम् । प्राग्द्रोरित्येव । भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम् ।

फण्फिज्योर्वा ॥३१७६॥ यूनीति वर्तते । यूनि यौ फण्फिजौ तयोर्वा उभभवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्ये विवक्षिते । पूर्वेण नित्ये उपि प्राप्ते विभाषेयम् । गार्ग्यस्यापत्यं युवा “यजिजोः” [३१११३०] इति फण् । गार्ग्यायणः । तस्य यूनच्छात्राः गार्ग्याया गार्ग्या वा । फिजः खल्वपि । यस्कस्यापत्यं “शिवादिभ्योऽण्” [३१११०१] यास्कः । यास्कस्यापत्यं युवा “द्व्यचोऽण्” [३१११३३] इति फिज् । यास्कायनिः । तस्य यूनच्छात्राः यास्कीयाः । यास्कायनीयाः ।

तस्यापत्यम् ॥३१७७॥ तस्येति तासमर्थात् अपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । हृदर्थनिर्देशे लिङ्गवचनादिकमविवक्षितमप्राधान्यात् । उपगोरपत्यं औपगवः । तान्तादण् । उक्तार्थस्यापत्यशब्दस्य निवृत्तिः । “सुपो छुसृदोः” [११४१३२] इति सुप उप् । ऐप् । आश्वपतः । दैत्यः । सैन्यापत्यः । औत्सः । स्वैणः । पौत्सः । वृत्तौ स्वभावत एकार्थीभावः । प्रकृत्यर्थो विशेषणभूतोऽप्रधानम् । त्यार्थस्य सामान्येन प्रवृत्तस्य विशेषेऽवस्थापनात्त्यार्थः प्रधानम् । गुणप्रधानभावेन प्रकृतिस्त्यश्च त्यार्थं सह ब्रूत इति । ननु च तस्येदं विशेषणं (सामान्यम्) एते अपत्यं समूहो निवासो विकार इति । तस्येदमित्येव सिद्धं किमर्थमिदमुच्यते ? बाधकबाधनार्थम् । भानोरपत्यं भानवः । श्यामगवः । दुल्लक्षणश्छो बाधितः । “तस्यापत्यम्” “अद्बाह्वादेरिज्” [३११८५] इत्येव वक्तव्ये इह करणं पूर्वोत्तरैश्च त्वैरभिसंबन्धो यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

पौत्रादि वृद्धम् ॥३१७८॥ पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । विशदित्वाद् । प्रथमादिति वर्तमानमर्थवशात्तया विपरिणम्यते । प्रथमस्य पौत्रादि यदपत्यं तद् वृद्धसंज्ञं भवति । संज्ञाविषयस्य प्रथमस्य गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः । “वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्फः” [३११८७] इति वर्तमाने “गर्गादिर्व्यञ्ज” [३११८४] इति व्यञ् । पौत्रादीति किम् ? गार्गिः । अनन्तरमपत्यं वृद्धं मा भूत् ।

एकः ॥३१७९॥ वृद्धमिति वर्तते । वृद्धेऽपत्ये विवक्षिते एक एव त्यो भवति । स्वस्याः स्वस्याः प्रकृतेरपत्यमेदविवक्षायामनेकं त्वं बुद्ध्या समुदायीकृत्य नियमः क्रियते । यदिदं गर्गादिपितृकमपत्यजातं वृद्धं

तस्मिन्नेक एव ल्यो भवति । स च परमप्रकृतेर्भवति । यदपि व्यवहितेन जनितमपत्यं तदपि परमप्रकृतैः सामान्येनापत्यं भवत्येव । यदपि सर्वेऽप्यपत्येन युज्यन्ते तथापि प्रथमादित्यनुवर्तनात् परमप्रकृतैरेव भविष्यति गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः । तत्सुतोऽपि गार्ग्यः । एवं व्यवहितेऽपि वृद्धापत्ये विवक्षिते गर्गशब्दाद् यत्नेव भवति । अथवा प्रकृतिनियमोऽयं वृद्धापत्ये विवक्षिते एक एव शब्दः प्रथमा प्रकृतिः त्यमुत्पादयति नान्येति प्रकृतिर्नियम्यते । एवं नडस्यापत्यं नाडायनः ।

ततो यूनि ॥३१।८०॥ ततो वृद्धत्यान्ताद् यून्यपत्ये विवक्षिते एक एव ल्यो भवति । गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः । दाक्षायणः । औपगविः । नाडायनिः ।

जीवति तु वंश्ये युवाऽख्यो ॥३१।८१॥ वंशः पितृपितामहादिप्रबन्धः; तत्र भवो वंश्यः पित्रादिः । पौत्रादीति वर्तते । तत्कार्यवशात् तान्तं संबध्यते । पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादिकं तद्वंशे जीवति युवसंज्ञं भवति स्त्रियं वर्जयित्वा । गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः । दाक्षेर्दाक्षायणः । अस्त्रियामिति किम् ? गार्ग्यस्यापत्यं स्त्री गार्गी । दाक्षी । तु शब्दो वृद्धसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थम् । इह दोषः स्यात् । सालङ्कारपत्यं युवा “यजिजोः” [३।१।६०] इति फण् । पैलस्यापत्यं युवा “द्वयचोऽणः” [३।१।१४३] इति फिज् । तयोर्यूनि “पैलादेः” [१।४।३३] इत्युब् भवति । वृद्धसंज्ञासमावेशे तु “वृद्धेऽच्यनुप्” [३।१।७३] इति प्राग्द्रवीये अजादावनुप् प्रसज्येत । अस्तु “यूनि” [३।१।७५] इति भविष्यति । इह तर्हि दोषः । “फण्फिजोर्वा” [३।१।७६] इति उन्विभाष्यते । उप्पक्षेऽपि वृद्धसंज्ञासमावेशे “वृद्धेऽच्यनुप्” [३।१।७३] इति अनुपस्थात् । अथासमावेशे कथं वृद्धलक्षणो बुज् गार्ग्यायणानां समूहः गार्ग्यायणकम् । वक्ष्यति “वृद्धोक्षोऽष्टो” [३।१।३४] आदिसूत्रे वृद्धग्रहणेनैव सिद्धे राजन्यमनुष्यग्रहणं शापकमपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणे लौकिकं गोत्रग्रहणम् । तेन वृद्धयूतोः समावेशः ।

भ्रातरि च ज्यायसि ॥३१।८२॥ पौत्रादिरपत्यमिति वर्तते । भ्रातरि च ज्यायसि जीवति कनीयान् भ्राता युवसंज्ञो भवति । मृतेऽपि वंश्ये यथा स्यादित्यारम्भः । भ्राता वंश्यो न भवति साक्षात् परम्परया वा । अकारणत्वाद्गार्ग्यस्य द्वौ पुत्रौ ज्यायसि जीवति कनीयान् गार्ग्यायणः । एवं दाक्षायणः । ज्यायांस्तु भ्राता गार्ग्यो दाक्षिरिति ।

वान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ॥३१।८३॥ पौत्रादेरपत्यमिति वर्तते । येषां सप्तमः पुरुष एकस्ते सपिण्डाः परस्परम् । बसे यते वा सपिण्डशब्दः । समानस्य सभाव इहैव निपातितः । प्रकृतं जीवतीति शत्रन्तं स्थविरतरस्य विशेषणम् । इदं तु जीवतीति पदं तिङन्तं संज्ञिनो विशेषणम् । भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रादेरपत्यं यज्जीवति तद्वा युवसंज्ञं भवति । गार्ग्यायणो गार्ग्यः । दाक्षायणो दाक्षिः । अन्यग्रहणं किम् ? भ्रातरि इति वर्तते । तस्मिन्नेव सपिण्डे पितृव्यपुत्रे जीवति स्यात् । सपिण्डग्रहणमसम्बन्धान्यसम्बन्धनिरासार्थम् । ज्यायसीति वर्तमाने स्थविरतरग्रहणं किम् ? स्थानवयोभ्यां ज्येष्ठे सपिण्डे यथा स्यात् भ्रातृव्ये वयोज्येष्ठे पितृव्यः कनीयान् युवसंज्ञो न भवति । जीवतीति किम् ? मृते गार्ग्य एव ।

पूजाकुत्सयोर्व्यत्ययः ॥३१।८४॥ वेति वर्तते । परस्परविषयगमनं व्यत्ययः । वृद्धस्य युवसंज्ञा यून्श्च वृद्धसंज्ञे त्यर्थः । पूजायां कुत्सायां च गम्यमानायां यथासंख्यं वृद्धयूतोर्वा व्यत्ययो भवति । पूजायाम्—तत्रभवान् गार्ग्यायणः; तत्रभवान् गार्ग्यो वा । युवसंज्ञासामर्थ्यात् वृद्धत्यस्य युवत्येन योगः । कुत्सायां गार्ग्यस्त्वं जालम् । गार्ग्यायणस्त्वं जालम् । वृद्धसंज्ञासामर्थ्यात् युवत्यस्य निवृत्तिः ।

अद्वाद्वादेरिच् ॥३१।८५॥ तस्यापत्यमिति वर्तते । अकारान्तेभ्यो मृद्भ्यः बाहु इत्येवमादिभ्यश्च अनन्तरे वृद्धे युवसंज्ञके चाऽपत्ये इज् भवत्यणोऽपवादः । आक्रम्यनिः । दाक्षिः । औपगविः । अनकारा-

न्तार्थं बाधकबाधनार्थं च बाह्वादिग्रहणम् । बाहविः । औपवाकविः । बाहु उपवाकु निवाकु वराकु उपविन्दु एभ्योऽण् प्रातः । बला “द्वयचः” [३।१।११०] इति ढण् प्रातः । वृकला बलाका मूषिका भगला लगहा ध्रुवका सुमित्रा दुर्मित्रा एभ्यः “स्त्रीभ्यो ढण्” [३।१।१०९] इति ढण् । मानुषीलक्षणो वा ढण् स्यात् । पुष्करसत् अनुरदत्^१ अनुशक्तिकादित्वादनयोः पदद्वयस्यैप् । देवशर्मन् अग्निशर्मन् इन्द्रशर्मन् कुनामन् पञ्चन् सतन् । “अमितौजसः सखं च” [वा०] सुधावत् उदञ्च अञ्चेर्निपातनात् नखाभावः । शिरस्-शिरोमात्र-स्यापत्यं नास्ति इति तदन्तविधिः । हातिशीर्षिः । पैलुशीर्षिः । शिरसः शीर्षदेशो वक्ष्यते । माषशराविन् क्षेमवृत्तिन् शृङ्खलतोदिन् खरनादिन् निपातनादणत्वम् । नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् लोम्ना तदन्तविधिः इत उत्तरं प्रागुदङ्कशब्दात् “कुर्वण्यन्धक” [३।१।१०३] आदिनाऽण् प्रातः । अजीगर्तं कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुनं साम्ब गद प्रद्युम्न राम संकर्षण मध्यन्दिन सत्यक उदक । “संभूयोऽम्भसोः सखं च” [वा०] ख्याताख्या-तयोः ख्याते संप्रत्यय इति । तेन बाह्वादिप्रभृतिषु येषां लौकिकगोत्रभावं प्रति प्रवर्तकत्वमस्ति तेभ्य एव इत्यादयः । इह माभूत् बाहुनां कश्चित् तस्यापत्यं बाहवः । आकृतिगणत्वादस्याज्वन्धविः । आजवेनविरिति ।

सुधातुरकड् च ॥३।१।८६॥ सुधातृशब्दादिञ् भवति तत्सन्नियोगेन अकडादेशश्च । सुधातुर-पत्यं सौधातकिः । “व्यासर्वरूडनिषादचण्डालबिम्बादीनामिति वक्तव्यम्” [वा०] । न वक्तव्यम् । अव्यविक-न्यायेन कान्तेभ्य एव त्यविधिः । वैयासकिः । वारुडकिः । नैषादकिः । चाण्डालकिः । बैम्भकिः । कार्मारकिः ।

वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ङफः ॥३।१।८७॥ वृद्धसंज्ञके अपत्ये विवक्षिते कुञ्ज इत्येवमादिभ्यो ङफो भवति । इञोऽपवादः । आदौ जकारः “घ्रातङ्फादस्त्रियाम्” [४।१।२] इति विशेषणार्थः । कुञ्जस्यापत्यं पौत्रादि कौञ्जायन्यः । कौञ्जायन्यौ । कौञ्जायनाः । “घ्रातङ्फादस्त्रियाम्” [४।१।२] इति स्थायं व्यो भवति द्विसंज्ञः । कुञ्ज ब्रह्म शङ्ख गण लोमन् लोमशब्देन तदन्तविधिरिति केचित् । भस्मन् शट् । अयं गर्गादिष्वपि । शाक शौण्ड शुभ विपास् । अयं शिवादिष्वपि । स्कन्द स्कम्भ । वृद्ध इति किम् ? कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिः । वृद्ध इत्ययमधिकारश्च “शिवादिभ्योऽण्” [३।१।१०१] इत्यतः प्राक् ।

नडादेः फण् ॥३।१।८८॥ नड इत्येवमादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये फण् भवति । नडस्यापत्यं वृद्धं नाडायनः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरं नाडिः । नड चर वक मुञ्ज इतिक इतिश उपक लमक शलङ्कु शलङ्कश्चादेशं लभते । शालङ्कायनः । कथं शालङ्कायनः ? कथं सालङ्किः पिता सालङ्किः पुत्रः [सलङ्क] शालङ्क इति प्रकृत्यन्तरमस्ति । अथवा पैलादिषु पाठसामर्थ्यात् इजपि भवति । पञ्चपूल वाजव्य तिक अग्निशर्मन् वृषगणे । गोत्रे अग्निशर्म्मायणो भवति वार्षगणश्चेत् । अग्निशर्म्मिरन्यः । प्राण नर सायक दास मित्र द्वीप तगर पिङ्गल किङ्कर कथन कतर कतल काश्य काव्य सैव्य अजावाव्य स्तम्भ शिशपा अमुध्य निपातनात् साधुः । कृष्णरणौ ब्राह्मणवाशिष्ठयोः । यथाक्रमं ब्राह्मणवाशिष्ठेऽर्थे । अजमित्र लिगु चित्र कुमार । क्रोष्टु-रपत्यं क्रोष्टवं च । लोह दुर्ग अग्र तृण शकट सुमत मिमत ब्राह्मण चटक । ऐरोप्रीष्यते । चाटकैर बदर अश्वल अस्वर कामुक ब्रह्मदत्त उदम्बर अलोह दण्डथा । अन्ये इमानपि पठन्ति वक्ष्यमाणान् । रुन् जत् इलत् जनलत् हिंसक दण्डिन् हस्तिन् पञ्चाल चमसिन् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । नडो नाम कश्चित्तस्यापत्यं नाडिः ।

हरिताद्यजः ॥३।१।८९॥ हरितादिर्विदाद्यन्तर्गणः । हरितादिभ्योऽजन्तेभ्यः फण् भवति । इञोऽ-पवादः । इह वृद्धग्रहणमनुवर्तमानमजो विशेषणम् । वृद्धे योऽञ् विहितस्तदन्तात् फण् एक इति निय-माद्युनि द्रष्टव्यः । हरितस्यापत्यं युवा हरितायनः । कैन्दासायनः ।

यजिजोः ॥३१।१०॥ अत्रापि वृद्धग्रहणं यजिजोर्विशेषणम् । वृद्धे विहितौ यौ यजिजौ तदन्ता-
त्करणं भवति । सामर्थ्याच्च नीति शतव्यम् । गार्ग्यायणः । दाक्षायणः । इह गार्ग्या अपत्यं गार्ग्य इति लिङ्ग-
विशिष्टस्य ग्रहणेऽपि परत्वादृष्टं भवति ।

शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु ॥३१।११॥ वृद्ध इति वर्तते । शरद्वत् शुनक दर्भ
इत्येतैभ्यः फण् भवति यथासंख्यं भार्गवे वात्स्ये आग्रायणे चापत्येऽभिधेये । शारद्वतायनो भवति भार्गव-
श्चेत् । शारद्वतोऽन्यः । शौनकायनो भवति वात्स्यश्चेत् । शौनकोऽन्यः । दार्भायणो भवति आग्रायणश्चेत् ।
दार्भिरन्यः । शरद्वत् शुनकशब्दौ विदादिषु पठ्येते ।

द्रोणपर्वतजीवन्ताद्वा ॥३१।१२॥ द्रोण पर्वत जीवन्त इत्येतैभ्यो वृद्धापत्ये फण् च भवति ।
द्रौणायणः । द्रौणिः । पर्वतायनः । पर्वतिः । जैवन्तायनः । जैवन्तिः । वृद्ध इत्येव । द्रौणिः ।

विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्येऽञ् ॥३१।१३॥ वृद्ध इति वर्तते । विद इत्येवमादिभ्यः अनृषीणामान-
न्तर्ये अञ् भवति । विदस्यापत्यं वैदः । विद उर्वं कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात किन्दर्म विश्वानर
ऋषिषेण ऋतभाग हर्यश्च प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक धेनु गोपवन शिशु विन्दु भाजन तामज
अश्वत्थान श्यामाक श्यापर्ण गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्घरितादेः इत ऊर्ध्वं बहुत्वैऽञ् उबेव भवति । हरित
किन्दास वहास्क अकलूष वधोग विष्णु वृद्ध प्रतिबोध रथन्तर गविष्ठिर निषाद निषादशब्दस्य “सुचातुरकड् च”
[३१।१८] इत्यत्र नैषादकिङ्कोऽनन्तरे वृद्धे परत्वादयमञ् । मठर । अयं गोपवनादिष्वपि मठराद्यञपि ।
एते हरितादय इत्याचार्यस्मृतिः । पृदाक सृदाक पुनर्भादिष्वनन्तरेऽपत्ये पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्द परस्त्री
परशुं च या तु सवर्णा परस्य स्त्री परस्त्री सा कल्याण्यादिषु पठ्यते पारस्त्रियेणः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो
वैदिः । बाह्वादेराकृतिगणत्वाद् ऋष्यण् न भवति लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । वैदो नाम कश्चित् तस्य वैदिः ।
अनृष्यानन्तर्य इति किमर्थम् ? पुनर्भूप्रभृतीनामनृषीणामानन्तर्ये अनन्तरेऽपत्ये अञ्चेदित्यव्यः । ये तु ऋष्य-
पत्यानां नैरन्तर्ये प्रतिषेधमाचक्षते । तेषां कौशिको विश्वामित्र इति न स्यात् । ऋष्यानन्तर्ये प्रतिषेधो नास्ति ।
इन्द्रभूः सतमः काश्यपानाम् । भारद्वाजानां कतमोऽसीति “तस्येदम्” [३१।८] इत्याद्या भविष्यतीति ।

गर्गादिर्द्यञ् ॥३१।१४॥ वृद्ध इति वर्तते । गर्ग इत्येवमादिभ्यः वृद्धापत्ये यञ् भवति । गर्गस्यापत्यं
पौत्रादि गार्ग्यः । गर्ग वत्स “वाजादसे” [सू० ग०] । अस इति किम् ? सौवाजिः । संकृति अञ् व्याघ्रपात्
विदभृत् पुलस्ति प्राचीनयोग पुलस्त्यशब्दात् ऋष्यणि पौलस्त्यः । स्त्रियामणि पौलस्त्यी । यजि पौलस्त्यायनीति
विशेषः । रेभ अग्निवेश शङ्ख शट धूम अवट मनस् धनञ्जय वृद्ध विश्वावसु जरमाण लोहित संशित बभ्रु
मण्डु मङ्गु सङ्कु शङ्कुलि गुगुलु जिगीषु मनु मन्तु तन्तु मनायी दण् प्राप्तः । “भस्य हत्यदे” [वा०]
इति पुंवद्भावः कस्मान्न भवति । कौडिन्यागस्तो इति निर्देशात् । यदि यजि पुंवद्भावः स्यात्, कुशिडनी-
शब्दस्य पुंवद्भावे टिले च कृते कौशिडन्य इति न स्यात् । सूनु कथक रुद्र तलुद्र तरु वतण्ड कपि कत
सकल कुरुकत । अयमनुशतिकादौ । अनड्डह कण्ठ गोकक्ष अगस्त्य कुण्डनी यज्ञवल्क अभयजात विरोहित
वृषगण रङ्ग गण शण्डिल मुद्गल मुसल पराशर जतूकर्ण मन्त्रित अश्रमरथ शर्करान्न पूतिमाष स्थूरा अरराक
वामरथ पिङ्गल कृष्ण गोलुन्द उलूक तितम्भ तितव मित्रज तिलज भण्डित चेकित देवहू इन्द्रहू एकहू
एकलू पिप्पलु बृहदग्नि सुलाभिन् कुटीगु उक्थ । वृद्ध इत्येव । आनन्तरो गार्गिः । कथमनन्तरो जामदग्न्यो
रामः पाराशर्यो व्यास इति ? गोत्राध्यारोपेण । अनन्तरापत्ये ऋष्यणा भवितव्यम् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव ।
यो गोत्रस्याप्रवर्तको गर्गस्तस्यापत्यं वृद्धं गार्गिः ।

मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयोः ॥३१।१५॥ वृद्ध इति वर्तते । मधु बभ्रु इत्येतान्यां यञ् भवति
यथासंख्यं ब्राह्मणे कौशिकेऽत्राभिधेये । माधव्यो ब्राह्मणश्चेत् । माधवोऽन्यः । बाभ्रव्यः कौशिकश्चेत् । बाभ्र-

वेऽन्यः । वभ्रुशब्दो गर्गादिषु पठ्यते । तस्येह नियमार्थं वचनम् । कौशिक एव यथा स्यात् । गर्गादिषु पाठो लोहितादिकार्यार्थः । बाभ्रव्यायनी । अथ गणो एव कौशिकग्रहणं कर्तव्यम् । इह करणं वृद्धार्थम् । ननु गणोऽपि वृद्धे यञ्विहितः । इदमेव तर्हि शापकं गणपाठे कचिदनन्तरापत्येऽपि यञ् भवति । जामदग्न्यो रामः । पाराशर्यो व्यास इति ।

कपिवोधादाङ्गिरसे ॥३१।६६॥ वृद्ध इति वर्तते । कपिवोधशब्दाभ्यां यञ् भवति आङ्गिरसेऽपत्यविशेषे । काप्यः आङ्गिरसश्चेत् । अन्यत्र “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति दृष्टिं कापेयः । बौध्व आङ्गिरसश्चेत् । बौधिरन्यः । इ पि कपिशब्दस्य गर्गादिषु पाठः । तस्य नियमार्थं वचनम् । आङ्गिरस एव यञ् । गर्गादिषु पाठो लोहिताद्यर्थः । काप्यायनी । मधुबोधयोस्तु यत्स (यञि) तथोद्भवम् । माधवी माधव्यायनी । बौबी बौध्यायनी ।

वतण्डात् ॥३१।६७॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे यञ् भवति । वातण्ड्यः । आङ्गिरस इत्येव । अनाङ्गिरसे शिवादिपाठादण् वातण्ड इति । गर्गादिषु पाठादनाङ्गिरसे यञ् लोहितादिकार्यार्थः । वातण्ड्यायनी ।

स्त्रियामुप् ॥३१।६८॥ आङ्गिरस इति वर्तते । वतण्डशब्दादाङ्गिरस्यां स्त्रियां यञ् उद्भवति । वतण्डस्यापत्यं वृद्धा स्त्री वतण्डी । यञ् उपि “जातेरयोः” [३।१।५३] इति ङीविधिः । आङ्गिरस इत्येव । वातण्ड्यायनी । शिवाद्यणि वातण्डा । वृद्धादन्यत्र वातण्डी ।

अश्वदेः फञ् ॥३१।६९॥ वृद्ध इति वर्तते । आङ्गिरस इति निवृत्तम् । अश्व इत्येवमादिभ्यो वृद्धे फञ् भवति । अश्वस्यापत्यं आश्वायनः । अश्व अश्मन् शङ्ख शूद्रक कुञ्जादिषु गर्गादिषु च पठ्यते । विद पुट रोहिण खट्वार खञ्जर खञ्जूर वटिल भण्डिल भटल भडित भण्डित प्रहृत रामोद क्षत्र ग्रीवा काश काण वात गोलाङ्क अर्कं स्वन ध्वन पत पाद चक्र कुल अविष्ट पविन्द पवित्र गोमिन् श्याम धूम्रवाग्मिन् विश्वानरं स्फुट कुट चुटि शपादात्रेये । शापिरन्यः । जनक सनक खनक ग्रीष्म अर्ह वीजं रीत्^२ विशम्प विशाल गिरि चपल चुप दासक । येऽत्र वृद्धत्यान्तास्तेभ्यः सामर्थ्यात् यूनि फञ् द्रष्टव्यः । वैश्य वैल्व वाद्य आनडुह्य धाप्य जात शब्दात् पुंसि । जातेयोऽन्यः । अर्जुन । अस्य बह्वादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । शूद्रक सुमनस् दुर्मनस् । आत्रेयाद्भारद्वाजे । आत्रेयरन्यः । भारद्वाजादात्रेये । विदाद्यञि भारद्वाजोऽन्यः । उत्स उत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थः । आतव कितव किंव शिव खदिर वृद्ध इत्येव । आश्विः । लौकिक गोत्र इत्येव । गोत्रस्या प्रवर्तको योऽश्वः तस्यापत्यमेकान्तरितमाश्विः ।

भर्गात् त्रैगर्ते ॥३१।१००॥ वृद्ध इति वर्तते । भर्गशब्दात् फञ् भवति त्रैगर्तेऽपत्यविशेषे । भार्गायणो भवति त्रैगर्तश्चेद् । भार्गिरन्यः ।

शिवादिभ्योऽण् ॥३१।१०१॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । इत उद्ध्वं सामान्येनापत्ये त्यविधानम् । शिव इत्येवमादिभ्योऽण् भवत्यपत्यमात्रे । इजादीनामपवादः । शिवस्यापत्यं शैवः । शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठिक चण्ड जम्भ भूरि । अस्मात् “इतोऽनिजः” [३।१।१११] इति दृष्टिं प्राप्तः । कुठार अन^३भिलान सन्धि मुनि ककुत्स्थ कोहड कहुय रोकाविरल (रोध विरल) वतण्ड । स्त्रियां वातण्ड्या । तृण कर्ण क्षीर हृदय परिषिक गोपिलका कपिलका जटिलका वधिरका मञ्जोरक वृष्णिक खञ्जर खञ्जल रेभ आलेखन विश्रवण रवण । विश्रवणोऽपत्यमिति विग्रह्य विश्रवणरवणादेशौ । प्रकृत्यन्तरे वा । अव्यविकन्यायेन ताम्यामेवाण् । वर्तनान् विकट पिटक तृच्छक विभाग नभाक तयाक ऊर्णनाम जरत्कारु उत्कोयस्तु रोहितिका आर्यश्चेता । आभ्यां ‘स्त्रीभ्यो ङ्णू’

[३।१।१०३] प्रातः । सुषिष्ट मयूरकर्णं खर्जूरकर्णं तद्वन् । अत्र कारिलक्षणस्य इजो बाधा । एयस्त्विष्यत एव । तान्न एय इति । ऋषिषेण । विदादिष्वस्य पाठो वृद्धार्थः । गङ्गा । अत्र नदीलक्षणस्याणो “द्वयचः” [३।१।११०] इति टण् बाधकः तमपि बाधित्वा “द्वयचो नद्याः” इत्यण् प्रातः । तस्यापि तिकादिषु पाठात् फिज् बाधकः स्यात् । अयं गङ्गाशब्दः शुभादिषु च पठ्यते । तेन त्रैरूप्यम् । गाङ्गः । गाङ्गायनिः । गाङ्गेयः । विपाश । अत्रापि नदीमानुषीलक्षणस्याणः “द्वयचः” [३।१।११०] इति टण् बाधकः । तमपि “द्वयचो नद्याः” इत्यण् बाधते । तमपि बाधित्वा कुञ्जादिलक्षणो ञ्फ एव स्यात् । द्वैरूप्यं चेष्ट्यते । वैपाशः वैपाशायन्य इति । यस्क लह्य दुह्य अयस्थूण भर्तन्दन विरूपाक्ष विरूपा भूमि इला सपत्नी । “द्वयचो नद्याः” इति गणसूत्रम् । अन्यथा “द्वयचः” [३।१।११०] इति टण् प्रसज्येत । त्रिवेणी त्रिवेणं च ।

नदीमानुषीभ्योऽदुभ्यस्तदाख्याभ्यः ॥३।१।१०२॥ नदीमानुषीभ्य इत्यर्थनिर्देशः । नदीमानुषीवाचिकप्रकृतिभ्योऽदुसंज्ञाभ्यस्तदाख्याभ्योऽण् भवति । टणोऽपवादः । यमुनाया अपत्यं यामुनः प्रणेत । इरावत्या अपत्यम् ऐरावतः । उद्धयः । वितस्तायाः पलालशिराः वैतस्तः । नर्मदाया नीतो नार्मदः । मानुषीभ्यः-चिन्तितायाः चैन्तितः । सुदर्शनायाः सौदर्शनः । स्वयंप्रभायाः स्वायंप्रभः । नदीमानुषीभ्य इति किम् ? सौपर्येयः । वैनतेयः । सुपर्णा विनता च देव्यौ । अन्येषां पक्षिण्यौ । अदुभ्य इति किम् ? चान्द्रभागायाः चान्द्रभागेयः । वायुवेगेयः । तदाख्याभ्य इति किम् ? या (भ्यः), काभ्यः । प्रकृतिभ्योऽण् प्रार्थ्यते ता एवाख्या नामधेयानि नदीमानुषीणां यदि भवति । तेनेह न भवति । शोभनाया अपत्यं शौभनेयः । पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमणं बाधते न व्यवहितं “क्षुद्राभ्यो वा” [३।१।१२०] इति टणम् । पुलिकायाः पौलिकेरः ।

कुर्वृष्यन्धकवृष्णेः ॥३।१।१०३॥ कुरवः अन्धकाः वृष्णयश्च क्षत्रियवंशाख्याः । ऋषयश्चेह ग्राम्या मठपतयो वशिष्ठाद्या गृह्यन्ते । महर्षीणामहिंसादिप्रतोपपन्नानामपत्यापत्यवत्सम्बन्धो नास्ति । कुर्वृषि-अन्धकवृष्णिवाचिभ्यो मृद्वथः सामान्येनापत्येऽण् भवति । इजोऽपवादः । कुरुभ्यः-नाकुलः । साहदेवः । दौर्योधनः । ऋषिभ्यः-वाशिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः-श्वाफल्कः । रान्धसः । श्वैत्रकः । वृष्णिभ्यः-अदारः प्रातिवाहः । वासुदेवः । आनिहदः । इह आत्रेयः इति परत्वाडट्ण् । यद्यपि भीमसेनः कुरुः, जातसेन ऋषिः । उग्रसेनोऽन्धकः, विष्वक्सेनो वृष्णिस्तथापि परत्वात्सेनान्तलक्षणो य ए इञ्च भवति । मध्येऽपवादोऽयं पूर्वं जित्यं बाधते ।

मातृरुत्संख्यासंभद्रादेः ॥३।१।१०४॥ मातृशब्दस्य संख्यासंभद्रादेः उकारश्चान्तादेशो भवति अण् चाधिकारात् । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरो भरतः । शातमातुरः । सांमातुरः । भाद्रमातुरः । अभिषान-वशात् जननीपर्यायस्य मातृशब्दस्य ग्रहणम् । संख्यासंभद्रादेरिति किम् ? सौमात्रः । वैमात्रेयः । विमातृशब्दः शुभादिषु पठ्यते ।

कन्यायाः कनीन च ॥३।१।१०५॥ कन्यायाः कनीन इत्ययमादेशो भवति । अण् च तस्मात् । टणोऽपवादः । कानीनः कर्णः । कानीनो हि नारकः ।

विकर्णं शुङ्गछगलाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु ॥३।१।१०६॥ विकर्णं शुङ्ग छगल इत्येभ्यः अण् भवति यथासंख्यं वात्स्ये भारद्वाज आत्रेये चापत्यविशेषे । वत्सभरद्वाजात्रिष्वित्यत्र वत्सादयः शब्दा उपचारात् वृद्धत्या-न्तेषु वर्तमाना गृह्यन्ते । वैकर्णो भवति वात्स्यश्चेत् । वैकर्णिरन्यः । काश्यपे वैकर्णेयः । शौङ्गो भवति भारद्वाजश्चेत् । शौङ्गिरन्यः । लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणे शुङ्गाया अपत्यं सौङ्गो भवति भारद्वाजश्चेत् । अन्यत्र सौङ्गेयः । छगलो भवति आत्रेयश्चेत् । छगलिरन्यः ।

पीलाया वा ॥३१११०७॥ पीला तदाख्या मानुषी । पीलाया अपत्ये वाऽण् भवति ।
पैलः । पैलेयः ।

ढण् च मण्डूकात् ॥३१११०८॥ मण्डूकशब्दाद्धण् भवति चकारादण् च वा । तेन त्रैल्यम् ।
माण्डूकेयः । माण्डूकः । मण्डूकिः । स्त्रियां माण्डूकेयी । अणन्तस्य “कौरव्यासुरिमाण्डूकात्” [३१११२३]
इति फटि कृते माण्डूकायनी । ढन्तस्य माण्डूक्या ।

स्त्रीभ्यो ढण् ॥३१११०९॥ इह स्त्रीग्रहणेन स्त्रियामित्येवं विहिताष्टावादयः स्त्रीत्या गृह्यन्ते । स्त्र्यर्थ-
ग्रहणं तु न भवति । शुभ्रादिषु मातृशब्दस्य पाठाज्ज्ञायते । स्त्रीत्यान्तेभ्यो ढण् भवत्यपत्ये । सौपर्ण्यः ।
वैनतेयः । वायुवेगेयः । स्त्रीत्यग्रहणमिति विशेषणं किम् ? स्त्र्यर्थं मा भूत् । इडविडः स्त्रिया अपत्यम् ; दरदः
अपत्यम् ऐडविडः, दारदः । “पीलाया वा” [३१११०७] इत्यतो मण्डूकण्डुत्या वेति व्यवस्थितविभाषा वर्तते ।
तेन वडवायाः वृषे वाच्ये ढण् भवति । वाडवेयो वृषः । अपत्ये वाडव इति । ऋञ्चक्रोकिलाभ्यामण् भवति ।
ऋञ्चाया अपत्यं क्रौञ्चः । कोकिलाया अपत्यं कौकिलः ।

द्वथचः ॥३११११०॥ द्वथचश्च स्त्रीत्यान्तादपत्ये ढण् भवति । मानुषीलक्षणस्याणोऽपवादः ।
दत्ताया दात्तेयः । गुप्ताया गोप्तेयः ।

इतोऽनिजः ॥३१११११॥ स्त्रीभ्य इति निवृत्तम् । अविशेषेण स्त्रियाश्च विधानाद् द्वथच इति
वर्तते । इकारान्तान्मृदोऽनिजन्ताडढण् भवति । वलेरपत्यं वालेयः । नाभेयः । आत्रेयः । दौलेयः । इत इति
किम् ? दाक्षिः । अनिज इति किम् ? दाक्षायणः । द्वथच इत्येव । मरीचेरपत्यं मारीचः ।

शुभ्रादेः ॥३११११२॥ शुभ्र इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति । इजादीनामपवादः । शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः ।
शुभ्र विष्टपुर पिष्टपुर ब्रह्मकृत शतद्वार शतहार शलाथल शलाकाभ्र लेलाभ्र विधवा कृकसा रोहिणी रुक्मिणी
विकचा विवसा इलिका दिशा शालूका अजवस्ति शक्निब । लक्ष्मणश्यामयोर्वाशिष्टे । लाक्ष्मणिरन्यः ।
श्यामायनोऽन्यः । “अश्वदेः” [३११११६] इति फज् । गोधा । कृकलास । प्राणि विकणाचि^१ प्रवाहण
भरत भारग^२ मष्ट^३ मकुष्ट सकृष्ट मृषष्ट कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदत्त सुदत्त सुनामन् सुदामन् कट् उद
अकशाप कुमारिका कुवणिका (किशोरिका) जिह्वाशिन् परिधि वायुदत्त शलाका सवला खड्वर अम्बिका
अशोक गन्धपिङ्गला खरोन्मत्ता कुदत्ता कुसम्बा शुक्र वलीवर्दिन् वित्त वीजश्चन् अश्व अजिर विमात् ।
आकृतिगणश्चायम् । तेन गाङ्गेयः पाण्डवेय इत्यादि सिद्धम् ।

विकर्णकुषीतकाक्षये ॥३११११३॥ विकर्णकुषीतकशब्दाभ्यां ढण् भवति काक्षयेऽपत्यवि-
शेषे । वैकर्ण्यः काक्षयपश्चेत् । वैकर्णिरन्यः । कौषीतकेयः काक्षयपश्चेत् । कौषीतकिरन्यः ।

भ्रुवो वुक् ॥३११११४॥ भ्रूशब्दादपत्ये ढण् भवति वुक् चागमः । भ्रुवेयः ।

कल्याण्यादीनामिनङ् ॥३११११५॥ कल्याणी इत्येवमादीनां ढण् भवति इनङदेशश्च । येऽत्र
स्त्रीत्यान्ताः शब्दास्तेषामादेशार्थं वचनम् । ढण् पूर्वेण सिद्धः । अन्येषामुभयार्थं वचनम् । कल्याण्या अपत्यं
काल्याणिनेयः । सौभागिनेयः । कल्याणी सुभगा दुर्भगा बन्धकी अनुकृष्टि जरती वलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा
मध्यमा परस्त्री जारस्त्री ।

कुलटाया वा ॥३११११६॥ कुलान्यटतीति कुलटा । अत एव निपातनात् पररूपम् । कुलटया
वा इनङदेशो भवति । ढण् स्त्रीभ्य इत्येव सिद्धः । कौलटिनेयः । कौलटेयः । अनियतपुं स्कुलविवक्षायां पर-
त्वात् कुलटिनेयः ढण् । कौलटेयः ।

चटकाण्शैरः ॥३११११७॥ चटकशब्दाण्शैरो भवति । चटकस्यापत्यं चाटकैरः । लिङ्गविशिष्ट-
स्यापि ग्रहणम् । चटकाया अपत्यं चाटकैरः । छीटणः परत्वात् शैरः । “स्त्रियामपत्ये उड्वक्तव्यः” [वा०]
चटकस्य चटकाया वा अपत्यं स्त्री चटका । “बहुप्युप्” [११११६] इति स्त्रीत्यस्योप् । पुनष्टाप् ।

गोधाया शारः ॥३११११८॥ गोधाशब्दादपत्ये शारो भवति । गौधारः । रणा सिद्धे शारवचनं
ज्ञापकम्, अन्येभ्योऽपि भवतीति । जडस्यापत्यं जाडारः । पण्डस्यापत्यं पाण्डारः । पत्नस्य पात्तारः ।

दण् ॥३११११९॥ दण् च भवति गोधाशब्दात् । गौधेरः । शुभ्रादिषु पाठात् गौधेय इति
च भवति ।

क्षुद्राभ्यो वा ॥३११२०॥ अनियतपुंस्का अङ्गहीना वा क्षुद्राः । क्षुद्राभ्य इत्यर्थनिर्देशः । क्षुद्रा-
वाचिप्रकृत्यभ्यः स्त्रीलिङ्गाभ्यः वा दण् भवति । दास्या अपत्यं दासेरः । दासेयः । नट्या नाटेरः । नाटेयः ।
काणायाः काणोरः । काणेयः । “द्वयचः” [३११११०] इत्ययं दण् मध्येऽपवादः पूर्वस्य नदीमानुषीलक्षण-
स्याणो बाधकः ।

ष्वसुश्छुण् ॥३११२२॥ ष्वसुशब्दाद् ऋकारान्तपूर्वान्तादपत्ये छण् भवति । अणोऽपवादः ।
मातृष्वस्त्रीयः । पैतृष्वस्त्रीयः । स्वसुरिति कृतषत्वग्रहणं किम् ? भ्रातृस्वसुरपत्यं भ्रातृस्वस्त्रः । उरिति किम् ?
मातृःस्वसुरपत्यं मातृःष्वश्रः । “वा स्वसुपत्योः” [३१११३७] इत्यनुप् ।

दणि खम् ॥३११२२॥ दणि परतः ष्वसुर्ध्वर्णपूर्वस्य खं भवति । अनेनैव दण्निपात्यते । मातृ-
ष्वस्त्रे यः । पैतृष्वस्त्रे यः ।

चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ॥३११२३॥ चत्वारः पादाः यासां ताश्चतुष्पादः । चतुष्पाद्वाचिप्रकृत्यभ्यः
स्त्रीलिङ्गाभ्यो ढञ् भवति । अणादीनामपवादः । कामण्डलेयः । सैतवाहेयः । माद्रवाहेयः । जाम्बेयः । ढञि
सति तस्मादुत्पन्नस्य युवत्यस्योभभवति न ढणि ।

गुष्ट्यादेः ॥३११२४॥ गुष्टि इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् भवति । अणादीणामपवादः । गुष्टेर-
पत्यं गाष्ट्यैः । अचतुष्पाद्वचनमिह गुष्टिशब्दो गृह्यते । गुष्टि द्विष्टि हलि वालि विद्वकादि विाश्च कुद्रि अजवस्ति
मित्रयु मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः । “औद्यहत्य” [३१११६६] आदिना यकारादेः खं निपात्यते । बहुषु “यस्का-
दिभ्यो वृद्धे” [११११३४] इति उप् । मित्रयवः ।

क्षत्राद् घः ॥३११२५॥ क्षत्रशब्दादपत्ये वा भवति । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः । जातावभिधानम् ।
अन्यत्र क्षत्रिः ।

राजश्वशुराद्यः ॥३११२६॥ राजश्वशुरशब्दाभ्यामपत्ये यो भवति । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः ।
इहापि जातावभिधानम् । राजनोऽन्यः । श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः । ख्यातस्य सम्बन्धवचनस्य प्रेक्षणात् संज्ञायां
श्वशुरिः ।

कुलाहकश्च ॥३११२७॥ कुलशब्दादपत्ये ढकञ् भवति यश्च । कुलस्यापत्यं कौलेयकः ।
कुल्यः । इहापि भवति ईषदसिद्धं कुलं बहुकुलं “वा सुपो बहुःप्राक्तु” [३१११२७] इति बहुल्यः । बहुकुल-
स्यापत्यं बाहुकुल्येयकः । बहुकुल्यः ।

खः ॥३११२८॥ कुलशब्दात् खश्च भवति । कुलीनः । उत्तरत्र खस्यानुवृत्तिर्यथा स्यादिति
योगविभागः ।

सादेः ॥३११२९॥ सह आदिना वर्तते इति सादिः । सादेः कुलशब्दात् खो भवति । आख्य-
कुलीनः । राजकुलीनः । क्षत्रियकुलीनः । स-त्यविधौ न तदन्तविधिरिति पूर्वेण न सिद्ध्यति ।

महतोऽमखजौ ॥३११३०॥ महच्छब्दपूर्वात् कुलशब्दात् अखजौ इत्येतौ भवतः । महतः आखविषये अभिधानं माहाकुलः । माहाकुलीनः । केचित्त्वस्यानुवृत्तिमिच्छन्ति । माहाकुलीनः । आखविषये इति किम् ? महतां कुलं महत्कुलं तस्मात् “सादेः” [३११२६] इति खः । महत्कुलीनः ।

दुसो ढण् ॥३११३१॥ दुःशब्दपूर्वात् कुलादपत्ये ढण् भवति । पापं कुलं दुष्कुलम् “इहुदुहोऽय-
पुसुहुसः” [५१४२८] इति सत्वषत्वे । दुष्कुलस्यापत्यं दौष्कुलेयः । केचित् स्वमन्यनुवर्तयन्ति । दुष्कुलीनः ।

स्वसुशष्ठः ॥३११३२॥ स्वसुशब्दादपत्ये छो भवति । अणोऽपवादः । स्वसीयः ।

भ्रातृव्यश्च ॥३११३३॥ भ्रातृशब्दादपत्ये व्यो भवति छश्च । अणोऽपवादः । भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः । भ्रात्रीयः । कथं लोके भ्रातृव्यशब्देन सपत्नोऽभिधीयते ? उपचारात् । एकद्रव्याभिलाषश्च उपचारनिमित्तम् । सपत्नी इव सपत्नः शक्तः । पृषोदरादिपाठादकारो निपात्यते ।

रेवत्यादेष्टण् ॥३११३४॥ रेवती इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ठण् भवति । अणादीनामपवादः । रेवत्या अपत्यं रेवतिकः । रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकवाञ्छन वृकग्राह कर्णग्राह दण्डग्राह कुक्कुटाक्ष ।

वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च ॥३११३५॥ पौत्राद्यपत्यं वृद्धं क्षेपः कुत्सा । वृद्धस्त्रीवाचिशब्दादपत्ये णो भवति ठण् च क्षेपे गम्यमाने । गार्ग्या अपत्यं युवा गार्गो जाल्मः । गार्गिको जाल्मः । श्लुचुकायत्या अपत्यं युवा ग्लौचुकायनो जाल्मः । ग्लौचुकायनिको जाल्मः । क्षेपश्चात्र प्रतिषिद्धाचरणेन पितुरज्ञानाद्वा गम्यते । वृद्ध इति किम् ? कारिकेयो जाल्मः । स्त्रिया इति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इति किम् ? गार्गेयो माणवकः ।

दोष्टण् सौवीरेषु प्रायः ॥३११३६॥ वृद्धग्रहणं चानुवर्तते । सौवीरेष्विति वृद्धविशेषणम् । सौवीरेषु यद्वृद्धवाचि दुसंज्ञं तस्मादपत्ये प्रायष्ठण् भवति क्षेपे गम्यमाने । वेति वक्तव्ये प्रायोग्रहणं परिगणनार्थम् ।

“भागपूर्वपदो वित्तिद्वितीयस्तार्णविद्वः । तृतीयस्वाकशापेयो वृद्धादृण् बहुलं ततः ।”

भागवित्तेरपत्यं युवा भागवित्तिकः । भागवित्तायनः । तार्णविद्वस्यापत्यं युवा तार्णविन्दविकः । तार्णविन्दविः । अकशाप इति शुभ्रादिषु । आकशापेयस्यापत्यं युवा आकशापेयिकः । आकशापेयिः । दुग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थमविशेषेणोच्यते । सौवीरेष्विति किम् ? औपगविर्जाल्मः । क्षेप इत्येव । भागवित्तायनो माणवकः ।

फेरिश्च ॥३११३७॥ वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च वर्तते । फिजन्तात् सौवीरेषु वृद्धादपत्ये छो भवति ठण् च क्षेपे गम्यमाने । दोरित्यधिकारात् फेरित्यत्र फिज एव संप्रत्ययः । यमुन्द तिकादिः । यामुन्दायनीयः । यामुन्दायनिकः । प्राय इत्यनुवर्तनादणपि भवति । तस्य फिजन्तात्पस्य “जिण्यराजावांद्ध्युन्युव-
णिजोः” [१४१३०] इत्युप् । यामुन्दायनिर्जाल्मः । सुयामन्—सौयामायनिः । तस्यापत्यं युवा सौयामायनीयः । सौयामायनिकः । अणि । सौयामायनः । वृषस्य वार्षायणिः । फिजः संनियोगे वृद्धयभावे वक्ष्यते वार्षायणेरपत्यं वार्षायणीयः । वार्षायणिकः । अणि वार्षायणिः । क्षेप इत्येव । यामुन्दायनिर्माणवकः । अणोव भवति । सौवीरेष्वित्येव । तैकायनेरपत्यं युवा अण् तस्योप् । तैकायनिर्जाल्मः ।

“यमुन्दश्च सुयामा च वार्षायणिः फिजः स्मृताः ।

सौवीरेषु च कुत्सार्था द्वौ योगौ शब्दवित्स्मरेत् ॥”

फाण्टाहतेर्णः ॥३११३८॥ क्षेप इति निवृत्तम् । वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च “जिण्यराजावांद्ध्युन्युव-
[१४१३०] इत्यत्र “अणिजोरुण्यब्राह्मणगोअमात्राद्युन्युवस्योपसंख्यानम्” [वा०] इति उम्मा भूदिति स्थितकरणम् । “फिज्यत्र भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] फाण्टाहतायनिर्माणवकः । सौवीरेष्वित्येव । फाण्टाहतायनः । “सौवीरेषु भिमतशब्दाण्यणिजौ वक्तव्यौ” [वा०] मैमतः । मैमतायनिः । सौवीरेष्वित्येव । मैमतिः ।

कुर्वादेर्यः ॥३११३६॥ सौवीरेष्विति निवृत्तम् । कुरु इत्येवमादिभ्योऽपत्ये एयो भवति । आदौ णकारः “जिण्ण्यराजार्णात्” [११४/१३०] इत्यत्र विशेषणार्थः । कुरोरपत्यं कौरव्यः । राजार्णात् कुरुशब्दाज्यो वक्ष्यते । तस्य द्विसंज्ञकत्वाद्वहुषूप । तिकादिषु कौरव्यायणिः । कुरु गर्ग संजय अतिमारक । रथकाराजातौ च । पट्टक । सम्राजः क्षत्रिये । कवि पितृमत् । ऐन्द्रजालि धातुजि पेजि दामोष्णीषि । गणकारि कैसौरि कापिञ्जलादि ऐन्द्रजाल्यादिभ्यः ततो “यूनि” [३११/७५] इति यूनि एयः । क्रोड कुट शलाका मुर खण्डाक एमुक शुद्धरसी केशिनी । स्त्रीलिङ्गनिर्देशसामर्थ्यात् पुंवद्भावो न भवति । शूर्पणाय श्यावनाय श्यावरथ श्यावपुत्र सत्यङ्कार वडभीकार पथिकारिन् मूढ सीद्ध भूहेतु शकशालीन इनपिण्डी वामरथ । वामरथ्यस्य सकलादिकार्यं भवति । सकलादयो गर्गाद्यन्तःपातिनः । बहुत्वे उबभवति वामरथाः । स्त्री वामरथी । वामरथ्यायनी । वामरथ्यायनः । वामरथ्यस्य छात्राः वामरथाः “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३१२/८०] इत्यण् भवतीति । वामरथानां संघः वामरथः । “संघाङ्क” [३१३/६५] आदिनाऽण् ।

सेनान्तलक्षणकारिभ्य इञ् ॥३११४०॥ कारिशब्दः कारवाचि । सेनान्तान्मृदो लक्षणशब्दात् कारिवाचिभ्यश्चापत्ये इञ् भवति एयश्च । हारिषेययः । हारिषेयिणः । भैमसेन्यः । भैमसेनिः । जातसेन्यः । जातसेनिः । लाक्ष्ण्यः । लाक्ष्णिः । कारिभ्यः—कौम्भकार्यः । कौम्भकारिः । तान्तुवाय्यः । तान्तुवायिः । तन्तुशब्दात् शिवादिलक्षणोऽण् । स इजो बाधको न तु एयस्य । तेन द्वैरूप्यम् । ताक्ष्ण्यः । ताक्ष्ण्यः ।

तिकादेः फिज् ॥३११४१॥ तिक इत्येवमादिभ्योऽपत्ये फिजित्यं ल्यो भवति । तिकस्यापत्यं तैकायनिः । तिक कितव संज्ञा वाल शिखा उरस् शाठ्य सैन्धव यमुन्द रूप्य नाडी^१ सुमित्रा कुरु देवर देवरथ तितिलिन् सिलालिन् उरस । कौरव्य । द्विसंज्ञयेदं ग्रहणम् । औरसशब्देन राष्ट्रसमानशब्देन साहचर्यात् । कथं कौरव्यः पिता कौरव्यः पुत्रः ? अनु (अत्र) एयान्तादिञ् तस्योप् । लाङ्क्व गौकक्ष्य भौरिकि चौपयत चैटयत सैक्यत दौञ्जयत त्वञ्जवत् चन्द्रमस् शुभ गङ्गा वरेण्य बन्ध आरद्ध बाह्यका खल्यका लोयका सुयामन् उदन्या यज्ञ । यदिहावृद्धं दुसंज्ञं पठ्यते तस्य नित्यार्थं वचनम् ।

कौशल्येभ्यः ॥३११४२॥ कौशल्यादिभ्योऽपत्ये फिज् भवति । बहुवचनेन कर्मारख्यागवृषा गृह्यन्ते । कोशलस्यापत्यं कौशल्यायनिः । सर्वत्र मूलप्रकृतेः फिज् । तस्यायनादेशे कृते कौशल्य इति । विह्वचनिर्देशात् युट् निपात्यते । एवं दागव्यायनिः । कामार्थायणिः । छाग्यायनिः । वार्ष्यायणिः । राष्ट्रसमानशब्दात् कोशलात् ज्यो वक्ष्यते । कर्मारशब्दात् कारिलक्षणो एयोऽपि भवति । इजः प्रयोगो नोपलभ्यते ।

द्व्यचोऽणः ॥३११४३॥ अणन्ताद् द्व्यचो मृदोऽपत्ये फिज् भवति । इजोऽपवादः । कर्तुर-रपत्यं कार्त्तायणिः । पोतुरपत्यं पौत्रः; तस्यापत्यं पौत्रायणिः । एवं शैवायनिः । द्व्यच इति किम् ? औपगविः । अण इति किम् ? दाक्षिः ।

वा वृद्धाहोः ॥३११४४॥ पौत्रायपत्यं वृद्धम् अवृद्धं यद्वदुसंज्ञं तस्मादपत्ये वा फिज् भवति । वायुरथायनिः । वायुरथिः । आदित्यगतायनिः । आदित्यगतिः । कारिशब्दात्वरत्वादानेन भवितव्यम् । नापितायनिः । एयोऽपि भवति । नापित्यः । इजोऽभिधानं नास्ति । अवृद्धादिति किम् ? आकम्पनायनः । औपगविः । दौरिति किम् ? आश्वग्रीविः ।

वाकिनादेः कुक् ॥३११४५॥ वेति वर्तते । वाकिन इत्येवमादिभ्योऽपत्ये वा फिज् भवति । यदा फिज् तदा कुगागमः । वाकिनस्यापत्यं वाकिनकायनिः । वाकिनिः । गारेवस्यापत्यं गारेवकायनिः ।

गारेविः । वाकिन गारेव कर्कश्च काक लङ्क । वर्मिचर्मिणोर्नखं च । यदिहावृद्धं द्रुसंशं तस्य कुगर्थं वचनम् । अन्यस्योभयार्थम् ।

पुत्रान्ताद्वा ॥३१११४६॥ वा वृद्धादोरिति वर्तते । पुत्रान्तान्मृदो द्रुसंशकाद् वा कुगागमो भवति फिजि परतः । प्रकृतेन वाग्रहणेन फिज् विकल्प्यते अनेन कुक् । तेन त्रैरूप्यम् । वासवदत्तापुत्रस्यापत्यं वासव-
दत्तापुत्रकायणिः । वासवदत्तापुत्रायणिः । वासवदत्तापुत्रिः । गार्गीपुत्रकायणिः । गार्गीपुत्रायणिः ।
गार्गीपुत्रिः ।

फिरदोः ॥३१११४७॥ त्यान्तरोपादानात् फिजि निवृत्ते तत्संबद्धः कुगपि निवृत्तः । वेति वर्तते ।
अदोर्मृदोऽपत्ये फिर्मवति वा । त्रिपृष्टायनिः । त्रैपृष्टि । श्रीविजयायनिः । श्रीविजयिः । ग्लुचुकायनिः । ग्लौचुकिः ।
ग्लौचुकाचनिः । ग्लौचुकिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवत्येव । दाक्षिः । प्लाक्षिः । अदोरिति
किम् ? रामदत्तिः ।

मनोजातौ पुक्चाऽज्यौ ॥३१११४८॥ मनुशब्दात् अज् य इत्येतौ त्रौ भवतः पुक् चागमः समुदायेन
जातौ गम्यमानायाम् । मानुषः । मनुष्यः । अपत्यापत्यवत्संबन्धद्वारेण व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । परमार्थतस्तु
रुदिशब्दावेतौ । अत एव “यजजोः” [११४१३५] इति बहुभूम्न भवति । मानुषा इति । जाताविति किम् ?
अपत्यमात्रेऽण् (श्रौत्सर्गिकोऽणोव) भवति । लोहितादिपाठात् पौत्रादौ यजि त्बभूवति । मानव्यः । मानव्यौ ।
मनवः । स्त्री मनव्यायनी । [जाताविति किम् ? अपत्यमात्रे श्रौत्सर्गिकोऽणोव भवति ।]

“पुरुदेवस्य पौत्रादा(त्रोऽसा)वर्ककीर्तिर्जिता हवः । पाळयासास लक्ष्मीवान् मानवो मानवोः प्रजाः॥”
वृद्धापत्यविवक्षायां तु गर्गादित्वाद्यजा भवितव्यम् ।

“अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः । नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्धयति माणवः ॥”

नेदं शात्वार्यं बहु वक्तव्यम् । “माणवचरकात् खज्” [३१११०] इति निपातनात् सिद्धम् ।

द्विः ॥३१११४९॥ यानित ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेस्त्यान्वक्ष्यामो द्विसंज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति
“राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽज्” [३१११५०] पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । सत्यां द्विसंज्ञायां “द्वेर्बहुषु तेनैवा-
ख्येयाम्” [३१११३३] इत्युप् सिद्धः ।

राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽज् ॥३१११५०॥ राष्ट्रं जनपदः । राजशब्दश्चेह क्षत्रियपर्यायः । राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञा-
चिनोऽपत्येऽज् भवति । स्वभावतः पञ्चालादिशब्देन राष्ट्रं राजा चाभिधीयते । अथवा पञ्चालानां निवासो
जनपद इति निवासार्थं आगतस्याणो “जनपद उस्” [३१२१९१] इति उस्ि कृते अवरकालेनापि पञ्चालशब्देन
क्षत्रियशब्दो लक्ष्यते । यथा देवदत्तस्य पितेति । पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । ऐक्ष्वाकः ।
ऐक्ष्वाकौ । इक्ष्वाकवः । इक्ष्वाकुशब्दस्य अजि “श्रौणहत्य” [३१११६६] इत्यादिना उखं निपात्यते । राष्ट्र-
शब्दादिति किम् ? श्रीविजयिः । द्रुहोः द्रौहवः । राज इति किम् ? पञ्चालो नाम ब्राह्मणस्तस्यापत्यं पाञ्चालिः ।

साल्वेयगान्धारिभ्याम् ॥३१११५१॥ साल्वा नाम क्षत्रिया तस्माद्द्वयच इति णिप् साल्वेयः ।
साल्वेय गान्धारि इत्येताभ्यां राजशब्दाभ्यामज् भवति । अजोऽपवादो “द्वित्कुरुनाद्याजादकोशकाण्यः”
[३१११५३] इति ज्ये प्राप्ते वचनम् । साल्वेयस्यापत्यं साल्वेयः । गान्धारेरपत्यं गान्धारः । गान्धारौ ।
बहुषूपि गान्धारयः ।

द्वयज्मगधकलिङ्गसूरमसादण ॥३१११५२॥ राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञ इति वर्तते । द्वयचो मृदः मगध
कलिङ्ग सूरमस इत्येतेभ्यश्च अण् भवति । अजोऽपवादः । आङ्गः । वाङ्गः । सौहः । पौरुङ्गः । मागधः ।
कालिङ्गः । सौरमगधः । सर्वत्र बहुषूप । अजैव सिद्धे किमर्थमण विधीयते ? “द्वयचोऽणः” [३१११५३]

इति फिज यथा स्यात् । नास्त्यत्र विशेषः सर्वस्यैव युक्त्यस्य द्रेरुत्तरस्योविष्यते । इह तर्हि विशेषः राजसमान-
शब्दगङ्गात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्ष्यते । अङ्गानां राज्ञा आङ्ग इति अणि सति आङ्गस्यापत्यं आङ्गा-
यनिः । “द्वयचोऽणः” [३११४३] इति फिज । युक्त्येऽयं न भवतीति उप नास्ति । आप च अजि सति
संघाद्यर्थविवक्षायामाणं प्रसज्येत । अणि सति “वृद्धचरणाञ्जित्” [३।३।१४] इति वुन् भवति । आङ्गकः ।
वाङ्गकः । मागधकः । कालिङ्गकः । सौरमसकः ।

द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलाञ्ज्यः ॥३१।१५३॥ दुसंज्ञान्मुद इकारान्तात् कुरुशब्दात् नकारादेः
अजादकोशलशब्दाभ्यां च ज्यो भवति । अत्रोपवादः । दोः—आम्बष्ठस्यापत्यं आम्बष्ठ्यः । सौवीरस्य सौवीर्यः ।
काम्बचस्य काम्बच्यः । दार्वस्य दार्व्यः । द्वयजलक्षणेऽपि फिज परत्वादेतैन बाध्यते । इकारान्तात् अवन्तेराव-
न्त्यः । कुन्तेः कौन्त्यः । वसन्तेर्वोसन्त्यः । तपरकरणं किम् ? कुमारी नाम जनपदः क्षत्रियश्चास्ति । तस्यापत्यं
कौमारः । कुरेः—कौरव्यः । नादेः—निचक्य नैचक्यः । निषद्यस्य नैषद्यः । नीपस्य नैप्यः । अजादस्य
अजाद्यः । कोशलस्य कौशल्यः । सर्वत्र बहुषूप ।

साल्वावयवप्रत्ययप्रथमकलकूटाश्मकादिब् ॥३१।१५४॥ साल्वा नाम मानुषी क्षत्रिया तस्या
अपत्यं “द्वयचः” [३११११०] इति ढणि साल्वेय इत्युप्ति कृते निपातनादणपि भवति । साल्वः क्षत्रियः
तस्य निवासो जनपदः साल्वः । तदवयवाः ।

“उदुम्बरास्तिकललला मद्रकारा युगन्धराः । मुलिङ्गाः शरदण्डारच साल्वावयवसंज्ञिताः ।”
साल्वावयवेष्वेभ्यो राजवाचिभ्यः प्रत्यग्रथिः । कालकूटिः । आश्मकिः । सर्वत्र बहुषूप योज्यः ।

पाण्डोर्ज्यण ॥३१।१५५॥ राष्ट्रशब्दाद्वाञ्च इति वर्तते । पाण्डुशब्दादङ्ग्यण भवत्यपत्येऽर्थे । पाण्डो-
रपत्यं पाण्ड्यः । डकारो टिखार्थः । णकारः “न्धिदूधदरक्किकारे” [४।३।१५१] इति पुंवद्भावप्रतिषेधार्थः ।
पाण्ड्या भार्या अस्य पाण्ड्यभार्यः । कथमयं प्रयोगः अस्तिद्वितीयो न ससार पाण्डवः ? पाण्डवा यस्य दासाः
इति ? येन जनपदेन समानशब्दो राजा तस्य जनपदस्य स्वामी यदि विविक्षितस्तदायं विधिर्वेदितव्यः । अन्य-
त्रोत्सर्ग एव भवति । “इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्तव्यम्” [वा०]
राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्येति तासमर्थत् राजन्यभिधेये अपत्य इव त्यविधिर्भवति । पञ्चालानां राजा
पाञ्चाल । सल्वेयानां राजा साल्वेयः । एवं आङ्गः । आम्बष्ठ्यः । औदुम्बरीः । पाण्डवानां राजा पाण्ड्यः ।
सर्वत्र बहुषूप । अस्मादपत्यविवक्षायां “वा वृद्धादोः” [३।१।१४४] इति फिज । पाञ्चालायनिः ।

उप चोलादेः ॥३१।१५६॥ राष्ट्रशब्दाद्वाञ्च इति वर्तते । चोलादेः परस्योभू भवति । कस्य ? सभवा-
दण्डोः । चोलस्यापत्यं चोलः । केरलः । कम्बोजः । शकः । यवनः । आदिशब्दः प्रकारवाची तस्य राजनीति
वर्तते । चोलानां राजा चोलः ।

कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः क्षत्रियाम् ॥३१।१५७॥ कुन्ति अवन्ति कुरु इत्येतेभ्यः उत्पन्नस्य द्रेरुब् भवति
क्षत्रियामभिधेयाम् । कुन्ती । अवन्ती । कुरुः । “द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलाञ्ज्यः” [३१।१५३] इत्यस्य उपि
कृते “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति ङीविधिः । कुरुशब्दात् “ऊरुवः” [३।१।५६] इति कृत्यः ।
क्षत्रियमिति किम् ? कौन्त्यः ।

अतोऽप्राच्यभर्गादेः ॥३१।१५८॥ क्षत्रियमिति वर्तते । अतस्त्यस्य उब्भवति क्षत्रियामभिधेयायां
प्राच्यान् भर्गादीश्च वर्जयित्वा । कुन्यादिभ्य उब्भवनं शापक्रम — इह अत इति तदन्तविधिर्न भवति । साम-
र्थ्यादणजोरुब्भवतीति वेदितव्यम् । अप्राच्यो नाम राष्ट्रसमानशब्दो राजा तस्यापत्यं स्त्री अप्राच्या अज उपि
टाप् । एवं सुरसेनी । मद्रस्यापत्यं स्त्री मद्री । अण उपि जातिलक्षणे ङीविधिः । दरदोऽपत्यं स्त्री दरद् ।
अत इति किम् ? औदुम्बरी । साल्वावयवत्वादिज् । “इतो मनुष्यजातेः” [३।१।५५] इति ङीविधिः । अप्राच्य-

भर्गादेरिति किम् ? प्राच्या ये राष्ट्रामिधाना राजानस्तेभ्य उप प्रतिषिध्यते । पाञ्चाली । वैदेही । पैपली । आङ्गी । वाङ्गी । सौह्वी । पौरुड्री । मागधी । कालिङ्गी । भर्गादेरप्राच्यार्थ उप प्रतिषेधः । भर्गस्यापत्यं स्त्री भार्गो । करुषस्य करुषी । भर्ग करुष केकय कश्मीर सेत्व (सुल्वा) सुस्थाल उरस कौरव्य । वचनाद्यर्थेण उपि कुरुः । अनेनानुपि कौरव्येति । यौधेयः । शौक्रेय शौभ्रेय धार्तेय आवाणेय नृगर्त भरत । उशीनर । कस्य पुनरकारस्य यौधेयादिभ्यः द्विसंज्ञकेभ्यः परस्योप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते ? उच्यते । ‘परवादेरण्’ [४।२।६] इति द्विसंज्ञकोऽण् स्वार्थिको वच्यते । तस्यायं प्रतिविधिः^१ न तु राष्ट्रसमानशब्दात् । आपत्यस्य उबुच्यमानः कथं स्वार्थिकस्य भिन्नप्रकरणस्य द्वेरुभवति । इदमेव यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं भिन्नप्रकरणस्यापि द्वेरुभवति । अपत्यग्रहणेन गृह्यते इति किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । इह स्त्रियामुप् । पशुः रक्षाः असुरी इति पशु रक्षप् असुर इति राष्ट्रशब्दा राजानः एषामपत्यं संघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षित इति अणञोरगतयोः “उप् चोलादेः” [१।१।१२६] इति उपि कृते पुनः “परवादेरण्” [४।२।६] इति स्वार्थिकोऽण् । तस्यापि स्त्रिया-मनेनोप् सिद्धः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

तेन रक्तं रागात् ॥३।२।१॥ रज्यतेऽनेन शुक्लं वस्त्विति रागः; कुसुम्भादि द्रव्यम् । तेनेति भासमर्थात् रागविशेषवाचिनो मृदो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् । हारिद्रम् । कौसुम्भम् । माञ्जिष्टम् । रागादिति किम् ? देवदत्तेन रक्तम् । “उं खौ घः प्रायेण” [२।३।१००] इत्येतद् धञ्विधानेऽपेक्ष्यते । तेन वर्णविशेषस्य रागस्य ग्रहणादिह न भवति । पाणिना रक्तमिति । इहोप-मानान्नवति । काषायौ गर्दभस्य कर्णौ । हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादाविति ।

नीलपीतादकौ ॥३।२।२॥ नील पीत इत्येताभ्यां भान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथासंख्यम् अ क इत्येतौ त्यौ भवतः । नीलेन रक्तं नीलम् । लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् । नील्या रक्तं नीलम् । पीतेन रक्तं पीतकम् ।

लाक्षारोचनाशकलकर्दमादृण् ॥३।२।३॥ लाक्षादिभ्यो भासमर्थेभ्यो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । अणोऽपवादः । लाक्ष्या रक्तं लाक्षिकम् । शकलिकम् । शकलकर्दमाभ्यामणपीध्यते ।

भाद्युक्तः कालः ॥३।२।४॥ तेनेति वर्तते । भविशेषवाचिनो मृदो भासमर्थाद् युक्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । योऽयौ युक्तः कालश्चेत् स भवति । नित्ययुक्तौ हि भकालौ न तयोः सन्निकर्षविप्रकर्षौ स्तः । तत्कथं पुष्यादिना ‘भेन युक्तः काल’ इत्युच्यते ? व्यभिचाराभावात् । नैष दोषः । इह पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि पुष्यादयः शब्दाः वर्तमाना गृह्यन्ते । पुष्येण युक्तः कालः पुष्यसमीपगतेन चन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः । पौषी रात्रिः । पौषमहः । “तिष्यपुष्ययोर्भाणि” [४।४।१३६] इति यकारस्य लम् । माषी रात्रिः । माषमहः । भादिति किम् ? चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः । काल इति किम् ? पुष्येण युक्तश्चन्द्रमाः ।

उसभेदे ॥३।२।५॥ अमेदो नामाविशेषः । पूर्वेण विहितस्योस् भवति न चन्द्रेण युक्तस्य कालस्य भेदो रात्र्यादिविशेषोऽभिधीयते । अद्य पुष्यः । अद्य कृत्तिकाः । अद्य रोहिण्यः । “युक्तवदुसि लिङ्गसंख्ये” [१।१।१६८] इति युक्तवद्भावः । अत्र यावान् कालः त्रिशन्मुहूर्तमात्रो भेन युक्तो न तस्य भेदोऽभिधीयते । अमेद इति किम् ? पौषी रात्रिः । पौषमहः । अमेद इति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेनेहापि न भवति । पौषोऽहोरात्रः ।

पौषः कालः इति । अथेह कथमुस् न भवति अद्य दिवा पुष्यः । अद्य रात्रौ पुष्य इति । पूर्वमष्टप्रहरात्मकस्य समुदायस्यामेदं उक्तं विधाय पश्चाद्वारात्रिशब्दयोः प्रयोगः कृतः ।

खौ श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ॥३।२।६॥ खौ भेदेऽपि उस् यथा स्यादित्यारम्भः । श्रवणाश्वत्थ इत्येताभ्यामुत्तरत्रयस्य त्यस्योस् भवति खुविषये । श्रवणेन युक्ता श्रवणा रात्रिः । अश्वत्थेन युक्ता अश्वत्था रात्रिः । अश्वत्थो मुहूर्तः । “कालगुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः” [३।२।१८] इति श्रवणाशब्दनिर्देशो ज्ञापक इह सूत्रे उस् युक्तवद्भावो न भवति । खविति किम् ? श्रवणी रात्रिः । आश्वत्थी रात्रिः ।

द्वन्द्वच्छ्रुः ॥३।२।७॥ भद्वन्द्वान्नासमर्थात् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे छो भवति भेदे चाभेदे च । श्रवणोऽपवादः । राधानुराधीयम् । राधानुराधीयं तिष्यपुनर्वसवीयमहः । अद्य तिष्यपुनर्वसीयम् । अयं परलादुसो वाचकः ।

परिवृतो रथः ॥३।२।८॥ तेनेति वर्तते । तेन परिवृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति; यः परिवृतो रथश्चेत् स भवति । वस्त्रेण परिवृतो रथो वाहनः । काम्बलः । चार्मणः । “अनः” [३।१।१२८] इति श्रणि टिलाभावः । रथ इति किम् ? वस्त्रेण परिवृता शय्या । स इह कस्मान्न भवति छात्रैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । अथवा समन्ताद्वृतः परिवृत इत्याश्रयणात् । रथैकदेशस्यमुत्पादयति न छात्रादिः । इह कस्मादण् न भवति । पाण्डुकम्बलैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । कथं पाण्डुकम्बली रथ इति पाण्डुकम्बला अस्य संवृद्ध (रुन्ति व्रीह्यादि) पाठात् यस्ते कृते इन्द्रष्टव्यः । ठस्याभिधानं नास्ति । “तीथान्तात् स्वार्थं वा ईक्यन् वक्तव्यः” [वा०] द्वैतीयिकम् । द्वितीयम् । तार्तीयिकम् । तृतीयम् । “विद्याया अभिधाने नेष्यते” [वा०] द्वितीया विद्या । तृतीया विद्या । इह कथमण् भवति ? न विद्यते पूर्वः पतिर्यस्याः सा अपूर्वा कुमारी । तादृशी कुमारीमुपपन्नः कौमारः पतिरिति “तत्र भवः” [३।१।२८] इत्यण् भविष्यति । कुमार्या भवः पतिः कौमारः पतिः । पुंयोगात् कौमारी भार्या इत्यपि सिद्धम् ।

तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ॥३।२।९॥ मुक्तावशिष्टमुद्धृतमुच्यते इति केचित् । तत्तु नातिश्लिष्टम् अन्यत्रापि प्रयोगात् । उद्धृतं ब्राह्मणेन लब्धमिति । तत्रेति ईप्समर्थादमत्रवाचिनो मूढः उद्धृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सरावेषु उद्धृत ओदनः सारावः । माल्लवः (माल्लिकः) । अमत्रेभ्य इति किम् ? पाणादुद्धृत ओदनः ।

स्थाण्डिलः ॥३।२।१०॥ स्थाण्डिल इति निपात्यते । स्थण्डिलशब्दादीन्ताच्छ्रित्यर्थभिधेयेऽण् निपात्यते समुदायेन व्रते गम्ये । स्थण्डिले शेते स्थाण्डिलो ब्रह्मचारी । व्रतान्यत्र स्थण्डिले शेते देवदत्त इति ।

संस्कृतं भक्षाः ॥३।२।११॥ सतो गुणान्तराधानं संस्कारः । खरविस (श) दमभ्यवहार्यं भक्षः । तत्रेति ईप्समर्थात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तत् संस्कृतं भक्षाश्चेत्तद् भवति । भ्राष्ट्रे संस्कृताः भ्राष्ट्राः । एवं कैलासाः (कालशाः) पात्राः । भक्षा इति किम् ? फलके संस्कृतो मालागुणः ।

श्लोखाद्यः ॥३।२।१२॥ श्लो उखा इत्येताभ्यां ईप्समर्थाभ्यां संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे यो भवति । श्रणोऽपवादः । श्लो संस्कृतं श्लथम् । उलायां संस्कृतमुख्यम् । उपमानात् सिद्धम् । पिठरे श्लो इव संस्कृतं पिठरश्लथम् । मयूरव्यंसकादित्वात् सविधिः ।

दध्नष्टण् ॥३।२।१३॥ दधिशब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । दधिनि संस्कृतं दाधिकम् । तत्र यद्विष्ट संस्कृतं तदध्ना संस्कृतमित्यपि भवति । एवं च “तेन संस्कृतम्” इति वक्ष्यमाणेन ठणा सिद्धं नार्थोऽनेन ? नैष दोषः । यद्वन्त्रोत्पन्नं दधिकृतमेवोत्कर्षमपेक्षते तदिहोदाहरणम् । यस्य तु दध्ना लवणादिना च संस्कारस्तस्य वक्ष्यमाणमुदाहरणम् ।

वोदशिवतः ॥३।२।१४॥ उदशिवत्-शब्दादौपसमर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उदशिवति संस्कृत ओदनः औदशिवकः । औदशिवतः । अतोऽपि वाक्चनान्नायते तेन संस्कृतात्तत्र संस्कृत-स्यार्थभेदः । अन्यथेवन्ताडण् भान्तादण् इत्युभयं सिद्धं स्यात् ।

क्षोराड् ढण् ॥३।२।१५॥ क्षीरशब्दादौपसमर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ढण् भवति । अणोऽपवादः । क्षीरे संस्कृता क्षीरेयो यवागूः ।

सास्मिन् पौर्णमासीति खौ ॥३।२।१६॥ सेति वासमर्थादस्मिन्निति ईवर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं पौर्णमासी सा चेद्धवति । इतिकरणाद्यदि लोके विवक्षा समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते । पूर्णमासा चन्द्रमसा युक्तः कालः पौर्णमासी । इदमेव ज्ञापकमन्त्राण् भवतीति । माघी पौर्णमास्यस्मिन् मासेऽर्द्धमासे संवत्सरे वा माघो मासोऽर्द्धमासः संवत्सरः । एवं पौषः । स्वाविति किम् ? माघी पौर्णमास्य-स्मिन् पञ्चदशरात्रे । इतिशब्दः किमर्थः ? विद्यमानेऽपि लक्षणौ लौकिकप्रयोगानुसारणार्थः । इह मा भूत् । माघी पौर्णमासी अस्मिन् हि भवति संवत्सरपर्वणि ।

अश्वत्थाग्रहायणीभ्यां ठञ् ॥३।२।१७॥ सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते । अश्वत्थ आग्रहायणी इत्येताभ्यां पौर्णमासीति वासमर्थाभ्यामस्मिन्निति ईवर्थे ठञ् भवति । अणोऽपवादः । अश्वत्थेन युक्तः कालः अश्वत्था पौर्णमासी अस्मिन्मासे अर्द्धमासे संवत्सरे वाऽश्वत्थिकः । अग्रहायणेन युक्तः काल आग्रहायणी आग्रहायणिकः ।

फाल्गुनोन्नवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यो वा ॥३।२।१८॥ फाल्गुन्यादिभ्यो वा ठञ् भवति । सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते । फाल्गुनी पौर्णमासी अस्मिन् मासे संवत्सरे वा फाल्गुनिकः । फाल्गुनः । एवं श्रावणिकः । श्रावणः । कार्तिकिकः । कार्तिकः । चैत्रिकः । चैत्रः ।

सास्य देवता ॥ ३।२।१९ ॥ सेत्यत्र लिङ्गवचने अप्रधानभूते । सेति वासमर्थादस्येति ताऽथ यथाविहितं ल्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं देवता चेत्स भवति । अर्हन् देवता अस्य आर्हतः । भगवती देवता अस्य भागवतः । बार्हस्पत्यः । सेति वर्तमाने पुनः साग्रहणं संज्ञाविषयनिवृत्त्यर्थम् । तेन संज्ञायां वायं विधिः । देवतेति किम् ? कन्या देवदत्तस्य ।

कस्ये ॥३।२।२०॥ कशब्देन प्रजापतिरभिधीयते । कस्य इकारोऽन्तादेशो भवत्यण् च सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । को देवताऽस्य कार्यं हविः । अणि पूर्वेण सिद्धे इत्यर्थं वचनम् । आरम्भसामर्थ्यात् “यस्य ह्यो च” [४।४।१३५] इति खं न भवति ।

शुक्राद् घः ॥३।२।२१॥ शुक्रशब्दाद् घो भवति । अणोऽपवादः । सास्य देवतेति वर्तते । शुक्रो देवतास्य शुक्रियः ।

अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्याम् ॥३।२।२२॥ घ इति वर्तते । अपोनप्तृ अपान्नप्तृ इत्येताभ्यां घो भवति । अणोऽपवादः । साऽस्य देवतेति वर्तते । अपोनपादेवताऽस्य अपोनप्त्रियः । अपान्नपादेवता अस्य अपान्न-प्त्रियः । प्रत्यय (त्य) सन्नियोगेन प्रकृत्योः अपोनप्तृअपान्नप्तृभावो निपात्यते । संप्रेषे अपोनपाते ब्रूहि अपान्नपाते ब्रूहि इति भवति ।

छुः ॥३।२।२३॥ अपोनप्त्र अपान्नप्तृ इत्येताभ्यां छश्च भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये । अपोनप्त्रीयः । अपान्नपत्रीयः । योगविभाग उत्तरार्थः “पौङ्गीपुत्रादिभ्यश्चो वक्तव्यः” [वा०] पौङ्गी-पुत्रीयः । तार्पाविन्द्वीयः । “शतरुद्राद्घश्च” [वा०] शतरुद्रियः । शतरुद्रीयः ।

महेन्द्राद्घाऽणौ च ॥३।२।२४॥ सास्य देवतेति वर्तते । महेन्द्रशब्दाद् घ अण् इत्येतौ भवत-
श्छुरच । महेन्द्रो देवता अस्य महेन्द्रियः । माहेन्द्रः । महेन्द्रीयः ।

सोमाट्ठ्वण् ॥३।२।२५॥ सोमशब्दाट्ठ्वण् भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । अणोऽपवादः ।
सोमो देवता अस्य सौम्यः । स्त्रियां सौमी । “हलो ह्रतो ङथाम्” [४।१।१४०] इति यस्त्वम् ।

वाय्वुतुपित्रुषतो यः ॥३।२।२६॥ वायु ऋतु पितृ उषस् इत्येतेभ्यो यो भवति । अणोऽपवादः ।
साऽस्य देवता इति वर्तते । वायव्यः । ऋतव्यः । पित्र्यः । “रीडुतः” [५।२।१३६] इति
रीङादेशः । उषस्यः ।

द्यावापृथिवीसुनाशीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छु च ॥३।२।२७॥ द्यावा-
पृथिवी इत्येवमादिभ्यश्छो भवति यश्च सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ देवते
अस्य द्यावापृथिवीयः । द्यावापृथिव्यः । सुनो वायुः शीर आदित्यः सुनश्च शीरश्च “देवताद्वन्द्वे”
[४।३।१३६] इत्यानङ् । सुनाशीरौ देवते अस्य सुनाशीरीयः । सुनाशीर्यः । मरुत्वान् देवता अस्य मरुत्वतीयः ।
मरुत्वत्यः । अग्निश्च सोमश्च देवते अस्य अग्नीषोमीयः । अग्नीषोम्यः । “सोमवरुणेऽनेरीः” [४।३।१४०]
इतीत्वम् । “स्तुसोमौ चाग्नेः” [५।१।६५] इति षत्वम् । वास्तोष्पतीयः । वास्तोष्पत्यः । पुल्लिङ्गत्वं ताया
अनुप् षत्वं च निपातनात् । गृहमेधीयः । गृहमेध्यः ।

सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढण् ॥३।२।२८॥ साऽस्य देवतेति वर्तमाने सर्वत्रग्रहणं सर्वार्थसंग्रहार्थम् ।
अग्निकलिशब्दान्यां सर्वेष्वर्थेषु ढण् भवति प्राद्वोः । अग्निदेवता अस्य अग्नौ भवः अग्नेरागतो आग्नेयः ।
एवं कालेयः ।

कालेभ्यो भववत् ॥३।२।२९॥ कालविशेषवाचिभ्यो भव इव त्वविधिर्भवति । वत्करणं सर्वविशेष-
परिग्रहार्थम् । येभ्यः कालविशेषवाचिभ्यो मृद्भ्यो भवे ये त्या विहिताः सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये तेभ्य एव
मृद्भ्यस्त एव त्या अतिदिश्यन्ते । यथा मासे भवं मासिकं सांवत्सरिकं वासन्तं प्रावृ षेयम् । “कालाट्ठञ्”
[३।२।१३१] “मसं ध्याद्यूतुभ्यो वर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३७] “प्रावृ षण्यः” [३।२।१३६] एते त्या
भवन्ति । तथा मासो देवता अस्य वसन्तो देवता अस्य प्रावृड् देवता अत्येति अत्रापि भवन्ति ।

महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां ठण् ॥३।२।३०॥ महाराजो वैश्रवणः । महाराज प्रोष्ठपदा इत्येताभ्यां ठण्
भवति सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये । महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकः । प्रोष्ठपदा देवताऽस्य प्रोष्ठपदिकः ।
“ठण्प्रकरणे तदस्मिन्वर्तते इति नवयज्ञाद्विभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] नवयज्ञोऽस्मिन् वर्तते नावयज्ञिकः ।
पाकयज्ञिकः । “पूर्णमासादण् वक्तव्यः” [वा०] पूर्णमासोऽस्यां वर्तते पौर्णमासी तिथिः ।

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ॥३।२।३१॥ पितृव्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । समर्थविभक्ति-
रूपोऽनुबन्धस्त्यार्थ इति सर्वमिदं निपात्यते । पितृमातृभ्यां तासमर्थ्यां आतरि वाच्ये व्यङ्गुलो निपात्यते पितृभ्राता
पितृव्यः । मातृभ्राता मातुलः । डित्वाट्टिस्त्वम् । “ताभ्यामेव पितरि ङामहः” [वा०] मातुः पिता मातामहः ।
“स एव ङामहो मातरि वाच्यायां टिच्च” [वा०] मातुर्माता मातामही । पितुर्माता पितामही ।
टित्वाण्डीविधिः ।

तस्य समूहः ॥३।२।३२॥ तस्येति तासमर्थ्यात् समूह इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितरूपो भवति ।
चित्तवदवृद्धं यस्य न चान्यत्र प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अचित्तवतष्ठ वक्ष्यते । वृद्धाद्बुञ् । प्रति

पदमुच्चादिभ्योऽपि वुञादिः । कानानां समूहः काकम् । शौकम् । वार्कम् । इह पञ्चानां पूलानां समूहः पञ्चपूला इति प्राप्नोति । समूहार्थेऽण् तस्य “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् “परिमाणाद्घृणुषि” [३।१।२६] इति नियमात् । असति ङीविधौ टापा भवितव्यम् । नार्यं दोषः । समाहारलक्षण एवात्र रसः । ह्रदुत्पत्तिर्भव-
त्यनभिधानात् ।

भिन्नादेः ॥३।२।३३॥ तस्य समूह इति वर्तते । भिन्ना इत्येवमादिभ्यः यथाविहितं त्यो भवति । पुनर्वि-
धानं ठणो वाधनार्थम् । भिन्नाणां समूहः मैन्नम् । भिन्ना गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मन् सहस्र युवति पद्धति
अथर्वन् दक्षिणा । इह पाठसामर्थ्यात् गर्भिणी-युवतिशब्दे न पुंवद्भावः ।

वृद्धोत्तोष्टोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ् ॥ ३।२।३४ ॥ वृद्धादिभ्यो वुञ्
भवति । तस्य समूह इति वर्तते । औपगवानां समूह औपगवकम् । कापटवकम् । औत्तकम् । औष्टकम् ।
औरभ्रकम् । राजकम् । राजन्यकम् । राजपुत्रकम् । वात्सकम् । मानुष्यकम् । आजकम् । “वृद्धाच्चेति वक्त्र-
व्यम्” [वा०] वार्द्धकम् । “प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः” इति “व्यच्यनाद्घृत्यापत्यस्य” [४।४।१३६]
इति यत्वं न भवति । इह वृद्धग्रहणात् सिद्धे राजन्यमनुष्ययोः पृथग्ग्रहणं शापकम् । अपत्याधिकारादन्यत्र
वृद्धग्रहणेन लौकिकं गोत्रमपत्यमात्रमुच्यते न तु पौत्राद्यपत्यं वृद्धमिति । तथाहि लोके किङ्कोत्रो भवान् इति
पृष्ठः वात्स्यायनोऽस्मीत्याह । राजन्यमनुष्ययोस्तु जातिशब्दत्वात् लौकिकगोत्रग्रहणम् ।

केदाराद्यञ् ॥३।२।३५॥ केदारशब्दाद्यञ् भवति वुञ् च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ठणोऽ
पवादः । केदाराणां समूहः कैदार्यम् । कैदारकम् । “गणिकायाः यञ् वक्तव्यः” [वा०] गणिकाणां समूहः
गाणिक्यम् ।

ठञ् कवचिनश्च ॥३।२।३६॥ ठञ् भवति कवचिनश्च केदाराच्च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये ।
कवचिनां समूहः कावचिकम् । कैदारिकम् ।

ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ॥३।२।३७॥ ग्रामादिभ्यस्तल् भवति तस्य समूह इति वर्तते ।
ग्रामाणां समूहो ग्रामता । जनता । बन्धुता । सहायता । “गजाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] गजता ।

चरणेभ्यो धर्मवत् ॥३।२।३८॥ चरणावाचिशब्देभ्यः समूह इत्येतस्मिन्नर्थे धर्म इव त्या भवन्ति । इद-
मेव शापकम् । अस्त्येतत् “चरणाद्धर्माभ्याययोः” [वा०] इति “वृद्धचरणजिज्जित्” [३।३।६४] इत्यारभ्य
चरणाद्धर्मे त्वविधिवद्ध्यते, स इहातिदिश्यते । वत्करणं सर्वविशेषपरिग्रहार्थम् । यथा कठानां धर्मः काठकम् ।
कालापकम् । मौदकम् । पैपलाद्रकम् । आर्वाभकम् । वाजसनेयकम् । छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । आथर्वणः ।
“वृद्धचरणजिज्जित्” इति वुञ् “छन्दोगौक्थिक्याजिकवह्वृचनटाव्यः” [३।३।६७] इति ज्यः ।
“आथर्वणः” [३।३।१०१] इति च निपात्यते आथर्वणिकानां धर्म इत्यत्र वाक्ये । तथा कठानां समूहः
काठकमित्येवमादि योज्यम् ।

अचित्तहस्तिधेनोष्ठण् ॥३।२।३९॥ अचित्तमचेतनम् । अचित्तार्थवाचिभ्यो हस्तिधेनुशब्दाभ्यां
च ठण् भवति तस्य समूह इत्यस्मिन् विषये । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । शङ्कुलीनां समूहः शाङ्कुलिकम् ।
हास्तिकम् । धैनुकम् । “पर्श्वं णस् वक्तव्यः” [वा०] पर्श्वानां स्त्रीणां समूहः पार्श्वम् । सिक्वात्पदसंज्ञायां भल-
क्षणमोरोत्वं न भवति । खण्डिकादिभ्योऽञ् वक्तव्य इति चेत् न वक्तव्यः । नास्ति विशेषोऽञि वा सत्यणि
वा । खण्डिकादिषु ये चित्तवत्तेभ्य औत्सर्गिकोऽण् सिद्धः । ये त्वचित्तास्ते भिन्नादिषु पठनीयाः । खण्डिका
अहन् वडवन्तुद्रकमालवादिवंज्ञाताः क्षत्रिया इत्यर्थः । तेषां समूह वृद्धलक्षणो वुञ् प्राप्तः । ननु च यथा
“राष्ट्रावध्योः” [३।२।१०२] इत्यत्र राष्ट्रद्व्यमानो वुञ् न राष्ट्रसमुदायाद्भवति । काशिकौशलेषु भवा

काशिकोशलीया इति छ एव भवति । तथेह वृद्धादुच्यमानस्यः कथं वृद्धसमुदायादिति ? एवं तर्हि तदन्तविधिना भविष्यति । इदमेव शापकं सामूहिके त्वे तदन्तविधिर्भवति । क्षौद्रकमालवी सेना । क्षौद्रकमालवकमन्यत् । भिन्नुक शुक उल्लूक । अयं यजन्तः बहुत्वेऽणं प्रयोजयति । स्वन् (श्नन्) युग वरत्र हंस इति खण्डिकादिसामूहिके तदन्तविधिर्नापितः । तेन औपगवकापटवानां समूहः औपगवकापटवकम् । ब्राह्मणराजन्यकम् । दम्पहस्तिनां समूहः दाम्यहस्तिकम् । गौधेनुकम् । “धेनोर्नञ्पूर्वाया नेष्यते” [वा०] अघेनूनां समूहः आघेनवम् ।

केशाश्वाभ्यां यञ्छौ वा ॥३१२४०॥ केश अश्व इत्येताभ्यां यथासंख्यं यञ्छ इत्येतौ त्वौ वा भवतः । केशानां समूहः कैश्यम् । कैशिकम् । अश्वानां समूहः अश्वीयम् । आश्वम् ।

पाशादेर्यः ॥३१२४१॥ पाश इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तस्य समूह इति वर्तते । पाशानां समूहः पाश्या । तृण तृण्या । धूम्या । वात वात्या । लिङ्गं लोकतो ज्ञेयम् । पाश तृण धूम वात अङ्गार पालवाल पिटल पिटाक शकल हल नल वन पुख ।

ब्राह्मणमाणववाडवात् ॥३१२४२॥ य इति वर्तते । ब्राह्मण माणव वाडव इत्येतेभ्यो यो भवति तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ब्राह्मणानां समूहो ब्राह्मण्यम् । माणव्यम् । वाडव्यम् ।

गोखलरथात् ॥३१२४३॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यस्तान्तेभ्यो यो भवति समूहे । गवां समूहः गव्या । खल्या । रथ्या । योगविभाग उत्तरार्थः ।

त्रेन्कट्याः ॥३१२४४॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यो यथासंख्यं त्र इन् कट्य इत्येते प्रत्यया (त्या) भवन्ति । तस्य समूह इति वर्तते । गवां समूहः गोत्रा । खलिनी । रथकट्या । “खलादिभ्य इन् वक्तव्यः” [वा०] डाकिनी । कुटुम्बिनी । लोकतो लिङ्गव्यवस्था ।

राष्ट्रे ॥३१२४५॥ समूह इति निवृत्तम् ; अर्थान्तरोपादानात् । तस्येति वर्तते । राष्ट्रं जनपदः । तस्येति तासमर्थात् राष्ट्रेऽर्थे यथाविहितं त्वो भवति । शिवानां राष्ट्रं शैवम् । जनपदापेक्षया पुंलिङ्गता प्रयोक्तव्या । शैवः । अयुधः (औष्ट्रः) । आभिसारः । “राष्ट्राभिधाने बहुत्वे उस्वक्तव्यः” [वा०] अङ्गानां राष्ट्रम् अङ्गाः । वङ्गाः । सुह्माः । “गान्धार्यादिभ्यो वेति वक्तव्यम्” [वा०] गान्धारीणां राष्ट्रं गान्धारयः । वासातः । वसातयः । शैवः । शिवाः । “राजन्यादिभ्यो वा वुञ् उस्वक्तव्यः” [वा०] राजन्यानां राष्ट्रं राजन्याः । राजन्यकः । दैवयातवः । दैवयातवकाः । “बिस्ववचनादिभ्यो णिस्वमुस् न भवतीति वक्तव्यम्” [वा०] वैल्ववनकः । आम्बरीषपुत्रकः । आत्मकामेयकः । नेदं बहु वक्तव्यम् । राष्ट्रविवक्षाया निवासविवक्षायाश्च प्रतिनियमात्सिद्धम् । बहुत्वविषये जनपदस्य निवासविवक्षयैव तत्र “जनपद उस्” [३१२४६] इति उस् भवति । गान्धार्यादीनां राजन्यादीनां च उभयी विवक्षा बिस्ववनादीनां राष्ट्रविवक्षैव ।

राजन्यादेर्वुज् ॥३१२४६॥ राजन्य इत्येवमादिभ्यस्तासमर्थेभ्यो वुञ् भवति राष्ट्रे । राजन्यानां राष्ट्रं राजन्यकः । राजन्यः । आभ्यति वात्सक (बाभ्रव्य) शालङ्कायन दैवयातव जालन्धरायण कौन्तल आत्मकामेय आम्बरीषपुत्र वसाति बिस्ववधन शैलूष उदुम्बर वैल्वल आर्जुनायन संप्रिय दाक्षि ऊर्णनाम । आकृतिगणश्चायम् । मालवत्रिगर्तबिराट्दीनां ग्रहणम् ।

भौरिक्याद्येषुकार्यादिभ्यो विचभञ्जौ ॥३१२४७॥ आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । भौरिक्यादिभ्यः ऐषुकार्यादिभ्यश्च यथासंख्यं विध भञ्ज इत्येतौ त्वौ भवति राष्ट्रेऽर्थे । भौरिकीणां राष्ट्रं भौरिकिविधः । भौलिकिविधः । भौरिकि भौलिकि चौपयत चैटयत सैकयत कास्ये (कायेय) बाणैजक (बाणियक) वालिकीज्यक वैकयत् । ऐषुकारिभक्ता । सारसायनभक्ता । ऐषुकारि सारसायन चान्द्रायण द्वाधाद्यायण व्याद्यायण

अलायन ताडायन खाडायन सौवीर (सौवीरायण) दासमित्रायण शौद्रायण स (श) यण्ड शौण्ड । वैश्व-
माणव वैश्वधेनव तुण्डदेव सापिण्ड ।

तदस्मिन्पुद्गे योद्धृप्रयोजनात् ॥३१॥४८॥ योद्धारश्च प्रयोजनं च योद्धृप्रयोजनम्, तदिति
वासमर्थाद् अस्मिन्निति ईर्ष्ये यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं योद्धारश्चेत् तद्वन्ति । प्रयोजनं चेत्
तद्वन्ति । यत्तस्मिन्निति निर्दिष्टं युद्धं चेद्वन्ति । विद्याधराः योद्धारोऽस्मिन् युद्धे वैद्याधरं युद्धम् । कौरवम् ।
भारतम् । प्रयोजनात् खल्वपि । सुलोचना प्रयोजनमस्मिन् युद्धे सौलोचनम् । स्वायंप्रभम् । सौतारम् । संग्रामे
लभिधेये पुलिङ्गता । वैद्याधरः संग्रामः । सौलोचनः संग्रामः । युद्ध इति किम् ? सुभद्रा प्रयोजनमस्मिन्वैरे ।
योद्धृप्रयोजनादिति किम् ? रथा वाहनमस्मिन् युद्धे ।

प्रहरणमिति क्रीडायां णः ॥३१॥४९॥ तदस्मिन्निति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मिन्निति ईर्ष्ये यो
भवति यत्तद्वासमर्थं प्रहरणं चेत्तद्वन्ति यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं क्रीडा सा चेद्वन्ति । इतिकरणस्तत्तद्वि-
वक्षा । अत्रोद्देशे यत्र घातः सा क्रीडा । दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा । मौष्टा । पादा । प्रहरणमिति
किम् ? गन्वोदकचेचनमस्यां क्रीडायाम् । क्रीडायामिति किम् ? असिः प्रहरणमस्मिन् युद्धे ।

श्यैनपाततैलपाता ॥३१॥५०॥ श्यैनपाता तैलपाता इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । श्येनानामिव पातः
श्येनपातोऽस्यां क्रीडायां वर्तते श्यैनपाता । तिलानामिव पातस्तिलपातोऽस्यां क्रीडायां तैलपाता । अस्मिन्नर्थे
यो निपात्यते पूर्वपदस्य च मुमागमः । कथं दण्डपातः क्रिया अस्यां तिथौ वर्तते दाण्डपाता तिथिः । मुश-
लपातोऽस्यां वर्तते मौशलपाता भूमिः । पूर्वसूत्रे इतिकरणादन्यत्रापि यो भवति ।

तद्वेत्स्यधीते ॥३१॥५१॥ तदिति इप्समर्थात् वेत्ति अधीते इत्येतयोरर्थयोर्वथाविहितं त्यो भवति ।
तदिति प्रत्येकं सम्बद्धयते । तद्वेत्ति तदधीते इति । यथा “तेन दीन्यति खनति जयति जितम्” [३१॥१२७]
इत्यत्र तेनेति । मुहूर्तं वेत्ति मौहूर्तः । औत्पातः । व्याकरणमधीते वैयाकरणः । सैदान्तः ।

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठण् ॥३१॥५२॥ सपूपा यज्ञः क्रतवः । क्रतुविशेषवाचिभ्यो मृदस्य उक्था-
दिभ्यः सूत्रान्ताच्च ठण् भवति । तद्वेत्स्यधीते इति वर्तते । अग्निष्टोमं वेत्स्यधीते वा अग्निष्टोमिकः । राजसूयिकः ।
वाजपेयिकः । उक्थादिभ्यः उक्थशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः । स च औक्थिक्ये वर्तमानस्त्यविधिं लभते ।
उक्थमधीते औक्थिकः । औक्थिक्यमधीते इत्यर्थः । औक्थिक्यशब्दाच्च न त्यागधिर्भवत्यनभिधानात् । एवं
यज्ञशब्दोऽपि याज्ञिक्ये त्यविधिं लभते । याज्ञिकः । लोकायतमधीते लौकायतिकः । सूत्रान्तात् — वार्त्तिसूत्रिकः ।
सांग्रहसूत्रिकः । “सूत्रान्तादकल्पादेरिष्यते” [वा०] । तेन काल्पसूत्र इत्यण्येव भवति । सूत्रान्तग्रहणमुक्थादेः
प्रपञ्चः । उक्थ लोकायत न्याय न्यास पुनरुक्त संज्ञा चर्चा क्रमेतर श्लक्ष्ण संहिता पद क्रम संघात वृत्ति संग्रह
गण गुण आयुर्वेद वसन्त । सङ्घारितेऽध्ययने वसन्तात् । वर्षा शरद् । व्यस्तसमस्तात् । शिशिर हेमन्त
प्रथमगुण अनुगुण प्रथमगण । अनुगण इति केचित् । अथर्वन् । “विद्यालक्ष्यकाल्पसूत्रान्तादकल्पादेः”
[वा०] । वायसविधिकः । सार्वविधिकः । हास्तिलक्ष्णिकः । आश्वलक्ष्णिकः । मातृकाल्पिकः । पैतृकाल्पिकः ।
वार्त्तिसूत्रिकः । अकल्पादेरिति किम् ? काल्पसूत्रः । “विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नान्नक्षत्र) धर्मात्रैर्पूर्वा”
[वा०] इह विद्यान्ताट्ठण्कस्तस्यायं प्रतिषेधः । अङ्गविद्यामधीते आङ्गविद्यः । क्षात्रविद्यः । धार्मविद्यः ।
त्रैविद्यः । व्यवयवा विद्या इति यसेऽयं प्रतिषेधः । रसे तु “रस्थोबनपरये” [३१॥७७] इत्युपा भवितव्यम् ।
तत्र नास्ति विशेषः । “आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च” [वा०] आख्यानाख्यायिकयोर्थग्रहण-
मितिहासपुराणयोः स्वरूपग्रहणम् । आख्यानात्—यावक्रीतिकः । आधिभारिकः । आख्यायिकायाः—वासव-

दत्तिकः । ऐतिहासिकः । पौराणिकः । “सर्वसादेरसाच्चोप्” [वा०] सर्वादेः सादेरसाच्चोप् भवति । सर्ववेदः । सर्वतन्त्रः । सादेः-सर्वात्तिकः । ससंग्रहः । सर्वत्र ठण् उप् । रसात् । पञ्चकल्पः । त्रिजज्ञणः । त्रिसूत्रः । विद्यालक्षणकल्पसूत्रादणुकृतः । पदोत्तरपदादिकः । पूर्वपदिकः । उत्तरपदिकः । “शतषष्टिभ्यां पथष्टिकः” [वा०] शतपथिकः । शतपथिकी । षष्टिपथिकः । षष्टिपथिकी । “अनुसूक्त्यलक्षणेभ्यश्च ठण्” [वा०] अनुसूक्तम ग्रन्थः । अनुसूक्तधीते अनुसुकः । लादियकः । लाक्षणिकः । द्विपद ज्योतिष अनुपद अनुकल्प । इतिकरणं प्रयोगार्थं वर्तते । ततोऽयं विभागो लभ्यते ।

क्रमदेवुन् ॥३।२।५३॥ तद्व्यधीते इति वर्तते । क्रम इत्येवमादिभ्यो वुन् भवति । क्रमं वेत्यधीते वा क्रमकः । क्रम पद शिक्षा मीमांसा सामन् । “अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः” [वा०] ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थो अनुब्राह्मणं तदधीते अनुब्राह्मणी । अनुब्राह्मणिनौ । अनुब्राह्मणिनः । मलयीयेन सिद्धेऽपि अण्बोधनार्थमिदं वक्तव्यम् ।

उप्प्रोक्तात् ॥३।२।५४॥ प्रोक्तेऽर्थे विहितः प्रोक्तः । प्रोक्त्यान्तादधेतुवेदित्रोत्पन्नस्य त्यस्योब् भवति । गौतमेन प्रोक्तं गौतमं तद्व्यधीते वा गौतमः । भद्रबाहुना प्रोक्तं भाद्रबाह्वं तद्व्यधीते वा भाद्रबाह्वः । परस्याण् उपि कृते योऽवस्थितः प्रोक्तार्थविषयोऽण् तस्य न्यत्वात् “अनीचः” [३।१।१७] इत्यधिकारात् “टिड्ढाणञ्” [३।१।१८] इति जीविधिर्न भवति अतश्चापि गौतमा । भाद्रबाह्वा स्त्री ।

सूत्रात्कोडः ॥३।२।५५॥ सूत्रवाचिनः ककारोडः अध्येतुवेदित्रोत्पन्नस्य त्यस्योब्भवति । अप्रोक्तार्थोऽयमारम्भः । पञ्चाध्यायाः परिमाणमस्य पञ्चकं सूत्रम् । एवमष्टकं द्वादशकम् । पञ्चक्रमधीयते विदन्ति व पञ्चका जैनेन्द्राः । अष्टकाः पाणिनीयाः । द्वादशका आर्हताः । “संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । तत्त्वार्थवार्तिकमधीते तात्त्वार्थवार्तिकः । कलापकमधीयते कालापकाः ।

छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव ॥३।२।५६॥ प्रोक्तग्रहणमनुवर्तमानं छन्दोब्राह्मणानां विशेषणम् । अत्रेत्यनेनाध्येतुवेदितृत्वविषयो गृह्यते । छन्दोवाचीनि ब्राह्मणवाचीनि च प्रोक्त्यान्तान्यत्रैवाध्येतुवेदितृत्वविषये वर्तन्ते । अध्येतुवेदितृत्वविषया वृत्तिरेव यथा स्यादित्यर्थः । उभयावधारणं चेदमेवकारोपादानाल्लभ्यते । अन्यथाऽरम्भसामर्थ्यात् विषयावधारणे सिद्ध एवकारोऽनर्थकः स्यात् । प्रोक्त्यान्तस्यात्रैव वृत्तिर्नान्यत्र । तथा वृत्तिरेव न केवलावस्थानमित्युभयथा नियमः । अन्यत्रानियमात् क्वचित् स्वातन्त्र्यं भवति । आर्हता प्रोक्तं शास्त्रं क्वचिदुपान्यतरयोगः । आर्हतमहसूत्रं विहितमिति । क्वचिद्वाक्यमार्हतमधीते । क्वचिद्वृत्तिः आर्हता इति । इदं पुनर्नियमाद् युगपदेव विग्रहः । कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते कठाः । शौनकादिषु “वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” [ग० सू० ३।३।७७] इति वचनात् णिन् । तत्रैव “कडचरकादुप्” [ग० सू० ३।३।७७] इति तस्योप् । ततः परस्याणः “उप्प्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । नोदेन प्रोक्तमधीयते नोदाः । पैप्पलादाः । “कलापिनोऽण्” [३।३।७६] इत्यत्राण्प्रहणसामर्थ्यात् अन्यत्राप्यण् । आर्चानिनः (आर्चीयिनः) “वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” [३।३।७७] इति णिन् । वाजसनेयिनः । शौनकादिस्त्रात् णिन् । ब्राह्मणानि खल्वपि । ताण्डिना प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते ताण्डिनः । शौनकादिषु “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु” [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन् । भल्लवेन प्रोक्तमधीते पूर्ववर्णिण् । भल्लविनः । एवं सव्यायिनः । ऐतरेयिणः । छन्दोग्रहणेन सिद्धे पृथग् ब्राह्मणग्रहणं किम् ? पुराणप्रोक्तत्वविशिष्टब्राह्मणपरिग्रहार्थम् । इह मा भूत् । याज्ञवल्केन प्रोक्तानि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८०] इत्यण् । यल्लम् । सुलभेन प्रोक्तानि सौलभानि “कलापिनोऽण्” [३।३।७६] इत्यन्यत्राप्यण् । याज्ञवल्क्यादयोऽवरकाला इति व्यवहारः । चकारः किमर्थः ? ब्राह्मणसदृशब्राह्मणानां समुच्चयार्थः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पमधीयते काश्यपिनः । कौशिकेन प्रोक्तं कल्पमधीयते कौशिकिनः । शौनकादिषु “काश्यपकौशिकाभ्याम्” [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन् । गुणभूतछन्दसां च समुच्च-

यार्थम् । पाराशर्येण प्रोक्तं सूत्रमधीयते पाराशरिणो भिन्नवः । शिलालिना प्रोक्तमधीयते शैलालिनो नयः । शौनकादिषु “पाराशर्यशिलादिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः” [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन् । कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनः । कुशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कुशाश्विनः । शौनकादिष्वेव “कर्मन्दकुशाश्वभ्यामिन्” [ग० सू० ३।३।७७] इति भिक्षुनटसूत्रयोरिति वर्तते ।

तदस्मिन्नस्तोति देशः खौ ॥३।२।५७॥ तदिति वासमर्थादस्मिन्निति वर्थे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्थमस्ति चेत् तद्भवति । यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं देशश्चेत्तद् भवति । समुदायेन खुविषये । इति-करणाद् भूमादिविषये विवक्षा । औदुम्बरः । बाल्वजः । पार्वतः । मत्वर्थयोऽनेन बाध्यते ।

तेन निर्वृत्तः ॥३।२।५८॥ देशः खाविति वर्तते । तेनेति भासमर्थाद् निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथा-विहितं त्यो भवति देशः खौ । ककन्देन निर्वृत्ता काकन्दी । मकन्देन निर्वृत्ता माकन्दी । कुशाश्वेन निर्वृत्ता कौशाम्बी । सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा । खावित्येव । वनेन निर्वृत्तम् । इह यदाऽकर्मका अपि धवः सगयः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते, तदा तेनेति कर्तरि करणे वा भा । यदा त्वकर्म-कविवक्षया कर्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ भा ।

तस्य निवासादूरभवौ ॥३।२।५९॥ देशः खाविति वर्तते । तस्येति तासमर्थात् निवास अदूरभव-इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति देशनाम्नि गम्यमाने । निवसन्त्यास्मिन्निति निवासः “हळः” [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ् । भवतीति भवः । पचाद्यच् । अदूरे भवः निपातनात्स्विधिः । वसतेर्निवासः वासात् । औषुष्टम् । शलाकाया निवासः शालाकम् । वाराणस्या अदूरमवा वाराणसी । विदिशाया अदूरभवं वैदिशम् । त्रीहीमत्या अदूरभवं त्रीहिमतं नगरम् ।

**बुङ्गुण्कटेलसेन्नदण्णयफणिफञ्जिक्कण्ठणोऽरीहणकुशाश्वर्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मस-
खिसंकाशबलपत्तकर्णसुतङ्गमवराहकुमुदादिभ्यः ॥३।२।६०॥** बुजादयः षोडश त्या यथासंख्यम-रीहणादिभ्यः षोडशभ्यो गण्येभ्यो भवन्ति यथासंभवं प्रागुक्तेषु चतुरर्थेषु । अरीहणादिभ्यो बुज् । अरीहणेन निर्वृत्तं अरीहणकम् । अरीहण द्रुषण द्रवण खदिर भगल उलुन्द साम्परायण क्रौञ्चयण चैत्रायण त्रैगर्तायन रायस्पोष विपथ विसाय उद्दण्ड उदञ्जन शालायन खण्डायन खण्डवीरण काशकृत्स्न जाम्बवत शिशपा किरण रैवत तैल्व वैमतायन सौमायन शाण्डिल्यायन सुयज्ञ विपाश वायस । कुशाश्ववादिभ्यश्चङ्ग भवति । कुशाश्वेन निर्वृत्तं कार्शाश्वीयम् । कुशाश्व अरिष्ट वेक्ष्मन् वेपथ विशाल रोमक लोमक ववर शवल रोमश ववरं सूकर पूतर सदृश सुख धूम अजिर विनत अवनत हरस अयस् विकुघास अनस् अवसाय मौद्गल्य । ऋश्यादिभ्यः को भवति । ऋश्या अस्मिन्देसो सन्ति ऋश्यकः । ऋश्य । न्यग्रोध । सर (शिरा) । निलीन । निवास^१ । निद्यास । वितान । विधान । निबद्ध । विबुद्ध । परिगृह । उपगृह । उपगूह । उच्चराशमन्^२ । स्थूलबाहु । स्थूलबाह । खदिर । शर्करा । अनडुह । परिवंश । वेणु । वीर्या । कुमुदादिभ्यश्चो भवति । कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति कुमुदिकम् । कुमुद । शक्करा । न्यग्रोध । कर्कट । संकट । इक्कट । मन्दु । बीज । अश्वत्थ । बल्वज । ग्रथक । गर्त्त^३ । वरिवाप^४ । अद्ध । पवाश । शिरीष । कूप । विकङ्कत । कासादिभ्य इल्लो भवति । काशा अस्मिन्देसो सन्ति काशिलम् । आश । वास^५ । अश्वत्थ । पलाश । पीलूष । विस । तृण । वर्धूल^६ । कार्दम । नड । वन । कपूर । कर्कट । गुहा । सा(शा)कटिक । तृणादिभ्यः सो भवति । तृणान्यस्यां सन्ति तृणसा । तृण । नड ।

१. निवात ब०, पू० । २. उत्तराशमन् पू० । ३. परिवाय ब०, पू० । ४. वाम पू० । ५. वर्धूल ब० ।

पर्यं । वर्षं । मूल । वराण^१ । अर्जुन । जनक^२ । फल । प्रेक्षादिभ्य इन् भवति । प्रेक्षाऽस्मिन्नस्ति प्रेक्षी । फलक । वन्धुक । ध्रुवक^३ । ध्रुवका । क्षिपका । न्यग्रोध । इत्कट । कण्टक^४ । संकट । कपि । अश्मादिभ्यो शे भवति । अश्मानोऽस्मिन् सन्ति, अश्मरम् । अश्मन् । यूथ । ऊथ । मीन । दर्भ । वृन्दा । गुडा । खण्ड । काण्ड । नग । शिखा । सख्यादिभ्यो ढण् भवति । सख्या निर्वृत्तं साख्यम् । दान्तेयम् । सखि । दन्त^५ । वासवदत्त । अग्निदत्त । वायुदत्त । गोपिल^६ । भल्ल । पाल । चक्रवाक । छगल । अशोक । सिनका । सरकापाल । संकाशादिभ्यो ण्यो भवति । संकाशेन निर्वृत्तं सांकाश्यम् । संकाश । कम्पिल । काश्मीर । शूस्तेन । सुपथिन् । सुपथञ्च । मन्मथ । यूथ । अङ्गनाथ^७ । कुल । अश्मन् । कूटा । मलिन । तीर्थ । अगस्ति । सूर । विरत । विरह । विकर । नासिका । सादिन् । शादिन् । मगदिन् । कलिर । खदिर । गडिर । चूडार । मञ्जार । कोविदार । गोहल । चक्रवाक । अशोक । करवीरक । सीरक । सूरक । मुसल । मुखर । वल्गादिभ्यो यो भवति । वलेन निर्वृत्तं वल्यम् । वल । पूल । मूल । ऊल । तल । नल । वच । क्रल । पङ्कादिभ्यः फण् भवति । पक्षेण निर्वृत्तः पाक्षायणः । पक्ष । तुष^८ । अण्डक । मुण्ड । कम्बलिक । यका । चित्रा । अस्तिरश्वन् । पथिन् पन्थ च । कुम्भ । सीरक । सरक । सरस । पङ्गल । रोमन् । लोमन् । लोमक । हंसक । सकर्णक । हस्त । विल । कर्णादिभ्यः फिज् भवति । कर्णेन निर्वृत्तः कर्णायनिः । कर्ण । वशिष्ठ । अर्क । लुस^९ । द्रुपद । आनडुह्य । पाञ्चजन्य । स्किग् । कुलिश । कुम्भ । जित्वन् । जीवन्त । अण्डीवत् । सुतङ्गमादिभ्य इज् भवति । सुतङ्गमेन निर्वृत्तः सौतङ्गमिः । सुतङ्गम । मुतिचित् । विप्रचित् । महाचित् । महापुत्र । श्वेत । अण्डिक । शुक्र । विग्र । बीजवापिन् । श्वन् । अर्जुन । अजिर । वराहादिभ्यः कण्भवति । वराहा अस्मिन्देशे सन्ति वाराहकम् । वराह । पलाश । शिरीष । विनद्ध । स्थल । निबद्ध । निदग्ध । विजग्ध । विभिन्न । विभन्न । बहु । खदिर । शर्कर । कुमुदादिभ्यः ढण् भवति । कुमुदानि अस्मिन्देशे सन्ति कौमुदिकम् । कुमुद । गोमथ^{१०} । रथकार । दशग्राम । अश्वत्थ । शाल्मली । मुनिस्थल । कूट । शुचुकर्ण । शुचिकर्ण । इति केचित् । अरीह-णादिषु कुमुदादिषु पठितस्य शिरीषशब्दस्य वरणादिषु दर्शनात् तस्य पक्षे उस् भवतीति वेदितव्यम् । उक्तञ्च भाष्यकृता शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषः । तस्य वनं शिरीषवनम् ।

जनपद उस् ॥३।२।६१॥ चतुर्ष्वर्थेषु देशे खौ यस्त्यो विहितः तस्य जनपदे देशविशेषेऽभिधेये उस् भवति । पञ्चालस्यापत्नानि पञ्चालाः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । उस्तेन यत्र देशः खुविषयो भवति तत्रायमुस् । इह मा भूत् । उदुम्बरा अस्मिन्देशे सन्ति औदुम्बरो जनपदः ।

वरणादेः ॥३।२।६२॥ वरण इत्येवमादिभ्यस्त्यस्योस् भवति चतुर्ष्वर्थेषु उत्पन्नस्य । अजनपदार्थोऽयमारम्भः । वरणानामदूरभवं वरणा नगरम् । शृङ्गिशाल्मलयः । शिरीषा ग्रामः । गोदौ हृदौ तयोरदूरभवो गोदौ ग्रामः । एवम् आलिङ्गयायन । पर्णी । सपाटी^{११} । जालपदी^{१२} । मथुरा । उज्जयनी । गया । तक्षशिला । उरस् । आकृतिगण्योऽयम् । तेन वदरी । कटुबदरी । काञ्ची । समन्तपञ्चकस्यादूरभवं समन्तपञ्चकं कुरुक्षेत्रम् इत्येवमादीनां परिग्रहः ।

१. चरण इति काशिकायाम् । २. जन पू० । ३. ध्रुवका । ध्रुवका । पू० । ध्रुवक । ध्रुवका । ब० । ४. कंकट पू० । ५. सखि दन्त पू० । ६. पिछ । गहिल । भ-पू० । ७. कश्मीर पू० । अक्ष । कुलनाथ पू० । ८. रुष पू० । ९. तुष स० । १०. गोमठ ब०, स० । ११. सफाटी ब० । सफाटी । १२. जालपदा ब० ।

शर्कराया वा ॥३।२।६३॥ शर्कराशब्दादुत्पन्नस्य चातुरार्थिकस्य वा उरुभवति । शर्कराशब्दः । कुमुदादिषु वराहादिषु च पाठसामर्थ्यात् पक्षे ठण्क्णोः श्रवणं भवति । शर्कराग्रामः । शर्करिकः । शार्करिकः । “केऽणः” [पा२।१२५] इति प्रादेशः । अन्ते उत्सर्गस्थेयं विकल्पमिच्छन्ति । तेषां शार्करेत्यपि भवति । अन्यथा विकल्पोऽनर्थकः स्यात् ।

डण्छौ ॥३।२।६४॥ ठण्छ इत्येतौ लौ भवतः शर्कराशब्दात् चतुर्ध्वर्थेषु । शार्करिकम् शर्करीयम् ।

नद्यां मतुः ॥३।२।६५॥ नद्यामभिधेयायां मृदो मरुर्भवति चतुर्ध्वर्थेषु देशे खौ । उदुम्बरा अस्यां सन्ति, उदुम्बरावती । वीरणावती । पुष्करावती । इक्षुमती । द्रुमती । कथं भागीरथी भैरवथी जाह्नवी ? वेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था ।

मध्वादेः ॥३।२।६६॥ मधु इत्येवमादिभ्यो मरुर्भवति चतुर्ध्वर्थेषु । अनद्यर्थोऽयमारम्भः । मधु अस्मिन्देशेऽस्ति, मधुमान् । मधु । विश । स्थाणु । पृथि । इक्षु । वेणु । कर्कन्धु । शमी । करीर । हिम । किसरा । सार्यण^२ । उरुम् । वा^३र्दाकी । वल्मीक । इष्टका । शुक्ति । आसुति । आसन्दी । शालाका । वेयवेण ।

कुमुदनडवेतसाडित् ॥३।२।६७॥ कुमुद नड वेतस इत्येतेभ्यश्चतुर्ध्वर्थेषु मरुर्भवति ङिच्च । कुमुद-
दान्यस्मिन्देशे सन्ति, कुमुद्वान् । वेतस्वान् । “महिषाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । महिषान् ।

शिखाया चलः ॥३।२।६८॥ शिखाशब्दाद् वलो भवति चातुरार्थिकः । शिखया निर्वृत्तं शिखाया
अदूरभवं वा शिखावलं नाम नगरम् ।

नडशादाडित् ॥३।२।६९॥ नडशादाभ्यां वलो भवति ङिच्चतुर्ध्वर्थेषु । नडा अस्मिन्देशे सन्ति
नड्वलः । शाडवलः ।

उत्करादेश्छुः ॥३।२।७०॥ उत्कर इत्येवमादिभ्यश्छो भवति चतुर्ध्वर्थेषु यथासम्भवम् । उत्करेण
निर्वृत्तम्, उत्करीयम् । उत्कर । संकर । सम्फल । पिप्पल । मूल । अश्मन् । अर्क । पर्ण^४ । खण्डाजिन^५ ।
अग्नि । तिक । कितव । आतप । अंशक^६ ।

नडादेः कुक् ॥३।२।७१॥ नड शब्द आदिर्यस्य नडादिः, तस्मात्, नड इत्येवमादिभ्यो यथासम्भवं
चातुरार्थिकश्छो भवति कुगागामश्च । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नडकौयः । नड । लक्ष् । वल्व । वेणु । वेत्र ।
वेतस । वृण । इक्षु । कष । कपोत । क्रौञ्चः प्रादेशश्च । तक्षन् तखञ्च ।

शेषे ॥३।२।७२॥ अपत्यादयश्चतुरर्थपर्यन्ता येऽर्था उक्तास्ततोऽन्यः शेषः, शेषेऽर्थविशेषे यथा-
विहितं ल्यो भवति । चतुर्भिस्त्वते चातुरं शकटम् । अश्वैस्त्वते आश्वो रथः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् ।
आवणः शब्दः । दार्शनं स्पर्शनं च द्रव्यम् । दृषदि पिष्टाः दार्पदाः सकृवः । उलूखले क्षुण्णः, औलूखलो
यावकः । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रत्नः । अनुष्टुपादिरस्य प्रगाथस्य, आनुष्टुभः । पाङ्क्तः । जागतः ।
स्वार्थेऽनुष्टुबेव आनुष्टुभम् । पाङ्क्तम् । जागतम् । “तेन दृष्टं साम ।” क्रौञ्चेन दृष्टं साम, क्रौञ्चम् ।
वासिष्ठम् । वैश्वामित्रम् । मायूरम् । “वामदेवाद्यो वक्तव्यः” [वा०] । वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यम् ।
“कचिद्दृष्टे सामनि जाते चार्थे योऽन्योऽण् दिधीयते स च ङिच्चमवतीति वक्तव्यम् ।” उशनसा दृष्टं साम
औशनम् । औशनसम् । शतभिषजि जातः शातभिषः शातभिषजः । “काकाट्टजि” [३।२।१३१] प्राप्ते

१. पृष्टि ब०, पू० । २. सौर्यण ब० । ३. वार्दाका पू० । ४. पर्ण । सुपर्ण । ख-ब०, पू० ।
५. -जिन । वल्लजिन । अग्नि ब०, पू० । ६. अशंक पू० ।

“भसन्ध्याद्युत्तुभ्योऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३०] इत्यण् । “इष्टे सामनि वृद्धादङ्गवद् वक्तव्यम्” [वा०] ।
 औपगवेन दृष्टं साम, औपगवकम् । कापटवकम् । “वृद्धचरणञ्जित्” [३।३।६४] इति वुन् ।

“इष्टे सामनि जाते च योऽन्योऽण् वा डिद्विधीयते । तीयादीकण् च विद्यायां वृद्धादङ्गवद्विध्यते ।”

शेष इति लक्षणमधिकारश्चायम् । शेषभूतेषु जातादिष्वर्थेषु घादयो वक्ष्यमाणा वेदितव्याः । तस्येदं
 विशेषेष्वर्थेषु अपत्यसमूहादिषु मा भूवन्ति ।

राष्ट्रावारपारादघञौ ॥३।२।७३॥ राष्ट्र अवारपार इत्येताभ्यां यथासंख्यं घ ख इत्येतौ ल्यौ भवतः ।
 राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः । अवारपारीणः । “विगृहीतादपीष्यते” । अवारीणः । पारीणः । “विपरीतादपि”
 पारावारीणः । अवारस्य पारे (रम्) पारावारः समुद्रः, राजदन्तादित्वात् [१।३।६६] परनियमः ।

ग्रामाद्यखञौ ॥३।२।७४॥ ग्रामशब्दात् य खञ् इत्येतौ भवतः शेषार्थाऽभिधाने । ग्राम्यः ।
 ग्रामीणः । खञो जित्करणं “जिण्दृष्टदङ्गविकारे” [३।३।१५१] इत्यत्र पुं वद्भावप्रतिषेधार्थम् ।
 ग्रामीणभार्यः ।

कत्यादेर्दकञ् ॥३।२।७५॥ कत्ति इत्येवमादिभ्यो दकञ् भवति । कुत्सितास्त्रयो यस्या यस्य वा
 असौ कत्तिः, तत्र जातो भवो वा कात्येयकः । कत्ति । उम्भि । पुष्कर । पुष्कल । पोदन^२ । मौदन ।
 उम्बि । कुण्डिनी^३ । नगरी । माहिष्मती । चर्मण्वती । कुड्या । कुल्या । अनयोर्यखं च “ग्रामाच्चेति
 वक्तव्यम्” [वा०] ग्रामेयकः । “कुलकुक्षिग्रीवाभ्यो यथासंख्यं श्वास्यलङ्कारेण्विति वक्तव्यम्” [वा०]
 कौलेयको भवति आ चेत, कौलोऽन्यः । कौदेयको भवत्यसिश्चेत्, कौक्षोऽन्यः । ग्रैवेयको भवत्यलङ्कार-
 रश्चेत्, ग्रैवोऽन्यः ।

नद्यादेर्दण् ॥३।२।७६॥ नदी इत्येवमादिभ्यो दण् भवति शेषे । नद्यां जातो भवो वा नादेयः ।
 नदी । मही । वाराणसी । आवस्ती । कौशाम्बी^४ । काशफरी^५ । खादिरौ । पूर्वनगरी । पावा । मावा ।
 शील्वा^६ । दार्वा । सैतव । बडवाया^७ नृपे इति । अत्र केचित् पूर्वनगरीशब्दस्थाने पूर्वनगिरिशब्दं पठन्ति ।
 छेदेन च त्यमुत्पादयन्ति । पुरि भवं पौरैयम् । वने भवं वानेयम् । गिरौ भवं गैरेयम् ।

दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण् ॥३।२।७७॥ दक्षिणा पश्चात् पुरस् इत्येतेभ्यस्त्यण् भवति शेषे ।
 दक्षिणस्यां दिशि वसति “दक्षिणादा” [३।१।१००] इति आकारे कृते दक्षिणा, तत्र भवो दाक्षिणात्यः ।
 पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

टफण् कापिश्याः ॥३।२।७८॥ टफण् भवति कापिशीशब्दात् शेषे । कापिश्याम्भवं कापिशायनं
 मधु । कापिशायनी द्राक्षा । “बाहयुर्दिभ्यश्चेति वक्तव्यम्” बाहयनी । आर्दायनी ।

रङ्गकोः ॥३।२।७९॥ रङ्गकुशब्दात् टफण् भवति शैषिकः । रङ्गकुषु जातः रङ्गवायणो गौः ।
 “प्राणिनीति वक्तव्यम्” । इह माभूत् । रङ्गवः कम्बलः । कथं रङ्गवो गौः ? शेषे कच्छादिपाठात् अणपि
 भवति । मनुष्ये त्वमिधेये परत्वात् “नृत्स्थयोर्बुञ्” [३।२।११३] इति वुञ् भवति । रङ्गवको मनुष्यः ।

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः ॥३।२।८०॥ दिव् प्राच् अपाच् उदच् प्रतीच् इत्येतेभ्यो यो भवति
 शेषे । दिव्यः । प्राच्यः । अपाच्यः । उदीच्यः । प्रतीच्यः । यदा प्रागादयः शब्दाः भिन्नश्रृङ्गाः कालवाचिनस्तदा
 परत्वात् “सायंचिरम्प्राह्मे प्रगेभ्यस्तनट्” [३।१।१४०] इति तनट् । प्राकृतनः ।

१. ड'सि पू० । २. पौदन ब०, स० । ३. कण्डिनी अ०, ब०, पू० । ४. न्वी । वनकौशाम्बी ।
 का-अ०, ब०, पू० । ५. कासपशि । सफरी पू० । कासपारी । सफरी अ० । कासपारी खा- ब० । ६.
 झाडवा अ०, पू० । ७. बडवाया वषे इति काशि० ।

भेस्तुट् ॥३१२।८१॥ भिसंज्ञकाद्यो भवति तुडागमः शेषे । अत्र परिगणनम् । “अमेहकृतसि-
न्नेभ्य” इति । अमात्यः । इहत्यः । कत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः । परिगणनं किम् ? उपरिष्ठात् जातः,
औपरिष्ठः । भेर्ममाने टिलम् । परतो जातः पारतः । उत्तराहि जातः, औत्तराहः । “दोश्छः” [३१२।१०]
एव भवति । आरातीयः । “नेध्रुं व इति वक्रव्यम्” [वा०] नियतं सर्वकालं भवं नित्यम् । “नित्यो गत इति
वक्रव्यम्” [वा०] निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ठयः श्वपचादिः ।

वैषमोह्यस्वसः ॥३१२।८२॥ ऐषमस् ह्यस् स्वस इत्येतेभ्यो वा यो भवति । यदा यस्तदा
तुट् । ऐषमस्त्यः । ऐषमस्तनः । ह्यस्त्यः । ह्यस्तनः । श्वस्त्यः । श्वस्तनः । “श्वसस्तुट् च” [३२।१३५] इति
प्राप्तिके ठञि, शौवस्तिकः । “द्वारादेः” [५।२।६] इत्यौच् ।

रूप्यद्योर्ण्यः ॥३१२।८३॥ रूप्यशब्दो द्युर्यस्य तस्मात् णो भवति शौषिकः । वृक् रूप्ये जातः
वार्क रूप्यः । दुसंज्ञायां परत्वात् “भन्वयोहः” [३१२।१६] इति वुञ् भवति । माणिरूप्ये जातः,
माणिरूप्यकः ।

दिगादेरखौ ॥३१२।८४॥ दिग्विशेषादेर्मृदः अखौ वर्तमानात् णो भवति । व्यणोऽपवादः । शेषे ।
पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः । “हृदर्थ” [३१३।४६] षसः । एवम् आपरशालः । दाक्षिणशालः ।
अखाविति किम् ? पूर्वेषुकामसम्यां जातः, पूर्वेषुकामसमः । अपरैषुकामसमः । “दिक्संख्यं खौ” [३१३।४६]
इति सः । “प्राचां प्रामाण्याम्” [५।२।१६] इति द्यौरैप् ।

मद्रेभ्योऽण् ॥३१२।५॥ दिगादेरिति वर्तते । दिगादेर्मद्रशब्दात् अण् भवति शौषिकः । “बहु-
स्वेऽदोरपि” [३१२।१०३] इति वुञ् प्राप्तः । तदपवादे “वृजिमद्राक्” [३२।१०६] इति के प्राप्ते
पुनरनेनाण् । पौर्वमद्रः । आपरमद्रः । “दिशोऽमद्राण्याम्” [३१२।१८] इति पर्युदासादादेरैप् । दिगादे-
रित्येव । मद्रकः । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे अण्ग्रहणं राश्लक्षणास्यापि वुजो बाधनार्थम् ।

पलद्यादेः ॥३१२।८६॥ पलदी इत्येवमादिभ्योऽण् भवति शौषिकः । पलद्यां जातः, पालदः
परिषदः । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इति दुसंज्ञायां छः प्रसज्येत । इह वाहीकशब्दश्छवाधार्थमुपात्तः ।
गौष्ठीनैकेतीशब्दाभ्यां छः प्राप्तः । वाहीकशब्दत्वाच्च ठञिठौ प्राप्तौ । गोमतीशब्दात् “रोहीतोः प्राचाम्”
[३२।१०१] इति वुञ् प्राप्तः । “जोर्दंशे ठञ्” [३२।१५] इत्यत्र (इत्यतो) देशग्रहणमनुवर्तते ।
गोमती च नदी । “भिन्नलिङ्गो नदीदेश” [१।४।८३] इत्यत्र ज्ञापितं नदीदेशग्रहणेन न गृह्यते । गोमत्यां
भवा मत्स्या गोमता इति । तस्मादिह पाठोऽनर्थकः । एकीयमतमेतत् । अथवा इदमेव ज्ञापकम्, नद्यपि
देशग्रहणेन गृह्यते । “भिन्नलिङ्गो नदीदेश” [१।४।८३] इत्यत्र नदीग्रहणं जलाशयनियमार्थमुक्तम् ।
श्रवदुदकानां द्वन्द्व एकवद् भवति (न) स्थिरोदकानां कृपतरस्तडागानाम् । वैश्वामित्रं च तडागं जरत्फूपश्च
वैश्वामित्रजरत्फूपौ । शरसेनशब्दात् “बहुस्वेऽदोरपि” [३२।१०३] इति वुञ् प्राप्तः । पलदी । परिषत् ।
यकृत् । लोमन् । नल्लञ्च । पट्चर । वाहीक । कलकीक । बहुकीट । कमलभिम् । गौष्ठी । नैकेती । परिखा ।
उदपान । रोमक । शरसेन । गोमती ।

शकलादिभ्यो वृद्धे ॥३१२।८७॥ शकल इत्येवमादिभ्यो वृद्धे यो विहितस्त्यस्तदन्तेभ्योऽण् भवति
शेषे । शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः । “व्यञ्ज्यनाद्धृत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यलम् । काण्वस्य
छात्राः काणवाः । गौकल्यस्य गौकल्यः । कौण्डिन्यस्य कौण्डिनः । वृद्ध इति किम् ? शकलो देवताऽस्य शाकलः
शाकलस्येदम् शाकलीयम् । उत्तरार्थं च वृद्धग्रहणम् ।

इजः ॥३१२।८८॥ वृद्धे यो विहितः इज् तदन्तादण् भवति शेषे । दाक्षेरिदं दान्म् । प्लाज्म् । वृद्ध इत्येव । सौतङ्गमेरिदं सौतङ्गमीयम् ।

न द्वयच्चः प्राच्यभरतेषु ॥३१२।८९॥ द्वयचो मृदः प्राच्यभरतात् वृद्धादिजन्तादण् न भवति । पूर्वैण प्राप्तस्य प्रतिषेधः । प्राच्येषु चैदीयाः^१ । पौषीयाः । भरतेषु काशीयाः । वासीयाः । द्वयच्च इति किम् ? पानागारेऽञ्जात्राः पानागाराः । प्राच्यभरतेषु इति किम् ? दान्नाः । ज्ञान्नाः । “काश्यादेष्टञ्जिठौ” [३१२।९२] इत्यत्र चेदिशब्देन साहचर्याद्देशवाचिनः काशिशब्दस्य ग्रहणम् । इह वृद्धत्यान्ताच्छ उदाहृतः । ननु भरताः प्राच्या एव तेषां किमर्थं पृथगुपादानम् । अन्यत्र प्राच्यग्रहणेन भरतग्रहणं मा भूदित्येवमर्थम् ।

दोश्लुः ॥३१२।९०॥ वृद्ध इति निवृत्तम् । सामान्येनोपादानात् । दोर्मृदश्छो भवति शेषे । सौता-रीयम् । मालीयम् । “रूप्यघोः” [३१२।९३] छं (छणं) बाधिला परत्वात् “धन्वयोः” [३१२।९६] इति वुज् । माणिरूप्ये भवः माणिरूप्यकः । “उदीच्यग्रामात् ग्रस्थद्योरण् वक्तव्यः” [वा०] माषी-प्रस्थम् । माह्वीप्रस्थम् ।

भवतश्छण्छुसौ ॥३१२।९१॥ दोरिति वर्त्तते । भवच्छब्दात् ठण् छुस् इत्येतौ त्रौ भवतः शेषे । सकारः “सिति” इति पदं संशयः । भावकम् । भवदीयम् । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य भवतीशब्दस्य ग्रहणे ठण्छुसौः” [वा०] इति वक्ष्यमाणेनोपसंख्यातेन पुंवद्भावे तदेव रूपम् । यस्यदादिषु न पठ्यते शत्रन्तो भवच्छब्दः, तस्मादणि भावतमिति ।

काश्यादेष्टञ्जिठौ ॥३१२।९२॥ काशि इत्येवमादिभ्यः ठञ् जिठ इत्येतौ त्रौ भवतः शेषे । इभार उच्चारणार्थः । काशयो जनपदः तत्र जाता काशिकी, काशिका । वैदिकी, वैदिका । काशि । वेदि । सांयाति । संवाह । अच्युत । मोदमान । संकुलाद । हस्तिकर्ण । कुनामन् । हिरण्य । करण । गोवासन । भौरिङ्ग । भौरिङ्गि । अरिन्दम । शकमित्र । देवदत्त । दासमित्र । दासग्राम । गोवाहन । तरङ्ग । सौदावतामि^२ । युवराज । उपराज । सिन्धुमित्र । देवराज । “आपदादिपूर्वपदात् कालान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ” [वा०] । आपत्कालिकी । आपत्कालिका । और्ध्वकालिकी । और्ध्वकालिका । आपद् । ऊर्ध्व । कूप । अनु । पूर्व । इत्यापदादिः । दोरिति वर्त्तते । यत्राहुसंज्ञास्तेषां वचनाद् ग्रहणम् । दोरधिकारस्य तु प्रयोजनं देवदत्तस्य प्राग्देशे वर्तमानस्य दुसंज्ञा न वाहीकग्रामे । दोरेव ठञ्जिठौ । कथं भाष्ये प्रयोगः देवदत्तीयाः । देवदत्ताः इति । “वा नाम्नः” [१।१।७१] इत्यत्र वेति व्यवस्थितविभाषा छे कर्त्तव्ये दुसंज्ञा भवति ठञ्जिठयोर्न भवति ।

वाहीकग्रामेभ्यः ॥३१२।९३॥ दोरिति वर्त्तते । वाहीकग्रामेभ्यश्छञ्जिठौ भवतः शेषे । सकलाज्जाता, साकलिकी, साकलिका । मान्यपिकी । मान्यपिका । कारतायिकी । कारतायिका ।

वोशोनरेषु ॥३१२।९४॥ दोरिति वर्त्तते । उशीनरेषु ये ग्रामाः, तद्वाचिभ्यश्छञ्जिठौ वा भवतः । आहूजालिकी, आहूजालिका, आहूजालीया । सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका, सौदर्शनीया ।

ओर्देशे ठञ् ॥३१२।९५॥ इह दो रदोश्च विधिः । उत्तरसूत्रे पुनर्दुर्ग्रहणात् । उवर्णान्ताद्देश-वाचिनो मृदश्छञ् भवति देशे । निषादकर्ण्वा जातः, नैषादकर्णुकः । एदञ्जरञ्जनुकः^३ । छुस्य परत्वादयं ठञ् बाधकः । दाक्षिकर्णुकः । दोष्टञ्जिठयोरपि बाधकः । वाहीकग्रामे, नापितवास्तौ जातः नापितवास्तुकः । देश इति किम् ? पदोऽञ्जात्राः-यादवाः ।

१. चैकीयाः अ०, ब०, पृ०, १ । २. सौधावनानि अ० । सोधावतानि पृ० । ३. एपञ्जरञ्जनुकः अ०, पृ० । एयञ्जरञ्जनुकः ब० ।

दोः प्राचाम् ॥३१२।९६॥ उद्देश (श्रोदेशे) इति वर्तते । उवर्णान्ताद्दोः प्राग्देशवाचिनश्च भवति शेषे । दोरदोश्च पूर्वेषु सिद्धे नियमार्थमेतत् । दोरेव प्राचां नाप्यदोः । आढकजम्बुकः । नापितवास्तुकः । दोरिति किम् ? मल्लवास्तु माल्लवास्तवः ।

कन्थायाः ॥३१२।९७॥ कन्थाशब्दाद्भवति शेषे । कन्था प्रावरणम्, उपचाराद् देशोऽपि । कान्थिको गौः ।

वर्णो वुज् ॥३१२।९८॥ वर्णो या कन्था तस्या वुज् भवति शेषे । वर्णुर्नाम नदः, तस्य अदूरभवो जनपदो वर्णुः, तद्विषये या कन्थेत्यर्थः । कान्थिको गौः । कान्थिकोऽश्वः ।

धन्वयोडः ॥३१२।९९॥ दोरिति देश इति च वर्तते । धन्व (धन्व) वाचिनो यकारोडश्च देश-वाचिनो दोर्वुज् भवति शेषे । प्राचामिति निवृत्तम् । पारेबन्ध (धन्व) नि जातः, पारेधन्व (धन्व) कः । आपारेबन्ध (धन्व) कः । पारावतकः । योडः । साङ्कास्यकः । काम्पिल्यकः । ठञ्जिठाभ्यां योडो वुज् परत्वात् । वाहीकग्रामे । दासरूप्ये जातः, दासरूप्यकः । “आदेशे” [३१२।१५] ठजः परत्वाद्योडो वुज् भवति । आब्रीतमायवकः ।

प्रस्थपुरवहान्तात् ॥३१२।१००॥ दोरिति देश इति च वर्तते । प्रस्थ पुर वह इत्येवमन्ताद्देश-वाचिनो दोर्वुज् भवति । छत्यापवादः । दोरित्यधिकारात्तदन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणमनर्थकमिति चेत् ; असत्यन्त-ग्रहणे तदर्थवाचि दुसंज्ञं गृह्यते । यथा पूर्वसूत्रे बन्धा (धन्वा) र्थवाचि दुसंज्ञं गृहीतम् । मालाप्रस्थे जातः । मालाप्रस्थकः । सौ (शौ) णाप्रस्थकः । क्षान्तिप्रस्थकः^१ । नान्दीपुरकः । कान्चीपुरकः । पैलुवहकः । कालगुनी-वहकः । पुरान्ताद् “रोडीतोः प्राचाम्” [३१२।१०१] इति सिद्धेऽप्यप्रागर्थं वचनम् । प्रस्थाद्यन्तात् ठञ्जि-ठाभ्यां परत्वेन वुज् । पानप्रस्थकः । कौत्कुजीवहकः । एतैभ्यो बाहौकग्रामत्वात् ठञ्जिठौ प्राप्तौ ।

रोडीतोः प्राचाम् ॥३१२।१०१॥ दोरिति देश इति च वर्तते । प्राग्ग्रहणं देशविशेषणम् । रेफोड इकारान्ताच्च दोः प्राग्देशवाचिनो वुज् भवति शेषे । छापवादः । पायलिपुत्रकः । ऐकचक्रकः । ईतः खल्वपि । काकन्दी, काकन्दकः । माकन्दी, माकन्दकः । प्राचामिति किम् ? दात्तामित्राय । तपरकरणमसन्देहार्थम् ।

राष्ट्रावधोः ॥३१२।१०२॥ दोरिति देश इति च वर्तते । देशविशेषणं राष्ट्राऽवधी । राष्ट्रावचिनस्तद-वधिवाचिनश्च दोर्वुज् भवति शेषे । छापवादः । आभिसारे जातः, आभिसारकः । राष्ट्रावधेः, औपुमकः । श्यामायनकः । अवधिग्रहणेनापि राष्ट्रं गृह्यते । किमर्थं तर्ह्युपादानम् ? बाधकबाधनार्थम् । “गर्तद्योः” [३१२।१०३] राष्ट्रावधेः परमण्डं बाधित्वा वुजेव भवत्युत्तरसूत्रेण । त्रैगर्तकः । इदं च प्रयोजनम्-मौञ्जिर्नाम वाहीकानामवधिग्रामः, तत्र भवो मौञ्जीयः । ग्रामे अवधौ वुज् न भवति ।

बहुत्वेऽदोरपि ॥३१२।१०३॥ राष्ट्रावधोरिति वर्तते । बहुत्वविषयान्मृदः अदोरपि दोरपि राष्ट्रवाचिन-स्तदवधिवाचिनश्च वुज् भवति शेषे । अरुह्योरपवादः । अदो राष्ट्रात्-अङ्गेषु जातः आङ्गकः । वाङ्गकः । अदो राष्ट्रावधेः^२ । अजकुन्देषु जातः, अजकुन्दकः । दो राष्ट्रात्, दार्वेषु जातः, दार्वकः । काम्बधकः । दो राष्ट्रावधेः । कालञ्जरेषु जातः, कालञ्जरकः । वैकुलियेषु जातः, वैकुलिशकः । जहुषु जातः, जाह्वकः । बहुत्वग्रहणं किम् ? जनपदैकदेशबहुत्वेन विवक्षिते वुज् मा भूत् वर्तनीषु भव इति । दोः पूर्वैषैव सिद्धे अपि-ग्रहणं किमर्थम् ? उत्तरत्र द्वशोरनुवर्तनार्थम् वाधावाधि^३ आ(न्या)येत(न)तक्रदानेनैव दधिदानस्य, तस्मादपीत्युक्तम् “ओष्ठजः” [३१२।१०६] परत्वात् राष्ट्रलक्षणे वुज् । जहुषु जातः, जाह्वकः ।

१. क्षान्तिप्रस्थकः अ०, पू० । २. कौत्कुजीवहकः पू० । कौत्कुजीवहकः अ० । कौत्कुजीवहकः ब० । ३. तर्हि पृथगुपादानम् अ०, ब०, पू० । ४. धेः । अजमोदे (ढे) षु जातः, अजमोद (ढ) कः पू० । ५. विज्ञायेत ब० ।

कच्छाग्निवक्त्रवर्त्त^१(गर्त)द्योः ॥३।२।१०४॥ कच्छ् अग्नि वक्त्र वर्त्त (गर्त) इत्येवं द्योर्देश-
वाचिनो मृदो दोरदोश्च वुञ् भवति शेषे । छाणोऽपवादः । भरकच्छे जातः, भारकच्छकः । पैपलीयकच्छकः ।
काण्डाग्नौ जातः काण्डाग्नकः । वैसुजाग्नकः । तैन्दुवक्त्रकः । सैन्दुवक्त्रकः । बाहुवर्तकः । चाक्रवर्तकः ।

धूमादेः ॥३।२।१०५॥ धूम इत्येवमादिभ्यो वुञ् भवति शेषे । अणादीनामपवादः । धूमे जातः,
धौमकः । धूम । षण्ड । शशादन । अर्जुनवा । दण्डायन । स्थली । माणवस्थली । घोषस्थली । पोषस्थली ।
माहकस्थली । राजगृह । सत्रासाह । भन्नास्थली । समुद्रस्थली । मद्रस्थल । अञ्जलीकूल । द्र्याहाव । त्र्याहाव ।
संस्फीय । पर्वत । गर्भ । विदेह । आनर्त्त । अनयोरराष्ट्रार्थं ग्रहणम् । पादूर । पाथेय । योडोऽयदेशार्थं
ग्रहणम् । घोष । सव्य^२ । पल्लि । आराज्ञी । आराज्ञकः । धार्त्तराज्ञी । धार्तराज्ञकः । इत्येवमादिग्रहणमप्रागर्थम् ।
अभय । तीर्था । तीरकूलात्सौवीरेषु । कौलमन्यत् । समुद्रान्नावि मनुष्ये च । सामुद्रमन्यत् । कुक्षि । अन्तरीप ।
अरुण । उज्जयिनी । दक्षिणापथ । साकेत ।

नगरात्कुत्सादाद्ययोः ॥३।२।१०६॥ कुत्सा निन्दा, दाद्यं नैपुण्यम् । एतै त्थार्थस्य जातादे-
र्विशेषणम् । नगरशब्दाद् वुञ् भवति शैषिकः । कुत्सदाद्ययोग्यमानयोः । तत्र कुत्सायां केनाऽयं मुषितः ।
इह नगरे मनुष्येण । सम्भाव्यत एतत्^३ । नागरकाश्चौरा द्वि जागरूका भवन्ति । केनेयं वीणा वादिता इह
नगरे मनुष्येण । उपपद्यत एतन्नागरको (कैः) निपुणा द्वि नागरका भवन्ति । कुत्सादाद्ययोरिति किम् ?
नागरः पुरुषः । कल्यादिषु नगरीशब्दः पठ्यते । तस्माद्दृक्कि नागरेयक इति भवति ।

मनुष्यादिष्वरण्यात् ॥३।२।१०७॥ आरण्यशब्दान्मनुष्याभिधेये शैषिको वुञ् भवति । “अरण्याण्यो
वक्तव्यः” [वा०] इत्युक्तम्, तस्यायमपवादः । आरण्यको मनुष्यो वा पन्था वा अध्यायो वा न्यायो वा विहारो
वा हस्ती वा । एतै मनुष्यादयः । “वा गोमयेष्विति वक्तव्यम्” [वा०] आरण्यका आरण्या गोमयाः । मनुष्या-
दिष्विति किम् ? आरण्या ओषधयः ।

कुरुगुग्धरेभ्यो वा ॥३।२।१०८॥ कुरु गुग्धर इत्येताभ्यां शैषिको वुञ् भवति । “राष्ट्रशब्दो
वा (राष्ट्रावभ्योः)” [३।२।१०९] इति “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति नित्ये वुञि प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।
कुरुषु जातः कौरवकः । कच्छादिपाठादपि भवति । कौरवः । वाग्रहणं युगन्धरार्थमेव । युगन्धरेषु जातः
यौगन्धरकः । यौगन्धरः । नृतत्थयोरभिधेययोः कुरुशब्दान्नित्यो वुञ् भवति । कौरवको मानुष्यः । कौरव
कमस्य जल्पितम् ।

वृजिमद्रात् कः ॥३।२।१०९॥ वृजिमद्रशब्दाभ्यां को भवति शेषे । राष्ट्रलक्षणस्य “बहुत्वेऽदोरपि”
[३।२।१०३] इत्यस्य वुजोऽपवादः । वृजिकः । मद्रकः । यस्मिन्प्रकरणे जनपदास्तेषु “सस्यविधौ (न)
तदन्तर्विधि” रिति प्रतिषेधे प्राप्ते “सुसर्वाद्द्विक्छब्देभ्यो जनपदस्य” [वा०] इति सर्वत्र तदन्तर्विधिः ।
सुमागधकः । सर्वमागधकः । अर्धमागधकः । पूर्वमागधकः । सुमद्रकः । सर्वमद्रकः । अर्धमद्रकः ।
दिक्शब्दपूर्वकत्वे तु मद्रशब्दस्य “दिगर (गा) देरसौ” [३।२।८४] “मद्रेभ्योऽण्” [३।२।८५]
इत्यपि । पौर्वमद्रः ।

१. अत्र गतंयोरिति पाठः सुवचः । पूर्वत्र राष्ट्रावभ्योरिति सूत्रवृत्तौ बुधेवोत्तरसूत्रेण त्रैगतकः ।
इत्युक्तेः । बाहुवर्तकः । चाक्रवर्तकः । इत्युदाहरणमप्यत्रोक्तं चिन्त्यम् । २. शष्प अ०, ब०, स० ।
३. -व्यत एतन्नागरको (कैः) निपुणा भवन्ति । केने-ब० । -त एतन्नागरके (कैः) चौरा द्वि नागरका
भवन्ति । केने-अ०, पू० ।

कोडोऽण् ॥३।२।११०॥ देश इति वर्तते । देशवाचिनो मृदः ककारोडोऽण् भवति । “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इति वुञोऽपवादः । ऋषिकेषु जातः आर्षिकः । माहिषिकः । आशमकः । कथमिच्छा-कुमु जात ऐच्वाक इति ? उच्यते, “ओर्देशे” [३।२।११५] इति ठञ् प्राप्तः, तं बाधित्वा परत्वाद् “बहुत्वेऽदोरपि” इति वुञ् प्राप्तः, तमपि परत्वादयमण् बाधते । “औणहृत्” [४।४।१६६] इत्यादिना उखं निपात्यते । देश इति वर्तते ।

कच्छादेः ॥३।२।१११॥ कच्छ इत्येवमादिभ्यो देशवाचिभ्योऽण् भवति शेषे । वुञोऽपवादः । कच्छः । कच्छशब्दादबहुत्वविषयादुत्सर्ग एवाण् सिद्धः । तस्य नृतत्स्थयोर्बुञ् यथा स्यादित्येवमर्थः पाठः । कच्छ । सिन्धु । वर्ण । गन्धार । मधुर । मधुरात् । अस्याप्युत्तरञ् वुञर्थः पाठः । द्वीप । अनूप । अजावह । विशापक । अस्यापि कोडो वुञर्थः पाठः । कुलूत । रङ्गु ।

नृतत्स्थयोर्बुञ् ॥३।२।११२॥ कच्छादेरिति वर्तते । नरि तत्स्थे चाभिधेये कच्छादेर्बुञ् भवति । अणोऽपवादः । कच्छको ना । कच्छकमस्य हसितं जल्पितम् । कच्छिका चूला । सैन्धवको मनुष्यः । सैन्धवकमस्य हसितं जल्पितम् । सैन्धविका चूला । नृतत्स्थयोरिति किम् ? कच्छो गौः । सैन्धवोऽश्वः ।

गोयवाग्वपदातौ सत्वत् ॥३।२।११३॥ गवि यवाग्वामपदातौ च जातादौ सत्वशब्दाद् “बहुत्वेऽदोरपि” [३।२।१०३] इत्येव वुञिसिद्धः । नियमार्थमिदमुच्यते । एतस्मिन्नेव जातादिविशेषे वुञ् यथा स्यात् । अन्यत्र उत्सर्गापवादोऽण् भवति । तद्विशेषणमपदातिग्रहणम् । कच्छादिष्वस्य पाठोऽनर्थकः । सत्वेषु जातः सत्वको गौः । सत्विका यवागूः । नृतत्स्थयोरित्येतदत्र^१ वर्तमानमपदाति विशेषणम् । सत्वको मनुष्यः । सत्वकमस्य हसितं जल्पितम् । सत्विका चूला । एतेषु वुञो नियमादग्यत्र सत्वत् वक्ष्यम् । सत्वत्वाः पदातयः ।

गर्तद्युगहादिभ्यश्छुः ॥३।२।११४॥ गर्त इत्येवं द्योर्देशवाचिनो गहादिभ्यश्च छो भवति । अणोऽपवादः । स्वाचिद्वर्गायः । वाहीकग्रामेभ्य इति ठञ्जिठयोः प्राप्तयोरेन पुनश्छुः । वृकगर्तीयः । शृगालगर्तीयः । अण् प्राप्तः । देश इत्यधिकारोऽपि गहादीनां सम्भावपेक्षं विशेषणम् । गहे जातः, गहीयः । गह । अन्तस्थ । सम । मध्य मध्यम चाष् चरणेत्यस्यायमर्थः । पृथिवीमध्यशब्दस्य मध्यमादेशः । पृथिवी-मध्ये शब्दस्य वा मध्यमादेशो भवति । माध्यमीयः कठः । चरणसम्बन्धे निवासलक्षणो त्यार्थे अण् भवति । माध्यमा इति । उत्तम । अङ्ग । मगध । पूर्वपद् । अपरपद् । अवमसाख । उत्तमसाख । समानशील । एकग्राम । एकवृत्त । इक्ष्वक् । इक्ष्वनीक । अवस्पन्द । कामप्रस्थ । अस्मात् “प्रस्थपुरवहान्तात्” [३।२।१००] इति वुञ् प्राप्तः । खाडायनिः । काठोरणिः । लावर्णिः । शैशिरि । शौङ्गि । आसुरि । आहिंसि । आमित्रि । व्याडि । भौजि । आस्वि । आग्नि । शर्मि । देवशर्मि । यौगिकतराकि । वाल्मीकि । माल्लकि । सौमवृत्तिन् । उत्तर । मुखपार्श्वतसोः खञ्च । पार्श्वतीयम् । मुखतीयम् । जनपरयोः कुक्च । जनकीयम् । परकीयम् । देवस्य च (वा) । देवकीयम् । वेणुकायाश्छुण् वृक्षव्यः । आकृतिगणोऽयम् । वैणुकीयम् । औत्तर-पदीयम् । प्रास्थीयम् । माध्यमकीयम् । मातृकीयम् । चैत्रकीयम् । कृकणवर्णाद् भारद्वाजे देशविशेषे । कृकणीयः । पर्णीयः ।

१. -दनुवर्त-पू० । -रित्येव तदनुवर्त-अ० । २. अन्तरपक्ष पू० । ३. लावेरणि अ०, पू० ।

४. आश्वि अ० । ५. ज्योति अ० । ओति (औति) पू० । ६. वाराकि पू० । वाटारकि अ० । ७. क्षेमवृत्तिन् अ०, पू० । समवृत्तिन् अ० ।

प्राचां कटादेः ॥३।२।११५॥ देश इति वर्तते । तद्विशेषणं प्राग्ग्रहणम् । कटादेः शब्दात्प्राग्देश-
वाचिनश्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । कटनगरीयः । कटग्रामीयः । कटघोषीयः । कटपल्वलीयः ।

राज्ञः क च ॥३।२।११६॥ असम्भवाद् देश इति नाभिसम्बध्यते । राजशब्दस्य ककारोऽन्तादेशो
भवति छश्च । आदेशार्थमिदम् । “दोश्छः” [३।२।११०] सिद्ध एव । राज इदम् राजकीयम् । एकदेशविकृत-
स्यानन्यत्वाद् “अनोऽखं” [४।४।१२०] नाशङ्कनीयम् । तानिर्दिष्टस्यानन्यवद् भाव उक्तः । न चेहाऽनस्ता-
निर्देशः; किं तर्हि राजशब्दस्य ।

दोः कखोडः ॥३।२।११७॥ देश इति वर्तते । दोर्देशवाचिनः ककारोडः खकारोडश्छो भवति
शेषे । आरीह्यकीयः । द्रौघणकीयः । आश्वत्थिके जातः, आश्वत्थिकीयः । शाल्मलिके जातः शाल्मलिकीयः ।
कोड इत्यणि प्राप्ते कः । सौसुके जातः, सौसुकीयः । वाहीकग्रामलक्षणौ ठञ्जिठौ बाधित्वा कोड इत्यण्
प्रातः (आष्टकं नाम बन्धः तत्र जातः) आष्टकीयः । बन्धलक्षणं वुज् बाधित्वा कोड इत्यण् प्रातः
ब्राह्मणको नाम राष्ट्रम्, तत्र जातः, ब्राह्मणकीयः । “राष्ट्र” [३।२।१०२] वुजोऽपवादः “कोडः”
[३।२।११०] इत्यण् प्रातः । खोडः खल्वपि । कौटिशिखीयः । माटिशिखीयः । कोटिशिखादयो वाहीकग्रामः ।

कन्थापलदनगरग्रामहृदयोः ॥३।२।११८॥ देश इति वर्तते दोश्छ इति च । घुशब्दः
प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कन्थादि द्योर्देशवाचिनो दोश्छो भवति शेषे । वाहीकग्रामादिलक्षणस्य त्वस्यापवादः ।
दाक्षिकन्थायां जातः, दाक्षिकन्थीयः । माहकिकन्थीयः । यदोशीनरेषु ग्रामस्तदा नपुंसकलिङ्गत्वम् ।
“वोशीनरेषु” [३।२।११४] ठञ्जिठयोः प्राप्तिः । यदा तु वाहीकग्रामः, तदा स्त्रीलिङ्गत्वम् । “वाहीक-
ग्रामेभ्यः” [३।२।११३] इति प्राप्तिः । दाक्षिकपलदीयः । माहकिकपलदीयः । दाक्षिनगरीयः । माहकिनगरीयः ।
दाक्षिग्रामीयः । माहकिग्रामीयः । दाक्षिहृदीयः । गोमयहृदीयः ।

पर्वतात् ॥३।२।११९॥ पर्वतशब्दाच्छो भवति शेषे । अणोऽपवादः । उत्तरत्रामर्त्यविभाषा वक्ष्यते ।
मर्त्ये इहोदाहरणम् । पर्वतीयो मनुष्यः ।

वाऽमर्त्ये ॥३।२।१२०॥ मर्त्यादन्यस्मिन्नभिधेये पर्वताद् वा छो भवति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते
विकल्पोऽयम् । पर्वतीयं फलम् । पर्वतीयमुदकम् । पार्वतमुदकम् । अमर्त्य इति किम् ? पर्वतीयो ना ।

युष्मदस्मदोऽकङ् खञ् ॥३।२।१२१॥ देश इति निवृत्तम् । वेति वर्तते । युष्मदस्मदभ्यां वा खञ्
भवति, यदा खञ् तदाऽकङ्देशः । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । “ङित्” [१।१।१०] इति दकारस्या-
कङ्देशः, अकारोच्चारणसामर्थ्यात् “स्वेऽको दीत्वम्” [४।३।८८] । वेत्याधिकाराच्छो भवति । युष्मदीयः ।
अस्मदीयः ।

अणि ॥३।२।१२२॥ अणि च परतो युष्मदस्मदोरकङ्देशो भवति । इदमेव ज्ञापकम्, युष्मदस्मद्-
भ्यामणपि भवति । यौष्माकः । आस्माकः ।

तवकममकावेकार्थे ॥३।२।१२३॥ अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति परिभाषेयम-
नित्या । अणि खञि च परतो युष्मदस्मदोरकार्थे वर्तमानयोस्तवक ममक इत्येतावादेशौ भवतः । स्थान्या-
देशयोर्यथासंख्यं न लादेशनिमित्तयोः । तावकीनो मामकीनः । तावको मामकः । युष्माकं युवयोर्वाऽयं
यौष्माकीणः । एवम् आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः । अर्थग्रहणं किम् ? तवकममकावेक इत्यु-
च्यमाने, एकवचने परत इति विज्ञायेत, तदाऽत्र को दोषः ? यौष्माकीण आस्माकीन इत्यत्राऽप्यादेशविधिः
स्यात् । तावकीना मामकीना इत्यत्र च न स्यात्, अतोऽर्थग्रहणं क्रियते । तेनैकार्थे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदो-
रेकवचने बहुवचने वा परत आदेशविधिः सिद्धो भवति ।

योऽर्द्धात् ॥३।२।१२४॥ वेति निवृत्तम् । अर्धशब्दाच्छैषिको यो भवति । अणोऽपवादः । अर्धे भवः, अर्धः ।

परावराधमोत्तमादेः ॥३।२।१२५॥ पर अवर अधम उत्तम इत्येवमादेरर्धशब्दाद्यो भवति शैषिकः । परार्धः । अवरार्धः । अधमार्धः । उत्तमार्धः । “हृदर्थं समाहरे” [१।३।४६] इति षसः । परमर्द्धमपार्द्धमिति “विशेषणं विशेष्येति” [१।३।५२] यत्ते कृते परार्धे जातः परार्धः । यदा पराऽवरादिशब्दौ दिग्वाचिनौ तदोत्तरसूत्रेण यदणौ प्रातौ । तदवाचित्वे त्वण् प्रातः । अधमोत्तमादेरण् प्रातः । प्रकृतिलमेतेषां मा विज्ञायीत आदिग्रहणम् ।

दिगादेष्टुण् च ॥३।२।१२६॥ अर्धादिति वर्त्तते । दिगादेरर्धाच्छैषिकष्टुण् भवति चकाराद्यश्च । पूर्वार्द्धे जातः, पौर्वाद्धिकः । पूर्वार्द्धयः । दाक्षिणाद्धिकः । दाक्षिणाद्धयः । अपरमर्द्ध पश्चार्द्धम् “उपय्यु परिष्ठा-त्पश्चाद्” [४।१।६७] इत्यत्रार्द्धे परतोऽपरस्य पश्चभावो वक्ष्यते । पश्चार्द्धे जातः, पश्चार्द्धिकः । पश्चार्द्धयः । “अन्यादेष्टुण् वक्तव्यः” [वा०] दिक्छब्दादन्यो यदाऽर्धस्यादिर्भवति तदा ठण् भवति । पौष्कार्द्धिकः । वैज-याद्धिकः । वालेयाद्धिकः । जैत्रार्द्धिकः । पराऽवरादेस्तु पूर्वैण य एव भवति ।

ग्रामराष्ट्रयोरण्ठञौ ॥३।२।१२७॥ दिगादेरर्धादण् ठञ् इत्येतौ ल्यौ भवतः शेषेऽर्थे ग्रामराष्ट्रयो-श्चेदर्थं भवति । ग्रामैकदेशवाची राष्ट्रैकदेशवाची चेदर्थं शब्दो भवतीत्यर्थः । ग्रामस्य राष्ट्रस्य वा पूर्वार्द्धे भवः, पौर्वाद्धः । पौर्वाद्धिकः । दाक्षिणाद्धः । दाक्षिणाद्धिकः । पश्चार्द्धः । पश्चार्द्धिकः ।

मध्यान्मः ॥३।२।१२८॥ मध्यशब्दाच्छैषिको म इत्ययं ल्यो भवति । अणोऽपवादः । मध्यमः । “आदेशचेति वक्तव्यम्” [वा०] आदिमः । “अवाधयोः (अवोऽधसोः) सखं चेति वक्तव्यम्” । अवमः । अधमः ।

सम्प्रत्यः ॥३।२।१२९॥ सम्प्रत्यर्थे जातादौ मध्यशब्दाद् इत्ययं ल्यो भवति । कः पुन इवार्थः स्वार्थः । सम्प्रतिकालो वर्त्तमानः, सोऽतीताऽनागतयोर्द्वयोरन्तराले वर्त्तते । एवमन्यदपि द्वयोरन्तराले वर्त्तमानं सम्प्रतीत्युच्यते । यन्नातिदीर्घं नातिह्रस्वं मध्यं काष्ठम् । नात्युत्कृष्टो नाप्यपक्वो मध्यो वैयाकरणः । मध्या स्त्री ।

द्वीपादनुसमुद्रे यञ् ॥३।२।१३०॥ समुद्रसमीपे यो द्वीपशब्दस्तस्माच्छैषिको यञ् भवति । कच्छादिपाठादणो नृतरस्थयोर्बुञ्जपवादः । द्वैष्यम् । द्वैष्या स्त्री । अनुसमुद्र इति किम् ? अनुनदि यो द्वीपः तस्माद्यमुनादिसम्बन्धे द्वीपे भवम्, द्वैषं तृणम् । “कच्छादि” [३।२।११२] पाठादण् । द्वैषको व्यासः । “नृतरस्थयोः” [३।२।११३] इति बुञ् ।

कालाट्ठञ् ॥३।२।१३१॥ कालविशेषवाचिनो मृदः शैषिकष्टञ् भवति । अणोऽपवादः । वृद्धत्यं^१ पत्रवाद् बाधते । मासिकः । सांवत्सरिकः । यथा (दा) कदम्बपुष्पयोगात्कालोऽपि कदम्बपुष्प-वाच्यः, तत्राऽनेन ठञ् । कदम्बपुष्पे देयमृणं कादम्बपुष्पिकम् । त्रैहिपालालिकम् । “तत्र जातः” [३।३।१] प्रागितः^२ कालोऽधिकारः ।

आद्धे शरदः ॥३।२।१३२॥ शरच्छब्दात्कालवाचिनः आद्धेऽभिधेये शैषिकष्टञ् भवति । शरदिति हि ऋतुविशेषः । तत्र “भसन्ध्याद्युतुभ्योऽवर्षाभ्योऽण्” [३।२।१३८] प्रातः, तदपवादोऽयम् । शरदि जातं^३ शारदिकं आद्धम् । आद्ध इति किम् ? शारदं दधि । शारदं सस्यम् । श्रद्धाशब्देन चात्र रुढिवशा-त्पितृकार्यमेवोच्यते, न तु श्रद्धावान् । तेनेह न भवति शारदः आद्धः । श्रद्धावानित्यर्थः ।

चा रोगातपयोः ॥३१२१३३॥ रोगे आतपे चाभिधेये शरच्छब्दाच्छैषिको वा ठञ् भवति । शार-
दिकः । शारदो रोग आतपो वा ।

निशाप्रदोषाभ्याम् ॥३१२१३४॥ वेति वर्त्तते । निशाप्रदोषशब्दाभ्यां वा ठञ् भवति शेषे ।
नित्ये कालाद्वि प्राप्ते विकल्पोऽयम् । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । निशाप्रदोष-
सहचरितमध्ययनमुपचारात्तथोच्यते ।

श्वसस्तुट् च ॥३१२१३५॥ श्वसशब्दादञ् भवति । तस्य च ठञ् इकादेशे कृते तुडागमः ।
ठञोऽपवादो भिलक्षणास्तुट् प्रातः, तं वाधित्वा ‘वैषमोह्यस्श्वसः’ [३१२।८३] इति विभाषया ये प्राप्ते
अनेन ठञ् विभाष्यते । श्वो जातो भवो वा शौवस्तिकः, श्वस्त्यः । आभ्यां मुक्ते तनप् श्वस्तनः ।

प्रावृष एण्यः ॥३१२१३६॥ प्रावृष् शब्दात् एण्यो भवति शेषे । ऋत्वणोऽपवादः । प्रावृषेण्यो
बलाहकः । एत्वं किमर्थम् ? प्रावृषेण्यमाचष्टे णिचि किपि अतः ले च कृते णकारस्य अवर्णार्थम् ।

भसन्ध्याद्युत्तुभ्योऽवर्षाभ्योऽण् ॥३१२१३७॥ कालादिति वर्त्तते । “भाद्युक्तः कालः” [३१२।४]
इत्यागतस्याणः “उसमेदे” [३१२।५] इत्युसि कृते कालवाचिभ्यो भेभ्यः सन्ध्यादिभ्य ऋतुभ्यो वर्षावर्जिते-
भ्योऽण् भवति शेषे । ठञोऽपवादः । भेभ्यः—तैषः । पौषः । “तिष्यपुष्ययोर्भाणि” [४।४।१३७] इति
यखम् । सन्ध्यादिभ्यः—सन्ध्यायां भवो जातो वा सान्ध्यः । सन्ध्या सविखला (सन्धिबेला) । अमावास्या ।
एकदेशविकृतस्य अमावस्याशब्दस्यापि ग्रहणम् । त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी पौर्णमासी प्रतिपद् । “संवत्स-
रात्फलपर्वणोः” [ग०सू०] सांवत्सरं फलम् । सांवत्सरं पर्व । अन्यत्र सांवत्सरिको रोगः । ऋतुभ्यः—शरद्धेमन्त-
शिशिरवसन्त-ग्रेष्मः । अवर्षाभ्य इति किम् ? वर्षासु साधु वार्षिकं वासः । अण्ग्रहणं छुवाधनार्थम् ।
स्वातौ तदं (भवं) सौवातम् “पदे स्वारैयौव्” [५।२।८] इत्यौव् ।

हेमन्तात्तखम् ॥३१२१३८॥ हेमन्तशब्दादण् भवति तत्तन्नियोगेन चास्य तखम् । हेमन्ते साधुः
हैमनम् । हैमन्तः । (हैमनमनुलेपनम् । हैमनं वासः । ठञपीड्यते ।) हैमन्तिकमिति । हेमन्ततखमिति वक्तव्यम् ।
कानिर्देशः किमर्थः ? केवलेऽप्यऽण् (हेमन्ताद्) यथा स्यात् । तेन सिद्धम् । हैमन्ती पङ्क्तिः ।

सायञ्चिरग्रहाणेप्रगेभिभ्यस्तनट् ॥३१२१३९॥ कालादिति वर्त्तते । सायं चिरं प्राह्णे प्रगे
शब्देभ्यो भिभ्यः कालवाचिभ्यस्तनट् भवति शेषे । सायञ्चिरंशब्दयोरभिसंशयोऽस्यसन्नियोगेन मकारा-
न्तता निपात्यते । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राह्णप्रगयोस्त्वेकारान्तता निपात्यते । प्राह्णः सोढोऽस्य,
प्राह्णे तनः । प्रगः सोढोऽस्य, प्रगेतनः । ईबन्तात्तनटि “भ्रूकालतनेकालेभ्यो वा” [४।३।१३३]
इत्यनुपा सिद्धम् । प्रातस्तनम् । दिवातनम् । दोषातनम् । “चिरपरुपरारिभ्यस्तनो वक्तव्यः” [वा०]
चिरतनम् । परतनम् । परारितनम् । “अन्तादिमो वक्तव्यः” [वा०] अन्तितनम् ।

वा पूर्वापरदाहात् ॥३१२१४०॥ पूर्वं अपर इत्येवंपूर्वादहशब्दाद् वा तनट् भवति शेषे । नित्ये
कालाद्वि प्राप्ते विभाषेयम् । पूर्वाह्णे तनः । पूर्वाह्णतनः । अपराह्णे तनः । अपराह्णतनः । पौर्वाह्निकम् । आप-
राह्निकम् । यदा पूर्वाह्णः सोढोऽस्य तदा पूर्वाह्णतनः, अपराह्णतनः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

तत्र जातः ॥३।३।१॥ अणादयः परमोत्सर्गाद्यादयश्च शैषिकाः प्रकृताः, तैषामितः प्रभृति प्रकृत्यर्थाः समर्थविभक्त्युपादानं च वेदितव्यम् । तत्रेति ईप्सुसमर्थान्जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । खुच्ने जातः सौध्नः । औत्सः । राष्ट्रियः । शाकलिकी । शाकलिका । सौत्रेयकः ।

प्रावृषष्ठः ॥३।३।२॥ प्रावृष्ट्वादीप्समर्थान्जात इत्येतस्मिन्नर्थे ठो भवति । एष्यस्यापवादः । प्रावृषिकः । प्रावृषिका स्त्री ।

खौ शरदो बुञ् ॥३।३।३॥ शरच्छब्दाद् बुञ् भवति खुविष्ये । तत्र जात इति वर्तते । शारदिका मुद्गा । संशशब्दानां व्युत्पत्तिमात्रमिदम् । खाविति किम् ? शारदं सत्यम्^१ ।

सिन्ध्वपकराट्ण ॥३।३।४॥ सिन्धु अपकर इत्येताभ्यामण् भवति तत्र जात इत्यस्मिन्विषये । सिन्धुषु जातः सैन्धवः । आपकरः । सिन्धुशब्दात् “कच्छादेः” [३।२।११२] इत्यण् । “नृवत्स्थयोः” [३।२।११३] इति बुञ् च प्रातः । तयोरपवादे के अपकरशब्दादणोऽपवादे उत्तरसूत्रेण क प्रातऽनेनाणपि विधीयते ।

पूर्वाह्नापराह्नाद्रामूलप्रदोषावस्कराच्च कः ॥३।३।५॥ पूर्वाह्न अपराह्न आर्द्रा मूल प्रदोष अवस्कर इत्येतेभ्यः सिन्ध्वपकराभ्याञ्च को भवति । तत्र जात इति वर्तते । पूर्वाह्ने जातः पूर्वाह्नकः । अपराह्नकः । “वा पूर्वापरादह्नात्” [३।२।१४०] इत्यस्यापवादः । आर्द्रकः । “केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । मूलकः । कालत्राचित्ते सति भलक्षणास्याऽणोऽपवादः । प्रदोषकः । “निशाप्रदोषाभ्याम्” [३।२।१३५] इत्यस्य बाधा । अवस्करकः । अणोऽपवादः । सिन्धुकः । अपकरकः । आभ्यां पूर्वैणाणपि भवति ।

पथः पन्थः ॥३।३।६॥ पथिशब्दात्को भवति तत्तन्निव्योगेन पथिशब्दस्य पन्थ इत्ययं चादेशः । तत्र जात इति वर्तते । पथि जातः, पन्थकः । अणोऽपवादः ।

वाऽमावास्यायाः ॥३।३।७॥ अमावास्याशब्दाद् वा को भवति तत्र जात इत्यस्मिन् विषये । “भसन्ध्यादिना” [३।२।१३७] नित्येऽणि प्राप्ते को विभाष्यते । अमावास्याकः । एकदेशविकृतादमावास्या-शब्दादपि । अमावास्याकः । पक्षेऽण् । अमावास्याः । अमावास्याः ।

अषाढाच्च ॥३।३।८॥ अ इत्ययं त्यो भवति अषाढशब्दात् चकारादमावास्यायाश्च । तत्र जात इति वर्तते । अषाढाया इति प्राप्ते अषाढादिति सौत्रो निर्देशः । अषाढायां जातः, अषाढः । अषाढा स्त्री । अमावास्याः । अमावास्याः । “अविष्टाषाढाभ्यां कृजति^२ वक्तव्यम्” [वा०] । अविष्टीयः । अषाढीयः ।

फल्गुन्याष्टः ॥३।३।९॥ फल्गुनीशब्दाद्दो भवति तत्र जात इत्यस्मिन्विषये । नाणोऽपवादः । फल्गुन्यां जातः फल्गुनः । फल्गुनी स्त्री ।

स्थानान्तादुप् ॥३।३।१०॥ स्थानान्तादुत्तरस्य जातार्थ आगतस्याम्^३ उन्भवति । गोस्थाने जातः गोस्थानः । अश्वस्थानः ।

शालाद् गोखरात् ॥३।३।११॥ गो खर इत्येवम्पूर्वाच्छालात्परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्योन्भवति । गवां शाला गोशालम् । खराणां शाला खरशालम् । “सनासुराच्छायाशालानिशा वा” [१।४।१०१] इति नप् । गोशाले जातः, गोशालः । खरशालः । लिङ्गविशिष्टस्य स्त्रीलिङ्गस्याऽपि “ह्रदुप्युप्” [१।१।६] इति टाप उपि सति तदेवोदाहरणम् ।

वत्साद् वा ॥४।३।१२॥ वत्सपूर्वात् शालात्परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्योन्भवति वा । वत्सशाले जातः, वत्सशालः । वात्स्यशालः ।

भेभ्यो बहुलम् ॥३३१३॥ भशब्देभ्यः परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्य बहुलमुच् भवति । “अविष्टाऽनुराधास्वातिपुनर्वसुतिष्यहस्तविशाखाबहुलाभ्य उवेव भवति” । अविष्टासु जातः अविष्टः । भलक्षणास्याय उप् । “हृदुप्युप्” [११११] इति स्त्रीत्यत्योन्भवति । अनुराधः । स्वातिः । पुनर्वसुः । तिष्यः । तिष्यग्रहणे पर्यायग्रहणम् । पुष्यः । हस्तः । विशालः । बहुलः । तथा “चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियासुवेव भवति” । चित्रायां जाता स्त्री अण उप् । हृदुप्युबिति उप् । पुनष्ठाप् । डीप् । चित्रा । रेवती । रोहिणी । पुंसि न भवत्येव । चैत्रः । रैवतः । रोहिण्यः । “अन्येभ्यो विभाषा” । अभिजित् । आभिजितः । अश्वयुक् । आश्वयुजः । (शतभिषक्) । शतभिषजः । कृत्तिकः । कार्तिकः । मृगशिरा । मार्गशीर्षः । शिरसः शीर्षदेशो वक्ष्यते । बहुलवचनादन्यदपि, अणो वा ङित्वम् । शतभिषः । शतभिषजः ।

कृतलब्धक्रीतसम्भूताः ॥३३१४॥ तत्रेति वर्त्तते । जात इति निवृत्तम् । अर्थान्तरोपादानात् । तत्रेतीप्समर्थात् कृत लब्ध क्रीत सम्भूत इत्येतैष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति । खुन्ने कृतो वा लब्धो वा क्रीतो वा सम्भूतो वा लौघ्नः । राष्ट्रियः । जातस्यैव विशेषोऽपेक्षितपरव्यापारः स्वभावनिष्पत्तौ भावः कृत-शब्दस्यार्थः । सामान्येन प्राप्तं लब्धशब्दाऽर्थः । मूल्येन प्राप्तं क्रीतशब्दार्थः । विद्यमानस्य गुणान्तरयोगः सम्भूतशब्दार्थः । उपचारेणोदं स्वयमुत्पादः सम्भूतत्वं जन्मेति चेत् ; एवं तर्हि ज्ञापकमिदम् जन्मोपचारे तत्र जात इत्येष विधिर्न भवति । “प्रावृष ण्यः” [३२१३६] इति एरण्यो भवति । प्रावृषि सम्भूतं हिरण्यम् ; प्रावृषेण्यम् । “प्रावृषष्ठः” [३३१२] इति ठोऽत्र न भवति । पथि सम्भूतं हिरण्यम् इत्यत्र “पथः पन्थः” [३३१६] इत्येष विधिर्न भवति ।

कुशलः ॥३३१५॥ तत्रेतीप्समर्थात्कुशल इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । खुन्ने कुशलः लौघ्नः । राष्ट्रियः । उत्तरोऽपवादविधिः । कुशलेऽर्थे यथा स्यादिति योगविभागः ।

पथो वुञ् ॥३३१६॥ पथिशब्दाद् वुञ् भवति तत्र कुशल इत्यस्मिन्विषये । पथि कुशलः पथकः ।

आकर्षादेः कः ॥३३१७॥ तत्र कुशल इति वर्त्तते । आकर्ष इत्येवमादिभ्यः को भवति । आकर्षे कुशलः आकर्षकः । आकर्ष । त्सर । पिशाच । पिचरड । अशनि । अस्सन् । निचयः । ह्रादः ।

कालात्साधुपुण्यत्पच्यमाने ॥३३१८॥ कालविशेषवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः साध्वादिष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति । हेमन्ते साधु, हैमन्तं वस्त्रम् । शौशिरं भोज्यम् । वसन्ते पुण्यन्ति, वासन्त्यो लताः । ग्रैभ्यो लताः । शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः । ग्रैष्मा यवाः । ऋतुलक्षणोऽण् सर्वत्र ।

उत्ते ॥३३१९॥ तत्रेति ईप्समर्थात्कालविशेषवाचिन उत्तेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति । शरदि उप्यन्ते शारदा यवाः । ग्रैष्माः शालयः । उत्तरार्थो योगविभागः ।

आश्वयुज्या वुञ् ॥३३२०॥ आश्वयुजीशब्दादीप्समर्थाद् वुञ् भवति उत्तेऽर्थे । आश्वयुज्यामुक्ता आश्वयुजका मुद्गाः । जित्करणमुत्तरार्थम् ।

ग्रीष्मवसन्ताद् वा ॥३३२१॥ ग्रीष्मवसन्तशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां वुञ् भवत्युत्तेऽर्थे वा । नित्यम् ऋतुणि प्राप्ते विकल्पः । ग्रीष्मे उताः ग्रीष्मका ग्रैष्मा वा शालयः । वासन्तका वासन्ता वा यवाः ।

देयमृणो ॥३३२२॥ तत्रेति वर्त्तते । कालादिति च । कालविशेषवाचिनः ईप्समर्थाद् देयमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्देयमृणं चेद्भवति । मासे देयमृणं मासिकम् । आर्षमासिकम् । सांवत्सरिकम् । ऋण इति किम् ? मासे देया भिन्ना ।

कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् बुञ् ॥३१३२३॥ कालाद् देयमृण इति च वर्तते । कलापिन् अश्वत्थ यवबुस इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यो बुञ् भवति देयमृणमित्येतस्मिन्नर्थे । ठञोऽपवादः । यस्मिन्काले मयूरा इक्षुवा वा कलापिनो भवन्ति स कालः तत्साहचर्यात्कलापी । यस्मिन्नश्वत्थानां फलं सोऽश्वत्थः । यस्मिन्यवबुसं भवति, सः यवबुसम् (सः) । कलापिनि काले देयमृणम्, कलापकम् । अश्वत्थकम् । यवबुसकम् ।

ग्रीष्मावरसमाद् बुञ् ॥३१३२४॥ ग्रीष्म अवरसम इत्येताभ्यां बुञ् भवति । तत्र देयमृणमिति वर्तते । ग्रीष्मे देयमृणम् ; ग्रीष्मकम् । श्रुत्वणोऽपवादः । आवरसमकम् । ठञोऽपवादः । अवरसमा, अवरसमम् । “तिष्ठद्गवादि” [१३११४] इति ह्रस्व इत्येके ।

संवत्सराप्रहायणीभ्यां ठञ् च ॥३१३२५॥ संवत्सर-आग्रहायणीशब्दाभ्यां ठञ् भवति बुञ् च । तत्र देयमृणमिति वर्तते । संवत्सरे देयमृणं संवत्सरिकम् । संवत्सरकम् । आग्रहायणिकम् । आग्रहायणकम् । वेति वक्तव्ये ठञ्ग्रहणं सन्ध्यादिषु “संवत्सराफलपर्वणोः” [ग० सू० ३।२।१३०] इत्यस्याणो बाधनार्थम् ।

रौति मृगः ॥३१३२६॥ तत्रेति वर्तते कालादिति च । कालविशेषवाचिन ईप्समर्थार्थं रौति मृग इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । निशायां रौति मृगः, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । “निशाप्रदोषाभ्याम्” [३१।३३४] इति ठञ्णौ । मृग इति किम् ? निशायां रौति उल्लूकः ।

तदस्य सोढम् ॥३१३२७॥ सोढमभ्यस्तम् । कालादिति वर्तमानमर्थार्थं वान्तं सम्पद्यते । तदिति वासमर्थकालविशेषवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तद्वासमर्थं सोढं चेत्तद् भवति । निशा सोढाऽस्य, नैशिकः । नैशः । प्रादोषिकः । प्रादोषः । साहचर्यान्निशादिशब्देनाध्ययन-मन्त्रेष्टम् ।

तत्र भवः ॥३१३२८॥ लब्धात्मलाभ उपलभ्यमानो भवः । तत्रेतीप्समर्थार्थं भव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । सौध्नः । राश्रियः । अनुवर्तते तत्रग्रहणं कालसम्बन्धम् (सम्बद्धम्), पुनस्तत्रग्रहणं कालनिवृत्त्यर्थम् । इह प्रायभवग्रहणं च कर्त्तव्यम् । अनित्यभवः प्रायभवः । सुध्ने प्रायभवः सौध्नो मनुष्यः । नित्यतो भवस्तत्र भवः । यथा सौध्नः प्राकारः । न कर्त्तव्यम् । तत्र भव इति प्रकृत्य “जिह्वामूला-ङ्गुलेः” [३१।३३८] छो विधीयते । स यथैव तस्मिन्ष्टापचारे अङ्गुलीयमित्यादौ भवति, एवं प्रायभवेऽपि भविष्यति ।

दिगादेर्यः ॥३१३२९॥ दिश् इत्येवमादिभ्यो यो भवति । तत्र भव इति वर्तते । अणुरङ्गस्य चा-यमपवादः । दिशि भवो दिश्यः । दिश् । वर्गः । पूगः । गणः । पक्षः । वापः । मित्रः । मेघः । अन्तरः । पथिन् । रहस् । अलीकः । उखा । साक्षिन् । आदि । अन्तः । मुखजवनग्रहणमदेहाङ्गार्थम् । सेना-मुखम् । सेनाजवनमिति । मेघः । यूथः । “उदकात्संज्ञायाम्” [ग० सू०] उदक्या स्त्री । औदकोऽन्यः । न्यायः । वंशः । अनुवंशः । वेशः । आकाशः ।

देहाङ्गात् ॥३१३३०॥ अङ्गमवयवः । देहाङ्गवाचिनो यो भवति तत्र भव इत्यस्मिन् विषये । अणोऽपवादः । तस्य तु परलादेव बाधकः । दन्तेषु भवः, दन्त्यः । ओष्ठ्यम् । मुख्यम् । तालव्यम् । इह तदन्तविधिवर्त्तक्यः । कण्ठतालव्यम् । दन्तोष्ठ्यम् ।

दृतिकुञ्जिकलसिबस्त्यस्त्रहेर्दञ् ॥३१३३१॥ इत्यादिभ्यो दञ् भवति । तत्र भव इति वर्तते । दृतौ भवं दार्त्तयम् । अणोऽपवादः । देहाङ्गत्वे यस्यापवादः । कलस्यां भवम् कालसेयम् । अणोऽपवादः ।

वास्तेयम् । यस्यापवादः । असृजस्त्यसन्नियोगेऽस्तिभावो निपात्यते । असृजि भवम्, आस्तेयम् । प्रकृत्यन्त-
रमस्तिशब्दः । आहेयं विषयम् । अणोऽपवादः ।

ग्रीवाभ्योऽण् ॥३१३३२॥ ग्रीवाः शिरोधमन्यः । ग्रीवाशब्दादण् भवति ढञ्च तत्र भव
इत्यस्मिन् विषये । यस्यापवादः । ग्रीवासु भवं ग्रैवम् । ग्रैवेयम् ।

गम्भीराञ्ज्यः ॥३१३३३॥ गम्भीरशब्दाञ्ज्यो भवति । गम्भीरे भवम्, गाम्भीर्यम् । अत्यल्प-
मिदम् । “गम्भीरबहिर्देवपञ्चजनेभ्य इति वक्तव्यम्” [वा०] बाह्यम् । देव्यम् । पाञ्चजन्यम् ।

हात् ॥३१३३४॥ तत्र भव इति वर्तते । हसंस्कान्मृदो ज्यो भवति । अणोऽपवादः । हसंशकेभ्यः
परिमुखादिभ्य एवेव्यते । परिमुखे भवम्, परिमुख्यम् । परिमुख परिहन् पर्योष्ठ पर्युल्लल परिशाल परिशील
अनुवीर उपवीर उपस्थूण उपवाल उपकपाल अनुपथ अनुरथ परिरथ अनुगङ्ग अनुतिल अनुमाष अनुयव
अनुयूथ अनुवंशो येषु परिपूर्वेषु वजनार्थप्रतीतिः, तेषां “पर्यपाद्बहिरुचवः कया” [१३११०] इति
हसः । अन्यत्र “क्लि” [३१११२] इति योगविभागात् । परिमुखादेरिति किम् ? औपकूलम् । हादिति
किम् ? परिगतं मुखं षते य एव भवति । परिमुख्यम् ।

अन्तरादेष्टञ् ॥३१३३५॥ हादिति वर्तते । अन्तःशब्दादेर्हाडञ् भवति । अणोऽपवादः । अन्तः-
शब्दे भित्तंशको विभक्त्यर्थः । अन्तर्गहे भवम्, आन्तर्गहिकम् । आन्तरगारिकम् । “पुरान्तात्प्रतिषेधो
वक्तव्यः” [वा०] अन्तःपुरे भवम्, आन्तःपुरम् । अत्रेष्टयः ।

“समानाच्च, तदादेशव, अध्यात्मादिषु चेव्यते । ऊर्ध्वाद्दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदादपि ॥” [वा०]

समाने भवम्, सामानिकम् । “तदादेशव” सामानग्रामिकम् । सामानदेशिकम् । “अध्यात्मादिषु” ।
आध्यात्मिकम् । आधिदैविकम् । आध्यात्मादिराकृतिगणः । ऊर्ध्वदमात्, और्ध्वदमिकम् । केचिदूर्ध्वशब्देन
समानार्थमूर्ध्व शब्दं मान्तं पठन्ति । तेषाम् और्ध्वन्दमिकम् । और्ध्वन्देहिकम् । “लोकोत्तरपदादपि” ।
ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् ।

“मुखपाश्वेतसोरीयः कुग्जनस्य परस्य च । ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ च हतौ मतौ ॥” [वा०]

मुखपाश्वर्मां तसन्ताभ्यामीयो वक्तव्यः । मुखतीयम् । पाश्वर्तीयम् । भेर्ममात्रे टिखम् इति टिखम् ।
कुग्जनस्य परस्य च । जनकीयम् । परकीयम् । “मध्यादीयो वक्तव्यः” । मधीयः । “मण्मीयौ च हतौ मतौ
मध्यादेश्व” । माध्यमः । मध्यमीयः ।

“मध्यो मध्यन्दिनश्चास्मादुप् स्थानो ह्यजिनात्तथा” [वा०] । मध्यशब्दो मध्यं रूपमा-
पद्यते । दिनश्चास्मात्यः । मध्ये भवम्, मध्यन्दिनम् । उप् स्थानान्तादजिनान्ताच्च वक्तव्यः । अश्वस्थाग्नि
भवः, अश्वस्थामा । वृकाजिने भवः, वृकाजिनः । अर्ण उप् ।

उपाज्जानुनीविकर्णात् ॥३१३३६॥ उपपूर्वभ्यो जानु नीवि कर्ण इत्येतेभ्यश्ठञ् भवति । तत्र
भव इति वर्तते हादिति च । उपजानु भवम्, औपजानुकम् । औपनीविकम् । औपकर्णिकम् । देशङ्गलक्ष्यस्य
यस्यापवादः । इह कस्मान्न भवति, अपजानु भवं गडिवति । अनभिधानात् ।

ग्रामात्पर्यन्वोः ॥३१३३७॥ हादिति वर्तते । परि अनु इत्येवंपूर्वाद् ग्रामशब्दादण् भवति तत्र भव
इत्यस्मिन्विषये । पारिग्रामिकः । आनुग्रामिकः । अणोऽपवादः ।

जिह्वामूलङ्गुलेरङ् ॥३१३३८॥ हादिति निवृत्तम् । तत्र भव इति वर्तते । जिह्वामूल-अङ्गुलि-
शब्दाभ्यां छो भवति । यस्यापवादः । जिह्वामूलीयः । अङ्गुलीयः ।

वर्गान्तात् ॥३१३३९॥ वर्गशब्दान्ताच्च छो भवति तत्र भव इत्यस्मिन्विषये । अशब्देऽपवादो
वक्ष्यते । शब्द इहोदाहरणम् । कवर्गीयो वर्णः । चवर्गीयः ।

यस्यौ वाऽशब्दे ॥३॥४०॥ तत्र भव इति वर्तते । वर्गान्तात् य ख इत्येतौ त्यौ वा भवतः शब्दा-
दन्यस्मिन्स्यार्थे । पूर्वेण नित्ये छे प्राप्ते विभाषेयम् । भरतवर्गे भवः, भरतवर्ग्यः । भरतवर्गीणः । भरत-
वर्गीयः । बाहुबलिवर्ग्यः । बाहुबलिवर्गीणः । बाहुबलिवर्गीयः ।

कर्णललाटभूषणे कः ॥३॥४१॥ तत्र भव इत्यस्मिन्विषये कर्णललाटशब्दाभ्यां को भवति
समुदायेन भूषणेऽभिधेये । कर्णिका । ललाटिका । स्वभावतः स्त्रीलिङ्गः । भूषण इति किम् ? कथम् ।
ललाटयम् ।

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्येयाख्यायाः ॥३॥४२॥ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम् ।
व्याख्यातव्यं व्याख्येयम् । तस्याख्या नाम व्याख्येयाख्या । तस्येति तासमर्थद् व्याख्येयाख्यारूपाद् मृदो
व्याख्यानेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति चकारात्तत्र भव इत्यस्मिंश्च वाक्यार्थे । इतिशब्दः पूर्ववाक्यपरि-
समाप्त्यर्थः । सुपां व्याख्यानं सुप्सु भवं वा सौपम् । मिङां व्याख्यानं मिङ्लु भवं वा मैङम् । एवं
कार्तम् । हार्त्तम् । व्याख्येयाख्याया इति किम् ? पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानं सुकौशला । पाटलिपुत्रं सुकौशलया
व्याख्यायते सन्निवेशहारेण । न पुनर्लोकै तद्व्याख्येयस्य ग्रन्थस्याख्याभूतम् । ननु च तस्य व्याख्याने
अर्थे “तस्येवम्” [३॥४२॥] इत्यनेनैव त्वविधिः सिद्धः । चकारानुकृष्टेऽपि तत्र भवेऽर्थे पूर्वमेव
स्यविधिरुक्तः । तत्किमनयोर्युगपदुपादानम् ? वक्ष्यमाणोऽपवादविधिः । व्याख्येयाख्याया अनयोरर्थयोर्थथा
स्यादित्येवमर्थम् ।

बहुचो बहुलं ठञ् ॥३॥४३॥ बहुचो व्याख्येयाख्याभूतान्मृदो बहुलं ठञ् भवति तस्य व्याख्याने
तत्र भवे चार्थे । अणादेरपवादः । बहुलग्रहणं बहुप्रपञ्चार्यम् । सविधौ ये बहुचः तेभ्यः ऋकारान्तब्राह्मण-
प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्यातपौरोडाशेभ्यः ऋतुभ्यश्च गौणमुख्येभ्यश्च भवति । सविधौ - षत्वणलस्य
व्याख्यानम्, षत्वणत्वे भवं षत्वणत्विकम् । ऋकारान्तात् - चातुर्हंतृकम् । पाञ्चहोतृकम् । ब्राह्मणिकम् ।
प्राथमिकम् । आध्वरिकम् । पौरश्चरणिकम् । नामाख्यातिकम् । विग्रहीतादपि । नामिकम् । आख्यातिकम् ।
पौरोडाशिकम् । मुख्येभ्यः ऋतुभ्यः - आग्निष्टोमिकम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । पाकयज्ञिकम् । माव-
यज्ञिकम् । गौणेभ्यः - पाञ्चौदनिकम् । दासौदनिकम् । ऋषिभ्योऽध्यायैर्भवति । वाशिष्टिकोऽध्यायः । वैश्व-
ामित्रिकोऽध्यायः । अन्यत्र वाशिष्टी ऋक् । तिस्रेषु न भवति । संहिताया व्याख्यानं तत्र भवं वा
साहितम् । बहुवृच इति किम् ? कार्तम् । हार्त्तम् । व्याख्येयाख्याया इत्येव । मथुरायां भवः, माथुरः ।

द्वयजृचः ॥३॥४४॥ द्वयचो मृद ऋक्छुब्दाच्च ठञ् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे ।
अणादेरपवादः । अजृस्य व्याख्यानम्, अजृ भवं वा आङ्गिकम् । पौर्विकम् । तार्किकम् । नामिकम् । ऋचां
व्याख्यानं ऋक्षु भवं वा आर्चिकम् ।

पुरोडाशाद् ॥३॥४५॥ पुरोडाशशब्दाद् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । पुरो-
डाशाः पिष्टपिण्डाः । साहचर्यात्तेषां संस्कारको मन्त्रोऽपि तथोक्तः । पौरोडाशिकी ।

छन्दसो यः ॥३॥४६॥ छन्दःशब्दाद्यो भवति तस्य व्याख्यान इत्येवासिन्विषये । द्वयजृलक्षण-
ठञोऽपवादः । छन्दसो व्याख्यानं छन्दसि भवं वा छन्दस्यम् ।

ऋग्यनादेश्राण् ॥३॥४७॥ ऋग्यन इत्येवमादिभ्यो मृदभ्यश्छन्दःशब्दाच्चाण् भवति तस्य
व्याख्याने तत्र भवे चार्थे । ऋग्यनस्य व्याख्यानः, ऋग्यने भवो वा, आर्ग्यणः । अणि परत ऋग्यनस्य

शास्त्रमिष्यते । ऋगयन । पदव्याख्यान । छन्दोव्याख्यान । छन्दोमान । छन्दोभाषा । छन्दोविजित । छन्दो-
विचिति । न्याय । पुनरुक्त । निरुक्त । व्याकरण । नियम । निगम । वास्तुविद्या । अङ्गविद्या । छत्रविद्या ।
उत्पात । उत्पाद । संवत्सर । मूहत्तं । निमित्त । उपनिषत् । भिद्य । इति ऋगयनादिः । छन्दस् । छन्दसः
पृथग्रहणं पूर्वेण यार्थम् । पुनरङ्ग्रहणं बाधकस्य ठञः छस्य च बाधनार्थम् ।

तत आगतः ॥३॥३॥४८॥ तत इति कायाम् अर्थात् आगत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति ।
खुध्नादागतः क्षौध्नः । राष्ट्रियः । मुख्यस्याऽपादानस्य सम्प्रत्ययः । खुध्नादागच्छन् वृक्षमूलादागत इति
वृक्षमूलशब्दाद्यो न भवति ।

आयस्थानेभ्यष्ठञ् ॥३॥३॥४९॥ द्रव्यागमनमायः । स यस्मिंस्तिष्ठत्युत्पत्तिद्वारेण तदायस्थानम् ।
तद्वाचिभ्यष्ठञ् भवति तत आगत इत्यस्मिन्विषये । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वादेव बाधकः । शुल्क-
शालाया आगतं शौल्कशालिकम् । आतरिकम्^१ । आपणिकम् । गौलिमकम् । दौवारिकम् । बहुत्वनिर्देशः
स्वरूपनिरासार्थः ।

शुण्डिकादिभ्योऽण् ॥३॥३॥५०॥ शुण्डाशब्दो मध्यवचनः, तस्मान्मत्वर्थीये ते (त्ये) कृते शुण्डिक
इति भवति । शुण्डिक इत्येवमादिभ्योऽण् भवति तत आगत इत्येतस्मिन्विषये । शुण्डिकादागतः शौण्डिकः ।
शुण्डिक । कृकण । स्थण्डिल । उदक । उद्गपन । उपल । तीर्थ । पिप्पल । भूमि । तृण । पर्ण ।
पुनरङ्ग्रहणं किम् ? आयस्थाने ठणः, “गेहादियुक्तकणाद् भारद्वाज” इति को विहितस्तस्याऽ-
पि बाधनार्थम् ।

यौनमौखादवुञ् ॥३॥३॥५१॥ जन्मसम्बन्धेन योनेरिमे, योनेरागता वा, यौनाः शब्दा
मातुलादयः । विद्यासम्बन्धेन मुखस्येमे, मुखादागता वा मौखा उपाध्यायादयः, ऋत्विगादयश्च । यौन-
मौखेभ्यः शब्देभ्यष्ठञ् भवति तत आगतेऽर्थे । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद् बाधकः । मातुला-
दागतं मातुलकम् । मातामहकम् । पैतामहकम् । मौखेभ्यः — उपाध्यायादागतम् । औपाध्यायकम् ।
आचार्यकम् । शौष्यकम् । आर्त्विजकम् ।

ऋतष्ठञ् ॥३॥३॥५२॥ ऋकारान्तेभ्यो यौनमुखे(मौखे)भ्यः शब्देभ्यष्ठञ् भवति तत आगतेऽर्थे ।
यौनेभ्यो आतुरागतं आतुकम् । स्वासुकम् । मातुकम् । मौखेभ्यः — होतुरागतं होतुकम् । पौतुकम् ।
औद्गातुकम् । पूर्वस्य वुजोऽपवादः ।

पितुर्यश्च ॥३॥३॥५३॥ पितृशब्दाद् य इत्ययं त्यो भवति ठञ् च तत आगतेऽर्थे । पितुरागतं
पितृम् । “रीडृतः” [५।२।१३६] रीडदेशः “यस्य ड्यान्व” [४।१।१३६] इतीकारस्य खम् ।
पदे पैतुकम् ।

वृद्धादङ्कुवत् ॥३॥३॥५४॥ वृद्धत्यान्तान्मृदः अङ्क इव यविधिर्भवति । वृद्धमिहापत्यमात्रम् । यथेह
भवति । गर्गाणामङ्क, गार्गाः । वैदः । “सङ्काङ्कलक्षणघोषेऽज्यजिनामणि” [३।३।१५] इत्यण् तथा गर्गभ्य
आगतम्, गार्गम् । वैदम् । अङ्कग्रहणे वृद्धान्तस्ये (द्धत्यान्तस्ये) दमर्थे तस्येदमर्थसामान्यं लक्ष्यते । तेन वुजोऽ-
प्यतिदेशः सिद्धः । औपगवा (ना) मिदम्, “वृद्धवरणाञ्जित्” [३।३।१६] इति जुनि कृते, औपगवकम् ।
नाडायनकम् । तथा औपगवादागतम् औपगवकम् । नाडायनकम् ।

१. आसरिकम् ब०, स० । २. -ङगतस्यैदमर्थं सामा—अ० । -ङ्घरस्येदमर्थं तस्येदमर्थसामा—
ब० । -द्वतस्येदमर्थं सामा—प० ।

हेतुमनुष्याद् वा रूप्यः ॥३३।५५॥ तत आगत इति वर्तते । हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च वा रूप्य इत्यर्थं ल्यो भवति । हेतुभ्यः कारणाद्, धेनोरागतं धेनुरूप्यम् । विश्वरूप्यम् । कररूप्यम् । पद्मे गेहादिलक्षणा-
श्छुः । समीयम् । विषमीयम् । पापीयम् । मनुष्येभ्यः-देवदत्तादागतं देवदत्तरूप्यम् । जिनदत्तरूप्यम् । पद्मे
देवदत्तकम् । जिनदत्तकम् । देवदत्तकल्पकम् । हेतौ का भवतीति मनुष्येभ्योऽपादानलक्षणा का ।

मयट् ॥३३।५६॥ हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च मयट् भवति तत आगतेऽर्थे । समाद्धेतोरागतं सममयम् ।
पापमयम् । मनुष्येभ्यः-देवदत्तादागतम्, देवदत्तमयम् । जिनदत्तमयम् । जिनदत्तमयी । योगविभागो यथा-
संख्यनिवृत्त्यर्थः ।

प्रभवति ॥३३।५७॥ तत इत्येव वर्तते । तत इति कासामर्थ्यान्नुद्ध्याम्मुदो यथाविहितं ल्यो
भवति । प्रथमं भवति प्रभवति । भवतिरिहोपलब्धिक्रियः, अनेकार्थत्वाद् धूनाम् । खुन्नात् प्रभवति, सौघ्नः ।
राष्ट्रियः । हिमवतः प्रभवति, हैमवती गङ्गा । दारदी सिन्धुः ।

विदूराज्यः ॥३३।५८॥ ततः प्रभवतीति अनुवर्तते । विदूरशब्दाज्यो भवति । अणोऽपवादः ।
विदूरात्प्रभवति, वैदूर्यो मणिः । यदि प्रथमं भवति प्रभवतीत्युच्यते बालवायादगिरेरसौ प्रभवति न विदूराजग-
रात् । कथं ततस्त्योत्पत्तिः ? एवं तर्हि “बालवायो विदूरश्च प्रकृत्यन्तरमेव वा । नैवं तत्रेति चेद्ब्रूयात् जित्वरी-
वदुपाचरेत् ॥” बालवायस्य लभते विदूरमादेशञ्च । यथा शिवादिषु विश्रवःशब्दो विश्रवणरवणादेशौ
अणं च लभते । प्रकृत्यन्तरमेव वा बालवायस्य विदूरशब्दः । अव्यविकन्यायेन विदूरादेव त्यः । नैवं तत्रेति
चेद्ब्रूयात् जित्वरीवदुपाचरेत् । यथा वाणिजाः वाराणसीं जित्वरीति मङ्गलार्थमुपाचरन्ति । एवं बालवायोऽप्यु-
पचाराद् विदूरशब्देनोक्तः । अथवा विदूरादेव मणित्वेन प्रभवति ।

तदगच्छति पथिदूतयोः ॥३३।५९॥ तदितीप्समर्थाद्गच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति
योऽसौ गच्छति पन्था दूतो वा चेद् भवति । खुघ्नं गच्छति, सौघ्नः । राष्ट्रियः । पन्था दूतो वा । पथिस्थेषु
गच्छत्सु पन्था गच्छतीत्युच्यते । पथिदूतयोरिति किम् ? खुघ्नं गच्छति सार्थः ।

अभिनिष्कामति द्वारम् ॥३३।६०॥ तदितीप्समर्थादभिनिष्कामतीत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति ।
अनभिनिष्कमणक्रियायां द्वारं करणं स्वातन्त्र्येण विवर्द्धितम् । यथा, असिश्छिनत्ति ।
धनुर्विधत्ति । द्वारस्थेषु च निष्कामत्सु द्वारं निष्कामतीत्युच्यते । खुघ्नमभिनिष्कामति पाटलिपुत्रस्य द्वारम्,
सौघ्नम् । राष्ट्रियम् । द्वारमिति किम् ? ‘मधुरामभिनिष्कामति वैदिस (श) स्य ग्रामः । खुघ्नमभि-
निष्कामति पुरुषः ।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ॥३३।६१॥ तदितीप्समर्थादधिकृत्य कृतेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तत्कृतं
ग्रन्थश्चेत्स भवति । सुलोचनामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौलोचनः । औदयनः । ग्रन्थ इति किम् ? सुलोचनाम-
धिकृत्य कृतः प्रासादः । “उसाऽख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम्” [वा०] वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽख्या-
यिका, वासवदत्ता । दोस्थ (छु) स्योस् । उर्वशी । सुमनोत्तरा । अण उस् । न च भवति मैमरथी ।

शिशुकन्दयमसभद्रन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छुः ॥३३।६२॥ तदधिकृत्य कृते ग्रन्थ इति वर्तते ।
शिशुकन्दयमसभ इत्येताभ्यां द्वन्द्वदिन्द्रजननादिभ्यश्च छो भवति । अणोऽपवादः । शिशुकन्दमधिकृत्य
कृतो ग्रन्थः, शिशुकन्दीयः । यमस्य सभा, यमसभम् । “सभाऽराजाऽमनुष्यात्” [३।३।११] इति नप् ।
यमसमीयः । द्वन्द्वात्, त्रिपृष्ठविजयीयः । भरतबाहुबलीयः । वाक्यपदीयम् । “द्वन्द्वे देवाऽसुरादिभ्यः प्रति-
षेधो वक्तव्यः” [वा०] दैवासुरम् । राक्षोऽसुरम् । गौणमुख्यम् । इन्द्रजननादिभ्यः-इन्द्रजननीयम् ।

प्रद्युम्नोदयनीयम् । प्रद्युम्नागमनीयम् । शी (सी) तान्वेषणीयम् । इन्द्रजननादिराकृतिगणः । शिशुकन्दादयोऽपि तत्रैव द्रष्टव्याः । देवासुरादिषु कृत्वादर्शनात् प्रतिषेधश्च न वक्तव्यः । प्रपञ्चो बालावबोधनार्थः ।

सोऽस्य निवासः ॥३१३॥६३॥ स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद् वासमर्थं निवासश्चेत्स भवति । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः । सुप्त्वं निवासोऽस्य सौचनः । राष्ट्रियः ।

अभिजनः ॥३१३॥६४॥ अभिजनः पूर्वे बान्धवाः । साहचर्यात्तैरुषितो देशोऽपि तथोक्तः । निवासो यत्र साम्प्रतमुच्यते (व्य)ते । स इति वासमर्थादभिजन इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । सुप्त्वं अभिजनोऽस्य, सौचनः । राष्ट्रियः ।

गिरेश्छुः शस्त्रजीविषु ॥३१३॥६५॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । गिरिवाचिनो वासमर्थादभिजनविशिष्टादस्येति ताऽर्थे छो भवति शस्त्रजीविष्वभिधेयेषु । हृद्गोलोऽभिजन एषां शस्त्रजीविनाम्, हृद्गोलीयाः । अस्वर्म । अस्वर्मीयाः । वेल । वेलीयाः । रोहितगिरि । रोहितगिरीयाः । गिरेश्छुः किम् ? साङ्गात्योऽभिजन एषां शस्त्रजीविनां साङ्गात्यकाः शस्त्रजीविनः । “बन्ध (धन्व) योः” [३१२॥११] इति बुज् । शस्त्रजीविष्विति किम् ? ऋद्धोदो गिरिरभिजन एषां ब्राह्मणानामन्येषां वा, आर्द्धोदाः । पृथु । पार्थवाः ।

शण्डिकादेर्यः ॥३१३॥६६॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शण्डिक इत्येवमादिभ्यो ज्यो भवति । अण्पादेरपवादः । शण्डिकोऽभिजनोऽस्य, शण्डिक्यः [शण्डिकः] । सर्वसेन । सर्वकेश । शक । शट् । चणक । शङ्ख । बोध । गोघ । अत्र कोङ्यः “कोङोऽण्” [३१२॥११०] इत्यण् प्रातः । इतरेभ्यः “बहुत्वेऽदोरपि” [३१२॥१०३] इति बुज् प्रातः ।

सिन्धुवादेरण् ॥३१३॥६७॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । सिन्धु इत्येवमादिभ्योऽण् भवति । सिन्धुरभिजनोऽस्य, सैन्धवः । सिन्धु । वर्य । मधुमत् । कम्बोज । कश्मीर । सत्त्व । एतेभ्यः कच्छादिवात् “नृत्तत्थयोः” [३१२॥११२] इति बुज् प्रातः । गन्धार । पञ्चाल । क्षिप्रिन्ध । गब्दिक । उरस् । दरद् । एतेभ्यः “बहुत्वेऽदोरपि” [३१२॥१०२] इति बुज् प्रातः । कैमेदुर । काण्डकार^१ । ग्रामणी । एतेभ्यश्छुः प्रातः ।

तूदीवर्मतीभ्यां ढण् ॥३१३॥६८॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । तूदीवर्मतीशब्दाभ्यां ढण् भवति । अणोऽपवादः । तूदी अभिजनोऽस्य, तौदेयः । वार्मतेयः ।

शालातुरकूचवाराच्छुरण्यौ ॥३१३॥६९॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शालातुरकूचवारशब्दाभ्यां छुरण्य इत्येतौ तौ भवतः । अणोऽपवादः^२ । शालातुरोऽभिजनोऽस्य, शालातुरीयः । कूचवार्यः ।

भक्तिः ॥३१३॥७०॥ सोऽस्येति वर्तते । अभिजन इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद् वासमर्थं भक्तिश्चेत् सा भवति । भव्यत भक्तिः । सुप्त्वं भक्तिरस्य, सौचनः । राष्ट्रियः ।

अदेशकालाट्टण् ॥३१३॥७१॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्तते । देशकालावचितौ । तत्पर्युदासादन्यस्याऽचितस्य ग्रहणम् । अचित्तवाचिनो मृदश्चणित्यं त्यो भवति । अणोऽपवादः । टस्य परत्वाद् बाधकः । अपूपा भक्तिरस्य, आपूपिकः । शाकुलिकः । पायसिकः । अदेशादिति किम् ? सौचनः । अकालादिति किम् ? शैशिरः ।

महाराजात् ॥३१३७२॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । महाराजशब्दादृण् भवति । महाराजो भक्ति-
रस्य, माहाराजिकः ।

अर्जुनाद् बुन् ॥३१३७३॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । अर्जुनशब्दाद् बुन् भवति । अर्जुनो-
भक्तिरस्य, अर्जुनकः । उत्तरसूत्रेण राजाख्याद् बुन् प्रातः ।

वृद्धराजाख्येभ्यो बुन् प्रायः ॥३१३७४॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । वृद्धाऽख्येभ्यो राजा
ख्येभ्यश्च प्रायो बुन् भवति । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद्वाचकः । वृद्धराजाख्येभ्य इत्यत्र “अत्रे”
[३१२।४] इति नियमात्कर्मणि “आतः कः” [३१२।३] न प्राप्नोति । मूलविभुजादिखात् “सुषि”
[३१२।७] इति [वा] भविष्यति । वृद्धाख्येभ्यः, ग्लुचुकायनिर्मक्तिरस्य ग्लौचुकायनः । औपगवो भक्तिरस्य,
औपगवकः । कापटवकः । राजाख्येभ्यः नकुलो भक्तिरस्य, नाकुलकः । साहदेवकः । वासुदेवो भक्तिरस्य,
वासुदेवकः । आख्याग्रहणं किमर्थम् ? अङ्ग वङ्गकलिङ्गादिग्रहणार्थम् । दुर्योधननकुलसहदेवग्रहणार्थं
च । यत्र सामान्येन विशेषेण वा प्रसिद्धा राजसंज्ञाऽस्ति तस्य सर्वस्य सङ्ग्रहार्थमित्यर्थः । प्रायोग्रहणात्कि-
ञ्चिन्न भवति । पाणिनो भक्तिरस्य, पाणिनीयः । पौरवीयः ।

राष्ट्रवत्तद्भूतानां सर्वं बहुत्वे सरूपाणाम् ॥३१३७५॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते । राष्ट्रस्येव
राष्ट्रवत् । बहुत्वे राष्ट्रेण समानशब्दानां तद्भूतानां राष्ट्रवत्सर्वं प्रकृतिस्तस्यश्च भवति । “राष्ट्राऽवध्योः”
[३१२।१०२] इत्यादिप्रकरणे विहितानामिहाऽतिदेशः । यथा, अङ्गा जनपदो भक्तिरस्य, अङ्गकः । वाङ्गकः ।
सौहकः । एवमङ्गाः क्षत्रिया भक्तिरस्य, अङ्गकः । सौहकः । तद्भूतामिति किम् ? पञ्चाला ब्राह्मणा भक्ति-
रस्य पाञ्चालः । सर्वग्रहणं किम् ? प्रकृतैरप्यतिदेशो यथा स्यात् । स च द्व्येकयोः प्रकृत्यतिदेशः (शं)
प्रयोजयति । यत्रैग्नमित्तभूतो हृदतिदेशो नास्ति । वृजेरपत्यं वार्यः । “द्वित्कुस्तुष्टाज्जादुर्गुरुकोशलाञ्ज्यः”
[३११।१५३] इति ज्यः । मद्रस्याऽपत्यं माद्रः । “द्वयस्मगश्च” [३११।१५२] इत्यादिनाऽण् । वार्यो भक्ति-
रस्य, माद्रो भक्तिरस्य, अत्र “वृजि [म] दात्कः” [३१२।१०६] इति कोऽतिदिश्यते । प्रकृतिरप्यदुसंज्ञाऽ
(रप्यत्रा) तिदिश्यते । वृजिकः । मद्रकः । वार्ज(र्य)को माद्रक इति मा भूत् । सरूपाणामिति किम् ? अंसषण्डो
जनपदः, तस्य पौरवो राजा; स भक्तिरस्य पौरवीयः । बहुत्वग्रहणं सारूप्योपलक्षणार्थम् । यद्यपि द्वित्वैकत्वयोः
सारूप्यं नास्ति तथाप्यतिदेशः सिद्धः । वाङ्गो वाङ्गौ वा भक्तिरस्य, वाङ्गकः ।

तेन प्रोक्तम् ॥३१३७६॥ तेनेति भासमर्थप्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । व्याख्यादिना
प्रकर्षणोक्तं प्रोक्तमिति गृह्यते, न तु कृतं यदन्येन कृतम् । गौतमेन प्रोक्तम्, गौतमम् । श्रीदत्तीयम् ।
सामन्तभद्रम् । आपिशलम् । “इजः” [३१२।८८] इत्यण् ।

शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन् ॥३१३७७॥ शौनक इत्येवमादिभ्यश्छन्दस्यभिधेये णिन् भवति तेन
प्रोक्तमित्यस्मिन्निषधे । दुभ्यश्छन्दस्य इतरेभ्यश्चाणोऽपवादः । “छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३१२।२६]
इति नियमादेकवाक्यम् । शौनकेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते शौनकिनः । “तद्वेत्स्यधीते” [३१२।२१]
इत्यागतस्याण “उपप्रोक्तात्” [३१२।२४] इत्युप् । शौनक । वाजसनेय । साङ्गरव । सापेय । सा(शा)ष्येय ।
‘ख्यादायन । स्कम्भ । स्कम्भ । स्तम्भ । देवदर्श । रज्जुभार । रज्जुकण्ठ । कठ । साठ । कौसायन । तल-
वकाल (२) । ‘पुरुषांसक । “काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां कल्पस्थाभ्यां प्रोक्तः स्मर्यते” । तस्योपचारा-

१. खादायन पू० । वोदायन अ० । २. स्कम्भ अ०, पू० । ३. पुरुषांसक इति गायारल-
महोदधौ ।

ञ्छन्दस्त्वम् । तेन तद्विषयतानियमः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पं विदन्ति, काश्यपिनः । कौशिकिनः । ऋषिभ्या-
मिति किम् ? इदानीन्तनेन काश्यपेन प्रोक्तम्, काश्यपीयम् । “कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यः” । कला-
प्यन्तेवासिनश्चत्वारः ।

“हरिदुरेषां प्रथमस्ततश्छगलितुम्बुरु । उरूपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते ।”

हरिद्रुणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, हरिद्रविणः । तौम्बुरविणः । औलपिनः । छगलिनो दिनियं वक्ष्यति ।
वैशम्पायनान्तेवासिनो नव ।

“आलम्बिनः प्रथमः प्राचां पलिङ्गकमलावुभौ । ऋचभागाहणौ ताण्ड्यो मध्यमीयास्ततोऽपरे ॥
श्यामायन उद्दिच्येयु तथा कठकलापिनौ ।”

आलम्बिना प्रोक्तमधीयते, आलम्बिनः । पालिङ्गिनः । कामलिनः । आर्चभागिनः । आरुणिनः ।
ताण्डिनः । श्यामायनिनः । कठादत्रैवोपं वक्ष्यते । उत्तरत्र कलापिनोऽणं वक्ष्यति । अन्तेवासिग्रहणेन प्रत्यक्ष-
शिष्यग्रहणम् । न तु व्यवहितानां शिष्यशिष्याणां ग्रहणं व्याख्यानात् । “पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु” [ग०सू०]
यत्तत्प्रोक्तं (यत्प्रोक्तं तत्) पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मणकल्पा भवन्ति । पुराणेन पुरातनेन ऋषिणा प्रोक्ताः,
पुराणप्रोक्ताः, ब्राह्मणानि च कल्पाश्च ब्राह्मणकल्पाः । भाल्लवेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते भाल्लविनः ।
‘वासायनिनः । ऐतरेयिणः । पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पैङ्गी । आरुणपराजी । कल्पस्य तद्विषयतानियमो
नास्ति । पुराणप्रोक्तेष्विति किम् ? याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । आश्रमरथः कल्पः । “शकलादिभ्यो वृद्धे”
[३।२।८७] इत्यण् । याज्ञवल्कादयोऽवरकाला इत्याख्यानेषु श्रुतिः । तद्विषयतानियमोऽपि प्रतिपदं ब्राह्मणेषु
भवति इति इह सोऽपि नास्ति । “कठचरकादुप्” [ग०सू०] । कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कठाः । वैशम्पायनान्ते-
वासिवाशिणन्, तस्योप् । चरक इति वैशम्पायनस्याख्या । चरकादछन्दस्येवेध्यते । चरकेण प्रोक्ताश्चरकाः
श्लोकाः । अण उप् । सर्वप्रवचनाभिधाने “वृद्धचरणान्वित्” [३।३।१४] इति वुन् भवत्येव । शौनकिना-
मिदम्, शौनकम्, इत्येवमादि योज्यम् । “पाराशर्यशिलादिभ्यां भिन्ननटसूत्रयोः” । पाराशर्येण प्रोक्तं भिन्नु-
सूत्रमधीयते, पाराशरियो भिन्नवः । शिलालिनो नटाः । गुणकल्पनया चात्र छन्दस्त्वम् तेन तद्विषयता
(भवति । भिन्ननटसूत्रयोरिति किम् ? पारा) शरम् । शैलालम् । “शकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७]
इत्यण् उत्तर्गश्च “कर्मन्दकृशाश्वाभ्यामिन्” । अत्रापि तद्विषयता, कर्मन्दिनो भिन्नवः । कृशाश्विनो
नटाः । भिन्ननटसूत्रयोरित्येव । कर्मन्दम् । कार्या (कार्शाश्वम्) । छन्दसीति किम् ? शौन-
कीया शिन्ना ।

तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छृण् ॥३।३।७८॥ छन्दसीति वर्तते, तेन प्रोक्तमिति (च) ।
तित्तिरि वरतन्तु खण्डिका उख इत्येतेभ्यश्छृण् भवति । अणोऽपवादः । तित्तिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते
विदन्ति वा तैत्तिरीयाः । खण्डिकीयाः । औखीयाः । छन्दसीत्येव । तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः, तैत्तिराः ।

कलापिनोऽण् ॥३।३।७९॥ छन्दसीति वर्तते । कलापिशब्दादण् भवति तेन प्रोक्तं इत्यस्मि-
न्विषये । वैशम्पायनान्तेवासित्वाशिणन् प्राप्तः । कलापिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कालापाः । “नोऽपुञ्चो
हृति” [४।४।१३०] इति टिक् प्राप्तम्, “प्रायोऽनपत्येखीनः” [४।४।१२५] इति प्रतिषिद्धम्, “समह-
ख्यार्थादेः” [४।४।१३१] इति पुनष्टिलम् । पुनरण्यग्रहणं किम् ? कचिच्छविषयेऽपि यथा स्यात् । तेन
सौलभानि ब्राह्मणानीत्येवमादि सिद्धम् ।

१. शाठ्यायनिनः अ०, पृ० । २. चरकादछन्दस्येव इत्यत्र अछन्दसीति, चरकाः श्लोका इत्यत्रो-
चिधानं च चिन्त्यम् । काशिकादौ छन्दसोत्येव । चारकाः श्लोका इत्यत्रानुवर्शनात् ।

छगलिनो द्विनिष् ॥३।३।८०॥ छन्दसीति वर्तते, तेन प्रोक्तमिति च । छगलिनशब्दाद्विनिष् भवति । नेरिकार उच्चारणार्थः । छगलिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, छगलेयिनः । कलाप्यन्तेवासिलक्षणस्य णिनोऽपवादः ।

एकदिक् ॥३।३।८१॥ छन्दसीति निवृत्तम् । तेन प्रोक्तमिति च निवृत्तमर्थान्तरग्रहणात् । एका दिग् यस्य तदेकदिक्, त्य (स) मानदिगित्यर्थः । भासमर्थादेकदिगित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक्, सौदामनी विद्यत् । “अनः” [३।३।१५८] इति टिप्पणाभावः । एवं हैमवती । त्रैककुदी ।

तस् ॥३।३।८२॥ तसित्ययं ल्यो भवति मृदः । तेनैकदिगित्यनुवर्तते । पूर्वसूत्रेणाणादयो घादयश्च भवन्ति । अयं च वचनाद् भवति । न तु बाध्यबाधकभावः । सुदाम्ना एकदिक् सुदामतः । हिमवतः । त्रिककुतः । तत्त्वान्तस्य स्वभावतो भिसंज्ञा ।

यश्चोरसः ॥३।३।८३॥ तेनैकदिगिति वर्तते । उरःशब्दात् य इत्ययं ल्यो भवति तश्च । अणोऽपवादः । उरसा एक दिक्, उरस्यः, उरस्तः ।

उपज्ञाते ॥३।३।८४॥ तेनेति वर्तते । तेनेति भासमर्थादुपज्ञातेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । विनोपदेशेन प्रथमं ज्ञातमुपज्ञातम् । स्वायम्भुवेनोपज्ञातं स्वायम्भुवीयमाकालिकाऽचाराऽध्ययनम् । दैवन्दिनमनेकशेषं व्याकरणम् ।

कृते ग्रन्थे ॥३।३।८५॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्कृतं ग्रन्थश्चेद् भवति । बलदेवेन कृताः, बालदेवाः श्लोकाः । वाररुचाः । सिंहनदीयाः । ग्रन्थ इति किम् ? तद्व्याकृतः प्रासादः ।

खौ ॥३।३।८६॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहितं ल्यो भवति समुदायेन खविषये । अग्रन्थेऽपि विधिरयम् । मन्त्रिकाभिः कृतं मातृक मधु । एवं गर्भुत्, गर्भुत्तम् । पुत्तिका, पौत्तिकम् । लुद्रा, लौद्रम् । सरघा, सारघम् । नर्मुक, नार्मुकम् । भ्रमर, भ्रामरम् । वटर, वाटरम् । वातप, वातपम् । छः कस्मान्न भवति । संज्ञाशब्दानां व्युत्पत्तिरियम् । न च छे कृते संज्ञा गम्यते ।

कुलालादेर्वुक् ॥३।३।८७॥ खाविति वर्तते । कुलाल इत्येवमादिभ्यो बुञ् भवति तेन कृतेऽर्थे । अणोऽपवादः । कुलालेन कृतम्, कौलालकम् । घटादिसमुदायस्येयं संज्ञा । कुलाल । वष्ट । कर्मार । चण्डाल । निषाद । सेना । सिलिच् । देवराजी । परिषत् । वधू । रुद्र । अस्य स्थाने रुद्रशब्दं केचित् पठन्ति । अनङ्गुह् । ब्रह्मन् । कर्मार । कुलाल । कुम्भकार । श्वपाक ।

तस्येदम् ॥३।३।८८॥ तस्येति तासमर्थादिदमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । तस्येति सामान्येन ताऽर्थमात्र इदमिति ताऽर्थसम्बन्धिमात्रं विवक्षितम् । उभयत्र लिङ्गसंख्याप्रत्यक्षपरोक्षत्वादिकमविवक्षितम् । उपगोरिदम्, औपगवम् । औत्सम् । राष्ट्रियम् । आङ्गकम् । अनन्तरादिष्वभिधानं नास्ति । देवदत्तस्यानन्तरम्, देवदत्तस्य समीपम् । विशतेरवयव एकः, शतस्य द्वौ, सहस्रस्य पञ्चेति । “संबोद्धः संबहिर्भावश्च स्वे वक्तव्यः” [वा०] । संबोद्धः स्वं सांवहित्रम् । “अग्नीषः शरणे वाच्ये रण्

१. सिलिम् अ० । सिलिन् पू० । सिलिन् इति काशिकायाम् । २. केचित् काशिकाकारा इत्यर्थः ।

वक्तव्यो भसंज्ञा च” [वा०] अग्नीध इदम्, आग्नीध्रम् । ‘समिधामाधाने ढेन्यण् वक्तव्यः’ [वा०] ।
सामिधेनी ऋक् ।

रथाद्यः ॥३॥३॥८६॥ तस्येदमिति वर्तते । रथशब्दाद्यो भवति । अणोरपवादः । रथाङ्ग एवेष्यते ।
रथस्येदं चक्रं युगं वा रथ्यम् । ‘रथसीताहलेभ्यो यविभौ तदन्तविधिरुपसंख्यातः’ [वा०] । परमरथ्यम् ।
रथाङ्ग इति किम् ? रथस्य स्थानम् ।

पत्रादण् ॥३॥३॥९०॥ पतन्ति तेनेति पत्रं वाहनम् । तत्पूर्वाद्रथशब्दादण् भवति । पूर्वस्य यस्याऽपवादः ।
अश्वरथस्येदं चक्रं युगं वाऽऽश्वरथम् । औष्ट्ररथम् । पुनरण्ग्रहणं छुवाघनार्थम् । रासभरथम् । युगम् ।
रथाङ्ग इत्येव । अश्वरथस्य स्वामी ।

पत्रात् ॥३॥३॥९१॥ पत्रं वाहनम् । तद्वाचिशब्दादण् भवति, तस्येदमित्यस्मिन्विषये । “पत्राद्
वाह्य एवेष्यते” [वा०] । अश्वस्येदं वाह्यम्, आश्वम् । उत्सर्गेण सिद्धमिति चेद्दुसंज्ञेषु न सिद्ध्यति ।
रासभस्येदं वहनीयम्, रासभम् ।

हलसौराट्ठण् ॥३॥३॥९२॥ तस्येदमिति वर्तते । हलसीरशब्दाभ्यां ठण् भवत्यणि प्राप्ते । हलस्येदं
हालिकम् । सैरिकम् ।

द्वन्द्वाद्वुन् वैरमैथुनिकयोः ॥३॥३॥९३॥ तस्येदमिति वर्तते । मैथुनिका विवाहनादिका क्रिया ।
द्वन्द्वाद्वुन् भवति वैरे मैथुनिकायां च । अणोऽपवादः । छुस्य तु परत्वादेव बाधकः । अहिनकुलिका ।
काकौलूकिका । वद्रवशालङ्कायनिका^१ । वुन्नन्तस्य स्वभावतः स्त्रीलिङ्गम् । मैथुनिकायां च । कुक्कासि(शि)का ।
कुक्कृष्णिका । अत्रिभरद्वाजिका । भरद्वाजशब्दादञ्, तस्य वृद्धे बहुत्वे “यञजोः” [११११३२] इत्युप्
कृतः । “वृद्धेऽच्यनुप्” [३१११७३] इति अनुप् कस्मान्न भवति । प्रथमादित्यधिकाराद् द्वितीयस्य न
भवति । अथ प्रथमस्याऽत्रिशब्दस्य यो हण् तस्याऽनुप् कस्मान्न भवति । अजादावव्यवहिते अपु (नु) ब्
भवति । भरद्वाजशब्देन चाऽत्र व्यवधानम् । अत्रेष्टिः । गर्गभृगूणामियं मैथुनिका गर्गभार्गवका । अत्र
वोरकादेशे कृते भृगुशब्दाद् योऽण् तस्य बहुत्वे “भृग्वत्रिकुत्स” [११११३६] इत्यनेनोप् प्रातः । “प्रथमा
ऽधिकारे द्वितीयस्यापि वृद्धेऽच्यनुप्वक्तव्यः” [वा०] । “देवासुरादिभ्यो वुनः प्रतिषेधो वक्तव्यः”
[वा०] । दैवासुरम् । राक्षोसुरम् ।

वृद्धचरणाञ्जित् ॥३॥३॥९४॥ तस्येदमिति वर्तते । वृद्धवाचिनश्चरणवाचिनश्च जिदिव जिद्भवति
वुन् । अनेनैव वुनो विधानम् । अयमणोऽपवादः । छुस्य तु परत्वाद् बाधकः । त्रिपृष्ठायनेरिदम्, त्रैपृष्ठायनकम् ।
ओपगवानामिदम्, ओपगवकम् । चरणानि वेदशाखाः । तद्योगादध्येतारोऽपि कठादयश्चरणाख्याः ।
“चरणाद्धर्माग्नाययोरेवेष्यते” [वा०] । कठानामयं धर्म आग्नायो वा काठकम् । कालापकम् ।
मौदकम् । पैपलादकम् । अध्वर्युशब्दस्य समुदायवाचित्वाच्चरणशब्दत्वमिह नेष्टम्, तेनाण्येव भवति ।
आध्वर्यवम् ।

सङ्घाङ्गलक्षणघोषेऽज्यविज्यामण् ॥३॥३॥९५॥ तस्येदमिति वर्तते । सङ्घादिषु चतुर्षु इदमर्थ-
विशेषणेषु अज्यन्ताद्यज्यन्तादिज्यन्ताच्चाण् भवति । पूर्वस्य वुनोऽपवादः । विदानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणं

१. वद्रवशालङ्कायनिका अ० । वद्रवशालङ्कायनिका पू० । बाभ्रव्यशालङ्कायनिका इति
काशिकायाम् ।

घोषो वा, वैदम् । यजन्तात् । गर्गाणां सङ्घः, अङ्को लक्षणं घोषो वा, गर्गम् । “व्यच्यनाद्घृत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यत्वम् । इजन्तात् । दाक्षम् । प्लाक्षम् । अणो णित्करणं स्त्रियां ड्यर्थम् । “ज्झिद्घृद्वर-
क्तविकारे” [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च । वैदी स्थूणा अस्य, वैदीस्थूणः । लक्ष्म्या (क्ष्य) गतं-
चिह्नं लक्षणं यथोपशमो मुनीनाम् । बाह्यसम्बन्धि गतं चिह्नमङ्कः, यथा गवां रेखा ।

शाकलाद् वा ॥३।३।९६॥ शाकलशब्दात्सङ्घादिषु इदमर्थविशिष्टेषु वाऽण् भवति चरणलक्षणे
नित्ये बुनि प्राप्ते विभाषेयम् । कथं चरणत्वम् ? शाकल्येन प्रोक्तमधीयते शाकलाः । प्रोक्ताऽर्थे “शाकलादिभ्यो
वृद्धे” [३।२।८७] इत्यण् । “व्यच्यनाद्घृत्यापत्यस्य” [४।४।१४१] इति यत्वम् । “तद्वेत्त्यधीते”
[३।२।१५१] इत्यागतस्याणो “उपप्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । शाकलानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणां,
घोषो वा, शाकलम् ।

छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबहुचनटाज्यः ॥३।३।९७॥ सङ्घादयो निवृत्ताः । सामान्येन तस्ये-
दमिति वर्तते । छन्दोग औक्थिक याज्ञिक बहुच नट इत्येभ्यो जो भवति । बुनोऽपवादः । नटशब्दादणो-
पवादः । छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यम् । औक्थिकानां धर्म आम्नायो वा, औक्थिक्यम् ।
याज्ञिक्यम् । बह्वीः ऋचोऽधीयते, बहुचाः । अः सान्तः । “तद्वेत्त्यधीते” [३।२।१५१] इत्यागतस्याणो
“रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । तेषां धर्म आम्नायो वा, बाहुच्यम् । चरणसाहचर्यान्नटशब्दादपि
धर्मांन्नाययोरेव ल्यः । नाट्यम् ।

न दण्डमाणवान्तेवासिषु ॥३।३।९८॥ दण्डप्रधाना माणवाः दण्डमाणवाः । आश्रमिणां
रक्षापरिचरणविधायिन इत्यर्थः । अन्तेवासिनो विनेयाः । वृद्धग्रहणमनुवर्तते । दण्डमाणवेषु अन्तेवासिषु
इदमर्थविशेषेषु तस्येदमित्यस्मिन्निषये वृद्धाद्यदुक्तं तत्र भवति । काण्डस्येमे काण्डाः । गौकस्यस्येमे, गौकज्ञाः ।
दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा । बुनि प्रतिषिद्धे “शाकलादिभ्यो वृद्धे” [३।२।८७] इत्यण् । दाक्षेरिमे
दाक्षाः । प्लाक्षाः । “इजः” [३।२।८८] इत्यण् ।

रैवतिकादेश्छुः ॥३।३।९९॥ तस्येदमिति वर्तते । वृद्धादिति च । रैवतिक इत्येवमादिभ्यो वृद्धेभ्यश्छो
भवति । बुनादेरपवादः । रैवतिकस्येदं रैवतिकीयम् । बुनः प्रकृते प्रतिषेधे कृते सामर्थ्याद् दोश्छः सिद्धः । नैवं
शक्यम् इजतात् “इजः” [३।२।८८] इति अण् प्राप्नोति सङ्घादिषु चाणः प्रतिषेधे बुन् प्रसज्येत ।
रैवतिक । गौरग्रीवि । स्वापिशि । क्षौमवृत्ति । क्षौमवृद्धि इति केचित्^१ । औदमेधि । औदवाहि । औद-
वापि । वैजवापि ।

कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ॥३।३।१००॥ कौपिञ्जलहास्तिपदशब्दाभ्यामण् भवति तस्येदमित्य-
स्मिन्निषये । वृद्धलक्षणस्य बुनोऽपवादः । कुपिञ्जल हास्तिपादशब्दाभ्यामपत्येऽर्थे त एव निपातनादण् । पादस्य
पदभावश्च । कौपिञ्जलस्येदं कौपिञ्जलं शकटम् । हास्तिपदं शकटम् । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे पुनरण्-
ग्रहणं “न दण्डमाणवान्तेवासिषु” [३।३।९८] इति बुनि प्रतिषिद्धे “दोः” [३।२।९०] इति छे प्राप्ते अण्
यथा स्यात् । कौपिञ्जला अन्तेवासिनो दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा ।

आथर्वणः ॥३।३।१०१॥ तस्येदमिति वर्तते । आथर्वण इति निपात्यते । आथर्वणिकशब्दादण्
निपात्यते इकस्य च खम् । चरणवाचि^२ शब्दादस्माद् बुन् प्रातः । अथर्वणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते,
आथर्वणिकाः । प्रोक्तार्थेऽण्य “नोऽणुतो इति” [४।४।१३०] इति टिखं प्रातम् ? “अनः”

[४।४।१५८] इति प्रतिषिद्धम् । आथर्वण इति स्थिते “छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।५६] इति नियमात् “तद्वेत्त्यधीते” [३।२।५९] इत्यपि प्राप्ते उक्थादिध्वाथर्वणशब्दस्य पाठात् ठण् । तत्र पाठसामर्थ्यादेव “उपगोक्तात्” [३।२।५४] इत्युभन भवति । आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा आथर्वणः । यस्तूक्थादिध्वाथर्वणशब्दः पठ्यते स उपचारान्छास्त्रवचनः अथर्वणं वेत्त्यधीते वा आथर्वणिकः । टिलाभा-वश्चात्र वक्तव्यः । अस्याप्याथर्वणिकशब्दस्येदं निपातनमिष्यते ।

तस्य विकारः ॥३।३।१०२॥ प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः । तस्येति तासमर्थाद् विकार इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । अदु यस्य च नाम्पत(त्यत्र) प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम् । अश्मनो विकार आश्मः । “श्वाश्मचर्मणां सङ्कोचविकारकोशेषु” [४।४।१३२] इति टिखम् । भस्मनो विकारः, भास्मनः । मार्त्तिकः । तार्क्वः । दैवदारवः । तैत्तिडीकः । वैत्वः । कापित्यः । पालाशः । प्रकृत्युपस- (म) देन यो विकारस्तत्रायं विधिः । तेनेह न भवति, आम्नं पकमिति । भवति पक्वाम्नस्य फलस्य विकारे न तु प्रकृत्युपमर्दि । तस्येति वर्तमाने पुनस्तस्य ग्रहणं शैषिकाणां घादीनां निवृत्त्यर्थम् । अतः परमोत्सर्ग एव भवति । अत्र केषाञ्चिद्युक्तिः पूर्वसूत्रादणीति वर्तते स इह विधीयमानः परत्वेन शैषि-काणां बाधकः ।

प्राणयोषधिवृद्धेभ्योऽवयवे च ॥३।३।१०३॥ प्राणिनश्चेतनावन्तः । फलपाकान्ता ओषधयः । पुष्पवन्तः फलवन्तश्च वृक्षाः । वृक्षविशेषत्वाद्वनस्पतिवीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम् । प्राणयोषधिवृद्धवा-चिभ्यस्तासमर्थेभ्योऽवयवे विकारे च यथाविहितं त्यो भवति । अवयव एकदेशः । प्राणिभ्य उत्तरत्र वक्ष्यते । ओषधिभ्यः, मूर्वाया अवयवो विकारो वा मौर्वे काण्डम् । मौर्वे भस्म । वृद्धेभ्यः-कारीरं काण्डम् । कारीरं भस्म । पैप्पलं काण्डम् । शातपत्रिकं काण्डं भस्म च । इह ओषधिवृक्षग्रहणं ज्ञापकम् । “अणौ धेः प्राणिर्बर्तुकात्” [१।२।८५] इत्येवमादिषु प्राणिग्रहणे वृक्षादीनां प्राणित्वेऽपि ग्रहणं न भवति । तस्य विकारः प्राणयोषधि-वृद्धेभ्योऽवयवे चेति द्वयमधिक्रियते । अयं तु विभागः । प्राणयोषधिवृद्धेभ्यः, अवयवविकारयोस्तस्यो विधिः । अन्येभ्यस्तु विकारमात्र एष्टव्यः ।

जातरूपेभ्यः परिमाणे ॥३।३।१०४॥ इहाऽसम्भवादवयवार्थो न सम्भव्यते । जातरूपवाचिभ्य-स्तान्तेभ्यो विकारविशेषे परिमाणे यथाविहितं त्यो भवति । बहुत्वनिर्देशात्स्वरूपस्य “तत्पर्यायवाचिनां च ग्रहणम् । इह युनि (दुनि) प्रयोजयन्ति । “नित्यं दुशरादेः” [३।३।१०६] इत्यनेन प्राप्तस्य मयदोऽपवादः । जातरूपस्य विकारो जातरूपो निष्कः । जातरूपं कार्षापणम् । हाटको निष्कः । हाटकं कार्षापणम् । परिमाण इति किम् ? हाटकमयी यष्टिः ।

प्राणितालादेः ॥३।३।१०५॥ तस्य विकारः प्राणयोषधिवृद्धेभ्योऽवयवे चेति वर्तते । प्राणिवाचिभ्य-स्ताल इत्येवमादिभ्यश्च यथाविहितं त्यो भवति । “नित्यं दुशरादेः” [३।३।१०६] इत्यस्य मयदोऽपवादः । सारसस्य विकारोऽवयवो वा सारसं मांसम् । सारसं सक्थि । काकं मांसम् । काकं सक्थि । अदबोऽपि ये प्राणिवाचिनः तेभ्यो “मयङ्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति पक्षे मयट् प्राप्नोति । तद्वाधना-र्थञ्चेदम् । कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कपोतम् । मायूरम् । तैत्तिरम् । पुरस्तादपवादोऽयमनन्तरस्य मयङ्क्विलस्य बाधको युक्तो नोत्तरस्य “नित्यसुट् (-स्थं दुश-) रादेः” [३।३।१०६] इत्यस्य । तत्कथं (-थमुः) भयोर्वाधा ? अनन्तरव्यवधानाभावात् सामान्यापेक्षया । तालादिभ्यः, तालस्य विकारः तालं धनुः । “तालाद्धनुष्येवेष्ट्यते” । अन्यत्र तालमयम् । तालाद्धनुषि । बर्हिण । इन्द्रालिश । इन्द्रदिश । इन्द्रायुध । चाप । श्यामाक । पीयूषन् । रक्षत । सीस । लोह । उदुव (ग्व) र । निहुदार (नीच दार) ।

रोहीतक । विभीतक । पीतदार । त्रिकण्टक । कण्टकार । काण्ड । गवेधुक^१ । पाटली । येऽत्राद्वः, तेभ्यः
“मयड्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति विकल्पेन मयटि प्राप्तेऽपवादः ।

त्रपुजतुनोः शुक् ॥३।३।१०६॥ त्रपुजतुशब्दाभ्यां यथाविहितमण् भवति तत्सन्नियोगेन च पुगा-
गमः । त्रपुणो विकारः, त्रपुषम् । जातुषम् ।

शम्याः छलज् ॥३।३।१०७॥ शमीशब्दाद्धलज् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । अण्योऽपवादः ।
शामीलं भस्म । शामीली लुक् ।

मयड्वैतयोरभक्षाच्छादनयोः ॥३।३।१०८॥ भक्ष्यमभ्यवहार्यम् । आच्छादनं वसनम् । तासमर्थान्-
न्मृदो वा मयड् भवति भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरर्थयोः । अद्रमनो विकारोऽश्ममयम् । आश्मम् ।
सिकतामयम् । सैकतम् । दूर्वामयम् । दौर्वम् । विकाराऽवयवौ प्रकृतावेव तत्किमर्थमेतयोरिति ग्रहणम् ? अनन्त-
रयोरपि योगयोरपवादज्ञाधनार्थम् । त्रपुमयम् । जतुमयम् । शमीमयमिति । अन्ये^२ कपोतमयम्, रजतमयम्,
लोहमयमित्यादि इच्छन्ति । तत्तेषां “प्राशिरजतादिभ्योऽज्” [३।३।१४ पा० सू०] इत्यस्य सूत्रस्य
व्याख्यानेन विरुध्यते । तस्मात्कपोतमयमिति चिन्त्यम् । अभक्ष्याच्छादनयोरिति किम् ? मौद्गः सूपः ।
कार्पासः प्रावारः ।

नित्यं दुशरादेः ॥३।३।१०९॥ अभक्ष्याच्छादनयोरिति वर्तते । दुभ्यः शरादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यो
भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरनित्यं मयड् भवति । दुभ्यः, आम्रस्य विकारोऽवयवो वा आम्रमयम् ।
शालमयम् । शरादिभ्यः, शरमयम् । शर । दर्भ । मृदु । कुटी । तृण । सोम । वल्वज । आरम्भान्नित्यत्वे
लब्धे नित्यग्रहणं किम् ? एकाचो नित्यं मयट् यथा स्यात् । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । ते नित्यं परङ्संज्ञादेशः ।
अथ विकारावयवयोर्यस्तदन्ताद्विकारावयवान्तरविवक्षायां मयट् कस्मान्न भवति । दैवदारवस्य विकारोऽवयवो
वा दैवदारवम् । दावित्यस्य, दावित्यम् । पालाशस्य, पालाशम् । शामीलस्य, शामीलम् । कापोतस्य, कापो-
तम् । औष्ट्रकस्य, औष्ट्रकम् । ऐण्येयस्य, ऐण्येयम् । कांस्यस्य, कांस्यम् । पारशवस्य, पारशवमिति । नैष दोषः,
समुदायशब्दोऽवयवेऽपि दृष्टः । इति विकारान्तरे अवयवान्तरे च विवक्षिते मूलप्रकृतैरेव ल्यः । तेन त्यान्तान्म-
यण भवति । अनभिधानाद्वा । यत्राभिधानमस्ति तत्र विकारान्तरेऽवयवान्तरे च ल्यो भवत्येव । गोमयस्य
विकारः, गौमयं भस्म । द्रुवयस्य विकारः, द्रौवयम् । कपित्थस्य फलस्य विकारः, कापित्थम् । आमलकस्य
फलस्य विकारः, आमलकमयम् । सर्वमयं मयट् दुसंज्ञकेभ्यः शरादिभ्यश्च नित्यं भवति । अन्येभ्योऽभक्ष्याच्छा-
दनयोर्वा भवति । जातरूपेभ्यः, प्राणितालादिभ्यश्चाण् भवति ।

पिष्टात् ॥३।३।११०॥ पिष्टशब्दाद् विकारेऽर्थे नित्यं मयड् भवति । पिष्टस्य विकारः, पिष्टमयम् ।
भक्ष्यत्वादण्येव प्राप्तः, तदपवादोऽयम् ।

कः खौ ॥३।३।१११॥ पिष्टशब्दात्को भवति खुविषये । अनन्तरस्य मयटोऽपवादः । पिष्टस्य विकारः
पिष्टिका ।

१. गवेधुका अ०, पू० । २. अन्ये काशिकाकाराः । चिन्त्यमिदम्—कपोतमयम्, लोहमयमित्या-
दीनां प्राशिरजतादिसूत्रव्याख्यानविरोधाभावात् । रजतादिपठितस्यानुदात्तादिशब्दस्यैव मयड्बाधकत्वम् ।
उदात्तादेस्तु अजमयदोहभयोरपि विधानस्य तत्रत्यन्यासग्रन्थे निर्णयितत्वात् । रजतमयमिति काशिकार्या
नास्त्येव । विस्तरस्तु काशिकान्यासे द्रष्टव्यः ।

तिलयवाद्स्त्रौ ॥३।३।११२॥ तिलयवशब्दाभ्यामखुविषये नित्यं मयङ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । तिलानामवयवो विकारो वा, तिलमयम् । यवमयम् । अखाविति किम् ? तैलम् । यावकः । “कोऽवि यावादेः [३।२।३५] इति स्वार्थिकः कः ।

गोत्रीहेः शकृत्पुरोडाशे ॥३।३।११३॥ गोत्रीहिशब्दाभ्यां यथासंख्यं शकृति पुरोडाशे च विकारोऽभिधेये नित्यं मयङ् भवति । गोमयं शकृत् । ब्रीहिमयः पुरोडाशः । शकृत्पुरोडाश इति किम् ? गव्यं पयः । ब्रह्म श्रोदनः ।

क्रीतवत्परिमाणात् ॥३।३।११४॥ क्रीत इव परिमाणवाचिनः त्वविधिर्भवति विकारे । परिमीयतेऽनेनेति परिमाणं परिच्छेदहेतुः न तु रुदिपरिमाणमेव । तेन संख्यायाः प्रस्थादीनां च ग्रहणम् । क्रीतार्थे ये त्या यस्मात्परिमाणाद्विहिताः, ते विकारेऽप्यर्थे तस्मादेव परिमाणादतिदिश्यन्ते । यथा भवति “तेन क्रीतम्” [३।३।३५] इत्यत्र । शतेन क्रीतः शतिकः, शत्यः । “शतादस्वार्थेऽस्ते ठयौ” [३।३।१८] इति । सहस्रेण क्रीतं, सहस्रम् “शतमानविंशतिसहस्रवसनादण्” [३।३।२४] इति ठयाणः । एवमिहापि शतस्य विकारः शत्यः, शतिकः, सहस्रः । यथा परिमाणाक्रीतार्थे “आर्हादण्” [३।३।१७] भवति । प्रस्थेन क्रीतः, प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खार्या क्रीतः खारीकः । “खारीकाकणीभ्यां कप्” [३।३।३०] इति कप् । एवं प्रस्थस्य विकारः प्रास्थिकः । क्रीडविकः । खारीकः ।

कोशैप्या ढञ् ॥३।३।११५॥ कोश एणी इत्येताभ्यां ढञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । कोशाद्बले प्रयोगः । कोशस्य विकारः, कौशेयं वस्त्रम्, आच्छादनम् । मयङ् नास्ति । अणोऽपवादः । एस्या विकारोऽवयवो वा, ऐरोयं मांसम् । ऐरोयं सक्थि । एणीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंस्यणोऽपवादः । ऐणं मृगम् (मांसम्) ।

उष्माद् बुञ् ॥३।३।११६॥ उष्मशब्दाद् बुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । प्राणिलक्षण्याऽणोऽपवादः । उष्मस्य विकारोऽवयवो वा, औष्मकम् ।

वोमोर्णात् ॥३।३।११७॥ उमा अतसी । उमाऊर्णाशब्दाभ्यां वा बुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः । उमाया विकारोऽवयवो वा औमकम् । पदे अण्मययौ । औमम् । उमामयम् । ऊर्णाया विकारः, और्णकम् । पदे पूर्ववदण्मययौ । और्णम् । ऊर्णामयम् ।

गोपयस्त्रोयः ॥३।३।११८॥ गो पयच् इत्येताभ्यां य इत्ययं ल्यो भवति विकारावयवयोरर्थयोः । गोर्विकारोऽवयवो वा गव्यम् । पयसो विकारः पयस्मम् ।

द्रोः ॥३।३।११९॥ द्रोः शब्दाद्यो भवति विकारावयवयोः । अण्मययोरपवादः । द्रव्यम् “प्राग्द्रोः” [३।१।६८] इत्यधिकार इत ऊर्ध्वं न प्रवर्तते ।

माने वयः ॥३।३।१२०॥ द्रुशब्दान्माने विकारविशेषे वय इत्ययं ल्यो भवति । पूर्वस्य यस्यापवादः । द्रुवयं मानम् ।

उपफले ॥३।३।१२१॥ फलमवयवविशेषो यथा पत्रम् । अवयवविशेषे फल उत्पन्नस्य त्यस्योन्मभवति । आमलक्या अवयवः फलम्, आमलकम् । मयट् उप । कुवल्या अवयवः फलम्, कुवलम् । वदरम् । अण्मययोरप । सर्वत्र “ह्रुष्टुप्” [३।१।१५] इति स्त्रीत्यस्योप् ।

सृक्षादिभ्योऽण् ॥३।३।१२२॥ सृक्ष इत्येवमादिभ्योऽण् भवति फलेऽवयवे विवक्षिते । सृक्षस्याऽवयवः फलं सृक्षम् । अण्मययौ प्रातौ, तयोश्च पूर्वणोप्प्रातः, तदपवादोऽयम् । न्यग्रोधस्याऽवयवः फलम्,

नैयग्रोधम् । “न्यग्रोधस्य केवलस्य” [५।२।१०] इत्यैप् । लृत् । न्यग्रोध । अश्वत्थ । इक्षुरी । शिग्रु । किततन्तु^१ । बृहती ।

जम्ब्वा चोश्च ॥३।३।१२३॥ फल इति वर्त्तते । जम्बूशब्दादवयवविशेषे फलेऽभिधेये वा उस् भवति अण् च । पक्षे उन्भवति । जम्ब्वा अवयवः फलम्, मयट उस्ति, जम्बूः फलम् । अणो वचनादुस् न भवति । जाम्बवं फलम् । उपि जम्बु फलम् ।

हरीतक्यादेः ॥३।३।१२४॥ उस्ति वर्त्तते फले इति च । हरीतक्यादिभ्यः फले अवयवे उस् भवति त्यस्य । हरीतक्या अवयवः फलम्, हरीतकी फलम् । हरीतकी । पिप्पली । कोशातकी । नखरजनी । चण्डी । दोडी । श्वेतपाकी । अर्जुनपाकी । शाला । काला । द्राक्षा । शृङ्गा । गङ्गुडिका । कण्टकारिका । शेफालिका । “येषां च पाकनिमित्तः शोषः, तेभ्यश्च उस् फले” [वा०] त्रीहयः । यवाः । माषाः । सुद्गाः । “पुष्पमूलेषु बहुलम्” [वा०] । मल्लिकायाः पुष्पम्, अवयवः, मल्लिका । नवमल्लिकाः । जाती । बृहत्या मूलमवयवः, बृहती । विगरी । अंशुमती । न च भवति उस् उवेव भवति । पाटलानि पुष्पाणि । शाल्वानि मूलानि । करवीरं पुष्पम् । कदम्बम् । अशोकम् । क्वचिदुभयोरभावः । वैष्णवानि फलानि । “जम्ब्वा हरीतक्यादिषु च उस्ति लिङ्गमेव उक्तवद् भवति न वचनम्” [वा०] । जम्बूः फलम् । जम्ब्वो फले । जम्ब्वः फलानि । हरीतकी फलम् । हरीतक्यो फले । हरीतक्यः फलानि ।

कांस्यपारशवौ ॥३।३।१२५॥ कांस्य पारशव इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । कंसीय-परशव्यशब्दयो र्थभिणोः परतश्छययोरुस् निपात्यते विकारेऽर्थे । यजश्चोरश्चोरनेनैव विधानम् । कांसार्थम्, कंसीयम् । परश्वर्थं परशव्यम् । “तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ” [३।३।११] इत्यनेन प्राकट्यशङ्कः । “उगावादेर्यः” [३।३।२] इति छयौ भवतः । कंसीयस्य विकारः, कांस्यम् । परशव्यस्य विकारः, पारशवम् ।

प्राग्याहुण् ॥३।३।१२६॥ “तद्वहति रथयुगप्रासङ्गाद्यः” [३।३।१६१] इति यो वक्ष्यते । प्रागेतस्माद्यसंशब्दनाद्येऽग्रे वक्ष्यन्ते तेषु ठण्धिक्रियते । वक्ष्यति “तेन दीव्यति खनति जयति जितम्” [३।३।१२७] इति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिक् । शालाक्षिक् । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषे त्यान्तरेण निवर्त्तितस्य उत्तरत्रोपस्थानं यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ॥३।३।१२७॥ तेनेति भासमर्थात् दीव्यति खनति जयति जितमित्येतेष्वर्थेषु ठण् भवति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिक् । शालाक्षिक् । अभ्रया खनति, आभ्रिक् । कौहालिकः । अक्षैर्जयति, आक्षिक् । शालाक्षिक् । अक्षैर्जितम्, आक्षिक् । शालाक्षिक् । सर्वत्र करणे भा द्रष्टव्या । तेनेह न भवति देवदत्तेन जितमिति । दीव्यत्यादिषु त्रिषु संख्याकालावविवक्षितौ । जितशब्दे कालो विवक्षितः । क्रियाप्रधानत्वेऽप्याख्यातस्य ह्रस्वभावादेव कारकाभिधायी । आक्षिक् दीव्यतीत्यनुप्रयोगः सन्देहनिवृत्त्यर्थः ।

संस्कृतम् ॥३।३।१२८॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वक्ष्यमाणात्संख्यासंस्कृतस्य क्रो भेदः । सतो गुणाभिधानं संस्कारः । मिश्रणमात्रं संसर्गः । दध्ना संस्कृतं दाक्षिक् । शार्ङ्गवेरिक् । मारीचिक् । “संस्कृतं भक्षाः” [३।२।११] इत्येतदाधारविवक्षायामुक्तम् ।

कुलत्थकोडोऽण् ॥३।३।१२९॥ तेनेति संस्कृतमिति च वर्त्तते । कुलत्थशब्दात्ककारोडश्च मृदोऽण् भवति । ठणोऽपवादः । कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम् । कोडः, तैत्तिडीक् । दार्दरुक् ।

तरति ॥ ३।३।१३० ॥ तेनेति वर्तते । भासमर्थात्तरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उडुपेन तरति औडुपिकः । काण्डस्रविकः । सारस्रविकः । गौपुच्छिकः ।

नौद्वयचष्टः ॥ ३।३।१३१ ॥ तेनेति तरतीति च वर्तते । नौशब्दाद्द्वयचष्टश्च मृदुशो भवति । ठणोऽपवादः । नावा तरति नाविकः । नाविका स्त्री । द्वयचः, घटेन तरति घटिकः । स्रविकः । बाहुकः ।

चरति ॥ ३।३।१३२ ॥ तेनेति वर्तते । चरतिरिह भक्षणाथो गत्यर्थश्चेष्टः । तेनेति भासमर्थाच्चरति इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । इह तु करणे भा । शकटेन चरति, शाकटिकः । हारितकः ।

पर्पादिष्टट् ॥ ३।३।१३३ ॥ तेनेति चरतीति च वर्तते । पर्प इत्येवमादिष्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । पर्पेण चरति, पर्पिकः । पर्पिकी । अश्विकः । अश्विकी । पर्प । अश्व । ऊषर । अश्वस्थ इति केचित् । रथ । जाल । व्यास । पादः पञ्च । पदिकः । पदिकी ।

श्वगणाद्वा ॥ ३।३।१३४ ॥ तेनेति चरतीति वर्तते । श्वगणशब्दाद् वा ठङ्भवति । पक्षे ठण् । श्वगणेन चरति, श्वगणिकः । श्वगणिकी । श्वागणिकः । श्वागणिकी । ठणि श्वशब्दस्य द्वारादित्वाद्वादेशः प्राप्तः “श्वदेशावतः” [२।२।१३] इति प्रतिषेधः ।

वेतनादेर्जीवति ॥ ३।३।१३५ ॥ तेनेति वर्तते । वेतनादिभ्यो भान्तेभ्यो जीवतीत्यस्मिन्नर्थे यथा विहितं ल्यो भवति । वेतनेन जीवति, वैतनिकः । वेतन । बाहु । अर्द्धबाहु । उस् । दण्ड । धनुर्दण्ड । धनुर्दण्डग्रहणे सङ्घातविग्रहीतार्यम् । वेश । उपवेश । प्रेषण । भृति । जाल । उपस्थ । सुख । शष्प । शक्ति । उपनिषत् । भिक् (लक्) । पाठ । उपस्थान ।

वस्नक्रयविक्रयाद्वा ॥ ३।३।१३६ ॥ तेनेति जीवतीति च वर्तते । वस्न-क्रयविक्रयशब्दाभ्यां ठो भवति । वस्नं मूल्यम्, वस्नेन जीवति, वस्निकः । क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयविक्रयिकः । उभयथा वाक्याश्रयणा-त्क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयिकः । विक्रयिकः ।

छुश्चायुधात् ॥ ३।३।१३७ ॥ आयुष्यतेऽनेनेत्यायुधम् । प्यध्यर्थ (घञर्थे) कविषानं स्थास्नापा-व्यञ्जिहिन्युध्यर्थमिति । आयुधशब्दाद् भासमर्थाच्छ्व भवति ठश्च जीवतीत्यर्थे । आयुधेन जीवति आयुधीयः । आयुधिकः । आयुधिका स्त्री ।

हरत्युत्सङ्गादेः ॥ ३।३।१३८ ॥ तेनेति वर्तते । उत्सङ्ग इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यो हरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । उत्सङ्गेन हरति, औत्सङ्गिकः । उत्सङ्ग । उडुप । उत्तुप । उत्प्लुत । उत्प्लुत) । पिटक । पिटाक ।

ठङ्भस्त्रादेः ॥ ३।३।१३९ ॥ भस्त्रा इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यश्च ठङ् भवति । भस्त्रया हरति, भस्त्रिकः । भस्त्रिकी । भस्त्रा । भरट् । भरण । शीर्षभार । अंसभार । अंसेभार ।

वा विवधवीवधात् ॥ ३।३।१४० ॥ तेनेति हरतीति वर्तते । विवधवीवधशब्दाभ्यां वा ठङ् भवति, तेन मुक्ते ठण् भवति । विवधेन हरति, विवधिकः । वीवधिकः । ठणि । वैवधिकः । स्वदेशान्वाधति^१ (विवा-धते)वीवधः पर्याहार इत्यर्थः । तद्योगात्पथा अपि तथोच्यते । विवधशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्वा दीत्वम् ।

अण् कुटिलिकायाः ॥ ३।३।१४१ ॥ कर्मारणामङ्कारापकर्षणी, मृद्गतां (त) पलालोत्क्षेपणो दण्डः, परित्राजकानां त्रिदण्डधारणम् । कुटिलिका । कुटिलिकाशब्दाद् भासमर्थादण् भवति हरत्यस्मिन्नर्थे । कुटिलिकाया हरति, कौटिलिकः कर्मारः कर्षकः, परित्राजको वा । अन्यत्रापि प्रयोगोऽभ्यूहः ।

निर्वृत्तेऽञ्जघृतादेः ॥३॥१४२॥ हर्तीति निवृत्तम् । तेनेति वर्तते । अञ्जघृतादिभ्यो भासमर्थेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे ठण् भवति अञ्जघृतेन निर्वृत्तम्, अञ्जघृतिकम् । अञ्जघृत । जङ्घाप्रहत । जङ्घाप्रहत । पादस्वेदन । कण्टकमर्दन । शर्करामर्दन । गतागत । यातोपयात । अनुगत ।

भावदिमः ॥३॥१४३॥ तेनेति निर्वृत्त इति च वर्तते । भाववाचिनो मृदो भासमर्थान्निर्वृत्तेऽर्थे ह्रस्व इत्ययं ल्यो भवति । कुट्टेन निर्वृत्ता, कुट्टिमा भूमिः । सेकिमोऽसिः । पाकिम ओदनः ।

त्रेः ॥३॥१४४॥ व्यन्ताच्च इमो भवति तेनेति निर्वृत्तेऽर्थे । पूर्वेण सिद्धे पुनरागमो वाक्यनिवृत्त्यर्थः । अस्वपदेनार्थः प्रदर्श्यते । पाकेन निर्वृत्तम्, पक्विमम् । वापेन निर्वृत्तम्, उष्णिमम् । करणेन निर्वृत्तम्, कृत्रिमम् । भावे “द्विवचः क्विः” [२१३।७०] इति क्विः ।

नित्यम् ॥३॥१४५॥ व्यन्तं नित्यमिवविषयं वेदितव्यम् । यथाऽन्ये भाववाचिनो निर्वृत्तार्थादन्यत्रापि प्रयुज्यन्ते । पाको वर्तते । सेको वर्तते, इति निर्वृत्तार्थे वाक्यं वृत्तिश्च भवति, तथा व्यन्तस्य त्रैलोक्यं मा भूत् इत्येवमर्थमिदमुच्यते । पूर्वेण वाक्यनिवृत्तिः कृताऽनेनेमविषयादन्यत्र प्रयोगो निषिध्यते ।

याचित्ताऽपमित्यात्करण ॥३॥१४६॥ तेनेति निवृत्तमिति च वर्तते । याचित-अपमित्यशब्दाभ्यां कण् भवति । याचितेन निर्वृत्तं याचितकम् । आपमित्यकम् । “माहो व्यतिहारे” [२१४।५] इति त्वात्यः । “वेमैः” [४१४।६१] इत्वम् । अभ्रान्तादपि वचनाच्चः । अपमित्य इत्यनेन निर्वृत्तम् इत्येवं विग्रहे शब्दान्तरेण करणत्वं व्यज्यते ।

संसृष्टे ॥३॥१४७॥ तेनेति वर्तते । भासमार्थान्मृदः संसृष्टेऽर्थे ठण् भवति । संसृष्टं मिश्रितम् । दध्ना संसृष्टम्, दाधिकम् । मारीचिकम् । “चूर्णादिन् वक्तव्यः” [वा०] । चूर्णेन संसृष्टाः, चूर्णिनो धानाः । चूर्णिनोऽपूपाः । इह कस्मान्न भवति, लवणेन सैन्धवादिना संसृष्टमिति ? अनभिधानात् । कथं लवणः सूपः, लवणं शाकम्, लवणा यवागूरिति ? गुणवाचिनो लवणशब्दस्य तद्योगात् द्रव्ये वृत्तिरियम् । यथा कषायमुदकम् । कटुकमुदकमिति ।

मुद्गादण् ॥३॥१४८॥ मुद्गशब्दाद् भान्तादण् भवति संसृष्टेऽर्थे । ठणोऽपवादः । मौद्ग ओदनः ।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥३॥१४९॥ तेनेति वर्तते । समर्थविभक्त्युपादानं तस्यैव व्यक्तये । व्यञ्जन-वाचिभ्यो भासमर्थेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ठण् भवति । दध्ना उपसिक्तं दाधिकं भक्षम् । घातिकः सूपः । व्यञ्जनैरिति किम् ? उदकेन उपसिक्त ओदनः । बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः ।

ओजः सहोऽभ्रसा वर्तते ॥३॥१५०॥ तेनेति वर्तते । निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । ओजः प्रभृतिभ्यो भासमर्थेभ्यो वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । ओजसा वर्तते, ओजसिकः । साहसिकः । आभ्रसिकः ।

तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलात् ॥३॥१५१॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवपूर्वेभ्यः ईपलोमकूलशब्देभ्यो वर्तत इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वृत्तिः क्रियासामान्ये वर्तमानः सकर्मकः । वर्तते आचरतीत्यर्थः । अपः प्रति, प्रतीपम् । “वीप्सेत्थंभुवल्क्षणेऽभिनेप्” [११४।११] । “भागे चानुप्रति-परिणा” [११४।१२] इति लक्षणेऽर्थे ईप् “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिनेषी” [११४।११] इति ह्रस्वः । “द्वयन-गैरीदपः” [४।३।२०२] इति ईत्वम् । भावप्रधाना चेयं वृत्तिः । समुदायात्कर्मणीप । प्रतीप वर्तते प्राती-पिकः । अनुर्यथायं वर्तमानः अप्रशब्देन सह ह्रस्वो भवति । आन्वीपिकः । प्रतिलोम वर्तते, प्रातिलोमिकः ।

आनुलोमिकः । हसे कृते “प्रत्यन्ववात्सामोमः” [४।३।७१] इति अः सान्तः । प्रातिकूलिकः ।
आनुकूलिकः । अथवा प्रतिगता आपोऽस्मिन्निति प्रतीयम् इति । एवं सर्वत्र वसः कर्तव्यः ।

परिमुखम् ॥३।३।१५२॥ तदिति वर्तते । परिमुखशब्दात् इप्समर्थाद् वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । मुखात्परि परिमुखम् । “वर्जनेऽपपरिभ्याम्” [१।३।२१] इति का । “पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया” [१।३।१०] इति हसः । परिमुखं वर्तते पारिमुखिकश्चौरः । सर्वतो मुखं वा परिमुखम् । प्रादिलक्ष्णः सः । पारिमुखिकः । “परिपाश्वीञ्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । पारिपार्श्विकः ।

प्रयच्छति गह्वम् ॥३।३।१५३॥ तदिति वर्तते । तदिति इप्समर्थात्प्रयच्छति इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तदिप्समर्थं चेत्तद् भवति । द्विगुणं प्रयच्छति, द्वैगुणिकः । त्रैगुणिकः । “(वृ) द्वेष्टणि वृष्टुषि-भावो वक्तव्यः” [वा०] । वृद्धिं प्रयच्छति वार्धुषिकः । यदि प्रकृत्यन्तरमस्ति, अव्यविकन्यायेन तस्मादेव ल्यः । गह्वमिति किम् ? द्विगुणं प्रयच्छत्यधमर्णः ।

कुसीददशैकादशावृष्टौ ॥३।३।१५४॥ तत्प्रयच्छति गह्वम् इति च वर्तते । कुसीद-दशैकादश-शब्दाभ्यां प्रयच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथासंख्यं ठट् ठ इत्येतौ ल्यौ भवतः ठणोऽपवादौ । कुसीदम् अष्टाणं वृद्धिर्वा । कुसीदं प्रयच्छति, कुसीदिका । कुसीदिकी । एकादशार्था दश दशैकादश निपातनात्सः । तान् प्रयच्छति, दशैकादशिकी । दशैकादशिका ।

रक्षत्युञ्छति ॥३।३।१५५॥ तदिति इप्समर्थाद् रक्षति उञ्छति इत्येतयोरर्थयोष्टण् भवति । समाजं रक्षति, सामाजिकः । नागरिकः । वदराण्युञ्छति वादरिक । नैवारिकः ।

शब्दददुर्ं करोति ॥३।३।१५६॥ इप्समर्थाभ्यां शब्दददुर्शब्दाभ्यां करोत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शब्दं करोति, शाब्दिकः । वैयाकरण इत्यर्थः । दार्दुरिकः कुम्भकारः । तदित्यधिकारे पुनः समर्थविभक्त्युपादानं लौकिकप्रयोगाऽनुसरणार्थम् । तेनेह न भवति । शब्दं करोति वायसः । “अस्मिन्प्रकरणे तदाहेति भाशब्दाद्विभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] माशब्द इत्याह माशब्दिकः । नैत्यशब्दिकः । कार्यशब्दिकः । वाक्यादिदं विधानम् । “प्रभूताद्विभ्यश्च” [वा०] तदाहेति वर्तते । प्रभूतमाह प्राभूतिकः । पार्याप्तिकः । “पृच्छतौ सुस्नाताद्विभ्य इप्समर्थेभ्यः” [वा०] । सुस्नातं पृच्छति, सौस्नातिकः । सौखरात्रिकः । सौखशायनिकः । “गच्छतौ परदाराद्विभ्य इप्समर्थेभ्यः” [वा०] । परदारं गच्छति, पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ।

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ॥३।३।१५७॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः पक्षिमत्स्यमृगेभ्यो हन्तीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । स्वरूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणाञ्च ग्रहणम् । पक्षिणो हन्ति, पक्षिकः । नास्त्यस्याभिधानमित्येके । पर्यायशब्दस्य शकुनेरेव ग्रहणम् । शाकुनिकः । तैत्तिरिकः । मायूरिकः । मत्स्य, मात्स्यिकः । पर्यायस्य मीन-शब्दस्यैव अग्निमिषादिषु न भवति । शाकरिकः । रौहितिकः । मृग, मार्गिकः । हारिणिकः । सौकरिकः । साराङ्गिकः ।

परिपन्थं तिष्ठति ॥३।३।१५८॥ परिपन्थशब्दादिप्समर्थात् तिष्ठतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति “काष्ठ-भावाऽन्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्” [वा०] इति कर्मभावादिप् । परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः । पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः । “हन्तास्त्यपि वक्तव्यम्” [वा०] । परिपन्थं हन्ति, पारिपन्थिकः । परिपथपर्यायः परिपन्थशब्दोऽस्ति तस्यायं प्रयोगः ।

माथद्युपदव्यनुपदाक्रन्दं धावति ॥३।३।१५९॥ तदिति वर्तते । माथद्यु पदवी अनुपद आक्रन्द इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो धावतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । माथशब्दो मार्गपर्यायः । दण्डमाथं धावति, दण्ड-

माथिकः । मौलमाथिकः^१ । पदस्य वी पदवी । “वेजो ङित्” इति इकारो ङित् । “सर्वतोऽवत्यथादित्येके” [३।१।३१ ग० सू०] इति ङीविधिः । तां धावति, पादविकः । पदस्य पश्चाद्धावतीति, अनुपदिकः । आक्रन्दिकः ।

पदद्योगृह्णाति ॥३।३।१६०॥ तदिति वर्तते । पदद्युशब्दाद् इप्समर्थ्याद् गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । आदिपदं गृह्णाति, आदिपदिकः । पौर्वपदिकः । औत्तरपदिकः ।

प्रतिकण्ठललामार्थात् ॥३।३।१६१॥ तदिति गृह्णातीति च वर्तते । प्रतिकण्ठ ललाम् अर्थं इत्येतेभ्य इप्समर्थ्येभ्यो गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । कण्ठं प्रति, प्रतिकण्ठम् । “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती” [१।३।११] इति हसः । प्रतिकण्ठं गृह्णाति, प्रातिकण्ठिकः । प्रतिगतः कण्ठः, प्रतिकण्ठः इत्यत्राभिधानं नास्ति । “पुरुषध्वजशृङ्गेषु हविर्भूषणलक्ष्मसु । वामश्रेष्ठावनीन्द्रेषु ललामं नवसु स्मृतम् ॥” लालामिकः । आर्थिकः ।

धर्मं चरति ॥३।३।१६२॥ धर्मशब्दादिप्समर्थ्याच्चरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । तदिति वर्तमाने पुनः समर्थविभक्त्युपादानं किम् ? आसेवायां यथा स्यात् । मुहुर्मुहुर्धर्मं चरति, धार्मिकः । “अधर्माच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] । आधार्मिकः ।

प्रतिपथमेति ठञ्च ॥३।३।१६३॥ प्रतिपथशब्दादिप्समर्थ्यादेतीत्यास्मिन्नर्थे ठो भवति ठण् च । प्रतिपथमेति, प्रतिपथिकः । प्रातिपथिकः ।

समवायात्समवैति ॥३।३।१६४॥ समवायवाचिभ्य इप्समर्थ्येभ्यः समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । बहुलनिर्देशात्तस्य तत्पर्यायाणां च ग्रहणम् । समवायं समवैति, सामवायिकः । सामूहिकः । सामाजिकः । सांसदिकः ।

परिषदो ण्यः ॥३।३।१६५॥ तदिति वर्तते । परिषच्छब्दादिप्समर्थ्यात् समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ण्यो भवति । ठणोऽपवादः । परिषदं समवैति, पारिषद्यः ।

सेनाया वा ॥३।३।१६६॥ सेनाशब्दादिप्समर्थ्याद्वा ण्यो भवति समवैतीत्यस्मिन्नर्थे । पक्षे ठण् भवति । सेनां समवैति सैन्यः । सैनिकः ।

लालाटिककौककुटिकौ ॥३।३।१६७॥ लालाटिककौककुटिकशब्दौ निपात्येते । ललाटकुकुट्टीशब्दाभ्यामिप्समर्थ्याभ्यां पश्यतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्येते । ललाटं पश्यति, लालाटिकः सेवकः । कुककुट्टीशब्देन कुककुट्टीपातमात्रो देशो लक्ष्यते । कुककुट्टीं पश्यति, कौककुट्टिको भिन्नुः । पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षीत्यर्थः ।

तस्य धर्म्यम् ॥३।३।१६८॥ धर्म्यं न्याय्यम् । तस्येति तासमर्थ्याद् धर्म्यमित्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शुल्कशालाया धर्म्यम्, शौल्कशालिकम् । आतरिकम् । आपणिकम् ।

श्रुन्महिष्यादेरण् ॥३।३।१६९॥ तस्य धर्म्यमिति वर्तते । श्रुत्कारान्तान्मृदः महिषी इत्येवमादिभ्यश्चाण् भवति । ठणोऽपवादः । मातुर्धर्म्यं मात्रम् । पैत्रम् । हौत्रम् । शास्त्रम् । महिष्यादिभ्यः । महिष्या धर्म्यम्, माहिषम् । महिषी । प्रजावती । केषाञ्चित् प्रजापतीति पाठः । प्रलेपिका । विलेपिका । अनुलेपिका । वर्णकपेपिका । “भस्य हृत्यदे” [३।३।१७० वा०] इति पुंवद्भावः प्रातः “न बुद्धवक्रोहः” [१।३।१७६] इति प्रतिषिध्यते । “विशसितुर्धर्म्यं वैशस्त्रम् । “विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्” [वा०] । विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम् ।

अवक्रयः ॥ ३।३।१७० ॥ तस्येति वर्तते । तस्येति तासमर्थान्मृदोऽवक्रय इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । अवक्रीयतेऽनेनेत्यवक्रयः । अन्याय्यमपि स्वेच्छया परिकल्पितपरिमाणम् । द्रव्यमेकत्र पिण्डितमित्यर्थः । शुल्कशालायामवक्रयः शौल्कशालिकः । आतरिकः । आपणिकः । गौलिमकः ।

तदस्य परयम् ॥ ३।३।१७१ ॥ तदिति वासमर्थात् परयविशिष्टादस्येति तार्थे ठण् भवति । अपूपाः परयमस्य, आपूपिकः । शाष्कुलिकः ।

किसरादेष्टट् ॥ ३।३।१७२ ॥ तदस्य परयमिति वर्तते । किसर इत्येवमादिभ्यष्टट् भवति । ठणोऽपवादः । किसरं परयमस्य, किसरिको गन्धिकः । किसर । नलद । स्थगर । तगर । उसी(शी)र । गुग्गुलु । हरिद्रा । हरिद्रुपर्णी ।

शलालुनो वा ॥ ३।३।१७३ ॥ तदस्य परयमिति वर्तते । शलालुशब्दाद्वा ठट् भवति । पक्षे ठण् भवति । शलालु परयमस्य, शलालुकः । शलालुकः ।

शिल्पम् ॥ ३।३।१७४ ॥ तदस्येति वर्तते । शिल्पं क्रियाविशेषे नैपुण्यम् । तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति, यत्तद्वानिर्दिष्टं शिल्पं चेत्तद् भवति । (मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य, मार्दङ्गिकः ।) मृदङ्गवादाने मृदङ्गशब्द उपचर्यते, तस्मादेव त्यः । एवं पाणविकः । वैणविकः ।

मडुकभर्भराद् वाऽण् ॥ ३।३।१७५ ॥ तदस्य शिल्पमिति वर्तते । मडुकभर्भरशब्दाभ्यां वाऽण् भवति । अणाऽनुक्ते ठण् भवति । मडुकवादनं शिल्पमस्य, माडुकः । माडुङ्गिकः । भार्भरः । भार्भरिकः ।

प्रहरणम् ॥ ३।३।१७६ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थात्प्रहरणोपाधिविशिष्टान्मृदः अस्येति तार्थे ठण् भवति । असिः प्रहरणमस्य, आसिकः । त्सारकः । धानुकः ।

शक्तियष्टेष्टोक्तण् ॥ ३।३।१७७ ॥ शक्तियष्टिशब्दाभ्यां टीकण् भवति तदस्य प्रहरणमित्यस्मिन्निषये । ठणोऽपवादः । शक्तिः प्रहरणमस्य, शाक्तीकः । याष्टीकः । इकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'यस्य डयाञ्च' [३।३।१३६] इति खं न भविष्यति (इति) दीलोच्चारणं किम् ? अन्ववापि यथा स्यात् । अन्तः (अम्भः) प्रहरणमस्य, आन्तसीकः (आम्भसीकः) । इषं प्रहरणमस्य ऐषीकः । बहिर्भवः बाहौक इति ।

नास्तिकास्तिकदैष्टिकाः ॥ ३।३।१७८ ॥ नास्तिकादयः शब्दा निपात्यन्ते । नास्ति अस्ति दिष्ट इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो मतिविशिष्टेभ्योऽस्येति तार्थे ठण् निपात्यते । परलोको नास्तीति मतिरस्य, नास्तिकः । परलोकोऽस्तीति मतिरस्य, आस्तिकः । दिष्टं दैवतं तत्प्रमाणमस्य, दैष्टिकः । निपातनाद्वाक्यादपि त्यविधानम् ।

शीलम् ॥ ३।३।१७९ ॥ तदस्येति वर्तते । वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति वासमर्थं शीलं चेद् भवति । अपूपभक्षणं शीलमस्य, आपूपिकः । तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति अपूपशब्दात्त्यः । एवं शाष्कुलिकः । मौदकिकः ।

छत्रादेरीः ॥ ३।३।१८० ॥ तस्य शीलमिति वर्तते । छत्र इत्येवमादिभ्यो णो भवति । ठणोऽपवादः । छत्रमावरणं तद्वद्गुणकार्यैर्विवक्षितत्वम् । छत्रं शीलमस्य, छात्रः । शिष्यः शीलमस्य^१ शौष्यः । छत्र । शिष्य^२ । मुन्ना^३ । मिन्ना । तितित्ना । चुरा । उदस्थान । कृषि । कर्मन् । तपस् । पुरोड । आस्था । संस्था । अवस्था । विश्वधा । सत्य । अमृत । पिसिक (शिविका) ।

१. शिक्षा (क्षा) शीलमस्य शैक्षः अ०, पू० । २. शिक्ष (क्षा) अ०, पू० । ३. सुक्षा (बुसुक्षा) अ०, पू० ।

कर्माध्ययने वृत्तम् ॥३१३१८१॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं कर्म चेद्वृत्तमध्ययनविषयं तद्भवति । एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य, ऐकान्यिकः । किमु-नस्तदेकमन्यदध्ययने कर्म ? अपगठः । एवं द्वैयन्यिकः । त्रैयन्यिकः । सर्वत्र हृदर्थे रसः । ततष्ठण् ।

बह्वज्जादेष्टः ॥३१३१८२॥ बह्वच् पदमादिर्यस्य तस्मान्मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । तदस्य कर्माध्ययने वृत्तमिति वर्तते । द्वादश अन्यानि अपपाठलक्षणानि अध्ययने कर्माणि दत्तान्यस्य, द्वादशान्यिकः ।

हितमस्मै भक्ष्यः (ज्ञाः ॥३१३१८३॥ तदिति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्येतदर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं हितं भक्ष्याश्चेत्तद् भवन्ति । अप्पभक्ष्यां हितमस्मै, आपूपिकः । शाकुलिकः । इदमेव ज्ञापकं हितयोगेऽप् भवति ।

तद्दीयते नियुक्तम् ॥३१३१८४॥ अस्मै इति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मै इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं तच्चेददीयते । नियुक्तं नियमेन युक्तं नियुक्तमित्थं । अग्रभोजनमस्मै दीयते नियुक्तम्, अग्रभोजनिकः । आपूपिकः । आणाऽस्मै दीयते नियुक्तम्, आणिकः । शाणौ (कौ) दनिकः । “ओ” दनशब्दाद् वक्तव्यः” [वा०] ओदनिकः । ओदनिकी ।

भक्ताद् वाऽण् ॥३१३१८५॥ तदस्मै दीयते नियुक्तमिति वर्तते । भक्तशब्दाद् वाऽण् भवति । पठे ठण् भवति । भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम्, भाक्तः । भाक्तिकः ।

तत्र नियुक्तः ॥३१३१८६॥ अधिकृतो नियुक्तः । तत्रेतीप्समर्थाद् नियुक्त इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शुल्कशालायां नियुक्तः, शौल्कशालिकः । आत्पटलिकः । दौवारिकः ।

ठोऽगारान्तात् ॥३१३१८७॥ तत्र नियुक्त इति वर्तते । अगारान्तान्मृदष्टो भवति । ठणोऽपवादः । भाण्डागारे नियुक्तः, भाण्डागारिकः । कोष्ठागारे नियुक्तः, कोष्ठागारिकः ।

अध्यायिन्यदेशकालात् ॥३१३१८८॥ अध्येतुं शीलमस्येति, अध्यायी । ईप्समर्थाद्देशवाचिनो-ऽकालवाचिनश्च मृदोऽध्यायिन्यभिधेये ठण् भवति । अध्यायिनीत्युक्तम्, तत्सम्बन्धात् अध्ययनस्य देशकालौ पर्युदस्येते । अशुवावधीते, आशुचिकः । सान्ध्यावेलिकः । आनध्यायिकः । अदेशकालाविति किम् ? चैत्यालयेऽधीते । पूर्वाह्णेऽधीते ।

काठनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ॥३१३१८९॥ व्यवहरति, अनुतिष्ठति । तत्रेत्य-नुवृत्तेर्निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । कठिनशब्दान्तान्मृदः प्रस्तार-संस्थानशब्दाभ्यां च व्यवहरती-त्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वंशकठिने व्यवहरति, वांशकठिनिकः । वार्द्धकठिनिकः । प्रास्तारिकः । संस्थानिकः । अन्तग्रहणं मध्ये कृतमपि केचिदुत्तरयोः सम्बन्धन्ति ।

निकटावसथे वसति ॥३१३१९०॥ तत्रेति वर्तते । निकट-अवसथशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां वसतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । निकटमविदूरम् । निकटे वसति, नैकटिकः । आवसथिकः ।

तद् वर्हति रथयुगप्रसङ्गाद्यः ॥३१३१९१॥ दम्यानां स्कन्धकाष्ठं प्रसङ्गः । तद्वितीप्समर्थेभ्यो रथयुग-प्रसङ्गशब्देभ्यो बह्वीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । य इत्ययं चाऽधिकार आपादपरिसमातेर्वैदितव्यः ।

रथं वहति, रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः । इहानभिधानान्न भवति । कालसंज्ञिनं युगं वहति राजा । युगं वहति मनुष्यः । “शकटादणू वक्तव्यः” [वा०] शकटं वहति शाकटो गौः । “हलसीराट्ठणू वक्तव्यः” [वा०] हलं वहति हालिकः । सैरिकः । नेदं वक्तव्यम्; शकटस्य वोढा हलस्य वोढा इत्येवं विग्रहे शैषिकेणाणा “हलसीराट्ठणू” [३।३।६२] इति ठणा च सिद्धम् । तर्हि रथग्रहणमप्यनर्थकम् । “रथाद्यः” [३।३।८६] इत्यनेन सिद्धत्वात् । तदन्तार्थमिह रथग्रहणम् । द्वौ रथौ वहति, द्विरथः । अत्र प्राग्बवीयस्य “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्यते ।

धुरो ढण् वा ॥३।३।१६२॥ धूःशब्दाद् वहतीत्यस्मिन्नर्थे ढण् भवति यश्च । प्रकृतिविशेषाद्व्याप्य विधीयमानेन यस्य बाधने प्राप्तेऽनेन समुच्चयः क्रियते । न त्वनुकर्षः । उत्तरत्राऽप्यनुवृत्तेः । धुरं वहति, धौरेयः । धुर्यः ।

सर्वैकाभ्यां खः ॥३।३।१९३॥ तद्वहतीति वर्तते । सर्वैकशब्दाभ्यां परस्या धुरः खो भवति । सर्वा धूः, सर्वधुरा । “पूर्वकालैकसर्वे” [१।३।४४] इत्यादिना षसः । सर्वधुरां वहति, सर्वधुरीणः । एक धुरीणः । “एकधुराशब्दात्खस्योस् वक्तव्यः” [वा०] एकधुरं वहति, एकधुरः । न वक्तव्यः । एकस्या धुरो वोढेभ्या (त्या) गतस्याणः “रस्योबनपत्ये” [३।१।७४] इत्युपा सिद्धम् । इष्टसङ्ग्रहार्थश्चकारोऽनुकर्षः । उत्तरधुरीणः ।

विध्यत्यकरणेन ॥३।३।१९४॥ तदिति वर्त्तते । इप्समर्थान्मुदः विध्यतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति न चेत्करणेन विध्यति तदिति । पादं विध्यति पद्याः शर्कराः । “पद्ये” [३।३।१६३] इति पादस्य पदादेशः । ऊरव्याः कण्टकाः । अकरणेनेति किम् ? पादं विध्यति धनुषा । प्रतीयमानेऽपि धनुषः करणत्वेनानभिधानान्न भवति । शक्रं विध्यति । चोरं विध्यति राजा ।

जन्यधेनुध्याननवश्यवन्त्यगणयपद्यमूल्यहृद्यसतीर्थ्यगार्हपत्याः ॥३।३।१९५॥ जन्यादयः शब्दा निपात्यन्ते । जनी वधुः, तां वहतीत्यत्रार्थे यः । जन्याः परिणेतृसहायानामियं संज्ञा । “धेनुष्येति संज्ञार्या धेनुशब्दाद्यः पुक्चागमः” प्रकृष्टा धेनुधेनुध्या । या गोपालाय दोहार्थं दीयते । अन्यत्र धेनुतरेति भवति । अन्नं लब्धेत्यस्मिन्वाक्ये अन्नप्राणो निपात्यते । आन्नः । वशं गत इत्यस्मिन्वाक्ये वशशब्दाद्यः । वश्यः । विनेय इत्यर्थः । अनगणशब्दाभ्यामिबन्ताभ्यां कृद्धरि यः । वनं लब्ध्वा वन्त्यः । गणं लब्ध्वा गणयः । पदमस्मिन् दृश्यते अस्मिन्वाक्ये पादशब्दाद्यः । पद्यं हिमम् । पद्यः कर्दमः । पदमस्मिन् दृष्टुं शक्यमित्यर्थः । ‘मूलमस्याबहि’ इत्यस्मिन्वाक्ये मूलशब्दाद्यः । मूल्या मुद्गाः । मूल्या माषाः । मूलोत्पाटेन सङ्ग्राह्या इत्यर्थः । अथवा मूलेन समं मूल्यं वक्त्रम् । मूलनानम्यं वा मूल्यम् । हृदयस्य प्रिय इत्यस्मिन् वाक्ये हृदयशब्दाद्यः । “हृदयस्य हृत्लेखयाण्लासेषु” [४।३।१६१] इति हृदादेशः । हृद्यो देशः । हृद्यमन्नम् । हृदयस्य बन्धन-मृषिः हृद्यः । वशीकरणभूत इत्यर्थः । समाने तीर्थे वसतीत्यस्मिन्वाक्ये समानतीर्थशब्दाद्यः । समानस्य च सभावः । सतीर्थ्यः । गृहपतिना संयुक्त इत्यस्मिन्वाक्ये गृहपतिशब्दात् संज्ञार्या व्या निपात्यते । गार्हपत्योऽग्निः ।

वयस्तुलाभ्यां सम्मिते ॥३।३।१९६॥ निर्देशादेव भाया उपादानम् । वयस्तुला इत्येताभ्यां भासमर्थाभ्यां सम्मितेऽर्थे यो भवति । वयसा सम्मितः, वयस्यः । संज्ञायामभिधानम् । अन्यत्र वयसा सम्मितः शत्रुरित्येव । तुलया सम्मितं तुल्यम् । सदृशमित्यर्थः ।

नौधर्मविषसीताभ्यस्तार्थप्राप्तबध्यसमितेषु ॥३।३।१९७॥ तार्थवसाद्भासमर्थादिति लभ्यते । नावादिभ्यश्चतुर्भ्यो भासमर्थेभ्यो यथासंख्यं तार्थादिषु यो भवति । नावा तार्थं नाव्यमुदकम् । “यि त्ये” [४।३।६७] इत्यावादेशः । प्राक्त्वेन धर्मेण प्राप्तं धर्म्यम् । वक्ष्यमाणं तु धर्मादनपेतं धर्म्यं न्याय्यमुच्यते ।

विषेण वध्यः, विष्यः। वध इति प्रकृत्यन्तरम् । वधमर्हति, वध्यः । सीतया समितं सङ्गतं सीत्यं क्षेत्रम् । “रथसीता-हलेभ्यो यविघ्नौ तदन्तविधिरपीष्यते” [वा०] परमसीत्यम् । द्विसीत्यम् ।

धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ॥३।३।१६८॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । धर्मं पथिन् अर्थं न्याय इत्येतेभ्यः कासमर्थेभ्योऽनपेतेऽर्थे यो भवति । धर्मादनपेतं धर्म्यम् । पथ्यम् । अर्थ्यम् । न्याय्यम् ।

छन्दसा निर्मिते ॥३।३।१६९॥ छन्द इच्छा । निर्मितमुत्पादितम् । निर्देशादेव भासमर्थान्छन्दःशब्दात् निर्मितेऽर्थे यो भवति । छन्दसा निर्मितः, छन्दस्यः ।

उरसाऽण् च ॥३।३।२००॥ निर्देशाद् भाया उपादानम् । उरःशब्दाद् भासमर्थान्निर्मितेऽर्थेऽण् भवति यश्च । उरसा निर्मितः, औरसः । उरस्यः ।

मदजनहलात्करणजलपकर्षेषु ॥३।३।२०१॥ मद जन हल इत्येतेभ्यो यथासंख्यं करण जलप कर्ष इत्येतेष्वर्थेषु यो भवति । करणादयः शब्दा भावे करणे वा व्युत्पादयितव्याः । तेन सामर्थ्याच्चोत्पत्तिः । मदकस्य करणं मद्यम् । मदस्थाने कैचिन्मतशब्दं पठन्ति, तेषां मत्यमिति भवति । जनस्य जल्पः, जन्यः । हलस्य कर्षः, हल्यः । द्विहल्यः । परमहल्यः ।

तत्र साधुः ॥३।३।२०२॥ तत्रेतीप्समार्थात्साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यो भवति । सामनि साधुः, सामन्यः । कर्मण्यः । सभ्यः । शरण्यः । साधुरिह योग्यो निपुणो वा न तु हितः, तत्र हि प्राकृष्णीय एव त्यः ।

प्रतिजनादेः खञ् ॥३।३।२०३॥ तत्र साधुरिह वर्तते । प्रतिजन इत्येवमादिभ्यः खञ् भवति । यस्याऽपवादः । जनं जनं प्रति प्रतिजनम् । यथार्थे हसः । प्रतिजने साधुः, प्रातिजनीनः । प्रतिजन । इदंयुग । संयुग । परयुग । परकुल । परस्यकुल । अमुष्यकुल । निपातनात्ताया अनुप् । सर्वजन । विश्वजन । पञ्चजन । महाजन । योऽत्र हितार्थः साध्वर्थः, तत्र वचनात्प्राकृष्णीयस्य बाधा ।

भक्ताणः ॥३।३।२०४॥ तत्र साधुरिह वर्तते । भक्तशब्दादणो भवति । यस्याऽपवादः । भक्ते साधुर्भाक्स्तन्दुलः ।

परिवदो रयः ॥३।३।२०५॥ तत्र साधुरिति वर्तते । परिषच्छब्दादणयो भवति । यस्याऽपवादः । परिषदि साधुः, पारिषद्यः । शोऽप्यत्राऽनुवृत्तिरिष्यते । परिषदि साधुः, पारिषदः ।

कथादेष्टण् ॥३।३।२०६॥ तत्र साधुरिति वर्तते । कथा इत्येवमादिभ्यष्टण् भवति । यस्याऽपवादः । कथायां साधुः, काथिकः । कथा । विकथा । विश्वकथा । संकथा । वितन्त्रा । कुष्ठिदा (कुष्ठचिह्नम्) । जनवाद । जनेवाद । चित्र । वृत्ति । सङ्ग्रह । गण । गुण । आयुर्वेद । गुड । कुल्यास (कुल्माष) । सक्तु । अपूप । मांसौदन । इक्षु । वेणु । संग्राम । संघात । प्रवास । निवास । उपवास ।

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् ॥३।३।२०७॥ तत्र साधुरिति वर्तते । पथ्यादिभ्यो ढञ् भवति । यस्यापवादः । पथि साधु पाथेयम् । आतिथेयम् । वासतेयम् । स्वापतेयम् ।

समानोदरे शयितः ॥३।३।२०८॥ तत्रेति वर्तते । निर्देशाद् वा (ईप्समार्थात्) समानोदरशब्दात् शयित इत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । समानोदर्यः । सोन्दर्यः । “वोदर्ये” [४।३।१६४] इति समानस्य सादेशः । कथं तर्हि सोदरशब्दस्य सिद्धिः ? “समानस्य” [४।३।१६२] इति योगविभागात् ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

प्राक्ठणश्छुः ॥३॥४॥१॥ वक्ष्यन्ति (ति) “आर्हाट्टण्” [३॥४॥१७] प्रागेतस्मादण् संशब्दनादयेऽर्था वक्ष्यते (त्ते) तेषु छोऽधि कृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति “तस्मै हितम्” [३॥४॥४] । वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः । अवत्सीयः । करभीयः । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषेऽपवादेन निवर्त (त्ति) ते पुनरर्थान्तर उपस्थानं यथा स्यात् । नन्ववि (धि) काशदेवापवादविषयेत्युपस्थानं प्राप्नोति । नैतदेवम् । तत्र तत्र वाग्नहणाच्चकारकरणाच्चापवाद-विषयपरिहारो गम्यते ।

उगवादेर्यः ॥३॥४॥२॥ प्राक्ठण इति वर्तते । उवर्णान्ताम्बुदो गवादिभ्यश्च यो भवति प्राक्ठणोऽ-र्येषु । छाऽपवादः । शङ्ख्यं दारु । परशव्यमयः । पिचव्यः कार्पासः । गवादिभ्यः । गव्यम् । हविष्यम् । गो । हविष् । इह हविरिति स्वरूपग्रहणम् । अष्टका । वहिष् । युग । मेधा । सुव् (सुक्) । नामि नभं वा । नभ्योऽद्वाः । नभ्यमन्नम् । “सु (शु) नोर्जिवाचदीत्वम्” [वा०] सू (शु) न्यम् । सु (शु) न्यम् । ऊधसो नश्च । ऊधन्यः । कूप । अक्षर । दर । खर । दवद । स्व (स्व) द । विष ।

हविर्पूपादेर्वा ॥३॥४॥३॥ हविःशब्दो गवादिषु पठितः । तद्विशेषाणामिह ग्रहणम् । हविर्विशेष-वाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्राक्ठणोऽर्येषु वा यो भवति । नित्ये ठे प्राप्ते विभाषेयम् । आमीक्ष्यम् । आमीक्षीयं दधि । पुरोडाश्याः । पुरोडाशीयास्तन्दुलाः । अपूपादिभ्यः, अपूप्यम् । अपूपीयम् । अपूप । तन्दुल । पृथुक । अभ्योष । अघोष । किरव । मुखल । कटक । कर्णचेष्टक । द्रुर्गल (अर्गल) । स्थूणा । यूप । स्रप । दीप । प्रदीप । अवपत्र । “विगृहीतादर्थीयते ।” “अन्नविकारेभ्यश्च ।” उदन्याः । उदनीयाः । सूर्याः, सूर्यास्त-न्दुलाः । अन्नविकारत्वादेव सिद्धे अपूपाऽभ्योषादीनां प्रपञ्चार्थं पृथग्ग्रहणम् । अतो विकल्पात्पूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो नित्यो विधिर्भवति । चररिति हविर्विशेषः । चरव्यास्तन्दुलाः । शक्कुरन्नविकारः, शक्कव्या धानाः । “कम्बलाश्चौप्रा कृणोर्थे (कम्बलाच्च प्राक्ठणोऽर्थे) नित्यं यो वक्तव्यः” [वा०] । कम्बल्य-मूर्णाशतम् । खुविषयादन्यत्र । कम्बलीया ऊर्णा । नेदं वक्तव्यम् । “न विस्ताचितकम्बल्यात्” [३॥१॥२७] इति निपातनात्सिद्धम् ।

तस्मै हितम् ॥३॥४॥४॥ तस्मै इति अप्समर्थार्द् हितमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः । करभीयः । पटव्यम् । गव्यम् । हविष्यम् ।

प्राययङ्गस्थखलयवमाषवृषब्राह्मतिलाद्यः ॥३॥४॥५॥ प्राययङ्गं शरीरावयवः, देहदेहिनोः कथञ्चिदभेदात् । प्राययङ्गवाचिभ्यो रथ खल यव माष वृष ब्राह्मण तिल इत्येतेभ्यश्च यो भवति तस्मै हित-मित्यस्मिन्नर्थे । छस्याऽपवादः । दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम् । कर्ण्यम् । चक्षुष्यम् । नाभये हितं नाभ्यं तैलम् । “नाभि नभञ्च” [वा०] इति नभभावः । गवादिलक्षणो यो विहितः स इह न भवति । गवादिलक्षणो य इह कस्मान्न भवति ? प्राययङ्गलक्षणो यस्तस्य परत्वाद् बाधकः । रथाय हिता भूमिः, रथ्या । खलाय हितम्, खल्यम् । यव्यम् । माष्यम् । वृषाय हितम्, वृष्यम् । ब्राह्मणे हितम्, ब्राह्मण्यम् । तिल्यम् । वृष्टौ हितं ब्राह्मण्याय हितमित्यत्रानभिधानाच्छो न भवति ।

अत्राविभ्यां थ्यः ॥३॥४॥६॥ अज-अविशब्दाभ्यां थ्यो भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्नर्थे । छस्याऽपवादः । अजे (जाय) हितम्, अजथ्यम् । अविथ्यम् । लिङ्गविशिष्टस्यानाशब्दस्य ग्रहणेऽपि “तसादौ” [४॥३॥१४७] इति पुंवद्भावे कृते तदेव रूपम् ।

विश्वजनात्मभोगान्तात्खः ॥३॥४॥७॥ तस्मै हितमिति वर्तते । विश्वजन आत्मन् इत्येताभ्यां भोगान्ताच्च मृदः खो भवति । छस्याऽपवादः । विश्वजनाय हितः, विश्वजनीनः जिनः । अत्र यथादेवेत्येते ।

तासाद (द्वा) साच्च छ एव भवति । विश्वजनीयम् । “पञ्चजनशब्दादुपसंख्यानम्” [वा०] पञ्चजनीयम् । अत्र “दिवसंख्यं खौ” [१।३।४५] इत्यनेन विहितात्समानाधिकरणाद् वसदेवेष्यते । पञ्चजनीयमन्यत् । “सर्वजनाट्टण् खश्च वक्तव्यः” [बा०] सर्वजनिकः । सर्वजनीनः । अत्रापि यदादेवेष्यते । सर्वजनीयमन्यत् । “महाजनाट्टवक्तव्यः” [वा०] महाजनिकम् । षसादयं विधिः । वसाच्छ एव भवति । महाजनीयम् । ईनादेशे कृते “नोऽपुंसो हति” [४।४।१३०] इति टित्वं प्राप्तम्, सूत्रे नकारान्तनिपातनान्न भवति । भोगः शरीरम् । तदसा (दन्ता) त् मातृभोगीणः । पितृभोगिणः । मात्रादिभ्यः केवलेभ्यश्छ एव भवति । मात्रीयः । पित्रीयः । “राजाऽचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्” [वा०] राजभोगीनम् । आचार्यभोगीनम् । आर्यभोगान् (गीन) शब्दस्य “क्षुम्नादित्वात्” [२।४।११७] णत्वं (न) भवति । नित्यग्रहणं किम् ? केवलाभ्यां न भवति । राज्ञे हितम् । आचार्याय हितमिति ।

सर्वाणो वा ॥३।४।८॥ तस्मै हितमिति वर्तते । सर्वशब्दाद् वा णो भवति पक्षे छो भवति । सर्वस्मै हितम्, सार्वम् । सर्वायम् ।

पुरुषाट्टण् ॥३।४।९॥ पुरुषशब्दाट्टण् भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्विषये । छृत्याऽपवादः । पुरुषाय हितं पौरुषेयम् । अल्प (त्य) ल्यमिदम् । “पुरुषाद् वधविकारसमूहेतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्” । पौरुषेयो वधः । “तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयो विकारः । “प्राणिताकादेः” [३।३।१०५] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयं स्वमागतं (यः समूहः) “तस्य समूहः” इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयः प्रासादः । पौरुषेयो ग्रन्थः । तेन कृते “नि ग्रन्थे (कृते ग्रन्थे) [३।३।८२] “खौ” [३।३।८६] इत्यण् प्राप्तः ।

माणवचरकात्सञ्ज् ॥३।४।१०॥ तस्मै हितमिति वर्तते । माणव-चरक-शब्दाभ्यां खञ् भवति । छृत्याऽपवादः । माणवाय हितं माणवीनम् । चारकीणम् ।

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥३।४।११॥ हितमिति निवृत्तम् । तस्मै इति वर्तते । तस्मै इदं तदर्थं समानजातीयमभिन्नसन्तानवर्ति कारणम्, प्रकृतिः । तस्या एवाऽवस्थान्तरं विकृतिः । तदर्थमित्येतत्प्रकृतेर्विशेषणम् । तदर्थ्यायां प्रकृताविति । यद्येवं स्त्रीलिङ्गमीप् च प्राप्नोति । “सूत्रेऽस्मिन् सुन्विचिरिष्टः” [५।२।११४] इने पा (इतीपो) वाया एकेन च निर्देशः । विकृतिवाचिोऽवन्तान्मुदस्तदर्थ्यायां प्रकृतावनि(भि)धेयायां यथाविहितं ल्यो भवति । विकृत्यर्थायां प्रकृतौ ल्यो भवतीत्यर्थः । अङ्गारेभ्यः, अङ्गारीयाणि काष्ठानि । प्राकारीया इष्टकाः । शङ्कव्यं दारु । पिचव्यः कर्पासः । अपूप्याः । अपूपीयास्तन्दुलाः । विग्रहे तादर्थ्यलक्षणाऽपि द्रष्टव्या । तदर्थमिति किम् ? सूत्राय यवान् । उच्चाराय यवान्नम् । पादरोगाय नड्व-लोदकं कल्पते । योग्यतामात्रेण विकृतिप्रकृत्यभिस्सन्धो मा भूत् । अत्र केचित्तस्मै ग्रहणं नानुवर्त्तयति । तादर्थ्यं तयाऽपि व्यज्यते । यथा गुरोरिदम्, गुर्वर्थम् इति । विकृतिवाचिनस्तान्तात्तदर्थ्यायां प्रकृतावभिधेयायां ल्यमुत्पादयति । एवमङ्गाराणामिमानि अङ्गारार्थानि काष्ठानि, अङ्गारीयाणि । तदर्थमिति किम् ? यवानां धानाः धानानां शङ्कवः । नात्र प्रकृतैरनन्यार्थ्या गम्यते । अपि तु प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिमात्रम् । नान्येषां धाना नान्येषां शङ्कवः । अत एव विकारप्रकृतिसम्बन्धमात्रेऽपि ल्यो न भवति । धानानां यवाः, शक्त्नानां धानाः इति । विकृतेरिति किम् ? उदकार्थः कूपः । नात्र पार्थिवस्य कूपस्य विकृतिरुदकम् । प्रकृताविति किम् ? अस्यार्था कोशी । असिरयसो विकृतिर्भवति । तत्र कोशी तस्य प्रकृतिः ।

छदिरुपधिवलेढञ् ॥३।४।१२॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । छदिस् उपधि वलि इत्ये-
तेभ्यो ढञ् भवति । छदिरर्थानि छादिषेयाणि टृणानि । इह छदिरर्थं चमेति परत्वात् “धर्मयोऽञ्”

[१४।१४] इति अग्निं प्राप्ते पूर्वनिर्णयेन ढञ् भवति । छादिषेयं चर्मम् । उपधीयत इत्युपधिः, रथाङ्गं गुणान्तरयोगाद् विकृतिरियम् । उपध्यर्थम्, औपधेयं दाह । बालेयास्तनुलाः ।

ऋषभोपानहो ज्यः ॥३।४।१३॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । ऋषभ उपानह इत्येताभ्यां ज्यो भवति । ठस्यापवादः । गुणान्तरयोगादपि विकारो भवति । तद्यथा वैभीतकोऽपूपः इति । ऋषभार्थेभ्यो वत्सः (आर्षभ्यो वत्सः) । औपानहो मुञ्जः । “चर्मणोऽञ्” [१४।१४] इत्यतः पूर्वनिर्णयेनायमेवेष्यते । औपानहं चर्मम् ।

चर्मणोऽञ् ॥३।४।१४॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते । चर्मण इति विकारसम्बन्धे ता- । चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचिनोऽञ् भवति । छस्याऽपवादः । वद्ग्रन्थं वाद्ग्रम् । वर्त्रा (वरत्रा) र्थं वार्त्रं (वारत्रं) चर्मम् । सनङ्कुर्नाम चर्मविकारः, ततः पूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो यो भवति । सनङ्गव्यं चर्मम् ।

तदस्यास्मिन्निति ॥३।४।१५॥ प्रकृतिविकृतिभावस्तादर्थ्यं वेह न विवक्षितं योग्यतामात्रं विवक्षितम् । तदिति वासमर्थ्यादस्य अस्मिन्नित्येतयोर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति । इतिकरणस्ततश्चेद् विवक्षा । अस्य सम्भावनेऽभिधानम् । तेन मत्वर्थ्याद् भेदः । प्रासादोऽस्य स्यात् प्रासादीयं दाह । प्राकारीया इष्टकाः । प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यात् प्रासादीयो देशः । प्राकारीयो देशः । इह कस्मान्न भवति, प्रासादो देवदत्तस्य स्यात् ? इति करणादविवक्षाऽत्र ।

परिखाया ढञ् ॥३।४।१६॥ तदस्याऽस्मिन्निति वर्तते । परिखाशब्दाद्ढञ् भवति । छस्यापवादः । परिखाऽस्मिन्देशे सम्भाव्यते पारिलेखो देशः । पारिलेखी भूमिः । इत ऊर्ध्वं छयौ नानुवर्तते ।

आर्हाट्टण् ॥३।४।१७॥ तदर्थं तति निवृत्तम् । प्रागेतस्मादर्थं संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमध्यामः, तेषु ठण्धिकृतो वेदितव्यः । प्रागिति वर्तमाने अभिविध्यर्थमाद्ग्रहणम् । अर्हतीत्यस्मिन्नप्यर्थे ठण् भवति । वक्ष्यति “तेन क्रीतम्” [१४।३५] । वक्ष्येण क्रीतं वाक्त्रिकम् । गोपुच्छिकम् ।

शतादस्वार्थेऽसेठयौ ॥३।४।१८॥ आर्हादिति वर्तते । स्वार्थे शतमेव । शतशब्दादस्वार्थेऽसेठय इत्येतौ त्यौ भवत आर्हार्थेष्वर्थेषु । कस्यापवादः । शतेन क्रीतम्, शतिकम् । शत्यम् । अस्वार्थ इति किम् ? शतं परिमाणमस्य शतकं स्तोत्रम् । नात्र प्रकृत्यर्थादर्थान्तरभूतस्यार्थः समुदायः किन्तु शतमेव । यत्र लर्थान्तरभावस्तत्र विधिरेव न प्रतिषेधः । शतेन क्रीतं शतिकं पटशतम् । शत्यं पटशतम् । वाक्येन ह्यत्र त्यार्थस्य शतत्वं गम्यते न श्रुत्या । अस इति किम् ? द्वौ च शतं च द्विशतम् । तेन क्रीतं द्विशतकम् । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतमिति रसे “शदुबलौ” [१४।२६] इत्युपि नास्ति विशेषः । ननु स-त्य/वधौ तदन्तविधिर्नास्तीति असग्रहणमनर्थकम् ? नाप्युत्तरत्र तदन्तविधेर्ज्ञापकम् । “प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति उप-संख्यानमवश्यं कर्तव्यम् ।” पारायणं वर्तयति पारायणिकः । द्विपारायणिकः । असंख्यापूर्वपदस्य न भवति । सहस्रेण क्रीतम्, साहस्रम् । सुवर्णसहस्रेण क्रीतमित्यत्राण् न भवति । तथा उबन्तायाः प्रकृतेर्नैष्यते । द्वाभ्यां सूर्पाभ्यां क्रीतम्, द्विसूर्पेण क्रीतम् तदन्तविधेरभावात् “सूर्पाद्वा” [१४।२७] इत्ययं विधिर्न भवति । सामान्येन ठण्, द्विसौर्पिकम् । “परिमाणमस्यासुश्राणे” [१।२।२३] इति द्योरेप् । एवं तर्हि पूर्वत्र तदन्तविधिरपि भवतीति ज्ञाप्यते । गव्यम् । अगव्यम् । हविः । प्रसूहविष्यम् । अपूप्यम् । यवापूप्यम् । अष्ट-वयम् । एकाष्टवयम् । राजदन्त्यम् । माध्यम् । तिल्यम् । कृष्णतिल्यम् ।

संख्यायाः कोऽतिशतः ॥३।४।१९॥ आर्हादिति वर्तते । संख्याया अतिशदन्तायाः को भवति । आर्हादर्थेषु ठणोऽपवादः । संख्याशब्दः “कतिः संख्या” [१।१।३३] इति कतिशब्दं प्रत्याययति । तत्र

चाऽन्वयसंज्ञाग्रहणाद् यैरेकत्वादिभिः संख्यायते तेषां च ग्रहणे प्राप्तेऽतिशत इति प्रतिषेधः । त्यन्तां शदन्तां च संख्यां वर्जयित्वेत्यर्थः । पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः । सप्तकः । “संख्या बाङ्गोऽवहुगणात्” [४।२।३६] इति पथ्युदासादवहुगणयोः संख्यात्वम् । बहुकः । गणकः । अतिशत इति किम् ? पाधिकः । साततिकः । चत्वारिंशत्कः । पञ्चाशत्कः । अर्थवतस्तिशब्दस्येह ग्रहणाङ्गतेर [ति] प्रतिषेधः । कतिभिः क्रीतः, कतिकः ।

वतोर्वेट् ॥३।४।२०॥ वतुरिति ल्यः पञ्चप्रकृतिः । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३।४।१६०] “इदमो वो घः” [३।४।१६१] “किमः” [३।४।१६२] इति वतोः परस्य कस्य च इड्भवति । ननु च अज्ञाते यत्तेषु कतिशब्दस्यैव संख्यात्वमुक्तम् । तत्कथं वलन्तात्संख्यालक्षणः कः ? इदमेव वलन्तात्परस्य कस्य वेङ्ग्वचनं ज्ञापकं भवति वलन्तस्य संख्या संज्ञेति । यावता क्रीतः, यावतिकः, यावत्कः । तावतिकः । तावत्कः ।

विंशतित्रिंशद्भ्यांङ्बुरखौ ॥३।४।२१॥ विंशतित्रिंशच्छब्दाभ्यां ङ्बुर्भवत्यखुविषये । विंशत्या क्रीतः, विशकः । तेः खे कृते “असिद्धवदन्नाभात्” [४।४।२१] इति टिखे प्रतिषिद्धे “एष्यतोऽपदे” [४।३।८३] इति पररूपम् । त्रिंशता क्रीतः, त्रिंशकः । अखाविति किम् ? विंशतिः परिमाणमस्य, “परिमाणात्संख्यायाः सङ्घसूत्राध्ययने” [३।४।५६] “खौ” [३।४।५७] इति कः । विंशतिकं परिमाणनामधेयम् । अनर्थकत्वादस्य तिशब्दस्य त्यन्तलक्षणः प्रतिषेधो न भवति । द्वयोर्दशतोर्वि (न्) भावः शतिश्चात्र ल्यो निपातयिष्यते । त्रिंशत्परिमाणमेषां त्रिंशत्काः । शदन्तान्नेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? विंशति त्रिंशद्भ्यामिति योगविभागात्को भवति ।

कंसाट् ॥३।४।२२॥ कंशब्दाट् भवति आर्हादर्थेषु । टणोऽपवादः । कंसेन क्रान्तः (क्रीतः) कंसिकः । कंसिकी । “अर्धाच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] अर्द्धिकी ।

कार्षापणाद्वा प्रातश्च ॥३।४।२३॥ आर्हादिति वर्तते । कार्षापणशब्दात् ठङ् भवति तस्य प्रतिरयं वादेशो वा भवति । कार्षापणेन क्रीतः, कार्षापणिकः । कार्षापणिकी । प्रतिकः । प्रतिकी ।

शतमानविंशति (क) सहस्रवसनादण् ॥३।४।२४॥ शतमानादिभ्योऽण् भवति । आर्हादर्थे । टणोऽपवादः । शतमानेन क्रीतम्, शातमानम् । वैशतिकम् । साहस्रम् । वासनम् ।

सूर्पाद्वा ॥३।४।२५॥ आर्हादिति वर्तते । सूर्पशब्दाद्वाऽण् भवति । नित्ये ठणि प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सूर्पं परिमाणनाम । सूर्पेण क्रीतम्, सौर्पम् । सौर्पिकः ।

रादुबखौ ॥३।४।२६॥ आर्हादिति वर्तते । रादुत्तरस्य आर्हीयस्य त्यस्योभभवत्यखौ । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम्, द्विकंसम् । त्रिकंसम् । हृदर्थे रसे कृते संख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिना कंसाट्, तस्योप् । अधिकमर्धमस्मिन्नित्यध्यर्धम्, संख्यासंज्ञाविधानेऽध्यर्धग्रहणं सकविध्यर्थमित्युपसंख्यासंज्ञा । अध्यर्धेन कंसेन क्रीतं ठट् उपि अध्यर्धकंसम् । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम् इत्यागतयोरण्ठणोरुभभवति । द्विसूर्पम् । त्रिसूर्पम् । अध्यर्धसूर्पम् । रादिति हेत्यर्थे का । रस्य हेतुनिमित्तं यो हृत् तस्योभ्न भवति । द्विसूर्पेण पटेन क्रीतम्, द्विसौर्पिकम् । “अतस्मिन्नादापि समाहारश्छण्णद्वाङ्बुक्तव्यः” [वा०] । द्वयोः सूर्पयोः समाहारः द्विसूर्पी । द्विसूर्पात् क्रीतम् द्विसूर्पमिति । न वक्तव्यः । अभिधानवशात् समाहारे वाक्यमेव भवति । न त्योत्पत्तिः । अखाविति किम् ? पाञ्चलोहितकम् । पाञ्चकलापिकम् । परिमाणनामधेये इमे । पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य पञ्चकपालाः परिमाणमस्येति “परिमाणात्संख्यायाः सङ्घसूत्राध्ययने” [३।४।५६] “खौ” [३।४।५७] । इति टण् । परिमाणस्य घोरादेरपि प्राप्ते “अखुशाखे” इति प्रतिषिद्धे आर्हेरपि । अन्ये पञ्चलोहित्यः परिमाणमस्येति विग्रह्य “तस्य हृत्ये” [वा०] इति पुंवद्भावं विदधाति ।

कार्षापणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा ॥३१४१७॥ कार्षापण सहस्र सुवर्ण शतमान इत्येवमन्ता-
त्परस्यार्हायस्य त्यस्य वोब् भवति । पूर्वेण नित्य उपि प्राप्ते विभाषेयम् । द्वाभ्यां कार्षापणाभ्यां क्रीतं
द्विकार्षापणं द्विकार्षापणिकम् । त्रिकार्षापणं त्रिकार्षापणिकम् । अर्धकार्षापणम् । अर्धकार्षापणिकम् ।
“प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति कार्षापणाद्वा प्रतश्च” [३१४१३] इति ठट् । अनुपपत्ते
च प्रतिरादेशो विकल्पितः । द्विप्रतिकम् । त्रिप्रतिकम् । अर्धप्रतिकम् । द्वाभ्यां सहस्राभ्यां क्रीतं द्विसहस्रम् ।
द्विसहस्रम् । त्रिसहस्रम् । त्रिसहस्रम् । अर्धसहस्रम् । अर्धसहस्रम् । “संख्यायाः संख्यासंवत्सरस्य”
[२१२१७] इति घोरैप् । द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं द्विसुवर्णम् । द्विसौवर्णिकम् । त्रिसुवर्णम् , त्रिसौवर्णिकम् ।
अर्धसुवर्णम् , अर्धसौवर्णिकम् । “परिमाणस्याखुशाणे” [२१२२२] इति घोरैप् । सुवर्णसुम्नानं
कथं परिमाणम् ? अशाण इति प्रतिषेधात् । उन्मानस्यापि घोरैर्भवति द्वाभ्यां शतमानाभ्यां क्रीतं द्विशत-
मानम् । द्विशतमानम् । त्रिशतमानम् । त्रिशतमानम् । अर्धशतमानम् ।

द्वित्रिवहोनिष्कविस्तात् ॥३१४१८॥ द्वि त्रि बहु इत्येतेभ्यः परो यो निष्कविस्तशब्दौ तदन्ताद्वा-
त्परस्यार्हायस्य त्यस्य वोम्भवति । द्विनिष्कम् । द्विनैष्किकम् । त्रिनिष्कम् । त्रिनैष्किकम् । बहुनिष्कम् । बहु-
नैष्किकम् । द्विविस्तम् । द्विवैस्तिकम् । त्रिविस्तम् । त्रिवैस्तिकम् । बहुविस्तम् । बहुवैस्तिकम् ।

विंशतिकात्खः ॥३१४१९॥ वेति निवृत्तम् । रादिति वर्तते । विंशतिकशब्दान्तात् रात् आर्हाद-
र्थेषु खो भवति । द्वाभ्यां विंशतिकाभ्यां क्रीतम् , द्विविंशतिकीनम् । त्रिविंशतिकीनम् । अर्धविंशतिकीनम् ।
वचनात्खस्योन्म भवति ।

खारीकाकणोभ्यां कप् ॥३१४२०॥ रादिति वर्तते । खारी-काकणीशब्दान्तात् आर्हादर्थेषु कब्
भवति । द्वाभ्यां खारीभ्यां क्रीतम् , द्विखारीकम् । त्रिखारीकम् । अर्धखारीकम् । द्विकाकणीकम् । त्रिकाक-
णीकम् । अर्धकाकणीकम् । “केवलाभ्यां चेति वक्तव्यम्” [वा०] । खार्या क्रीतं , खारीकम् ।
काकणीकम् ।

पणपादमाषाद्यः ॥३१४२१॥ रादिति वर्तते । पण-पाद-माषशब्दान्ताद् रादाहर्दर्थेषु यो भवति ।
द्वाभ्यां पणाभ्यां क्रीतम् , द्विपण्यम् । त्रिपण्यम् । अर्धपण्यम् । द्विपाद्यम् । त्रिपाद्यम् । अर्धपाद्यम् ।
“असिद्धवद्वाऽभात् [३१४२१] इत्यखस्याऽसिद्धत्वात्पाञ्चन्दस्य पद्मावो न भवति । “पद्ये” [३१४२३]
इति पदादेशोऽपि पादस्य केवलस्योक्तम् (क्तः) । द्विमाष्यम् । त्रिमाष्यम् । अर्धमाष्यम् ।

शताद् वा ॥३१४२२॥ रादिति वर्तते । शतशब्दान्ताद् रादाहर्दर्थे वा यो भवति । द्वाभ्यां शताभ्यां
क्रीतं द्विशत्यम् । त्रिशत्यम् । अर्धशत्यम् । पद्ये ठण् । तस्य “शदुबखौ” [३१४२६] इत्युप् । द्विशतं
त्रिशतम् । अर्धशतम् ।

शाणात् ॥३१४२३॥ रादिति वर्तते वेति च । शाणशब्दान्तादाहर्दर्थेषु वा यो भवति । पद्ये ठण् ।
तस्य चोप् । पञ्चभिः शाणैः क्रीतं पञ्चशाण्यम् । पञ्चशाणम् । अर्धशाण्यम् । अर्धशाणम् । योग-
विभाग उत्तरार्थः ।

द्वित्रिभ्यामण् च ॥३१४२४॥ शाणादिति वर्तते । द्वित्रिशब्दाभ्यां परो यः शाणशब्दस्तदन्ताद्
रादाहर्दर्थेष्वण् भवति यश्च वा । तेन त्रैरूप्यम् । द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतम् , द्वैशाणम् । त्रैशाणम् ।
त्रिशाण्यम् । त्रिशाणम् । अणि परतः “अखुशाण” इति प्रतिषेधाददरैप् ।

तेन क्रीतम् ॥३१४३५॥ तेनेति तासमर्थात् क्रीतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ठणादयो भवन्ति । निष्केण क्रीतम्, नैष्किकम् । शतिकम् । शत्यम् । साहस्रम् । द्विकम् । त्रिकम् । इह करणादिति वक्तव्यम् । कर्त्तरि माभूत् । देवदत्तेन क्रीतम् । “सूत्र्यादिति च वक्तव्यम्” [वा०] । इह मा भूत् पाणिना क्रीतमिति । “द्विवहन्ताच्च करणात्प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्रोणाम्यां क्रीतम् । द्रोणैः क्रीतम् इति । नेदं बहु वक्तव्यम् । अग्निधानतो व्यवस्था भविष्यति । यत्र प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगतिरस्ति तत्र द्विवहुत्वविषयेऽपि भवति । द्वाभ्यां क्रीतम्, द्विकम् । सुदृगैः क्रीतम्, मौद्गिकम् ।

तस्य वापः ॥३१४३६॥ उच्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम् । तस्येति तासमर्थात् वाप इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति । प्रस्थस्य वापः, प्रास्थिकः । कौद्रविकः । खारीकः । “यस्य प्रकरणे वातपित्तश्लेष्म-
सन्निपातेभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम्” [वा०] वातस्य शमनं कोपनं वातिकं द्रव्यम् । एवं पैत्तिकम् । श्लैष्मिकम् । सन्निपातिकम् ।

निमित्तं संयोगोत्पादौ ॥३१४३७॥ बुद्धिपूर्विका व्याप्तिः संयोगः । शुभाशुभयोः सूचकः उत्पादः । उत्पात इत्यर्थः । तस्येति तासमर्थान्निमित्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं ल्यो भवति यत्तन्निमित्तं संयोग उत्पादो वा स चेद् भवति । शतस्य निमित्तमीश्वरेण संयोगः शतिकः, शत्यः । साहस्रः । शतस्य निमित्तं दक्षिणाक्षिस्यन्दनमुत्पादः शतिकः । शत्यः । साहस्रः । सोमग्रहणस्य निमित्तमुत्पादो भूमिकम्पः । सोमग्रहणिकः ।

योऽसंख्यापरिमाणाश्वादेः ॥३१४३८॥ तस्येति तासमर्थाद्यो भवति संख्यापरिमाणाश्वादीन् वर्जयित्वा निमित्तं संयोगोत्पादावित्यस्मिन् विषये । ठणादीनामपवादः । वनं निमित्तं संयोग उत्पादो वा वन्यः । यशस्यः । स्वर्ग्यः । आयुष्यः । असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम् ? पञ्चानां निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पञ्चकः । सतकः । परिमाणात् । प्रस्थस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा प्रास्थिकः । द्रौणिकः । खारीकः । अश्वादिर्गणः । अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा आश्विकः । अश्व । अश्वमन् । गण । ऊर्णा । उन्मा । मङ्गा । वर्षा । वल्ल । वसु । संख्यापरिमाणयोरर्थभेदोऽस्ति । “ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आधामं तु प्रमाणं स्यात् संख्या तु गुणनात्मिका ।”

गोब्रह्मवर्चसात् ॥३१४३९॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । गोब्रह्मवर्चसशब्दाभ्यां यो भवति । गोर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा गव्यः । ब्रह्मणो वर्चः, ब्रह्मवर्चसम्, अत एव निपातनात्सन्तः । ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा ब्रह्मवर्चस्यः । पूर्वेण ये सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय । एकाचो गोशब्दादेव बह्वचो ब्रह्मवर्चसशब्दादेव यः । इह न भवति । नावो निमित्तं संयोगः नाविकः । वास्तुयुगिकः । द्यूच एव पूर्वेण यो वेदितव्यः ।

पुत्राच्छ वा ॥३१४४०॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । पुत्रशब्दाच्छो यश्च । पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा पुत्रीयः । पुत्र्यः ।

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण् ॥३१४४१॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते । सर्वभूमिपृथिवी-
शब्दाभ्यामण् भवति । ठणोऽपवादः । सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा, सर्वभूमौमः । अनुशक्तिकादिखा-
दुभयत्रैप् । पृथिव्या निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पार्थिवः ।

ईश्वरः ॥३१४४२॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यामीश्वर इत्यस्मिन्नर्थे-
ऽण् भवति । ठणोऽपवादः । सर्वभूमेरीश्वरः, सर्वभूमौमः । पार्थिवः ।

तत्र विदितः ॥३१४४३॥ तत्रेतीप्समर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां विदित इत्यस्मिन्नर्थेऽण्
भवति । सर्वभूमौ विदितः सर्वभूमौमः । पार्थिवः ।

लोकात् ॥३१४४४॥ तत्र विदित इति वर्तते । लोकशब्दादीप्समर्थाद्विदित इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । लोके विदितः, लौकिकः ।

सर्वात् ॥३१४४५॥ सर्वशब्दात्परो यो लोकशब्दः, तदन्तान्मृदष्टण् भवति तत्र विदित इत्यस्मिन्नर्थे । सर्वलोके विदितः, सर्वलौकिकः । अनुशतिकादिलादुभयवैप ।

तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥३१४४६॥ तदिति वासमर्थाद् वृद्ध्यादिविशिष्टा-
दस्मिन्नितीवर्थे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्थे वृद्ध्यादिविशिष्टं दीयते चेत्तद् भवति । वृद्धिः
कालान्तरादिका । नित्यनिबद्धा प्रातिरायः । पटादीनां मूल्यातिरेको लाभः । वा (व) णिजां रक्षाकारितो
राजभागः शुल्कः । उत्कोटः उपदा दीयते इत्येकवचनान्तं वृद्ध्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । पञ्चास्मि-
न्वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते, पञ्चकः । प्राथिकः । कौडविकः । “इह तदस्मै
दीयते इति वक्तव्यम् ” [वा०] पञ्चाऽस्मै वृद्ध्यादि दीयते, पञ्चकः । सप्तकः । न वक्तव्यम् । सम्प्र-
दानस्याधिकरणविवक्षया सिद्धम् ।

डडर्धाटुः ॥३१४४७॥ डडिति प्रत्याहारग्रहणम् । ‘तस्य पूरणे डट्’ [३१११] इत्यारभ्य
आ तमऽष्टकारात् । डडन्तान्मृदः अर्धशब्दाच्च ठो भवति तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते इत्यस्मिन्नर्थे ।
ठयः “अर्धाच्च” [३१२१०३ (वा०)] इत्यौपसंख्यानिकस्य च ठठोऽपवादः । पञ्चमः दीयते वृद्धिर्वा आयो
वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा, पञ्चमिकः । द्वितीयकः । अर्थिकः । स्त्रियाम्—अर्थिका ।

भागद्यश्च ॥३१४४८॥ भागशब्दोऽर्धवाची । तदस्मिन्वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते इति च
वर्तते । भागशब्दाद्यो भवति ठश्च । भागो वृद्ध्यादिरस्मिन्दीयते भाग्यं शतम् । भागिकं शतम् ।

तद्वरति वद्वत्यावहति भाराद् वंशादेः ॥३१४४९॥ वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दः तदन्ता-
न्मृदः ई (इ) प्समर्थाद् हरत्यादिष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति । हरति नयतीत्यर्थः । वहति उत्तिपतीत्यर्थः ।
आवहति उत्पादयतीत्यर्थः । वंशभारं हरति वहति आवहति वा, वंशभारिकः । वाल्वज्जभारिकः । भारादिति
किम् ? क्वत्सं हरति । वंशादेरिति किम् ? भारं हरति । केवलान्न भवति । अन्ये पुनरन्यथा सूत्रार्थं ग्राहिताः ।
क्त्सा (वंशा) दिभ्यो भारभूतेभ्यस्त्यो भवति । अर्थद्वारेण भारो वंशादेर्विशेषणम् । भारभूतात् (न्) हरति,
वांशिकः । वाल्वजिकः । भारादिति किम् ? एकं वंशं हरति । क्त्सा (वंशा)देरिति किम् ? भारभूतान् यवान्
हरति । सूत्रार्थद्वयमपि प्रमाणम् । वंश । वाल्वज । कूट । मूल । स्थूल । खट्वा । अश्व । इज्जु ।

वस्नद्रव्याभ्यां ठकौ ॥३१४५०॥ वस्नद्रव्यशब्दाभ्यामिप्समर्थाभ्यां हरत्यादिष्वर्थेषु यथासंख्यं ठ क
इत्येतौ त्रौ भवतः । वस्नं हरति वहति आवहति वा, वस्निकः । द्रव्यकः ।

सम्भवत्यवहरति पचति ॥३१४५१॥ तदिति वर्तते । इप्समर्थान्मृदः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु यथा-
विहितं त्यो भवति । सम्भवति गृह्णातीत्यर्थः । अवहरति क्षयं नयतीत्यर्थः । पचति विह्वलेन करोतीत्यर्थः ।
प्रस्थं सम्भवत्यहरति पचति वा, प्रास्थिकी स्थाली । एवं कौडविकी । खारीकी । ननु या प्रस्थं सम्भवति सा
पचत्यपि, तत्कथं भेदः ? इदं तर्हि पचतेरुदाहरणम् । प्रस्थं पचति ब्राह्मणी, प्रास्थिकी । “तत्पचतीति द्रोणादेण्
च वक्तव्यः” [वा०] । द्रोणं पचति द्रौणी, द्रौणिकी ।

वाऽऽढकाचितपात्रात्खः ॥३१४५२॥ आढक-आचितपात्रशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यः सम्भवत्यादि-
ष्वर्थेषु वा खो भवति । पूर्वेण नित्ये ठणि प्राप्ते विभाषेयम् । आढकं सम्भवति अवहरति पचति वा, आढ-
कीना, आढकीकी । आचितोना, आचितिकी । पात्रीणा, पात्रिकी । आढकादीनि परिमाणानि ।

राट्ट च ॥३१४५३॥ आदकाचितपात्रान्तात् राट् इप्समर्थसम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा । तेन त्रैरूप्यं भवति । द्वे आदके सम्भवति अवहरति पचति वा दद्यादकिकी । दद्यादकीना । आभ्यां मुक्ते ठण् तस्य “राट्टबखौ” [३१४२६] इत्युप् । दद्यादकी । “परिमाणादृष्टदुषि” [३१४२६] इति ङी-विधिः । ठट्खयोर्वचनाद्वम् (दुम्) भवति । दद्याचितीना, दद्याचिता । “न विस्ताचितकम्बल्यात्” [३१४२७] इति ङीप्रतिषेधः । द्विपात्रिकी । द्विपात्रीणा । द्विपात्री ।

कुलिजाञ्च ॥३१४५४॥ चकारकिकाऽनुकर्षणार्थः । रादिति वर्तते । कुलिजशब्दान्तात् राट् इप्सम-
र्थात् सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा । तेन त्रैरूप्यम् । कुलिजं परिमाणविशेषः । द्वे कुलिजे सम्भ-
वत्यवहरति पचति वा द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजी । केचिदुपोऽपि विकल्पमिच्छन्ति । पठे ठणः
श्रवणम् । द्वैकुलिजिकीति । त एव “अखुशाये” [५१२२] इत्यत्र कुलिजस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति ।

तदस्यांशवस्नभृतयः ॥३१४५५॥ तदिति वासमर्थात् अस्त्येति तार्थं यथाविहितं ल्यो भवति यत्तद्वा-
समर्थम् अंश वस्न भृतयश्चेत्तद् भवन्ति । पञ्च अंशा वा वस्नो वा भृतिर्वाऽस्य, पञ्चकः । सतकः । शतिकः,
शत्यः । साहस्रः । खारीकः ।

परिमाणात्सङ्ख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने ॥३१४५६॥ तदस्येति वर्तते । परिमीयते परिच्छिद्यते-
ऽनेन परिमाणम् । परिच्छेदकमिह तत् पारिभाषिकम् । तदिति वासमर्थात् संख्यावाचिनः परिमाणे वाधिका-
दस्येति तार्थं यथाविहितं ल्यो भवति । यत्तदस्येति सङ्घसूत्राऽध्ययनानि चेद् भवन्ति । सङ्घे-पञ्च परिमा-
णमस्य सङ्घस्य पञ्चकः । सतकः । सूत्रे ग्रन्थ इत्यर्थः । पञ्चाऽध्यायाः परिमाणमस्य, पञ्चकं जैनेन्द्रम् । अष्टकं
पाणिनीयम् । शतकं स्तोत्रम् । अधीतिरध्ययनं तस्मिन् । पञ्च रूपायस्याध्ययनस्य पञ्चकम् । सतकम् ।
कर्मणि यद्यध्ययनशब्दो व्युत्पाद्येत सूत्रान्न भेदः स्यात् । “स्तोमे ङो वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशाद्यर्थः
पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य स्तोमस्य पञ्चदशः स्तोमः । एवं सतदशः । एकविंशः । परिमाणादिति योग-
विभागः कर्तव्यः । तदस्येति वर्तते । पञ्चकलापः परिमाणमस्य, पञ्चकलापिकम् । पाञ्चलोहितिकम् ।
प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः । कौतिकः । खारीशतिकः । वर्षशतं परिमाणमस्य वार्षशतिकः ।
“जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम्” [वा०] षष्टिः संवत्सरा जीवितपरिमाणमस्य, षाष्टिकः । साततिकः ।
आशीतिकः । नेदं वक्तव्यम् । “तमवीं (घी)ष्टो भू (भृ, तो भूतो भावी)” [३१४७६] इत्येव
सिद्धम् । षष्टि भूतो (तः) षाष्टिकः । एवञ्चानुबपि सिद्धः । द्वे षष्टी भूतो द्विषाष्टिकः । इह विधानो (ने)
“राट्टबखौ” [३१४२६] इत्युप् प्रसज्येत ।

खौ ॥३१४५७॥ खविषये च परिमाणविशिष्टायाः संख्याया यथाविहितं ल्यो भवति । विंशतिः
परिमाणमस्य विंशतिकं परिमाणनामधेयम् । स्वार्थे चाऽत्र ल्यो द्रष्टव्यः । पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः । त्रय एव
त्रिकाः सा (शा) लङ्कायनाः ।

पङ्क्तिविंशतित्रिशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ॥३१४५८॥ पङ्क्त्यादयः
शब्दा निपात्यन्ते । यदत्र लङ्कारेणानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनासिद्धम् । तदस्य परिमाणमिति वर्तते । पञ्चपादा-
परिमाणमस्य पङ्क्तिस्तच्छब्दः ; क्रमसन्निवेशोऽपि । पञ्चशब्दात्तिरित्यर्थं त्यष्टिर्लङ् च निपात्यते । द्वौ दश तौ
परिमाणमस्य वर्गस्य विंशतिः । द्वे विभावः इतिश्च ल्यः । त्रिचतुःपञ्चानाम् इमारिमाश्रान्तादेशाः शच्च
ल्यः । त्रयो दशतः परिमाणमस्य वर्गस्य त्रिंशत् । चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत् । पञ्च दशतः
परिमाणमस्य, पञ्चाशत् । षडदशतः परिमाणमस्य षष्टिः । षष्ठिस्तित्यर्थं ल्योऽपङ्कत्वं च । सप्त दशतः
परिमाणमस्य सप्ततिः । सप्तनस्तित्यर्थं ल्यः । अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः । अष्टनः अशीभावः तिश्च

त्यः । नव दशतः परिमाणमस्य नवतिः । नवशब्दातिः । दश दशतः परिमाणमस्य शतम् । दशानां शभावः तश्च त्यः । विंशत्यादीनां क्वचित्संख्यानप्रधानत्वम्, क्वचित्संख्येयप्रधानत्वम् । लिङ्गवचनं च स्वाभाविकत्वादेव सिद्धम् । इह यथाकथञ्चिद्व्युत्पत्तिः क्रियते । सहस्रादयोऽप्यनयैव दिशाऽनुगन्तव्याः । दशशतानि परिमाण-
मस्य, सहस्रम् । दशसहस्राणि परिमाणमस्य, अयुतम् ।

पञ्चदशतौ वर्गं वा ॥३।४।५९॥ पञ्चन् दशन् इत्येतौ शब्दौ वर्गेऽभिधेये वा निपात्येते । तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्विषये नित्ये के प्राप्ते तन्ने डदित्यर्थं त्यो निपात्यते । पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः । दशद्वर्गः । दशको वर्गः ।

तदर्हति ॥३।४।६०॥ तदितीप्समर्थदार्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः । आभिषेचनिकः । वास्त्रयुगिकः । दाभ्योदनिकः । शतिकः । शत्यः । इह भोजनमर्हतीत्य-
नभिधानान्न भवति । “स्त्रीपुंसानुक्त्वात्” [३।१।७२] इत्येषोऽपि विधिरनभिधानान्नावतरति । ठणादय इमं योगं प्राप्य निवृत्ताः ।

प्राग्वतष्ठव् ॥३।४।६१॥ तदर्हं वदिति वक्ष्यते । प्रागेतस्माद्वत्संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तेषु ठञ्चिकृतो वेदितव्यः । वक्ष्यति “पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति” [३।४।६८] पारायणिकः । “प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपि” इति द्वौ पारायणिकः । इह (ठणि) प्रकृते तस्योप् प्रसज्येत तेन ठञ्चिकृतः ।

छेदादेर्नित्यम् ॥३।४।६२॥ नित्यग्रहणमर्हतीत्यस्य विशेषणम् । छेदादिभ्यो नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । छेदं नित्यमर्हति छैदिकः । छेद । भेद । होह । द्रोह । तस्कर । नर्त । कर्ष । विकर्ष । विप्रकर्ष । प्रयोग । संप्रयोग । विप्रयोग । सम्प्रश्न । प्रेषण । विरागः । विरङ्गं च ।

शीर्षच्छेदाद्यश्च ॥३।४।६३॥ नित्यमिति वर्तते । शीर्षच्छेदशब्दात् इप्समर्थात् नित्यमर्हतीत्य-
स्मिन्नर्थे यो भवति ठञ् च । शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेदिकः । अन्ये शिरश्छेदं नित्यमर्हतीति त्य-
सन्नियोगे शिरसः शीर्षभावं वर्णयन्ति । तदयुक्तं यत्नाभावात् । तस्मान्नियतविषयः शिरःपर्यायः शीर्षशब्दोऽ-
स्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

दण्डादेः ॥३।४।६४॥ नित्यमिति निवृत्तम् । दण्ड इत्येवमादिभ्योऽर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति । ठञोऽ-
पवादः । दण्डमर्हति दण्ड्यः । दण्ड । मुशल । मधुपर्क । कशा । अर्घ । मेघा । मेघ । वघ । उदक ।
युग । इव (भ) ।

पात्राद्घश्च ॥३।४।६५॥ तदर्हतीति वर्तते । पात्रशब्दाद्घो भवति चकाराद्यश्च । ठञोऽपवादः ।
पात्रमिति परिमाणं च गृह्यते । पात्रमर्हति पात्रियः । पात्र्यः ।

कडङ्गरदक्षिणास्थालीविलाच्छश्च ॥३।४।६६॥ तदर्हतीति वर्तते । कडङ्गर दक्षिणा स्थाली-
विल इत्येतैर्म्यश्छो भवति यश्च । ठञोऽपवादः । मुद्गादि काष्ठं कडङ्गरम् । कडङ्गरमर्हति कडङ्गरीयो गौः ।
दक्षिणामर्हति दक्षिणीयः । दक्षिण्यः । स्थालीविलमर्हति स्थालीविलीयाः स्थालीविल्यास्तयडुलाः ।
पाकाहं इत्यर्थः ।

यज्ञर्त्विग्भ्यां घञञौ ॥३।४।६७॥ तदर्हतीति वर्तते । यज्ञ-ऋत्विक्शब्दाभ्यां यथासंख्यं घञञि-
त्येतौ त्रौ भवतः । ठञोऽपवादः । यज्ञमर्हति यज्ञियः । आर्त्विजीनः । उपचारतत्कर्मापि तथोक्तम् । यज्ञकर्मा-
र्हति, यज्ञियो देशः । ऋत्विक्कर्मार्हति, आर्त्विजीनं कुलम् ।

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ॥३।४।६८॥ तदिति वर्तते । पारायणतुरायणचान्द्रायणशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यो वर्तयतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । पारायणं वर्तयति पारायणिकः । शिष्य एवाभिधानं नाध्यापके । तुरायणं यज्ञं वर्तयति तौरायणिकः । यज्ञमान एव न याज्ञके । चान्द्रायणिकः ।

संशयमापन्नः ॥३।४।६९॥ संशयशब्दादिप्समर्थादापन्न इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । संशीतिः संशयः, तमापन्ने कर्तृकर्मणी भवतः । तत्र कर्तरि पुरुषेऽभिधानं नास्ति । संशयं विषयभावेनापन्नः सांशयिकः । स्थायवादि ।

योजनं याति ॥३।४।७०॥ योजनशब्दादिप्समर्थाद्यातीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । योजनं याति यौवनिकः । संख्यापूर्वपदादपि । द्वैयोजनिकः । “क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्” [वा०] । क्रोशशतं याति क्रौशशतिकः । योजनशतिकः । “ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम्” [वा०] क्रोशशतादभिगमनमर्हति क्रौशशतिकः । यौवनशतिको गुरुः ।

पथः कट् ॥३।४।७१॥ तदिति वर्तते । पथिशब्दादिप्समर्थाद्यातीत्यस्मिन्नर्थे कट् इत्ययं ल्यो भवति । पन्थानं याति पथिकः, पथिकी । द्वौ पन्थानौ याति, द्विपथिकः, द्विपथिकी । हृदर्थे रसे कृते सान्तात्पूर्वनिर्यायेनायमिष्यते ।

पन्थो ण नित्यम् ॥३।४।७२॥ नित्यग्रहणं यातीत्यस्य विशेषणम् । पथिशब्दादिप्समर्थादित्यं यातीत्यस्मिन्नर्थे णो भवति तत्सन्नियोगे पन्थ इत्ययञ्चादेशः । पन्थानं याति पान्थः । नित्यमिति किम् ? पथिकः ।

उत्तरपथेनाहृतं च ॥३।४।७३॥ निर्देशादेव भाया उपादानम् । उत्तरपथशब्दाद् भासमर्थादाहृतं यातीति चानयोरर्थयोष्ठञ् भवति । उत्तरपथेनाहृतम्, औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन याति, औत्तरपथिकः । “वारिजङ्गलस्थलकान्ताराजशङ्कुपूर्वपदादिति वक्तव्यम्” [वा०] वारिपथेनाहृतं वारिपथिकः वारिपथेन याति वारिपथिकः । एवमर्थद्वयोऽपि । जाङ्गलपथिकः । स्थालपथिकः । कान्तारपथिकः । आनपथिकः । शाङ्कुपथिकः । “मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वाद्गु वक्तव्यः” । स्थलपथेनाहृतं स्थालपथं मधुकं मरिचं वा ।

कालेभ्यः ॥३।४।७४॥ बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । अधिकारोऽयम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कालवाचिभ्य इत्येवं तद्देदितव्यम् । वक्ष्यति “तेन निवृत्तः” [३।४।७५] । मासेन निवृत्तम् मासिकम् । आर्द्धमासिकम् ।

तेन निवृत्तः ॥३।४।७५॥ तेनेति भासमर्थेभ्यः कालवाचिभ्यो निवृत्त इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । मासेन निवृत्तः, मासिकः । सौवत्सरिकः प्रासादः ।

तमवी(धो)ष्टो भूतो भूतो भावी ॥३।४।७६॥ तमितीप्समर्थात् कालवाचिशब्दात् अवी-(धी)ष्टो भूतो भूतो भावीति एतेष्वयैषु ठञ् भवति । सङ्ख्य निरुक्तोऽवी(धी)ष्टः । वेतनेन क्रीतो भू (भू)तः । मासमवो (धी)ष्टो भूतो भूतो भावी वा मासिकः । आर्द्धमासिकः । सौवत्सरिकः । “कालाध्वन्यविच्छेदे” [१।१।४] इतीप् । अवी(धी)ष्टभू (भू) तयोरर्थयोर्मासैकदेशे गृह्यते मासशब्दो वर्तते । तस्याऽध्वेषणभरणक्रियाभ्यां व्याप्तेरविच्छेदः । भूतभाविभ्यां तु खलुसन्तया (स्वसन्तया) कालस्य व्याप्तेरविच्छेदः सिद्ध एव । इह षष्टिं भूतः षाष्टिकः । सप्ततितिकः । इति कथं कालवाचिभ्यः ? कालस्य संख्येयत्वात् कालविषयत्वाद्वा । रमणीयं कालं भूत इत्यत्राऽनभिधानान्न भवति ।

मासाद् वयसि खञ् ॥३॥४॥७७॥ तमवी(धी)ष्टो भूतो भूतो भावीति वर्तते । मासशब्दाद्-
वयस्यभिधेये खञ् भवति । ठञोऽपवादः । वयसीति वचनात् । अवी(धी)ष्टभृतग्रहणं नाभिसम्बध्यते ।
मासं भूतो भावी वा, मासीनः । कथं भावि वयो विगमः इति चेत्, अग्रिष्टदर्शनात् । जकारः “जद्धदरक्त-
विकारे” [४३/१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थः । मासीनो दुहितुकः । वयसीति किम् ? मासिकः ।

यः ॥३॥४॥७८॥ मासशब्दाद् वयस्यभिधेये यश्च भवति । मासं भूतो भावी वा मास्यः । योग-
विभाग उत्तरार्थः ।

रात् ॥३॥४॥७९॥ मासाद् वयसीति वर्तते । मासान्ताद् राद् वयस्यभिधेये यो भवति । द्वौ मासौ भूतो
भावी वा द्विमास्यः । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानामनुपीति ठञपवादयोर्यखञोः प्राप्तयोरनेन यो विधीयते ।

षरमासात् ॥३॥४॥८०॥ षरमासशब्दाद् वयस्यभिधेये षयो भवति यश्च । षरमासाद् भूतो
भावी वा षारमास्यः । षरमास्यः । अन्ये चशब्देन ठञं समुच्चिन्वन्ति । यस्त्वनुवर्त्तनादेव भवति तेषां
षारमासिक इत्यपि ।

ठश्चावयसि ॥३॥४॥८१॥ षरमासशब्दादवयस्यभिधेये ठो भवति यश्चानन्तरः । षारमासिको
नायकः । षारमास्यः ।

समायाः खः ॥३॥४॥८२॥ अवी(धी)ष्टादयश्चत्वारोऽर्था अनुवर्त्तन्ते । समाशब्दादिपुसमर्थादधीष्टा-
दिष्वर्थेषु खो भवति । ठञोऽपवादः । समामवी(धी)ष्टो भूतो भावी वा समीनः ।

राद् भूतबले ॥३॥४॥८३॥ समाशब्दान्ताद् निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु खो भवति भूतबलेराचार्यस्य
मतेन । नान्येषाम् । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विभाषेयम् ।
द्वे समे भूते भूतो भावी वा द्विसमीनः । द्वैसमिकः । त्रिसमीनः । त्रैसमिकः । कालः परिमाणग्रहणेन न
गृह्यते । तेन “रिमाणस्यालुशाणे” [१२/२२] इति द्यौरैम्न भवति ।

रात्र्यहःसंवत्सरात् ॥३॥४॥८४॥ रादिति वर्त्तते । अहन् संवत्सर इत्येवमन्ताद्वा निर्वृत्तादिष्वर्थेषु
भूतबलेराचार्यस्य मतेन खो भवति । अहन् द्व्यहीनः । द्वैर्यहिकः । अत्रापि अहन्तादिति वचनात्
“रात्राहःसखिभ्यष्टः” [४२/१३] इति सान्तो न भवति । अन्यथा “एभ्योऽहोऽहः” [४२/१०]
इत्यह्लादेशे सति द्व्यहीन इत्यनिष्टं रूपं स्यात् । द्वैर्यहिक इति चेप्यते । तत्कथं सिद्ध्यति ? द्वयोरहोः समाहारः
टे सान्ते “न समाहारे” [४२/११] इत्यह्लादेशप्रतिषेधे च सति सिद्ध्यति । संवत्सर, द्विसंवत्सरोष्णः ।
द्विसांवत्सरिकः । “संख्यायाः (संख्या) संवत्सरस्य” [१२/२०] इति द्यौरादैरैप ।

वर्षादुप च ॥३॥४॥८५॥ रादिति वर्त्तते । वर्षशब्दान्ताद्वा निर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन
ठञ उन्भवति खञ् । अन्येषां ठञेव । तेन त्रैरूप्यम् । द्वे वर्षे भूतः, द्विवर्षः, द्विवर्षाणः, द्विवार्षिकः । “वर्ष-
स्याभाविनि” [५२/२१] इति द्यौरादैरैप । भाविनि द्वैवार्षिक इति भवति ।

प्राणिन्युप ॥३॥४॥८६॥ पुनस्त्वग्रहणं नित्यार्थम् । वर्षशब्दान्ताद्वा प्राणिनि त्र्यर्थेऽभिधेये नित्यं त्य-
स्योन्भवति । पूर्वेण विकल्पेन पक्षे ठञः श्रवणं खञ्च न भवति । द्वे वर्षे भूतो भावी वा द्विवर्षो दारकः ।
भूतभाविनोरेवार्थयोरयं नित्यमुविष्यते नान्यत्र । द्वे वर्षे अघीष्टो भू (भू)तो वा कर्म करिष्यति, द्विवार्षिको
मनुष्यः ।

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥३॥४॥८७॥ तदितोपसमर्थात्कालवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे ठञ् भवति यत्त-
दिपसमर्थं तस्य व्यापकं त्र्यार्थस्य च स्वं ब्रह्मचर्यं चेद् भवति । मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी ।
सम्बन्धो वृत्तावन्तभूत इति पुरुषोऽभिधेयः । एवम्, आधमासिकः । सांवत्सरिकः । “संख्यापूर्वपदाच्च”

द्वादशवार्षिकः । “ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्न्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाम्न्यो नाम ऋचः । महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यम्, माहानाम्निकम् । आदित्यव्रतिकम् । गौदानिकम् । “तच्चरतीति च महानाम्न्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । महानाम्नीश्चरति माहानाम्निकः । महानाम्नीसहचरितं व्रतं चरतीत्यर्थः । एवम्, आदित्यव्रतिकः । गौदानिकः । “अवान्तरदीक्षादिभ्यो ङिन् वक्तव्यः” [वा०] । अवान्तरदीक्षां चरति अवान्तरदीक्षी । देवव्रती । तिलव्रती । “अष्टाचत्वारिंशतो ङुडिङि नौ च वक्तव्यौ” [वा०] । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि व्रतं चरति, अष्टाचत्वारिंशत्कः । अष्टाचत्वारिंशी । “चातुर्मास्यानां यत्वं च ङुडिङि नौ च वक्तव्यौ” [वा०] । चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासिकः । चातुर्मासी । अथ किमिदं चातुर्मास्यानीति ? “चातुर्मासाण्यो यज्ञे तत्र भवे वक्तव्यः” [वा०] । चतुर्षु मासेषु भवन्ति चातुर्मास्यानि । “संज्ञायामण्ये वक्तव्यः” [वा०] । चतुर्षु मासेषु भवा पौर्णमासी चातुर्मासी । कार्तिकी । फाल्गुनी । आपादौ चेति । अथ मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम् । आर्धमासिकम् । सांक्सरिकमित्यस्य सिद्धये यत्नः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । मासं भूतं भावि वा ब्रह्मचर्यं मासिकमिति भविष्यति ।

तस्य दक्षिणा यज्ञाख्यात् ॥३१४८८॥ तस्येति तत्समर्थात् यज्ञाख्यान्मृदो दक्षिणेत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । यज्ञमाचष्टे यज्ञाऽख्यः । कप्रकरणे उषाति (रुपि [३१२।७] इति) योगविभागे “मूलविभुजादिभ्यः” [वा०] इति (वा) कः । अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी । “तस्येदम्” [३१४।८८] इत्यस्याऽणोऽपवादः । एवं राजसूयिकी । दासौदनिकी । अकालार्थं चाऽख्यग्रहणम् । अन्यथा कालाधिकारात् एकाहद्वादशाहप्रभृतिभ्य एव यज्ञेभ्यः स्यात् । प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणं मनुषीति कालावि (षि) कारेऽपि द्वादशाहादिष्वस्ति प्राप्तिः ।

तत्र दीयते भवचत् ॥३१४।८९॥ तत्रेतीप्समर्थात् कालवाचिनो मृदो दीयते इत्यस्मिन्नर्थे भव इव त्वविधिर्बोधितव्यः । यथा मासे भवं मासिकम् । आर्धमासिकम् । “काळाट्टञ्” [३१२।१३१] इत्येवमादि-विधिः । एवं मासे दीयते मासिकम् । आर्धमासिकम् । प्रातृपेयम् । हैमनम् । शैशिरम् । वदग्रहणं सर्वसादृश्यायम् । इह कार्यग्रहणमपि कर्त्तव्यम् । मासिकम् । वासन्तम् । हैमनम् । कर्त्तव्यम्, यन्मासे कार्यं तन्मासे भवमित्यपि भवति । ततः “तत्र भवः” [३१२।२८] इत्येव सिद्धम् । रादनुवर्थं तर्हीह कार्यग्रहणं सार्थकम् । द्वयोर्मासयोः कार्यं द्वैमासिकम् । भवार्थलक्षणस्य ठञः “रस्योवनपत्ये” [३११।७४] इत्युप प्रसज्यते । नेदं युक्तम् । उवेवात्रेण्यते । यदन्यैरप्युक्तम् । कार्यग्रहणमप्यनर्थकम् । तत्र भवेन कृतत्वादिति । अथापि कार्यमनुपः प्रयोगो दृश्यते । एवं तर्हि “तेन कार्यं” इत्यत्र स द्रष्टव्यः । द्वाभ्यां मासाभ्यां कार्यं द्वैमासिकम् । “जय्यलभ्यकार्यसुकरम्” [३१४।९२] इति द्रष्टुं । तत्र दीयते इति योगविभागः कर्त्तव्यः । यज्ञाख्यादित्यनुवर्त्तते । अग्निष्टोमे दीयते आग्निष्टोमिकमन्नम् । राजसूयिकम् । वाजपेयिकम् । द्वयोर्वाजपेयोर्दीयते द्वैवाजपेयिकम् ।

व्युष्टादेरण् ॥३१४।९०॥ इह कलिभ्य इति नापेक्ष्यते । सामान्येन विधानात् । तत्रेति वर्तते । व्युष्ट इत्येवमादिभ्य ईप्समर्थेयो दीयते इत्यस्मिन्नर्थेऽण्ये भवति । उष्ठी विवास इत्यस्य क्ले व्युष्टमिति कालवाचिं । व्युष्टे दीयते वैयुष्टम् । नित्यशब्दादीवन्तादिप वचनाद् भवति । तीर्थं । निष्क्रमणं । उपसंक्रमणं । प्रवेशनं । संग्रामं । संघातं । प्रवासं । उपवासं । अग्निपदी । पीलुमूलं । “अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] न कर्त्तव्यमिह पाठात् ।

तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां ण्यौ ॥३१४।९१॥ अत्रापि कालेभ्य इति नापेक्ष (व्य) ते । दीयते इति वर्तते । तेनेति भासमर्थाभ्यां यथाकथाचहस्तशब्दाभ्यां दीयत इत्यस्मिन्नर्थे यथासंख्यं ण्यौ भवतः । यथाकथाच दीयते यथाकथाचम् । अनादरदत्तमित्यर्थः । हस्तेन दीयते हस्त्यम् ।

जय्यलभ्यकार्यसुकरम् ॥३१४।६२॥ कालेभ्य इति वर्तते । तेनेति भासमर्थात् कालवाचिनो मृदो जय्य लभ्य कार्य सुकर इत्येतेष्वर्थेषु ठञ् भवति । मासेन जय्यो मासिको हस्ती । मासेन शक्यते जेतुमित्यर्थः । मासेन लभ्यो मासिकः पटः । मासेन कार्य मासिकं गृहम् । मासेन सुकरो मासिकः प्रावादः ।

सम्पादिनि ॥३१४।६३॥ कालेभ्य इति निवृत्तम् । भासमर्थान्मृदः सम्पादन्यर्थे ठञ् भवति । कर्ण-वेष्टाभ्यां सम्पादि शोभते कार्णवेष्टिकं मुखम् । वज्रयुगेन सम्पद्यते वाज्रयुगिकं शरीरम् ।

कर्मवेष्टाद्यः ॥३१४।६४॥ तेन सम्पादिनीति च वर्तते । कर्मवेष्टशब्दाभ्यां यो भवति । ठञोऽपवादः । कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्यं शौर्यम् । वेष्टेण सम्पद्यते वेष्ट्या नर्तकी । नेपथ्येन शोभते इत्यर्थः ।

तस्मै प्रभवति सन्तापादेः ॥३१४।६५॥ तस्मै इति अप्समर्थेभ्यः सन्तापादिभ्यः प्रभवतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति । अलमर्थेऽप् । सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः । सन्ताप । सन्नाह । संयोग । संग्राम । सम्पराय । सम्पेष्ट । निष्पेष्ट । निसर्ग । उपसर्ग । विसर्ग । प्रवास । उपवास । संघात । संमोहन । शक्तुमांसौदनाद् विपृहीतादपि । शाक्तुमांसौदनिकम् । शाक्तुकम् । मांसिकम् । औदनिकम् ।

योगाद्यश्च ॥३१४।९६॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । योगशब्दाद्यो भवति ठञ् च । योगाय प्रभवति, योग्यः । यौगिकः ।

कर्मण उक्कञ् ॥३१४।९७॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते । कर्मशब्दादुक्कञ् भवति । कर्मणे प्रभवति कार्मुकं धनुः ।

समयस्तदस्य प्रातम् ॥३१४।९८॥ तदिति वासमर्थात्समयादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति यत्तद्वासमर्थं प्रातं चेत्तद्भवति । समयः प्रातोऽस्य सामयिकम् । प्रातकालमित्यर्थः ।

श्रुतोरण् ॥३१४।९९॥ श्रुतशब्दात् वासमर्थात्प्रातोपाधिकादस्येति ताऽर्थेऽण् भवति । श्रुतुः प्रातोऽस्य, आर्त्तवं पुष्पम् । “उपवन्नादिभ्य उपर्त्तयानम्” [वा०] । उपवस्ता प्रातोऽस्य आपवन्नम् । प्राशिता प्रातोऽस्य प्राशितम् । कर्मनामधेयम् ।

कालाद्यः ॥३१४।१००॥ तदस्य प्रातमिति वर्तते । कालशब्दाद्यो भवति । कालः प्रातोऽस्य, काल्यं शीतम् । रात्रावुषितायामहरादिः कालोऽपि काल्यः ।

प्रकृष्टे ठः ॥३१४।१०१॥ तदस्येति वर्तते कालादिति च । प्रकृष्टे प्रकर्षे वर्तमानादस्येति ताऽर्थे ठो भवति । प्रकृष्टः दीर्घः कालोऽस्य कालिकम् शृणुम् । कालिकं सख्यम् । अन्ये प्रकृष्टे ठञिति पठन्ति । कालिका मैत्री ।

प्रयोजनम् ॥३१४।१०२॥ कालादिति निवृत्तम् । तदस्येति वर्तते । प्रयोजयतीति प्रयोजनम् । नन्द्यादिपाठाल्ल्युः । बहुलवचनाद्वा कर्त्तरि युट् । तदिति वासमर्थात्प्रयोजनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति । अर्हत्पूजाप्रयोजनमस्य आर्हत्पूजिकः । ऐन्द्रमहिकः ।

वैशाखाद्याष्टिकागारिकडाकालिकट् ॥३१४।१०३॥ वैशाखादयः शब्दा निपात्यन्ते । यदत्र लोकोद्भाष्यं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धं तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्निषेधे । “विशाखाषाढाभ्यां यथासंख्यं मन्थ-द्वयोपपत्तेरप्यष्टिकादेः” विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः । आषाढो दण्डः । “षष्ठिरात्रेण पच्यन्ते इत्यस्मिन्वाक्ये कः । रात्रशब्दस्य च सम् ।” षष्ठिका नाम व्रीहयः । असंज्ञायां वाक्यमेव भवति । षष्ठिरात्रेण पच्यन्ते मुद्गा इति । “एकागारशब्दात्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्नर्थे चौरैऽभिधेये ठञ् ।” एकागारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकश्चौरः । चौरादन्यत्र वाक्यमेव । एकागारं प्रयोजनमस्य भित्तोरिति । अथवा “एकः समर्थः अगारमोचि-

तुमिति वाक्ये एक शब्दाण्यगारिकद्वित्यं त्यो निपात्यते । ऐकारिकश्चौरः । ऐकारिकी चौरः । समानकालशब्दादाद्यन्तोपाधिविशिष्टादस्येति ताऽर्थे इकङ्निपात्यते समानकालस्य च आकाल आदेशः । समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिकः स्तनयितुः । आकालिकी विद्युत् । यस्तु प्रादिलक्षणे से आकाल इष्टः । आवृत्तः काल ईषत्कालो वा आकाल इति । तस्मात् ठञ् च ठश्चेत्यते । आकालिकी आकालिका विद्युत् ।

छोऽनुप्रवचनादेः ॥३॥४॥१०४॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । अनुप्रवचनादिभ्यश्छो भवति । ठञोऽपवादः । अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य, अनुप्रवचनीयम् । अनुप्रवचन । उत्थापन । उपस्थान । संवेशन । प्रवेशन । अनुवाचन । अनुवचन । अनुपान । अनुवादन । अनुवासन । अन्वारोहण । प्रारोहण । आरोहण । आभरण । “विशिष्टरिपादिरुहिप्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुपसंख्यानम्” [वा०] । गृहप्रवेशनीयम् । प्रपापूरणीयम् । अश्वप्रपदनीयम् । प्रासादरोहणीयम् । एतस्मिंश्च वक्तव्ये सति यानि गणे विशयादिप्रकृती-त्यनान्तानि पठ्यन्ते तेषां पाठोऽनर्थकः प्रपञ्चाऽर्थो वा ।

समापनात्सादेः ॥३॥४॥१०५॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते । समापनशब्दात्सादेशश्छो भवति । ठञोऽपवादः । जैनेन्द्रसमापनं प्रयोजनमस्य जैनेन्द्रसमापनीयम् । तर्कसमापनीयम् । “स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः” [वा०] । स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम् । वन्यम् । यशस्यम् । आयुष्यम् । काम्यम् । “पुण्याह-वाचनादिभ्य उक्तव्यः” [वा०] । पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य पुण्याहवाचनम् । शान्तिवाचनम् । स्वस्ति-वाचनम् । अन्नतपात्रम् । नेदं वक्तव्यम् । तादर्थ्यात्ताच्छब्दं भविष्यति । अनभिधानाट्ठञ् भवति । “श्रद्धा-दिभ्योऽण् वक्तव्यः” [वा०] । श्रद्धा प्रयोजनमस्य श्रद्धम् । चूडा प्रयोजनमस्य चौडम् ।

तदहं वत् ॥३॥४॥१०६॥ अर्हतीत्यर्हः, तदितीप्समर्थाद् अर्हतीत्यर्थे वद् भवति । राजानमर्हति राजानं (राजवद्) वृत्तम् । कुलीनवत् । इह कस्मान्न भवति शतमर्हति देवदत्तः । राजानमर्हति मणिः । उत्तरत्र क्रियाग्रहणं गुणभूतमपि सिंहावलोकनेन सम्बध्यते तेन क्रिया यत्रार्हतेः कर्तृत्वेन विवक्षिता तत्राऽयं विधिः ।

तेन क्रिया तुल्ये ॥३॥४॥१०७॥ वदिति वर्तते । क्रिया तुल्या अस्य क्रियातुल्यम् । इच्छातो विशेष-णविशेष्यभाव इति क्रियाशब्दस्य पूर्वनिपातः । तेनेति भासमर्थक्रियातुल्येऽर्थे वद् भवति । क्षत्रियेण तुल्यं युष्यते क्षत्रियवद्युष्यते । “माऽनुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः” [१॥४॥७६] इति भा । शिष्येण तुल्यं वर्तते, शिष्यवद् वर्तते । अश्ववद्भावति । साधुवद् ब्रूते । इह कस्मान्न भवति । तैलपाकेन तुल्योऽष्टत पाक इति ? इह सूत्रे बर्थः (द्वयर्था) क्रिया सा च साध्या पूर्वापरीभूताऽवयवा, असाध्यभूता^१ च । घञाद्यन्तेन पुनर्व- (द्वय) र्थस व (घ) र्म्मः सिद्धतालक्षणे द्रव्यभूत उच्यते इति नास्ति प्राप्तिः । यदि घञाद्यन्तेन क्रिया नामिधीयते कथं भोक्तुं पाकः भोजकस्य पाकः इति ? नैष दोषः ? “ब्रतु^२ यादि (वृणुमादि)” [२॥३॥८] सूत्रे घञाद्यन्तायाः प्रकृतेरर्थः क्रियाऽऽश्रीयते । क्रियाग्रहणं किमर्थम् ? ब्राह्मणेन तुल्यः पिङ्गलः । गुण-तुल्ये मा भूत् ।

तत्रेव ॥३॥४॥१०८॥ तत्रेतीप्समर्थाद् इवार्थे वद् भवति । मथुरायामिव मथुरावत् खुप्ने प्रासादाः । मथुरावद् रमणीयता । मथुरावद् वर्षति ।

तस्य ॥३॥४॥१०९॥ इवशब्दोऽनुवर्तते । तस्येति तासमर्थादिवार्थे वद् भवति । देवदत्तस्य इव देवदत्तस्य वनम् । राज इव राजवद् देवदत्तस्याश्वाः । वत्पकरणे “स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्” [३॥१॥७२]

१. “असत्त्वभूताश्च” इत्यपि पाठः । २. व्रतुमादि पृ० ।

इत्येष विधिर्न भवति । “भादौ वोक्तुं पुंवत्” [२।१।५३] इति निर्देशात् । योगापेक्षं चेदं शापकम् । तेन स्त्रीवदित्यपि सिद्धम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

भावे त्वन्तलौ ॥३।४।११०॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थाद् भावेऽर्थे त्वन् तल इत्येतौ लौ भवतः । नकारः “स्त्रीपुंसानुक्त्वात्” [३।१।७२] इत्यत्राऽस्यावधिरूपेण ग्रहणं मा भूत् इत्येवमर्थः । लकारस्तन्तः स्त्रियामिति विशेषणार्थः । भावः शब्दप्रत्ययप्रवृत्तिकारणम् । तद्यथा भवतोऽस्मान्छब्दप्रत्ययाविति भावः । उक्तं च “यस्य गुणस्य हि भावाद्व्ये शब्दविनिवेशः, तदभिधाने त्वन्तलौ” [पा० महा० ५।१।११९] इति । इह गुण इति विशेषणमात्रम्, द्रव्यमिति विशेष्यमात्रम् इष्टम् । अश्वस्य भावः, अश्वत्वम् । अश्वता । शुक्लत्वम् । शुक्लता । अत्र जातिगुणयोरभिधाने त्वन्तलौ । सम्बन्धस्तु गम्यो नाभिधेयः । इह पाचकत्वमिति क्रियाऽभिधाने । अथवा सम्बन्धप्रधानाः । सम्बन्धे चाभिधेये त्वन्तलौ । कारकत्वम् । औपगवत्वम् । राजपुरुषत्वमिति । एतेऽपि ये जातिगुणशब्दाः, तेभ्यो जातिगुणस्य चाभिधाने । कुम्भकारत्वम् । हस्तित्वम् । राजवृद्धत्वम् । ये गुणमात्रवचना रूपं रसो गन्ध इति, तेभ्यः सामान्याभिधाने रूपत्वम्, रसत्वम् । उपचारशब्देषूपचारनिमित्तेऽभिधेये गोत्वं वाहीकस्य । अग्नित्वं माणवकस्य । पृथक्त्वं नानात्वमित्येवमातौ असत्त्वभूतत्वेऽपि शब्दान्तरेण तासमर्थात् पृथगित्यस्य भाव इति । यदृच्छा-शब्देषु । डित्यादिषु संज्ञासम्बन्धाभिधाने सर्वावस्थान्याप्याकृतिसामान्याभिधाने च डित्यत्वम् । उत्त्वे-पणादिषु सामान्येऽभिधेये उत्त्वेपणत्वम् ।

आ च त्वात् ॥३।४।१११॥ वक्ष्यति “ब्रह्मणस्त्वः” [३।४।१२६] इति । आ एतस्मात् त्व संशब्दनाद्यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्त्वन्तलौ तत्राऽधिकृतौ वेदितव्यौ । अपवादविषये समावेशार्थं कर्मणि च विधानार्थमेव तावद्विक्रियेते । वक्ष्यति “पृथ्वादेर्वेमन्” [३।४।११२] प्रथिमा । पृथुता । ननु वाक्चनान् त्वन्तलौ स्वयमेव भविष्यतः ? नैतदेवम्, “व्यादेरिक्” [३।४।१२१] इत्येवमादिसमावेशार्थं तद् वाक्चनम् । चकारकरणं किमर्थम् ? “स्त्रीपुंसानुक्त्वात्” [३।१।७२] इत्यस्मिन्नापि विषये प्रापणार्थम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पुंस्त्वम् । पुंस्ता । प्राक्त्वादिति मर्यादाकरणसामर्थ्यादत्रापि सिद्धः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम् । पौंस्त्वम् ।

पृथ्वादेर्वेमन् ॥३।४।११२॥ पृथु इत्येवमादिभ्यो वा इमन् भवति तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । वाक्चनं “व्यादेरिक्” [३।४।१२१] इत्यस्याणः, गुणवचनेभ्यश्च्यणः, वयोवाचिभ्यस्त्वजः समावेशार्थम् । पृथोर्भावः, प्रथिमा, पार्थक्, पृथुलम्, पृथुता । पृथु । मृदु । महि । पटु । तनु । लघु । बहु । आसु । ऊरु । बहुल । दण्ड । खण्ड । चण्ड । अक्रिञ्चन । बाल । होड । पाक । वत्स । मन्द । स्वादु । शृजु । वृष । ह्रस्व । दीर्घ । क्षिप्र । क्षुद्र । प्रिय ।

वर्णदृढादेष्ट्यण् च ॥३।४।११३॥ वर्णशब्देन वर्णविशेषा गुणोपसर्जने द्रव्ये ये वर्तन्ते, तेषामिह ग्रहणम् । तादृशैरेव दृढादिभिर्गुणवचनैः साहचर्याद् वर्णविशेषवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च ट्यण् भवति इमंश्च वा तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । शुक्लस्य भावः शौक्ल्यम्, शुक्लिमा, शुक्लत्वम्, शुक्लता । काष्ण्यम् । कृष्णिमा । शैत्यम्, शितिमा, शितिलम् । विभाषाऽनुकर्षादानं (ण)पि भवति । शैतम् । दृढादिभ्यः । दृढस्य भावः दार्ढ्यम्, द्रढिमा, दृढत्वम्, दृढता । दृढशब्दस्य क्षुब्धादिषु अनिट्त्वं दृढं च निपात्यते । दृढ । वृढ । परिवृढ । कुश । भृश । चुक्र । अम्ल । लवण । “वेद्यातकातरसमतिमनःज्ञाह्वानास्”

१. त्वन्तलौ अ०, पू० । २. त्वत् अ०, पू० । ३. -द्विनिवेशः पा० महा० । ४. त्वन्तलौ पा० महा० । त्वन्तलौ अ०, पू० । ५. त्वन्तलौ अ०, पू० ।

[ग० सू०] वैषात्यम् । वैलात्यम् । वैरस्यम् । । वैशाद्यम् । “समो मतिमनसोः” [ग० सू०] । साम्प्रत्यम् । साम्प्रत्यम् । शीत । उष्ण । जड । बधिर । मूक । मूर्ख । परिडत । मधुर इति । किमर्थमिदमुच्यते ? एषां गुणोक्तिलादेव “गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः” [३।४।११४] इत्येव व्यण् सिद्धः इमप्रापणार्थम् । एतत् व्यण्ग्रहणमुत्तरत्राऽवश्यकर्तव्यमिहैव कृतम् ।

गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥३।४।११४॥ गुणोक्तिभ्यः शब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यश्च व्यण् भवति कर्मणि भावे चाभिधेये । उच्यते इत्युक्तिः, गुण उक्तिर्यस्य स गुणोक्तिः । प्राग्गुणमुक्त्वा गुणद्वारेण द्रव्ये यो वर्तत इत्यर्थः । जडस्य कर्म भावो जाड्यम् । मोढ्यम् । ब्राह्मणादिराकृ-
तिगणः । आदिशब्दस्य प्रकारवाचित्वात् । एवं च गुणोक्तिग्रहणं गणे च ब्राह्मणादीनामनुक्रमणं स्वार्थे-
ऽपि भवतीति प्रपञ्चार्थम्, बाधकबाधनार्थं च । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मण्यम् । वाड्यम् । ब्राह्मणात् प्राणिजातिलक्षणोऽञ् प्रातः । माणव वाडव वृद्धलक्षणो बुञ् प्रातः । “अर्हतो नुम्व” [वा०]
नुमर्थः पाठः । चोर । धूर्त । मनोलादित्वाद् बुञ् प्रातः । आराव(ध)य । विराव(ध)य । उपराव(ध)य । अप-
राव(ध)य । एते “उपचोलादेः” [३।१।१२६] इत्युवन्ताः । ततो वृद्धलक्षणो बुञ् प्रातः । प्राणिजातिलक्षणो
वाऽञ् । एकभाव । द्विभाव । त्रिभाव । अन्यभाव । एतेभ्यः स्वार्थे । अक्षेत्रज्ञनञ् पूर्वार्थं ग्रहणम् । संवादिन् ।
संवेशिन् । संभाषिन् । बहुभाषिन् । शीर्षघातिन् । समस्य । परस्य । प्रस्य^१ । आव्यस्य । विषमस्य । विशाल ।
एवं नञ्पूर्वार्थं ग्रहणम् । अनीश्वर नञ्पूर्वार्थपाठः । कुशल । चपल । निपुण । पिशुन । एभ्यो युवादित्वाद् एण्
प्रातः । वालिस (श) बालवयोवाधि(चि)त्वादञ् प्रातः । अलस । बसो^२ऽयम् । इष । रष । कापुष ।
अनयोर्नञ्पूर्वार्थम् । राजन्पुरोहितादित्वाद् एण्यः प्रातः । गणपति । अधिपति । पत्यन्तलक्षणो एयः
प्रातः । गण्डुल । दायद । विशस्ति । विशाप । विधान । निघात । एभ्यस्तत्त्वलोनिर्वृत्यर्थम् ।
“सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे” [वा०] । सार्ववेद्यम् । सार्वलोक्यम् । धानुर्वेद्यम् । अनुशक्तिकादित्वाद्भुवन्नैप् ।
त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ग्यम् । “वोरात्तेजसि यः” [वा०] । वीरस्य तेजः वीर्यम् । “विशेषेऽण् वक्तव्यः”
[वा०] । वैरम् । व्यणष्टिकरणं व्यर्थम् । आचिती । सामग्री । “हृको हतो ह्यास्” [४।४।१४०]
इति यस्म ।

नञ् सेचतुरसंगतलक्ष (व) णवडबुधकतरसलसेभ्यः ॥३।४।११५॥ प्रतिपदोक्ते नञ्से कृतै
चतुर संगत लक्षण (लवण) वड बुध क्त रस लस इत्येतेभ्य एव भावकर्माभिधानिस्तस्या
भवन्ति । ननु ग्रहणवद्भ्यो विहिताः कथं तदन्तेभ्यः प्राप्नुवन्ति ? येनार्थं नियम उच्यते । ब्राह्मणा-
देराकृतिगणत्वाच्चपूर्वादपि यण् (व्यण्) प्राप्नोति । पत्यन्ताद्विहितो एयः, हायनान्ताद् एण्, योङ्गे बुञ्-
पूर्वादपि प्राप्नोति । न चतुरः अचतुरः, तस्य भावः कर्म वा आचतुर्यम् । आसंगत्यम् । आलवण्यम् ।
आवड्यम् । आवुध्यम् । आकल्यम् । आरस्यम् । आलस्यम् । एतेभ्य एव नञ्से कृते यथा स्युर्नान्येभ्य
इति । अपटुलम् । अपटुता । अपतिलम् । अपतिता । (अ) हायनत्वम् । (ल) चलोर्नियमात्रिर्नृत्तिर्न
भवति, आ चत्वादिति वचनात् । प्रतिपदग्रहणं किमर्थम् ? नञ्पूर्वाद् बलात् भाववचनो यः प्राप्नोति स
भवत्येव । न विद्यते पटुरस्य, अपटुः, अपटोर्भावः आपटवम् । अपतेर्भावः आपत्यम् । आहायनम् ।
आरमणीयकम् । अथ यत्र नञ्स्य हृद्वृत्तेश्चैकमेव वाक्यं तत्र कथं भवितव्यम् न पटोर्भाव इति ?
हृद्वृत्त्या प्राग्भवितव्यं पश्चाच्चञ्सः । आपटवमिति ! न कर्णवेष्टाभ्यासपादिमुखम् अक्षाणवेष्टिकम् ।
चतुरादिष्वभिधानवशाच्चञ्सः । पश्चाद् भावे त्यः । न चतुरस्य भाव आचतुर्यम् ।

स्तेयसख्ये ॥३।४।११६॥ स्तेय सख्य इत्येते शब्दरूपे निपात्येते, स्तेनशब्दात्तासमर्थात् भाव-
कर्मणोर्यः, नशब्दस्य च खं निपात्येते । स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् । यण् (ट्यण्) चात्रेष्यते ।
स्तेयम् । सखिशब्दाद् भावकर्मणोर्यः । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् । “दूतवणिगर्थ्या यो वक्तव्यः” [वा०]
दूतस्य भावः कर्म वा दूत्या । वणिज्या ।

कपिज्ञातेर्दञ् ॥३।४।११७॥ कपि-ज्ञातिशब्दाभ्यां तासमर्थ्यां दञ् भवति भावे कर्मणि
चाभिधेये । कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् । इगन्तत्वाद्दण् प्रातः । ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम् । प्राणि-
जातिलादञ् प्रातः । खत्तलावपि भवतः । कपित्वम् । कपिता । ज्ञातित्वम् । ज्ञातिता ।

पत्यन्तपुरोहितादेश्यः ॥३।४।११८॥ पत्यन्तात्पुरोहितादेश्च एयो भवति । तस्य भावे कर्मणि
चेति वर्तते । बृहस्पतेर्भावः कर्म वा, बार्हस्पत्यम् । सैनापत्यम् । इगन्तत्वाद्दण् प्रातः । पुरोहितादिभ्यः ।
पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् । राज्यम् । पुरोहित । “राजन्त्रसे” [ग० सू०] । अस इति किम् ?
सौराज्यम् । ब्राह्मणादित्वादट्यण् । ग्रामिक । खण्डिक । दण्डिक । कर्मिक । वस्तिक^१ । शिलिक । सूचिक ।
अञ्जलिक । छत्रिक । वर्षिक । प्रतिक । सारथिक । सांजनिक । आजनिक । साराक्षसूचक । ब्राह्मणादे-
राकृतिगणत्वादट्यणि सिद्धे स्त्रियां टावर्थं वचनम् ।

वयोवाक्प्राणिजात्युद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥ ३।४।११९ ॥ वयसो वाग्न्यः प्राणिजातिवाचिन्य
उद्गात्रादिभ्यश्चाञ् भवति । तस्य भावे कर्मणि चेति वर्तते । कुमारस्य भावः कर्म वा, कौमारम् । कैशारम् ।
कालभम् । प्राणिजातिभ्यः । आश्वम् । औश्वम् । माहिषम् । उद्गातुर्भावः कर्म वा, औद्गात्रम् । उद्गातृ ।
उन्नेतृ । प्रतिहन्तृ । प्रशास्तृ^२ । होतृ । भर्तृ । रथगणक । पङ्क्तिगणक । सुष्ठु । दुष्ठु । अध्वर्यु^३ ।
वधू ।

हायनान्त्युवादिभ्योऽण् ॥३।४।१२०॥ हायनान्तेभ्यो युवादिभ्यश्चाण् भवति । तस्य भावे
कर्मणि चेति वर्तते । अवयोवाचित्वे हायनान्ताः प्रयोजयन्ति । द्विहायनस्य युवादेर्भावः कर्म वा, द्वैहायनम् ।
त्रैहायनम् । युवादिभ्यः—यूनो भावः कर्म वा यौवनम् । मनोशादित्वाद् वुञ् प्रातः; अनेनाण् । “अनः
अणि” [४।४।११८] इति टिलप्रतिषेधः । पूर्वे सूत्रे यद्यग्रहणं क्रियेत हस्तिनो भावः कर्म वा हास्त-
मित्यत्र “प्रायोऽनपत्येऽणोः” [४।४।१५५] इति टिलप्रतिषेधः प्रसज्येत । मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि,
युवतेर्भावः “भस्य हत्यदे” [वा०] इति पुंवद्भावे कृते यौवनम् । युवन् । यजमान । “पुरुषादसे” [ग०सू०]
अस इति किम् ? राजपौरुष्यम् । अपुरुषत्वम् । कर्तृ । ऋत्विक् । कन्दुक । श्रवण । कुस्त्री । दुःस्त्री ।
सुस्त्री । सुहृदय । सुहृत् । दुर्हृत् । सुभ्रातृ । दुर्भ्रातृ । वृषल । परिव्राजक । सन्नह्यचारिन् । अनृशंस ।
“हृदयादसे” [ग०सू०] अस इति किम् ? अहृदयत्वम् । चपल । निपुण । पिशुन । कुतूहल । क्षेत्रज्ञ । ओ-
त्रियस्य भावः कर्म वा औत्रम् । उद्गात्रादिरत्रैव पठितव्य इति चेत् ; न; अस्याऽनित्यत्वात् । तेनानृशंस्यमिति
सिद्धम् ।

व्यादेरिकः ॥३।४।१२१॥ व्यादिग्रहणमिको विशेषणम् । वि^१ आदिर्यस्येकः स व्यादिः, व्यादिर्यं
इक् तदन्तान्मृदोऽण् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते । शुचेर्भावः कर्म वा शौचम् । नखरजनि ।
नाखरजनम् । हरीतकी । हरीतकम् । पृथु । पार्थवम् । वधू । वाधवम् । पितृ । पैत्रम् । व्यादिग्रहणं
मृत्समुद्रादस्य विशेषणमित्यन्ये । व्यादेर्मुद इगन्तात् । कृशानु । कार्शानवम् । प्रतिहर्तृ । प्रातिहार्यम् ।

१. वस्तिक अ०, पृ० । २. प्रमातृ अ० । ३. सूत्रम् “अनः” इत्येव । अणित्यनुवृत्त्यभिप्रायेण
“अनः अणि” इति ।

इह (विश्च) ना च विनरौ । चित्रे (विनु) भावः कर्म वा परत्वाद्ब्रह्मलक्षणो बुञ् । चैत्र (चैत्र) -
कमिति । कथं काव्यम् ? कविशब्दो ब्राह्मणादिषु पठनीयः । व्यादेरिति किम् ? पाण्डुत्वम् । पाण्डुता । इह
इति किम् ? वकुलत्वम् ।

योडो रूपोत्तमाद् बुञ् ॥३१४१२२॥ त्रिप्रभृतीनामन्त्यम् उत्तमम्, उत्तमस्य समीपमुत्तमम्,
रूपोत्तमं यस्य मृदः, तद्रूपोत्तमम् । योडो मृदो रूपोत्तमाद् बुञ् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।
रमणीयस्य भावः कर्म वा, रामणीयकम् । औपाध्यायकम् । योड इति किम् ? कापोतम् । रूपोत्तमादिति
किम् ? क्षात्रियम् । कुलयात्वम् । रूपान्त्यादिति वक्तव्ये उत्तमग्रहणं त्रिप्रभृतीनामन्त्यां परिग्रहार्थम् ।
तेनेह न भवति । कायत्वम्, कायता । कथं ज्ञायते तमशब्दोऽयमातिशयिकः । अयमेतेषामतिशयेन
उद्गततम इति, “सन्महःपरमोत्तमोत्कृष्टम्” [१३१५६] इति निपातनात् । “किमेभिर्दृक्किष्कादामद्रव्ये”
[४१२१०] इति आम्न भवति । अव्युत्पन्नं वा मृद्रूपम् । त्रिप्रभृत्यन्तवाचि बुपोत्तमादिति सिद्धे
रग्रहणं नेनेहल्यवधानेऽपि प्रापणार्थम् । आचार्यकम् इति । “सहायाद्वेति वक्तव्यम्” [वा०] । साहाय-
कम् । साहाय्यम् ।

द्वन्द्वमनोज्ञादेः ॥३१४१२३॥ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च बुञ् भवति । तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते ।
कुरुकाशीनां भावः कर्म वा कौरकाशिका । भारतवाहुबलिका । श्रैपालवसुपालिका । मनोज्ञादिभ्यः । मनोज्ञस्य
भावः कर्म वा, मनोज्ञः । प्रियरूप । आदो (अभि) रूप । कल्याण । मेधाविन् । आद्य (द्व्य) । सुकुमार ।
कुलपुत्र । छान्दस । छात्र । श्रोत्रिय । चौर । धूर्त । वैश्वदेव । युवन् । यौवनिका । “प्रकृत्याऽके राजन्य-
मनुष्ययुवानः” [वा०] इति प्रकृतिभावः । ग्रामपुत्र । ग्रामखण्ड । ग्रामकुमार । अमुष्यपुत्र । अमुष्यकुल ।
शरपुत्र । गोत्र ।

वृद्धचरणच्छ्लाघाऽत्याकारावेते ॥३१४१२४॥ वृद्धवाचिनश्चरणवाचिनश्च मृदो बुञ् भवति
भावकर्मणोरर्थयोः श्लाघादिषु विषयभूतेषु द्योत्येषु वा । श्लाघो विकृत्यनं स्मय इत्यर्थः । अत्याकारः परावि-
(वि) क्षेपः । अवेतः अवगतः । गार्गिकया श्लाघते । गार्गिकया अत्याकुस्ते । गार्गिकामवेतः । चरणात् ।
काठिकया श्लाघते । काठिकया अत्याकुस्ते । काठिकामवेतः । श्लाघादिष्विति किम् ? काष्ठेन प्रसिद्धः ।
प्राणिजातिलक्षणोऽञ् ।

होत्राभ्यश्छुः ॥३१४१२५॥ होत्राशब्द ऋत्विजां वाचकः । बहुलनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः । होत्राभ्य
ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यः शब्देभ्यश्छो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । अञ्छावाकस्य भावः कर्म वा, अञ्छावाक्रीयम् ।
मैत्रावरुणीयम् । ब्राह्मणाञ्छंसीयम् । अञ्छावाकत्वम् । अञ्छावाकता । अथवा होत्रा कठः । अञ्छावाकशब्द-
सहचरिता ऋक् अञ्छावाक् । मैत्रावरुणीशब्दसहचर्याद् मैत्रावरुणी । ब्राह्मणाञ्छंसिश्चशब्दसहचरिता ऋक्
ब्राह्मणाञ्छंसी । “होत्रायाः स्वार्थे को (छो) वक्तव्यः” [वा०] । होत्रैव होत्रीयः ।

ब्रह्मणस्त्वः ॥३१४१२६॥ ब्रह्मशब्दात् होत्रावाचिनस्त्वो भवति भावकर्मणोरर्थयोः । ब्रह्मणो भावः
कर्म वा ब्रह्मत्वम् । पुनरारम्भः तलादिनिवृत्त्यर्थः । यस्तु जातिवाची ब्रह्मशब्दः ब्राह्मणपर्यायः, ततस्त्वतस्तौ
भवतः । ब्रह्मत्वम् । ब्रह्मता ।

धान्यप्ररोहणे खञ् ॥३१४१२७॥ भावकर्मग्रहणं निवृत्तम् । तस्येति वर्तते । प्रकर्षेण रोहन्ति
धान्यान्वस्मिन् प्ररोहणं क्षेत्रमित्यर्थः । धान्यविशेषवाचिभ्यः प्ररोहणेऽभिधेये खञ् भवति । प्रियङ्गुणां प्ररो-
हणं क्षेत्रं प्रैयङ्गवीणम् । मौद्गीनम् । गौधूमीनम् । धान्यानामिति किम् ? तृणानां प्ररोहणं चत्वरम् । प्रग्रहणं

किम् ? रोहणमित्युच्यमाने सुदृगानां रोहणः कुशल इत्यत्रापि प्राप्नोति । प्रग्रहणे पुनः सति प्रकर्षेण रोहण-
स्मिन् प्ररोहणं केदारदि क्षेत्रमित्युक्तं भवति ।

ब्रीहिशालेर्दञ् ॥३१४१२८॥ ब्रीहिशालिशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां प्ररोहणेऽर्थे दञ् भवति । खञो-
पवादः । ब्रीहीणां प्ररोहणं क्षेत्रं ब्रैह्यम् । शालेयम् ।

यवयवकषष्टिकाद्यः ॥३१४१२९॥ यवादिभ्यस्तासमर्थेभ्यः प्ररोहणेऽर्थे खञ् भवति यश्च ।
उमाभङ्गयोरधान्यत्वेऽपि वचनाद्भवति । धान्यानि लोके प्रसिद्धानि मुद्रादीनि । “यवाश्च मे तिलाश्च” इत्यादौ
पठितानीत्यपरे । तिलानां प्ररोहणं तैलीनम्, तिल्यम् । माषीणम् । माष्यम् । औमीनम्, उभ्यम् । भाङ्गीनम्,
भङ्ग्यम् । आणवीनम्, आणव्यम् ।

सर्वचर्मणः कृतः खञ् ॥३१४१३०॥ कृतशब्दः कर्मणि । तदपेक्षया तासमर्था प्रकृतिः ।
सर्वचर्मशब्दात् कृत इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति खञ् च । सर्वचर्मणा कृतः सर्वचर्मीणः, सार्वचर्मीणः ।
यदेवं सर्वशब्दस्य कृत इति त्वार्थमपेक्षमाणस्य चर्मणा सह सो न प्राप्नोति । अतएव निपातनाद् भवति ।

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः ॥३१४१३१॥ दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनो दर्पणादिः ।
यथामुखसम्मुखशब्दाभ्यां तासमर्थाभ्यां दर्शन इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मुखस्य सदृशोऽर्थो यथामुखम् ।
अतएव निपातनात् “असादृश्ये” [१३१६] इति ह्रस्वप्रतिषेधो न भवति । समं मुखमस्य प्रतिबिम्बस्य
सम्मुखम् । समं वा मुखम्, सम्मुखम् । निपातनात्समशब्दान्तखम् । यथामुखं दर्शनः, यथामुखीनः ।
सम्मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः । कर्मणि ता ।

पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रमाप्नोति सर्वादेः ॥३१४१३२॥ निर्देशात्समर्थविभक्त्युपादानम् । पथिन्
अङ्ग कर्मन् पत्र पात्र इत्येवमन्तात् सर्वशब्दादेर्मुद इत्समर्थादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । सर्वपथानानोति
सर्वपथीनमुदकम् । सान्तस्तदग्रहणेन गृह्यते । सर्वाङ्गीणः पटः । सर्वकर्मीणः पुरुषः । सर्वपत्रीणः सारथिः ।
सर्वपात्रीण ओदनः । सर्वादेरिति किम् ? पन्थानमाप्नोति ।

आप्रपदम् ॥३१४१३३॥ आप्रपदशब्दादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । प्रवृद्धं पदं प्रपदम् ।
पदस्योपरि गुल्फः, पदाग्रं वा । आ प्रपदादाप्रपदम् । “पर्यपाड्वहिरखवः कया” [१३१७०] इति
ह्रस्वः । क्रियाविशेषणमिदं वान्तम् । ततो वचनात्त्यः । आप्रपदमाप्नोति आप्रपदीनः कम्बलः ।

सर्वाङ्गीनानुपदीनायानयोनागवीनाद्यश्वीनाः ॥३१४१३४॥ सर्वाङ्गीन, अनुपदीन, अयानयीन
आगवीन, अद्यश्वीन इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । सर्वाङ्गशब्दादिबन्ताद् भक्षयतीत्यस्मिन्नर्थे खो निपात्यते ।
सर्वाङ्गीन भक्षयति सर्वाङ्गीनो भिक्तुः । पदसदृशमनुपदम्, यथार्थं ह्रस्वः । अनुपदशब्दाद् वान्ताद्बद्धेस्य-
स्मिन्नर्थे खः । अनुपदं बद्धा अनुपदीना उपान्त । पदप्रमाणेत्यर्थः । अयः प्रदक्षिणम्, अनयः प्रसव्यम् ।
प्रदक्षिणप्रसव्यमागमिना यस्मिन् परैः पदानामसमावेशः सोऽयानयः । अयादप्रवृत्तोऽनयः, अयानयः ।
मयूरस्यसर्काद्वत्त्वात् [१३१६६] सविधिः । अयानयशब्दादिबन्ताद् नेय इत्यस्मिन्नर्थे खः । अयानय-
नेयः शारोऽयानयीनः । स्वस्यां दिशि फलकशिरोगत इत्यर्थः । गोरापूर्वाङ्गागोः प्रतिदानात्कर्म करोतीत्य-
स्मिन्नर्थे खः । आगवीनः कर्मकरः । यो गवां भूतः कर्म करोति आ तस्य गोः प्रत्यर्पणात् एवमुच्यते ।
अद्यश्वः शब्दादासन्ने । वज्रने खो निपात्यते । अद्य श्वो वा विजनिष्यते अद्यश्वीना गौः । अद्यश्वीना वडवा ।
केचिद् विजनन इति विशेषणं नेच्छन्ति । आसन्नमात्रे निपातयन्ति । अद्यश्वीनो वियोगः । अद्यश्वीनं
मरणम् ।

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥३१४१३५॥ निर्देशदेव समर्थविभक्त्युपादानम् । परोवर परम्पर पुत्रपौत्र इत्येतेभ्य इत्समर्थेभ्योऽनुभवतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । पराँश्च अवराँश्च अनुभवति परोवरीणः । त्यसन्नियोगे परोवरभावो निपात्यते । पराँश्च परतराँश्च अनुभवति परम्परीणः । त्यसन्नियोगे पर-परतरयोः परम्परभावः । कथं मन्त्रपरम्परा मन्त्रं भिनत्तीति प्रयोगः ? शब्दान्तरमप्यस्ति । पुत्रपौत्राननुभवति पुत्रपौत्रीणः ।

अवारपारात्यन्तानुकामगामी ॥३१४१३६॥ अवारपारं अत्यन्त अनुकाम इत्येतेभ्य इत्समर्थेभ्यो गामीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । गमिष्यतीति गामी । “आवश्यकाऽध्वमर्णयोऽस्मिन्” [२१३१३६] इति आवश्यकार्थे णिन् । वत्स्यकालभावस्य “गम्यादिवर्धयति” [२१३११] इति वचनात् । अवारपारं गामी अवारपारीणः । पोटः । विगृहीतादपि भवति । अवारीणः । पारीणः । “विपरीताच्चेति वक्तव्यम्” [वा०] पारावारीणः । अतएव निपातनात्पारत्य वा पूर्वनिपातः । अन्तस्याभावोऽत्यन्तम् । “म्” [११३१५] इति अर्थभावे हसः । अथवा अन्तमतिक्रान्तः अत्यन्तः । “तिक्रुपादयः” [११३१६] इति षसः । हसपक्षे वान्तादपि वचनात्कः । अत्यन्तं गामी अत्यन्तीनः । कामस्याऽनुरूपमनुकामम् । यथार्थं हसः । अनुगतो वा कामः, अनुकामः । अनुकामं गामी अनुकामीनः ।

समां समां विज्ञायते ॥३१४१३७॥ समा संवत्सरः । तदेकदेशे समाशब्द उपचरितः । विजनन-क्रियायाऽवश्याविच्छेदात् “काष्ठाध्वन्यविच्छेदे” [११४१४] इतीप् । वीप्सायां द्वित्वम् । समां समां शब्द-द्विज्ञायते इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मृदवि (घि) कारेऽपि सुबन्तसमुदायाद् वचनात्कः । समां समां विज्ञायते समांसमीना गौः । समांसमीना वडवा । त्ये कृते “सुपो धुमृदोः” [११४१४२] इति सुप उप् । पूर्वपदे सुपोऽनुब्वक्तव्यः । यदा संवत्सरे समाशब्दः प्रवर्तते तदा समायां समायामिति विग्रहेऽपि समांसमीना गौः । त्यविषये पूर्वपदस्य समां भावो निपात्यते, उत्तरपदस्य च पादः खम् । परिशिष्टस्य तु सुपः “सुपो धुमृदोः” [११४१४२] इत्युप् ।

अनुग्वलंगामी ॥३१४१३८॥ अनुग्विति क्रियाविशेषणम् । अनुगुशब्दात् अलङ्गामी इत्येतस्मिन्नर्थे खो भवति । गवां पश्चात् अनुगु । पश्चादर्थे हसः । अनुगु अलङ्गच्छति अनुगवीनः ।

यखाध्वनः ॥३१४१३९॥ इवत्र समर्था संभवति अध्वशब्दादिऽसमर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे यखौ त्यौ भवतः । अध्वानमलङ्गच्छति अध्वन्यः, अध्वनीनः यदा यस्तदा “येऽहौ” [११४१३९] इति दिक्प्रतिषेधः । अन्यत्र “खेऽध्वनः” [११४१३९] इति टिक्भावः ।

छुश्चाऽभ्यमित्रात् ॥३१४१४०॥ अभिमित्रमभि अभ्यमित्रम् । “वीप्सेत्यभूतलक्षणेऽभिनेप्” [११४११] इतीप् । “लक्षणेनाभिसुख्येऽभिप्रीति” [११३११] इति हसः । क्रियाविशेषणमेतत् । अभ्यमित्र-शब्दाद् वासमर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे छो भवति यखौ च । अभ्यमित्रमलङ्गच्छति, अभ्यमित्रनीयः, अभ्यमित्र्यः, अभ्यमित्रनीयः ।

गौष्टीनाश्वीनकौपीनशालीनव्रातीनसासपदीनहैयङ्गवीनम् ॥३१४१४१॥ गौष्टीनादयः शब्दा निपात्यन्ते । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठः । “सुपि” [२१२१७] “स्थः कः” [२१२१८] इति कः । गोष्ठ-शब्दाद् भूतपूर्वोपाधिकाद् स्वार्थं खञ् निपात्यते । गोष्ठो भूतपूर्वो गौष्टीनो देशः । चरदोऽपवादः । अरव-

शब्दात् तासमर्थादेकाहगम इत्यस्मिन्नर्थे खञ् । गम्यते गमः । एकमहः, एकाहः । एकाहेन गमः, एकाह-
गमः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति सः । अश्वस्य एकाहगम आश्वीनोऽध्वा । आश्वीनानि पञ्चदश-
योजनानि । कृपावतरणशब्दादिप्समर्थादहर्हतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् युखं च निपात्यतेऽकार्येऽभिधेये । कृपावतरण-
महति कौपीनं पापम् । करोतिः क्रियावामान्येन वर्तते । तेनाऽद्रष्टव्यमप्यकार्यम् । कौपीनमिन्द्रियम् । तात्स्थ्याद्
वल्गमपि । शाळाप्रवेशशब्दादिप्समर्थादहर्हतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते युखं चाष्टेऽभिधेये । शाळाप्रवेश-
महति शालीनः । अप्रगल्भ इत्यर्थः । व्रातकर्मशब्दाद् भासमर्थाज्जीवतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् युखं च । नाना-
जातीया अनियतवृत्तय उत्सवजीविनः संघा व्राताः । उत्सवः शरीरम्, तदायासेन ये जीवन्ति ते उत्सव-
जीविनः । व्रातकर्मणा जीवति व्रातीनः । तेषामेव व्रातानामन्यतमो यस्त्वन्यो व्रातकर्मणा भारोद्बहनेन
जीवति स व्रातीन इति नेष्यते । सप्तपदशब्दाद् भासमर्थाद्वाप्यते इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते सख्येऽभिधेये ।
सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनं सख्यम् । कथं साप्तपदीनं मित्रमिति सामानाधिकरण्यात् ? अर्शआदिपाठाद-
कारो मत्वर्थयो द्रष्टव्यः । ह्योगोदोहशब्दात्तासमर्थाद्विकार इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते प्रकृतेश्च हियङ्कु-
भावः । संज्ञायां ह्योगोदोहस्य विकारः दैत्यङ्गवीनम् । अभिनववृत्तस्य संज्ञैषा । अन्यत्र ह्योगोदोहस्य विकारः,
अणि, ह्योगोदोहं तक्रम् ।

भूतपूर्वे चरट् ॥३।४।१४२॥ पूर्वं भूतो भूतपूर्वः । “कालाः” [१।३।२५] इति क्तान्तेन षसः ।
अतएव निपातनादेवंजातीयेषु पूर्वशब्दस्य परनिपातो द्रष्टव्यः । भूतपूर्वं यन्ड्याम्मृद्रूपं वर्तते तस्मात्स्वार्थे चरड्
भवति । आढ्यो भूतपूर्वं आढ्यचरः । आढ्या भूतपूर्वा आढ्यचरी । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्-
भावः । यद्यपि भूतशब्दः पूर्वशब्दश्च अतीतकालवाचिनौ तथापि विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते । किञ्चित्कालं
भूतवेनावस्थाया दर्शनविषयतां नेदानोमस्तोत्ययं विशेषः पूर्वशब्दविशेषणात्प्रतीयते ।

ताया रूप्यश्च ॥३।४।१४३॥ भूतपूर्वं इति वर्तते । तान्तान्ड्याम्मृदो भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यो भवति चरट्
च । देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः, देवदत्तरूप्यः, देवदत्तचरः । इहासामर्थ्यान्न भवति । कम्बलो देवदत्तस्य गौभूत-
पूर्वो जिनदत्तस्येति । इह ऋद्रस्य देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौरिति समुदायस्यातान्तत्वादवयवस्य चासाम-
र्थ्यान्न भवति ।

पाकमूले पीलुकर्णादिभ्यः कुणजाहौ ॥३।४।१४४॥ ताया इति वर्तते । तासमर्थेभ्यः पील्वादिभ्यः
कर्णादिभ्यश्च यथासंख्यं पाकमूलयोरर्थयोः कुण जाह इत्येतौ भवतः । पीलूनां पाकः पीलुकुणः । पीलु । कर्कन्धु ।
शमी । करीर । बदर । कुवत्त । अश्वत्थ । खदिर । कर्णादिभ्यो जाहः । कर्णस्य मूलं कर्णजाहम् । कर्णं
अक्षि । मुख । नख । पाद । गुल्फ । भ्रू । दन्त । ओष्ठ । केश । शृङ्ग । पुष्प ।

पक्षात्तिः ॥३।४।१४५॥ ताया इति वर्तते । पक्षशब्दान्तान्तामूलोऽर्थे तिर्भवति । द्वयोः पीलुपाकयो-
रनुवर्तनेऽपि पाकस्याऽसम्भवात्तन्मूलग्रहणमेवाभिसम्बध्यते । पक्षस्य मूलं पक्षात्तिः ।

तेन वित्तश्चुञ्चुचणौ ॥३।४।१४६॥ वित्तः प्रतीत इत्यर्थः । तेनेति भासमर्थाद्वित्त इत्येत-
स्मिन्नर्थे चुञ्चु चण इत्येतौ ल्यौ भवतः । न्यायेन वित्तो न्यायचुञ्चुः । न्यायचणः । केशैर्वित्तः केशचुञ्चुः ।
केशचणः ।

विनङ्भ्यां नानाञौ न सह ॥३।४।१४७॥ न सहेति प्रकृतिविशेषणम् । कर्मादियोगाऽ-
सम्भवाद् वाविभक्तयत्र समर्था । असद्वार्ये वर्तमानाभ्यां विनङ्भ्यां यथासंख्यं नानाञौ भवतः । स्वार्थे । न सह,
विना । न सह, नाना ।

वेः शालशङ्कटौ ॥३१४१४८॥ प्रादयः पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः । यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुः । वेः ससाधनक्रियावचनाच्छालशङ्कट इत्येतौ त्रौ भवतः स्वार्थे । विसृषे (विगते) शृङ्गे विशाणे । विशङ्कटे । तद्योगात्ताच्छब्दो (च्छब्दयम्) विशालो गौः । विशङ्कटो गौरिति । अथवा विशालादयः परमार्थतो गुणशब्दाः, ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते । तेन विशालः पटः, विशालं यशः इत्येवमादि सिद्धम् ।

सम्प्रोदश्च कटः ॥३१४१४९॥ सम्प्र उद् इत्येतभ्यो वेश्च कट इत्यर्थं त्रौ भवति । अत्रापि ससाव(घ)नक्रियावचनेभ्यस्त्यो वेदितव्यः । सङ्कृष्टं सङ्कटम् । प्रकटम् । उक्तम् । विकटम् । विकट-दन्तयोगाद् विकटो हस्ती । “अलावृत्तिकोमाभङ्गाभ्यो रजस्तुपसंख्यानम्” [वा०] अलावूनां रजः अलावूकटम् । तिलकटम् । उमाकटम् । भङ्गाकटम् ।

कुटारश्चावात् ॥३१४१५०॥ अवात् ससाव(घ)नक्रियावचनात् कुटार इत्यर्थं त्रौ भवति कटश्च स्वार्थे । अवकृष्टः, अवकुटारः । अवकटः । “गोष्ठादयस्त्याः स्थानादिषु पशूनामिति वक्तव्यम्” [वा०] गवां स्थानं गोगोष्ठम् । महिषीगोष्ठम् । अजागोष्ठम् । “समूहे कटः” [वा०] अवानां समूहः, अविकटः । पशुकटः । “विस्तारे पटः” [वा०] अवीनां विस्तारः, अविपटः । “द्वित्वे गोयुगः” [वा०] उष्ट्रगोयुगम् । अश्व-गोयुगम् । महिषगोयुगम् । “प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः” [वा०] हस्तिनां षट्त्वं हस्तिषड्गवम् । “संस्कृते शूलयः” [वा०] पिठरे संस्कृतं पिठरशूलयम् । “बिकारे स्नेहे तैलः” [वा०] इज्जुदीनां स्नेहः इड्गुदीतैलम् । “प्ररोहणे झाकटशाकिनौ” [वा०] इच्छूणां प्ररोहणं क्षेत्रम्, इच्छुशाकटम् । मूलशाकटम् । इच्छुशाकिनम् । मूलशाकिनम् ।

नते नासिकायाः खौ टीटनाटभ्रटाः ॥३१४१५१॥ अवादिति वर्तते । नमनं नतम् । नासिका नतवाचिनोऽवशब्दाद्घोट नाट भ्रट इत्येते त्र्याः स्वार्थे भवन्ति खुविष्ये । नासिकाया इति सम्बन्धसामान्ये ता । तत्र यदा नासिकायाः कर्तृत्वविवक्षा, तदा सामानाधिकरण्येन विग्रहः । अवनता नासिका अवटीटा । अवनाटा । अवभ्रटा । यदा सम्बन्धित्वविवक्षा तदा वैयधिकरण्येन, नासिकाया अवनतम्, अवटीटम् । अवनाटम् । अवभ्रटम् । एवमुत्तरत्रापि विग्रहद्वयं ज्ञातव्यम् । तद्योगात्पुरुषेऽपि तथोच्यते । अवघोटः पुरुषः ।

नेबिडबिरीसौ ॥३१४१५२॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते । निशब्दान्नासिकानतार्थवचनाद् बिड बिरीस इत्येतौ त्रौ भवतः । निनता नासिका निबिडा । निबिरीसा । निबिडम् निबिरीसमिति वा । तद्योगात्पुरुषोऽपि निबिडः । निबिरीसः । कथं निबिडं वस्त्रं निबिडाः केशा इति । उपमानात्सिद्धम् ।

केनौ वि(चि)क् ॥३१४१५३॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते निरिति च । नासिकानतार्थ-वाचिनो नेः क इन इत्येतौ त्रौ भवतः वि(चि)क् इत्ययञ्चादेशः प्रकृतैः । निनता नासिका वि(चि)क्ता । वि(चि) किना । तद्योगाद् वि(चि)क्को देवदत्तः । वि(चि)किनः ।

पिटे चिः ॥३१४१५४॥ नासिकानतार्थवाचिनो नेः पिटे त्र्ये परतश्चिरित्ययमादेशो भवति । अनेनैव पिटस्य विधानम् । निनता नासिका चिपिटा । तद्योगाच्चिपिटो देवदत्तः । “क्लिन्नस्य चिदिपटौ लशच-क्षुषीति वक्तव्यम्” [वा०] क्लिन्नं चक्षुः चिल्लम्, पिल्लम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चिल्लः । “चुलादेशश्च वक्तव्यः” [वा०] क्लिन्नं चक्षुः चुल्लम् । तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चुल्लः ।

उपत्यकाऽचित्यके ॥३१४१५५॥ उपत्यका अचित्यका इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । उपशब्दात्पर्वता-सन्ने देशो वर्तमानात्स्वार्थे त्यक इत्यर्थं त्रौ निपात्यते इत्वाभावश्च स्त्रीलिङ्गे खुविष्ये । पर्वतमुपासन्नो देश

उपत्यका । अधीत्येतस्मात्पर्वतमारुढे देशे वर्तमानात्यक इत्वाभावश्च स्त्रीलिङ्गे खुविषये । पर्वतमध्यारुढो देशोऽधित्यका ।

कर्मठः ॥३॥४॥१५६॥ कर्मठ इति निपात्यते । कर्मशब्दादीप्समर्थादुच्यते इत्यस्मिन्नर्थेऽठो निपात्यते । कर्मणि घटते कर्मठः ।

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः ॥३॥४॥१५७॥ तदिति वासमर्थेभ्यः सञ्जातोपादि (घि)-भ्यस्तारकादिभ्योऽस्येति ताऽर्थे इतो भवति । तारकः संजाता अस्य तारकितं नभः । पुष्पिता लता । तारका । पुष्प । कर्णक । ऋजीष । सूत्र । निष्क्रमण । पुरीष । उच्चार । प्रचार । कुङ्मल । मुकुल । कुसुम । स्तवक । किसलय । वेग । वेश । निद्रा । बुभुक्षा । पिपासा । श्रद्धा । स्वप्न (श्वप्न) । श्रव । रोग । अङ्गारक । वर्णक । द्रोह । सुख । दुःख । उत्कण्ठा । भर । व्याधि । “गर्भादुप्राणिनि” [ग० सू०] गर्मिताः शालयः । अप्राणिनीति किम् ? गर्मिणी गौः ।

प्रमाणे द्वयसङ्घटनमात्रटः ॥३॥४॥१५८॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थात्प्रमाणेऽर्थे वर्तमानादस्येति ताऽर्थे द्वयसङ्घटनमात्रट इत्येते त्या भवन्ति । प्रमाणस्य प्रमेयापेक्षत्वात्प्रमेयस्त्यार्थः । ऊरुः प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम् । ऊरुमात्रम् । यद्यप्यायामः प्रमाणत्वेन प्रसिद्धस्तथाप्यभिधानवशाद् द्वयसङ्घटनपूर्वध्वंसाने, मात्रट पुनरविशेषेण । कर्षमात्रं घृतम् । प्रस्थमात्रं धान्यम् । धनुर्मात्रो भूमिः । “प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसङ्घटनानां ध्वंसन वक्तव्यम्” [वा०] समः प्रमाणमस्य समः । दिष्टिः प्रमाणमस्य दिष्टिः । वितस्तिः । “शच ध्वंसनं वक्तव्यम्” [वा०] द्वौ समे प्रमाणमस्य द्विसमम् । त्रिसमम् । द्विदिष्टिः । द्विवितस्तिः । तदन्तविध्यभावात्पूर्वेषामप्राप्तिः । चकारः किमर्थः ? संशये स्थायिनं मात्रटं वक्ष्यति । तत्राऽपि राट्ध्वंसनमेव यथा स्यात् । “ङट् स्तोमे वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशाहानि परिमाणमस्य यज्ञस्य पञ्चदशः स्तोमः । सतदशः । पञ्चदशी रात्रिः । छन्दसि पूर्वमेव सिद्धमछन्दोविषयार्थमेतत् । “शन्शतोर्द्धिनि वक्तव्यः” [वा०] पञ्चदशाहोरात्राः परिमाणमेवां पञ्चदशिनोऽर्द्धमात्राः । त्रिंशिनो मासाः । द्वात्रिंशिनो देवेन्द्राः । त्रयस्त्रिंश इत्यपीष्यते । “विंशतेरचेति वक्तव्यम्” [वा०] विंशिनो भवनेन्द्राः । विंशिनोऽङ्गरसः । “प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रट् वक्तव्यः” [वा०] समः प्रमाणमस्य स्यात् सममात्रम् । वितस्तिमात्रम् । प्रस्थः परिमाणमस्य स्यात् प्रस्थमात्रम् । कुडवमात्रम् । पञ्च संख्याः पथां स्यात् पञ्चमात्राः । पुरुषाः दशमात्राः । उक्तं च -

“प्रमाणध्वंसनं राचच ङट्स्तोमे शन्शतोर्द्धिनिः । प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये ॥”

“स्वार्थे द्वयसम्मात्रटौ बहुलं वक्तव्यौ” [वा०] तावदेव तावद्द्वयसम् । तावन्मात्रम् । यावदेव यावद्द्वयसम्, यावन्मात्रम् ।

पुरुषहस्तिनोऽण् च ॥३॥४॥१५९॥ तदस्येति वर्तते प्रमाण इति च । पुरुष-हस्तिशब्दाभ्यामण् च भवति, द्वयसङ्घटनश्च भवति । पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम् । पुरुषद्वयसम् । पुरुषद्वयसम् । पुरुषद्वयसम् । पुरुषमात्रम् । हस्ती प्रमाणमस्य हास्तिनम् । “प्रायोऽनपत्येऽज्ञानः” [४॥४॥१५९] इति टिलप्रतिषेधः । हस्तिद्वयसम् । हस्तिद्वयसम् । हस्तिमात्रम् । प्रमाणाशब्दाच्च प्रसिद्धौ “प्रमाणादध्वंसनमिति” च भवति । पुरुषः प्रमाणमस्य पुरुषः । “अणादीनां ध्वंसनवचनाच्छ्रवणोच्चारणचेति ध्वंसनं द्वयसङ्घटनानामेव द्रष्टव्यम् ।” अण् तदन्तान् सम्भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्य द्विपुरुषं जलम् । द्विपुरुषौ द्विपुरुषा वा खाता । द्विहस्ति जलम् । द्विहस्तिनी नदी । नान्तत्वान्ङीविधिः ।

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः ॥३॥४॥१६०॥ तदस्येति वर्तते । यद् तद् एतद् एतेभ्यः परिमाणो-
पाधिभ्योऽस्येति ताऽर्थे वतुर्भवति । यत्परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् । “आ सर्वनाम्नः”
[४।३।१६७] इति दकारस्यात्वम् । प्रमाणे ग्रहणेऽनुवर्तमाने परिमाणग्रहणं किम् ? प्रमाणे द्वयसडादीनां
बाधा मा भूत् । यद्द्वयसम् । प्रमाणपरिमाणयोर्भेदाद्वत्त्वं तदपि (वत्त्वन्तादपि) द्वयसडादयः सिद्धाः ।
यावन्मात्रम् ।

इदमो वो घः ॥३॥४॥१६१॥ इदमित्येतस्मादुत्तरस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । इदमेव
ज्ञापकम् । इदमो वतुर्भवतीति । इदम्परिमाणमस्य इयान् । घस्य इयादेशः । “किमिदमोः कंश्च” [४।३।१६६]
इति इदमः ईयादेशः । “यस्य ड्याञ्च” [४।४।१३६] इति खः । त्यमात्रमेवावशिष्टम् । तस्य व्यपदेशिवद्-
भावात् मृत्संज्ञा “परस्यादेः” [१।१।२१] इत्येव सिद्धे व इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः ? घस्य त्यान्त-
स्त्वं मा भूत् ।

किमः ॥३॥४॥१६२॥ किम इत्येतस्मात्परस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति । अनेनैव वतो-
र्विधानम् । किम्परिमाणमस्य क्रियान् ।

सङ्ख्यापरिमाणे इतिश्च ॥३॥४॥१६३॥ किम इति वर्तते तदस्येति च । परिमितिः परिमाणम् ।
सङ्ख्यायाः परिमाणं परिच्छिन्तिः । सङ्ख्यापरिमाणे वर्तमानात् किमो वासमर्थ्यादस्येति ताऽर्थे डतीत्ययं ल्यो
भवति वतुश्च । वतोर्वकारस्य च घकारादेशः । का संख्या एषां कृतीमे पुरुषाः । द्वित्वैकत्वयोः सम्परिग्रहस्या-
भावात् । बह्वन्तमेवोदाहरणम् । अथवा परिमीयतेऽनेनेति परिमाणम्, सङ्ख्यैव परिमाणं सङ्ख्यापरिमाण-
मिति यसः । अस्मिन्पक्षे परिमाणग्रहणं सङ्ख्याविशेषणं किमर्थम् ? तथाहि का संख्या एषाम्, किम्परिमाण-
मेषामिति एक एवार्थः । एवं तर्हि यत्र सङ्ख्याऽन्नेपविषया तत्र मा भूत् । केयमेषां संख्या पञ्चानामिति ।
परिमाणग्रहणेऽत्र वर्तमाने पुनः परिमाणग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

सङ्ख्याया अवयवे तयट् ॥३॥४॥१६४॥ तदस्येति वर्तते । तदिति वासमर्थ्याः सङ्ख्यायाः अव-
यवोपाधिकाया अस्येति तार्थे तयट् भवति । सामर्थ्यादवयविनि तयट् वेदितव्यः । पञ्च अवयवा यस्य पञ्चतयो
यमः । दशतयो धर्मः । सप्ततयो नयष्टतिः ।

उभात्वम् ॥३॥४॥१६५॥ उभशब्दादुत्तरस्य तयट् खं भवति । इदमेव ज्ञापकं भवत्युभशब्दाच्चयटि ।
उभावयवव्यस्य उभयो मणिः । उभये देवमनुष्याः । उभयशब्दः सर्वादेषु पठ्यते ।

द्वित्रिभ्यां वा ॥३॥४॥१६६॥ द्वित्रिभ्यामुत्तरस्य तयटो वा खं भवति । “परस्यादेः” [१।१।५१]
इति तकारस्य खम् । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् । द्वये, द्वयाः । खेपनेभ्याः (त्रये । त्रयाः)
एकदेशविकृतस्यानन्त्यात् “प्रथमचरम्” [१।१।४१] इत्यादिना जसि वा सर्वनामसंज्ञा ।

तदस्मिन्नधिकमिति शद्शान्ताङ्गः ॥३॥४॥१६७॥ तदिति वासमर्थ्यात्पद्शान्तान्मृदोऽधिकोपाधि-
विशिष्टादस्मिन्नितीवर्थे डो भवति । इति करणस्तत्तच्चेद् विवक्षा । सङ्ख्या इति वर्तते । त्रिंशदधिका
अस्मिन् शते त्रिंशं शतम् । चत्वारिंशं शतम् । ननु शदिति त्यग्रहणे “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमित्यन्त-
ग्रहणमनर्थकम् । एवं तर्हन्तग्रहणसामर्थ्यादेकत्रिंशदादीनामपि सङ्ख्याशब्दानां ग्रहणम् । एकत्रिंशदधिका
अस्मिन् शते एकत्रिंशं शतम् । द्वित्रिंशम् । त्र्यत्रिंशम् । दशार्थं वाऽन्तग्रहणम् । एकादश
अधिका अस्मिन् शते एकादशं शतम् । एवं द्वादशम्, त्रयोदशम् । इह कस्मान्न भवति । एकादश
माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते इति ? यजातीयत्यार्थस्तज्जातीय एव प्रकृत्यर्थे सति

त्य इष्यते । इह तर्हि प्राप्नोति । एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते, गोविंश-
दधिका अस्मिन् गोशते इति सङ्ख्याया इत्यनुवृत्तेर्न भवति । इतिकरणः किमर्थः ? शतसहस्रयोरेवाभि-
धानमिति ज्ञापनार्थः । तेनेह न भवति । एकादश अधिका अस्यां विंशति, एकविंशदधिका अस्यां षष्ठा-
विति । कथम् एकादशं शतसहस्रमिति ? अत्राऽपि शतसहस्रयोरन्यतरप्राधान्यमस्ति । उक्तञ्च—

“अधिके समानजाताविष्टः शतसहस्रयोः । यस्य सङ्ख्या तदाधिक्ये ङः कर्तव्यो मतो मम ॥”

[पा० म० ५।२।४४] ।

विंशतेश्च ॥३।४।१६८॥ सङ्ख्याया इति वर्तते ! विंशतिशब्दाद् वासमर्थादधिकोपाधिविशिष्टा-
दस्मिन्नितीवर्थे ङो भवति । चशब्दात् विंशत्यन्तादपि भवति । विंशतिरधिका अस्मिन् शते विंशं शतं
सहस्रम् । तदन्तात् । एकविंशं शतम् । इकविंशं सहस्रम् । “ते विंशतेऽङिति” [४।४।१२८] इति खे
कृते “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपत्वम् । संख्याया इत्येव । गोविंशतिरधिका अस्मिन्
गोशते इति ।

सङ्ख्याया गुणस्य निमाने मयङ् ॥ ३।४।१६९ ॥ “तदस्य सङ्गातम्” [३।४।१५७]

इत्यतः तदस्येत्यनुवर्तते । गुणो भाग इत्यर्थः । गुणो निमीयते परिवर्त्यते विक्रीयते वा येन तन्निमानं
मूल्यमित्यर्थः । तदपि सामर्थ्याद् भाग एव । यतो गुणैरेव गुणो निमीयते । तदिति वा-
समर्थायाः संख्याया गुणस्य निमाने वर्तमानाया अस्थेति ताऽर्थे निमेषेऽभिधेये मयङ् भवति ।
गुणस्येति कर्मणि ता । यवानां द्वौ भागौ निमानमस्योदक्षिद्ग्रहणस्य द्विमयमुदक्षित् यवानाम् । द्विगुणं
मूल्यमित्यर्थः । एवं त्रिमयं चतुर्मयम् । यथा अणादयः शब्दशक्तिस्वाभाव्यादपत्यापत्यवत्सम्बन्धे विधीयमाना
अपि प्राधान्येन सम्बन्धमाचक्षते । अपगवोदरन्ति(औपगवोदरन्ति)रिति । तथा मयङ्भागो विधीयमानो
भागवन्तमाचष्टे तेन द्विमयमुदक्षित् इति सामानाधिकरण्यात् । टिकरणं द्वौ गुडस्य एकं शर्करायाः द्विमयी
शर्करा । गुणनिमान इति वक्तव्ये गुणस्येत्येकत्वं विवक्षितम् । तेनेह न भवति । यवानां त्रयो भागा निमानमु-
दक्षितः । द्वयोर्भागयोरिति अधिकायाश्च संख्यायास्य इष्यते । तेनेह न भवति । एको भागो निमानमस्यो-
दक्षिद्भागस्येति । इह तर्हि प्राप्नोति द्वौ यवानामध्यर्ध उदक्षित इति । अत्रापि गुणस्येति समर्थनिर्देशादेव
न भवति । तदपेक्षया प्रकृतैरपि निरंशसंख्यानं द्रष्टव्यम् । तेनेह न भवति अर्धयो यवानाम् एकस्योदक्षित
इति । न च सकविधेरन्यत्र अर्धार्धशब्दस्य संख्यात्वमिष्टम् । गुणस्येति किम् ? द्वौ ग्रीहियवौ निमान-
मस्योदक्षितः । अत्र भागस्येति न प्रयुक्तम् । निमान इति किम् ? द्वौ गुणौ चारस्य एकस्तेतस्य द्विगुणं
क्षीरेण तैलपक्कम् । नात्र वासमर्थं गुणं निमाने वर्तते । अन्ये अन्यथा सूत्रार्थं वर्णयन्ति । निमीयते इति
निमानं निभातव्यम् । बहुलवचनात्कर्मणि युट् । गुणस्येति कर्तरि ता । करणस्यापि कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात् ।
“वासमर्थायाः संख्याया गुणस्य निमेषे वर्तमानयोः” [वा०] निमानेऽभिधेये मयङ् भवति । उदक्षितो द्वौ
भागौ निमेषस्य यवभागस्य द्विमया यवा उदक्षितः । त्रिमयाः । चतुर्मया यवाः । अत्र व्याख्याने समर्थमुदक्षित,
यवास्तु त्वार्थः । पूर्वत्र महार्धमुदक्षित्, तदेव च त्वार्थः । मतद्वयमपि प्रमाणम् ।

इत्यभयनन्दिचरितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः । समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः

तस्य पूरणे डट् ॥४११॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । पूर्यतेऽनेनेति पूरणः । तस्येति तासमर्थात्सङ्ख्या-
वाचिनः पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे डट् भवति । एकादशानां पूरण एकादशः । द्वादशः । द्वादशी । द्वितीयमपि
सङ्ख्याग्रहणमनुवर्तते । तत्सङ्ख्यानप्रधानं सत् त्वार्थविशेषणम् । सङ्ख्याया डट् भवति सङ्ख्यानपूरण
इति न सङ्ख्येयपूरणे डट् भवति । एकादशानामुष्टिकाणां (मुष्टिकानां) पूरणो घट इति । ननु नात्र एका-
दशभ्यः प्रकृत्यर्थभूतेभ्योऽन्यः पूरण इत्यर्थ उपलभ्यते । अतो वृत्तिर्न प्राप्नोति । नैष दोषः । समुदायस्य चाव-
यवानां च कथञ्चिद् भेद इति । यथा वृत्तान्तभूताऽपि शाखा वृत्तत्येति व्यवहियते । उक्तञ्च—

“बहूनां वाधिका (वाचिका) सङ्ख्या पूरणं स्वैक इष्यते । अन्यत्वादुभयोर्वृत्तिर्वाक्षीं शाखानिदर्शनम् ॥”
[पा० म० १।१।४८] ।

नोऽसे मट् ॥४११॥ न इति वर्णनिर्देशः । वर्णग्रहणं सर्वत्र तदन्तविधिं प्रयोजयति ।
नकारान्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदो मड्भवत्यसे तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । डटोऽपवादः । पञ्चानां पूरणः
पञ्चमः । सप्तमः । सप्तमी । अस इति किम् ? एकादशानां पूरण एकादशः ।

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक ॥४११॥ मूलसूत्रे विहितो यो डट् तस्येहानुवर्तमानस्यार्थवशादी-
बन्तात्षट् कति कतिपय चतुर इत्येतेषां डटि परतस्थुगागमो भवति । इदमेव डटि थुग्वचनं ज्ञापकं भवति ।
कतिपयशब्दादपि डट् । षण्णां पूरणः षष्ठः । कतिथः । कतिपयथः । चतुर्थः । थुग्वचनसामर्थ्याद्विखं न
भवति । पूर्वान्तकरणं पदकार्यनिवृत्त्यर्थम् । इह कतिपयानां स्त्रीणां पूरणी कतिपयथी । “तस्य हृत्यडे” [वा०]
इति विषयनिर्देशात्प्रागेव थुकः पुंवद्भावः । “चतुरश्रक्यावाद्यक्षरशु (स्य) खं चेति वक्तव्यम्” चतुरां
पूरणः, तुरीयः, तुर्यः ।

बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक ॥४११॥ डडिति वर्तते । बहु पूग गणः सङ्घ इत्येतेषां डटि परतस्ति-
थुगागमो भवति । डडि (टि) ति थुग्वचनं ज्ञापकं भवति पूगसङ्घाभ्यां डट् । बहूनां पूरणः बहुतिथः । पूग-
तिथः । सङ्घतिथः । गणतिथः । इह बहूनां पूरणी बहुतिथी । “तस्य हृत्यडे” [वा०] पुंवद्भावे कृते
तिथुवेदितव्यः ।

वतोरिथुक ॥४११॥ डडिति वर्तते । वत्वन्तस्य डटि परत इथुगागमो भवति । “वतोर्वैट्”
[३।१।२०] इत्यत्र वत्वन्तस्य संख्यासंज्ञा प्रतिपादिता । यावतां पूरणः यावतिथः । तावतिथः । एतावतिथः ।
इयतिथः । क्रियतिथः ।

द्वेस्तीयः ॥४११॥ तस्य पूरण इति वर्तते । द्विशब्दात्तीय इत्ययं त्यो भवति । डटोऽपवादः । द्वयोः
पूरणः द्वितीयः ।

त्रेस्तु च ॥४११॥ तस्य पूरण इति वर्तते । त्रिशब्दात्तीयो भवति तृ इत्ययं चादेशः । अयमपि
डटोऽपवादः । त्रयाणां पूरणः तृतीयः ।

शतादिमासार्धमाससंवत्सरात्तमट् ॥४११॥ शतादिभ्यो मासार्धमास संवत्सर इत्येतेभ्यश्च
तमड् भवति तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये । डटोऽपवादः । शतस्य पूरणः शततमः । सहस्रतमः । लक्षतमः ।
“विंशत्यादेर्वा” [४।१।१०] इत्येषा विभाषा शतात् पूर्वां सङ्ख्यामवगाहते । मासार्धमाससंवत्सराणाम-
सङ्ख्याषट्क्यात् डटाऽप्राप्ते तमट् । मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः । अर्धमासतमः । संवत्सरतमः ।
संवत्सरतमी तिथिः ।

तेरसङ्ख्यादेः ॥४११९॥ तस्य पूरण इति वर्तते । “पङ्कस्थादि” [३।४।५८] सूत्रे तिरिति ल्यो निपातितः । त्यन्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदोऽसङ्ख्यापूर्वतमङ् भवति । “विंशत्यादेर्वा” [४।१।१०] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थोऽयमारम्भः । षष्ठेः पूरणः षष्ठितमः । सप्ततितमः । अशीतितमः । नवतितमः । असङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधः किमर्थः ? यावता तिरिति ल्यः, त्यग्रहणे यस्मात् तदादेर्ग्रहणमिति षष्ठ्यादीनामेव ग्रहणम्, तदन्तानां ग्रहणं नास्तीत्यसङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः । इदमेव ज्ञापकं भवति । इह सङ्ख्यापूर्वपदानामपि ग्रहणम् । तेन षष्ठेः पूरणः एकषष्ठः एकषष्ठितमः इत्येवमादिषु “विंशत्यादेर्वा” [४।१।१०] इति वा तमङ् भवति । पूर्वसूत्रेऽपि शतदिसूच्यमानस्तमङ् तदन्तादपि भवति । एकशततमः । एकसहस्रतमः । शतसहस्रतमः ।

विंशत्यादेर्वा ॥४१।१०॥ तस्य पूरण इति वर्तते । विंशत्यादिभ्यो वा तमङ् भवति । तमटा मुक्ते ङट् भवति । विंशतेः पूरणः विंशतितमः, विंशः । एकविंशतितमः, एकविंशः । त्रिंशत्तमः, त्रिंशः । सङ्ख्या-पूर्वपदादपि भवतीति ज्ञापितम् । अथवा व्याप्तेरन्यायात् । विंशत्यादयो लोकप्रसिद्धाः सङ्ख्याशब्दा गृह्यन्ते न “पङ्कस्थादि” [३।४।५८] सूत्रे व्यवस्थिताः ।

डटो ग्रहणे कः ॥४१।११॥ डडिति प्रत्याहारः । गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम् । डडन्तान्मृदो ग्रहणोपाधि-विशिष्टात्स्वायै क इत्ययं ल्यो भवति । द्वितीयं ग्रहणं द्वितीयकम् । तृतीयकम् । व्याकरणस्य ग्रन्थ एवाऽभिधानम् । अन्यत्र द्वितीयं ग्रहणं धान्यस्येति वाक्यमेव भवति । “डटो वा डवक्तव्यः” [वा०] द्विकं द्वितीयकम् । तृकम् । तृतीयकम् व्याकरणस्य । तेन “गृह्याल्लुपचेति वक्तव्यम्” [वा०] । डडन्ताद् भासमर्थोद् गृह्णाति इत्यस्मिन्नर्थे को भवति डटश्च नित्यमुप । द्वितीयेन रूपेण गृह्णाति । कः । तीयस्य च उप । द्विको देवदत्तः । एवं त्रिकः । “सन्नियोगशिष्टानामन्यतराया उभयोरप्यभावः” इति तीये निवृत्ते प्रकृत्यादेशोऽपि निवर्तते । चतुर्थेन गृह्णाति चतुष्कः । डडि निवृत्ते शुभापि निवर्तते । “इदुदुङोऽयमसुदुषः” [५।४।२८] इति रेफस्य सत्त्वम् । “इहः षः” [५।४।२७] इति षत्वम् । षष्ठेन गृह्णाति षट्कः । ग्रन्थ-एवाभिधानम् । इह न भवति । द्वितीयेन गृह्णाति पुस्तकम् ।

स एषां ग्रामणीः ॥४१।१२॥ ग्रामणीर्मुख्य इत्यर्थः । स इति वासमर्थान्मृद एषामिति चतुर्थे को भवति । यत्तद् वासमर्थं ग्रामणीश्चेत्स भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः । जिनदत्तकाः । सङ्घेऽपीष्यते । देवदत्तो ग्रामणीरस्य सङ्घस्य देवदत्तकः ।

स्वाङ्गेषु प्रसिते ॥४१।१३॥ अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गमित्यादिना परिभाषितमिह स्वाङ्गम् । निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम् । स्वाङ्गवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः प्रसित इत्यस्मिन्नर्थे को भवति । प्रसितः प्रसक्तः । केषु प्रसितः केशकः । “प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च” [१।४।२२] इतीप् । एवं दन्तकः । नखकः । केशादिसंस्कारे केशादिशब्दा वर्तन्ते । बहुत्वनिर्देशः किमर्थः ? स्वाङ्गसमुदायादपि यथा स्यात् । नखकेशकः । मुखदन्तकः ।

तदस्मिन्नर्त्तं प्राये खौ ॥४१।१४॥ तदिति वासमर्थोदसिन्नितोर्बर्थे को भवति । यत्तद् वासमर्थमन्तं चेष्टाविषयं तद् भवति । त्याज्यं चेत्संज्ञायां वर्तते । नृपुटाः प्रायेणान्नमस्यां नृपुटिका पौर्णमासी । प्राय इति सूत्रे उपाधिलक्षणो वा विषयलक्षणो वा ईप्सनिर्देशः । विग्रहे तु करणत्वविवक्षायां भा । अन्नविषयस्यैव विवक्षायां वाऽपि भवति । नृपुटाः प्रायोऽन्नमस्यामिति । एवं गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां गुडापूपिका । तिला-पूपिका । कृतशरिका । “वटकेभ्य इन्वक्तव्यः” [वा०] वटकिनी । खाविति किम् ? अपूपाः प्रायेणात्र(म) वन्तिषु ।

कुल्माषादण् ॥४१।१५॥ कुल्माषशब्दादण् भवति तदस्मिन्नन्तं प्रायेण खावित्यस्मिन्नविषये । कस्यापवादः । कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषो पौर्णमासी ।

कालप्रयोजनाद्गोस्य ॥४११६॥ तदिति वर्तते खाविति च । तदिति वासमर्थान्मृदः काल-
प्रयोजनोपाधिकाद् गोस्येति ताऽर्थे को भवति संज्ञायां गम्यमानायाम् । सततं कालोऽस्य सततकः । द्वितीयं
कालोऽस्य द्वितीयको ज्वरः । तृतीयकः । चतुर्थकः । प्रयोजनाद्—विषपुष्पप्रयोजनमस्य विषपुष्पको ज्वरः ।
काशपुष्पकः । पर्वतकः । कालनिमित्ताद्गोस्येति च वक्तव्ये प्रयोजनग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । फलेऽपि
प्रयोजने यथा स्यात् । उष्णकार्यमस्य उष्णकः । शीतको ज्वरः ।

शृङ्खलकौदरिकसस्यकांशकतन्त्रकब्राह्मणकोष्णकोष्मकशीतकाऽधिकाऽनुकाऽभिकाऽ
भीकाऽनुपदिपार्श्वकायःशूलिकादाण्डाजिनिकोत्कश्रोत्रियसाक्षीन्द्रियक्षेत्रियाः ॥४११७॥ शृङ्ख-
लक इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । शृङ्खलशब्दाद् वासमर्थाद् बन्धनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे को
निपात्यते करभे । शृङ्खलं बन्धनमस्य गोरिति वाक्यमेव भवति । उदरशब्दादीप्समर्थात् प्रसिद्ध
इत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्यते आद्यूने गम्यमाने । आद्यून उदरे अविजिगीशुरुच्यते । उदरे प्रसिद्ध औदरिकः ।
आद्यून इत्यर्थः । उक्तं च—

“मिताशिनं षट् सुगुणा रुजन्ते (भजन्ते) आरोग्यमायुश्च वपुर्बलञ्च ।

अनाबिलञ्चारय भवत्यपत्यं न चैनमाद्यूनमिति क्षिपन्ति ॥”

अन्यत्र उदरे प्रसिद्ध उदरकः । स्वाङ्गेषु प्रसिद्ध इति कः । सस्यशब्दाद् भासमर्थात्परिजात इत्येत-
स्मिन्नर्थे कः । सस्येन परिजातः सस्यकः शालिः । सस्यको देशः । सस्यको वत्सः । वैगुण्यरहित इत्यर्थः ।
सस्यमिव सस्यम्, तेन परिजातः सस्यको मणिः । आका(क)रशुद्ध इत्यर्थः । “विग्रहे (अंश) शब्दादाप्सम-
र्थात् हरतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।” अंशं हरति अंशको दायदः । “तन्त्रशब्दात्कासमर्थादचिरापहत इत्यस्मिन्नर्थे
कः । तन्त्रादचिरापहतः तन्त्रकः पटः । “ब्राह्मणक उष्णक इत्येतौ शब्दौ खुविषये कत्यान्तौ निपात्येते ।”
ब्राह्मणको देशः । यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणास्तस्य देशस्येयं संज्ञा । उष्णादत्पान्ने । उष्णका अन्वपाना यवा-
गुरुच्यते । “उष्णशीतशब्दाभ्यां क्रियावशेषणाभ्यां वासमर्थाभ्यां करोतीत्यस्मिन्नर्थे कः ।” उष्णं करोतीति
उष्णकः । शीघ्रकारीत्यर्थः । शीतं करोति शीतकः । जड इत्यर्थः । “अधिकमित्यत्र अध्याख्यशब्दात्स्वाधे के
द्युखं च निपात्यते ।” “श्लेषशोड्धास” [२।४।५७] इत्यादिना यदाऽध्याख्यशब्दः कर्तरि व्युत्पाद्यते
तदाऽधिको द्रोणः खार्यामित्युदाहरणम् । यदा कर्मणि व्युत्पाद्यते तदा अधिका खारी द्रोणेनेत्युदाहरणम् ।
“अनुक अभिक अभीक इत्येते शब्दाः कत्यान्ताः कृमिता इत्यस्मिन्नर्थे निपात्यन्ते” । अनुकामयतेऽनुकः ।
अभिकामयतेऽभिकः । अभेर्वा दीत्वं निपात्यते । “अनुपदशब्दादन्वेष्टरि इन्निपात्यते ।” पदस्य पश्चादनुपदम् ।
(प) आदर्थे हसो भावप्रधानः । अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी गवाम् । “पार्श्वशब्दाद् भासमर्थादन्विच्छतीत्य-
स्मिन्नर्थे कः ।” अनुचुरुपायः पार्श्वं पार्श्वेनान्विच्छति पार्श्वकः । “अयःशूलदण्डाजिनशब्दाभ्यां भासम-
र्थाभ्यामन्विच्छतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् ।” तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलम्, अयःशूलेनान्विच्छति अयःशूलिकः ।
दण्डाजिनेनान्विच्छति दण्डाजिनिकः । दम्भप्रधान इत्यर्थः । “उत्क उन्मर्नास को निपात्यते ।” उत्कः प्रवासी ।
उत्कण्ठित इत्यर्थः । “छन्दःशब्दादिप्समर्थादधीते इत्येतस्मिन्नर्थे घो निपात्यते प्रकृतेश्च श्रोत्रभावः ।”
छन्दोऽधीते श्रोत्रियः । मनोज्ञादिपाठाच्छान्दस इत्यपि भवति । “साक्षात्शब्दाद् द्रष्टरि इन् खुविषये ।”
साक्षाद्द्रष्टा साक्षी । दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां योऽन्य उपद्रष्टा तस्येयं संज्ञा । “इन्द्रशब्दात्तासमर्थाद्विष्णु इत्यस्मिन्नर्थे
घः ।” इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम् । इन्द्र आत्मा । अथवा इन्द्रं कर्म । इन्द्रेण जुष्टं सृष्टं दष्टं दत्तं वा इन्द्रि-
यम् । तान्ताद् घः । “परक्षेत्रशब्दादीप्समर्थाच्चिकित्स्य इत्यस्मिन्नर्थे ण्यः परशब्दस्य च खम् ।” परक्षेत्रे
चिकित्स्यः क्षेत्रियो व्याधिः । परक्षेत्रं जन्मान्तरशरीरमुच्यते ।

आद्वं मुक्तं ठोऽनेन ॥४११८॥ तदिति वर्तते । आद्वशब्दाद् वासमर्थाद् मुक्तोपाधिकादनेनेति

कर्तारि ठो भवति । आद्यं कर्मनामधेयम् । अद्वा प्रयोजनमस्य आद्यम् । “अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्या-
नम्” [वा०] इत्यण् । “प्रज्ञाश्रद्धाऽचौ” [४।१।१८] आदिना मत्वर्थीयो वाण् । आद्यं भुक्तमनेन
आद्विको देवदत्तः ।

इन् ॥४।१।१९॥ आद्यं भुक्तमनेनेति वर्तते । इन् भवति आद्यशब्दात् । आद्यं भुक्तमनेनेति आद्वी
देवदत्तः । योगविभाग उत्तरार्थः । “तेनोः समानकालग्रहणं वक्तव्यम्” । यस्मिन्नहनि आद्यमनेन भुक्तं
तस्मिन्नेव आद्विकः आद्वी वाऽभिधीयते । अद्य भुक्ते आद्वे श्वः आद्विकः आद्वीति च न भवति ।

पूर्वात् ॥४।१।२०॥ तदिति वर्तते अनेनेति च । पूर्वशब्दाद् वासमर्थात् अनेनेति कर्तारि इन् भवति ।
कर्ता क्रियामन्तरेण न भवतीति पाकादिक्रिया व्याहर्तव्या । पूर्वशब्दः क्रियाविशेषणमिह गृह्यते । पूर्वमनेन
भुक्तं पीतं गतं वा पूर्वं । प्रतीयमानस्य कर्मणोऽनुप्रयोगः । ओदनं सुरां ग्रामं वा ।

सपूर्वात् ॥४।१।२१॥ सपूर्वाच्च मृदः पूर्वशब्दान्ताद् वासमर्थादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । पूर्व-
सूत्रे यत् क्रियापदमव्याहृतं तत्पूर्वात् पूर्वशब्दादिह त्यः । पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वा कटम् । भुक्तपूर्वं
ओदनम् । पीतपूर्वं सुराम् । त्योत्यप्तेः प्राक् मयूरव्यंसकादित्वात् [१।३।६६] सविधिः । “भूतपूर्वं
चरट्” [३।४।१४२] इति ज्ञापकात्पूर्वशब्दस्य परनिपातः । क्लान्तं भावे व्युत्पादनीयम् । अथापि कर्मणि
व्युत्पाद्यते । इत्युत्पन्ने क्रियाकर्म सम्बन्धं त्यक्त्वा कर्ता सह वर्तते । इति कर्मण्यनुक्ते इवेव भवति । कर्मसम्ब-
न्धामावादेव ऽप्यो निवृत्तिः । ननु “पूर्वात्” [४।१।२०] इत्युक्तं तत्र तदन्तविधिना संपूर्वाद् भविष्यति,
व्यपदेशिवद्भावेन केवलाच्च भविष्यति, किमर्थं योगान्तरम् ? एवं तर्हीदमेव योगद्वयं शापकम् । अस्तीदं
परिभाषाद्वयम्, मृदुग्रहणे न तदन्तविधिः, व्यपदेशिवद्भावो न मृदेति ।

इष्टादेः ॥४।१।२२॥ तदिति अनेनेति च वर्तते । इष्ट इत्येवमादिभ्यो मृदुभ्यो वासमर्थेभ्योऽनेने-
त्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । इष्टमनेन इष्टी यञे । कस्येन्विषयस्य कर्मणिष्वक्तव्येति ईप् । इष्ट । पूर्त । उप-
पादित । निगदित । परिविदित । निकथित । निपतित । सङ्कलित । परिकलित । संरक्षित । परिरक्षित ।
गणित । अवकीर्ण । आयुक्त । निगृहीत । आभूत । श्रुत । आसेवित । अवधारित । अवकम्पित । निराकृत ।
उपाकृत । अनुयुक्त । अनुगणित । अनुपठित । व्याकुलित ।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुः ॥ ४।१।२३ ॥ तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्मनु-
र्भवति । यत्तद् वासमर्थमस्त्युपाधिकं चेत्तद् भवति । इति करणसूत(णस्तत)श्चेद्विवक्षा । प्रायो
भूमादिषु विवक्षा ।

“भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां मत्वादिविधिरिष्यते ।”

भूमि-गावोऽस्य सन्ति गोमान् । निन्दायाम्-शङ्कादकोऽस्याऽस्ति शङ्कादकी । ककुदावती । प्रशं-
सायाम्-रूपमस्यास्ति रूपवान् । नित्ययोगे-क्षीरमेषां सन्ति क्षीरिणो वृक्षाः । अतिशायने-उदरिणी कन्या ।
संसर्गे-दण्डी । भूमाद्यभावेऽपि विवक्षा । व्याघ्रवान् पर्वतः । स्पर्शवान् वायुः । इस्तिमती शाला ।

“मत्वर्थाच्छैषिकाच्चापि मत्वर्थः शैषिकस्तथा । सरूपस्यविधिर्नेष्टः सञ्चन्ताश्च सनिष्यते ॥”

“गुणवचनेभ्यो मत्वर्थीयस्योवक्तव्यः” [वा०] । शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः । कृष्णः ।
“रसादिभ्यो मनुवंक्तव्यः” [वा०] । रसवान् । रस । रूप । वर्ण । गन्ध । स्पर्श । शब्द । स्नेह । एते
गुणशब्दाः । “एकाचः” खवान् । स्ववान् । अन्यनिवृत्त्यर्थमिदं वक्तव्यम् । कथं रूपिणी कन्या । रूपिको दारकः ।
रसिको नटः । इति ? इतिकरणम् भवति, अगुणार्थत्वाद् वा । अस्यास्मिन्निति द्वयोरुपादानं किम् ? नानयो-

नियतः समावेशः । देशान्तरे राज्ञो हस्तिनः । न वैते राज्ञि भवन्ति । कूपे गर्गाः । न च तै तस्य भवन्ति । अस्तिग्रहणं वर्तमानकालसत्ताप्रतिपत्त्यर्थम् । इह मा भूत् । गावोऽस्याऽसन् । गावोऽस्य भवितारः इति । कथं गोमानासीत्, गोमान् भविता इति ? “धुयोगे त्याः” [२।४।१] इत्यनोपपत्तिर्वक्तव्या ।

प्राणयज्ञादातो वा लः ॥४।१।२४॥ प्राणयज्ञवाचिन आकारान्ताद्वा ल इत्ययं लो भवति मत्वर्थे । चूडालः । चूडावान् । घाटालः । घाटावान् । कथं तर्हि कर्णिकालः । कर्णिकवान् ? प्राणिनि अङ्गं प्राणयज्ञमिति विग्रहलभ्यते । अथवा कर्णिका प्राणयज्ञमायस्ति नाभरणविशेष एव । प्राणिग्रहणं (किम्) ? शिखावान् प्रदीपः । अङ्गग्रहणं किम् ? धर्मान्मा भूत् । चिकीर्षवान् । आत इति किम् ? हस्तवान् ।

सिध्मादेः ॥४।१।२५॥ सिध्म इत्येवमादिभ्यश्च वा लो भवति मत्वर्थे । वाग्रहणमिह मतोः समुच्चयार्थम् । न विकल्पार्थम् । उत्तरत्र वाग्रहणात् । तेन येऽत्राकारान्तास्तेभ्यष्टेनौ न भवतः । सिध्मान्यस्य सन्ति सिध्मलम् । सिध्म । वर्म । गडु । तुण्डि । मणि । नाभि । बीज । निष्पाव । सुयात । दत्त । सकतु । पशु । पांशु । मांस । पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घं च । “वा तदन्तवाल्ललादानामूळञ्च” [वा०] “जटा-घटाकात्म्यः क्षेपे” । [वा०] पर्ण । उदक । प्रज्ञा । “क्षुद्रजन्तुपतापाभ्यां चेष्यते” [वा०] यूकालः । मक्षिकालः । उपतापात्-विचर्चिकालः । विपादिकालः । मूर्च्छालः ।

फेनादिलश्च ॥४।१।२६॥ फेनशब्दादिलो भवति लश्च मत्वर्थे । वाग्रहणं मतुसमुच्चयार्थमनुवर्तते । फेनिलम् । फेनलम् । फेनवदुदकम् । “पिच्छादेशेति वक्तव्यम्” [वा०] पिच्छलः । पिच्छलः । पिच्छवान् । पिच्छ । उरस् । ध्रुवक^१ । ध्रूवक । “जटा घटा काटा त्रिभ्यः क्षेपे” [वा०] पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

लोमपामादिभ्यां शनौ ॥४।१।२७॥ लोमादिभ्यः पामादिभ्यश्च यथासंख्यं श न इत्येतौ लौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । लोमान्यस्य सन्ति लोमशः । लोमवान् । लोमन् । रोमन् । बभ्रु । बल्लु (बल्यु) । हरि । कपि । मुनि । तरु^२ । पामादिभ्यः । पामनः । पामवान् । पामन् । दामन् । हेमन् । श्लेष्मन् । बलि । सामन् । अङ्गः कल्याणे । अङ्गानि कल्याणान्यस्याः सन्ति अङ्गना । अङ्गवती अन्यत्र । लक्ष्म्या अक्ष । लक्ष्मणः । दद्रुशाको पलाळी प्रश्न । दद्रुणः । शाकिनः । पलालिनः । “विष्वगिति ध्रुवं चाकृतसन्धेः” । विष्वच्चोऽस्य सन्ति विषुणः । विषुशब्दो निसंज्ञः ।

प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चावृत्तिभ्यो णः ॥४।१।२८॥ प्रज्ञा श्रद्धा अर्चा वृत्ति इत्येतेभ्यो णो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । प्रज्ञाऽस्यास्तीति प्राज्ञः । प्रज्ञावान् । श्रद्धः । श्रद्धावान् । आर्चः । आर्चावान् । वार्त्तः । वृत्तिमान् ।

तपःसहस्राभ्यां विनिनौ ॥४।१।२९॥ तपस् सहस्र इत्येताभ्यां यथासङ्ख्यं विन् इन् इत्येतौ लौ भवतो मत्वर्थे । तपस्वी । सहस्वी । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि । तपस्वान्, सहस्वान् । तपसोऽसन्तत्वादेव विनि सिद्धे वक्ष्यमाणेनाया बाधा माभूदिति पुनर्वचनम् ।

अण् ॥४।१।३०॥ अण् च भवति तपःसहस्राभ्यां मत्वर्थे । तापसः । साहस्रः । “अण्प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] । ज्योत्स्ना अस्मिन्नस्ति ज्योत्स्नः पक्षः । तमिस्रा । तामिस्रः । कुण्डल । कौण्डलः । कुण्डलार्ह इत्यर्थः । कुतप । कौतुपः । विसर्प । वैषर्पः । विपादिका । वैपादिकः ।

१. ध्रुवका । ध्रूवका अ० । ध्रुवका ध्रूवका पू० । ध्रुवका । ध्रुवका इति काशिकायाम् ।

२. भरु अ०, पू० ।

सिकताशर्कराभ्याम् ॥४११३१॥ सिकता शर्करा इत्येताभ्यामण् भवति मत्वर्थे । सैकतः । शर्करः । अदेशार्थं आरम्भः ।

उसिलौ च देशे ॥४११३२॥ सिकताशर्कराभ्यामुस् इल् इत्येतौ ल्यौ भवतः, चकारादण् मनुश्च देशोऽभिधेये । तदस्यास्यस्मिन्निति वर्तते । कस्योस् ? मतोः । तेन चत्वारः शब्दाः । सिकता देशः । सिकतिलः । सैकतः । सिकतावान् । शर्करा देशः । शर्करिलः । शर्करः । शर्करावान् । देश इति किम् ? सैकतो घटः । शर्करो घटः ।

मधुषष्ठिमुष्काद्रः ॥४११३३॥ मधु ऊष शुषि मुष्क इत्येतेभ्यो रो भवति मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । इह मधुशब्दो रसवाची गृह्यते न द्रव्यवाची । मधु अस्मिन्नास्ति मधुरो गुडः । रसवाचिनि मधुशब्दे कथं मधुरो रसः ? इति चेत्, उपचारात् । रसवाचिनो मधुशब्दान्मतोरभिधानं नास्ति । ऊषर् क्षेत्रम् । शुषिरो वंशः । मुष्करः पशुः । “रप्रकरणे सुमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] खं महत्कण्ठविवरमस्यास्ति खरः । मुखमस्यास्ति मुखरः । कुञ्जोऽस्यास्ति कुञ्जरः । “श्विधिर्नगपांशुभ्याम्” [वा०] । (नगरः । पांशुरः) ।

द्युद्भ्यां मः ॥४११३४॥ द्युद्शब्दाभ्यां मो भवति मत्वर्थे । द्यौरस्यास्तीति द्युमः । “दिव उत्” [४१३१०८] इति उत् । द्युशब्दो वा प्रकृत्यन्तरम् । द्रूयस्य सन्ति इमः । रुदिशब्दावेतौ । यदा रुदिर्नास्ति तदा मतुरेव भवति । द्युमान् । इमान् ।

केशाद्वा वा ॥४११३५॥ केशशब्दाद् व इत्ययं ल्यो भवति वा मत्वर्थे । प्रकृतं वाग्रहणं मनुसमुच्च यार्थम् । इदं तु सर्वविकल्पार्थम् । तेन ठेनावपि भवतः । केशवः । केशवान् । केशिकः । केशी । “मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्” [वा०] । मणिवः । हिरण्यवः । कुररावम् । इष्टकावम् । राजीवम् । “अर्णसः खं च” [वा०] । अर्णवः ।

गाण्ड्यजगात्सो ॥४११३६॥ गाण्डी अजग इत्येताभ्यां वो भवति मत्वर्थंखुविषये । गाण्डीवं धनुः । अजगवं धनुः । प्रादपि भवति । गाण्डिवं धनुः । मत्वन्तेन संज्ञा न गम्यते इति मतुर्न भवति । खाविति किम् ? गाण्डीमान् दण्डः ।

काण्डाण्डादोरः ॥४११३७॥ काण्ड-अण्डशब्दाभ्यामीर इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । ठेनोरपवादः । काण्डीरः । अण्डीरः । वेति मनुसमुच्चयार्थं वर्तते । काण्डवान् । अण्डवान् ।

रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलः ॥४११३८॥ रजः कृषि आसुति परिषद् इत्येतेभ्यो वलो भवति मत्वर्थे । रजसो विनि प्राप्ते इतरेभ्यो मतौ वचनम् । रजस्वला नारी । कृषीवलः कुटुम्बी । आसुतीवलः कल्पपालः । “बले” [४१३२२१] इति दीत्वम् । परिषद्वलो नृपः । इतिशब्दः प्रयोगनियमार्थमनुवर्तते । परिषदः सामान्येन । इतरेभ्यः संज्ञायां प्रयोगः । तेनेह वलो न भवति । रजोऽस्मिन् ग्रामेऽस्ति, आसुति-रस्मिन् भाण्डेऽस्ति । “वल्प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि इरयते इति वक्तव्यम्” [वा०] । पुत्रवलः । आवृवलः । उत्सङ्गवलः । “बले” [४१३२२१] इत्यत्र खावित्यनुवर्तनादलौ दीत्वं न भवति ।

दन्तशिखात्सो ॥४११३९॥ दन्त-शिखाशब्दाद् वलो भवति मत्वर्थे खुविषये । दन्तवलो नाम कश्चित् । शिखावलं नाम नगरम् । यत्र तदन्तेन संज्ञा गम्यते तत्र मतुरपि भवति । शिखावाजाम ऋषिः । ननु देशः खावित्युच्यमाने “शिखाया वलः” [३१२१६८] इत्यनेन चातुरर्थिकेन सिद्धे किमर्थमिदं वक्तव्यम् ? अदेशार्थमिदं वक्तव्यम् । तदपि निर्वृत्ताद्यर्थं वक्तव्यम् ।

ज्योत्स्नातमिन्नाशृङ्गिणोर्जद्विभूर्जस्वलवत्सलांशलदन्तुरहस्तिनगोमिन्स्वामिन्वर्षिन्
मलिनमलीमसः ॥४१॥४०॥ ज्योत्स्नादयः शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे । “ज्योतिष उङः खं नश्च
सुविषये निपात्यते ।” ज्योत्स्नेति चन्द्रप्रकाशस्याख्या । अन्यत्र ज्योतिष्मती रात्रिः । “तमसः खं च
उङश्च इत्वं निपात्यते ।” तमिस्रा रात्रिः । स्त्रीत्वमतन्त्रम् । तेन तमिस्त्वं नमः । मतुरपि भवति ।
तमस्वती रात्रिः । “शृङ्गादिनो निपात्यते ।” शृङ्गिणः । शृङ्गवान् । “ऊर्जस्विन् ऊर्जस्वल इत्येतौ
निपात्येते ।” ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वलः, ऊर्जस्वान् । “वत्सांशब्दाभ्यां यथासङ्ख्यं कामवति वलवति च लो
निपात्यते ।” वत्सलः साधुः । स्नेहवान् इत्यर्थः । अंशलः पुरुषः । बलवानित्यर्थः । रुदिशब्दावेतौ । रुदिश्च
मत्वन्तेन न गम्यते इति रूढेरन्यत्र मतुर्वैदितव्यः । “दन्तशब्दादुच्चतोपाधिकादुरः ।” दन्ता उच्यता अस्य
सन्ति दन्तुरः । उच्यतविशेषणादन्यत्र दन्तवान् । “हस्तशब्दाज्जातावभिधेयायामिन्” । हस्ती । अन्यत्र
हस्तवान् पुरुषः । “गोशब्दान्मिन्” । गावोऽस्य सन्ति गोमी । गोमानिति भवति । “स्वशब्दान्मिन् दीत्वं च
निपात्यत ऐश्वर्यं गम्ये” । स्वमस्यास्ति स्वामी । अन्यत्र स्ववान् । “वर्णादिन् ब्रह्मचारिणि” । वर्णा । ब्रह्म-
चारीत्यर्थः । “मलशब्दादिन ईमस इत्येतौ निपात्येते” । मलिनः । मलीमसः ।

ठेनावतः ॥४१॥४१॥ अकारान्तान्मृदङ इन् इत्येतौ ल्यौ भवतो मत्वर्थे । दण्डकः । दण्डी ।
छत्रिकः । छत्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । दण्डवान् । अत इति किम् ? खट्ववान् । अत्रेष्टिः ।

“एकाक्षरात् कृतो जातेरीषर्थे” च न सौ स्मृतौ” [पा. म. २।२।११५] । एकाक्षरात्-खवान् ।
खवान् । कृदन्तात् । कारकवान् । हारकवान् । जातेः । व्याघ्रवान् । सिंहवान् । ईषर्थे । दण्डा अस्या
सन्ति दण्डवती शाला । नेदं वक्तव्यम् । अनभिधानादेवात्र ठेनौ न भवतः । यत्राभिधानं तत्र भवत एव ।
कार्यी । हार्यी । तन्दुलिकः । तन्दुली । ईषर्थे । खलिनी भूमिः । सा(शा)द्वलिनी भूमिः ।

ब्रीह्यादेः ॥४१॥४२॥ ब्रीहि इत्येवमादिभ्यष्ठेनौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । ब्रीहयोऽस्य
सन्ति ब्रीहिकः, ब्रीही, ब्रीहिमान् । मायिकः, मायी, मायावान् । इतिशब्दः प्रयोगनियमाथोऽनुवर्तते । न
ब्रीह्यादिषु ये शिखादयः पठ्यन्ते तैम्य इन् भवति । यवखडादिभ्यष्ठो भवति । परिशिष्टेभ्य उभयं भवति ।
सर्वत्र आदिशब्दः प्रकरवाची । शिखाऽस्यास्ति शिखी । शिखावान् । शिखा । माला । मेखला । शाखा ।
वीणा । संज्ञा । वडवा । अष्टका । बलाका । पताका । कर्मन् । धर्मन् । चर्मन् । यव । खड । नौ । कुमारी ।
एतेभ्य इन्नेष्यते । परिशिष्टेभ्यो द्वावपि भवतः । “शीर्षाब्जः” [बा०] अशीर्षिकः । अशीर्षी । अशीर्ष-
वान् । शीर्षशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति ।

तुन्दादेरिलः ॥४१॥४३॥ तुन्द इत्येवमादिभ्य इलो भवति ठेनौ च मत्वर्थे । उत्तरात्रित्यग्रह-
णादिह ठेनोः समावेशो लभ्यते । मतोस्तु वेत्यनुवृत्तेरेव समुच्चयः । तुन्दमस्यास्ति तुन्दिलः । तुन्दिकः । तुन्दी ।
तुन्दवान् । तुन्द । उदर । पिचण्ड । चय । ब्रीहिग्रहणं सरूपार्थम्, अर्थनिर्देशार्थं च । ब्रीहिलः, ब्रीहिकः,
ब्रीहिमान् । शालिलः, शालिकः, शालिमान् । श्वाङ्गविवृद्धौ । कर्णौ विवृद्धावस्य कर्णिलः, कर्णिकः,
कर्णी, कर्णवान् । पिच्छादयोऽपि पठनीयाः । तेभ्यष्ठेनोरभिधानं नास्ति । पिच्छा । उरस् । ध्रुवका । जटा-
बाया काला त्रिभ्यः क्षेत्रे । पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

एकगोपूर्वाट्ठज्जित्यम् ॥४१॥४४॥ एकपूर्वाद् गोपूर्वाच्च नित्यं ठञ् भवति मत्वर्थे । एक-
पूर्वात्समानाधिकरणाद्वसादेव विधिः । एकहलमस्यास्ति ऐकहलिकः । “हृदर्थे” [१।३।४६] इति रसे कृते
ठञ् । ननु लघुत्वाद् परत्वाच्च बसे कृते वसेनोक्तत्वान्मत्वर्थीयो न प्राप्नोति यथा चित्रगुरिति । सत्यम् ।

इह तु वचनाद् भवति । एकस्य हलम्, एकहलम्, इत्यत्रानभिधानान्नेष्यते । एवम् ऐकशतिकः । ऐकसह-
स्रिकः । गवां शतं गोशतं तदस्यास्ति गौशतिकः । गौसहस्रिकः । यदि अत इति वर्तते इह न भवति ।
एकविंशतिरस्यास्ति, गोविंशतिरस्यास्ति । इदं तु न सिद्ध्यति । ऐकगविक इति सान्ते कृते भविष्यति ।
कथमेका शकटिरस्यास्ति, ऐकशकटिकः । गौशकटिक इति ? अव्यविकन्यायेन शकटात्ता इत्यन्ति
(न्तादुत्पत्तिः) । नित्यग्रहणं ठेनोर्मतोश्च बाधनार्थम् । कथमेकद्रव्यत्वादिति ? चिन्त्यमेतत् ।

निष्काच्छ्रुतसहस्रान्तात् ॥४११४५॥ निष्कात्परौ यौ शत-सहस्रशब्दौ तदन्तान्मदो नित्यं ठञ्
भवति मत्वर्थे । निष्काणां शतम्, निष्कशतम्, तदस्यास्ति नैकशतिकः । नैकसहस्रिकः । सुवर्णनिष्कशत-
मस्यास्तीत्येवमादिष्वनभिधानान्न भविष्यति ।

रूप्यहिम्यगुण्याः ॥४११४६॥ रूप्य हिम्य गुण्य इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते मत्वर्थे । रूपशब्दादाहत-
विशिष्टान्च यत्नो निपात्यते । आहतं रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्ष्ण्यः । प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यो गौः । रूप्या
कन्या । आहतप्रशंसाभ्यामन्यत्र रूपवान् । हिममस्यास्तीति हिम्यः पर्वतः । गुणा अस्य सन्ति गुण्यस्तपस्वी ।
नित्यग्रहणं ठञा सह निवृत्तम् । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । रूपवान् । हिमवान् । गुणवान् ।

विजस्मायामेधास्त्रजः ॥४११४७॥ असन्तान्मदो माया मेधा स्त्रज् इत्येतेभ्यश्च विन् भवति ।
मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । ओजस्वी । तैजस्वी । मायावी । मेधावी । स्त्रावी । तैजस्वान् । मेधावान् ।
स्त्रवान् । मायाशब्दस्य ब्रीह्यादिपाठान्मतुठेनो भवन्ति ।

वाचो ग्मिन् ॥४११४८॥ वाक्शब्दाद्गमिन् भवति मत्वर्थे । वाग्मी । “स्वादावधे” [१२।१०६]
इति पदत्वात् पूर्वस्य कुलजस्त्वे । वाग्वान् । “ऋयः” [५।३।३१] इति मतोर्वत्वम् ।

बहुलापिन्यालाटौ ॥४११४९॥ वाच आल आट इत्येतौ ल्यौ भवतो मत्वर्थे बहुलापिन्यभिधेये ।
वांचालः । वाचाटः । “कुत्सायामर्थं योगो वक्तव्यः ।” यो हि समीचीनं बहु संलपति वाग्मीति भवति ।

अर्शआदेरः ॥४११५०॥ अर्शस् इत्येवमादिभ्यः, अ इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । आदिशब्दः
प्रकारवाची । अर्शात्यस्य सन्ति, अर्शसः । अर्शस् । उरस् । तुन्द । मुण्ड । चतुर । पलित । जटा । घाटा ।
आभ्यां सिन्ध्मादिवात् लमत् अपि भवतः । तुन्दादिवादिनोऽपि भवति । अन्न । अम्ल । लवण । स्वाङ्गा-
दृषीनात् । खड्गः पादोऽस्याऽस्तीति खड्गः । कार्पा चक्षुरस्य कार्पाः । कथं कुण्ठिः पुरुषः कुण्ठिर्हस्तः ?
तद्योगात्तथोक्तः । यथा पङ्कः । वर्णात् । शुक्लं हरितम् । ननु शुक्लादीनां भेदोपचारादेव भविष्यति । एवं
तर्हि द्रव्यवाचिभ्यो भविष्यति । शुक्लगुणयुक्ताः प्रासादाः शुक्लाः अस्मिन् सन्ति शुक्लं नगरम् । “ज्योत्स्ना-
वमिस्राभ्यां णिद् भवति पक्षे” [वा०] ज्योत्स्नः पक्षः । तामिस्रः पक्षः । नेदं वक्तव्यम् । “अण्प्रकरणे
ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानमिति” सिद्धम् । एवं च ज्योत्स्नी रात्रिः, तामिस्री रात्रिरिति ङीविधेरपि लाभः ।

द्रन्दोपतापगर्हात्प्राणिनीन् ॥४११५१॥ उपतापो व्याधिः, गर्हो कुत्स्यम् । अत इति वर्तते ।
द्रन्दशब्दोपतापवाचिनो गर्हवाचिनश्च मुदः प्राणिनि वर्तमानादिन् भवति मत्वर्थे । शङ्खनूपुरिणी । कटक-
केयूरिणी । “अप्राण्यङ्गादिति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । पाणिपादवती । उपतापात् । कुष्ठी ।
किलासी । गर्हात् । ककुदावती । काकतालकी । प्राणिनीति किम् ? पुष्पफलवान् वृक्षः । अत इत्येव ।
कटुकण्ठिकावती । ठमत्वोर्वचनार्थं (बाधनार्थं) सूत्रम् ।

वातातीसारभ्यां कुक् ॥४११५२॥ वात-अतीसारशब्दाभ्यां मत्वर्थे इन् भवति, तत्सन्निधौनेन
कुगागमः । उपतापत्वात्पूर्वेष्वेति सिद्धे कुगर्थ आरम्भः । वातकी । अतीसारकी । “पिशाचाच्चेति वक्तव्यम्”
[वा०] पिशाचकी ।

डटो वयसि ॥४१॥१२३॥ इन्निति वर्तते । डडन्तान्मृद इन्नेव भवति वयसि गम्यमाने । पञ्चमोऽस्यास्ति संवत्सरो मासो वा पञ्चमी उष्ट्रः । एवं नवमी । दशमी ।

सुखादेः ॥४१॥१५४॥ सुख इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे । सुखमस्यास्ति सुखी । सुख । दुःख । तुष । कुच्छ । अत्र । आख । अलीक । कष्टण । कुपण । सोढ । सोफ । प्रतीप । शील । हल । फल । माला क्षेपे । माली । अन्यत्र मालावान् माली च । व्रीह्यादिषु शिखादिमालाशब्दाः पठ्यन्ते, क्षेपे मनुबाध-नार्थस्त्येह पाठः ।

धर्मशीलवर्णान्तात् ॥४१॥१५५॥ धर्मान्तात् शीलान्तात् वर्णान्ताच्च मृद इन्नेव भवति मत्वर्थे । तपस्विनां धर्मः तपस्विधर्मः, सोऽस्यास्तीति तपस्विधर्मी । तपस्विशीलौ । क्षत्रियवर्णा ।

पुष्करादेर्देशे ॥४१॥१५६॥ पुष्कर इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे देशोऽभिधेये । पुष्पकरिणी । पद्मिनी । देश इति किम् ? पुष्करवान् हस्ती । पुष्कर । पद्म । उत्पल । कुमुद । तमाल । नड । कपित्थ । कर्दम । विस । मृणाल । सत्वक । विगर्ह । करीष । शिरीष । यवास । हिरण्य । अत्रेष्टयः—“इन्प्रकरणे बलाद् बाहू-पूर्वादुपसंख्यानम्” [वा०] । बाहुवली । ऊरुवली । “सर्वादक्षेति वक्तव्यम्” [वा०] । सर्ववनी । सर्ववाजी । सर्वकेशी । “अर्थाद्वाऽसन्नहिते वर्तमानाद्भिन् वक्तव्यः” [वा०] । असन्नहितस्यास्तित्वेन विरोध इति चेद्, एवं तर्हि तद्विषयाऽभिलाषयाविरोधः । अर्थो । अर्थाभिलाषवानित्यर्थः । असन्नहित इति किम् ? अर्थवान् । “तदन्ताद्वेति वक्तव्यम्” [वा०] । धान्यार्थी । हिरण्यार्थी । “शृङ्गवृन्दाभ्यामारको वक्तव्यः” [वा०] शृङ्गे अत्यस्तः शृङ्गारकः । वृन्दारकः । “फलबर्हाभ्यामिनः” [वा०] फलिनो वृक्षः । बर्हिणो मयूरः । “हृदयाच्चालुर्वा वक्तव्यः” [वा०] । हृदयालुः । हृदयिकः । हृदयी । हृदयवान् । “शीतोष्णतृप्तेभ्यस्तत्र सहव इत्यालुर्वक्तव्यः” [वा०] । शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः । तृतालुः । “हिमाच्छेबुः” [वा०] । हिमं न सहते हिमेलुः । “बलावलुः” [वा०] । बलं न सहते बलुलः । “वातात्ममूहे तन्न सहते इति च” [वा०] । वातसमूहो वातूलः । वातं न सहते वातूलः । “तः पर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे” [वा०] । पर्वण्यस्य सन्ति पर्वतः । मरुतः ।

बलादेर्मतुर्वा ॥४१॥१५७॥ बल इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति । वावचनेन पदे इन् प्रकृतः समुच्चयते । ठोऽत्र न भवति । बलमस्यास्ति बलवान् । बली । इमेव मतुवचनं शापकम्, इन्विषये मतुर्न भवतीति । बल । उत्साह । उद्दास । उद्भास । बुल । दुष । पुल । दल । कुल । आयाभ । व्यायाम । प्रयाम । उपयाम । आरोह । अवरोह । परिणाह । शिखादेराकृतिगणत्वात्सिद्धे प्रपञ्चाथमिदम् ।

मन्माभ्यां हौ ॥४१॥१५८॥ मन्मन्तान्मशब्दान्ताच्च मृद इन् भवति मत्वर्थे खुविषये । धर्मिणी । चर्मिणी । चर्मवतीति निपातनं वक्ष्यति । तत एव मतुः । मान्तात् । मामिनी । कामिनी ।

तुरिडवटिवलेर्भः ॥४१॥१५९॥ तुरिड वटि वलि इत्येतैभ्यो भ इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । विवृद्धा नाभिस्तुरिडः, सोऽस्यास्ति तुरिडमः । तुन्दादिषु स्वाङ्गविवृद्धाविति इलमतुटेनः प्राप्ताः । वटिभः । मतुः प्राप्ताः । वलिभः । अस्त्रात्यामादिषु पाठात् नमत् च भवतः । वलिनः । वलिमान् ।

कंशम्भ्याम् ॥४१॥१६०॥ कंशंशब्दौ मकारान्तौ बलसुखयोर्वाचकौ । कं शं शब्दाभ्यां भत्यो भवति मत्वर्थे । कम्भः । शम्भः ।

वयस्तिवृताः ॥४१॥१६१॥ कंशम्भ्यां व यस् ति वृ ता इत्येते ल्या भवन्ति मत्वर्थे । कम्भः, शम्भः, कंयः, शंयः । सकारः “सिति” [१।१।१०५] इति पदसंशयः । पदस्येत्यधिकृत्य यकारस्यानुस्वारपरस्वत्वे सिद्धे

भसंज्ञायां हि कभ्यः शम्यः इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कन्तिः, शन्तिः, कन्तुः, शन्तुः, कन्तः, शन्तः, । सर्वत्र पूर्वस्य पदत्वात् “भोऽनुस्वारः” [१।४।७] इत्यनुस्वारः । तस्य “वा पदान्तस्य” [१।४।१३३] इति परस्वत्वम् ।

ऊर्णाऽहंशुभंभ्यश्च युस् ॥४।१।६२॥ ऊर्णा, अहम्, शुभम्, इत्येतेभ्यः कंशम्भ्यां च युस् इत्ययं ल्यो भवति मत्वर्थे । सकारः “सिति” [१।२।१०५] इति पदसंज्ञार्थः । ऊर्णायुः । अहमित्यहङ्कारवाचि शब्दान्तरम् । अहंयुः । शुभमिति मकारान्तः शुभपर्यायः । शुभंयुः । कंयुः । शंयुः । नासिक्यस्य योरनादेशो वक्ष्यते इत्यस्य न भवति ।

सूक्तसान्मोश्छुः ॥४।१।६३॥ मृदश्छो भवति मत्वर्थे सूक्ते साम्नि चामिधेये । वेदे वाक्यसमूहः सूक्तम्, सामेति च संज्ञा । मण्डुतेनामपवादः । अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अच्छावाक्रीयं सूक्तम् । मैत्रावरुणीयं सूक्तम् । यज्ञशब्दोऽस्मिन्नस्ति यज्ञीयं साम । वारतन्तवीयं साम । अनुकरणशब्दा एतेऽनुकार्यशब्दैरर्थवन्त इति मृत्संज्ञा सिद्धा । तेऽन्यपदसङ्घातादपि अनुकरणात्त्यो न भवति । अस्य वामशब्दोऽस्मिन्नस्त्यस्यवामीयम् । कयाशुभशब्दोऽस्मिन्नस्ति कयाशुभीयम् ।

अध्यायाऽनुवाकयोर्बोप् ॥४।१।६४॥ अध्यायाऽनुवाकयोरभिधेययोर्मृदश्छो भवति मत्वर्थे तस्य च वा उन्भवति । गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डीयः । गर्दभाण्डः । कूर्चमुखः । उच्छिष्टीयः । उच्छिष्टः । दीर्घजीवित्रीयः । दीर्घजीवितः । पदसमुदायात्त्यः । वलितस्कम्भीयः । वलितस्कम्भः ।

विमुक्तादिभ्योऽण् ॥४।१।६५॥ विमुक्त इत्येवमादिभ्योऽण् भवति मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयो-रभिधेययोः । विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वा । विमुक्त । देवासुर । रक्षोऽसुर । उपसत् । परिसारक । वसु । मत् । सन्तु (त्) । पत्नीकन्तु (त्) । दशार्ह । वयस् । हविर्घाता । महित्री । सोमा-पूषन् । ईडा । आम्नाविषु (अग्नाविष्णु) । वृत्र । हर्तृ ।

घोषदादेर्वुन् ॥४।१।६६॥ अध्यायानुवाकयोरिति वर्तते । घोषदादिभ्यो मृद्भ्यो वुन् भवति मत्वर्थे । घोषच्छब्दोऽस्मिन्नर्थे (सिन्नस्तीत्यर्थे) वुन् भवति । घोषदकोऽध्यायोऽनुवाको वा । घोषदिति केषाञ्चित्पाठः । घोषद् । ईषेला । मातरिश्वन् । देवस्य ला । देवीराया (रापः) । देवीस्या । कृष्णो स्याखरेखा (खरेष्ट) । देवीन्विया (देवीं धियम्) । रक्षोहण । अर्जत । प्रवृत्त । दृशान । अघार । अन्नन । प्रभूता (प्रभृत) । कृशानु ।

वनहिरण्ये कामे ॥४।१।६७॥ वनहिरण्यशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां काम इत्येतस्मिन्नर्थे वुन् भवति । कामोऽभिलाषः । वने कामः, वनको देवदत्तस्य । हिरण्यको देवदत्तस्य ।

किंबहुसर्वनाम्नोऽध्यादेः ॥४।१।६८॥ किम्, बहुशब्दात्, सर्वनाम्नश्च ध्यादिवाचिन्ताद् वक्ष्यमाणास्त्या भवन्तीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । “ते विभक्त्यः” [४।१।६९] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्मा-दयमधिकारः । ध्यादिपर्युदासेन प्रतिषेधे प्राप्ते किम् पृथग्रहणम् । वक्ष्यमाणास्तसादयः स्वार्थिकाः । तेषुः समर्थग्रहणं प्रथमग्रहणं च प्रतियोगिनो द्वितीयस्याऽभावान्न सम्भवति । वाग्रहणं त्वनुवर्तत एव । कुतः । कस्मात् । बहुतः । बहुभ्यः । बहुशब्दश्चेह सङ्ख्यावाची गृह्यते, न वैपुल्यवाची । तेनेह (न) भवति बहुः स्यात् । यतः । यस्मात् । ततः । तस्मात् ।

इदम इश् ॥४।१।६९॥ इदम इश् भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वादेशार्थः । इतः । इह । इदानीम् ।

एतेतौ थोः ॥४११७०॥ इदम् एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफथकारादौ तसादौ परतः । इयोऽपवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । अनेन प्रकारेण इत्थम् । “इदमो हि” [४११८२] “किमिदं भ्यां थम्” [४११९०] इति हिंयमौ ।

एतदः ॥४११७१॥ एतदश्च एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफथकारादौ परतः । एतस्मिन्काले, एतर्हि । “वाऽनद्यत्ने हि” [४११८६] इति हिः । इदमो यो रेफथकारादिः, तस्मिन्प्रायः इतीदं विशेषणम् । एतदोऽपि प्रकारे थं भवति । एतेन प्रकारेण इत्थम् ।

अश् ॥४११७२॥ एतदोऽशित्ययमादेशो भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वदेशार्थः । अतः । अत्र ।

कायास्तस् ॥४११७३॥ किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेरिति वर्तते । कान्तात्तस् भवति । कस्मात् कुतः । बहुभ्यो बहुतः । यस्माद् यतः । तसि कृते पूर्वस्य सुपः ‘सुपो ङुष्टदोः’ [११४१४२] इत्युप् । अद्वयादेरित्येव । द्वाभ्याम् । युष्मत् । अस्मत् ।

तसेः ॥४११७४॥ “प्रतियोगे कायास्तसिः” । [४१२१४६] “अपादानेऽहीयरुहोः” [४१२१५०] इत्येवमादिना विहितस्य तसेरिह ग्रहणम् । एतदर्थमेव च तत्रेकारेत्करणम् । किंबहुसर्वनाम्नः परस्य तसेस्तसादेशो भवति । कुत आगतः । बहुत आगतः । यत आगतः । विभक्तीसंज्ञार्थं तसेस्तसादेशः । पूर्वयौव तसा सिद्धमिति चेत्, नैवं शक्यम्, हीयरुहोः प्रयोगे कुतो हीनः यतो हीन इत्यत्र तसं पूर्वं सावकाशं बाधित्वा हीयरुहोःप्रयोगे (?) अपादाने किंबहुसर्वनामभ्यः परत्वात्तस्मिन्भवति ।

पर्यभिभ्याम् ॥४११७५॥ परि अभि इत्येताभ्यां तस् भवति । परितः । अभितः । यथासङ्ख्यं सर्वोभयार्थं वर्तमानाभ्यामिष्यते । इह मा भूत् । परिभवति । अभ्येति ।

ईपस्त्रः ॥४११७६॥ किंबहुसर्वनामभ्यो द्वयादिर्वाञ्जितेभ्य ईवन्तेभ्यस्त्र इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । बहुषु बहुत्र । यस्मिन् यत्र । किमिदमभ्यामपवादो वक्ष्यति ।

इदमो हः ॥४११७७॥ इदम् ईवन्तात् ह इत्ययं ल्यो भवति । तस्यापवादः । अस्मिन्, इह ।

किमोऽः ॥४११७८॥ किम् ईवन्तात् अ इत्ययं ल्यो भवति । तस्यापवादः । कस्मिन् कः । “कुश्चो तयोः (कुक्चौ तयोः)” [२१११६३] इति किमः कशब्दादेशः । कथं कुत्रचित् इति ? चिन्त्यमेतत् ।

दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि ॥४११७९॥ कामीपं च विहाय अन्यविभक्तयन्तेभ्योऽपि दृश्यन्ते तसादयः । किंबहुसर्वनाम्नोऽद्वयादेरिति वर्तते । क पुनर्दृश्यन्ते ? भवदादिशब्दस्य प्रयोगे । के पुनर्भवदादयः ? भवान् दीर्घायुर्देवानां प्रियः । आयुष्मानिति । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । तेन भवता । ततो भवता । तत्र भवता । तस्मै भवते । ततो भवते । तत्र भवते । तस्माद् भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्य भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्मिन् भवति । तत्र भवति । ततो भवति । एवमन्यत्राप्युदाहरणानि योज्यानि । भवदादिभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगवशात्तसादयो वेदितव्याः । इतो गतः । अनेन गतः । इत आस्यताम् । इह आस्यताम् ।

दैकान्यकिञ्चित्तदः काले ॥४११८०॥ ईप् इति वर्तते । एक अन्य किं यत्तद् इत्येतैभ्य ईप्समर्थेभ्यः काले वर्तमानेभ्यो दा इत्ययं ल्यो भवति । जादेरपवादः । एकस्मिन् काले एकदा । अन्यदा । कदा । तदा । यदा । काल इति किम् ? एकस्मिन् देशे एकत्र ।

सर्वस्य सो वा हि ॥४१॥८२॥ सर्वशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति वा दा इत्येतस्मिन्परतः । ईप् इति वर्तते । काल इति च । बृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन इदमेव लक्षणं दाविधानस्य । सर्वस्मिन् काले सदा । सर्वदा ।

इदमो हिं ॥४१॥८२॥ इदम ईवन्तात् काले वर्तमानात् हिंत्यो भवति । हस्याऽपवादः । अस्मिन् काले एतर्हि । काल इत्येव । इह देशे ।

अधुना ॥४१॥८३॥ अधुनेति निपात्यते । अस्मिन्काले अधुना । इदमः अशभावो धुना त्यः । अथवा अधुना इति ल्यो निपात्यते । इदम इशादेशः । “यस्य कथाञ्च” [४१॥१३९] इति तस्य खम् ।

दानीम् ॥४१॥८४॥ इदम ईप्समर्थात्काले दानीमित्ययं ल्यो भवति । अस्मिन्काले इदानीम् ।

तदः ॥४१॥८५॥ तद ईवन्तात्काले दानीं भवति । तस्मिन्काले तदानीम् । तदः पूर्वं दाविहितः सोऽपि भवति । तदा ।

वाऽनद्यतने हिं ॥४१॥८६॥ किंबहुसर्वनामभ्योऽद्वयादिभ्य ईवन्तेभ्योऽनद्यतने काले हिंत्यो वा भवति । पदे यो यतो विहितः स च भवति । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा । अमुर्हि, अमुत्र ।

पूर्वाण्यन्येतरतरापरारोभयोत्तरेभ्योऽहन्येद्युस् ॥४१॥८७॥ पूर्वादिभ्य ईप्समर्थेभ्योऽहनि वर्तमानेभ्य एद्युस् भवति । पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेंद्युः । अन्येद्युः । अन्यतरेद्युः । इतरेद्युः । अपरेद्युः । अवरेद्युः । उभयस्मिन्नहनि उभयेद्युः । उत्तरेद्युः । “द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः” [वा०] । उभयेद्युः ।

सद्योऽद्यैषमः परेद्यविपरुत्परारि ॥४१॥८८॥ सद्य इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते । ईप् इति वर्तते काल इति च । समानस्य सभावो द्यश्चाहनि निपात्यते । समानेऽहनि सद्यः प्राणकरं जलपानम् । इदमोऽमृ(श)भावोऽहनि द्य इत्ययं च ल्यः । अस्मिन्नहनि अद्य । इदमः समसण् संवत्सरे । अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः । अकार उच्चारणार्थः । इदम इशादेशः । आदेरैप् । “त्यादेश्योः” [१॥४१३९] इति षत्वम् । परशब्दादहनि एद्यवि । परस्मिन्नहनि परेद्यवि । पूर्वपूर्वतरयोः परभावः उदारी च ल्यौ संवत्सरे । पूर्वस्मिन् संवत्सरे परत् । पूर्वतरे संवत्सरे परारि । कथं परददास्यामि, परारि दास्यामि इति ? एवं तर्हि परपरतरयोरपि प्रकृत्योः परिग्रहः कर्तव्यः ।

प्रकारे था ॥४१॥८९॥ ईप् इति निवृत्तं काल इति च । किंबहुसर्वनामभ्योऽद्वयादिभ्यो यथा सम्भवं सर्वविभक्तयन्तेभ्यः प्रकारे वर्तमानेभ्यस्था इत्ययं ल्यो भवति स्वायें । सामान्यस्य भेदको विशेषनिर्देशः प्रकारः । गच्छतीति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः रथेन अश्वेन पादाभ्यामित्यादिः । पुरुष इति सामान्यम् । तस्य विशेषनिर्देशः बुद्धिमान् दत्तः शरः इत्यादि । वर्तते इति सामान्यम् । तस्य विशेषा अध्यापनादयः । सर्वेषां प्रकारेण सर्वथा । यथा । तथा । अद्वयादेरिति किम् ? द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां गच्छति । अयं प्रकारमात्रे भवति । जातीयः पुनः प्रकारवति । यजातीयः । तजातीयः ।

किमिदंभ्या थम् ॥४१॥९०॥ किम् इदम् इत्येताभ्यां प्रकारे वर्तमानाभ्यां थमित्ययं ल्यो भवति । था इत्यस्याऽपवादः । केन प्रकारेण कथम् । अनेन प्रकारेण इत्थम् ।

ते विभक्त्यः ॥४१॥९१॥ ते तसादयस्त्या विभक्तीञ्चञा वेदितव्याः । विभक्तीकार्यं कृत्योदाहरणानि दत्तानि । “तसाद्विभक्त्यस्य उभयादेशो वक्तव्यः” [वा०] । उभाभ्यामुभयतः उभयोरुभयत्र । उभाभ्यां प्रकाराभ्यामुभयथा । नेदं वक्तव्यम् । उभयशब्दस्य तसादिविषयेऽभिधानं नास्ति । यथा उभयपुत्र इत्येवमादौ ।

दिक्छन्देभ्यो वाकेभ्योऽस्ताद्विदेशयोः ॥४१११२॥ दिशां शब्देभ्यः वा का ईप् इत्येवमन्तेभ्यो दिदेशयोर्वर्तमानेभ्योऽस्तादित्यर्थं त्यो भवति स्वार्थे । पूर्वा दिग् रमणीया । पूर्वा दिशो रमणीयाः । पुरस्ताद् रमणीयम् । “अस्ताति” [४१११०३] इति पूर्वावरावराणां पुरवध आदेशाः । अस्ताद्यन्ताः शब्दा आलिङ्ग-सङ्ख्या अनुप्रयोगाणां न पुंस्-लिङ्गहेतुर्भवति । पूर्वस्या दिश आगतः पूर्वस्माद्देशादागतः, पुरस्तादागतः । पूर्वस्यां दिशि वसति, पूर्वस्मिन्देशे वसति, पुरस्ताद् वसति । एवमवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति । दिक्छन्देभ्य इति किम् ? ऐन्द्री दिग् रमणीया । ऐन्द्रीशब्द इन्द्रसम्बन्धिनः स्त्रीलिङ्गस्य वस्तुनो वाचको न तु दिक्छन्दः । वाकेभ्य इति किम् ? पूर्वा दिशां गतः । दिग्देश इति किम् ? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । अत्र दिगाद्युपलक्षिते गुरौ पूर्वशब्दः प्रयुक्तः ।

काले ॥४१११३॥ काले वर्तमानेभ्यो दिग्शब्देभ्यो वाकेवन्तेभ्योऽस्ताद् भवति । विभक्तीनां दिगादिभिर्यथासङ्ख्यं मा भदित्येवमर्थे पृथक् सूत्रकरणम् । पूर्वकाले रमणीयः । पुरस्ताद् रमणीयः । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति ।

दक्षिणोत्तराभ्यामतस् ॥४१११४॥ दक्षिणोत्तरशब्दाभ्यां दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्यां वाकेवन्ताभ्यामतस् भवति । अस्तातोऽपवादः । दक्षिणशब्दस्य काले वृत्तर्त्त सम्भवति । दक्षिणतो रमणीयम् । दक्षिणत आगतः । दक्षिणतो वसति । उत्तरतो रमणीयम् । उत्तरत आगतः । उत्तरतो वसति । किमर्थमतस्यकारः क्रियते ? स्त्रीलिङ्गेऽपि नास्ति विशेषः । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः” इति पुंवद्भावो भविष्यति । एवं तर्हि “ऽस्तसर्थे ह्येन” [१४१३६] इति विशेषणार्थः ।

वा परावराभ्याम् ॥४१११५॥ पर-अवरशब्दाभ्यामतस् वा भवति अस्तादर्थे । परतो रमणीयम् । परस्ताद्रमणीयम् । परत आगतः । परस्तादागतः । परतो वसति । परस्ताद्वसति । अवरतो रमणीयम् । अवरस्ताद्रमणीयम् । अवरत आगतः । अवरस्तादागतः । अवरतो वसति । अवरस्ताद्वसति । अवरशब्दो वाचनं न प्रयोजयति । “पूर्वापरावराणां पुरवधोऽसि” [४१११०३] “अस्ताति” [४१११०३] इति च वचनादस्तावपि भवतः ।

अञ्चेरुप् ॥४१११६॥ अञ्च्यन्तेभ्यो दिक्छन्देभ्यः परस्यास्तात् उभभवति । प्राची दिग् रमणीया । प्राग्रमणीयम् । प्रागागतः । प्राग्वसति । अस्तात् अपि “ह्रदुप्युप्” [११११६] इति स्त्रीत्यस्योप् । एवं प्रत्यग्रमणीयम् । प्रत्यगागतः । प्रत्यग्वसति । देशकालयोरप्युदाहरणानि नेयानि ।

उपप्युपरिष्ठात्पश्चात् ॥४१११७॥ उपरि उपरिष्ठात् पश्चात् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते अस्तादर्थे । ऊर्ध्वशब्दस्य उपभावो रिरस्तातौ च त्वौ निपात्येते । ऊर्ध्वा दिग् रमणीया । उपरि रमणीयम् । उपरिष्ठाद्रमणीयम् । उपर्यागतः । उपरिष्ठादागतः । उपरि वसति । उपरिष्ठाद् वसति । अपरशब्दस्य पश्चभाव आश्च त्वः । अपरो देशो रमणीयः । पश्चाद्रमणीयम् । पश्चादागतः । पश्चाद्वसति । केचित्परशब्दस्येदं निपातनमिच्छन्ति । “दिक्पूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । आच्च त्वः । दक्षिणा परा दिग् रमणीया । दक्षिण-पश्चाद्रमणीयम् । उत्तरपश्चाद्रमणीयम् । “अर्धोत्तरपदस्य च दिक्छन्दस्य पश्चभावो वक्तव्यः” [वा०] । दक्षिणापरमर्द्धम् । दक्षिणपश्चार्द्धम् । उत्तरपरमर्द्धम्, उत्तरपश्चार्द्धम् । “अर्धं चोत्तरपदे केवलस्यार्धस्य पश्च-भावो वक्तव्यः” [वा०] । अपरमर्द्धं पश्चार्द्धम् ।

दक्षिणोत्तराऽव(घ)रादात् ॥४१११८॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) इत्येतेभ्य आदित्यर्थं त्यो भवति अस्तादर्थे । दक्षिणाद्रमणीयम् । दक्षिणादागतः । दक्षिणाद् वसति । उत्तराद्रमणीयम् । उत्तरादागतः । उत्तराद्वसति । अव(घ)राद्रमणीयम् । अव(घ)रादागतः । अव(घ)राद् वसति । दक्षिणोत्तराभ्यामतसपि वचनाद् भवति । अस्तात् पुनरपवादोऽयम् । अवर (अधर) शब्दाद् वक्ष्यमाणवस्तातावपि भवतः ।

वैनोऽदूरेऽकायाः ॥४।१।६९॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) शब्देभ्यो वा एनो भवति अस्तादर्थेऽदूरे गम्येऽकायाः । कायाः पर्युदात्तेन वेपौ गृह्येते । दक्षिणेन रमणीयम् । दक्षिणेन वसति ग्रामम् । उत्तरेण रमणीयम् । उत्तरेण वसति । अवरेण (अधरेण) रमणीयम् । अवरेण (अधरेण) वसति । वावचनाद्यो यतो विहितः स च भवति । अदूर इति किम् ? हिमवतो दक्षिणाद् वसति । अत्रावरे रवविमादूरे (अत्रावधिष्ठिमान् दूरे) विवक्षितः । अकाया इति किम् ? दक्षिणादागतः । “दिक्छब्दमात्राद्यमेनो वक्तव्यः” [वा०] दक्षिणोत्तरावर (धर) ग्रहणं नानुवर्तनीयमिति केचित् । अच्यन्ता दिक्छब्दादनभिधानात् भवति ।

दक्षिणादा ॥४।१।१००॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादा इत्ययं लो भवति अस्तादर्थे । दक्षिणा रमणीयम् । दक्षिणा वसति । सामान्येन दूरादूरयोः रिहोदाहरणम् । उत्तरत्र दूरग्रहणात् । अकाया इत्येव । दक्षिणात् आगतः ।

आहि च दूरे ॥४।१।१०१॥ अकाया इति वर्तते । दक्षिणशब्दादाहिलो भवति आभा (चादा) अस्तादर्थे दूरे गम्यमाने । दक्षिणाहि रमणीयम् । दक्षिणाहि वसति । दक्षिणा वसति काञ्चीपुरात् । अकाया इत्येव । दक्षिणात् आगतः ।

उत्तराच्च ॥४।१।१०२॥ अकाया इति वर्तते दूर इति च । उत्तरशब्दादाहि आ इत्येतौ लौ भवतो अस्तादर्थे । आ इत्यनुकर्षणार्थश्चकारः । उत्तराहि रमणीयम् । उत्तरा रमणीयम् । उत्तराहि वसति । उत्तरा वसति । अकाया इत्येव । उत्तरत् आगतः । दूर इत्येव । मार्गमुत्तरेण प्रया (पा) ।

पूर्वाविराधराणां पुरवधोऽसि ॥४।१।१०३॥ अकाया इति निवृत्तम् दूर इति च । पूर्व, अवर, अधर, इत्येतेषां यथासङ्ख्यं पुर अव् अघ् इत्येते आदेशा भवन्ति अस्तादर्थे असि परतः । अनेनैवाहो विधानम् । पुरो रमणीयम् । पुर आगतः । पुरो वसति । अवो रमणीयम् । अव आगतः । अवो वसति । अघो रमणीयम् । अघ आगतः । अघो वसति ।

अस्ताति ॥४।१।१०४॥ अस्ताति च परतः पूर्वादीनां पुरादयः आदेशा भवन्ति । इदमेव ज्ञापकम् । अस्तादि भवतीति । अन्यथा विशेषविहितेनासा बाधा स्यात् । पुरस्ताद्रमणीयम् । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् वसति । अघस्ताद् रमणीयम् । अघस्तादागतः । अघस्ताद् वसति ।

वाऽवरह्य ॥४।१।१०५॥ अस्ताति परतोऽवरस्यावादेशः । अवस्ताद्रमणीयम् । अवस्तादागतः । अवस्ताद् वसति ।

सङ्ख्याया विधार्थे चा ॥४।१।१०६॥ यथासम्भवं विभक्तीयोगः । सङ्ख्याशब्देभ्यो विधाऽर्थे वर्तमानेभ्यो चा इत्ययं लो भवति स्वार्थे । अर्थग्रहणसामर्थ्याद् विधाशब्द इह प्रकारवाची गृह्यते । स च प्रकारः द्रव्यगुणक्रियाविषयः । षड्भिः प्रकारैः षोढा द्रव्यम् । बहुधा गुणाः । पञ्चधा करोति रक्तम् । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा करोति । त्रिधा । चतुर्धा । “अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्” [वा०] । अधिकरणं द्रव्यम् । तस्य विचालः सङ्ख्यान्तरापादनम् । एकस्य नानालापादनम् । अनेकस्य वा एकलापादनमित्यर्थः । तस्मिन् गम्यमाने सङ्ख्याया धालो वक्तव्यः । एकं राशिं पञ्चधा कुरु । सप्तधा । नवधा । अनेकमेकधा कुरु । न वक्तव्यः । द्रव्यगुणक्रियाभेदेन त्रिविधो विधार्य इत्युक्तम् । तत्र वान्तर्भावात् । “प्रकाशेकते जातीयः” [४।१।१०८] इत्यस्यापवादः ।

वैकाद्व्यमुन् ॥४।१।१०७॥ एकशब्दाद्व्यमुन् भवति । वदे वा भवति । एकं राशिं कुरु, ऐक्यं कुरु । ऐक्यं मुङ्क्ते । एकधा मुङ्क्ते ।

द्वित्रैर्धमुन् ॥४१११०८॥ वेति वर्तते । द्वित्रिभ्यां वा धमुन् भवति विधायं । द्वैर्धं द्विधा । त्रैर्धं त्रिधा । “धमुजन्तात् स्वार्थे ङो वक्तव्यः” [वा०] । मतिर्द्वैधानि । पथिर्द्वैधानि ।

एधा ॥४१११०९॥ द्वित्रिभ्यामेधा भवति विधायं । द्वेधा । त्रेधा । यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः ।

याप्ये पाशः ॥४११११०॥ याप्य इह कुत्सितोऽभिप्रेतः । याप्यन्ते अपनीयन्तेऽस्माद् गुणा इति याप्यः । बहुलवचनादपादाने व्यसंज्ञः । याप्येऽर्थे वर्तमानान्मृदः पाश इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । वैयाकरणो याप्यः, वैयाकरणपाशः । यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशः, तत्कुत्सने भवति । इह मा भूत् । चो ये (रो) वैयाकरणः । इह याप्या कुमारी, कुमारपाशः । “तसदो” [४१३१४७] इति पुंवद्भावः । “वयस्यनन्त्ये” [३११२४] इत्यस्य ङाविधेः कृतत्वात्पाशान्ताद्याप् भवति । उक्तं च—

“स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।

समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्यां विभक्त्यतिशब्दः ॥

अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणस्तु कृत्स्नमात्मानम् ।

प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः” ॥ [४१३१७४ पातं० भा०]

षष्ठाऽष्टमाद् भागे चः ॥४१११११॥ षष्ठ-अष्टमशब्दाभ्यां भागे वर्तमानाभ्यां च इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । षष्ठो भागः, षाष्ठः । आष्टमः । विकल्पाधिकारादनुत्पत्तिरपि भवति । षष्ठः । अष्टमः । भाग इति किम् ? षष्ठः पुरुषः ।

मानपश्वङ्गयोः कोपौ च ॥४११११२॥ भाग इति वर्तते । षष्ठाष्टमशब्दाभ्यां मानपश्वङ्गयो-र्भागविशेषयोरभिधेययोः क उप इत्येतौ भवतः । पूर्वेण विहितस्य जस्य उप् द्रष्टव्यः । षष्ठशब्दान्माने भागविशेषे को भवति । अष्टमशब्दात्पश्वङ्गभागविशेषे जस्य उभभवति । षष्ठको भागो मानं चेत्तद् भवति । अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत्तद् भवति । विहितस्य अस्योत्पिधानसामर्थ्याद् वा जोऽपि भवति । षाष्ठः । षष्ठः । आष्टमः । अष्टमः ।

एकादाकिश्चासहाये ॥४११११३॥ एकशब्दादसहायवाचिन आकिञ्चित्ययं त्यो भवति कोपौ च स्वार्थे । कस्योप् ? काकिनोः । एकाकी । एककः । एकः । असहाय इति किम् ? यदैकशब्दः सङ्ख्यायामन्यार्थे वा वर्तते तदा मा भूत् । अत एव द्विवहू अपि भवतः । एकाकिनौ । एकाकिनः । संख्यावाचते (त्वे) एकवचनमेव स्यात् । अन्यार्थत्वे बहुवचनमेव स्यात् ।

तमेष्टावतिशायने ॥४११११४॥ अतिशायनं प्रकर्षः । “अन्यस्यापि” [४१३१३२] इति दीप्तम् । इदं च प्रकृत्यर्थविशेषणं सर्वेषां स्वार्थिकानां द्योत्यम् । अतिशायनविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वार्थे तम इष्ट इत्येतौ त्यौ भवतः अतिशायने द्योत्ये । वान्तात्योत्पत्तिः । सर्व इमे आद्याः, अथमेषामाद्य-तमः । सुकुमारतमः । सर्व इमे पटवः, अयमेषां पटुतमः । कथं गोतमः । कारकतमः इति ? अत्रापि क्रियागुणद्वारेण प्रकर्षापकर्षयोगोऽस्ति । “शेषौ गुणवचनादेव” [४११११८] इति नियमो वक्ष्यते । सर्व इमे पटवः, अयमेषा पटिष्ठः । यदा प्रकर्षवतः पुनः प्रकर्षविवक्षा, तदा आतिशायिकान्तादपरः आतिशायिकः । श्रेष्ठतमः । अदूरविप्रकर्षिणां समानकक्षाणां स्पष्टा । तेनेह न भवति । सर्वपाणां महत्तमातिशायने महान् हिमवान् इति ।

मिङ् ॥४११११॥ यद्यपि मिङन्ते साधनप्रधाने अभिधानरूपेण गुणीभूता क्रिया, तथापि तस्याः साध्यमानत्वात्प्राधान्यम् । तदपेक्षायां साधनप्रकर्षेऽयं विधिवैदितव्यः । मिङन्तादतिशायने तम इत्ययं लो भवति । ङ्याम्मृदधिकारात् पूर्वेण प्रातिनास्ति । सर्व इमे पचन्ति, अयमेषां पचतितमाम् । पठतितमाम् । ‘किमेस्मिङ्कृतादामद्रव्ये’ [४११२०] इत्याम् । इष्टो “गुणवचनादेव” [४११११] इति नियमादिह न सम्भवति ।

द्विविभज्येतरस्य ॥४१११६॥ द्वौ च विभज्यं च, द्विविभज्यम् । द्विग्रहणमर्थनिर्देशपरम् । विभक्त्यं विभज्यं पृथक्कृतव्यमित्यर्थः । इदमेव निपातनं यविधेः । द्वयर्थे विभज्ये च प्रयुक्ते सति ङ्याम्मृदो मिङश्च अतिशायने ङोले तर इयसु इत्येतौ लौ भवतः । तमेष्टयोरपवादः । यथासङ्ख्यमस्वरितत्वादिह नेष्यते । उभाविमावादौ, अयमनयोऽन्यतरः । कारकतरः । द्वाविमौ पचतः । अयमनयोः पचतितराम् । ईयसुर्गुणवचनादेव । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । सूत्रे द्विष्टाब्देन यद्यर्थग्रहणं द्वयोरर्थयोरेकतर-स्यातिशायने इति तदा सिद्धमिदम् । अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरुपतर इति द्वयर्थत्वादस्य । इदं तु न सिद्धयति । दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः । पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतराविति । अत्रापि जात्यपेक्षयाऽ-र्थद्विलोपपत्तेः । विभज्ये । सांकाश्यका माथुरेभ्य आद्यतराः । पटीयांसः । अत्र जात्यभावाद्व्यर्थता नास्ति । तथापि नासौ शब्दोपात्ता । अत एव ब्रह्मन्तमुदाहरणम् ।

तादी भः ॥४१११७॥ अतिशायने चत्वारस्तथा विहितास्तेषु तकारादी भसंज्ञौ भवतः । कुमारितरा । कुमारितमा । “भरूपकल्पचेलङ्गुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः” [४१११५५] इति पूर्वस्य प्रादेशः । भान्तादतष्टाप ।

शेषौ गुणवचनादेव ॥४१११८॥ तादी सुत्वा इष्टेयसु शेषौ । शेषौ गुणवचनादेव भवतो नान्य-स्मादिति नियमोऽयम् । सर्व इमे पटवः अयमेषां परिष्ठः । द्वाविमौ पट्ट, अयमनयोः पटीयान् । अयमस्मात्पटी-यान् । शेषग्रहणं प्रकृततादिनिवृत्त्यर्थम् । गुणवचनादिति किम् ? गोतमः । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । मैवं विशायि, शेषावेव गुणवचनादिति । एवं द्विपटुतम इति न स्यात् ।

प्रशस्यस्य श्रः ॥४१११९॥ शेषग्रहणं प्रकृतम् । तदर्थवशादीपा विपरिणाम्यते । प्रशस्यशब्दस्य श्र इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । प्रशसनीयः, प्रशस्यः । “शसिदुहिदुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्” [१११११ वा०] इत्युपसङ्ख्यानात्क्यप् । इदमेव ज्ञापकम् । इह शेषौ गुणवचनादेवेति नियमो न प्रवर्तते । सर्व इमे प्रशस्याः । अयमेषां श्रेष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यौ अयमनयोः श्रेयान् । “नैकाचः” [४१११५४] इति शेषे टिलं न । तरतमौ भवत एव । प्रशस्यतमः । प्रशस्यतरः ।

ज्यः ॥४१११२०॥ प्रशस्यशब्दस्य ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । सर्व इमे प्रशस्याः, अयमेषां ज्येष्ठः । द्वाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोर्ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । “ज्यादेयसः” [४१११२१] इति परस्यादेराकारः यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थं योगान्तरम् ।

वृद्धस्य ॥४१११२१॥ वृद्धशब्दस्य च ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः । सर्व इमे वृद्धाः, अयमेषां ज्येष्ठः । द्वाविमौ वृद्धौ अयमनयोर्ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् । आदेशार्थं वचनम् । तरतमौ सिद्धावेव । वृद्धतरः । वृद्धतमः । “बहुलशुरूवृद्धादि” [४१११२२] सूत्रेण वृद्धशब्दस्य वर्षादेशोऽपि भवति । वर्षिष्ठः । वर्षीयान् ।

वाढान्तिकयोः साधनेदौ ॥४१११२२॥ वाढान्तिकशब्दयोः यथासङ्ख्यं साध नेद इत्येतावादेशौ भवतः शेषयोः परतः । निमित्ततो यथासङ्ख्यं नेष्यते, भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वात् । सर्व इमे वाढं जल्पन्ति, अयमेषां

साधिष्ठं जल्पति । अयमनयोः साधीयो जल्पति । यदि वादशब्दां द्रव्यवचनः साधीयानिति । सर्वाणीमानि अन्तिकानि, इदमेषां नेदिष्ठम् । इदमेनयोर्नेदीयः । इदमस्मान्नेदीयः । तरतमौ भवत एव । वादतरम् । वादतमम् ।

युवाऽल्पयोः कन्वा ॥४१॥१२३॥ युव अल्प इत्येतयोः कन्नित्ययमादेशो भवति वा शेषयोः परतः । शेषयोर्विधानं पूर्ववद्व्याख्येयम् । सर्व इमे युवानः, अयमेषां कनिष्ठः । कनीयान् । यदा युवशब्दस्य कन्नादेशो न भवति तदा “स्थूढदूरेत्यादिना” [४१॥१२४] यणः खमिक एप् । यविष्ठः । यवीयान् । सर्व इमेऽल्पा अयमेषां कनिष्ठः । कनीयान् । अल्पिष्ठः । अल्पीयान् । तरतमौ भवत एव ।

विन्मतोरूप ॥४१॥१२४॥ विन् मत् इत्येतयोर्वन्भवति शेषयोः परतः । इदमेव शापकम् । शेषयोर्विधानस्य यथासङ्ख्यमत्र नेष्यते । सर्व इमे खग्विणः, अयमेषां खनिष्ठः । खजीयान् । सर्व इमे खग्वन्तः, अयमेषां खचिष्ठः, खचीयान् ।

प्रशंसायां रूपः ॥४१॥१२५॥ ङ्याम्मृद इति वर्तते मिड इति च । प्रशंसायां वर्तमानाङ्ग्याम्मृदो मिडश्च रूप इत्ययं त्यो भवति प्रशंसायां द्योत्यायाम् । स्वार्थिकानां प्रकृत्यर्थविशेषणं द्योत्यं भवति । वाच्यं पुनस्तत्प्रकृतेरेव । वैयाकरणः प्रशस्तः, वैयाकरणरूपः । पटुरूपः । प्रशस्ता कुमारी कुमारिरूपा । “तस्यौ” [४१॥१२६] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “ऋरूपेत्यादिना” [४१॥१२७] प्रादेशः । वयोलक्षणाङ्गीविधेः कृतत्वाद्रूपान्ताद्वाप् । कथं निन्दायां प्रयोगः ? वृषलरूपोऽयं यो मांसेन सुरां पिबेत् । चौररूपोऽयं योऽक्षित्यमञ्जनमपि हरेत् । अत्रापि प्रकृत्यर्थस्य वैस्पष्ट्यम् । प्रशंसायां मिडः खल्वपि । पचति रूपम् । पचतो रूपम् । पचन्ति रूपम् । लोकाश्रयमिह नपुंसकलिङ्गम् । क्रियाप्रधानमाख्यातम् । एका च क्रियेति रूपान्तादेकवचनमेव भवति ।

आसिद्धौ देश्यदेशीयकल्पाः ॥४१॥१२६॥ सिद्धिः परिपूर्णा, न सिद्धिरसिद्धिः । ईषदसिद्धिरसिद्धिः । तद्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्ङ्याम्मृदो मिडन्ताच्च देश्य देशीय कल्प इत्येते त्या भवन्ति स्वार्थे । ईषदसिद्धः पटुः, पटुदेश्यः । पटुदेशीयः । पटुकल्पः । स्त्रियां पट्विदेश्या तसादिष्वपरिगणनात् पुंवद्भावो नास्ति । पटुदेशीया । “पुंवच्चजातीय” [४१॥१२७] इति पुंवद्भावः । पट्विकल्पा कल्पस्य तस्यातसादित्वात् “तस्यौ” [४१॥१२८] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “ऋरूप” [४१॥१२९] इत्यादिनेकारान्तस्य प्रः । “जात् स्त्रियाम्” [४१॥१३०] इत्यत्र वक्ष्यते । अतिवर्तते च स्वार्थिकाः प्रकृति लिङ्गसङ्ख्ये इति । तेन गुडकल्पा द्राक्षा । तैलकल्पा प्रसन्ना । पयस्कल्पा यवागूः । मिडः । ईषदसिद्धं पचति, पचतिदेशीयम् । पचतिकल्पम् । पचतःकल्पम् । पचन्तिकल्पम् ।

वा सुपो बहुः प्राकृतु ॥४१॥१२७॥ आसिद्धाविति वर्तते । ईषदसिद्धिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्ङ्याम्मृदः सुकृताद् बहुत्यो वा भवति । स तु प्राग्भवति । विभाषया त्योत्पत्तिर्यथा स्यात् प्राग्भावस्तु नित्यः । इत्यस्य व्यतिरेकस्य दर्शनार्थस्तुशब्दः । ईषदसिद्धं कृतं बहुकृतम् । त्वे कृते मृत्संज्ञायां पुनः सुप् । “कृद्घञ्साः” [११॥१६] इत्ययं नियमस्तुल्यजातीयस्य सुवन्तसमुदायस्यान्यत्यान्तस्य च मृत्संज्ञां निवर्तयति । तेन बहुकृतशब्दास्तुबुल्लुप्तिः । एवं बहुपटुः । बहुगुडः । यदा द्राक्षाविशेषणं भवति तदा टाप् । बहुगुडा द्राक्षा । वाग्रहणं देश्यादिसमावेशार्थम् । अन्यथा मिडन्ते सावकाशान् देश्यादीनयं बाधेत । सुप इति किमर्थं यावता “प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्त” इत्युक्तं पुनः सुब्रह्मणं मिङ्निबुल्लुत्थम् । परत्वाद्देश्यादिषु कृतेषु तमादयः । पटुदेश्यतमः । बहुपटुतमः । ईषदसिद्धेः प्रकर्षो नास्तीति प्रकृत्यर्थप्रकर्षे तमादयः ।

प्रकारोक्तौ जातीयः ॥४१११२८॥ प्रकारोक्तौ सुबन्ताजातीय इत्ययं ल्यो भवति स्वार्थे । पटुप्रकारः पटुजातीयः । पण्डितजातीयः । यज्जातीयः । तज्जातीयः । प्रकारवति चायं वेदितव्यः । प्रकारमात्रे याथमौ । तेन तदन्तादपि । यथाजातीयः । कथंजातीयः । एवमर्थं वेहोक्तिग्रहणम् ।

एवात्कः ॥४१११२९॥ “इवे प्रतिकृतौ कः” [४१११२९] इति वक्ष्यति । आ एतस्मादिव संशब्दनात् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिध्यामः, तत्र क इत्ययमधिकृतो वेदितव्यः । आडिह मर्यादावचनः । वक्ष्यति “कुत्साऽज्ञातयोः” [४१११३१] । कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः । गर्दभकः । इह सुप इत्यनुवर्तनान्मिड्डन्तात्को नेष्यते ।

भिसर्वनाम्नोऽकप्राक्टेः को दः ॥४१११३०॥ मिड इति च वर्तते । भेः सर्वनाम्नश्च अगित्ययं ल्यः टेः प्राग्भवति ककारस्य च दकारः एवादर्थेषु । कस्यापवादः । मृदः सुप इति च वर्तते । तन्नाभिधानवशाद् व्यवस्था । भिसंज्ञाके नास्ति विशेषः । उच्चकैः । नीचकैः । यदि ककारोऽस्ति तस्य दकारः । हिरक्, हिरकुत् । पृथक् पृथक् । सर्वनाम्नो मृदवस्थायामक् । सर्वके । विश्वके । उभकौ । उभयके । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः । युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोः । आवकयोः । इह सुबन्तादेव । त्वयका । त्वयकि । मयकि । सुप इत्यादिसम्बन्धादेव “सुपो धुसृदोः” [१४११४२] इत्युन्नेष्यते । मिडः खल्वपि । पचकति । पठतकि । “तन्मध्यपतितास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” इति मिडन्तमेवैतत् । “अकप्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः” [वा०] मकारः “परोऽचो मिद्” [१११२५] विशेषणार्थः । तूष्णीकामास्ते । “शीले को मखं च” [वा०] तूष्णीं शीलस्तूष्णीकः ।

कुत्साऽज्ञातयोः ॥४१११३१॥ कुत्साऽज्ञातत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वार्थे यथाविहितं ल्यो भवति । कुत्सितोऽश्वः कस्यायमश्व इति वाऽश्वकः । उष्ट्रकः । उच्चकैः । सर्वके । पचतकि । इह कुत्सितक इत्यज्ञातार्थे । अज्ञातक इति कुत्सितेऽर्थे कः । अतः कविधेस्तमादयो भवन्ति । पूर्वनिर्णयेन, पश्चात्कादिविधिः । पटुतरकः । मृदुतरकः । पचतितरकाम् । छिन्नकादिषु के कृते तमादयः । छिन्नकतरः । भिन्नकतरः ।

अनुकम्पायाम् ॥४१११३२॥ सौहृदेन कारुण्येन वा परस्यानुग्रहोऽनुकम्पा तत्र वर्तमानान्मृदः सुबन्तान्मिडश्च यथाविहितं ल्यो भवति । अनुकम्पितो माणवो माणवकः । बुमुक्षितक । नीचकैः । याचतके ।

नीतौ च तद्युक्तात् ॥४१११३३॥ अनुकम्पाविषयायां नीतौ गम्यमानायां तद्युक्तादनुकम्पायुक्ता- यथाविहितं ल्यो भवति । चकारोऽनुकम्पाऽनुकर्षणार्थः । तेन सामोपप्रदानलक्षणा नीतिरिह गृह्यते, न भेदः दण्डलक्षणा । पूर्वसूत्रेणानुकम्प्यमानवाचिनस्यो विहितोऽनेन पुनस्तद्युक्ताद्विधीयते । पुत्रक उत्स्यगक । उपविश कर्दमकेनासि दिग्धकः । हन्त ते तिलकाः । हन्त ते गुडकाः । एहकि । अद्वकि । उपविश, अस्ति, ते, हन्त इत्येवमादिषु अनभिधानान्न भवति ।

बह्वृचो नृखोर्वा ठः ॥४१११३४॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति सर्वमनुवर्तते । बह्वृचो मृदो नृनामधेयाद् वा ठ इत्ययं ल्यो भवति । अनुकम्पायां “नीतौ च तद्युक्तात्” [४१११३३] इति नित्ये के प्राप्ते वा ठः । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः । देवदत्तकः । जिनिक । जिनदत्तकः । “ठाऽपि द्वितीयात्परोऽचः” [४१११३३] इति दत्तशब्दस्य खं ठयेकादेशश्च । बह्वृच इति किम् ? रामकः । दत्तकः । नृग्रहणं किम् ? देवदत्तको हस्ती । खुग्रहणं किम् ? माणवकः ।

घेलौ ॥४१११३५॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । बह्वृचो नृखोर्घ हल इत्येतौ ल्यौ भवतः । अनुकम्पितो देवदत्ता देवियः, देविज्ञः । पूर्वेषु वा ठाऽपि भवति देविकः, देवदत्तकः ।

अडबू वोपादेः ॥४१॥१३६॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । उपशब्दादेर्मृदो बह्वचो नृलोः अड बु इत्येतौ त्यौ भवतो धेलौ च वा । अनुकम्पितो उपेन्द्रदत्तः उपडः, उपकः, उपियः, उपिलः, उपिकः, उपेन्द्रदत्तकः । यादिर्बुशब्दो यकारस्य खं कृत्वा निर्दिष्ट । तेन वोरकादेशः सिद्धः ।

जातिनाम्नः कः ॥४१॥१३७॥ जातेर्नाम जातिनाम जातिशब्द इत्यर्थः । बह्वचोऽबह्वचश्च साया-
न्येनायं विधिः । जातिशब्दान्तृलोः अनुकम्पायां नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति । अनुकम्पि-
तो महिषो महिषकः । वराहकः । शरभकः । व्याघ्रकः । सिंहकः । इह केचिद्वाग्रह्यामनुवर्त्य व्याघ्रिन्नः, सिंहिलः
इत्युदाहरन्ति तत्तु नातिश्लिष्टम्, अस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्माद् वादीनां वाधैव युक्ता ।

द्योः खं चाऽजिनस्य ॥४१॥१३८॥ नृलोः रिति वर्तते । अजिनशब्दान्तामृदो नृलोः अनुकम्पायां
नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति तस्य च द्योः खं भवति । अनुकम्पितस्तुलाजिनस्तुलकः । व्याघ्रकः ।
मृगकः । बुग्रहणं किमर्थम् ? अजिनशब्दान्तस्य द्योः खं यथा स्यात् । अनुकम्पितो व्याघ्रमष्टाजिनो व्याघ्रकः ।

ठाचि द्वितीयात्परोऽचः ॥४१॥१३९॥ खमिति वर्तते । प्रकृते ठेऽजादौ च परतः । प्रकृते-
द्वितीयादचः परशब्दो नाश्रयते । परग्रहणं सर्वनाशायम् । अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः, देवियः, देविलः ।
अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त उपडः, उपकः । अथाजातिवादेव सिद्धे पृथक् ठग्रहणं किमर्थम् ? खे कृते इकादेशो
यथा स्यादित्येवमर्थः । अन्यथा अनुकम्पितो भानुदत्तः भानुकः । पितृकः इत्येवमादि न सिद्ध्येत् । इक-
स्य स्थानिवद्भावाद्ग्रहणेन ग्रहणत्कादेशो भविष्यतीति चेन्न; “सन्निपातलक्षणे विधिरनिमित्तं तद्विधातव्यम्”
अजादिसन्निपातकृतमुगन्तत्वम् । “चतुर्थादचः परस्य खं वक्तव्यम्” [वा०] बृहस्पतिदत्तः ।
बृहस्पतियः । बृहस्पतिलः । बृहस्पतिकः । “अनजादौ द्वितीयादचः परस्य वा खं वक्तव्यम्” [वा०] देवदत्तकः ।
देवकः । जिनदत्तकः । जिनकः । “पूर्वपदस्य च ठाजादौ अनजादौ च खं वक्तव्यम्” [वा०] दत्तिकः ।
दत्तियः । दत्तिलः । दत्तकः । “विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्” [वा०] सत्यभामा ।
भामा । सत्या वा । विष्णुगुप्तः । गुप्तः । विष्णुर्वा । “उवर्णादिलस्य च खं वक्तव्यम्” [वा०] । परस्यादे-
रितीकारस्य । भानुदत्तः, भानुलः । वसुलः । उक्लृच-

“चतुर्थादनजादौ च नाशः पूर्वपदस्य च । अनिमित्ते तथैवेष्टः उवर्णान्तादिलस्य च ॥”

“उगन्तादियेल्लयोः खं वक्तव्यम्” [वा०] । प्रकृते ठाचि द्वितीयात्परस्य खे कृते इत्येलायोश्च
परस्यादेः खे कृते भत्वादोकारो ये दीप्तं रीङ्भावः इत्येते विषयो न भवन्ति । भानुयः । मातृयः ।
भानुलः । “एचो द्वितीयस्वे तदादेः खं वक्तव्यम्” [वा०] । लहोडः । लहिकः । कहोडः । कहिकः ।
कपोतरोम । कपिकः । कपिलः । अमोवजिह्वः । अमिकः । अमिलः । “एकाक्षरपूर्वपदानां द्योः खं
वक्तव्यमेषः” [वा०] अनुकम्पितो वामाशी(दत्तः)वाचिकः । त्वचिकः । श्रुचिकः । पूर्वस्य पदकार्य-
निवृत्त्यर्थमेतत् । अषष इति किम् । षडङ्गुलिः षडिकः ।

शेवलसुपरिविशालवरुणार्थमादेस्तृतीयात् ॥४१॥१४०॥ शेवल सुपरि विशाल वरुण
अर्थमन् इत्येवमादेर्बुलोर्मृदस्तृतीयादचः परो नाश्रयते ठाचि परतः । द्वितीयादचः परस्य खे प्राप्ते वचनम् ।
अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः । शेवलियः । शेवलिलः । सुपरिकः । सुपरियः । सुपरिलः । विशालिकः ।
विशालियः । विशालिलः । वरुणिकः । वरुणियः । वरुणिलः । अर्थमिकः । अर्थमियः । अर्थमिलः ।
“अकृतसन्धीनां शेवलादीनामिति वक्तव्यम्” [वा०] । शेवलेन्द्रदत्तः शेवलिकः । सुपर्याशीर्दत्तः सुपरिकः ।
शेवलियः सुपर्यिक इति च माभूत् । नेदं वक्तव्यम् । अकृतवद्व्यूहेन सिद्धम् । अकृतवद्व्यूहो नाम
अन्तरङ्गकरीमणया अक्लापारः ।

अल्पे ॥४१॥१४१॥ समन्ततो हीनं महत्प्रतिपन्नभूतमल्पम् । अल्पत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहितं त्यो भवति । सुप इति वर्तते । ङङ्ग्राम्मुदो मिङ् इति च । अल्पमन्नमन्नकम् । घृतकम् । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि । द्रव्यद्वारेण क्रियाया अल्पत्वमहत्वे ।

ह्रस्वे ॥४१॥१४२॥ आयामतो हीनं दीर्घप्रतिपन्नभूतम् (ह्रस्वम्) । ह्रस्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहितं त्यो भवति । ह्रस्वः पटः पटकः । वृद्धकः । उच्चकैः । सर्वकैः । पचतकि ।

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥४१॥१४३॥ ह्रस्व इति वर्तते । कुटी शमी शुण्डा इत्येतेभ्यो र इत्यर्थं त्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुटी कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः । लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति पुँल्लिङ्गता ।

कुत्वा डुपः ॥४१॥१४४॥ कुतः आवपनम् । कुतूशब्दाड्डुप इत्यर्थं त्यो भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कुतः कुतुपः स्नेहभाजनविशेषश्चर्ममयः ।

कासूगोणीभ्यां तरट् ॥४१॥१४५॥ कासूः शक्तिः आयुधविशेष इत्यर्थः । गोणीत्यावपनमुच्यते । कासूगोणीशब्दाभ्यां तरट् भवति । कस्यापवादः । ह्रस्वा कासूः कासूतरी । ह्रस्वा गोणी गोणीतरी ।

वत्सोच्चाऽश्वर्षभेभ्यस्तनुत्वे ॥४१॥१४६॥ ह्रस्व इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात् । वत्स, उद्धन्, अश्व, ऋषभ इत्येतेभ्यस्तनुत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानेभ्यस्तरड् भवति स्वार्थे । यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशस्तस्य तनुत्वे तरट् । तनुर्वत्सो वत्सतरः । उद्धतरः । अश्वतरः । ऋषभतरः । वत्सस्य तनुत्वं यौवनप्राप्तिः । यौवन उपचीयमाने वत्सत्वं तनुर्भवति । उच्चा तरुण उच्यते तस्य तनुत्वं तत्सात्परस्यं वयसः प्राप्तिः । अश्वेनाश्वायामुत्पन्नोऽश्वः । तस्य तनुत्वं विजातीयादुत्पत्तिः । ऋषभो भारवहस्तस्य तनुत्वमसमर्थता ।

किञ्चिदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरः ॥४१॥१४७॥ किं यत् तद् इत्येतेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्यमाने डतर इत्यर्थं त्यो भवति । सामर्थ्यान्निर्धार्यमाणवाचिस्यः किमादिभ्यस्तस्य । समुदायाजातिगुणक्रियासंज्ञाभिरेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् । को भवतोः कठः । कतरो भवतोः पट्टः । कतरो भवतोः कारकः । कतरो भवतोर्देवदत्तः । एवं यतरः । ततरः । महाविकल्पाधिकाराद्वाक्यमपि साधु । निर्धारणे इति किम् ? द्वयोर्ग्रामयोः कः स्वामी । द्वयोरेकस्य स्वामित्वे मा भूत् । द्वयोरिति किम् ? यस्मिन् कुले यः प्रधानं च (स) आगच्छत् । एकस्येति किम् ? एकग्रहणेऽक्रियमाणे बहुषु एकत्र वा द्वयोर्निर्धारणं सम्भाव्येत । तेनेहापि प्रसज्येत । को भवतां काञ्चीपुरको । को एतस्मिन् ग्रामे देवदत्तगुहदत्ताविति ।

वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः ॥४१॥१४८॥ एकस्य निर्धारण इति वर्तते । जातिश्च प्रश्नश्च जातिप्रश्नम् । बहूनामेकस्य निर्धारणे गम्यमाने किमादिभ्यो वा डतम इत्यर्थं त्यो भवति जातिप्रश्नविषये । किमो जातिविषये प्रश्नविषये च त्यः । इतरेभ्यो जातिविषये । वाचचनमुत्सर्गस्याकः प्रापणार्थम् । को भवतां कठः । कतमो भवतां कठः । अकि साकः किमः कादेशे को भवतां कठः । यतमो भवतां कठः । यको भवतां कठः । कतमो भवतां कठः । अत्र वृत्त्यन्तरे पाठः । वा बहूनां परिप्रश्न इति । तेन को भवतां वैयाकरणस्तार्किको नैयायिको वा । कतम इति भवति । बहूनामिति किम् ? द्वयोरेकस्य निर्धारणे जातिप्रश्ने रूवेण डतर एव भवति । कतरो भवतोः कठ इति । जातिप्रश्न इति किम् ? को भवतां देवदत्तः । किमोऽस्मिन् विषये डतरमपीच्छन्ति केचित् । कतरो भवतां कठः । कतमो भवतां कलाप इति ।

एकाच्च ॥४१॥१४९॥ एकशब्दाड्डुतरडतमो यथोपाधिविशिष्टो भवतः । चकारो डतरानुकर्षार्थः ।

जातिप्रश्न इति नानुवर्तते । सामान्येन विधानम् । एकतरो भवतोऽवदत्तः । एकतमो भवतां देवदत्तः । किमा-
दिष्वेकग्रहणं कर्तव्यमिति चेत् । न जातिप्रश्न एव उतमः स्यात् । उत्सर्गस्याको निवृत्त्यर्थं च योगविभागः ।
महाविकल्पोऽनुवर्तते एव ।

इवे प्रतिकृतौ कः ॥४१११५०॥ इवार्थः सादृश्यम् । प्रतिकृतिः प्रतिबिम्बम् । विषयद्वारेण इवार्थ-
विशेषणमेतत् । प्रतिकृतिविषये य इवार्थस्तस्मिन् वर्तमानान्मृदः को भवति स्वार्थे । अश्व इवायम् अश्वकः । अश्व-
प्रतिकृतिरित्यर्थः । एवम् उष्ट्रकः । गर्दभकः । प्रतिकृताविति किम् ? गौरिव गवयः । अश्व इवार्थं शीघ्रो गौः ।

स्त्रौ ॥४१११५१॥ इवार्थमात्रे गम्यमाने मृदः को भवति खुविषये । अप्रतिकृत्यर्थोऽयमारम्भः ।
अश्व इवायमश्वकः । उष्ट्रकः । गर्दभकः । संज्ञाशब्दा एते । संज्ञाशब्देषु च इवार्थो न गम्यते । केवलं
वस्तुष्वर्मेण सादृश्येनान्वाख्यानं क्रियते, तेनेदमपि सिद्धम् । वंशकः । वेणुकः । नडकः । ह्रस्वत्वो-
पाधिका एताः संज्ञाः । कथं शूद्रकः । रावकः । पूर्वकः^१ । एता अपि कुत्तित्वोपाधिकाः संज्ञाः ।

उत्समनुष्ये उपमेये ॥४१११५२॥ मनुष्य उपमेयत्वेनाभिधेये स्त्रौ वाऽस्त्रौ च विहितस्य कस्योश्
भवति । कुक्कुट इव कुक्कुटो मनुष्यः । चञ्चेव चञ्चा । वर्दिका । खरकुटी । दासी । “युक्तवदुसि लिङ्ग-
संख्ये” [१।१।६८] इति युक्तवद्भावः । मनुष्य इति किम् ? अश्वकः पाषाणः । देवपथादेराकृति-
गणस्यायं प्रपञ्चः ।

जीविकार्थेऽपरस्ये ॥४१११५३॥ विक्रीयते यत्तत्परस्यम् । न परस्यमपरस्यम् । जीविकार्थं यदपरस्यं
तस्मिन्नुपमेयत्वेनाभिधेये कस्यास्त्वभवति । वासुदेव इवायं देवलकानां वासुदेवः । “इवे प्रतिकृतौ”
[४।१।१२०] इत्यनेनागतस्य कस्योश् । शिवः । स्कन्दः । विशालः । जीविकार्थादेव प्रतिकृतय एवमुच्यन्ते ।
जीविकार्थे इति किम् ? क्रोडार्थे हस्तीव हस्तिकः । अपरस्य इति किम् ? यत्तत् विक्रीयते । हस्तिकं विक्रीयते ।
एषोऽपि देवपथादेः प्रपञ्चः ।

देवपथादिभ्यः ॥४१११५४॥ “इवे प्रतिकृतौ” [४।१।१५०] “स्त्रौ” [४।१।१२१] इति
चागतस्य कस्योश् भवति देवपथादिभ्यः परस्य । देवपथ इव देवपथः । हंसपथः । वारिपथः । अजापथः ।
राजपथः । शतपथः । सिद्धगतिः । उष्ट्रगोविः । वाम । रज्जु । हस्त । इन्द्र । दण्ड । पुष्प । मत्स्य । आकृति-
गणोऽयम् । “अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च । इवे प्रतिकृतौ नाशः कृतो देवपथादिषु ॥”
अर्चासु—अर्हन् । शिवः । स्कन्दः । विष्णुः । चित्रकर्मणि—दुर्योधनः । भीमसेनः । अर्जुनः । ध्वजेषु च—
ताल इवार्थं ध्वजतालः । कपिः । गरुडः । आकृतिगणालादेवेदमपि सिद्धम् ।

“मत्स्याश्चपुष्पाणि च तारकाश्च चण्डार्धचन्द्राश्च पतत्रिणश्च ।

तस्मिन्ध्वार्थे हस्ममथारचरेज्जः (जिवाधे हस्माचरेज्जः) प्रसार (प्रासाद) गुल्माकर्मया मृगारश्च ॥
इह दुर्योधन इवार्थं नटो दुर्योधनः । “उत्समनुष्ये” [४।१।१५२] “जीविकार्थेऽपरस्ये” [४।१।१५३]
इति वा उस् ।

बस्तेर्दञ्ज ॥४१११५५॥ इव इत्यनुवर्तते । बस्तिशब्दादिवायें दञ् भवति । यस्मिन् प्रदेशे मल-
मुपसम्प्राप्तं बहिर्निष्क्रमति स प्रदेशो बस्तिः । बस्तिरिवार्थं वास्तेयः वास्तेयी प्रणालिका । इत ऊर्ध्वं सामान्येन
विधानमिवार्थमात्रे । देवप्रतिकृतौ स्त्रौ च के प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्ते दञ् ।

शिलाया ढः ॥४१११५६॥ शिलाशब्दादिवायें ढो भवति । शिलेव शिलेयं दधि । शिलाया
इति योगविभागाद्वृजमपि केचिदिच्छन्ति । शैलेयम् ।

शाखादेर्यः ॥४१॥१५७॥ शाखा इत्येवमादिभ्य इवार्ये यो भवति । शाखेव शाख्यः । मुखमिव मुख्यः । शाखा । सुल । जवन । स्कन्ध । मेघ । चरण । शृंग । उरस् । अग्र । शरण ।

द्रव्यं भव्ये ॥४१॥१५८॥ द्रव्यमिति निपात्यते भव्येऽर्थे । भव्यविशेषे इवार्ये वर्तमानाद् दृशब्दाद् य इत्ययं ल्यो निपात्यते । द्रुखि द्रव्यम् कार्षापणम् । इष्टार्थक्रियाहेतुरित्यर्थः । द्रव्यमयं राजा आत्मवानित्यर्थः । भव्य इति किम् ? द्रुखिवायं न चेतयते पुरुषः ।

कुशाग्राच्छः ॥४१॥१५९॥ कुशाग्रशब्दादिवार्ये छो भवति । सूक्ष्मत्वेन कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः । कुशाग्रीयं शास्त्रम् ।

सात्तद्विषयात् ॥४१॥१६०॥ इवशब्दः सादृश्यार्थस्तच्छब्देन परामुश्यते । इवार्यविषयात् सात् छो भवति । इवार्यविषयस्य च सस्येष्टमेव ज्ञापकम् । यदृच्छया अतर्कितोपनते चित्रीकरणे इवार्यविषये सो भवति । सुप्पुपेति सविधानमेवंविषयमेव द्रष्टव्यम् । काकतालीयम् । तालशाखाग्रे काकः प्राप्तः, तालं च पतितं तेन च पतता तालेन स काको हतः । इदं चित्रीकरणम् । तथा देवदत्तश्च वृक्षं श्रितः । तत्राशनिश्च पतितः । तत्र देवदत्तस्याशनेश्च समागमः काकतालसमागमसदृशः । काकवधसदृशश्च देवदत्तवधः इति समागमसादृश्ये सविधानम् । वध सादृश्ये त्यविधिः । एवमन्धकवर्तकीयम् । अजाकृपाणीयम् । इह शस्त्रीश्यामा । पुरुषव्याघ्र इति समुदाय इवार्यविषयो न भवति । किन्तु पूर्वपदमुत्तरपदं वा । तेन छो न भवति ।

शर्करादिभ्योऽण् ॥४१॥१६१॥ शर्करा इत्येवमादिभ्यो इवार्येऽण् भवति । शर्करेव शर्करम् । कपालिकेव कपालिकम् । “अस्य हृत्यदे” [४।३।१४७ वा०] इति पुंवद्भावे प्राप्ते “न वुह्ल्कोढः” [४।३।१४९] इति प्रतिषेधः । शर्करा । कपालिका । कपिष्ठिका । गोमत् । गोपुच्छ । पुण्डरीक । शतपत्र । नराची । नकुल । सिकता ।

अङ्गुल्यादेष्टण् ॥४१॥१६२॥ अङ्गुली इत्येवमादिभ्य इवार्ये ठण् भवति । अङ्गुलीव आङ्गुलिकम् । अङ्गुलि । भरुज । वभ्रु । वल्लु । रष् । खल । उदरिवत् । गोणी । उरस् । मण्डर । मण्डल । शङ्कुल । कुलिश । हरि । कपि । मुनि ।

वैकशालायाष्टः ॥४१॥१६३॥ एकशालाशब्दादिवार्ये वा ठो भवति । वावचनेनानन्तरस्य ठणः समुच्चयः । एकशालेव एकशालिकः । एकशालिकः ।

कर्कलोहिताटीकण् ॥४१॥१६४॥ कर्कलोहितशब्दाभ्यामिवार्ये टीकण् भवति । कर्कः शुक्लाश्वः । कर्क इव कार्काकः । लौहितीकः । टकारः स्त्रियां ड्यर्थः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

पूगाञ्ज्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥४१॥२१॥ इव इति निवृत्तम् । पूगवाचिनो मृदोऽग्रामणीपूर्वात् स्वार्ये ज्यो भवति । नानाभातीया अनियतवृत्तयोऽधर्म(ऽर्थ)कामपराः संघाः पूगाः । पूगशब्दः समुदायवचनस्तत्स्यैकत्वेन निर्देशः । यथा यूयं वनमिति । ये त्वस्य विशेषवाचिनः शब्दास्तेषां भेदवाचित्वात् एकद्विवहवो भवन्ति । लोहध्वजा इति पूगः । लौहध्वज्यः । लौहध्वज्यौ । लोहध्वजाः । शैव्यः । शैव्यौ । शिवयः । वातक्यः । वातक्यौ । वातकाः । “द्वेर्बहुषु तेनैवास्त्रियाम्” [३।४।१३५] इति बहुषूप् । ग्रामणोरित्यर्थनिर्देशः । पूर्वशब्दोऽवयववाची । ग्रामण्यर्थः पूर्वोऽवयवो यस्य स ग्रामणीपूर्वः । अथवा ग्रामण्यर्थविषयो यस्त्यः स साहचर्याद् ग्रामणोरित्युच्यते । स पूर्वमुपज्ञो यस्य पूगस्य स ग्रामणीपूर्वः । न ग्रामणीपूर्वोऽग्रामणीपूर्वः । ग्रामणीपूर्वात्पूगाञ्ज्यो न भवति । देवदत्तो ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः । “स एषां ग्रामणीः” [४।१।१२] इति कः ।

व्रातञ्जफादस्त्रियाम् ॥४२।२॥ नानाजातीया अनियतवृत्तय उल्लेखजीविनः संघाः व्राताः । अफ इति “वृद्धे कुञ्जादिभ्यो अफः” [३।१।८७] इत्यापत्यस्यो गृह्यते । व्रातविशेषवाचिभ्यो अफान्तेभ्यश्च स्वार्थे यो भवत्य-
स्त्रियाम् । कापोतपाक्यः । कापोतपाक्यौ । कपोतपाकाः । ब्रैहिमत्यः । ब्रैहिमत्यौ । ब्रीहिमताः । अफान्तात्
कुञ्जस्यापत्यं कौञ्जायन्य । कौञ्जायन्यौ । कुञ्जायनाः । ब्राध्नायन्यः । ब्राध्नायन्यौ । ब्राध्नायनाः । अस्त्रिया-
मिति किम् ? कपोतपाका । ब्रीहिमता । कौञ्जायनी । “वृद्धं च चरसैः सह” इति अफान्तस्य जातिवाचि-
त्वान्छीविधिः ।

शस्त्रजीविसङ्घाज्ज्यङ् वाहीकेष्वविप्रराजन्यात् ॥४२।३॥ वाहीकेषु यः शस्त्रजीविसङ्घस्तद्वा-
चिनो मृदो विप्रराजन्यवज्जातात् स्वार्थे ज्यङ् भवति । टित्करणं स्त्रियां ङ्यर्थम् । कौण्डीवृत्त्यः । कौण्डीवृत्त्यौ ।
कुरण्डीवृत्ताः । क्षौद्रक्यः । क्षौद्रक्यौ । क्षुद्रकाः । मालव्यः । मालव्यौ । मालवाः । कौण्डीवृत्ती । क्षौद्रकी ।
मालवी स्त्री । “हलो हतो ङयाम्” [४।१।१३८] इति यकारस्य खम् । शस्त्रजीविग्रहणं किम् ? मल्लाः ।
सङ्घग्रहणं किम् ? वागुरः । सप्ताट् । वाहीकेष्विति किम् ? शबराः । पुलिन्दाः । अविप्रराजन्यादिति किम् ?
गौपालयः (ब्राह्मणः) । शालङ्कायनाः राजन्याः । विप्रप्रतिषेधे विप्रविशेषप्रतिषेधः । नहि विप्रशब्दाच्च्यो
वाहीकेषु शस्त्रजीविनां सङ्घोऽस्ति । राजन्यप्रतिषेधे तु स्वरूप इति प्रतिषेधः । राजन्यविशेषस्थापि प्रतिषेधं केचि-
दिच्छन्ति । कांवच्यः । कांवच्यौ । कांवच्याः । ज्यटि सति स्त्रियां ङो प्रसज्येत । शस्त्रजीविसङ्घादिति योगविभागा-
दन्यत्रापि वेचिदिच्छन्ति । शावर्क्यः । शावर्क्यौ । शवराः । पौलिन्द्यः । पौलिन्द्यौ । पुलिन्दाः । योगविभाग-
कृतमनित्यम् ? तेन शबरः पुलिन्द इत्यपि भवति ।

वृकाट्टेयण ॥४२।४॥ शस्त्रजीविसङ्घवाचिनो वृकशब्दात् स्वार्थे ट्टेयण् भवति । वार्केयः ।
वार्केयौ । वृकाः । स्त्रियां वार्केयो । “हलो हतो ङयाम्” [४।१।१४०] इति यलम् । इत् उत्तरस्य यकारस्य
खं भवति स चेच्चकारो गोरवयवभूत इति । वाहीकेषु ज्यटि प्राप्ते, अन्यत्राप्राप्ते विधानम् । शस्त्रजीविसङ्घ-
विशेषणं किम् ? मति (जाति) शब्दान्माभूत् ।

“कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव । तस्मात्क्रोधं च कामं च परित्यक्तुं बुधोऽर्हति ॥”

दामन्यादेश्छुः ॥४२।५॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते । दामनि इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घ-
वाचिभ्यश्छुः भवति स्वार्थे । दामनीयः । दामनीयो । दामनयः । दामनि । ओलाप । वैजवापि । औदकि ।
आच्युतन्ति । शाकुन्तकि । सार्वसेनि । विन्दु । तुलभ । मोञ्जायन । सावत्रीपुत्र । त्रिगर्तषष्ठाः दामन्यादौ
पठ्यन्ते । शस्त्रजीविनां षड्वर्गाः । तत्र त्रिगर्तवर्गः षष्ठो येषां तं त्रिगर्तषष्ठाः । कौण्डोपरथीयः । कौण्डा-
परथीयौ । कौण्डोपरथाः । दाण्डकिः । क्रौष्टुकिः । जालमाली । ब्रह्मगुप्तः । जानकिः । उहं च-

“ज्ञेयास्त्रिगर्तषष्ठाः षट् कौण्डोपरथदाण्डकी । क्रौष्टुकिर्जालमाली च ब्रह्मगुप्तोऽथ जानकिः ॥”

पशर्वादरेण ॥४२।६॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते । पशुं इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घवाचिभ्योऽ-
ण् भवति स्वार्थे । पाशवः । पाशवौ । पश्वः । पशु । रक्ष् । असुर । वाहीक । वयस् । वसु । मरुत् ।
सत्वत् । दशार्ह । पिशाच । अशनि । कार्पापण । यौधेय । शोभ्रेय । घातैव । ज्यावाणेय । त्रिगर्त । भरत ।
उशीनर । भर्गादिषु यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं शापकम् आपत्यस्वार्थिकः आपत्यग्रहणं गृह्यन्त इति ।
तेनास्याण उप् प्राप्ते प्रतिषेधार्थं वचनं तत्र सार्थम् । पशर्वादभ्यः पुनरुपपन्नस्याणः स्वार्थिकस्य स्त्रीविवक्षायां
“कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्” [३।१।१५७] इत्यधिकृत्य “अतोऽप्राच्यभगादिः” [३।१।१५८] इत्युप् ।
“रुहः” [३।१।५६] इत्यूकारः । पश्वः । असुरः (री) । रक्षः ।

अभिजिद्विदभृतोऽणो यञ् ॥४।२।७॥ शङ्खजीविषङ्गादिति निवृत्तम् । अभिजित् विदभृत् इत्येताभ्यामणन्ताभ्यां स्वार्थे यञ् भवति । “वृद्धाद् वृद्धवदिति वक्तव्यम्” [वा०] वृद्धापत्ये योऽण् विहितः तदन्तादयं यञ् वृद्धवच्च भवति । अभिजितोऽपत्यमण् । अभिजितः । तदन्ताद्यञ् अभिजित्यः । अभिजित्यौ । अभिजिताः । वैदभृत्यः । वैदभृत्यौ । वैदभृताः । वृद्धादिति किम् ? अभिजिद् देवताऽस्य अभिजितः । विदभृत् इदं वैदभृत् । वृद्धवदिति किम् ? अभिजित्यस्यापत्यं युवाऽऽभिजित्यायनः । “अभिजितोः” [३।१।३०] इति फण् सिद्धः ।

शिखाशालाशम्यूर्णाश्रियां मतोः ॥४।२।८॥ शिखा, शाला, शमी, उर्णा, श्री, इत्येतेषां शब्दानां मतोर्योऽण् तदन्तात्स्वार्थे यञ् भवति । शिखावतोऽपत्यमित्यण् । तदन्तादयं यञ् । शैखावत्यः । शैखावत्यौ । शैखावताः । शालावत्यः । शालावत्यौ । शालावताः । शामीवत्यः । शामीवत्यौ । शामीवताः । श्रौणावत्यः । श्रौणावत्यौ । श्रौणावताः । श्रैम्यः । श्रैम्यौ । श्रैमताः । वृद्धादित्येव शिखावत् इदं शैखावत् । “वृद्धवदिति वक्तव्यम्” [वा०] शैखावत्यायनः । नेदं वक्तव्यम् । आपत्यस्वार्थिकाः आपत्यग्रहणेन गृह्यन्ते इत्येव सिद्धम् ।

ते द्वयः ॥४।२।९॥ ते व्यादयो द्विसंज्ञका भवन्ति । तथैवोदाहृतम् । तै ग्रहणम् अनुक्रान्तसंज्ञि-
प्रतिपत्यर्थम् ।

संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सादण्डत्यागे वुन् ॥४।२।१०॥ संख्यादेः पादशतान्तान्मृदः वीप्सा-
त्यागेषु गम्यमानेषु वुन् भवति । तासन्निधानेऽन्त्यस्यालः खं च । “यत्थं ङर्यां च” । [४।१।१३६] इति यदि खं क्रियते, तस्य परनिमित्तत्वात् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।१७] इति स्थानिवद्भावात् “पादः पत्” [४।१।११६] इति पद्भावो न स्यात् । इदं पुनः खनिमित्तमिति न स्थानिवद्भावः । द्वौ द्वौ पादौ भुङ्क्ते द्विपदिकां भुङ्क्ते । त्रिपदिकां भुङ्क्ते । हृदर्थे रसः । वुनैव वीप्सार्यस्य द्योतित्वात् वीप्सालक्षणं द्वित्वं निवर्तते । द्वे द्वे शते भुङ्क्ते द्विशतिकां भुङ्क्ते । त्रिशतिकां भुङ्क्ते । दण्डे—द्वौ पादौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः । त्रिपदिकां दण्डितः । त्यागे—द्वौ पादौ व्यवसृजति द्विपदिकां व्यवसृजति । त्रिपदिकां व्यवसृजति । त्रिशतिकां व्यवसृजति । वुन्नन्तं स्वभावतः स्त्रियां वर्तते । संख्याया इति किम् ? पादं पादं ददाति । पादशतेभ्य इति किम् ? द्वौ द्वौ प्रष्टौ ददाति । बहुलनिर्देशादन्यत्रापि भवति । द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विमोदकिकां ददाति । द्विहलिकां ददाति । वीप्सादिग्रहणं किम् ? द्वौ पादौ भुङ्क्ते ।

स्थूलादिभ्यः प्रकारोक्तौ कः ॥४।२।११॥ स्थूल इत्येवमादिभ्यः प्रकारोक्तौ गम्यमानायां को भवति । जातीयस्यापवादः । अत्रापि प्रकारवति त्यः स्थूलाणुमाषेषु । स्थूलप्रकारः स्थूलकः । अणुकः । माषकः । इषुकः । अपरेषां व्याख्या । माषेष्वित्युपाधिः । स्थूलका माषाः । अणुका माषाः । स्थूलाणुमाषेषु । कृष्णतिलेषु । पाथकालावदाताः सुरायाम् । गोमूत्र आच्छादने । सुराया अहौ । जीर्णशालिषु । पत्रमूले समस्तव्यस्ते । यवब्रीहिषु । कुमारीपुत्र । कुमारी । श्वसुरः । मणि इक्षु तिल । चञ्चद्बृहतोरप्यत्र पाठः कर्तव्यः ।

क्लादनत्यन्ते ॥४।२।१२॥ अनत्यन्तमकार्त्थ्यम् । अनत्यन्ते वर्तमानात् क्लान्तान्मृदः को भवति । अनत्यन्ते भिन्नं भिन्नकम् । छिन्नकम् । अनत्यन्त इति किम् ? भिन्नम् । अत्र भेदनक्रियायाः कार्त्थ्येन संबन्धः ।

न सामेः ॥४।२।१३॥ सामिशब्दात्परं यत्क्रान्तं तस्मात् को न भवति । सामिकृतम् । सामिभुक्तम् । सामिपर्यायाणामपि ग्रहणमिति केचित् । अर्धकृतम् । नेमकृतम् । ननु चात्र पदान्तरेणानत्यन्तगतैरभिहि-

तत्वात्को न प्राप्नोतीति प्रतिषेधवचनमनर्थकम् । एवं तर्हीदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं स्वार्थेऽप्ययं को भवति । तेन सिद्धम् । भिन्नतरकम् । बहुतरकम् । अर्थच्छेन्नकम् । अर्थभिन्नकम् ।

वृहत्तिका ॥४२।१४॥ वृहत्तेति निपात्यते । वृहत्तेत्यव्यादाच्छब्दादने वर्तमानात्स्वार्थे नित्यं को निपात्यते । वृहत्तिका साटी । आच्छादनादन्यत्र को न भवति । वृहती ओषधिः ।

खोऽलङ्कर्मपुरुषात् ॥४२।१५॥ अलङ्कर्मन् अलम्पुरुष इत्येतान्धां स्वार्थे खो भवति । अलङ्कर्मणेऽलङ्कर्मणः । अलम्पुरुषायालम्पुरुषीणः । “नमस्स्वस्ति” [१।४।२६] इत्यादिनाऽप् । “विक्रुप्रादयः” [१।३।८१] इत्यत्र “पर्यादयो गलानाद्यर्थे अपा” [वा०] इति षसः ।

अषडक्षा सतङ्गवधियोः ४२।१६॥ अषडक्ष, आसितङ्ग, अधिवृ इत्येतेभ्यः स्वार्थे खो भवति । अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्मिन्निति अषडक्षीणो देवदत्तः । पितृपितामहपुत्राणामक्षीणि न पश्यतीत्यर्थः । मन्त्रोऽपि द्वाभ्यां यः क्रियते, येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडतः सोऽप्येवमुक्तः । अथवाऽन्तशब्द इन्द्रियपर्यायोऽस्ति । अविद्यमानानि षडक्षाण्यस्य अषडक्षीणो मत्स्यः । गुरुदोषविचारकमं पठमक्षमस्य नास्तीत्यर्थः । आसिता गावोऽस्मिन्नित्यासितङ्गवीनमरणयम् । अतएव निपातनात्कर्तरि क्तः । पूर्वपदस्य च सुगागमः । रात्रि अधि राजाधीनम् । पुर्येऽध पुरयाधीनम् । “ईश्वरेऽधिना” [१।४।१८] इति अधिना योगे ईप् गिति संज्ञाप्रतिषेधश्च । अधिशब्दः शौशडादिषु पठ्यते, तेन षसः । नित्यश्चेह ख इष्यते, उत्तरसूत्रे वाग्रहणात् ।

वाञ्चरेदिक् स्त्रियाम् ॥४२।१७॥ अञ्च्यन्तान्मृदोऽदिक् स्त्रियां वर्तमानात् खो भवति स्वार्थे वा । अदिकस्त्रियामिति प्रसज्यप्रतिषेधादिह तदन्तविधिर्लभ्यते । प्राञ्चतीति प्राङ् (प्राक्) प्राचीनम् । उदक् उदीचीनम् । अवाङ् (क्) अवाचीनम् । अदिकस्त्रियामिति किम् ? प्राची दिक् । प्रतीची । दिग्ग्रहणं किम् ? प्राचीना शाला । तिरश्चीना स्थूणा । स्त्रीग्रहणं किम् ? प्राचीनं दिग्रमणीयम् । प्राची दिग्रमणीयेति विग्रह्य “दिक्छुब्द” [४।१।१२] इत्यादिना अस्तात् । “अञ्चरेप्” [४।१।१६] इति तस्योप् । स्वभावत उप्यस्तातेर्नपुंसकलिङ्गम् । वाचचनात् स्वार्थकेषु निवृत्ता महाविकल्पाधिकार इति गम्यते । तेन पाशतमादयः प्राक् [छुदेला देशात्] कल्पदेशीयात् । ज्यादयः प्राग्बुनः । आमादयः प्राङ्मयटः नित्या वेदितव्याः । याप्यो वैयाकरणः । अयमेषामतिशयेन पदुरित्वेवमादौ वाक्ये न प्रकृतिर्याप्येऽतिशयाने वा वर्तते किन्तु पदान्तरमत्तस्यो न भवति ।

जातेऽष्टौ बन्धुनि ॥४२।१८॥ बन्धतेऽस्मिन् जातिरिति बन्धुद्रव्यमिह जात्यधिकरणभूतं गृह्यते नपा निर्देशात् । जातिशब्दाद्वन्धुनि वर्तमानात् छो भवति । केवलजातिशब्दस्य बन्धुनि वृत्त्यसम्भवात्तदन्तविधिः । क्षत्रियो जातिरस्य क्षत्रियजातीयः । क्षत्रिय एवोच्यते । शोभना जातिरस्य शोभनजातीयः । दुष्टा जातिरस्य दुर्जातीयः । का जातिर्भवतः, किंजातीयो भवान् । द्वयोर्विकल्पयोर्मध्ये नित्योऽयं विधिः । “प्रकारोक्तौ जातीयः” [४।१।१२८] इत्येव सिद्धे किमर्थमिदं जात्यन्तस्य वसस्य केवलस्य च प्रयोगो माभूत् इत्येवमर्थम् । कथं दुर्जातेः सूतपुत्रस्येति प्रयोगः । चिन्त्यमेतत् । बन्धुनीति किम् ? ब्राह्मणजातिरदृश्यपापा ।

वेवे स्थानान्तात् ॥४२।१९॥ स्थानान्तान्मृद इवार्थे वा छो भवति । पितुः स्थानमिव स्थानमस्य पितृस्थानः । “इवोपमानपूर्वस्य छुर्लुं वा” [वा०] इति । उपमानपूर्वस्य वसो भवति द्यौश्च खम् । यथा उग्रमुख इति । अयं स्थानान्तो वस इवार्थे वर्तते । अस्माद्वा छो भवति । पितृस्थानीयः । पितृस्थानः । गुरुस्थानीयः । गुरुस्थानः । पुनर्वर्गग्रहणमनन्तरस्य नित्यतां ख्यापयति । इव इति किम् ? गवां स्थानम् गोस्थानम् । “मृदग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति” इति अन्तग्रहणं कृतम् । इह कस्मान्न भवति । गोः स्थानमिति । नैष दोषः । इवग्रहणं

स्थानविशेषणम् । इवार्थे यः स्थानशब्दो वर्तते, तदन्तादिति । वसे च स्थानशब्द इवार्थे वर्तते । वसे तु पद-
सङ्घात इवार्थे वर्तते इति न भवति ।

किमेमिड्भिभादामद्रव्ये ॥४।२।२०॥ किम एकारान्तस्य मिडः भिसंज्ञकस्य च अनन्तरो यो
भस्तदन्तान्मृद आमित्ययं ल्यो भवत्यद्रव्ये । लिङ्गसंख्यायुक्तप्रत्ययकारणं द्रव्यम् । द्वाविमौ किम्पचतः,
अयमनयोः कितरां पचति । कितमाम् पचति । एतौ द्वाविमौ पूर्वाह्णे भुञ्जाते । अयमनयोः पूर्वाह्णेतरां भुङ्क्ते ।
एतद्ग्रहणसामर्थ्याद् द्रव्येऽपि काले विधिरयम् । इह कस्मान्न भवति । जयतेर्विचि तरे च कृते जेतार इति ।
अनभिधानादत्र विजेव नास्ति । मिड्—पचिततराम् । पचिततराम् । द्वाविमौ उच्चैर्हसतः । अयमनयो-
रुच्चैस्तरां हसति । अद्रव्य इति किम् ? उच्चैस्तरो वृद्धः । उच्चैस्तमो वृद्धः ।

जिनोऽण् ॥४।२।२१॥ ‘जिन्नमिविघ्नौ’ [२।३।६६] इति भावे जिन् विहितः । जिन्मन्तादण्
भवति स्वार्थे । ‘कृद्ग्रहणे विकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्’ [प.] संकोटिनम् । साराविणम् । सामाजिनम् ।
‘प्रायोऽनपत्येणीनः’ [३।४।१५५] इति टिखप्रतिषेधः ।

वास्त्रियाम् ॥४।२।२२॥ स्त्रियामित्यधिकृत्य ‘कर्मव्यतिहारे जः’ [२।३।७६] इति ओ विहित-
स्तदन्तात्स्वार्थेऽण् भवति स्त्रियाम् । व्यावक्रोशी । व्यालुद्धी । व्यावचर्ची वर्तते । ‘पदे स्वरैर्यौव’ [२।२।८]
इति तस्य विधेः ‘न जे’ [५।२।११] इति प्रतिषेधे कृते । आदेरैप् । स्त्रीग्रहणं किम् ? स्त्रियामेव हि ओ
विहितस्तस्मादयं स्वार्थिकः । स्वार्थिकाश्च प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्ते इति ; एवं तर्हि इदमेव शापकम् ।
कचित्स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अतिवर्तन्तेऽपि । कुटीरः । देवता । गुडकल्पा द्राक्षा इत्येव-
मादि सिद्धम् ।

विसारिणो मत्स्ये ॥४।२।२३॥ विसारिन्शब्दात्स्वार्थेऽण् भवति मत्स्येऽभिधेये । विसारीति
वैसारिणो मत्स्यः । ग्रहादिपाठाणिणन् । मत्स्य इति किम् ? विसारी तैलबिन्दुरिवाम्भसि ।

संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस् ॥४।२।२४॥ ध्वर्थः क्रियारूपः साहचर्याद्भुशब्देनोक्तः ।
ध्वभ्यावृत्तिः अभिन्नकर्तृकायाः क्रियायाः पौनःपुन्यम् । ध्वभ्यावृत्तौ वर्तमानेभ्यः संख्याशब्देभ्यः स्वार्थे
कृत्वसित्ययं ल्यो भवति । अस्वपदेनात्र विग्रहः । पञ्चवारान् भुङ्क्ते पञ्चकुलोऽहो भुङ्क्ते । शतं वारान्
भुङ्क्ते शतं वा वाराणां भुङ्क्ते शतकुलः । बहुकुलः । तावकुलः । कतिकुलः । संख्याया इति किम् ?
सुहुसुहुसुङ्क्ते । प्रभूतान् वारान् भुङ्क्ते । पुग्रहणं किम् ? द्रव्यस्य गुणस्य वा अभ्यावृत्तौ माभूत् । पञ्चसु
कालेषु दण्डी । षट्सु कालेषु शुक्लः । अभ्यावृत्तिग्रहणं किम् ? पञ्च पाकाः । नात्राभिन्नस्य पाकस्य पौनः-
पुन्यं किन्त्वोदनमुद्गादोनां पाकाः ।

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥४।२।२५॥ द्वि त्रि चतुर् इत्येतेभ्यो ध्वभ्यावृत्तौ सुञ् भवति । कृत्वसोऽ-
पवादः । चकारः ‘कालेऽधिकरणे सुजर्थे’ [१।३।६७] इत्यत्र विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । द्वि-
सुङ्क्ते । त्रिसुङ्क्ते । सुजिक्रिया सामान्येनैका । सा कालभेदाद्भिद्यते ।

एकस्य सकृत् ॥४।२।२६॥ एकशब्दस्य सकृदित्ययमादेशो भवति सुच्यः । ध्वभ्यावृत्तिरत्र व्यपदे-
शिवद्भावेनाभिसंबध्यते । एकवारं भुङ्क्ते सकृद् भुङ्क्ते । एकः पाक इत्याभिधानाच्चास्ति ।

बहोर्वा वाऽऽसत्तौ ॥४।२।२७॥ आसत्तिरविप्रकृष्टकालता । विषयद्वारेण ध्वभ्यावृत्तिविशेषणमेतत् ।
आसत्तौ या क्रियाया अभ्यावृत्तिस्तस्यां वर्तमानाद्बहुशब्दाद्वा इत्ययं ल्यो भवति वा । बहुधा भुङ्क्ते । बहुकुलो
भुङ्क्ते । आसत्ताविति किम् ? बहुकृत्वो भुङ्क्ते मासस्य ।

तत्प्रकृतोक्तौ मयद् ॥४।२।२८॥ प्रकर्षेण कृतं प्रकृतं प्रचुरमित्यर्थः । तदिति वासमर्थान् प्रकृतोक्तौ वर्तमानात् स्वार्थं मयद् भवति । अन्नं प्रकृतम् अन्नमयं पूजायाम् । दधिमयं पूजायाम् । यवागूः प्रकृता यवागूमयी । पेयामयी । स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्तेऽपि । अथवा नायं स्वार्थिकः । अधिकरणार्थेऽयं विधीयते । कथं ज्ञायते । उक्तिर्वचनम् । प्रकृतस्योक्तः प्रकृतोक्तिः । तदिति वासमर्थान् प्रकृतोक्तावर्थे मयद् भवति । घृतं प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन् घृतमय उत्सवः । घृतमयी पूजा । पुष्पमय उत्सवः । पुष्पमयी पूजा । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् उभयोऽपि सूत्रार्थः प्रमाणम् ।

समूहवच्च बहुषु ॥४।२।२९॥ तत्प्रकृतोक्ताविति वर्तते । समूहवत् ल्यविधिर्भवति मयद् च बहुषु प्रकृतेषु । यथेह भवति । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । “अचित्तहरितधेनोऽङ्ग” [३।२।३६] इति ठण् । एवम् अपूपाः प्रकृता आपूपिकम् । पक्षे अपूपमयम् । एवं मौदिकम् । मोदकमयम् । शाष्कुलिकम् । शष्कुलीमयम् । प्रकृतिलिङ्गसंख्यातिवर्तनम् । द्वितीयसूत्रार्थे अपूपाः प्रकृता अस्मिन्नुच्यन्ते आपूपिक उत्सवः । अपूपमयः । आपूपिकी अपूपमयी पूजा । शाष्कुलिकः शष्कुलीमय उत्सवः । शाष्कुलिकी शष्कुलीमयी पूजा ।

भेषजानन्तावसथेतिहाज्यः ॥४।२।३०॥ भेषजादिभ्यः स्वार्थं ज्यो भवति । कण्ड्वादिषु भिषजित् पठ्यते औषधस्य करणम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षायां भिषज्यतीति भेषजम् । पचादित्वाच् । “हलो यः” [४।१।११] इति यत्नम् । अत एव निपातनादेप् । भेषजमेव भेषज्यम् । अनन्तमेवानन्त्यम् । आवसथ एवावसथ्यम् । इतिहेत्यैतिह्यम् । विभाषेह सम्बद्धयते ।

देवतान्तात्तादर्थ्यं यः ॥४।२।३१॥ तस्मै इति तदर्थम् । तदेव तादर्थ्यम् । देवताशब्दान्तात्तादर्थ्यं वाच्ये यो भवति । गुरुदेवतायै इदम् गुरुदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ।

पाद्यार्घ्यं ॥४।२।३२॥ पाद्यार्घ्यशब्दौ निपात्येते । पादशब्दात्तादर्थ्यं यः पाच्छब्दस्य पदादेशामावश्च निपात्येते । पादार्थमुदकम् पाद्यम् । अर्घशब्दात्तादर्थ्यं यः । अर्घार्थमर्थ्यम् ।

ग्योऽतिथेः ॥४।२।३३॥ तादर्थ्यं इति वर्तते । अतिथिशब्दात्तादर्थ्येऽभिधेये ग्यो भवति । अतिथ्यर्थमिदमातिथ्यम् ।

देवात्तल् ॥४।२।३४॥ तादर्थ्यं इति निवृत्तम् । देवशब्दात् स्वार्थं तल् भवति । देव एव देवता ।

कोऽबियावादेः ॥४।२।३५॥ अविशब्दाद् याव इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्वार्थं को भवति । अविरेव अविक् । यावादिष्वेव अविशब्दः पठितव्यः । पृथग्रहणं किमर्थम् ? अवोर्विकार आविक्-मित्येवमादौ के कृतेऽस्यथा स्यात् । यवानां विकारो यावः । याव एव यावक् । यान । मणि । अस्थि । लान्द्र । मङ्गु । पीत । स्तम्भ । श्रुताबुष्णशीते । पशौ लूनविपाते । अणु निपुणे । पुत्रात् कृत्रिमे । पुण्य । शत । अशत । स्नात वेदसमाप्तौ । शून्य रिक्ते । तनु सूत्रे । ईयश्च । भूयस्कम् । श्रेयस्कम् । कुमार क्रीडकानि च । उत्कण्ठकः । कन्दुकः । केल्यनुवर्तते ।

लोहितान्मणौ ॥४।२।३६॥ लोहितशब्दान्मणौ वर्तमानात् स्वार्थं को भवति । लोहित एव लोहितको मणिः । “लोहितशब्दात् स्त्रीत्यस्य परत्वाद् अनेन केन बाधनं वक्तव्यम्” [वा०] । परत्वात् के कृते सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एवेति नलङ्गीविधावसति, अतएवापि कृते लोहितका मणिरिति । यदालम्बाधनं तदा नलङ्गीविधौ कृते पश्चात्कः । “केऽणः” [१।२।१२५] इति प्रादेशः । लोहितिका मणिः । मणाविति किम् ? लोहितः खदिरः ।

वर्णेऽनित्ये ॥४।२।३७॥ अनित्ये वर्णे वर्तमानाल्लोहितशब्दात्को भवति । कोपेन लोहितकं चक्षुः । स्त्रियां पूर्ववदुभयं भवति । लोहितिका कन्या कोपेन लोहिनि का वा । अनित्य इति किम् ? लोहित इन्द्रगोपकः । लोहितं रुधिरम् ।

रक्ते ॥४।२।३८॥ लाक्षाकुमिरागादिना रक्ते वस्त्रादिके वर्तमानात् लोहितशब्दात्को भवति । लोहितकः पट्टसाटकः । लोहितकः कम्बलः । अत्र योगवशात् यावद् द्रव्यभावि लोहितत्वमिति पूर्वेण प्राप्तिः । स्त्रियां पूर्ववदुभयम् । लोहितिका पट्टसाटिका लोहिनि का वा ।

कालाच्च ॥४।२।३९॥ वर्णे नित्ये रक्ते इति द्वयस्यानुकर्षणार्थश्चकारः । अनित्ये वर्णे रक्ते च वर्तमानात् कालशब्दात् को भवति । कोपेन कालकं वस्त्रम् । कालिका सायी । अनुक्रान्तेषु चतुर्वर्षि चेति वर्तते ।

विनयादेष्टण् ॥४।२।४०॥ विनय इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे ठण् भवति । विनय एव वैनयिकम् । विनयः । समय । उपायात्प्रश्नश्च । सङ्गति । कथञ्चित् । अकस्मात् । उपचार । समाचार । व्यवहार । सम्प्रदान । समुत्कर्ष । समूह । विशेष । अत्यय । वेत्यनुवर्तत एव । अनुगादिशब्दोऽपीह पठनीयः ।

वाचस्तदर्थायाः ॥४।२।४१॥ सा वाक् अर्थोऽभिधेयोऽस्या इति तदर्था । तदर्थाया वाचः स्वार्थे ठण् भवति । देवदत्तेन सन्दिष्टा वाग् जिनदत्ते । सा यया वाचा जिनदत्तेन परस्य प्रकाश्यते सा वाक्तदर्था वागर्थ-त्यर्थः । वागेव वाचिकम् । तदर्थाया इति किम् ? स्निग्धवाक् सुजनस्य च व्यवहियते ।

तद्युक्ताकर्मणोऽण् ॥४।२।४२॥ तया वाचा युक्तं यत्कर्म तदभिधायिनः स्वार्थेऽण् भवति । यदेव वाचा व्यवहियते इदं कर्म कुर्विति, तदेव क्रियमाणं कर्म वाग्युक्तमुच्यते । कर्मैव कार्मणम् । तद्युक्तादिति किम् ? स्वयमेव देवदत्तेन कर्मकृतम् ।

ओषधेरजातौ ॥४।२।४३॥ ओषधिशब्दादजातौ वर्तमानादण् भवति । ओषधिरेव ओषधं पीयते । अजाताविति किम् ? स्थिरोऽयमस्त्वोषधिः क्षेत्रे ।

प्रज्ञादेः ॥४।२।४४॥ प्रज्ञ इत्येवमादिभ्यः स्वार्थेऽण् भवति । प्रजानातीति प्रज्ञः । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । “प्रज्ञाश्रद्धार्चान्वृत्तिभ्यो णः” [४।१।२८] इति मत्वर्थीयेन सिद्धेऽपि स्त्रियां विशेषः । अग्नि प्राज्ञी । गे प्राज्ञा । प्रज्ञ । वणिज् । उशिक् । उष्णिज् । प्रत्यज्ञ । विद्वस् । विदन् । वशिक् । द्विदश । षोडन् । विद्या । मनस् । ओत्र शरीरे । जुह्वत् । कृष्ण मृगे । चिकीर्षत् । वसु । मरुत् । सत्त्वन्तु । दशार्ह । वयस् । क्रुट् । रक्षस् । असुर । शत्रु । चोर । योष । चक्षुष् । पिशाच । अशनि । कार्षापण । देवता । बन्धु । आकृति-गणोऽयम् । विकृतिरेव वैकृतम् ।

मृदस्ति कः ॥४।२।४५॥ मृत्-शब्दात्स्वार्थे तिको भवति । मृदेव मृत्तिका । स्त्रीविषयत्वाद्वापि कृते “त्यस्ये क्यापीद” [४।२।५०] इत्यादिना इत्येन सिद्धे इकारोच्चारणं किम् ? द्वाभ्यां मृत्तिकाभ्यां क्रीतं द्विमृत्तिकम् । “हृदुप्युप्” [१।१।१] इति स्त्रीत्यस्योपि श्रवणार्थम् ।

सस्ना प्रशंसे ॥४।२।४६॥ प्रशंसते वर्तमानान्मृच्छन्दान्नित्यं स स्न इत्येतौ त्वौ भवतः । रूपापवादः । प्रशंस इति प्रकृत्यर्थविशेषणमेतत् । मृत्वा । मृत्स्ता । उत्तरत्र वाग्रहणादिह नित्यो विधिः । यदा मृच्छदेन प्रशंसो नाभिधीयते किन्तु शब्दान्तरेण गृह्यते तदा वाक्यतिकौ भवतः । मृत्प्रशस्ता । मृत्तिका प्रशस्ता ।

बह्वल्यार्थच्छ्रुत्वा ॥४।२।४७॥ बह्वर्थादल्पार्थान्च कारकविशेषणात् शस् भवति वा । इह बहुशब्दो नानाधिकरणवाची न वैपुल्यवाची । अल्पशब्दोऽपि नानाधिकरणवाची नत्वीषदर्थवाची गृह्यते ।

बहुभ्य आगतः । बहुश आगतः । भूरिश आगतः । बहुभ्यो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्लुनाति । बहुशो लुनाति । भूरिशो लुनाति । बहुषु वसति । बहुशो वसति । भूरिशो वसति । बहून् देहि । बहुशो देहि । भूरिशो देहि । बहुभिर्भुङ्क्ते । बहुशो भुङ्क्ते । भूरिशो भुङ्क्ते । अल्पेभ्य आगतः । अल्पश आगतः । स्तोक्श आगतः । इत्येवमादि शेषम् । बहुत्वार्थादिति किम् ? प्रामादागच्छति । कारकादिति किम् ? बहुभिः सह भुङ्क्ते । वाग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्वाग्रहणं पूर्वस्य विधेर्निवार्यम् । प्रशंस इति वर्तते तदिह बहुत्वार्थान्मङ्गले गम्यमाने शस् भवतीत्यर्थः । बहुशो ददाति आम्बुदयिकेषु कर्मसु । अल्पशो ददाति अनिष्टेषु कर्मसु ।

संख्यैकाद्वीप्सायाम् ॥४१॥४८॥ कारकादिति वर्तते । संख्यावाचिनः एकान्ताच्च कारकाद्वीप्सायां वर्तमानाद्वा शस् भवति । वीष्वाद्वित्यापवादः । अथवा शसैवोक्तत्वाद् द्वित्वं निवर्तते । एकशो देहि । वाक्यपदे वीप्सायां द्वित्वम् । “एको ववत्” [५।३।७] इति ववद्भावात् “सुपो ध्रुमदोः” [१।४।१४२] इति सुप उपि कृते समुदायादम् । एकैकं देहि । द्वौ द्वौ देहि द्विशो देहि । त्रिशो देहि । एकान्तात् । माषं माषं देहि माषशो देहि । कार्षापणशो देहि । प्रस्थशो देहि । संख्यैकादिति किम् ? माषौ माषौ देहि । वीप्सामिति किम् ? द्वौ ददाति । माषं ददाति । कारकादित्येव । द्वाभ्यां द्वाभ्यां सह भुङ्क्ते । प्रस्थस्य प्रस्थस्य स्वामां । कथमेकैकशो मन्त्रिणः पृच्छेदिति ? चिन्त्यमेतत् । यथा वा स्त्रीत्यान्तात् स्वार्थिके उत्पन्ने पुनः स्त्रीत्यः कुमारीतिरेति । एवं द्वित्वे कृते पुनः शस् ।

प्रतियोगे कायास्तसिः ॥४१॥४९॥ वेति वर्तते । “यतः प्रतिदाप्रतिनिधी प्रतिना” [१।४।२२] इति प्रतिना योगे का विहिता । तदन्तात्तसिर्भवति वा । इकारः “कायास्तस्” [४।१।७३] “तसेः” [३।१।७४] इति विशेषणार्थः । अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति । श्रेणिकात् प्रति । प्रद्योतनो वृत्तिषेणतः प्रति । वृत्तिषेणात् प्रति । “तसिप्रकरणे आद्यादिभ्यः उपसंख्यानम्” [वा०] । आदौ । आदितः । मध्यतः । अन्ततः । पृष्ठतः । आकृतिगणोऽयम् ।

अपादानेऽहीयरुहोः ॥४१॥५०॥ “काऽपादाने” [१।४।३७] इति अपादाने का विहिता । तदन्तात्तसिर्भा भवति हीयरुहसंबन्धि न चेदपादानम् । खुध्नादागतः । खुध्ना आगतः । चौरेभ्यो विभेति चौरतो विभेति । अपादान इति किम् ? अन्यो देवदत्तात् । अहीयरुहोरिति किम् ? सार्थाद्धीनः । कर्मण्ययं क्तः । पर्वतादवरोहति । हीय इति जहाते कर्मणि यक् तस्यानुकरणम् । किमर्थम् ? जिहीतेः प्रतिषेधो माभूत् । उदधेरज्जिहीते । उदधित उज्जिहीते । “मन्त्रो वर्णतो हीनः” इत्यत्र आद्यादित्वात् भान्तात्तसिः ।

क्षेपाव्यथाऽतिग्रहेष्वकर्तृभायाः ॥४१॥५१॥ क्षेप, अव्यथा, अतिग्रह, इत्येतेषु विषयभूतेषु या कर्तुरन्यत्र विहिता भा तदन्ताद्वा तसिर्भवति । क्षेपे-वृत्तेन क्षिप्तः वृत्ततः क्षिप्तो निन्दित इत्यर्थः । अव्यथा-याम्-वृत्तेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते न चलतीत्यर्थः । अतिग्रहे-वृत्तेनातिग्रह्यते वृत्ततोऽतिग्रह्यते । अतिमात्रं गृह्यत इत्यर्थः । सर्वत्र करणे हेतौ वा भा । क्षेपादिष्विति किम् ? दात्रेण लुनाति । अकर्तृग्रहणं किम् ? देवदत्तेन क्षिप्तः । भाया इति किम् ? वृत्तमस्य क्षिप्यते ।

हीयमानपापयोगात् ॥४१॥५२॥ अकर्तृभाया इति वर्तते । हीयमानपापानां योगो यस्य तस्मादकर्तार भान्ताद्वा तसिर्भवति । हीयमानयोगात् वृत्तेन हीयते । वृत्ततो हीयते । चारित्रेण हीयते । पाप-योगात् वृत्तेन पापः । अत्रापि करणे हेतौ वा भा द्रष्टव्या । नन्वत्रापि क्षेपोऽस्तीति पूर्वैर्गैव तसिः सिद्धः । नैष दोषः । पूजाप्यत्र गम्यते । नीचवृत्ततो हीयते । पापवृत्ततो हीयते । यदि वा तत्त्वाख्यानमत्र सूत्रे विवक्षितम् न निन्दा । अकर्तृतीत्येव । देवदत्तेन हीयते ।

ताया व्याश्रये ॥४१॥५३॥ नानापक्षाश्रयो व्याश्रयः । तान्ताद्वा तसिर्भवति व्याश्रये गम्यमाने ।

नभिरर्ककीर्तितोऽभवत् । अर्ककीर्तेरभवत् । मेघप्रभो मेघेश्वरतोऽभवत् । गम्यमानपक्षापेक्षा ता । व्याश्रय इति किम् ? देवदत्तस्य हस्तः ।

रोगादपनये ॥४१२।१४॥ अपनयः चिकित्सेत्यर्थः । तथा इति वर्तते । रोगवाचिनस्तान्तात् वा तस्मिन्भवति अपनये गम्यमाने । प्रवाहिकायाः कुरु । प्रवाहिकातः अपनयमस्याः कुर्वित्यर्थः । अपनय इति किम् ? प्रवाहिकायाः करोति प्रक्षोभमित्यर्थः ।

कृन्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वसम्पत्तिरि च्विः ॥४१२।५५॥ वेतीहानुवर्तते । न सः असः कारणमित्यर्थः । अतस्य तत्त्वम् विकाररूपापत्तिः अतत्तत्त्वम् । सम्पद्यते इति सम्पत्ता सम्पद्यतेः कर्तेत्यर्थः । अतत्तत्त्वे गम्यमाने सम्पद्यतेः कर्तारि वर्तमानात् सुबन्तात् उत्तरावस्थाभिधायिनश्चिन्वर्भवति कृन्वस्तिभियोगे । अल्पान्तरार्थेन शब्देन विग्रहः क्रियते । अशुक्लं शुक्लं करोति शुक्लीकरोति प्रासादम् । अत्र करोतेः कर्मभावमापन्नोऽपि प्रासादः सम्पद्यतेः कर्ता भवति अत एव विग्रहः । अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति शुक्लीकरोति । शुक्लीभवति । शुक्लीस्यात् । शुक्लशब्दाच्चिः । इकारः “च्वौ” [१२।१३५] इति विशेषणार्थः । चकारोऽपि तत्रैव विशेषणार्थः । तत्र विरित्युच्यमाने दर्विः, जागृविरित्यत्र “रीङ् ऋतः” [५।२।१३६] इति रीङ्भावः प्राप्नोति । वकारः “च्विङ्गलूपादिः” [१।२।१३२] इति विशेषणार्थः । तत्र हि विग्रहयोऽक्रियमाणे चिनोतेस्तद्विकाराणां वा ग्रहणं प्रसज्येत । पूर्वस्य सुपः “सुपो धुमृदोः” [१।१।१४२] इत्युप् । “अस्य च्वौ” [५।२।१४१] इतीत्वम् । परस्य सुपः “सुपो ऋः” [१।१।१४०] इत्युप् । कर्मभावामिधायिन्यपि कृत्रादौ चिन्वर्भवति । शुक्लीक्रियते । अशुक्लस्य शुक्लस्य क्रिया शुक्लीभवनमिति द्रव्यस्य गुणक्रियाद्रव्यसमूहविकारयोगेऽतत्तत्त्वमुदाहार्य क्रियायोगे-कारकीभवति । कारकीकरोति । कारकीस्यात् । द्रव्ययोगे-दण्डीकरोति । दण्डीभवति । दण्डीस्यात् । “दीरङ्गदगे” [१२।१३३] “च्वौ” [१२।१३५] इति दीत्वम् । समूहे-गा असङ्घं सङ्घं करोति सङ्घीकरोति । सङ्घीभवन्ति गावः । सङ्घीस्युः । विकारे-पटीकरोति तन्तुन् । पटीभवन्ति । पटीस्युः । घटीकरोति मृदः । घटीस्यात् । अत्रायमर्थः । यत्र कारणाद्विकारस्याभेदो विवक्ष्यते तत्रायं च्विः । न तु यत्र कारणात्कार्यस्य भेदः । यथा वीरणेभ्यः कटं करोति । मृदो घटं करोति । कृन्वस्तियोगे इति किम् ? अशुक्लः शुक्लो जायते । अतत्तत्त्वे इति किम् ? शुक्लं करोति । घटं करोति । अत्र विकारस्यैव विवक्षा कारणस्याविवक्षितत्वात् । सम्पत्तृग्रहणं किम् ? कर्तृरन्यस्मिन् कारके मा भूत् । अशुक्ले सत् शुक्ले सम्पद्यते । अदेवग्रहे सत् देवग्रहे सम्पद्यते । कथं समीपीभवति । दूरीभवति । अत्राप्युपचारात् । तत्स्ये द्रव्ये वर्तमानस्य कर्तृत्वम् ।

मनोऽरुश्चक्षुश्चेतोरहोरजसः खम् ॥४१२।१६॥ मनःप्रभृतीनां शब्दानामलोऽन्त्यस्य खं भवति च्वौ परतः । अविशेषेण पूर्वैरेव च्विः सिद्धः । खमनेन विधीयते । न च खविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधः । सत्यविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तदन्तानां केवलानां चेह ग्रहणम् । अनुन्मनसम् उन्मनसं करोति उन्मनीकरोति । उन्मनीभवति । उन्मनीस्यात् । अरुकरोति । अरुभवति । अरुस्यात् । “दीरङ्गदगे” [१२।१३३] “च्वौ” [५।२।१३५] इति दीत्वम् । उच्चक्षुः करोति । उच्चक्षुःभवति । उच्चक्षुःस्यात् । विचेतीकरोति । विचेतीभवति । विचेतीस्यात् । विरहीकरोति । विरहीभवति । विरहीस्यात् । विरजीकरोति । विरजीभवति । विरजीस्यात् ।

साद्वा कात्स्न्ये ॥४१२।५७॥ कृन्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वे सम्पत्तिरिति वर्तते । अतत्तत्त्वविषये कात्स्न्ये गम्यमाने सादित्यं त्यो भवति वा । अग्निसन्निभं कृत्स्नमखम् अग्निं करोति अग्निसात्करोति । अग्निसाद्भवति । अग्निसात्स्यात् । उदकसात्करोति । उदकसान्भवति । उदकसात्स्यात् । वावचनाच्चिन्वरपि समुच्चीयते । अग्नीकरोति । उदकीकरोति । कात्स्न्यादन्यत्र च्विरेव भवति ।

सम्पदा चाभिविधौ ॥४१२।५८॥ नानाद्रव्याणां सर्वात्मना एकदेशेन वा विकाररूपापत्तिरभिविधिः । एकद्रव्यस्य सर्वात्मना विकाररूपापत्तिः कात्स्न्यमिति भेदः । अभिविधौ गम्यमाने च्विबिषये साद्भवति सम्पदा

कुम्भस्तिमिश्र योगे । वर्षासु सर्वे लवणमनुदकदुदकं सम्पद्यते उदकसात्सम्पद्यते । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । अस्मिन् कटके उत्पातेन सर्वे शन्नमग्निः सम्पद्यते अग्निसात्सम्पद्यते । अग्निमात्करोति । अग्निमाद्भवति । अग्निमात्स्यात् । वेत्यनुवृत्तेः कुम्भस्तिभिर्योगे चिदपि भवति । उदकीकरोति । उदकीभवति । उदकीस्यात् ।

तदधीनोक्तौ ॥४।२।१९॥ अतत्तत्त्वे इति निवृत्तम् अर्थान्तरोगदानात् । तदधीनेऽभिधेये सान्द्रवति । कुम्भस्तिभिः सम्पदा च योगे । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् यत्र तदायत्तं प्रतीयते, तस्मात्स्वामिविशेषवाचिनस्त्यः । राज्ञ आयत्तं राजाधीनं करोति । राजसात्करोति । राजसात्स्यात् । राजसात्सम्पद्यते । आचार्यसात्करोति । आचार्यसान्द्रवति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि साधु ।

देये त्रा च ॥४।२।६०॥ तदधीनोक्ताविति वर्तते । देयं दातव्यमित्यर्थः । तदधीने देयेऽभिधेये त्रा इत्ययं त्यो भवति साच कुम्भस्तिभिः सम्पदा च योगे । आचार्याधीनं देयं करोति आचार्यत्रा करोति । आचार्यसात्करोति । आचार्यसात्स्यात् । आचार्यत्रा सम्पद्यते । आचार्यसात्सम्पद्यते । वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि । देय इति किम् ? राजसान्द्रवति राष्ट्रम् ।

अव्यक्तानुकरणादनैकाचोऽनितौ डाच्च ॥४।२।६१॥ शब्द इति सामान्येन व्यक्तेऽव्यक्तेऽकारादिवर्णविशेषेणाव्यक्तः । तस्यानुकरणं यत्तस्मादव्यक्तानुकरणादनैकाचोऽनितौ डाञ्चित्यं त्यो भवति कुम्भस्तिभिर्योगे । पटत्करोति । पटपटाकरोति । पटद्भवति । पटपटाभवति । पटत्स्यात् । पटपटास्यात् । पटदिति क्रियाविशेषणम् । एतत् प्रादिवत् करोत्यर्थं विशिनष्टि न पुनः कारकत्वेनाभिसम्बध्यते । डकारः टिखार्य । चकारो “डाचि” इति विशेषणार्थः । डाचोति विशेष्यनिर्देशात् प्रागेव टिखाद् द्वित्वम् “ओ डाचि” [४।३।८७] इति पूर्वस्य तकारस्य पररूपम् । डाजन्तस्य “चिडडाज्यादिः” [१।२।१३२] इति तिसंज्ञा । एवं दमदमाकरोति । दमदमाभवति । दमदमास्यात् । अव्यक्तानुकरणादिति किम् ? दृषत् करोति । अनेकाच इति किम् ? खात् करोति । अनिताविति किम् ? पठिति करोति । “डाजहृस्येतावतः” [४।३।८५] इत्यच्छब्दस्य पररूपम् । अनिताविति प्रतिषेधार्थकः । कथमिति चेत् ? डाजन्तस्य तिसंज्ञा । तस्य “प्राग्घोस्ते” [१।२।१४१] इति कुम्भस्तिभ्यः प्राक्प्रयोगेऽनिति परतैव भवति । एवं तर्हि इतौ प्रतिषेधवचनम् अनिष्टशब्दनिवृत्त्यर्थम् । पटच्छब्दादिति शब्दप्रयोगे डाचि कृते इति पटपटाकरोतीत्यनिष्टः शब्दो मा भूत् ।

कृजो द्वितीयतृतीयशंवबीजात्कृषौ ॥४।२।६२॥ कृजो ग्रहणं भवस्त्योर्निवृत्त्यर्थम् । कृजो योगे द्वितीय तृतीय शंव बीज इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो डाज्भवति कृषिविषये । द्वितीयं विलेपनं करोति क्षेत्रस्य द्वितीयाकराति क्षेत्रम् । डाचि द्वित्वमनित्यमिति वक्ष्यते । योऽसौ करोतेः कर्मणश्च विग्रहे संबन्धः, स उत्पन्ने डाचि निवर्तते । द्वितीयादयस्तु शब्दाः प्रादिवत् क्रियाविशेषणभूताः । क्षेत्रं कर्म भावमुपयाति । एवं तृतीयाकरोति क्षेत्रम् । शंव करोति कुलिजस्य शंवाकरोति कुलिजम् । अन्ये तु शंवाकरोतीत्येव सार्थं दर्शयन्ति । अनुलोमविलोमाभ्यां कर्षतीत्यर्थः । बीजं करोति क्षेत्रस्य बीजाकरोति क्षेत्रम् । वपतीत्यर्थः । सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थः । कृषाविति किम् ? द्वितीयं विवरणं करोति सूत्राणाम् ।

गुणात्संख्यादेः ॥४।२।६३॥ कृज इति वर्तते । कृषाविति च । गुणशब्दान्तात्संख्यादेर्मृदो डाज्भवति कृजो योगे । द्विगुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् । अथवा द्वौ गुणौ विग्रहा हृदये रसः । तस्मात्त्यः । गुणादिति किम् ? द्वे परिवर्तने करोति क्षेत्रस्य । संख्यादेरिति किम् ? समगुणं करोति क्षेत्रम् । कृषावित्येव । द्विगुणं करोति वज्रम् ।

समयसपत्रानिषत्रानिष्कुलादुदरिषादुःखमालादुःखभद्रामद्राः ॥४।२।६४॥ समया-

दयः शब्दा डाजन्ता निपात्यन्ते । सर्वत्र कुञ्चयोगे निपातनम् । समयशब्दाद्यापनायां गम्यमानायां डाञ्जि-
पात्यते । कालकृता पुरुषकृता वा संस्था समयः । तस्यातिक्रमः कालक्षेपो यापना । समयं करोति पटस्य ।
श्वो दातास्मीति तस्यातिक्रमे समयाकरोति पटं कुविन्दः । यापनाया अन्यत्र डाञ् न भवति । समयं करोति
विवाहस्य । सपत्रनिष्पन्नशब्दाभ्याम् अतिव्यथने गम्यमाने डाच् । सपत्रशब्द इह विपरीतलक्षणाया
निष्पन्नशब्दार्थे वर्तते । सपत्राकरोति मृगं व्याधः । अतिपीडयतीत्यर्थः । एवं निष्पत्राकरोति । अतिव्यथना-
दन्यत्र सपत्रं वृद्धं करोति जलसेचकः । निष्पत्रं वृद्धतत्त्वं करोति वाटिकापालः । निष्कुलशब्दान्निष्कोषणेऽर्थे
डाच् । प्रच्छन्नावयवानां वहिर्निष्कारनं निष्कोषणम् । निष्कुलाकरोति पशुं चाण्डालः । निष्कोषणादन्यत्र
निष्कुलं करोति पुरुषम् । उच्छिन्नचोतीत्यर्थः । सुखप्रियशब्दाभ्यामानुलोम्येऽर्थे डाच् । सुखाकरोति । प्रिया-
करोति । स्वाम्यादेरानुकूल्येन वर्तत इत्यर्थः । आनुकूल्यादन्यत्र सुलं करोति धर्मः । दुःखशब्दात् प्रतिलोम्येऽ-
र्थे डाच् । दुःखाकरोति । प्रतिकूल्येन वर्तत इत्यर्थः । प्रतिकूल्यादन्यत्र दुःखं करोति दुष्कृतम् । शूलशब्दात्
पाकार्थप्राये डाच् । शूलाकरोति मांसम् । शूले मांसं पचतीत्यर्थः । पाकादन्यत्र शूलं करोति सिविजम्
(कदन्नम्) । सत्यशब्दादशपथेऽर्थे डाच् । सत्याकरोति वणिग् भाण्डम् । अहमेतद्भाण्डं केष्यामीति । अन्तराले
द्रव्यं सत्यंकारं व्यवस्थाप्य तथ्यं करोति । (अशपथे किम् ? सत्यं करोति ब्राह्मणः) । शपथं करोतीत्यर्थः ।
भद्रमद्रशब्दाभ्यां परिवापणेऽर्थे डाच् । भद्राकरोति नापितः शिशून् । मद्राकरोति नापितः शिशून् । परिवाप-
णादन्यत्र भद्रं करोति साधुः ।

सान्ताः ॥४१२।६५॥ सान्तामि(न्ता इ) त्यमधिकारो वेदितव्यः । आपादपरिसमाप्तेर्ये विधयो वक्ष्यन्ते
सस्यान्ता अवयवास्ते भवन्तीत्यर्थः । ननु वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषु क्वचित्सविशेषाधिकारोऽस्ति क्वचित्पूर्वपदोत्तरपद-
निर्देशः । ततः सामर्थ्यादेव सान्ता विधयो भविष्यन्तीति नार्थोऽनेन, यत्रार्थविभागोऽस्ति तदर्थोऽधिकारः ।
यथा “ऋक्पुरवृषः पथोऽनक्षे” [४१।१००] इति अर्थर्चम् । सग्रहणं किम् ? ऋक् । अन्तर्ग्रहणं किमर्थम् ?
तद्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । इ-र-द्वन्द्वसंज्ञाः प्रयोजयन्ति । उपराजम् । “हे शरदादेः” [४१।१०६]
“अनः” [४१।११०] इति सान्ते कृते हसंज्ञाश्रयोऽम्मावादिः सिद्धः । द्वे धुरौ समाहृते द्विधुरी । त्रिधुरी । “शत्”
[३।१२५] इत्यकारान्तलक्षणो ङीविधिः सिद्धः । नृपुरोपानहिनी । “द्वन्द्वाच्चुदहवो राथे” [४१।१०८]
इति सान्ते कृते “द्वन्द्वापतापगर्ह्यार्ध्याग्नीन्” [४१।१५१] इतीन्विधिः सिद्धः । खादेशौ च प्रयोजयतः ।
व्याघ्रपात् । “खं पादस्याहस्त्यादेः” [४१।१३६] इति परस्यादेर्माभूत् । “गन्धस्येरुतिसुसुरभिभ्यः”
[४१।१३६] इति परस्यादेरित्त्वमा भूत् ।

न स्वतिक्रिमः ॥४१२।६६॥ सु अति किम् इत्येतेभ्यः परस्य सान्तो न भवति । वक्ष्यमाणेन
लक्षणेन विहितः सर्वः सान्तः प्रतिषिध्यते । शोभनो राजा सुराजा । सुसखा । सुगौः । अतिराजा । अतिसखा ।
अतिगौः । को राजा किंराजा यो न रक्षति । किंसखा यो न स्निह्यति । किंगौयो न वहति । इह कस्मा-
त्प्रतिषेधो न भवति शोभने अक्षिणी यस्य स्वन्नः । “स्वाङ्गाद्वेऽक्षिसक्थः” [४१।११३] इत्यसान्तः ।
अत्रोच्यते-“स्वतो पूजायाम्” इति विशिष्योक्तत्वात्प्रतिपदोक्तस्य षसस्यैव ग्रहणम् न वसस्य । पूजायामनयो-
स्साहचर्यात् । पूजार्थस्यातेर्ग्रहणम्, तेन “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इपा” इति प्रतिपदविधाने त्प्रतिषेधो न
भवति । अतिक्रान्तो राजानम् अतिराजः इति । क्षेपे किमिति प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणात् इहापि प्रतिषेधो न
भवति । को राजा किंराजः । किंसखः । किंगवः ।

नञः ॥४१२।६७॥ नञः परस्याः प्रकृतेः सान्तो न भवति । अराजा । असखा । अगौः ।
इहापि नञिति प्रतिपदोक्तस्य षसस्य ग्रहणादन्यत्राप्रतिषेधः । अराजको देशः । अनृचो माणवकः ।

पथो वा ॥४१२।६८॥ नञः पथो यः पथिशब्दस्तदन्ताद्वा सान्तो न भवति । पूर्वेषु नित्ये प्रतिषेधे
प्राप्ते विकल्पोऽयम् । अपथम् । अपन्थाः । इह नञः सस्यानुवृत्तेरन्यत्र नित्यो विधिः । अपथं वनम् ।

संख्याबाहुोऽवहुगणात् ॥४१॥६६॥ “संख्येये संख्याया भ्यासन्ता” [११३।८७] इत्यादिना प्रतिपदोक्तो यः संख्याया वसस्तसादवहुगणान्ताहुः सान्तो भवति । समीपे दशानामिमे उपदशाः । आसन्ता विंशतेरिमे आसन्नविंशाः । अदूरे त्रिंशतोऽदूरत्रिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । पञ्चषाः । संख्याग्रहणं किम् ? चित्रगुः । संख्यावसस्य प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणादिह न भवति । द्विगुः । दशगुः । अवहुगणादिति किम् ? उपबहवः । इदमेव ज्ञापकं बहुगणयोः संख्या संज्ञा भवति । गणशब्दस्य डे सत्यसति च नास्ति विशेषस्तस्य प्रतिषेधोऽन्यसंख्याकार्यलाभार्थः । गणकूलः । गणधा । “द्वप्रकरणे संख्याया षयस्योपसंख्यानं निस्त्रिंशदर्थम्” । निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि । निश्चलारिंशानि । निरशीतानि वर्षाणि वर्तन्ते । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । आदिशब्दः प्रकारवाची तेन व्यादेर्न भवति ।

ऋक्पूरव्यूःपथोऽनन्ते ॥४१॥७०॥ ऋच, पुर, अप्, धूः, पथिन् इत्येवमन्तेभ्यः अ इत्ययं सान्तो भवति अन्तसंबन्धी चेद्दूःशब्दो न भवति । वादिति निवृत्तं सामान्येन विधानम् । सान्ताधिकारसामर्थ्यात्तदन्तग्रहणम् । अकारस्यानन्तशब्दे परतः स्वेऽको दीप्तं कस्मान् कृतम् ? शकन्वादिलात्पररूपं द्रष्टव्यम् । सौत्रो वा निर्देशः । अर्थचर्म । अनृचो माणवकः । अवहृचम् । ललाटस्य पूर्ललाटपुरम् । द्विगता आपोऽस्मिन् द्वीपः । समीपः । राज्यस्य धू राज्यधुरा । महाधुरा । मोक्षपथः । राजपथः । अनन्त इति किम् ? अन्तस्य धूः अन्तधूः । दृढधूरन्तः । अत्र केषाञ्चिदस्ति । “अनृचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरणे स्मृतः” तेनेह न भवति । अनृक्कं साम । बह्वृक्कं सूक्तम् ।

प्रत्यन्ववात्सामलोमनः ॥४१॥७१॥ प्रति अनु अव इत्येवपूर्वात्सामान्ताल्लोमान्ताच्च अः सान्तो भवति । प्रतिगतं साम प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् । “तिकुप्रादयः” [११३।८३] इति षसः । अन्यपदार्थे वतो वा कर्तव्यः । यदा तु हसः, तदा “अनः” [४१२।११०] “नपो वा” [४१२।१११] इति परत्वादिकल्पः । प्रतिसामम् । प्रतिसाम । प्रतिलोमम् । प्रतिलोम ।

“कृष्णोदक्पाण्डुपुर्वाया भूमेरत्योऽयमित्यते । गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥” [वा०] कृष्णभूमः । पाण्डुभूमः । वसो यसो वा । द्वे गोदावर्यौ समाहृते द्विगोदावरम् । पञ्चनदम् । “नदीभिश्च” [११३।१७] इति हसः । चकाराद्भूमिरपि भवति । द्विभूमः । सप्तभूमः प्रासादः । कचिदत्यन्त्रापीष्यते । पद्मनाभः । कर्णनाभः । वर्षरात्रः ।

अजीवेऽक्षयः ॥४१॥७२॥ अजीवे वर्तते योऽक्षिशब्दस्तदन्तात्सात् अ इत्ययं त्यो भवति । कमलस्याक्षि कमलाक्षम् । अथवा कमलमक्षीव कमलाक्षम् । एवं लक्षणाक्षम्^१ । पुष्कराक्षम् । कवरस्याक्षि कवराक्षम् । अश्वानां मुखाञ्छादनं बहुच्छिद्रकमित्यर्थः । अजीव इति किम् ? अजाक्षि । कथं प्रासादस्य गवाक्षम् । कटाक्ष इति । एवमादयोऽपि रुदिशब्दा इति न जीवेऽक्षिशब्दस्य वृत्तिः ।

स्वोधेनुवाग्दारात्पुंसनडुन्मनोगोम्यः^२ ॥४१॥७३॥ स्त्री, धेनु, वाक्, दार इत्येवपूर्वेष्व्यो यथासंख्यं पुंस्, अनडुह्, मनस्, गो इत्येभ्यः अः सान्तो भवति । स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ । कचिद्यथेऽपि भवति । पूर्वं स्त्री पश्चात्पुमान् स्त्रीपुंसं विद्धि राक्षसम् । स्त्रीपुंसः शिखण्डी । इन्द्रयसाभ्यामन्यत्र न भवति । स्त्रियाः पुमान् । परिशिष्टेभ्यो इन्द्र एव त्यो भवति । धेनुश्च अनड्वाँश्च धेन्वनडुहो । वाक्च मनश्च वाङ्मनसम् ? दाराश्च गावश्च दारगवम् ।

१. छवणाक्षम् पू० । २. ‘गोम्यः’ इति बहुवचनान्तः पाठचित्स्थः, अन्ये सर्वत्रैकवचनस्यैव प्रयोगदर्शनात् ।

ऋचः सामयजुर्भ्याम् ॥४।२।७४॥ ऋचः पराभ्यां सामयजुर्भ्याम् अः सान्तो भवति द्वन्द्व-
एवाभिधानम् । ऋक्च साम च ऋक्सामे । ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम् ।

नञ्विसूपत्रिभ्यश्चतुरः ॥४।२।७५॥ नञ्, वि, सु, उप, त्रि इत्येतेभ्यः परश्चतुर्शब्दोऽत्यान्तो
निपात्यते । अदृश्यानि चत्वारि अनेन अचतुरः । विगतानि चत्वार्यस्य विचतुरः । शोभनानि चत्वार्यस्य
सुचतुरः । समीपे चतुर्णामयमुपचतुरः । त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः । बस एवेदं निपातनम्, नान्यत्र । न
चत्वारोऽचत्वार इति ।

नक्तं रात्रिमहोभ्यो द्वयम् ॥४।२।७६॥ नक्तम्, रात्रिम्, अहन् इत्येतेभ्यः परो दिवशब्दो
निपात्यते द्वन्द्वे । नक्तञ्च दिवा च नक्तन्दिवम् । अः सान्तो निपात्यते । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । सूत्रे
निपातनादेव रात्रिराब्दस्य सुम् । अहश्च दिवा च अहर्दिवम् । अहःशब्दसन्निधाने दिवाशब्दो रात्रिपर्यायः
शक्तिस्वाभाव्यात् ।

द्वित्रिपुरुषादायुषः ॥४।२।७७॥ द्वि, त्रि, पुरुषशब्देभ्यः पर आयुषशब्दो निपात्यते । द्वे आयुषो
समाहृते द्रव्यायुषम् । व्यायुषम् । अस्तान्तो निपात्यते । रसादन्यत्र न भवति । द्वयोरायुद्वयार्थायुः । व्यायुः ।
पुरुषस्यायुर्वर्षाणि पुरुषायुषम् । तास एवेदं निपातनम्, द्वन्द्वे न भवति । पुरुषश्च आयुश्च पुरुषायुषी ।

जातमहद्वृद्धादुक्षः ॥४।२।७८॥ जात, महत्, वृद्ध इत्येतेभ्यो पर उक्ष इति निपात्यते । सर्वत्र
यसेऽकारः सान्तो निपात्यते । जातश्च सा उक्षा च जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । यसादन्यत्र न भवति ।
जातस्य उक्षा जातोक्षा । महुक्षा । वृद्धोक्षा ।

सरजसोर्वष्टोवपदष्टोवाक्षिभ्रुवो(व दारगवो^१) पशुनगोष्ठश्वाः ॥४।२।७९॥ सरजसादयः
शब्दा अत्यान्ता निपात्यन्ते । सह रजसा सरजसमभ्यवहरति । साकल्ये हसः । हसादन्यत्र न भवति । सरजः
सलिलम् । उरु च अष्टीवन्तौ च उर्वष्टोवम् । अकारस्त्यष्टिखं च निपात्यते । अष्टीवन्तो गुलकाबुध्यते ।
प्रापयङ्गत्वादेकवद्भावः । पादौ च अष्टीवन्तौ च पदष्टीवम् । द्वन्द्वेऽकारः सान्तश्चिखं पूर्वपदस्य पद्भावो निपात्यते ।
अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम् । द्वन्द्वे युवत्सिङ्गम् । दारगवमित्यवादेशश्च निपात्यते । शुनः समीपम् उप-
शुनम् । हसे अः सान्तश्चिखाभावो जिश्च निपात्यते । गोष्ठेश्वा गोष्ठश्वाः । अः सान्तः ।

पत्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः ॥४।२।८०॥ पत्य, राजन्, हस्तिन् इत्येतेभ्यः परो यो वर्चःशब्दस्त-
न्तादः सान्तो भवति । अत्र तासः सम्भवति । पत्यस्य वर्चः पत्यवर्चसम् । राजवर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ।
“ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्” [वा०] । तेनात् (नात्ये) ब्रह्मवर्चसमिति भवति ।

तमसोऽवसमन्धात् ॥४।२।८१॥ अव, सम्, अन्ध इत्येतेभ्यः परात्तमःशब्दादः सान्तो भवति ।
अवहीनं तमः, अवहीनं तमोऽस्मिन्वाऽवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् । पसो बसो वा ।

निसः श्रेयसः ॥४।२।८२॥ निःशब्दात् परो यः श्रेयःशब्दस्तदन्तदस्यो भवति । निश्चितं श्रेयः
निःश्रेयसम् । अत्र (यस एव) विधानं न बस इति केचित् । निश्चितं श्रेयोऽनेन निःश्रेयस्कः ।

श्वसो वसीयसश्च ॥४।२।८३॥ श्वसः प्रात् वसीयसः श्रेयसश्च अः सान्तो भवति । वसुमन्त्रुद्धात्
“विन्मतोष्वप्” [४।१।१२४] इति ईयसो मतोश्चोपि कृते वर्सीय इति भवति । श्वोवसीयसं कुलम् । श्वः
श्रेयसमस्तु ते । उभयत्र मयूरव्यंसकादिवात्सः ।

तत्तान्ववाद्दहसः ॥४१२।८४॥ प्रच्छन्न उर्वांशुप्रयोगो वा रहः । तत् अनु अव इत्येतेभ्यः परो यो रहःशब्दस्तदन्तादस्त्यो भवति । सम्भवतः सस्य ग्रहणम् । तर्त रहः तत्तरहसम् । अनुगतं रहः अनुरहसम् । अनुगतं रहोऽस्मिन्वाऽनुरहसम् । अवरहसम् ।

प्रतेहरस ईपः ॥४१२।८५॥ प्रतेः परात् उरःशब्दादीवर्थे वृत्ते अस्सान्तो भवति । उरसि वर्तते प्रत्युरसम् । विभक्त्यर्थे हसः । अथवा विग्रहवाक्ये ईवन्तादुरःशब्दादस्त्यो भवति । प्रतिष्ठितमुरसि प्रत्युरसम् । “विकुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसः । ईप इति किम् ? प्रतिगतमुरः प्रत्युरः ।

द्विस्तावात्रिस्तावाऽनुगवम् ॥४१२।८६॥ द्विस्तावा त्रिस्तावा, अनुगव इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । द्विस्तावतीति विग्रह्य द्विस्तावा वेदिः । काचिदभिधीयते । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । अः सान्तः पुंवद्भावविशेषं च निपात्यते । एवं त्रिस्तावती त्रिस्तावा वेदिः । वेद्यभिधानादन्यत्र न भवति द्विस्तावती त्रिस्तावती परिखा । अत्रापि अध्याहृतक्रियापेक्षया क्रियाभ्यावृत्तिरस्ति । द्विस्तावती मीयते परिच्छिद्यते वा । तेन सुप् सिद्धः । अनुग [वेऽभिधेये] वमिति [अस्सान्तो] अस्यान्तो निपात्यते आयामिन्यभिधेये । गामन्वायतम् अनुगवं यानम् । “आयामिना” [१।३।१३] इति हसः । यथा गौरायतस्तथा यानमप्यायतमित्यर्थः । आयाम्यभिधानादन्यत्र न भवति । गवां पश्चादनुगु ।

गेरध्वनः ॥४१२।८७॥ गिंसंज्ञोपलक्षितेभ्यः पराध्वशब्दादस्त्यो भवति । सम्भवतः सस्य (षस्य) ग्रहणम् । प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः । प्राध्वं शकटम् ।

वेऽङ्गुलेर्मिसंख्यादेः ॥४१२।८८॥ मिसंख्यादेरङ्गुलिशब्दादस्सान्तो भवति । अतिक्रान्तमङ्गुली-रत्यङ्गुलम् । निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम् । संख्यादेः—द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयङ्गुलम् । त्र्यङ्गुलम् । चतु-रङ्गुलम् । तथा द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलम् । “हृदर्थ” [१।३।४६] इति रसः । प्रमाणेऽर्थे आगतस्य मात्रतः “रादुक्लौ” [३।१।२६] इत्युप् । वस इति किम् ? पञ्चाङ्गुलीर्हस्तः ।

अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥४१२।८९॥ षे इति वर्तते । अहन्, सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य इत्येतेभ्यः पराद्रात्रिशब्दाद् मिसंख्यादेश्च अस्त्यो भवति षसे । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः । षस्यासम्भवात् अत्र द्वन्द्वो वेदितव्यः । “अहो रिविद्यौ रात्रिरूपरथन्तरेषु” [वा०] इति रिक्त्वम् । सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः । “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यादिना षसः । एकदेशात्—पूर्वा रात्रिः पूर्वरात्रः । अपरा रात्रिः अपररात्रः । उत्तरा रात्रिः उत्तररात्रः । रात्र्येकदेशे रात्रिशब्दो वर्तते । ततः सामानाधिकरण्यम् । “विशेषणं विशेष्येणेति” [१।३।५२] इति षसः । संख्यातरात्रः । पुण्यरात्रः । भ्यादेः—अतिक्रान्तो रात्रिमातरात्रः । नीरात्रः । संख्यादेः—द्वयो रात्र्योः समाहारो द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

एभ्योऽहोऽहः ॥४१२।९०॥ राजाऽहःसखिभ्यष्टो विधास्यते, तस्मिन् सति अहनित्येतस्य अह्लादेशो भवति एभ्यः सर्वादिभ्यः परस्य । एभ्य इति निर्देशो मिसंख्यादेरपि ग्रहणार्थः । तत्संभवादहःशब्दपूर्वस्य नाश्रीयते । सर्वमहः सर्वाहः । “टखोरेवाहः” [४।४।१३३] इति टिखे प्राप्तेऽनेनाह्लादेशः । “अतोऽहः” [५।४।९१] इति णत्वम् । पूर्वाहः । अपराहः । संख्याताहः । पुण्यशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति । मिसंख्यादेः—निष्क्रान्ताऽहो निरह्नी कथा । द्वयोरहोर्भवा द्वयह्नी पूजा । त्र्यह्नी पूजा । हृदर्थे रसे कृते भवार्थे आगतस्याणः “रस्योवनपथे” [३।१।७४] इत्युप् । द्यौ रसे संख्यादिः प्रयोजयति । द्वेऽहनी जातस्य द्वयह्ज्जातः । त्र्यह-जातः । “काळा मेयैः” [१।३।६७] इति त्रिपदः षसः । एकशब्दात्प्रतिषेधं वक्ष्यति ।

न समाहारे ॥४१२।९१॥ समाहारलक्षणं षसे अहनित्येतस्याह्लादेशो न भवति । पूर्वसूत्रेण संख्यादे-रिति प्राप्तः प्रतिषिध्यते । द्वयोरहोः समाहारो द्वयह । त्र्यह । “टखोरेवाहः” [४।४।१३३] इति टिखम् ।

अत्र संख्यादेरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । सङ्गतानि समाहृतान्यहानि समाहा इति नैष दोषः । प्रतिपदं “हृदर्थद्यु समाहारे” [१।३।४६] इति समाहारे विहितस्य षस्येह ग्रहणं न प्रादिलक्षणस्य । समाहार इति किम् ? द्वयोरहोर्भवो द्वयहः उत्सवः । हृदर्थे रसे कृतेऽण आगतस्य “रस्योवनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् ।

पुरयैकाभ्याम् ॥४।२।६२॥ पुरयैकशब्दाभ्यां परस्य अह्नित्येतस्य अह्नादेशो न भवति । पुरयमहः पुरयाहः । एकमहः एकाहः । “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यादिना षसः ।

राजाऽहःसखिभ्यष्टः ॥४।२।६३ राजन्, अहन्, सखि, इत्येतदन्ताष्टो भवति । देवराजः । द्वयो-
रहोः समाहारो द्वयहः । परमाहः । राजसखः । स्त्रियाः पूर्वपदार्थप्राधान्येऽतिक्रान्ता राजानम् अतिराजो ।
नकारान्तलक्षणजीविषेः परत्वाद्नेन टः । “सुद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [५०] इतीह कस्मान्न भवति ?
मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी । मद्रसखी । अनित्यैषा परिभाषेति न भवति ।

गोरहृदुपि ॥ ४।२।९४ ॥ गोशब्दाष्टो भवति अहृदुन्विषये । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् ।
महागवः । राजगवो । अतिगवो । पञ्चगववनः । अहृदुपीति किम् ? पञ्चभिः क्रीतः पञ्चगुः । दशगुः । हृदर्थे
“संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रसे कृते क्रीतार्थे आगतस्य आर्हायस्य टणो “राहुबस्त्रौ” [३।४।२६]
इत्युप् । अत्रान्तरङ्गत्वात्प्रागेव सान्तो भविष्यतीति प्रतिषेधोऽनर्थकः । नैवं शङ्क्यम् अनुपीति विषयनिर्दे-
शादुन्विषये प्रतिषेधः । हृद्ग्रहणं किम् ? सुबुन्विषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चगवमिच्छति पञ्चगवीयति ।
उग्रग्रहणं किम् ? हृतः भ्रवणविषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूपम् । पञ्चगवमयम् ।
हृदर्थे रसे कृते टः सान्तः । “हेतुमसुष्याद्वा रूप्यः” । [३।३।५५] “मषट्” [३।३।६६] इति
रूप्यमयटौ ।

उरसोऽग्रे ॥४।२।९५॥ अग्रं प्रधानम् । अग्रे वर्तते य उरःशब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति । हस्तिनामुरः
हस्त्युरसम् । अश्वोरसम् । रथोरसम् । समानाधिकरणे वा षसः । हस्तिन इवोरसः हस्त्युरसम् । यथा देहाव-
यवानाम् उरोऽग्रम् प्रधानम् एवमिहाप्युरःशब्देन प्रधानभूतं विवक्षितम् । अग्रे इति किम् ? पुरुष-
स्योरः पुरुषोरः ।

सरोऽनोऽश्मायसः खुजात्योः ॥४।२।९६॥ सरस्, अनस्, अश्मन्, अयस्, इत्येवमन्तात्वा-
ष्टो भवति खुविषये जातौ च । जलसरसमिति संज्ञा । मण्डूकसरसमिति जातिः संज्ञा वा । महानसमिति
संज्ञा । उपानसमिति जातिः संज्ञा वा । स्थूलाश्मः । अमृताश्म इति जातिः । पिपडाश्म इति संज्ञा
जातिर्वा । कनकाश्म इति जातिः । लोहितायस इति संज्ञा जातिर्वा । कालायसमिति जातिः । खुजात्योरिति
किम् ? परमसरः ।

ग्रामकौटाभ्यां तद्वत् ॥४।२।९७॥ ग्राम कौट इत्येताभ्यां यस्तद्वत्शब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति ।
ग्रामस्य तच्चा ग्रामतद्वत् । कुट्यां भवः कौटः, कौट्यचासौ तच्चा कौटतद्वत् । स्वायत्तकर्माजीवीत्यर्थः । ग्राम-
कौटभ्यामिति किम् ? राजस्तच्चा राजतच्चा ।

शुनोऽन्ते ॥४।२।९८॥ अतिशब्दात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्वाष्टो भवति । अतिक्रान्तः श्वान-
मतिश्चो वराहः । अतिश्चो नीचजनः ।

उपमानात् ॥ ४।२।९९॥ उपमीयतेऽनेन्युपमानम् । उपमानात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्ताष्टो भवति ।
न्याप्त इव श्वा व्याप्तश्चः । सिंहश्चः । मयूरवर्धसकादित्वात्षसः ।

अजीवे ॥४।२।१००॥ पूर्वसूत्रे उपमानग्रहणं पूर्वपदविशेषणम् । इह शुनो विशेषणम् । अजीवे
वर्तते यः श्वशब्द उपमानवाचो तदन्तात्वाष्टो भवति । आकर्षः श्वा इव आकर्षश्चः । फलकश्चः । “व्याघ्रैरुप-
मेयोऽन्तधनो” [१।३।५१] इति सः । अजीव इति किम् ? वानरोऽयं श्वा इव वानरश्च ।

मृगोत्तरपूर्वात्सकथनः ॥४२।१०१॥ मृग, उत्तर, पूर्व इत्येतेभ्यः परो यः सक्थिशब्दस्तदन्तात्पादो भवति । मृगस्य सक्थि मृगसकथम् । उत्तरसकथम् । पूर्वसकथम् । उपमानादिति वर्तते । फलकमिव सक्थि फलकसकथम् । “विशेषणम्” [१३।५२] इत्यादिना पसः ।

नावो रात् ॥४२।१०२॥ नौशब्दान्ताद्वाटो भवति । द्वयोर्नावोः समाहारो द्विनावम् । पञ्चनावम् । पञ्चनावप्रियः । द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूपम् । द्विनावमयम् । अद्दुपीत्यनुवर्तते । पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः । आर्हीत्यस्य ठणः “रादुबलौ” [१३।१२६] इत्युप् । रादिति किम् ? परमनौः ।

अर्द्धाच्च ॥४२।१०३॥ अर्द्धाच्च परो यो नौशब्दस्तदन्तात्पादो भवति । अर्द्धं च सा नौश्च अर्द्धनादी । “विशेषणम्” [१३।५२] इत्यादिना सः । लोकाश्रयं नपुंसकलिङ्गमपि दृश्यते । अर्द्धनावमिति ।

खार्या वा ॥ ४२।१०४॥ खारीशब्दान्ताद्वाटो भवति । द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम् । यदा यो न भवति तदा “प्रो नपि” [११।१७] इति प्रादेशः । द्विखारि । केचित्तुलिङ्गं पठन्ति । तेषां “स्त्रीगोर्नीचः” [११।१८] इति प्रादेशे द्विखारिरिति । पञ्चखारप्रियः । पञ्चखाररूपम् । पञ्चखारीरूपम् । पञ्चखारमयम् । पञ्चखारीमयम् । पञ्चसु खारीषु भवः पञ्चखारी । टपन्ने ङी मिद् एव । इहार्द्धादिति वर्तते । अर्द्धशब्दान्परो यः खारीशब्दस्तदन्तात्पादो भवति । अर्द्धखारम् । अर्द्धखारी ।

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥४२।१०५॥ द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्ताद्वाटो भवति । द्वयोरञ्जल्योः समाहारो द्वयञ्जलम् । त्र्यञ्जलम् । द्वयञ्जलं वनम् । त्र्यञ्जलरूपम् । द्वयञ्जलमयम् । केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति । तेन द्वयञ्जलिः । त्र्यञ्जलप्रियः । इहाद्दुपीति वर्तते । ह्रदुपि न भवति । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्वयञ्जलिः । रादित्येव । द्वयोरञ्जलिः द्वयञ्जलिः ।

ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः ॥४२।१०६॥ राष्ट्रेभ्यः परो यो ब्रह्मन्शब्दस्तदन्तात्पादो भवति । रादिति निवृत्तम् । अवन्तिषु ब्रह्मा अवन्तिब्रह्मः । सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः । ईदिति योगविभागात्सः । राष्ट्रेभ्यः किम् ? देव-ब्रह्मा नारदः ।

कुमहद्भ्यां वा ॥४२।१०७॥ कुमहद्भ्यां परो यो ब्रह्मस्तदन्तात्पादो भवति । कुब्रह्मः । कुब्रह्मा । महाब्रह्मः । महाब्रह्मा ।

द्वन्द्वान्चुदहपो रार्थं ॥४२।१०८॥ रार्थः समाहारः । द्वन्द्वाद्वार्थं वर्तमानाच्चवर्गदकारहकार-पकारान्ताद्वाटो भवति । वाक्च त्वक्च वाक्त्वक्चम् । श्रीस्त्रजम् । वाय्वदम् । छत्रोपानहम् । वाग्विप्रुषम् । द्वन्द्वादिति किम् ? पञ्चानां त्वचां समाहारः पञ्चत्वक् । चुदहप इति किम् ? वाक्त्ररित् । रार्थं इति किम् ? छत्रोपानहौ ।

हे शरदादेः ॥४२।१०९॥ शरदाद्यन्ताद्वाटो भवति हसे । शरदादियु ये भवन्तास्तेषां “गिरिनदी-पौर्णमास्याग्रहायणीकृत्यः” [४२।११२] इति वा टः प्रातो नित्यार्थमिदं ग्रहणम् । हाधिकारः प्राग्वसाधि-कारात् । शरदः समीपमुपशरदम् । प्रतिशरदम् । “लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रर्तते” [१३।११] इति हसः । शरद् । विपाश् । अनस् । मनस् । उपानह् । उपासद् । दिश् । दिव् । हिक् । कियत् । चतुर । हिमवत् । अनडुह् । तद् । यद् । जराया जरस् च । दृश् च । प्रतिपरसमनुभ्योऽक्षणः । पथिन् ।

अनः ॥४२।११०॥ अनन्ताद्वाटो भवति । अभ्यात्मम् । प्रत्यात्मम् । उपराजम् । परिराजम् ।

नपो वा ॥४२।१११॥ अन इति वर्तते । अवन्तं यन्नप् तदन्ताद्वाटो भवति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । उपचर्मम् । उपचर्म । उपकर्मम् । उपकर्म ।

गिरिन्दीपौर्णमास्याग्रहायणीभयः ॥४।२।११२॥ वेति वर्तते । गिरि नदी पौर्णमासी आग्रहायणी भय इत्येवमन्ताद्वा यो भवति । गिरेरन्तरन्तगिरम् । अन्तर्गिरि । तिष्ठद्वादित्वात्सविधिः । अथवा विभक्त्यर्थे हसः । बहिर्गिरम् । बहिर्गिरि । “पर्यपाङ् बहिरन्ववः” [१।३।१०] । उपनदम् । उपनदि । नपि प्रः । उप-पौर्णमासम् । उपपौर्णमासि । उपाग्रहायणम् । उपाग्रहायणि । भयः-उपसमिवम् । उपसमिन् । उपदृष्टम् । उपदृष्टम् ।

स्वाङ्गाद्रेऽक्षिसक्थनः ॥४।२।११३॥ स्वाङ्गशब्दाद् यौ अक्षिसक्थिशब्दौ तदन्तात् वाटो भवति । ह इति वेति च निवृत्तम् । कल्याणेऽक्षिणी अस्य कल्याणाद्वा । विशालाक्षी । गौरे सक्थिनी अस्य गौरसक्थः । स्वक्षः इत्यत्र “न स्वत्किमः” [४।२।१६] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति ? षष्ठस्य ग्रहणं तत्र व्याख्यातमित्यदोषः । स्वाङ्गादिति किम् ? स्थूलाक्षिरिक्तुः । दीर्घउक्थि शक्यम् । अप्राणिस्तस्य स्वाङ्गस्य न भवति । व इति किम् ? उक्तमाक्षि । आपादपरिसमाप्तैसाधिकारः प्रत्येतव्यः ।

दुरयङ्गुलेः ॥४।२।११४॥ इ दार । अङ्गुलिशब्दान्ताद्वाटो भवति दारयमिधेये । द्वे अङ्गुली अस्य द्यङ्गुलं दार । व्यङ्गुलम् । चतुरङ्गुलम् । धान्यानां विक्षेपणम् अग्रेऽङ्गुलीसदृशावयवं काष्ठं दार तदिह गृह्यते । यत्तु द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्यङ्गुलं दार । तत्र हृदये वसे कृते “अङ्गुलेर्भिसंख्यादेः” [४।२।१६] इत्यः सान्तः । मात्रदश्वोप । दुरीति किम् ? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः ।

द्वित्रिभ्यां मूर्धः ॥४।२।११५॥ द्वित्रिभ्यां परो यो मूर्धन्शब्दस्तदन्ताद्वाटो भवति । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः । सान्तो विधिरनित्य इति तेन द्विमूर्धा । त्रिमूर्धा ।

डत्स्त्रीप्रमाणयोरः ॥४।२।११६॥ ट इति निवृत्तम् , त्यान्तरोपादानात् । डडन्ता येस्त्रीशब्दाः प्रमाणी-शब्दश्च तदन्ताद्वा अस्त्यो भवति । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । कल्याणीदशमा भार्या । स्त्री प्रमाणी येषां स्त्रीप्रमाणाः । कल्याणी प्रमाणो आसां कल्याणप्रमाणा भार्याः । डत्स्त्रीग्रहणस्यावकाशः कल्याणीद्वितीया । कल्याणीतृतीया । कल्याणीपञ्चमा रात्रय इति । डत्स्त्रियां प्रधानस्त्रीग्रहणं कर्तव्यम् । अन्यपदार्थवाच्यानां डडन्ता स्त्री प्रधानं यदि भवति तदायं सान्तो भवतीत्यर्थः । अडट् प्रियादाविति पुंवद्भावप्रतिषेधोऽप्यस्मिन्नेव विषये वक्ष्यते । तेनेह सान्तः पुंवद्भावप्रतिषेधश्च न भवति । कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् पदे कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति । “नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्” [वा०] । मृगो नेता आशां रात्रीणां मृगनेत्राः । पुष्यनेत्राः । नक्षत्रादन्यत्र न भवति । देवदत्तनेतृकं सैन्यम् ।

लोमोऽन्तर्बहिर्भ्याम् ॥४।२।११७॥ अन्तर् बहिष् इत्येताभ्यां परो यो लोमशब्दस्तदन्ताद्वादस्त्यो भवति । अन्तर्गतानि लोमान्यस्य अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः । “मासाद्भुतित्यान्तपूर्वपदात् ठो वक्तव्यः” [वा०] पञ्च कार्षापणा भुतिरस्य मासस्य “तदस्यांशवस्नभुतयः” [३।४।५५] इत्यत्र “संख्यायाः कोऽतिशतः” [३।४।१६] इति कः । पञ्चको मासोऽस्येति वसे कृते ठः । पञ्चकमासिकः । दशकमासिकः ।

नासिकाया नश्चास्थूलात् खौ ॥४।२।११८॥ नासिकाशब्दान्ताद्वादस्त्यो भवति नश्चादेशो नासिकायाः खुविषये न चेत्यूलशब्दात्परो नासिकाशब्दः । इरिव नासिकाऽस्य दुणसः । गौरिव नासिका अस्य गोनसः । वद्धं भवा वाद्धीं नासिका अस्य वाद्धीणसः । “बिण्दुधदरक्तविकारे” [४।३।१५१] इति पुंवद्भावप्रतिषेधः । सर्वत्र “पूर्वपदात्खावागः” [५।४।८७] इति शत्वम् । स्थूलादिति किम् ? स्थूलनासिकः । खाविति किम् ? तुङ्गनासिकः । “खुरखराभ्यां वा नस् वक्तव्यः” [वा०] खरस्येव नासिकाऽस्या अर्चनायाः खरणाः । खुरणाः । पक्षे अस्त्यो भवति खरणसः । कथं शिति नासिकाऽस्य शितिनाः । अहिरिव नासिकाऽस्य अहिनाः । अर्चाया इव नासिकाऽस्य अर्चनाः । “त्वे ङयायोः क्वचित् खौ च” [४।३।१७३] इति प्रः । पचङ्गान्दसा एते शब्दास्तदत्रापि नस् वक्तव्यः ।

गेः ॥४१२११६॥ गेः परो यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्वादस्त्यो भवति । नश्चादेशः अयमलुविषये विधिः । उन्नता नासिकाऽस्य उन्नतः । प्रवृद्धा नासिकाऽस्य प्रणसः । “एत्वविधौ गेर्नस उपसंख्यानम्” [वा०] इति एत्वम् अत्ये । “वेः ख्वादेशो वक्तव्यः” [वा०] विगता नासिकाऽस्य विबुः ।

सोः प्रातर्दिवाशब्दसः ॥४१२१२०॥ सोः परे ये प्रातर्, दिवा, शब्दश्चब्दास्तदन्ताद्वादस्त्यो भवति । शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः । “केर्ममात्रे टिखम्” [वा०] इति टिखम् । विग्रहवाक्ये शोभनमिति नपुसकत्वं गम्यमानकर्मापेक्षम् । शोभनं प्रातःकाले कर्मास्त्येत्यर्थः । एवं शोभनं दिवा अस्येति सुदिवः । शोभनं शब्दस्य सुश्वः ।

प्रोष्ठैर्यजात्पदः ॥४१२१२१॥ प्रोष्ठ, एणो, अज इत्येतेभ्यः परः पदशब्दो वसे निपात्यते । प्रवृद्धोष्ठः प्रोष्ठो गौरित्यर्थः । प्रोष्ठस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः । अस्तान्तः पादशब्दस्य च पद्भावो निपात्यते । एण्या इव पादावस्य एणीपदः । अजपदः ।

चतुश्शारेरस्त्रिकुक्षेः ॥४१२१२२॥ चतुश्शारिशब्दाभ्यां परौ यौ अस्त्रिकुक्षिशब्दौ तदन्ताद्वादस्त्यो भवति । चतस्रोऽस्त्योऽस्य चतुस्तः । शारेरेव कुक्षिस्त्य शारिकुक्षः ।

नञ्दुस्सोः सक्थिहलेर्वा ॥४१२१२३॥ नञ्, दुम्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ सक्थिहलिशब्दौ तदन्ताद्वादस्त्यो वा भवति । अविद्यमानं सक्थि अस्य असक्थः । असक्थिः । दुस्तसक्थः । दुस्तसक्थिः । सुसक्थः । सुसक्थिः । महद्वलं हलिः । अविद्यमानो हलिस्त्य अहलः । अहलिः । दुहलः । दुहलिः । सुहलः । सुहलिः । सक्थि शब्दस्थाने सक्तिशब्दं केचित्पठन्ति । सज्जनं सक्तिः ।

प्रजामेधादस् ॥४१२१२४॥ वेति नाधिकृतम् । नञ्, दुम्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्ताद्वादस्त्ययं त्यो भवति । न विद्यते प्रजा अस्य अप्रजाः । दुध्रजाः । सुप्रजाः । न विद्यते मेधा अस्य अमेधाः । दुर्मेधाः । “अल्पाच्च मेवाया इति वक्तव्यम्” [वा०] अल्पमेधाः । अल्पमेधसौ । अल्पमेधसः ।

धर्मात्केवलादन् ॥४१२१२५॥ केवलो धर्मशब्द एव यत्रोत्तरपदम् अन्यथा (म)ध्यपदं नास्ति तदन्ताद्वादस्त्ययं त्यो भवति । साधुनामिव धर्मोऽस्य साधुधर्मा । प्रियधर्मा । केवलादिति किम् ? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः । सन्दिग्धसाध्यधर्मः ।

सुहरिततृणसोमाजम्मात् ॥४१२१२६॥ जम्भशब्दो दन्तविरोधवाची अभ्यवहार्यवाची च । सु, हरित, तृण, सोम इत्येतेभ्यः परो यो जम्भशब्दस्तदन्तादनित्ययं त्यो भवति । शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा शोभनदंष्ट्रः शोभनाहारो वा । हरितमिव जम्भोऽस्य हरितानि वा जम्भान्यस्य वा हरितजम्भा । तृणमिव जम्भोऽस्य तृणानि जम्भोऽस्य वा तृणजम्भा । एवं सोमजम्भा । स्वादिभ्य इति किम् ? स्थूलजम्भः ।

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥४१२१२७॥ ईर्ममिति बहुनामधेयं व्रणनामधेयं वा । दक्षिणेर्ममिति वसोऽजन्तो निपात्यते लुब्धयोगे । दक्षिणमीर्मस्य दक्षिणेर्मा मृगः । व्याधस्य हन्तुकामस्य दक्षिणमङ्गं बहुकृत्वा स्थितः । अथवा दक्षिणमङ्गं व्रणतमस्य व्याधेनेत्यर्थः । लुब्धयोग इति किम् ? दक्षिणेर्मः पशुः ।

अ इच् ॥४१२१२८॥ अशब्देन अर्थः कर्मव्यतिहारो ग्रहणप्रतिग्रहणादिलक्षणो गृह्यते । आर्थे यो वस-स्तस्मादित्ययं त्यो भवति । चकारः तिष्ठद्वादिषु इजिति पठ्यते तत्र विशेषणार्थः । “तत्रेदमिति सरूपे” [१३१८६] “तेनेदम्” [१३१८०] इति च अर्थं वसः कर्मव्यतिहारे वर्तते । केशेषु च केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि । कचाकचि । इचस्तिष्ठद्वादिषु पाठात् हसंश्च । “अन्यस्यापि” [१३१२३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम् । दण्डैश्च दण्डैश्च इदं युद्धं दण्डादण्डि । मुसलामुसलि युद्धं वर्तते ।

द्विदण्ड्यादिः ॥४१२१२६॥ द्विदण्ड्यादयः शब्दा इजन्ता निपात्यन्ते । यथा गणे पठितास्तथैव साधवो वसेऽन्यत्र च भवन्तीत्यर्थः । द्वौ दण्डौ अस्मिन् प्रहरणे द्विदण्डिः प्रहरति । द्विमुसलि प्रहरति । क्रियाविशेषणा-
दन्यत्र न भवति । द्विदण्डा शालेति । पसेऽपि भवति । निकुच्य कर्णौ निकुच्यकर्णि धावति । आकुच्यपादौ
आकुच्यपदि शेते । मयूरख्यंसकादित्वात्पतः । पादस्य च पद्मावो निपातनात् । प्रोह्य पादौ प्रोह्यपदि हस्तिनं
वाह्यति । द्विदण्डिः । द्विमुसलि । उमाञ्जलि । उभयाञ्जलि । उमाकर्णि । उभयाकर्णि । उमाहस्ति । उभया-
हस्ति । उमागणि । उभयागणि । उमावाहु । उभयावाहु । निपातनादिचः खम् । एकपदि । प्रोह्यपदि ।
आकुच्यपदि । निकुच्यकर्णि । संहतपुच्छि ।

सम्प्राज्जानुनो ज्ञः ॥४१२१३०॥ सम् प्र इत्येताभ्यां परस्य जानुशब्दस्य ज्ञ इत्ययमादेशो भवति वसे ।
सङ्गते जानुनी अस्य संज्ञः । प्रकृते जानुनी अस्य प्रज्ञः । ज्ञ इत्युकारान्तः केषांचिदादेशः । मतद्वयमपि प्रमाणम् ।

वोऽर्ध्वान् ॥४१२१३१॥ ऊर्ध्वशब्दात्परस्य जानुशब्दस्य वा ज्ञ इत्यादेशो भवति वसे । ऊर्ध्वे
जानुनी अस्य ऊर्ध्वज्ञः, ऊर्ध्वजानुः, ऊर्ध्वजानुको वा ।

ऊधसोऽनङ् ॥४१२१३२॥ ऊधःशब्दान्तस्य वस्य अनङादेशो भवति सान्तः । कुण्डमिव ऊधोऽस्याः
कुण्डोष्णी । परत्वात्सकारस्य अनङादेशो कृते पश्चात् “ऊधसः” [३१११३] इति ङीविधिः । एवं घट इव
ऊधोऽस्या घटोष्णी । इह मा भूत् । महोधाः पर्जन्यः । अनङ्यकार उत्तरत्र सार्थकः । इह नङादेशोऽपि न दोषः ।

धनुषः ॥४१२१३३॥ धनुःशब्दान्तस्य वस्य अनङादेशो भवति । गण्डीवं धनुरस्य गण्डीवधन्वा ।
अजगवधन्वा । शार्ङ्गधन्वा ।

वा खौ ॥४१२१३४॥ धनुःशब्दान्तस्य वस्य वा अनङादेशो भवति सान्तः खुविषये । पूर्वैर्ण नित्ये
प्राते विभाषेयम् । ददं धनुरस्य ददधन्वा । ददधनुः । पुष्पधन्वा । पुष्पधनुः ।

जायाया निङ् ॥४१२१३५॥ जायाशब्दान्तस्य वस्य निङादेशो भवति । युवतिर्जाया यस्य युवजानिः ।
वधूजानिः । आकारस्य निङादेशः । “वलि व्योः खम्” [३१३५५] इति यकारस्य खम् ।

गन्धस्येरुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥४१२१३६॥ उत्, पूति, सु, सुभि इत्येतेभ्यः परस्य गन्धशब्दस्य
इकार आदेशो भवति सान्तो वसे । उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः । पूतिर्गन्धोऽस्य पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । सुभि-
गन्धिः । अयं गन्धशब्दोऽस्त्येव गुणवचनः । तद्यथा उत्पलगन्धः । चन्दनगन्ध इति । अस्ति द्रव्यवचनः ।
तद्यथा गन्धान् पिनष्टीति । तद्यो मुख्यो गुणवचनस्तस्य ग्रहणम् । तेनेह न भवति । शोभनो गन्धोऽस्य
सुगन्ध आपणिकः ।

अल्पाख्यायाम् ॥४१२१३७॥ अल्पपर्यायो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य वस्य वा इकारादेशो भवति
सान्तः । अभिधानवशाद् व्यधिकरणोऽत्र वसः । अन्नस्य गन्धोऽस्मिन् अन्नगन्धिः । अन्नगन्धम् । घृतगन्धिः ।
घृतगन्धम् । भोजनम् । अथवा अन्नं गन्धोऽल्पमस्मिन्निति समानानिकरणो वसः ।

उपमानात् ॥४१२१३८॥ उपमानात्परो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य वस्येकारादेशो भवति । पद्मस्य गन्ध
इव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः । पद्मगन्धः । उत्पलगन्धः । उत्पलगन्धिः ।

खं पादस्याहस्यादेः ॥४१२१३९॥ वेति निवृत्तम् । उपमानादिति वर्तते । हस्त्यादिर्वर्जितदुपमाना-
त्यस्य पादशब्दस्य खं भवति । वसे सान्त इत्यनुवर्तनात् इह “परस्यादेः” [१११५१] इति एषा परिभाषा
नोपतिष्ठते । व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपाद् । सिंहपाद् । अहस्त्यादेरिति किम् ? हस्तिन इव पादावस्य हस्तिपादः ।
कपोत(लक) पादः । हस्तिन् । कपोलक । गण्डोलक । गण्डयक । महिला^१ । दासी । गणिका । कुसूल ।

सुसंख्यादेः ॥४१२१४०॥ सुश्च संख्या च सुसंख्ये ते आदी यस्य तस्य स्वादेः संख्यादेश्च पाद-
शब्दस्य खं भवति वसे ! शोभनो पादावस्य सुपाद् । द्वौ पादावस्य द्विपाद् । त्रिपाद् । चतुष्पाद् ।

कुम्भपद्यादिः ॥४१२१४१॥ कुम्भपदीप्रभृतयः शब्दा निपात्यन्ते । कचिद्वेऽपि खे कृते “पादो वा”
[३१११५] इति ङीविकल्पे प्राप्ते नित्यो ङीविधिर्निपात्यते । कुम्भ इव पादावस्या कुम्भपदी । एकः पादोऽस्या
एकपदी । शितिपदी । सूत्रपदी । सूत्रसितपदी । सितसूत्रपदी । गोधापदी । जालपदी । जलपदी । कलशपदी ।
विपदी । सुपदी । निष्पदी । आर्द्रपदी । द्रोणपदी । कुटीपदी । कृष्णपदी । सूकरपदी । मुनिपदी । शकुन्पदी ।
अष्टापदी ।

वयसि दन्तस्य दत् ॥४१२१४२॥ सुसंख्यादेरिति वर्तते । स्वादेः संख्यादेश्च दन्तशब्दस्य दत्
इत्ययमादेशो भवति वसे वयसि गम्यमाने । शोभना दन्ता अस्य सुजाता वा सुदन् कुमारकः । द्वौ दन्तावस्य
बालकस्य द्विदन् । त्रिदन् । चतुर्दन् । वयसीति किम् ? सुदन्तो दाक्षिण्यतः । चतुर्दन् ऐरावतः ।

खियां खौ ॥४१२१४३॥ ब्रील्लिङ्गेऽन्यपदार्थे दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति सान्तः खुविपये ।
अय इव दन्ता अस्या अयोदती । फालदती । त्रियामिति किम् ? नागस्येव दन्ता अस्य नागदन्तको नाम
कश्चित् । खाविति किम् ? समदन्ती । “नासिकोदरोष्ठ” [३११४०] इत्यादिना ङीविधिः ।

वा श्यावारोकात् ॥४१२१४४॥ स्त्रियामिति निवृत्तम् । खाविति वर्तते । श्याव अरोक इत्येताभ्यां
परस्य दन्तशब्दस्य वा दत् इत्ययमादेशो भवति सान्तो वसे । श्यावा दन्ता अस्य श्यावदन् । श्यावदन्तः । अरोका
निशिङ्घ्राः निर्दीप्तयो वा दन्ता अस्य अरोकदन् अरोकदन्तः ।

शुद्धाग्रान्तशुभ्रवृषवराहात् ॥४१२१४५॥ खाविति निवृत्तम् । वेति वर्तते । शुद्ध, अग्रान्त, शुभ्र,
वृष, वराह इत्येतेभ्यः परस्य दन्तशब्दस्य दत् इत्ययमादेशो भवति वसे सान्तः । शुद्धा दन्ता अस्य शुद्धदन्,
शुद्धदन्तः । कुड्मलाग्रमिव दन्ता अस्य कुड्मलाग्रदन् । कुड्मलाग्रदन्तः । शिखराग्रदन् । शिखराग्रदन्तः ।
शुभ्रदन् । शुभ्रदन्तः । वृषदन् । वृषदन्तः । वराहदन् । वराहदन्तः । “अन्येभ्योऽपि भवतीति षक्यम्”
[वा०] अहिदन् । अहिदन्तः । मूषिकादन् । मूषिकादन्तः ।

ककुदस्यावस्थायां खम् ॥४१२१४६॥ कालादिकृतो बालादिभावोऽवस्था । ककुदशब्दान्तस्य खं
भवति सान्तः अवस्थायां गम्यमानायाम् । असञ्जातं ककुदमस्य असञ्जातककुत् । पूर्णककुद् । वृद्ध इत्यर्थः ।
यष्टिककुद् । मध्यशरीर इत्यर्थः । अवस्थायामिति किम् ? श्वेतककुदः । कथं ककुद्भानिति ? यावादिपु हलन्ता-
न्निपातनात्सिद्धम् ।

अद्रौ त्रिककुद् ॥४१२१४७॥ अद्रावन्यपदार्थे खं निपात्यते । त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुद् । अद्रे-
रियं संज्ञा । अन्यत्र त्रिककुद् इति भवति ।

व्यूदः काकुदान्तात् ॥४१२१४८॥ वि उद् इत्येताभ्यां परस्य काकुदशब्दस्य खं भवति सान्तं वसे । विशिष्टं
काकुदमस्य विकाकुद् । उत्कृष्टं काकुदमस्य उत्काकुत् ।

पूर्णाद्रौ ॥४१२१४९॥ पूर्णशब्दात्परस्य काकुदस्य वा खं भवति सान्तं वसे । पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

सुहृद्दुर्हदौ मित्रामित्रयोः ॥४१२१५०॥ सुहृद् दुर्हृद् इत्येते शब्दौ निपात्येते यथासंख्यं मित्रामित्र-
योरभिधेययोः । सुदुस्शब्दाभ्यां परस्य हृदयशब्दस्य वसे हृदादेशो निपात्यते । शोभनं हृदयमस्य सुहृद् मित्रम् ।
दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृदमित्रम् । मित्रामित्रयोरिति किम् ? सुहृदयः साधुः । दुर्हृदयः खलः ।

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥४१२१५१॥ उरःप्रभृत्यन्ताद् वात्कचित्यर्थं त्यो भवति सान्तः । व्यूदमुरोऽस्य
व्यूदोरस्कः । “कुन्वोस्त्ये” [५१२१६] इति रेफस्य सत्वम् । प्रभूतसर्पिष्कः । “इणः षः” [५१२१७] इति षत्वम् ।

चित्रोपानत्कः । उरत् । सर्पिण् । उपानह् । पुमान् । अनड्वान् । पुमानित्येवमादयः पञ्चशब्दा विभक्त्यन्ताः पठ्यन्ते । एकवचनान्तानामेव यथा स्यात् । द्विवचनबहुवचनान्तानां मा भूत् । तत्र “शेषाद्वा” [४।२।१५४] इति विकल्प एव भवति । द्विपुंस्कः । द्विपुमान् । बहुपुंस्कः । बहुपुमान् । दरी । “ऋन्मोः” [४।२।१५३] इत्येव सिद्धः किमर्थं दरीशब्दः पठ्यते ? “सहेति तुल्ययोगे” [१।३।६१] इतीदं सूत्रं कवभावार्थमित्यस्मिन् पक्षे कग्रहणार्थमिदं वचनम् । दधि । मधु । शालि । अर्थान्नजः । कथमयं प्रयोगः । “अन्यथैवंकथमित्थं-स्वनर्थात्” [२।४।१३] इति सौत्रोऽयम् ।

इनः स्त्रियाम् ॥४।२।१५२॥ इनन्ताद् वात् कवित्यर्थं ल्यो भवति स्त्रियामन्यपदार्थे । बहवो दरिड-नोऽस्यां बहुदरिडका । एवं बहुस्वामिका । बहुवाग्मिका । स्त्रियामिति किम् ? बहुदरिडी ग्रामः । बहुदरिडको वा । **ऋन्मोः ॥४।२।१५३॥** ऋकारान्तानुसंज्ञान्ताच्च वात्कम् भवति सान्तः । बहुकर्तृकः । तकार उच्चारणार्थः । बहुकुमारिकः । बहुब्रह्मबन्धूकः ।

शेषाद् वा ॥४।२।१५४॥ यस्माद्वात्सान्तो न विहितः स शेषः । शेषाद्वात् वा कम् भवति सान्तः । बह्वयः खट्वा यस्य सः बहुखट्वाकः । बहुखट्वः । “ऋक्पूर्वभूः” [४।२।७०] इत्यादिना सूत्रेण विशेषो व्याख्यातः । “अनुचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरणे स्मृतः” ततोऽन्यत्रायं विकल्पः । अनुक्कम् साम । अनुक् साम । बह्वृक् संसृक्तम् । बह्वृक्संस्कृतम् । शेषादिति किम् ? प्रियपुरः । प्रियपथः ।

न खौ ॥४।२।१५५॥ खुविषये वात् कम् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य कपोऽयं निषेधः नामग्र(प्रा)-मः ? “ ” । विश्वदेवः । विश्वयशाः । श्वेता अश्वतयो यस्य श्वेताश्वतिः ।

ईयसश्च ॥४।२।१५६॥ ईयसन्ताद्वात्कम् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । बहवः श्रेयांसोऽस्मिन् बहुश्रेयान् । विद्यमानश्रेयान् । “शेषाद्वा” [४।२।५४] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [वा०] बह्वयः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । “ऋन्मोः” [४।२।५३] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । अत्र “ओगोनीचः” [१।१।८] इति प्रादेशोऽपि न भवति । उक्तं हि तत्र—“ईयसो बसे पुंवद्भाववचनम्” [वा०] । नात्र पुंवद्बचनेन स्त्रीत्यस्य निवृत्तिरिष्टा किं तर्हि यथा पुंसि ईकारस्य प्रादेशो न भवति । ग्रामणी देवदत्त इति । एवमीकतः परस्यापि स्त्रीत्यस्य । अथवा प्रश्लेषनिर्देशात् ईकारः सिद्धः । ई ईयसः ईयस इति । चकारः स्त्रियामित्यस्यानुकर्षणार्थः । तेन स्त्रियामीकारो भवति । न प्रादेश इति ।

स्तुते भ्रातुः ॥४।२।१५७॥ स्तुतं पूजितमित्यर्थः । स्तुतेऽर्थे यो भ्रातृशब्दस्तदन्ताद्वात्कम् भवति । शोभनो भ्राता यस्य सुभ्राता । दर्शनीयभ्राता । स्तुत इति किम् ? दुर्भ्रातृकः । मूर्खभ्रातृकः ।

नाडीतन्व्योः स्वाङ्गे ॥४।२।१५८॥ स्वाङ्गमिह पारिभाषिकम् । स्वाङ्गे यौ नाडीतन्वीशब्दौ वर्तन्ते तदन्ताद्वात्कम् भवति । बह्वयः नाड्योऽस्मिन् बहुनाडिर्देहः । बहुनाडिर्जङ्घा । बह्वयः तन्व्यो धमन्योऽस्या बहुतन्वीर्गीवा । स्त्रीत्यो न भवतीति प्रादेशो नास्ति । स्वाङ्ग इति किम् ? बहुनाडीकः स्तम्भः । बहुतन्वीका वीणा ।

निष्प्रवाणिः ॥४।२।१५९॥ प्रकर्षेण ऊयतेऽस्यामिति प्रवाणीति निपात्यते । निर्गता प्रवाणी अस्य निष्प्रवाणिः कम्बलाः । प्रत्यग्र इत्यर्थः । “ऋन्मोः” [३।२।५३] इत्यस्य प्रतिषेधः । ये तु प्रवाणीशब्दमिकारान्तं पठन्ति तेषां “शेषाद्वा” [४।२।५४] इत्यस्य प्रतिषेधः । “त्यः” [२।१।१] “परः” [२।१।२] “ङ्याम्मृदः” [३।१।१] इत्येषामधिकाराणामिदमवसानम् ।

इत्यभग्ननिदिविचित्तायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

आदेरेकाचो द्वे ॥४१३१॥ आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् । यदित ऊर्ध्वं वक्ष्याम आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “लिङ्गुक्कचिधोः” [४१३७] धोगदेरवयवस्यैकाचो द्वे भवतः । पपाच । जुहोति । अपीपठत् । एकोऽच् अवयवोऽस्य सोऽयमेकाच् । अवयवेन विग्रहः, समुदायो वृत्त्यर्थः । तद्गुणविवक्षाने वसे समुदायान्तर्भूतोऽवयव इति साचक्रस्य द्वित्वम् । परत्वादपि कृते पाच्छब्दस्य शब्दतोऽर्थतश्चान्तरात्तमौ द्वौ पाच्छब्दौ । द्विःप्रयोगश्च द्वित्वम् । स्थाने हि द्वित्वे जिघांसतीत्यत्र शब्दान्तरत्वाद्धन्तेः कुत्वं न स्यात् । आदेरिति किम् ? जजागार । इत्यनाद्यस्य माभूत् । एकाच् इति किम् ? हल्मात्रस्य माभूत् । पपाचेत्यत्रादित्वं ध्वनिदेशिवद्भावेन यथा प्रथमगर्भेण हता नारी । इयाय आरेत्यत्र एकाच्चवमपि उपचारात् । यथा स्थूलशिरा राहुरिति ।

अचः ॥४१३२॥ इहादेरित्यचो विशेषणम् । आदेः परस्यैकाचो द्वे भवत इत्यधिक्रिये । आटिटिपति । अटायते । आटिटत् । सत्यपि सम्भवे आदेशद्वित्वस्य बाधकमिदम् । दधिदानस्येव तक्रदानम् । शास्त्रेऽपि द्वीप इत्यत्र “द्वयनर्गेरीदपः” [४१३२०२] इत्ययमादिविकारोऽन्त्यविकारस्य बाधकः । यथाऽद्यस्याचो द्वित्वं न भवति तथा व्यञ्जनस्यापीति न दोषः ।

न स्फादौ न्द्रोऽयि ॥४१३३॥ इहादेरच इति वर्तते । आदेरचः परे स्फादौ वर्तमाना नकारदकारेफा न द्विरुच्यन्ते अयकारे । इन्दिदिषति । उन्दिदिषति । आङ्गिडिपति । अर्चिचिपति । उज्जिजिपति । इत्यत्र दकारोऽपत्ते चुना योगे च “उद्रेः” इति ब्रह्ममुक्तम् । तस्यासिद्धत्वात्प्रतिषेधः । अभ्युद्र इत्यत्र कुत्वस्य सिद्धत्वाद्धत्वं न भवति । “ईर्ष्यतेस्त्वृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्” [वा०] केचिदाहुस्त्वृतीयस्यैकाच् इति । तेन सनो द्वित्वे ईर्ष्ययिषति । अपर आहुस्त्वृतीयस्य हल इति । ईर्ष्ययिषति । “कण्डवादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवतिः” [वा०] कण्डूययिषति । “सुब्धूनांच तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति” । [वा०] अश्वययिषति । अपर आहुः । “यथेष्टं सुब्धुषु वक्तव्यम्” [वा०] पुपुत्रीयिषति । पुतित्रीयिषति । पुत्रीययिषति ।

थः ॥४१३४॥ द्वे इति वर्तते । तस्य संज्ञित्वम् । ते द्विरुक्ते समुदिते थसंज्ञे भवतः । ददति । ददतु । अददुः । दधति । दधतु । अदधुः । थसंज्ञायां सत्याम् भूत्स्य “अत्थात्” [५११४] इत्यदादेशः । “थस्नोरातः” [४१३१००] इत्याकारस्य खम् । लडो भेः “थक्त्सेः” [२१४१८८] इति भूत्स्योष् । समुदायस्य थसंज्ञायां किं प्रयोजनम् ? चस्य खे मा भूत् । ईप्सन्ति । ऐप्सन् । प्रत्येकं पर्यायेण चःमाभूत् । थप्रदेशः । “थक्त्सेः” [२१४१८८] इत्येवमादयः ।

जक्षित्यादयः ॥४१३५॥ जक्षित्यादयश्च पञ्च थसंज्ञका भवन्ति । जक्षति । जक्षतु । अजक्षुः । जाग्रति । दरिद्रति । चकासति । शासति । जक्षितैस्तिपीटं कृत्वा गुहनिर्देशः किम् ? “हृदादेर्ग” [५१११३५] इत्यत्र पञ्चग्रहणमनुवर्तते इति ज्ञापनार्थः ।

पूर्वश्च ॥४१३६॥ द्विरुक्तयोः पूर्वोऽवयवश्चसंज्ञो भवति । पपाच । पिपक्षति । पापच्यते । अपीपचत् । चसंज्ञायां सत्यां प्रादेशः । “सन्त्यतः” [५२११७६] इत्यम् । “हलोऽनादेः” [५२११६१] खम् । “दीरकितः” [५२११८०] इति “वेदीः” [५२११६०] प्रकृतिचरां प्रकृतिचर इत्यादि कार्यम् । चप्रदेशः “चस्यात्र खम्” [५२११६०] इत्येवमादयः ।

लिङ्गुक्कचि धोः ॥४१३७॥ लिटि, उचि, कचि च परतः धोरादेरवयवस्यैकाचोऽचः परस्य च द्वे भवतः । पपाच । प्रोणुं नाव । उचि—जुहोति ! विभेति । उचि बुद्धिकृतं पौर्वापर्यम् । उक्तं च—

“सर्वाश्चेष्टा बुद्धौ कृत्वा वक्ता धीरस्तन्वन्नीतिः ।

शुब्देनार्थान्वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौर्वापर्यम् ॥”

कचि—अपीपचत् । पचेर्णिचि लुङि कचि च कृते णिखमुङः प्रादेशो द्वित्वम् । एवं हि योऽनादिश्चदचः पूर्वस्तं

प्रति स्थानिवद्भाव इति धौ कच्यनक्त्वे सन्वदिति धौ परतः सन्वद्भावो विधीयमानः प्रस्य स्थानिव [द्भावान्नं प्रतिपिब्यते ।

सन्वडोः ॥४१३८॥ ये प्यस्य पुत्रपत्योर्जिः ॥४१३९॥ बन्धौ वे ॥४१३१०॥ वचिस्वपियजा-
दीनां किति ॥४१३११॥ ग्रहिज्यावयिव्यधिवशिचित्रश्चिप्रच्छिभ्रजां डिति च ॥४१३१२॥]

नर्थकः । यडुवन्तस्य प्रकृतिवद्भावो यडोऽन्यस्मिन्नेति तिपा निवर्त्यो यथास्तिभवत्योर्मिडोति यडु वन्तस्य मिड्येदूप्रतिषेधो मा भूत् । वोमजीति । इह तु यडुपि त्यक्त्वे त्याश्रयमिति प्राग् द्वित्वाजिर्भवत्येव । वेवेक्ति । वर्धेति । वर्धेज्जीति ।

चक्ष्यैषां लिटि ॥४१३१३॥ एषां वच्यादीनां लिटि परतश्चस्य जिर्भवति । उवाच । उवचिथ । इयाज । इयजिथ । उवाप । उवपिथ । सुवाप । सुवपिथ । जिज्यौ । जिज्याथ । वेजः स्थानिवद्भावेन उवाय । उवयिथ । उवास । उवसिथ । विव्याध । विव्यधिथ । विव्याच । विव्यचिथ । ग्रहिभ्रस्त्रजच्छामविशेषः । ब्रश्चेतु वग्रश्च वग्रश्चिथ “न जौ जिः [४१३११] इति वकारस्य न भवति । पिदर्धमिदम् । किन्तु परतः परत्वा-
जौ कृते द्विवम् । ऊचतुः । ऊचुः । अनन्तरपरिभाषा ह्यनित्या । अधिकाराद्वच्यादीनामेव ग्रहणे सिद्धे एषां ग्रहणं चखनिवृत्त्यर्थम् ।

कचि स्वापेः ॥४१३१४॥ कचि परतः स्वापेर्जिर्भवति । असूपुपत् । असूपुपताम् । असूपुपन् । स्वपेर्णि-
चि लुङि कचि च कृते द्वित्वात्परत्वादनेन जिः । “व्युङः” [४१३१३] एप् । “शौ कच्युङः” [४१३११५]
इति प्रादेशो द्वित्वम् । घेर्दीत्वम् । कचोति किम् ? स्वापितः । स्वाप्यते । स्वापेरिति किम् ? स्वपेरित्युच्यमाने
वचनात्केवलादपि कच् स्यात् । स्वापं करोतीत्यत्रापि केचिदिच्छन्ति । केवलमकितः (कवतः) सन्वद्-
भावाभावात् घेर्दीत्वं न भवति । अमुपुपत् ।

स्वपिस्यमिवेजं यङि ॥४१३१५॥ स्वपि स्यमि व्येज् इत्येतेषां यङि जिर्भवति । सोसुप्यते । सेसिम्यते ।
वेदीयते । स्वपिव्येजोः किति जिर्विहितः । यङि सर्वेषामप्राप्ते विधिः । “वशेर्यङि प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०]
वावश्यते । “ग्रहिज्यावशि” [४१३१२] इति पाठे प्राप्तिः । यङीति किम् ? स्वप्नः ।

चायः कीः ॥४१३१६॥ चायः की इत्ययमादेशो भवति यङिः परतः । चेकीयते । चेकीयेते । चेकीयन्ते ।
दीत्वोच्चारणं किम् ? “दीरकृद्गे” [४१३१३४] इति यत्र दीत्वं नास्ति तत्र यडुपि श्रवणार्थम् । चेकीतः ।
चेकीथः ।

स्फायः स्फीस्ते ॥४१३१७॥ स्फायः स्फी इत्ययमादेशो भवति तसंज्ञे परतः । स्फीतः । स्फीतवान् ।
त इति किम् ? स्फाय्यते । स्फातिः । स्फीतीभवतीति च्यन्तस्य रूपम् ।

प्रपूर्वस्य स्यः ॥४१३१८॥ ते इति वर्तते । प्रपूर्वस्य स्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । प्रस्तीतः । प्रस्तीतवान् ।
“स्फादेः” [४१३१६०] इत्यादिना नत्वस्यासिद्धत्वात्प्रागेव जिः, पुनर्विहतनिमित्तत्वात् न भवति । “प्रस्त्यो वा”
[४१३१६१] इति मत्वपक्षे प्रस्तीमः प्रस्तीमवान् । प्रपूर्वस्येति किम् ? संस्त्यानः । प्रहृत्य इति सिद्धे पूर्वग्रहणं
नियमार्थम् । अन्यपूर्वस्यापि मा भूत् । संप्रस्त्यानः । अथवा प्रपूर्वो यस्माद्गिसमुदायात्स प्रपूर्वः, तदवयवस्यापि
स्यायतेर्यथा स्यादित्येवमर्थम् । प्रसंस्तीतः । प्रसंस्तीतवान् । इहान्ये ष्ये स्यै इत्यनयोः सामान्येन निर्देशः ।

द्रवघनस्पर्शयोः श्यः ॥४१३१९॥ द्रवघने स्पर्शं च वर्तमानस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । शीनं घृतम् ।
शीनं मेदः । “श्याञ्चिदिवः” [४१३१६५] इत्यादिना नत्वम् । द्रवावस्थायाम् घनभावमापन्नमित्यर्थः । स्पर्शं
शीतं वर्तते । गुणवत्पि स्पर्शोऽस्ति शीतमुदकम् । शीतो वायुः । द्रवघनस्पर्शयोः किम् ? संश्यानो वृश्चकः ।
‘स्फादेरातः’ [४१३१६०] इत्यादिना नत्वम् ।

१. प्रतिष्ठु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुटिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्यात्र निर्दिष्टानि ।

प्रतेः ॥४१३२०॥ प्रतिपूर्वस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः । प्रतिशीनः । प्रतिशीनवान् । अद्रव-
घनस्पर्शार्थोऽयमारम्भः ।

वाऽभ्यवात् ॥४१३२१॥ अभि अव इत्येवंपूर्वस्य श्यायतेर्वा जिर्भवति ते परतः । अभिशीनः ।
अभिश्यानः । अवशीनः । अवश्यानः । अभ्यवशीनः । अभ्यवश्यानः । विपर्यये प्रयोगो नास्ति ।
द्रवघनस्पर्शविवक्षायां प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्त इत्युभयत्र विकल्पः । अन्यगियोगे केचिन्नेच्छन्ति । समभिश्यानम् ।
समवश्यानम् । अन्ये तु पूर्वमात्रेऽन्यगियोगेऽपि विकल्पमिच्छन्ति । अभिसंशीनम् । अभिसंश्यानम् ।
अवसंशीनम् । अवसंश्यानम् ।

क्षीरहविषोः शृतम् ॥४१३२२॥ शृतमिति निपात्यते क्षीरहविषोः पाके । शृतं क्षीरम् । शृतं हविः
स्वयमेव देवदत्तेन वा । श्रै पाके इति कृतात्वस्य भौवादिकस्य आ पाके इत्यादादिकस्य च ग्रहणम् । तथा आ पाके इति
चौरादिकस्य णिचि पुकि च कृते आ पाक इति भिन्नु पाठात्पादेशेऽपि । अनयोः आश्रयोः के परतः श्रुभावो
निपात्यते । क्षीरहविषोरिति किम् ? आश्रया यवागूः । वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेर्हंतुमिति णिचि नेभ्यते ।
अपितं हविर्देवदत्तेन जिनदत्तेन ।

प्यायः पी ॥४१३२३॥ प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । पीनो स्तनौ । पीनावनौ । “ओदितः”
[५१३६३] इति नत्वम् । प्रकृतो जिरुत्तरस्य यस्य प्रसज्येत । लिङाङोरवलादौ च यवं नास्ति ।
तदर्धश्चादेशः ।

आङः ॥४१३२४॥ आङः परस्य प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः । आपीनः । आपीनवान् ।
आङ एव प्यायः पी भवति नान्यस्माद् । प्रप्यानश्चन्द्रमाः ।

अन्धूधस्तोः ॥४१३२५॥ अन्धूधसोरर्थयोः आङः परस्य प्यायः पी भवति ते परतः । आपीनोऽन्धुः ।
आपीनमूधः । अन्धुर्व्रणम् । ऊधः स्तनपर्यायः । अयमपि नियमः । आङ् पूर्वस्यान्धूधसोरेव । नान्य-
स्मिन्नर्थे । आप्यानश्चन्द्रमाः ।

लिङ्यङोः ॥४१३२६॥ त इति निवृत्तम् निमित्तान्तरोपादानात् । लिटि यङि च परतः प्यायः पी
इत्ययमादेशो भवति । आपिष्ये । आपिष्याते । आपिष्यिरे । परत्वात्पीभावे कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम् ।
“एगिवाक्चादुङोऽसुधियः” [४१३७८] इति यणादेशः । यङि-आपेपीयते । आपेपीयते । आपेपीयन्ते । यङुपि
“त्यखे त्याश्रयम्” [१११६३] इति आपेपेति । आपेपीतः । आपेप्यति ।

न वा श्वेः ॥४१३२७॥ जिरिति वर्तते । श्वयतेर्न वा जिर्भवति लिङ्यङोः परतः । शुशावः । शिशवाय ।
शुशुवतुः । शिशियवतुः । शोशूयते । शोशूयते । लिटि किति यजादिप्राप्तिर्नेति प्रतिषिध्यते । ततः समीकृते
विषये विकल्पः । पिति किति च लिटि यङि च प्रवर्तते । ननु शिशवायेत्यत्र जिना मुक्ते पक्षे “चस्थै-
षां लिटि” [४१३१३] इति चस्य प्राप्नोति नार्थ दोषो नेत्यनेन श्वयतेर्यावती प्राप्तिः सा सर्वा प्रतिषिध्यते । ततो
विकल्पः । यदि चस्य क्रियेत प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ।

सन्कचोर्णौ ॥४१३२८॥ सन्परे कचपरे च णौ परतः श्वयतेर्न वा जिर्भवति । शुशावयिपति । अन्तरङ्ग-
परिमाणा ह्यनित्या । पूर्वविप्रतिषिद्धेन जौ कृते ऐपि “ओ पुयण्ये” [५१२१७८] इति ज्ञापकात्
स्थानिवद्भावेन द्वित्वम् । पक्षे शिशवाययिपति । कचि अशूशवत् । अशिश्वयत् ।

ह्यो जिः ॥४१३२९॥ ह्ययतेर्जिर्भवति सन्परे कचपरे च णौ परतः । जुहावयिपति । जुहावयिपतः । जुहावयि-
षन्ति । कचि-अजुहवत् । अजुहवताम् । अजुहवन् । अनवकाशत्वाजिना सावकाशः “शाच्छासाह्वादि” [५१२४२]
सूत्रेण यक् वाच्यते । पुनर्जिग्रहणं नित्यार्थम् । ननु तस्येति वक्ष्यते तेनैवायं जिः सिद्धः । ह्ययतेर्यायं थ

आदेरेकाच्च इत्यनुवर्तनात् । एवं तर्हीदमेव शापकम् । यस्य निमित्तेऽन्येन व्यवहिते जिर्न भवति । तेन सिद्धम् । जिह्वायक्रीयिपति । ह्यायकमिच्छति । ह्यायक्रीयतेः सन् ।

थस्य ॥४१३३०॥ ह्यतेस्थस्य जिर्भवति । जुहूपति । जोहूयते । जुहाव । सामर्थ्यात्थनिमित्ते परतो जिर्वेदि-
तव्यः । अत्रोपचारात्थार्थो ह्यतिस्थः तस्य जौ कृते द्वित्वम् ।

न जौ जिः ॥४१३३१॥ जौ परतः पूर्वस्य जिर्न भवति । विद्धः । विचितः । संवीतः । वचेर्जिबचनं शापकम् ।
“अन्तेऽलः” [१११४६] इति नाश्रीयते । “अनस्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इत्यनित्या । तत एकेनापि योगेन-
वावन्तो यणस्तेषां सर्वेषां जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् । ननु तथाप्येकयोगेन युगपज्जेः पूर्वस्य परस्य च निर्बृत्त-
त्वात्सिद्धस्य कथं प्रतिषेधः ? अत्रोच्यते—न जौ जिरिति स्वाश्रयकार्यस्य जेः परपूर्वत्वस्य प्रतिषेधः । ततो यणा-
देशे सति सिध्यति रूपम् । पुनर्जिग्रहणं प्रकरणान्तरविहितस्यापि जेः प्रतिषेधार्थम् । यूना । यूने । “श्वयुव-
मवोनोऽहति” [४१३१२१] इति जिः । अत्र स्वेऽको दीत्वस्य स्थानिवद्भावादुकारेण व्यवधानं न चिन्तनीयम् ।
“प्रपूर्वस्य स्यः” [४१३१२८] इत्यत्र पूर्वस्येति वर्तते । तेन पूर्वमात्रस्य प्रतिषेधः । उपोषुषा । उपोषुषे इत्यत्र
भिन्ननिमित्तत्वान्न प्रतिषेधः । जावित्यत्रेकारोऽपि प्रश्लिष्यते ततः श्वयतेः कचि न जिः । अशिश्वयत् ।

लिटि वेजो यः ॥४१३३२॥ न जिरिति वर्तते । लिटि परतो वेजो वकारस्य जिर्न भवति । वेजो
वकारस्याभावात् वयेर्वकारस्य प्रतिषेधः । वेज्ग्रहणस्योत्तरत्र प्रयोजनम् । ऊयतुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावेन
यजादित्वात् किति जिः प्राप्तः । लिङ्ग्रहणमुत्तरार्थम् ।

वो वा किति ॥४१३३३॥ लिटि किति परतो वेजो वकारस्य जिर्न भवति । ऊवतुः । ऊवुः । यजा-
दित्वाजिः प्राप्तः “प्ये च” [४१३३४] इति वक्ष्यमाणेन प्रतिषेद्धोऽनेन विकल्प्यते । परत्वाज्जौ कृते द्वित्वम् ।
“वाणाद् गावं बलीयः” [परि०] इत्युवादेशे कृते स्वेऽको दीत्वम् । पक्षे—ववतुः । वयुः । वेज्ग्रहणानुवृत्तेः
स्थानिवद्भावेन वयि वकारस्य न प्रतिषेधः । कितीति किम् ? वविथ ।

प्ये च ॥४१३३४॥ प्ये लिटि च वेजो जिर्न भवति । प्रवाय । उपवाय । ववौ । ववतुः । ववुः । वविथ ।
किद्ग्रहणं वाग्रहणं चानधिकृतम् । “चस्यैषां लिटि” [४१३१३] इति यजादित्वाच्च जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ।
अस्मिन्नेव नित्ये प्राप्ते कित्सु ‘वो वा किति’ [४१३३३] इति विकल्पः । वेज्ग्रहणानुवृत्तेरिह स्थानिवद्भावाभावाद्
वयेरप्रतिषेधः । उवाय । ऊयतुः । ऊयुः । स्थानिवद्भावे हि “लिटि वेजो यः” [४१३३२] इत्यनर्थकं स्यात् ।
अनेनैव वकारस्यापि प्रतिषेधः स्यात् ।

ज्यः ॥४१३३५॥ ज्या इत्येतस्य प्ये जिर्न भवति । प्रज्याय । उपज्याय । चानुकृष्टत्वाल्लिटीति निवृत्तः ।

व्यः ॥४१३३६॥ व्या इत्येतस्य च प्ये जिर्न भवति । प्रव्याय । उपव्याय । सूत्रान्तरमुत्तरार्थम् ।

परेर्वा ॥४१३३७॥ परेरुत्तरस्य व्या इत्येतस्य प्ये वा जिर्भवति । परिवीय । परिव्याय । परत्वाद्दीत्वे
कृते दुर्गभावः ।

एचोऽशित्याः ॥४१३३८॥ घोरिति वर्तते । एजन्तस्य घोरशित्यात्वं भवति । ग्लै । ग्लाता । ग्लातुम् ।
शो—निशाता । निशातुम् । “अन्तेऽलः” [१११४६] इत्येव आकारः । एच इति किम् ? कर्ता । कर्तुम् ।
अशित्तीति किम् ? ग्लायति । म्लायति । अशित्तीति प्रसज्यप्रतिषेधः शिति नेति । अनैमित्तिकमात्वम् ।
ग्लानीयम् । तेन आयाद्यभावः । सुत्रः । सुस्तः । “आतो गौ” [२१११०६] इति कः । सुग्लानम् । “युजातः”
[२१३१०६] इति युञ्ज सिद्धः । “मिर्माब्दीडां प्ये च” [४१३४३] इति चकारादेजिषये चात्ववचनं शापकम् ।
परनिमित्तस्यैव आत्वं न भवति । चेता । स्तोता । प्रतिपदोक्तपरिभाषा त्वनित्या तेन क्रापयतीत्यादौ पुक्
सिद्धः । शकार इत्यस्य सोऽयं शित् तदादौ न भवति । न तु तदन्ते । जग्ले मग्ले इति । घोरित्येव । गोभिः ।
नौभिः ।

न व्यो लिटि ॥४३१३६॥ व्यतेर्लिट्यात्वं न भवति । संविध्याय । संविध्ययिथ । णलि “चस्त्रैषां लिटि” [४३११३] इति जिः । “ञिण्यचः” [५२१२] इत्यैप् । आयादेशः । धे “वोपदेशे” [५१११०८] इति सूत्रे “अव्याद्” इति प्रतिषेधात्कादिनियमादिद् ।

स्फुरिस्फुत्योर्घञि ॥४३१४०॥ स्फुरि स्फुलि इत्येतयोरेच आत्वं भवति घञि परतः । विस्फारः । विस्फालः । “भावे” [२३११७] “अकर्तरि” [२३११८] “हलः” [२३११०२] इति “करणाधिकरणयोः” [२३११६६] वा घञ् । “स्फुरिस्फुत्योर्निनिवेः” [५११५८] इति वा पञ्चम् ।

क्रीडज्जैर्लो ॥४३१४१॥ क्रीड् ज्जि इत्येतेषामेच आत्वं भवति णौ परतः । क्रापयति । आयापयति । जापयति । परनिमित्तस्याप्येच आत्मनेने विधीयते ।

सिध्यतेरज्ञाने ॥४३१४२॥ णाविति वर्तते । सिध्यतेरेच आत्वं भवति ज्ञानादन्यत्र णौ परतः । अन्नं साधयति । अर्थं साधयति । अज्ञान इति किम् ? आचारः कुलं सेधयति । क्षमा धर्मं सेधयति । ज्ञापयतीत्यर्थः । श्यविकरणनिर्देशात्पिथ गतावित्यस्य भौवादिकस्याग्रहणम् ।

मिञ्मीञ्दीडां प्ये च ॥४३१४३॥ मिञ् मीञ् दीङ् इत्येतेषां प्ये च एचश्चात्वं भवति । प्ये प्रमाय । एद्विपये प्रमाता । प्रमातुम् । प्रमापयति । मिञो निमाय । निमाता । निमातुम् । निमापयति । दीङः-अवदाय । अवदाता । अवदातुम् । अवदापयति । चकारो ज्ञापकः । परनिमित्तस्यैच आत्वं न भवति । तेन चेतदिभ्वात्वाभावः । एच इत्यर्थवशाद्विशेषणलक्षणात्ता । एचो वा प्रकृतिस्तस्याः प्राक्तन्योपपत्त्यात्वं भवति । एवं चाकाराणावध्युचः सिद्धाः । अवदायः “इयाद्व्यय” [२३१११४] आदीति णः । अवदायो वर्तते । सुदानम् । “निमिमीलियां स्वाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] सुनिमयः । निमोनाति निमानं वा निमयः । “अकर्तरि वाऽचि प्रतिषेधः” । एवं मिनोतेरपि । लियो “विभाषा लिभोः” [४३१४४] इति व्यवस्थितविभाषा ज्ञापनादेव स्वाचोः प्रतिषेधः सिद्धः ।

विभाषा लियोः ॥४३१४४॥ लिनाते लीयतेश्च विभाषयाऽऽत्वं भवति प्ये एज्विपये च । विलाय विलीय । एज्विषये विलाता । विलेता । विभाषेति व्यवस्थितविभाषा । तेन धाष्टर्यसम्माननयोरात्वम् । श्येनो वर्तिकापमलापयते ।

णम्यपगुरो वा ॥४३१४५॥ एच इति वर्तते । णमि परतः अपगुर एच आत्वं भवति वा । अपगारम् । अपगोरम् । अत्यपगारं युध्यन्ते । अत्यपगोरं युध्यन्ते । “प्रमाणास्तयोः” [२३१३६] इति णम् । “वा भादि” [१३१८४] इति वचः । पुनर्वाग्रहणं पूर्वस्य व्यवस्थितविभाषाज्ञापनार्थम् ।

चिस्फुरोर्णौ ॥४३१४६॥ चिञ् स्फुर इत्येतयोर्णौ परत एचो वाऽऽत्वं भवति । धर्मं चापयति । धर्मं चपयति । नयनं स्फारयति । नयनं स्फोरयति ।

प्रजने वातेः ॥४३१४७॥ प्रजनेऽर्थे वातेर्णौ परतो वाऽऽत्वं भवति । पुरो वातो गाः प्रवापयति । पुरो वातो गाः प्रवपयति । लवणं गाः प्रवपयति । लवणं गाः प्रवापयति । प्रजनो गर्भाधानम् । वातेः प्रजनेऽर्थे वृत्तिर्नास्ति तेनारम्भः ।

विभेतेर्हेतुभये ॥४३१४८॥ विभेतेर्हेतुभयेऽर्थे णौ परतो वाऽऽत्वं भवति । मुण्डो भापयते । जटिलो भापयते । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । हेतुः स्वतन्त्रस्य कर्तुः प्रयोजकः । ततः साक्षाद्भयमत्र प्रतीयते । भयशब्दो भावसाधनोऽपादानसाधनो वा । नपुंसकलिङ्गे भावे “अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम्” [वा०] कादि-निवृत्त्यर्थम् । भावे-हेतोर्भयं हेतुभयम् । अपादाने-हेतुरेव भयं हेतुभयमिति ज्ञेयम् । “खेमीस्मेर्हेतुभये” [१२१६४] इति दविधिः । आत्वाभावपक्षे “ईतः षुङ् नित्यम्” [४३१४६] इति षुक् । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैर्न भीषयति । नात्र प्रयोजकाद्धेतोर्भयं किन्तर्हि कुञ्चिकारूपात्कारणात् । तिपा निर्देशो यद्वन्तनिवृत्त्यर्थः विभेति तमन्यः प्रयुङ्क्ते (भाययति पुनः पुनरतिशयेन भाययति, विमाययति) ।

ईतः पुङ् नित्यम् ॥४३॥४६॥ विभेतेरीकारान्तस्य हेतुभयेऽर्थं नित्यं पुगागमो भवति शौ परतः । मुरडो भीषयते । जटिलो भीषयते । ईत इति निर्देशादैः प्रागेव पुक् । हेतुभय इत्येव । कुञ्चिकयैनं भाययति । नात्र साक्षात्प्रयोजको भयकारणम् ; किन्तुहि ? करणात् । द्विविधश्च न भवति ।

स्मिङः ॥४३॥५०॥ हेतुभय इति वर्तते णाविति च । स्मिङ् इत्येतस्य शौ परत आत्वं भवति हेतु-भयेऽर्थं । मुरडो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते **“खेर्मीस्मेहेतुभये”** [१।२।६४] इति दः । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैनं विस्माययति । स्मयत्यर्थ एव भयमित्युपचर्यते । नहि मुख्यवृत्त्या भये स्मयतेर्द्विति ।

भल्यकिति सृज्दृशोऽम् ॥४३॥५१॥ भलादावकिति परतः सृज्दृशोरमागमो भवति । स्रष्टा । स्रष्टव्यम् । द्रष्टा । द्रष्टुम् । द्रष्टव्यम् । विशेषविहितत्वात्सामान्यविहितस्य **“द्युङः”** [५।२।८३] एषो बाधकोऽयम् अस्मादीत् इत्यत्र पूर्वमभि कृते **“व्रजवद”** [५।१।७६] इत्यादिनैप् । भलीति किम् ? सर्जनम् । दर्शनम् । अकृतीति प्रसज्यप्रतिषेधादिह न भवति रज्जुसृष्ट्याम् । देवहम्भ्याम् । धोः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानाद्वा ।

वानुदात्तस्यदुङः ॥४३॥५२॥ अनुदात्तस्य धोः ऋदुङः वा अमागमो भवति भलादावकिति परतः । वता । तर्ता । द्रता । दर्ता । तृपिष्टपीरधादौ विकल्पितेयौ तत्रानुदात्तपाठोऽमागमार्थः । अनुदात्तस्येति किम् ? बर्दा तर्दा । वृदः । तृदः । उदित्वात्पेऽनित्यौ । ऋदुङः इति किम् ? भेत्ता । भेत्तुम् । भलीत्येव । तर्पणम् । दर्पणम् । अकृतीत्येव । दृतः ।

ध्वादेः पस्सः ॥४३॥५३॥ धोरादेः पकारस्य सकारदेशो भवति । अज्दन्त्यपरा सादयः प्रोपदेशाः । सृपिसृजिसृस्यास्तृसेकसृवर्जम् । स्वदिस्मिङ्स्विदिस्वञ्जिस्वपयस्तु मूर्धन्यादिपाठाः । उदाहरणम् । पह सहते । पिच सिञ्चति । जिष्वप् सुतः । **“त्यादेशयोः”** [५।४।३६] इति प्रवार्थ आदेशः । धोरिति किम् ? षोडन् । षडिकः । आदेरिति किम् ? लपति । धोरिति वर्तमाने पुनर्धुग्रहणं धुखे यो धुः तदादेः पकारस्य सत्त्वार्थम् । सुधोर्मा भूदिति । षोडोयति । पशडोयति । **“ष्टीवतिष्वक्लिप्त्रायातीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः”** [वा०] । षिव् थकारपरः ठकारपरश्चेत्यते । तेन चविकारे तेष्टीव्यते । टेष्टीव्यते ।

णो नः ॥४३॥५४॥ धोरादेर्णकारस्य नकार आदेशो भवति । सर्वे नादयो णोपदेशाः । नृतिनन्दिनक-नर्दिनटिनाधुनाश्ववर्जम् । णम्-नमति । णी-नयति । णह-नहति । **“गेरसेऽपि विकृतेः”** [५।४।६८] इति णत्वार्थ-मादेशः । पुनर्धुग्रहणात्सुधोर्णकारस्य नत्वं न भवति । णकारीयति । ध्वादेरित्येव । चणति । योगविभागः सत्वस्य ष्टीवत्यादावनित्यत्वज्ञापनार्थः ।

वलि व्योः खम् ॥४३॥५५॥ वलि परतो वकारयकारयोः खं भवति । धोरधोर्वा । देदिवः, सेसिवः । यडुवन्ताद्वसि वकारस्य खम् । जीवेरदानुक् । जीरदानुः । यकारस्य, ऊपी-ऊत्तम् । क्यूयी-क्यूतम् । **“असिद्धं बाहिरङ्गमन्तरङ्गे”** [प०] इत्यनित्या तेन बहिरङ्गे इयादेशो एयादेशो च सत्यन्तरङ्गं यखम् । पचेत् । दासेरः । क्विपि कण्ड्वयतेः बोभूयतेश्च कण्ड्वः । बोभूः । अतः खे कृते **“वलि व्योः खम्”** नित्यत्वात्क्विपः खेऽपि क्वचिद्दर्वाश्रयेऽत्याश्रयमिति त्यखे त्याश्रवाद्वालादित्वम् । वलीति किम् ? दीव्यते । ताप्यते ।

हल्ङ्यापो यः सुसिप्त्यनच् ॥४३॥५६॥ हलन्तात् ङी च आप् च या दीः तदन्ताच्च परेषां सुसिप्तीनां खम् । व्यर्थं स्फान्तखेन सिद्धमिति चेत्, न सिध्यति । उखाश्रदित्यत्र स्फान्तखस्यासिद्धत्वे पदान्तत्वाभावा-द्वत्वं न स्यात् । स्फादिसिखे वा विभक्तिसकारस्य रित्वविसर्जनीयौ स्याताम् । अभिनोऽत्रेति स्फान्तखस्या-सिद्धत्वादेरुत्वं न स्यात् । अविभर्भवानित्यत्र **“रात्सः”** [५।३।४२] इति नियमात्पिपः खं न स्यात् ।

केरेडः ॥४३॥५७॥ केः खं भवति एङन्तादुत्तरस्य । हे अग्ने । हे वायो । प्रादिति खात्परत्वेन **“प्रत्यैप्”** [५।२।१०३] इति एप् ।

प्रात् ॥४१३५८॥ प्रान्तात्परस्य केः खं भवति । हे देवदत्त । हे जिनदत्त । पसपक्षेऽनजिति वर्तते तच्च प्रादिति कानिर्देशात् तान्तं सम्पद्यते । ततः केरवयवस्यानचः खं भवति । एवं हे कुरङेत्यत्र हलो मकारस्य खं भवति । हे कतरदित्यत्र स्वमोः परतः किकृते “नपः स्वमोः” [५११२०] इत्युप् ।

पिति कृति तुक् ॥४१३५९॥ प्रादित्यस्य ताप्रकृतिः । पिति कृति तुगागमो भवति प्रान्तस्य । प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । अग्निचित् । सोमसुत् । कृतीति वचनाद्भोरयं तुक् । पितीति किम् ? चितम् । स्तुतम् । कृतीति किम् ? बहुकृत्कः । प्रत्येति किम् ? प्रलूय । ग्रामणीः । ग्रामणीकुलमित्यत्र बह्वाश्रयस्य प्रादेशस्यासिद्धत्वान्तरङ्गस्तुक् ।

सन्धौ ॥४१३६०॥ सन्धावित्यधिकारो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः सन्धिविषये तद्वेदितव्यम् । लोकोत्त एव संश्लेषः सन्निकर्षो वा सन्धिरिति ज्ञातव्यम् । यथा “एष्यतोऽपदे” [४१३८४] अत्रेकारादिः । वक्ष्यति “अचीको यण्” [४१३६५] । दध्यशान । सन्धाविति किम् ? दधि अशान ।

छे ॥४१३६१॥ छकारे परतः सन्धौ प्रत्य तुग्भवति । गच्छति । इच्छति । पृच्छति । प्रत्यात्र तुङ्गन् तदन्तस्य । यदि प्रान्तस्य स्याच्चिच्छित्तुरित्यत्र “हलोऽनादेः” [५१२१६१] खं प्रसज्येत । नन्ववयवावयवोऽपि समुदायावयव इति खं प्राप्नोति । एवं तर्हि पूर्वान्तकरणाधिकारात्खं न भवति ।

आङ्माडोः ॥४१३६२॥ आङ् माङ् इत्येतयोश्छे परतस्तुग् भवति ।

“ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः । एतमातं डितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरडित् ॥”

ईषच्छाया आच्छाया । क्रियायोगे—आच्छिनत्ति । मर्यादाऽभिविध्योः । आच्छायायाः । माङः । माच्छि- दत् । माच्छासीत् । “वा पदस्य” [४१३६४] इति विकल्पः प्रातः । अनूत् (न्युत्) करणं किम् ? आच्छात्रमानय । आच्छात्रमानय । स्मरणे डित्वं नास्ति । उपमा छत्रमानयति । “गामादाग्रहणेऽपि विशेषः” [प०] इति प्राप्तिः । अथवा नेदं प्रत्युदाहरणम् । आडा सहचरितस्य माडो निरञ्जकस्य ग्रहणाद्वोरप्राप्तिः ।

द्यः ॥४१३६३॥ दीसंज्ञस्य छे तुग्भवति । ह्रीच्छति । स्लेच्छति । अपचाच्छाद्यते ।

वा पदस्य ॥४१३६४॥ घन्तस्य पदस्य छे वा तुग्भवति । कुवलीच्छाया । कुवलीछाया । शमीच्छाया । शमीछाया । दीसंज्ञकस्य तुग्भवति स चेत्पदस्येति । तेनासामर्थ्येऽपि तुग्विकल्पः सिद्धः । तिष्ठतु कुमारी छत्रं हर देवदत्त ।

अचीको यण् ॥४१३६५॥ अचि परत इको यणादेशो भवति । दध्यशान । मद्ध्वपनय । “अनचि” [५११२७] इति द्वित्वम् । भर्त्रर्थः । लाकृतिः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [प०] इति यादीनां न स्फान्तत्वम् । अचीति किम् ? दधि करोति । मधु कृतम् । इक इति किम् ? भवानन्त । हलो मा भूत् । स्वेऽचि दीत्वं वक्ष्यति । पारिशेष्यादन्यत्र यण् ।

एचोऽयच्चायावः ॥४१३६६॥ एचः स्थाने अय् अय् आय् आव् इत्येते आदेशा भवन्ति अचि परतः । चयनम् । लवनम् । चायकः । लावकः । कयेते । पटविह ।

यि त्ये ॥४१३६७॥ यकारादौ त्ये अयादय आदेशा भवन्ति । वाभ्रव्यः । मायडव्यः । गव्यः । नाव्यो हृदः । यीति किम् ? गोभ्याम् । नौभ्याम् । त्य इति किम् ? गोयानम् । नौयानम् । यीति योगविभागः । तेन गोर्यूता- वध्वपरिमाणे अनादेशो भवति । गव्यूतिः । अयायादेशयोः केचित्प्रतिषेधमिच्छन्ति । तेन रायमिच्छति रैयति ।

क्षिज्योः ॥४१३६८॥ क्षि जि इत्येतयोरेचो यि त्येऽयादेशो भवति । क्षेतुं शक्यं ल्यप् पापम् । जेतुं शक्यो जय्यः शत्रुः । “शकि लिङ् च” [२१३१४८] इति व्या भवन्ति । नियमार्थोऽयमारम्भः । धुषु क्षिज्योरेव नान्यस्य धोः । चेषम् । नेयम् । तत्रापि तुल्यजतीतयोरेकारैकारयोर्निवृत्तिः । धोरोकारौकारयोः पूर्वैणावावादेशौ भवतः । लव्यम् । पव्यम् । अवश्यलाव्यम् । अवश्यपाव्यम् । मयूरव्यंसकादित्वात्सः । व्यान्ते ह्यवश्यमोनाश इति ।

शक्तौ ॥४१३६९॥ अयमपि नियमः । शक्तावेव क्षिप्योरयादेशो नान्यस्मिन्नर्थे । क्षेयम् ।

धोस्तस्मिन्नेव ॥४१३७०॥ धोस्तस्मिन्नेव यित्ये य एच् तस्यायादयो भवन्ति । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । धोरिति किम् ? मृदो नियमो मा भूत् । माण्डव्यः । गव्यम् । तन्निमित्तस्यातन्निमित्तस्य च “यित्ये” [४१३६७] इत्यादेशः । तन्निमित्तस्येति किम् ? उपोयते । औयत् । लौयमानिश्चैत्रः । कर्मणि लट् । यक् जित्वम् । गिधोर्य-त्कार्यं तदन्तरङ्गमिति “आदेप्” [४१३७५] । लटि लावस्थायामडागमोऽन्तरङ्ग इति “अटश्च” [४१३७८] इत्यैप् । अन्तरङ्गपरिभाषा ह्यनित्या तेन बहिरङ्गत्वेऽप्येप् । लौयमानिरिति प्रत्युदाहरणम् । एवकार इष्टतोऽव-धारणार्थः । धोरेव तस्मिन्निति नियमो मा भूत् । एवं हि बाभ्रव्य इत्यत्र न स्यात् ।

क्रय्यः स्वार्थे ॥४१३७१॥ क्रय्य इति निपात्यते स्वार्थे गम्ये । स्वार्थो द्रव्यविनिमयः । क्रय्यः कम्बलः । क्रय्या गौः । क्रय्यार्थे प्रसारितः । अन्यवस्तुसंग्रहार्थमिति यावत् । क्षिप्योरिति नियमादप्रातोऽयादेशो निपात्यते । स्वार्थ इति किम् ? क्रय्यं धान्यं न चास्ति क्रय्यं स्वीकर्तव्यं धान्यं किं तर्हि परकीयम् । क्रय्यार्थे प्रसारितं नास्तीत्यर्थः ।

द्वयोरेकः ॥४१३७२॥ “ख्यत्यादतः” [४१३६६] इति वक्ष्यति । प्रागेतस्माद् द्वयोः पूर्वपरयोरेको भवतीत्येपोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति आदेप् । देवेन्द्रः । द्वयोर्ग्रहणं किम् ? पूर्वपरयोर्युगपदादेशप्रतिपत्त्यर्थम् । इतरथा हि यत्र कानिर्देशः सावकाशस्तत्र पूर्वस्य निर्देशः । यत्रेन्निर्देशः सावकाशस्तत्र परस्य । ततश्च पर्यायेण कार्यं स्याद् यथा “सचस्योभौ” [५१११०५] इत्यत्र एकारद्वयम् । एवमिहापि कार्यद्वयं माभूदित्येक-ग्रहणं क्रियते ।

तद्वत् ॥४१३७३॥ द्वयोरेक इति वर्तते । तयोरिव तद्वत् । तयोर्विद्यमानयोर्यत्कार्यं तत्कृतेऽप्येकादेशो यथा स्यात् । यत्पूर्वमवयवमाश्रित्य कार्यं क्रियते, यच्च परं तत् कृतेऽप्येकादेशो भवति । असति सूत्रेऽवयवग्रहणेन न गृह्येत । क्षीरोदकवत् । पूर्वावयवे प्रयोजनम् । वामोरुरिति मृद ऊरित्यमृदो मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवति । यथा शक्येत कर्तुं मृद इति स्वादिर्विधिः । अन्यथा वृद्धः प्लक्ष इत्यादावेव स्यात् । परावयवे प्रयोजनम्-देवावित्यत्रौकारः सुप् । अनुवकारः । सुवसुपोरेकादेशः सुव्वद् भवति । यथा शक्येत कर्तुं “सुमिडन्तं पदम्” [१२२१०३] इति । अन्यथा सायुः पूज्य इत्यादावेव स्यात् । अधोत्येयत्र द्वयोरेकादेशोऽपि प्राश्रयस्तुक् सिद्धः । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [वा०] । तेन उपोह्यते । प्रोह्यते इत्यत्र “गेरूहः प्रः” [५२२१३२] इति उभयाश्रयः प्रादेशो न भवति । इह कार्यातिदेशोऽभिप्रेतो न रूपतिदेशः । तेन वर्णाश्रये विधौ तद्वद्भावो न भवति । मालामिरित्यत्र पूर्वान्तत्वमाश्रित्य “मिसोऽत ऐस्” [५११८८] इति न भवति । जुहावेत्यत्र “थस्य” [४१३३०] इति ह्यतेजौ कृते “जेः” [४१३१५] परपूर्वत्वे च तस्य परवद्भावात् “जातो णलः औ” [५२२३७] इति न भवति । अस्यै अङ्कः परवद्भावाभावात् । “एङोऽति पदान्तात्” [४१३१६] इति न भवति । अस्या अङ्क इति सिद्धम् । वत्कणात् स्वाश्रयमपि । तेन ङीठेस्तुक् प्रति परादित्वाभावे “वा पदस्य” [४१३१६४] इति विकल्पः सिद्धः । वृत्तेच्छत्रम् । वृत्तेच्छत्रम् । अपचेच्छत्रम् । अपचेच्छत्रम् । संवेजः कौ जिः । जेः पूर्वत्वम् । तस्य परादित्वाभावे प्राश्रयस्तुक् सिद्धः । समुत् ।

षत्वेऽसद्वत् ॥४१३७४॥ षत्वे कर्तव्ये एकादेशोऽसद्वद्भवति । त्यादेशलक्षणे प्राप्ते प्रतिषेधार्थमिदम् । कोऽय । योऽस्य । कोऽस्मै । कोऽसिचत् । योऽसिचत् । “ह्लाङिप्सिचः” [२१११६] इत्यट् । “एङोऽति पदान्तात्” [४१३१६] इत्येकादेशस्यासिद्धत्वादिण उत्तरस्य त्यादेशसकारस्य षत्वं प्रसक्तं न भवति । “नाद्यन्ते” [५१४७६] इति षत्वप्रतिषेधो न सिध्यति तद्वद्भावेन परादित्वादेकादेशस्य । ननु चैकपदाश्रये षत्वेऽन्तरङ्गे एकादेशस्यासिद्धत्वम् । अनिलैषा परिभाषा । ततोऽज्जधूरित्यत्र बहिरङ्ग ऊठ् यणादेशो नासिद्धः । षेऽसद्वदिति सिद्धे षत्वे इति गुह्यनिर्देशः किमर्थः ? पादान्तपदाद्योरेकादेशः षत्वेऽसद्वद्भवति । नान्यत्रेति

ज्ञापनार्थः । तेन उपसेदुषः पश्य । अनुषुषः पश्य । “वसोजिः” [४१११२०] “जेः [४१११५] पूर्वत्वम् । उकाराकारयोरेकादेशः पत्वेऽसद्वन्न भवति ।

आदेप् ॥४१३७५॥ अवर्णान्तादेच परत एव भवति । देवेन्द्रः । गन्धोदकम् । महर्षिः । द्वयोः स्थाने एको भवति । “एडि पररूपम्” [४१३८८] इत्यत्र परग्रहणं पूर्वापेक्षं तेन परस्यान्तरतमो एव ऋक्वर्णं परतः प्रसज्यमान एव परस्यान्तरतमोऽकारः “रन्तोऽणुः” [११११४८] इति रन्तो भवति ।

एच्यैप् ॥४१३७६॥ अवर्णान्तादेच परतो द्वयोरेक एव भवति ।

“प्रसिद्धैकसुरैर्यस्य सर्वज्ञस्य महौजसः । व्यतीतौपम्यधर्मार्थं वचः पायान्महौपधम् ॥”

“अक्षादूहिन्यामैव्वक्तव्यः” [वा०] अक्षौहिणी । “प्रादूहोढोढ्यैप्येषु” [वा०] प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः । “स्वादारेरिणोः” [वा०] स्वैरं । स्वैरी । लिङ्गविशिष्टस्य स्वैरिणो । “ऋते भास” [वा०] दुःखार्तः । ऋत इति किम् ? सुखेतः । भास इति किम् ? परमर्तः । स इति किम् ? सुखेनर्तः । “ऋण-दशप्रवत्सरकम्बलवसनानामृणे” [वा०] ऋणार्णम् । दशार्णम् । प्रार्णम् । वत्सतरार्णम् । कम्बलार्णम् । वसनार्णम् ।

इत्येधेत्यूट् सु ॥४१३७७॥ एति एधति ऊट् इत्येतेषु परतोऽवर्णान्तादेव भवति । एचीति वर्तमानमेते-
‘विशेषणम् । एधतेर्व्यभिचाराभावात् । ऊट्स्वरूपेण गृह्यते । उपैमि । उपैपि । उपैति । उपैधते । प्रैधते । एडि-
पररूपापवादः । पुरस्तादपवादोऽनन्तरस्य एडि पररूपस्य बाधकः नेत्तरस्य “ओमाडोः” [४१३८२] इति आ ड पर-
रूपस्य । तेन आ इतः । एतः । उपेतः । ऊट्-धौतः । धौतवान् । एचीत्येव । उपेतः । प्रेतः ।

अटश्च ॥४१३७८॥ एचीति निवृत्तमचीति वर्तते । अटश्च अचि द्वयोरेक एव भवति । ऐक्षिष्ट । ऐदिष्ट । औञ्जीत् । औम्भोत् । ऐक्षत् । ऐहत् । आध्नोत् । ऐक्षिष्यत् । औम्भिष्यत् । चशब्दोऽवधारणार्थः । अट एवैचि यथा स्यात् । यदन्त्यप्राप्नोति तन्मा भूत् । ओङ्कारमैच्छत् । औङ्कारीयत् । “एप्यतोऽपदे” [४१३४४] “ओमाडोः” [४१३८२] इति पररूपं प्राप्तम् । आ उट् ओटः ओटमैच्छत् औटीयत् । “ओमाडोः” [४१३८२] इति पररूपं प्राप्तम् । उखामैच्छत् औखीयत् । प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रये “उसि” [४१३८३] इति पररूपं प्राप्तम् ।

धावृति गेः ॥४१३७९॥ आदिति वर्तते । अवर्णान्तादेः ऋकारादां धौ द्वयोरेक एव भवति । उपार्छति । प्रार्छति । उपार्ध्नोति । प्रार्ध्नोति । प्रसज्यमान एवैप् “रन्तोऽणुः” [११११४८] इति रन्तो भवति । गेरिति किम् ? इहर्छति । प्रगता ऋच्छुका अस्मिन् देशे प्रर्छको देशः । ऋतीति किम् ? प्रेक्षते । तपरकरणं किम् ? उप ऋकारीयति उपकरीयति । “वा सुपि” [४१३८०] इति विकल्पः प्रसज्येत । गेरिति निर्देशाद् धुग्रहणे लब्धे धाविति किम् ? धावेव यथा स्यात् “ऋत्यकः” [४१३१०५] इति प्रकृतिभावो धोर्मा भूत् ।

वा सुपि ॥४१३८०॥ ऋकारादौ सुब्धौ गेरिवर्णान्तस्य वा एव भवति । उपार्षभीयति । उपर्षभीयति । प्रार्षभीयति । प्रर्षभीयति । “गेरध्वनः” [४१३८७] इत्यत्र यथा गिरंज्ञोपलक्षितानां ग्रहणं तथेह मा भूदिति धुग्रहण-
मनुवर्तते । प्रर्षभं वनम् इत्यत्र न भवति ।

एडि पररूपम् ॥४१३८१॥ आदिति वर्तते । गेर्धाविति च । अवर्णान्तादेः एडादौ धौ पररूपमेकादेशो भवति । उपेलयति । प्रेलयति । उपोषति । ऐपि प्राप्ते “वा सुपि” [४१३८०] इत्यपि वर्तते । उपेलकीयते । उपैलकीयते । उपोदनीयति । उपौदनीयति । एडि परमिति सिद्धे रूपग्रहणादिर्धं लभ्यते । “एवे चानियोगे पररूपम्” [वा०] इहेव । अद्येव । अनियोग इति किम् ? इहैव भव माऽय गाः । “शक्न्वादिषु पररूपम्” [वा०] शक्-
अन्धुः शक्न्धुः । कर्क अन्धुः कर्कन्धुः । कुलया । सीमन्तः केशेषु । सीमान्तोऽन्यत्र । “ओत्वोष्ठयोः से वा पररूपम्” [वा०] स्थूलोतुः । स्थूलोतुः । विम्बोष्ठी । विम्बोष्ठी । “नासिकोदरौष्ठ” [३११४८] इत्यादिना जी । स इति किम् ? वाक्ये मा भूत् । परयोष्ठं देवदत्त ।

ओमाडोः ॥४।३।८२॥ गेरिति निवृत्तम् । आदिति वर्तते । ओम् ओङ् इत्येतयोः परतोऽवर्णान्तात्पर-
रूपं भवति । का ओमित्यवोचत् कोमित्यवोचत् । योमित्यवोचत् स्त्री । आडि आ ऊटा
ओदा । अओदा । कओदा । सोदा स्त्री । आ उता ओता । कओता । आडनाडोरेकादेशः तद्वदित्याङ्ग्रहणेन
गृह्यते । गिध्वोर्यत्कार्यं तदन्तरङ्गमिति पूर्वमाङः परेण योगः । मर्यादाभिविध्योश्च परेण योगे सति पूर्वेण सह
एच्यैप् प्रसज्येत । आ ऋणात् अर्णात् । अघर्णात् । आङीति पररूपम् । ननु मध्येऽपवादोऽयमेच्यैपो बाधकः
कथमुत्तरस्य स्वेऽको दीत्वस्य स्वेऽको दीत्वेऽपीदमनुवर्तत इति तस्यापि बाधा ।

उसि ॥४।३।८३॥ उसि परतोऽवर्णान्तात्पररूपं भवति । भित्युः । छित्युः । अपुः । अबुः । “आतः”
[२।४।६०] “लङो वा” [२।४।६१] इति जुस् । लिङादेशे उसि प्रयोजनं नास्तीति जुसो ग्रहणम् । कोष्ठा ।
कोषिता इत्यत्र अनर्थकत्वात्तादृशिकत्वाच्चाग्रहणम् । आदित्येव । अविभयुः ।

एप्यतोऽपदे ॥४।३।८४॥ अकारस्य पररूपं भवति एप्यपदे परतः । पचन्ति । पचे । एपीति किम् ?
अपचे । आदिति वर्तमाने अत इति तपरकरणं किम् ? यान्ति । वान्ति । अपद इति किम् ? दण्डाग्रम् ।
पदादिरयमेप् ।

डाजर्हस्येतावतः ॥४।३।८५॥ डाजर्हस्य योऽच्छब्दस्तस्येतौ पररूपं भवति । पटत् इति पटिति । छुपत्
इति छुपिति “नानर्थकेऽन्तेऽल्लोऽन्यविधिः” [प०] । इति सर्वस्यातः परत्वम् । डाजर्हस्येति किम् ? श्रुदित्याह
श्रदिति । अर्थक्तानुकरणे काचौ डाजमुत्पादयतः । इताविति किम् ? पटद्व । अत इति किम् ? छुपिदिति

न भ्रेस्तो वा ॥४।३।८६॥ भ्रितंज्ञकस्य योऽच्छब्दस्तस्येतौ पररूपं न भवति तकारस्य तु वा भवति । पटत्
इति पटत्पठेति । पटत्-पठदिति । छुपच्छुपेति । छुपच्छुपदिति । “वीप्सा” [५।३।३] आदि सूत्रेण द्वित्वम् ।
समुदायानुकरणे भवत्येवातः पररूपम् । पटत्पठिति ।

मौ डाचि नित्यम् ॥४।३।८७॥ डाजन्ते मौ परतो डाजर्हस्यातस्तकारस्य नित्यं पररूपं भवति । पट-
पटाकरोति । इदमेव ज्ञापकम् । टिक्तापूर्वं “डाचि” इति द्वित्वम् ।

स्वेऽको दीः ॥४।३।८८॥ अक्रः स्वेऽचि परतो दीर्भवति । द्वयोरेक इति वर्तते । लोकाग्रम् । विद्यान्तः ।
कवीन्द्रः । मधूदकम् । पितृषमः । स्वे इति किम् ? दध्यत्र । अक्र इति किम् ? एप्यतोऽपदे इत्यनुवृत्तौ अग्रनये ।
नावावित्यत्रैकारौकारयोर्दीत्वे द्वयोरैक्यं प्रसज्येत । यथा सागता । अचीत्येव । दधि शीतम् । दीत्ववचनं त्रिमात्रा-
द्यादेशप्रतिषेधार्थम् ।

सुटि पूर्वस्वम् ॥४।३।८९॥ अक्रो दीरचीति वर्तते । अचि सुटि परतः पूर्वस्वं दीर्घयोरेको भवति । अग्नी ।
वायू । “एप्यतोऽपदे” [४।३।८८] इत्यनेन अकारे परतः पररूपविधिः स्वेऽको दीत्वमनन्तरं बाधते नोत्तरं सुटि
पूर्वस्वदीत्वम् । पूर्वग्रहणम् अग्नीत्यादिषु परस्वदीत्वनिवृत्त्यर्थम् । अक्र इत्येव । रायौ । रायः । द्वयोरेकत्वं स्यात् ।
अचीत्येव । देवः ।

शसि ॥४।३।९०॥ शसि परतः पूर्वस्वं दीर्भवति । मालाः । बुद्धीः । कुमारीः । धेनूः पश्य ।

नश्च पुंसि ॥४।३।९१॥ शसि परतः पूर्वस्वं दीर्भवति नकारश्चान्तादेशः पुंसि गम्यमाने । देवान् ।
कवीन् । पटून् । कर्तून् । पुंसीति लिङ्गनिर्देशः । लिङ्गं च प्रत्ययधर्मः । वस्तुधर्मे सत्यसति वा यत्र शब्दः
पुंलिङ्गाकारं प्रत्ययं जनयति तस्मिन् प्रत्ययधर्मे पुंसि गम्ये नकारो भवति । वस्तुनि नपुंसकेऽपि षष्ठान्
पश्य । स्त्रीरूपेऽपि वस्तुनि दारान् पश्य । स्थूरान् पश्य । अररकान् पश्य । स्थूराया अररकाया अपत्यानि
गर्गादित्याद्यञ्, तस्य बहुत्वे “यजजोः” [१।१।३५] इत्युप् । “हृदुप्युप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्य टापो-
निवृत्तौ शस्त्वं (शसो नः) । इह च पुंलिङ्गाकारप्रत्ययाभावात् सत्यपि प्राणिधर्मे पुंस्त्वे न भवति । चञ्चाः
पश्य । वर्षिकाः पश्य । चञ्चा इव चञ्चाः चञ्चासहशान् पुष्पान् पश्येत्यर्थः । स्त्रीवस्तुन्यपि भवति अक्रुंसान्
पश्य । असत्यपि वस्तुधर्मे नत्वं वृद्धान् पश्य ।

नेच्यात् ॥४१३।६२॥ इच्चि मुटि परतोऽवर्णान्तात्पूर्वस्वं दीर्न भवति । इन्द्रौ । चन्द्रौ । विद्ये । अद्वे । इत्यत्र परत्वादुत्तरसूत्रेण प्रतिषेधो न्याय्यः । इचीति किम् ? देवाः । आदिति किम् ? अग्नी ।

द्यो जसि च ॥४१३।६३॥ आदिति नाधिकृतम् । यन्ताज्जमिच्चि च परतः पूर्वस्वं दीर्न भवति । कुमार्यो । कुमार्यः । वामोर्वो । वामोर्वः । विद्ये । शुद्धे । माला इत्यत्र “स्वेको दीः” [४१३।६८] इति दीत्वं द्रष्टव्यम् । अ इति स्पष्टार्थं वचनम् । इच्चि प्रसङ्गाऽपि अवरणस्य यत्रनेन प्रतिषेधः स्यान्नेच्यादिति सूत्रमनर्थकं स्यात् । कवयः । पटव इत्यत्र जसि परत्वादेया भवितव्यम् । देवाः । अग्नी । वायू इत्यत्र “मुटि पूर्वस्वम्” [४१३।६६] इति मुट्प्रहरणसामर्थ्यादीत्वम् ।

पूर्वोऽमि ॥४१३।६४॥ अक्रोऽमि परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । देवम् । कविम् । मालान् । भानुन् । पूर्वग्रहणं पूर्वस्य दीत्वप्रतिषेधार्थम् । पूर्वरूपं यथा स्यात् । यदि पूर्वः प्रो द्वयोरेकदेशः प्रो भवति अथ दीर्नञो दीर्भवति । अचीत्यनुवर्तनान्मकारस्य पूर्वस्वं न भवति । अक्र इत्येव । रायम् । नावम् । सुटीत्येव । अचिनवम् । असुनवम् ।

जेः ॥४१३।६५॥ जेरचि परतः परः पूर्वा भवति । इष्टः । उतः । गृहीतः । जिविधानसामर्थ्याद्यणादेशो न स्यात् । पूर्वत्वं पुनर्लभ्येत । इदं शकृद् शकृद्भ्रमिति वोरधः (ओरचः) प्रत्यासन्नस्य पूर्वत्वे कृते पुनः पूर्वत्वं न भवति ।

एङोऽति पदान्तात् ॥४१३।६६॥ एङः पदान्तादति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । मुनेऽनघ । साधोऽनघ । एङ इति किम् ? दध्यत्र । अतीति किम् ? पटविह । तपरकरणं किम् ? पटवायाहि । पदान्तादिति किम् ? नयनम् । मुनयः ।

डसिडसोः ॥४१३।६७॥ एङोऽति वर्तते । एङो डसिडसोरति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । अप-
दान्तोऽयमारम्भः । कवेरागच्छति । कवेः स्वम् । पटोरागच्छति । पटोः स्वम् । डसिडसोरेडश्च यथासंख्यं न भवति । “ओरावश्यके” [२।१।१०२] “ओः पुयण्ये” [५।२।१७८] इति डसिना डसा च निर्देशात् ।

ऋत उत् ॥४१३।६८॥ डसिडसोरति परत ऋत उद्भवति द्वयोरेक इत्येव । कर्तुरागच्छति । कर्तुः स्वम् । द्वयोः स्थान आदेशोऽन्यतरेण व्यपदेशं लभते इति “रन्तोऽणुः” [१।१।४८] इति रन्तवम् । “रात्सः” [५।३।४२] इति सखम् । डसिडसोः सकारस्य वा खिखिसर्जनीयौ रन्तत्वं दुरुपपादं चेत् । ऋत इति तपरकरणं किमर्थम् ? “ओऽवात्” [१।२।४७] इत्यादावनुकरणस्य द्विमात्रस्य माभूत् । उदिति तपरकरणं स्वग्रहणनिवृत्त्यर्थम् ।

ख्यत्यादतः ॥४१३।६९॥ ख्यत्यात्परयोर्डसिडसोरत उद्भवति । ख्यत्यादिति खीखिशब्दयोस्तीति-
शब्दयोश्च यणादेशे कृते आगन्तुनाऽऽकारेणानुकरणनिर्देशः । सख्युरागच्छति । सख्युः स्वम् । पत्युरागच्छति । पत्युः स्वम् । अतीत्यनुवर्तमानेऽत इति स्थाननिर्देशो द्वयोरेकस्य निवृत्त्यर्थः । ख्यत्यादिति विकृतनिर्देशः किम् ? यणादेशाभावे मा भूत् । अतिसखेरागच्छति । अतिसखेः स्वम् । अतिपतेरागच्छति । अतिपतेः स्वम् । “स्वसखि” [१।२।१७] इत्यत्र पर्युदास आश्रितः सखिशब्दादन्यः समुदायः सुसंज्ञो भवति । इदं च विकृत-
निर्देशस्य प्रयोजनम् । सह खेन वर्तते इति सखः सखमिच्छतीति सखीयति सखीयतेः क्विप् । अतः खम् । “बलि
व्योः खम्” [४।३।५५] इति यकारस्य खम् । यखविधि प्रत्यखस्य स्थानिवद्भावाप्रतिषेधः । ननु “वर्णाश्रये नास्ति
त्याश्रयम्” [प०] इति त्यखे त्याश्रयन्यायेनापि क्विपो नष्टस्य बलादिखं नास्ति क्वातुपसंस्थानमित्यदोषः । डसिडसोः
परतो यणादेशे सख्युरिति भवति । तथा लून्युः । पून्युः । लूनमिच्छति पूनमिच्छति । लूनीयतेः क्विन्तस्य
डसिडसोर्यणादेशः । नत्वस्यासिद्धत्वादुत्वं भवति ।

रेरुद्धसोः ॥४१३१००॥ अत इत्यस्यार्थात्कान्तता । अतः परस्य रेख्वं भवति अकारे हप्ति च परतः । इन्द्रोऽत्र । यशोऽत्र । इन्द्रो भवति । यशो भाति । रेराश्रयात्सिद्धत्वम् । “ससजुपो रिः” [५१३७६] इति रेनुबन्धकरणादिह सक्तस्य (सकारस्य) रेख्वं न भवति । अरिनाशः । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? स्वरत्र । प्रातर्भवति । अद्धसोरिति किम् ? इन्द्र इह । यशः शोभते । अदिति तपरकरणं किम् ? दीपयोः परतो मा भूत् । इन्द्र आयाति । तिष्ठतु पयःआरे स्वदत् । “अनुतोऽनन्तस्य” [५१३१६४] इत्यादिना पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४१३१०३] इति प्रकृतिवचनं ज्ञापकं सन्धिकार्यं पः सिद्ध इति प्रग्रहणेनाग्रहणम् । अत इत्येव । मुनिरसौ । अनुवर्तमानस्यातः तपरकरणं किम् ? स्वग्रहणं माम्भूत् । देवा अत्र । आगच्छ स्थूलशिखा अत्र ।

गोरिन्द्रेऽवड् ॥४१३१०१॥ अर्चाति वर्तते । गोः इन्द्रस्येऽचि परतोऽवडादेशो भवति । गवामिन्द्रः गवेन्द्रः । डिङ्करणमन्यादेशार्थम् । अचीत्वप्राधान्यात्तदादावपि भवति । गवेन्द्रकुलम् ।

विभाषाऽन्यच्च ॥४१३१०२॥ इन्द्रशब्दान्यत्र शब्दे योऽच् तस्मिन् विभाषया गोरवडादेशो भवति । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । गवाजिनम् । गोऽजिनम् । विभाषाग्रहणादिह नित्यं भवति । गवाक्षः ।

प्रकृत्याऽचि दिपाः ॥४१३१०३॥ दिसंज्ञाः पसंज्ञाश्च अचि परतः प्रकृत्या भवन्ति । मुनी इमौ । पट् इह । अधीयेते आगमम् । अमी अत्र । “ईदृदेदृदिर्दिः” [१११२०] “ञः” [१११२१] इति च दिसंज्ञाः । पः खल्वपि देवदत्त ३ अत्र त्वमसि । जिनदत्त ३ इदमानय । पविधिराश्रयात्सिद्धः । नेति कर्तव्ये प्रकृतिग्रहणं कृत्स्नस्य स्वरसन्धेः प्रतिषेधार्थम् । अचीन्यनुवर्तमाने पुनरज्ग्रहणं किम् ? परमचमाश्रित्य यत्कार्यं क्रियते तत्र प्रकृतिभावो यथा स्यात् । पूर्वमचमाश्रित्य यत्क्रियते तत्र माम्भूदित्येवमर्थम् । जानु उ अस्य रुजति । जानू अस्य रुजति । जान्वस्य रुजति । “निरेकाजनाड्” [१११२२] इत्युकारस्य दिसंज्ञा । पूर्वेण सह स्वेऽको दीत्वे कृते । एकादेशो दिग्रहणेन गृह्यते । इति यणादेशस्य प्रकृतिभावः प्राप्तः । “मयो वो” [५१३१५] इति वकारादेशः ।

विभाषेकोऽस्वे प्रश्च ॥४१३१०४॥ इकोऽस्वेऽचि परतो विभाषया प्रकृत्या भवन्ति प्रादेशश्च प्रकृतिभावे । दधि अत्र । दध्यत्र । कुमारि अत्र । कुमार्यत्र । विभाषाग्रहणं व्यवस्थितविभाषार्थम् । तेन दिपानामस्वेऽचि अनेन प्रकृतिभावविकल्पः प्रादेशश्च न भवति । पट् अत्र । देवदत्ता ३ इहान्वमि । सविधौ च न भवति । व्याकरणम् । न्याय्यः । न्यासः । कुमार्यर्थः । अस्व इति किम् ? दधीदम् । कुमारीयम् ।

ऋत्यकः ॥४१३१०५॥ ऋकारे परतोऽको विभाषया प्रकृत्या भवन्ति पश्च भवति यदा प्रकृतिभावः । खट्व ऋश्यः । खट्वर्श्यः । माल ऋश्यः । मालर्श्यः । स्वेऽपि भवति । पितृ ऋश्यः । अन्यत्र पूर्वैरेव सिद्धम् । व्यवस्थितविभाषानुवर्तनादिह न भवति उपाध्नोति । प्राप्नोति । ऋतीति किम् ? दण्डाग्रम् । मालाग्रम् । तपरकरणं किम् ? देवदत्ताया ऋकारः देवदत्तर्कारः । दीपयोः परतो मा भूत् ।

षाऽपवदितौ ॥४१३१०६॥ अपवत्कार्यं पसंज्ञकस्य वा भवति इतौ परतः । देवदत्त ३ इति देवदत्तेति । सुमंगल ३ इति सुमङ्गलेति । “दूराद्धूते” [५१३१६२] इति पः । “प्रकृत्याऽचि दिपाः” [४१३१०३] इति नित्यं प्रकृतिभावः प्राप्तो व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाद्व्याख्यादवच्छिद्य पदं येन शब्दपदार्थतया स्वरूपे व्यवस्थाप्यते तस्मिन्निर्तौ विकल्पोऽयम् । क्वचिदनितावपि । वशाऽइयम् वशेयम् । वत्करणं पकार्यप्रतिषेधार्थम् । अप इत्युच्यमाने पस्यैव प्रतिषेधः स्यात् । ततश्च अग्नीऽइति । वायू ३ इति । अत्र दिसंज्ञाश्रये प्रकृतिभावे सति त्रिमात्रतायाः श्रवणं न स्यात् । पसंज्ञाश्रयकार्यप्रतिषेधे हि दिसंज्ञाऽश्रयकार्यप्रतिषेधे हि प्रकृतिभावे सति “अनुतोऽनन्तस्य” [५१३१६४] इत्यादिकृतायात्रिमात्रतायाः श्रवणं सिद्धम् ।

ई इत् ॥४१३१०७॥ ईदन्तस्य इद् वा भवति । अनितिपरार्थोऽयमारम्भः । लुनीहिऽइदम् । लुनीहीदम् । पुनीहिऽइदम् । पुनीहीदम् । “हि याशीःप्रैषेबु मिडाकांचम्” [५१३१०२] इति पः ।

द्विष उक्त् ॥४३११०८॥ “एङोऽति पदान्तात्” [४३११०६] इयतः पदग्रहणमनुवर्तते । विविच्येतस्य पदस्योकारादेशो भवति । व्युभ्याम् । व्युभिः । पदस्येति किम् ? दिवा । दिवं । “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [प०] इति सूत्र एव दिवोर्विविच्यन्न न निवृत्त्य ग्रहणं न धोरकारानुबन्धकस्य । अत्रव्युभ्याम् । अत्रव्युभिः । दिव्यतेः क्तिप् । “च्छ्रोः शूट् च” [४३११०७] इति ऊट् । उदिति तपरकरणं किम् ? वायताऽर्चनावत्य हलः स्थाने धानन्तर्यान्मात्रिक एव भविष्यति । “च्छ्रोः शूट् च” इत्यत्र द्वितीयानुवर्तनादूटोऽपि निवृत्त्यर्थं नोपपद्यते । इहाद्यौर्गौ भवतीति च्वावागते निवृत्ते भ (कि) तंशकस्य द्विष उक्त्वे कृते व्यु भवतीति “स्वौ” [४३११३५] इति दीव्य निवृत्त्यर्थम् ।

हल्येतत्तदोऽरन्त्यसेऽकोः सुखम् ॥४३११०९॥ सन्नाविति वर्तते । एतत्तदोरकारयोर्हलि परतः सुखं भवत्यनञ्ते । एष ददाति । स ददाति । हलीति किम् ? एषोऽत्र । सोऽत्र । एतत्तदोरिति किम् ? को दाता । यो धन्यः । अनञ्च इति किम् ? अनपो ददाति । असो ददाति । अनञ्च इति प्रसज्यप्रतिषेधः । पर्युदासे हि उत्तर-पदार्थप्रधानद्वयन्तर एव सुखं स्यात् । परमैष ददाति । परमस ददाति । केवलयोरनञ्च इति किम् ? वाक्ये भवत्येव । नैष ददाति । नस ददाति । अकोरिति किम् ? एषको ददाति । सको ददाति । “तन्मध्यपतित-स्तद्ग्रहणेन गृह्यते” [प०] इति प्राप्तिः । सग्रहणं किम् ? एतौ तौ चरतः । एतत्तदोरिति द्वित्वनिर्देशाद् वाया एकः सुगृह्यते । ईपो बहुत्वे हि एतत्तेषामिति ब्रूयात् । सुखमिति गमकत्वात् ।

सम्पर्युपात्कृजः सुङ्भूये ॥४३१११०॥ सम्, परि, उप इत्येतेभ्यः परस्य कृजः सुडागमो भवति भूयेऽर्थः । संस्क्रोति । समस्क्रोत् । संस्कारः । अन्तरङ्गत्वेन द्वित्वाडागमाभ्यां प्राक्सुट् । परिस्क्रोति । “सिबु-सहसुट्स्त्वञ्जाम्” [५१४५२] इति षत्वम् । पर्यत्क्रोत् । परिचत्कार । उपस्क्रोति । उपास्क्रोत् । उपचत्कार । भूप इति किम् ? उपस्क्रोति ।

समवाये ॥४३११११॥ संसर्गः समुदायो वा समवायः । तस्मिन् समादिभ्यः कृजः सुङ् भवति । तत्र न संस्कृतमनित्यम् अत्रापि कारणसमवायो गम्यते ।

उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारे ॥४३१११२॥ उपात्परस्य कृजः प्रतियत्नः वैकृत वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु सुङ् भवति । विद्यमानस्य गुणाधानमपूर्वार्जनं वा प्रतियन्तः । तत्र एषोदकस्योपस्कृते । काण्डं शरस्योपस्कृते । “प्रतियत्ने कृजः” [१३१६०] इति कर्मणि ता । विकृतत्वं वैकृतम् । तत्र उपस्कृतं भुङ्क्ते । उपस्कृतं गच्छति । वाक्यैकदेशो वाक्यगम्यमानार्थस्य वाक्यस्य वाक्यावयवस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः । तस्मिन् उपस्कृतं जल्पति । उपस्कृतमधीते । सोपस्कारं व्याचष्टे । पदान्तरास्यध्याहृतानि कथयतीत्यर्थः । एतेष्विति किम् ? उपक्रोति ।

किरतेर्लवे ॥४३१११३॥ उपादिति वर्तते । उपात्परस्य किरतेर्लवविषये सुङ् भवति । उपस्कीर्य मद्रका लुनन्ति । उपस्कारं मद्रा लुनन्ति । “शृञ्चाभीक्ष्ण्ये” [२१४८] इति णम् । “वा चेष्टिवेष्टयोः” [५२११६३] इत्यतो विकल्पानुवृत्तेराभीक्ष्ण्येऽपि द्वित्वाभावः “युङ्ख्या बहुलम्” [२१३१६४] इति बहुलवचनादनाभीक्ष्ण्ये वा णम् । लव इति किम् ? उपकिरति देवदत्तः ।

वधे प्रतेश्च ॥४३१११४॥ प्रतेरुपाच्च परस्य किरतेः सुङ् भवति वधेऽर्थः । प्रतिस्कीर्णं हि ते वृषल ब्रूयात् । उपस्कीर्णं हि ते वृषल भूयात् । अत्र वधः किरतेरभिधेयत्वेन विवक्षितो न विषयतया । तदुक्तम्—

सदाच्छ्रदाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह सैहीमतनुं तनुं त्वया ।

स सुगन्धान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥ [शिशु० ११४७]

हतः इत्यर्थः । वध इति किम् ? प्रतिकीर्णं बीजम् । “हनश्च वधः” [२१३१६३] इति हन्तेरचि वध इति भवति ।

चतुष्पाच्छकुनिष्वपाद्वर्षादौ ॥४॥३॥११५॥ अपात्परस्य किरतेश्चतुष्पात्सु शकुनिषु च यो हर्षादि-
स्तस्मिन् विषये सुङ् भवति । दविधिप्रकरणे “किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे” [१२।३३] इत्यत्र स्थितो
हर्षादिर्गणो गृह्यते । हर्षे—अपस्क्रिते वृषभो दृष्टः । जीविकायाम्—अपस्क्रिते कुकरो भक्षार्थी । कुलायकरणे—
अपस्क्रिते श्वा आश्रयार्थी । चतुष्पाच्छकुनिष्विति किम् ? अपस्क्रिते देवदत्तो दृष्टः । हर्षादाविति किम् ? अप-
स्क्रिते धान्यं काकश्चापलेन ।

कुस्तुम्बुरुगोष्पदास्पदाश्चर्यावस्करापस्करापरस्परविष्किरमस्करमस्करिप्रतिष्कशप्र-
स्करावहरिश्चन्द्रपारस्करप्रभृतीनि च ॥४॥३॥११६॥ कुस्तुम्बुरुप्रभृतीनि पारस्करप्रभृतीनि
च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुस्तुम्बुरुशब्दो जातौ निपात्यते । कुस्तुम्बुरुर्धान्यकं तृणजातिः ।
तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरुणि । जातेरन्यत्र कुत्सितानि तुम्बुरुणि । कुत्सितानि तिन्दुकीफलानीत्यर्थः ।
गोष्पदशब्दे सुडागमः प्लवं च निपात्यते सेविते । गवां पदमस्मिन् देशे । गावः पद्यन्ते वाऽस्मिन्निति
गोष्पदो देशः । गोष्पदमरण्यम् । असेविते नञ्पूर्वस्य निपात्यते । न विद्यते गवां पदमस्याम् अगोष्पदा
अरण्यानी । सेवितत्वप्रतिषेधे हि यत्र सेवितत्वसम्भवस्तत्रैव स्यादन्यत्रासम्भवे न स्यादिति पृथगसेवित-
ग्रहणम् । न विद्यतेऽस्मिन्निति विग्रहात् । प्रमाणे गोष्पदमात्रं क्षेत्रम् । गोष्पदपूरं वृष्टो देवः । एतेष्विति किम् ?
गोपदम् । आस्पदमिति प्रतिष्ठायाम् । आस्पदमनेन लब्धम् । अन्यत्र आपदापदम् । आश्चर्यमित्युद्धृतेऽर्थे ।
आश्चर्यं यदि स मुञ्जीत । आश्चर्यमाकाशेऽनिबन्धनानि नञ्वाणि न पतन्ति । आचर्यं व्रतमन्यत्र । “चरे-
राडि चागुरौ” [वा०२।१।८७] इति यः । अवस्कर इति वर्चस्के । अवपूर्वाकिरतेः कर्मणि “ध्वग्रहवृद्धगमोऽच्”
[२।३।५२] इति अच् । कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम् अन्नमलम् । तत्सम्बन्धाद्देशोऽपि तथोक्तः । अवकरोऽन्यत्र ।
अपस्कर इति रथाङ्गे । अपक्रीयतेऽनावित्यपस्करो रथावयवः । अपकर इत्यन्यत्र । अपरस्पर इति क्रिया-
सातत्ये । अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति । सततं गच्छन्तीत्यर्थः । अपरे परे चेति द्वन्द्वः ।

व्यान्तेऽह्ववश्यमोनाशस्तुमः कामे मनस्यपि । हिते तते समो वा खं मांसस्य पचि युङ्गजोः ॥

इति समो मकारस्य खे । सतत शब्दाद्व्यणि सातत्यम् । अपरपराः सार्थाः गच्छन्तीत्यन्यत्र । “विष्किर इति शकुनौ
सुडागमो वा निपात्यते । विष्किरतीति विष्किरः विक्करो वा शकुनिः । “ज्ञाकृमी” [१।१।१०८] इत्यादिना कः ।
सुट् पठे “सिबुसहसुट्स्तुस्वन्जाम्” [५।४।५२] इति प्लत्वम् । मस्करमस्करियौ वेणुपरिव्राजकयोः । मस्करो
वेणुः दण्डो वा हस्तिदमनः । मस्करी मित्तुः । मकरो ग्राहः मकरी समुद्रः इत्यत्र । अथवा “शमस्य करे शख-
माडः करिशब्दे प्रादेशश्च निपात्यते वेणुपरिव्राजकयोः । प्रतिष्कश इति निपात्यते सहायश्चेत् ।” कश गति-
शासनयोरित्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचाद्यच्चि सुडागमः प्लवं च निपात्यते । देशान्तरमहं ब्रजामि भवने त्वं प्रतिष्कशः ।
प्रतिष्कशोऽन्यः । प्रस्करावहरिश्चन्द्रौ भवत ऋषी चेत् । प्रकण्वो देशः । हरिचन्द्रो माणवक इत्यन्यत्र ।
पारस्करप्रभृतीनां च खौ सुडागमो निपात्यते । पारस्करो देशः । कारस्करो वृद्धः । वनस्पतिश्चैत्ररथं पातीति ।
रथस्या नदी । किष्कुः प्रमाणम् । किष्किन्धा गुहा । तद्बृहहोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तखं च ।
तस्करः । बृहस्पतिः । तत्करो बृहत्पतिरित्यन्यत्र । अजस्तुदम् । कास्तीरं च नगरम् । अजतुदम् कातीरमित्यन्यत्र ।
प्राप्तुम्पतौ गवि कर्तारि । प्रस्तुम्पति गौः । अन्यत्र प्रतुम्पति स्त्री । पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः ।

प्रायाच्चित्तिचित्तयोः ॥४॥३॥११७॥ प्रायात्परयोः चित्तिचित्तयोः सुङ् भवति । प्रायस्य चित्तम् प्राय-
श्चित्तम् । प्रायश्चित्तिः । “स्तो श्चुना शुः” [५।४।११६] इति सुटः श्चुत्वम् ।

भादाविदमोऽन्वादेशोऽश् ॥४॥३॥११८॥ भादौ परत इदमोऽशादेशो भवत्यन्वादेशे । यस्य पूर्वं
क्रियागुणद्वयैः संबन्धः कृतस्तस्यैव पश्चात्क्रियागुणद्वयान्तरेण संबन्धे क्रियमाणेऽन्वादेशोऽनुकथनं भवति ।
क्रियासंबन्धे इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरुपिता । अथो आभ्यां हिंसा च कृता । कुत्साऽशतयोः “फिसर्वनाम्नोऽङ्ग्रावटेः

को दः” [४।१।१३०] इत्यकि कृते साकइदमो हलि खं न भवति । “अनाप्यकः” [५।१।१७०] इत्यत्र अककारस्येत्यनुवर्तनात् तेनादेशः । गुणसंबन्धे इमकस्य छात्रस्य कुलमशोभनम् अथो अस्य शीलमपि । द्रव्य-संबन्धे इमकस्य राज्ञो जनपदो दुर्विहितः अथो अस्य भृत्याश्चावस्थाः ।

टौसिष्येनदेतदश्च ॥४।३।११६॥ य ओम् इप् इत्येतेषु परत एतद् इदमश्च एनदित्ययमादेशो भवति अन्वादेशो । एतेन छात्रेण रात्रिरधीता अथो एनेन निपुणमधीता । एनदादेशो कृते त्यदाद्यत्वम् । दकारान्तत्वं नपुंसके प्रयोजयति । एतयोश्छात्रयोश्शोभनं शीलम् अथो एनयो रूपमपि । एतं छात्रं काव्यमध्यापय अथो एनं गणितमपि । एतं जैनैन्द्रमध्यापय अथो एनं तर्कमपि । एतमर्थिनः संबन्धते अथो एनं मित्राणि च । इदमः खल्वपि अनेन छात्रेण रात्रिरधीता अथ एनेन निपुणमधीता । अनयोश्छात्रयोः शोभनं शीलम् अथो एनयो रूपमपि । इमं छात्रं काव्यमध्यापय अथो एनं गणितमपि । इदं सरो भ्रमराः सेवन्ते अथ एनद्विहङ्गाश्च । इदमस्तौसोः परतः पूर्वोणाशादेशः प्रातोऽन्वयाप्राप्त एनदादेशः ।

द्यावनुप् ॥४।३।१२०॥ द्याविति अनुविति च एतद् द्वितयमधिकृतं वेदितव्यम् । “ज्योतिरुद्गर्ता” [१।२।३६] इति निर्देशात् सामान्येन द्यावनुप् । प्रागोरधिकाराद् द्यावित्यधिकारः । अनुबधिकारः प्रागानङः । वक्ष्यति “कायाः स्तोकादेः” [४।३।१२१] स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं के” [१।३।३४] इति षसः । द्वित्वबहुत्वयोरनभिधानात् षसः । अभिधानेन भवति । गोपुचरः । वर्णसुजः इति । द्याविति किम् ? निष्क्रान्तः स्तोकान्निःस्तोकः । “आनङ् द्वन्द्वे” [४।३।१३८] इति द्यावानङादेशः । होता-पोतारौ । नेष्टोद्गतारौ । द्यावित्येव । होतारौ । होतृभ्याम् । सुपि माभूत् । “इकः प्रो ङ्याः” [४।३।१७२] इति प्रादेशो द्यौ । ग्रामणिपुत्रः । सेनानिपुत्रः । सुपि माभूत् । ग्रामणीभ्याम् ।

कायाः स्तोकादेः ॥४।३।१२१॥ स्तोकादिभ्यः परत्याः काया अनुब् भवति द्यौ । “स्तोकान्तिक-दूरार्थकृच्छ्रं केन” [१।३।३४] इत्यत्र स्थितः स्तोकादिर्गृह्यते । “स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं केन” इति षसः । अपादानलक्षणेयं का । काया इति किम् ? स्तोकेन मुक्तः स्तोकमुक्तः । स्तोकादेरिति किम् ? वृकाद्धयं वृकभयम् । कथं ब्राह्मणाच्छंसी ऋत्विग्विशेषः । उच्यते रुद्रशब्दोऽयं गोराव्दवदस्य व्युत्पत्तिः । ब्राह्मणा-दध्याहृत्यावयवमर्थं वा शंसतीत्येवंशीलः ब्राह्मणाच्छंसी । अपादाने का । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति षसः । “वे कृति बहुलम्” [४।३।१३२] इत्यनुप् ।

भाया ओजस्सहोऽम्भस्तपोऽञ्जसः ॥४।३।१२२॥ ओजस्, सहस्, अम्भस्, तपस्, अञ्जस् इत्येतेभ्यः परस्या भाया अनुब् भवति । अञ्जसा कृतम् । सहसा कृतम् । अम्भसा कृतम् । तपसा कृतम् । “साधनं कृता बहुलम्” [१।३।२६] इति षसः ।

खौ मनसः ॥४।३।१२३॥ खुविष्ये मनसः परस्या भाया अनुब् भवति । मनसा गुप्ता । मनसा गता । करणे भा । खाविति किम् ? मनोदत्ता ।

आज्ञायिनि ॥४।३।१२४॥ आज्ञायिनि द्यौ मनसः परस्या भाया अनुब् भवति । मनसा आज्ञानाति-त्येवंशीलो मनसाऽज्ञायी । अत्रापि यत्नोऽयम् । “पुंसाऽनुजो जनुषान्व इत्यनुव्वक्तव्यः” [वा०] । अनुजातोऽ-नुजः । पुंसा हेतुना करणेन वा अनुजः पुंसाऽनुजः । “साधनं कृता” [१।३।२६] इति षसः । यदा पुमांस-मनुजातस्तदा पुमनुज इति । जनुषा जन्मनाऽन्धो जनुषान्वः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा । “भा गुणोक्त्यार्थनोनैः” [१।३।२७] इति सः ।

डड्यात्मनः ॥४१३१२५॥ डडन्ते द्यौ आत्मनः परस्या भाषा अनुव् भवति । आत्मना पञ्चमः आत्मना षष्ठः । “प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्” [वा०] इति भा । डडन्तेन भान्तस्य सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । गम्यमानक्रियापेक्षया करणे वा भा । आत्मना कृतः पञ्चमः आत्मना पञ्चमः कथमयं प्रयोगः । जनार्दनस्वात्मचतुर्थ एव । वसोऽयम् । आत्मा चतुर्थः । व्यपदेशिवद्भावादन्वपदार्थत्वम् । यथा चारुशरीरः शिलापुत्रक इति ।

डेः खौ पराञ्च ॥४१३१२६॥ खुविषये पराञ्चात्मनश्च परस्य डेरनुव् भवति । प्रतिपदोक्तस्य डेर्ग्रहणम् । परस्मैभाषः । परस्मैपदम् । आत्मनेभाषः । आत्मनेपदम् । तादर्थ्येऽनुक्ता । आत्मा र्थं पदमात्मनेपदम् । सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । असदर्थार्थ इति विकृतेः प्रकृत्या षस उक्तः ।

ईपोऽद्वलः ॥४१३१२७॥ अदन्ताद्वलन्ताच्च सामर्थ्यान्मृदः परस्या ईपोऽनुव् भवति खुविषये । अरण्येतिलकाः । अरण्येमाषकाः । वनेकिञ्चुकाः । वनेवत्त्वजकाः । वनेहरिडकाः । पूर्वाह्नेस्फोटकाः । कूपेपिशाचकाः । “खौ” [१३१३८] इति षसः । हलन्तात् । त्वचित्तरः । हृषदिमाषकः । युधिष्ठिरः । निपातनाद्बुधिरः । नन्ववादेशेऽन्तरङ्गे कृते हलन्तता न । “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उन्वाधते” [प०] । अन्यथा नदीकुक्कुटिकादिषु यणादेशे सत्यनुप् प्रसज्येत । अद्वल इति किम् ? नद्यां कुक्कुटिका । भूमिशर्करा । भू मवाशः । “अखौ हृद्युभ्यामिष्यर्थे ईप् तस्याश्चानुव् वक्तव्यः” [प०] । हृदिस्थक् । दिविस्थक् । न वक्तव्यः । यो हि हृदयं स्पृशति । “षे कृति बहुलम्” [४१३१३२] इत्यनुप् । स चानुप् हृदिति प्रकृत्यन्तरं यत्तस्माद्भवति । “अभुमिति चाखौ वक्तव्यम्” [वा०] । अभुमान् “अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः” [वा०] । अभु भवोऽप्सव्यः । अभुयोनिः ।

कारे प्रायः ॥४१३१२८॥ यूथे गृहे क्षेत्रे धान्याद्यं वस्तु रत्नानिर्देशार्थं यदवश्यं राज्ञे देयं स कारः । तद्वाचिनि द्यौ ईपोऽनुव् भवति खौ प्रायः । खाविति वर्तते । अद्वल इति च । अदन्तात् । स्तूपे शाणः । मुकुटे कार्पापणः । हले द्विपदिका । हले त्रिपदिका । द्वौ द्वौ पादौ देयौ । “वीप्सादण्डल्यागे वुन्” [४१२१०] इति वुन् । “खौ” [१३१३८] इति षसः । हलन्ताद्-हृषदि माषकः । समिधि माषकः । खुविषये पूर्वैशैव सिद्धे प्रायोग्रहणार्थमेतत् । तेन कारे क्वचिदनुम भवति । यूथे पशुः । यूथपशुः । यूथे वृषः । यूथवृषः । “खौ” [१३१३८] इति षसः । कार इति किम् ? अभ्याहिते पशुः । कारादन्यस्य देयस्य नामैतत् । उप् युरपरि पशुर्देय इत्यर्थः । “ईपोऽद्वलः” [४१३१२७] इत्यनेनापि कारग्रहणादिहानुमन् भवति । अद्वल इत्येव जङ्घाकार्पापणः । मषीकार्पापणः । नदीदोहः । कारसंज्ञा एताः ।

हलि ॥४१३१२९॥ हलादौ कारे द्यौ ईपोऽनुव् भवति । स्तूपेशाणम् । नियमार्थमिदम् । हलादावेव नाजादौ । अविकटोरणः ।

मध्यान्तादुरौ ॥४१३१३०॥ मध्य अन्त इत्येतभ्याम् ईपोऽनुव् भवति गुरौ द्यौ । मध्येगुरुः । अन्ते गुरुः । सविधेरिदमेव ज्ञापकम् । असंज्ञाऽर्थोऽयं यत्नः ।

अक्रामेऽमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गात् ॥४१३१३१॥ मूर्धमस्तकवर्जितात्स्वाङ्गात्परस्या ईपोऽनुव् भवति-अक्रामे द्यौ । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । वहे गडुः । उदरे मणिः । व्यधिकरणानामपि क्वचिद्वसः । उरसिलोमश इत्यत्र मत्वर्थीये कृते उरसीत्यनेन योगः । अक्राम इति किम् ? मुखे कामोऽस्याः मुखकामा स्त्री । अमूर्धमस्तकादिति किम् ? मूर्धशिखः । मस्तकशिखः । उभयप्रतिषेधात्स्वरूपग्रहणम् । तेन पर्यायादनुप् । शिरसिशिखः । स्वाङ्गादिति किम् ? पानशौण्डः । स्वाङ्गादिति कर्तुमशक्यम् । मूर्धमस्तकपयुंदासेन स्वङ्ग एव सात्ययात् । तत्क्रियते “अद्वं मूर्तिमद्” इत्यादिपरिभाषिकस्वाङ्गसम्प्रत्ययार्थम् । तेनाप्राणिस्थादनुमन् भवति । मुखे पुरुषा अस्याः मुखपुरुषा शाला । अद्वल इत्येव । अङ्गुलित्रयः । जङ्घावलिः । असाविमौ । असंज्ञार्थमारम्भः ।

षे कृति बहुलम् ॥४१३१३२॥ पे कृदन्ते द्यौ बहुलमीपोऽनुब् भवति । बहुलग्रहणं सर्वविकल्पसंग्र-
हार्थम् । स्तम्भेरमः । कर्णोजपः । “प्रावृद्ध वर्षाशरत्नादिवां जेऽनुप्” [वा०] प्रावृत्तिपिजः । वर्षामुजः । शरदिजः ।
कालेजः । दिविजः । न भवति कुरुचरः । मद्रुचरः । “इन्सिद्धवन्नातिस्थेषु च न भवति” [वा०] न्थरिडलशयी ।
स्थरिडलवर्ती । “व्रते” [२।२।६८] इति गिन् । साङ्काश्यसिद्धः । काम्पित्यसिद्धः । चक्रवन्धनम् । चक्रवन्धनम् ।
समस्थः । विप्रमस्थः । कूटस्थः । पर्वतस्थः । समानाधिकरणे च नेष्यते । परमे कारके । “वर्षाशरवराज्जे द्विधा”
[वा०] वर्षजः । वर्षेजः । क्षरजः । क्षरेजः । शरजः । शरेजः । वरजः । वरेजः । “शयवासवासिष्यकालवाचिनो द्विधा”
[वा०] खशयः । खेशयः । विलशयः । विलेशयः । वनवासः । वनेवासः । ग्रामवासः । ग्रामेवासः । नववासी ।
नवेवासी । ग्रामवासी । ग्रामेवासी । अकालवाचिन इति किम् ? पूर्वाह्नेशयः । अपराह्नेशयः । “वन्धे द्विधा”
[वा०] हस्तेवन्धः । हस्तवन्धः । स्वाङ्गादिति नित्यं प्राप्तिः । चक्रवन्धः । चक्रवन्धः । वन्धतौ अनुप् प्रतिषेधः प्राप्तः ।
अदल इत्येव । भूमिशयः । गुप्तिवन्धः । “कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि” [प०] अवततनकुलस्थितम् । उदके
विशीर्णम् । “क्षेपे” [१।३।४१] इति पसः । “कचिदन्यत्रापि ” । ब्राह्मणाच्छंसी । पूर्वस्यैवायं प्रपञ्चः ।

भक्तकालतनेकालेभ्यो वा ॥४१३१३३॥ झसंशके कालशब्दे तनशब्दे च परतः कालिवाचिभ्यः परस्या
ईपो वाऽनुब् भवति । भ इति तरतमौ । “तादी भः” [४।१।११७] इति वचनात् । पूर्वाह्नेतराम् । पूर्वाह्नेतरे ।
अस्मिंश्च पूर्वाह्ने अस्मिन्नतिशयेन पूर्वाह्ने इति विग्रह्यते । “द्विविभज्ये तरेयसू” [४।१।११६] इति । अहराश्रयस्य
पूर्वस्य प्रकर्षतरः । अनुपपन्ने “किमेन्मिड्भिक्षादामद्रव्ये” [४।२।२०] इति एतदन्तात्परौ भ इत्याम् भवति ।
सर्वेषु पूर्वाह्नेषु अतिशयेन पूर्वाह्ने इति विग्रह्यते । “तमेष्ठावतिशयने” [४।१।११४] इति तमः । पूर्वाह्नेतमाम् ।
पूर्वाह्नेतमे भुङ्क्ते । पूर्वाह्नेकाले “विशेषणं विशेष्येणेति” [१।३।५२] पसे कृते । पूर्वाह्नेकाले पूर्वाह्नेकाले गतः ।
पूर्वाह्ने जातो भवो वा पूर्वाह्नेतनः । पूर्वाह्नेतनः । “वा पूर्वापरदहात्” [३।२।१४१] इति तनट् । इदमेव ज्ञापकं सुव-
न्ताद् हटुप्यन्ते । कालेभ्य इति किम् ? शुक्लतरे । शुक्लतमे । अदल इत्येव । रात्रितरायां गतः । अस्यां च रात्रौ
अस्यामतिशयेन रात्राविति । “त्यग्रहणे चाकायः” [प०] इति कान्तात्परौ भक्तनौ स्वरूपेण गृह्येते न तदन्तविधिना ।
अपि च “हृदयस्य हृल्लेखयाचलासेषु” [४।३।१६१] इत्यत्राण्ग्रहणेन सिद्धे लेखग्रहणं ज्ञापकं “द्यावित्यधि-
कारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव” [प०] ।

ताया आक्रोशे ॥४१३१३४॥ ताया अनुव भवति द्यौ आक्रोशे गम्यमाने । चौरस्य कुलम् । दासस्य
कुलम् । वृषलस्य भार्या । “ता” [१।३।७०] इति पसः । आक्रोश इति किम् ? मोक्षमार्गः । असूयाचिरहे
दासकुलमिति भवति । ताया इति योगविभागः । “तेन वाविदक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्” [वा०] वाचो युक्तिः ।
दिशोदण्डः । पश्यतोहरः । “ता चानादरे” [१।४।४६] इति ता । “देवानां प्रियादिष्वनुप्” [वा०] देवानां प्रियः ।
दिवोदासः । आमुष्यायणः । नडादित्वात्फण् । आमुष्यपुत्रिका । आमुष्यकुलिका । मनोज्ञादिपाठाद्वुञ् । “शुनः
खौ शेफपुच्छलाङ्गुलेषु” [वा०] शुनःशेफः । शुनःपुच्छः । शुनोलाङ्गुलः ।

पुत्रे वा ॥४१३१३५॥ पुत्रे द्यौ ताया वाऽनुब् भवति आक्रोशे । दास्याः पुत्रः । दासीपुत्रः । चौर्याः
पुत्रः । चौरिपुत्रः । पूर्वेण नित्यं प्राप्तः ।

ऋतो विद्यायोनिंसंबन्धात् ॥४१३१३६॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यासंबन्धेभ्यो योनिंसम्बन्धेभ्यश्च
परस्यास्ताया अनुब् भवति । सामथ्याद्विद्यायोनिंसंबन्धि द्यौ । होतुः पुत्रः । होतुन्तेवासी । पोतुः पुत्रः । पोतु-
न्तेवासी । योनिंसम्बन्धात् । मातुः पुत्रः । मातुन्तेवासी । पितुः पुत्रः । पितुन्तेवासी । ऋत इति किम् ?
उपाध्यायपुत्रः । मातुलपुत्रः । उपाध्यायशिष्यः । पुत्रशिष्यः । विद्यायोनिंसम्बन्धादिति किम् ? कर्तृपुत्रः ।
कर्तृशिष्यः । विद्यायोनिंसम्बन्धिव्याविति किम् ? होतृगृहम् । पितृधनम् ।

वा स्वसृपत्योः ॥४३१३७॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यायोनिःसम्बन्धेभ्यः परस्यास्ताया वाऽनुच् भवति स्वसृपत्योः परतः । मातृष्वसा । मातुः स्वसा । मातुः ष्वसा । पितृष्वसा । पितुः स्वसा । पितुः ष्वसा । उपि “मातृपितृभ्यां स्वसुः” [५१४६६] इति षत्वम् । अन्यत्र “वाऽनुपि [५१४६७] इति वा षत्वम् । दुहितुः पतिः । दुहितृपतिः । स्वसुः पतिः । स्वसृपतिः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

आनङ् द्वन्द्वे ॥४३१३८॥ ऋतो विद्यायोनिःसम्बन्धादिति वर्तमानम् अर्थात्तान्तं सम्पद्यते । ऋकारान्तानां विद्यायोनिःसम्बन्धानां यो द्वन्द्वस्तत्र द्यौ पूर्वस्यानङादेशो भवति । होतापोतारौ । नेष्टोद्गातारौ । प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ । एककर्तृकर्मणि विद्याकृतः संबन्धोऽस्ति । योनिःसम्बन्धे मातापितरौ । माताननान्दारौ । नकारोच्चारणं किम् ? आ इत्युच्यमाने “रन्तोऽणुः” [१११४८] इति रन्तः स्यात् । ऋत इति किम् ? पितृपितामहौ । विद्यायोनिःसंबन्धादिति किम् ? कर्तृकारयितारौ । सम्बन्धग्रहणं किम् ? पितृभ्रातरौ । नात्र विद्यातो योनितो वा परस्परसंबन्धोऽस्ति । मण्डूकप्लुत्या पुत्रग्रहणमनुवर्तते । तेन पुत्रेऽपि द्यौ ऋकारान्तस्य आनङ् भवति । पितापुत्रौ । मातापुत्रौ ।

देवताद्वन्द्वे ॥४३१३९॥ देवतावाचिनां च द्वन्द्वे द्यावानङादेशो भवति । इन्द्रावरुणौ । इन्द्रासोमौ । इन्द्राबृहस्पती । सूर्याचन्द्रमसौ । द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणं सहवापनिर्देशार्थम् । तेन ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशालौ इत्येवमादिषु शास्त्रे सहदाननिर्देशाभावात् भवति । इष्टद्वन्द्वपरिग्रहार्थं वा पुनर्वचनम् । अत्यन्तसहचरिते लोकविज्ञाते द्वन्द्वशब्दो निपातितः । ततो लोकप्रसिद्धसाहचर्याणामानङ् भवति । “वायोरुभयत्र प्रतिषेधः इष्यते” [वा०] अग्निवायू । वाय्वनी ।

सोमवरुणेऽग्नेरीः ॥४३१४०॥ सोमवरुण इत्येतयोः परतोऽग्नेरीकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्नीषोमौ । अग्नीवरुणौ । अन्तस्त्यालः स्थाने आनङोऽपवाद ईकारः । “स्तुत्सोमौ चाग्नेः” [५१४६५] इति षत्वम् । द्वन्द्वे इत्येव । उपचारादग्निःसोमौ माणवकौ ।

ऐपीत् ॥४३१४१॥ साहचर्यादेव भाजि द्यौ अग्नेरिकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्या आग्निवारुणौ । आग्निमास्तम् । देवतार्थेऽणि उभयोः पदयोरैपि कृते ईत्वाणङोरपवाद ईकारः । “विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा] अग्निश्च विष्णुश्च देवतेऽस्य आग्नीवैष्णवम् । आनङेव भवति । ऐपीति किम् ? आग्नेन्द्रः । “नेन्द्रस्य” [५१२०७] इतिद्यौ रैप्रतिषेधः ।

दिवो द्यावा ॥४३१४२॥ दिवो द्यावा इत्ययमादेशो भवति द्यौ देवताद्वन्द्वे । द्यौश्च भूमिश्च द्यावाभूमी । द्यावानक्ते । द्यावान्त्मे । अनेकाल्वात्सर्वादेशः ।

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥४३१४३॥ दिवो दिवस इत्ययमादेशो भवति द्यावा च पृथिव्यां द्यौ देवताद्वन्द्वे । दिवस्पृथिव्यौ । द्यावापृथिव्यौ । उच्चारणार्थेनाकारेण निर्देशो रित्वाधानार्थः ।

उषासोषसः ॥४३१४४॥ उषस उषासा इत्ययमादेशो भवति द्यौ देवताद्वन्द्वे । उषश्च नक्तम् च उषासानक्तम् । उषासानक्ते । नक्तं शब्दो मकारान्तो भिन्नश्रुकोऽकारान्तश्च नपुंसकलिङ्गोऽस्ति ।

मातरपितरौ वा ॥४३१४५॥ मातरपितराविति वा निपात्यौ । मातरपितरौ । द्यौ ऋकारस्यार्भावो निपात्यते । पदे “आनङ् द्वन्द्वे” [४३१३८] इत्यानङि कृते मातापितरौ ।

स्त्युक्तपुंस्कादनूरेकार्थेऽडट्प्रियादौ स्त्रियां पुंवत् ॥४३१४६॥ उक्तपुंस्कात्परो यः स्त्रीत्यः तदन्त एकार्थे द्यौ स्त्रियां वर्तमाने डडन्तप्रियादिवर्जिते पुंवद्भवति । स्थानेऽन्तरतम इत्यन्तरतमतः पुंशब्देन तुल्यो भवतीत्यर्थः । दर्शनीया भार्या अस्य दर्शनीयभार्यः । शोभनभार्यः । चारुजङ्घः । स्त्री इति किम् ? ग्रामणि कुलं दृष्टिस्त्य ग्रामणिदृष्टिः । उक्तपुंस्कादिति किम् ? माला वृन्दारिकः । तथा द्रणीभार्यः कच्छपः । वरदाभार्यौ

हंसः । वडवामार्थेऽश्वः । तथा अङ्गारकाः शकुनयः । कालिकारथैषां द्विवः । कालिकामार्था अङ्गारकाः । नहि दुष्पादयः शब्दाः समानायामाहुतौ पुंनि वृत्ताः । पुं वद्भावेऽर्थतः आन्तरतन्त्रे कच्छपादिप्रयोगः प्रसज्येत । अन्-
रिति किम् ? वामोरुभार्यः । अन्विति स्त्रीत्यस्युदासाद् अन्योऽपि स्त्रीत्य एव गृह्यते इति स्त्रीग्रहणमनर्थकं
तद्वृत्तमस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुं वद्भावेति ज्ञापनार्थम् । ऐडिविडभार्यः । पार्थभार्यः । दारदभार्यः । औसिजभार्य इति
सिद्धम् । इडिविड पृथु अनयो राप्सुसमानशब्दत्वात्पदार्थेऽन् । दृढ, उमिजा आन्या द्वयध्मगवेत्यादिनाऽण् ।
स्त्रियाम् “अतोऽग्राध्वमर्गादेः” [३।१।१५८] इत्यस्योऽण् । इडिविडभार्या अस्वेति पुं वद्भावे ऐडिविडभार्य
इत्यादि । एकार्थ इति किम् ? कल्याण्या माता कल्याणीमाता । अडट्प्रियादाविति किम् ? कल्याणी पञ्चमा
रात्रयः । कल्याणीपञ्चमः । कल्याणीदशमः । “डट्स्त्रीग्रमाणयोः” [४।२।११६] इत्यः सान्तः । यदि डन्ता
स्त्री तदुण्यनिज्ञानादिना प्रधानं तदा पुं वद्भावप्रतिषेधः सान्तश्चाकारो वेदितव्यः । इह माम् कल्याण-
पञ्चमीकः पक्षः । कल्याणीमनोरः । प्रिया । मनोज्ञा । कल्याणी । सुभगा । दुर्भगा । भक्तिः । सचिवा । स्वा ।
कान्ता । समा । चपला । दुहिता । वामा इति प्रियादिः । डट् भक्तिरस्य डट्भक्तिः । शोभनभक्तिरित्यादी न
पूर्वपदं स्त्रीलिङ्गमिति । तेन प्रियादौ द्वौ पूर्वस्य यावत्शङ्का न कर्तव्या । स्त्रियामिति किम् ? कल्याणी प्रधान-
मेषां कल्याणीप्रधानाः । उक्तः पुमान् समानायामाहुतौ अभिन्ने प्रवृत्तिनिमित्ते ज्ञान्यादिके येन शब्देन स तथोक्तः ।
अथवा उक्तः पुमान् यस्मिन्नर्थे त्यादिके स तथोक्तः । तद्व्याप्य शब्द उक्तमुक्त इति व्युत्पादनं किमर्थम् ।
द्रोणीभार्यः । कुटीभार्यः । अत्र द्रोणकुटशब्दौ आकृत्यन्तरे पुलिङ्गौ । कथं गर्गभार्यः, प्रसूतभार्यः । प्रजात-
भार्यः इति । अत्राप्येकजात्यपेक्षया कथञ्चित्समानाहुतित्वमूह्यम् ।

तसादौ ॥४।३।१४७॥ तसादिषु परतः उक्तपुंस्कादन्तः स्त्रीपुं वद्भवति । आदिशब्दः प्रकारवाचो ।
तत् । त्र । तर । तम । चरट् । जातीय । देश्य । देशीय । कल्प । पाश । रूप । था । थम् । दा । हिं । ध्य ।
केषु परतः । तस्यास्ततः । तस्यां तत्र । आद्यतरा । आद्यतमा । पट्वी भूतपूर्वा पटुचरो । पट्वीप्रकारा । पटु-
जातीया । ईषदसिद्धा पट्वी पटुदेश्या । पटुदेशीया । वृद्धकल्पा । याप्या वृद्धा वृद्धपाशा । प्रशस्ता वृद्धा
वृद्धरूपा । तया प्रकृत्या तथा । कया प्रकृत्या कथम् । तस्यां वेलायां तदा । अस्यां वेलयाम् एतर्हि । अत्रार्थे
हितम् अजथम् । “अजाविभ्यां थ्यः” [३।१।६] इति थ्यः । दरच्छब्दात्के पुं वद्भावे च कृते दारदिका । के
पुं वद्भावात्परत्वेन प्रादेशः । पटिवृका । मृद्विका । बह्वर्थार्थच्छुति बह्विभ्यो देहि बहुशो देहि । अल्पाभ्यो देहि
अल्पशो देहि । “गुणवचनात्त्वलोः” [वा०] पट्व्या भावः पटुत्वम् । पटुता । गुणवचनादिति किम् ?
क्षत्रियात्वम् । क्षत्रियाता । कठीत्वम् । कठीता । “भस्य हत्यथे पुं वद्भावो वक्तव्यः” [वा०] हस्तिनीनां समूहो
हास्तिकम् । ईशस्य स्थानिवद्भावाद्द्विषं न स्यात् । अट इति किम् ? श्येन्याः अपत्यं श्येनेयः । रौहिणेयः । कथम्
अगनायी देवता अस्य आग्नेयः ? “अग्निक्लिभ्यां ढण्” [३।२।२८] इति । “डेऽपि कचित्पुं वद्भावो वक्तव्यः”
[वा०] “उण्डुसोश्च” [वा०] । भवत्या इदं भावत्कम् । भवदीयम् । अवस्थायां पुं वद्भावे “इसुसुक्तः कः”
[५।२।५२] इति कादेशः ।

वृद्धमानिनोः ॥४।३।१४८॥ क्यडि मानिनि च परत उक्तपुंस्कादन्तः स्त्री पुं वद्भवति ।
एनीवाचरति एतायते । हरिणीवाचरति हरितायते । मानिनि द्वौ । इमां दर्शनीयां मन्यते दर्शनीयमानी
देवदत्तः । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” [प०] । दर्शनीयां मन्यते देवदत्तां जिनदत्ता दर्शनीयमानिनी । एकार्थे
स्त्रीलिङ्गे द्वौ पूर्वैर्यैव सिद्धः पुं वद्भावः । दर्शनीयामात्मानं मन्यते दर्शनीयमानिनी स्त्री ।

न बुद्धत्कोडः ॥४।३।१४९॥ बोद्धतश्च यः ककारस्तदुडः स्त्रिया न पुं वद्भावः । बु—पात्रिकभार्यः ।
कारिकाभार्यः । लाक्षिकीतः । व्यक्षिकीपाशा । लाक्षिकीयते । लाक्षिकीमानिनी स्त्री । विलेपिकाया धर्म्यं वैले-
पिकम् । “ऋन्महिष्यादेः” [३।१।६९] इत्यणि कृते “भस्य हत्यथे” [वा०] इति पुं वद्भावः प्राप्तः । पुं वद्भावे
हीत्वनिवृत्तिः स्यात् । सामान्येनायं प्रतिषेधः । बुद्धग्रहणं किम् ? मूकभार्यः । जागरूकभार्यः । वराकभार्यः ।

डट्स्वोः ॥४१३१५०॥ डडिति प्रत्याहारेण डडन्ता लुश्च स्त्री न पुंवद्भवति । पञ्चमीभार्यः । दशमीभार्यः । पञ्चमीतमः । पञ्चमीपाशः । पञ्चमीयते । पञ्चमीमानिनी । स्त्रौ—दत्ताभार्यः । दानक्रिया व्युत्पत्तिद्वारेण संज्ञाशब्देऽप्युक्तपुंस्त्वमस्ति । दत्तो माणवकः इति पुंवद्भावः प्रातः । एवं गुप्ताभार्यः । दत्तातः । गुप्तातः । दत्तिकामानिनी । दत्तिकायते ।

जिण्डुदरक्तविकारे ४१३१५१॥ रक्तविकारवर्जितेऽर्थे यो हट् जिणत् तदन्तस्त्री न पुंवद्भवति । जित्-श्रौत्सीभार्यः । णित्-स्त्रौघ्नीभार्यः । माथुरीभार्यः । अर्धखारी भवा अर्धखारी । “परिभाषास्थानतोऽर्धाद्वा पूर्वस्थ” [५१२३२] नैप् । अर्धखारी भार्या अस्य अर्धखारीभार्यः । वैयाकरणी भार्या अस्य वैयाकरणीभार्यः । स्त्रौघ्नीतः । स्त्रौघ्नीपाशा । स्त्रौघ्नीयते । स्त्रौघ्नीमानिनी । जिणदिति किम् ? तावतीभार्या अस्य तावद्भार्यः । मध्ये भवा मध्यमा भार्या अस्य मध्यमभार्यः । त्रिपृष्ठायनिभार्यः । त्रिपृष्ठस्याप्त्यं स्त्री “फिरदोः” [३१११४७] इति फिः । “इतो मनुष्यजातेः” [३११५५] इति छी पुंवद्भावः । हृदिति किम् ? पुष्पलावी भार्या अस्य पुष्पलावभार्यः । अरक्तविकार इति किम् ? कपायेण रक्ता कापायी बृहतिकाऽस्य कपायवृहतिकः । लोहस्य विकारो लौही ईपा अस्य लौहिपो रथः ।

अमानिनीत्स्वाङ्गात् ॥४१३१५२॥ स्वाङ्गात्परो य ईत् तदन्ता स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनी स्त्रौ । दीर्घकेशीभार्यः । श्लक्ष्णमुखीभार्यः । दीर्घकेशीतः । दीर्घकेशीपाशा । दीर्घकेशीयते । अमानिनीति किम् ? श्लक्ष्णमुखमनिनी । ईदिति किम् ? पृथुजवनभार्यः । अकेशभार्यः । “न क्रोडादिवह्वचः” [३११४९] “सहजञ् विद्यमानात्” [३११५०] इति च डीप्रतिषेधः । स्वाङ्गादिति किम् ? पटुभार्यः ।

जातिश्च ॥४१३१५३॥ जातिश्च स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनी स्त्रौ । कठीभार्यः । बहुवृचीभार्यः । कठीतः । कठीपाशा । कठीयते । “बुद्धं च चरणैः सह” इति वचनाज्जातिः । अमानिनीत्येव । कठमानी । कठमानिनी । चशब्दः किमर्थः ? “भस्य हत्यडे” [वा०] इति प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य प्रतिषेधो न भवतीत्यनुक्त-समुच्चयार्थः । तेन हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम् ।

पुंवद्यजातीयदेशीये ॥४१३१५४॥ उक्तपुंस्कादन्तः स्त्री पुंवद्भवति यसंज्ञके से स्त्रीलिङ्गे द्वौ जातीयदेशीय इत्येतयोश्च परतः । यसे आद्यसूत्रेण पुंवद्भावः सिद्धः । जातीयदेशीययोश्च तसादौ पाठात् । तस्मात्प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थं आरम्भः । “न लुहत्कोडः” [४१३१४९] इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति । पाचकवृन्दारिका । पाचकजातीया । पाचकदेशीया । “डट्स्वोः” [४१३१५०] इत्युक्तं तत्रापि भवति । पञ्चमवृन्दारिका । पञ्चमजातीया । पञ्चमदेशीया । दत्तवृन्दारिका । दत्तदेशीया । “जिण्डुदरक्तविकारे” [४१३१५१] इत्युक्तं तत्रापि भवति श्रौत्सवृन्दारिका । श्रौत्सजातीया । श्रौत्सदेशीया । स्त्रौघ्नवृन्दारिका । स्त्रौघ्नजातीया । “अमानिनीत्स्वाङ्गात्” [४१३१५२] इत्युक्तं तत्रापि भवति । दीर्घकेशवृन्दारिका । दीर्घकेशजातीया । दीर्घकेशदेशीया । “जातिश्च” [४१३१५३] इत्युक्तं तत्रापि भवति । कठवृन्दारिका । कठजातीया । कठदेशीया । पुंवद्भाववचनात्सर्वस्य प्रतिषेधस्य निवृत्तिः । उक्तपुंस्कादनूरियनुवर्तते । उक्तपुंस्कादिति किम् ? मालावृन्दारिका । मालाजातीया । मालादेशीया । कालिकाश्च ता वृन्दारिकाश्च कालिकावृन्दारिका । कालिकाजातीया । कालिकादेशीया । अनूरिति किम् ? वामोरुवृन्दारिका । वामोरुजातीया । वामोरुदेशीया । “अडट्प्रियादौ” [४१३१४९] इत्युक्तम् । तत्रान्येन पुंवद्भवति । कल्याणी चासौ पञ्चमी कल्याणपञ्चमी । कल्याणी चासौ प्रिया कल्याणप्रिया । कल्याणमनोऽज्ञा । अथात्र कथं पुंवद्भावः, मृग्याः क्षीरम् मृगक्षीरम् ; कुक्कुट्या अण्डम् कुक्कुटाण्डम् । काक्याः शावः काकशावः ? अस्त्रीलिङ्गस्य पूर्वपदस्य सामान्येन विवक्षितत्वाददोषः । अस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुंवद्भवतीत्युक्तम् । इडिविट् चासौ वृन्दारिका च ऐडिविडवृन्दारिका इत्यादौ पुंवद्भाव आद्यसूत्रेणैव सिद्धः ।

भारूपकल्पचेलङ्ब्रुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः ॥४३।१५५॥ ईदिति वर्तते । भू, लभ, कल्प, चेलङ्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत इत्येतेषु परतः उक्तपुंस्कात्परो य ईकारः स्त्रीत्यस्तदन्तस्यानेकाचः प्रो भवति । कुमारितरा । कुमारिता । कुमारिरूपा । कुमारिकल्पा । “तसादौ” इति पुंवद्भाव ईकारादन्यत्र सावकाशोऽनेन प्रादेशेन बाध्यते कुमारिचेली । कुमारिब्रुवा । कुमारिगोत्रा । कुमारिमता । कुमारिहता । चेलङ्शब्दः पञ्चादौ पठ्यते । ब्रूजः शे ब्रुव इहैव निपात्यते । चेलङ् ब्रुवगोत्रशब्दाः कुन्तनशब्दाः । “कुत्स्यं कुत्सनैः” [१।३।४८] इति सः । मतहताभ्यां विशेषणलक्षणो यसः । अनेकाच इति किम् ? स्त्रीतरा । स्त्रितरा । “वा मोः” [४।३।१५६] इति विकल्पः । उक्तपुंस्कादिति किम् ? आमलकीतरा । वदरीतरा । अनुक्तपुंस्कादपि कचिन्न इत्यते । कचिन्नतरा । तन्त्रितरा । ईदिति किम् ? दत्तातरा । गुनातरा । स्त्रीत्य इति किम् ? ग्रामणीतरा । सेनानीतरा । वा मोरिति विकल्पे प्राप्ते पुरस्तादपवादोऽयम् ।

वा मोः ॥४३।१५६॥ मुसंज्ञकस्य वा प्रो भवति भ्रादिषु परतः । अनेन विशेषेण विकल्पे प्राप्ते पुरस्तादनेकाच ईकारस्य नित्यः प्रादेश उक्तः । ततोऽन्यदुदाहरणम् । एकाच् ईकारः ऊकारः सर्वः । स्त्रितरा । स्त्रीतरा । स्त्रिता । वामोरुतरा । वामोरुतरा । एवं रूपादिविषय नेयम् । उक्तपुंस्कादन्तरिति निवृत्तम् । एकार्थ इत्येतदनुवर्तते । तेन स्त्रिया हतः स्त्रीहत इत्यत्र न प्रादेशः । कृतसंज्ञकस्य मोर्न भवतीत्येके । लक्ष्मीतरा । लक्ष्मीतमा ।

उगितश्च ॥ ४।३।१५७॥ उगितश्च परस्य मोर्वा प्रादेशो भवति भ्रादिषु परतः । श्रेयसीतरा । श्रेयसीतरा । विदुपितरा । विदुपीतरा । चशब्दः पक्षे पुंवद्भावसमुच्चयार्थः । श्रेयस्तरा । विद्वत्तरा । “भरूप” [४।३।१५५] आदिना नित्यः प्रादेशः प्राप्तः पूर्वसूत्राद्वैति व्यवस्थितविभाषाऽपेक्ष्यते । तेनाञ्चतेर्नित्यः प्रादेशः । प्राचितरा ।

आन्महतो जातीये च ॥४३।१५८॥ आकारादेशो भवति महतो जातीये एकार्थे द्वौ च परतः । महाजातीयः । महापुत्रः । महतः सन्महत्परमेत्यादिना प्रतिपदोक्ते द्वौ आत्वं सिद्धम् । एकार्थवर्तनं वसेऽपि प्रापणार्थम् । महाप्राणः । महाबाहुः । जातीये चेति किम् ? महतः पुत्रो महपुत्रः । आदिति द्विमात्रोच्चारणमुत्तरार्थम् । पुंवद्यजातीयादिसूत्रे पुंवदिति योगविभागात्पुंवद्भावः । इहादिति योगविभागादात्वम् । तेन “महत्या घासकारविशिष्टेषु व्यधिकरणेत्येऽपि पुंवद्भावत्वे भवतः” [वा०] महत्या घासो महाघासः । महत्याः कारो महाकारः । महत्या विशिष्टो महाविशिष्टः । अमहान् महान् सम्पन्नो महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र च्यौ निवृत्ते “चिवाजूर्यादिः” [१।२।१३२] इति तिसंज्ञा । भूतशब्देन “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति षसे कृते गौणत्वान्महदर्थत्वाभावात् । पूर्वोक्तयोगविभागात्विह महतीशब्दस्य पुंवद्भावः अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता कन्या ।

द्वयष्टनः संख्यायामवाशीत्योः प्राक्छुतात्त्रेख्यः ४।३।१५९॥ द्वि अष्टन् इत्येतयोराकारादेशो भवति संख्यायां द्वौ प्राक्छतात् वसमशीतिं च वर्जयित्वा, त्रेश्च त्रयसित्ययमादेशो भवति । द्वादश । द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशतिः । “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्” । अथवा द्वयधिका विंशतिः द्वाविंशतिः । समानाधिकरणाधिक्युल्लं शाकपार्थिवादिवद्दृष्टव्यम् । अष्टादश । अष्टाविंशतिः । अष्टात्रिंशत् । त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयस्त्रिंशत् । द्वयष्टनत्वेरिति किम् ? चतुर्दश । संख्यायामिति किम् ? द्विमूली । अष्टमूली । त्रिमूली । समाहारे षसः । “संख्यादी रश्च” [१।३।४७] इति रसंज्ञः । “राव्” [३।१।२५] इति डीविधिः । अवाशीत्योरिति किम् ? द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । अष्टदशाः । त्रिदशाः । “संख्याबाहुोऽबहुगणात्” [४।२।६६] इति डः सान्तः । द्वयशीतिः । त्रयशीतिः । वसेऽशीतौ च न भवति । प्राक्छतादिति किम् ? द्वयधिकं शतं द्विशतम् । त्रिशतम् । त्रिसहस्रम् ।

वा चत्वारिंशदादौ ॥४१३१६०॥ चत्वारिंशदादौ संख्यायां औ अवाशीत्योर्द्वादीनां यदुक्तं तद्वा भवति । द्वाचत्वारिंशत् । द्विचत्वारिंशत् । द्वापञ्चाशत् । द्विपञ्चाशत् । अष्टाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत् । अष्टाष्टिः । त्रयश्चत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत् । अवाशीत्योरित्येव । द्विचत्वारिंशः । द्वयशीतिः । अष्टचत्वारिंशः । अष्टाशीतिः । त्रिचत्वारिंशः । व्यशीतिः । प्राक्शतमित्येव । द्विशतम् । “अष्टनः कपाले हविष्यात्वं वक्तव्यम्” [वा०] अष्टाकपालं हविः । अष्टसु कपालेषु संस्कृतं हृदयं पसः । “संख्यादी रश्च” [१३१४७] इति रसज्ञः । “संस्कृतं भक्ष्याः” [३२१११] इत्यण् । तस्य “रस्योवनपत्ये” [३११७४] इत्युप् । हविषीति किम् ? अष्टानां कपालानां समाहारः अष्टकपालं भित्तोः । पात्रादित्वात्रपुंसकलिङ्गता । “गवे च युक्ते अष्टनः आत्वं वक्तव्यम्” [वा०] अष्टागवेन शकटेन वहति । अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्निति । अस्मादेव निपातनात् वसेऽपि टः सान्तः । युक्त इति किम् ? अष्टानां गवां समाहारः अष्टागवम् । नेदं वक्तव्यम् । ग्रान्महत इति आदिति योगविभागादन्यस्यापीति दीत्वेन वा सिद्धेः ।

हृदयस्य हृल्लेखयारलासेषु ॥ ४१३१६१ ॥ हृदयस्य हृदित्ययमादेशो भवति लेख य अण् लास इत्येतेषु परतः । हृदयं लिखतीति हृल्लेखः । हृदयाय हितं हृद्यम् । “प्रायश्चरथ” [३१४१५] इत्यादिना यः । हृदयस्येदं हार्दम् । हृदयस्य भावो वा युवादिषु “हृदयादसे” [३१४१२० ग० सू०] इति पाठादण् । अणि घञि वा हृल्लासः । लेख इत्यणन्तस्य ग्रहणम् । घञि तु हृदादेशो नेष्यते । हृदयस्य लेखः हृदयलेखः । एवं च लेखग्रहणं ज्ञापकम् “द्व्यधिकारे त्यग्रहणे स्वरूपग्रहणं न तदन्तविधिः” [प०] “स्त्रित्यक्तेः” [४३१७६] इत्यत्र स्त्रित्यन्तरः प्रादेशभागनास्तीति तदन्तविधिरिष्टः ।

वा ट्यण् रोगशोके ॥४१३१६२॥ ट्यण् रोग शोक इत्येतेषु परतो हृदयस्य वा हृदित्ययमादेशो भवति । सौहार्दम् । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाट्यण् । “हृत्स्विन्दुभगे द्वयोः” [५१२१४] पदयोरैप् । पत्ते सौहृदयम् । हृद्रोगः । हृदयरोगः । हृच्छोकः । हृदयशोकः । ननु हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दोऽस्ति तेनोभयं सिद्धम् । न सिद्ध्यति । अन्येष्वणुत्तरपदेषु हृच्छब्दस्य प्रयोगः प्रसज्येत ।

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ॥४१३१६३॥ पादस्य पद इत्ययमादेशो भवत्याजि आति ग उपहृत इत्येतेषु परतः । पादाभ्यामजति पादाभ्यामतति । अजातिभ्यां पाद इण् । वाक्सः । केवलेन आजि शब्देन “साधनं कृता” [१३१२६] इति पसः । अतएव निपातनादर्जेर्बिभावामावः । पदाजिः । पदातिः । पादाभ्यां गच्छति पदगः । गमेर्ङः । पादाभ्यामुपहृतः पदोपहृतः । पदशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तेन सिद्धेऽपि पादशब्दस्यास्मिन् विषये प्रयोगो मा भूदित्येवमर्थम् ।

पद्ये ॥४१३१६४॥ पादं वित्यन्ति पद्याः शर्कराः । “विष्यत्यकरणेन” [३१३१६४] इति यः । तादर्थ्ये तु “पाद्यार्थे” [४२१३२] इति निपातनमुक्तम् । पादार्थमुदकं पाद्यम् । कथं पादाभ्यां चरति पदिक इति ? “पर्पादौ” [३१३१३३] पादः पदिति पाठादुदा सिद्धम् । पूर्वसूत्रे पादस्येति संवन्धलक्षणा ता । तेन पादशब्दस्य यो यस्तस्मिन् पदित्ययमादेशो भवति । सामर्थ्यात्पादान्तस्य न भवति । द्वाभ्यां पादाभ्यां क्रीतं द्विपाद्यम् । विपाद्यम् । “पणपादमाषाद्यः” [३१३१३१] इति यः ।

हिमकाषिहतौ ॥४१३१६५॥ हिम काषिन् हति इत्येतेषु परतः पादस्य पदित्ययमादेशो भवति । पादस्य हिमं पद्धिमम् । पत्काषी । वाक्सः । पादाभ्यां हतिः पद्धतिः । “साधनं कृता” [१३१२६] इति सः । णिनि तदन्तविधिरपि । परमपत्काषी ।

ऋचः शे ॥४१३१६६॥ ऋचः पादस्य शे परतः पद्धवति । पादं पादं गायत्र्याः शंसति पच्छो गायत्री शंसति । “संख्यैकाद्वीप्सायाम्” [४२१४८] इति शम् । ऋच इति किम् ? पादं पादं कार्षापणमस्य ददाति पादशः कार्षापणं ददाति । “त्याल्यसभवे त्यस्य ग्रहणम्” [प०] इति शस एव ग्रहणादिह न भवति । पादशंसी गायत्र्याः ।

वा निष्कघोषमिश्रशब्दे ॥४१३१६७॥ निष्क घोष मिश्र शब्द इत्येतेषु परतः पादस्य वा पञ्चवति । पादस्य निष्कः पञ्चिकः । पादनिकः । पद्मोपः । पादघोषः । पन्मिश्रः । पादमिश्रः । “पूर्वावरसदृश” [१३१२८] इत्यादिना भासः । पञ्चुवः । पादशब्दः ।

उदकस्योद घोश्च खौ ॥४१३१६८॥ उदकस्य उद इत्ययमादेशो भवति घोश्च तस्योदकस्य खुविपये । उदकस्य मेघ उदमेवो नाम यस्योदमेविः [पुत्रः] । उदकं वशीत्युदवाहो नाम यस्योदवाहिः पुत्रः । अपन्येन क्षिता लक्ष्यते । उदकस्य घोष उदघोषः । लोहितोदा क्षीरोदा नदी । त्वाविति किम् ? उदकपर्वतः ।

पेषमि ॥४१३१६९॥ पेषमि द्यौ उदकस्य उद इत्ययमादेशो भवति । उदकेन पितृष्टि उदपेन पितृष्टि तगरम् । “स्नेहने पिपः” [२१३१२७] इति णम् । कथम् उदवास उदवाहनः उदधिरिति ? संज्ञाशब्दा अमी पूर्वैरेण सिद्धाः । कथमुदधिरघटः ? उपमानाद्भविष्यति ।

वैकहलि पूर्वे ॥४१३१७०॥ एकोऽसहस्रस्तुल्यजातीयेन यो हल् तदादौ द्यौ पूर्वे उदकस्य वा उद इत्ययमादेशो भवति । उदकस्य कुम्भः उदकुम्भः । उदककुम्भः । उदघटः । उदकघटः । उदपात्रम् । उदकपात्रम् । एकहलीति किम् ? उदकस्थालम् । पूर्वे इति किम् ? उदकगिरिः । अखावप्राप्ते विभाषेयम् ।

मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे ॥४१३१७१॥ मन्थ औदन सक्तु विन्दु वज्र भार हार वीवध गाह इत्येतेषु परत उदकस्य वा उद इत्ययमादेशो भवति । अपूर्यार्थोऽयं कनः । उदमन्थः । उदकमन्थः । उदकेनौदनः उदौदनः । उदकौदनः । उदकेन सक्तुः उदसक्तुः । उदकसक्तुः । “भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने” [१३१३०] इति भासः । उदविन्दुः । उदकविन्दुः । उदवज्रः । उदकवज्रः । उदभारः । उदकभारः । उदहारः । उदकहारः । उदवीवधः । उदकवीवधः । उदगाहः । उदकगाहः । मन्थभारहारा अरण्यन्ता वनन्ता वा ।

इकः प्रोऽड्याः ॥४१३१७२॥ इगन्तस्य द्यौ वा प्रो भवत्यड्याः । ग्रामणिपुत्रः । ग्रामणीपुत्रः । यवलुपुत्रः । यवलुपुत्रः । अलावु कर्कन्धु हन्धु फलम् । अत्र पूर्वपूर्वस्य प्रादेशे सति उत्तरेण सविधिः । इक इति किम् ? खट्वापादः । मालापादः । अड्या इति किम् ? गागीपुत्रः । दासीपुत्रः । वेति व्यवस्थितविभाषाश्रयणादिह न भवति । कारीषगन्धीपुत्रः । कारीषगन्धीपतिः । क्षिप्रज्ञेयुषां च न प्रादेशः । काण्डीभूतम् । कुड्डीभूतम् । श्रीकुलम् । भृकुलम् । भृकुंसादीनां तु प्रादेशो भवत्येव । भृकुंसः । क्वचिदन्यदेव । भृकुंसादीनामकारा-श्चान्तादेश इष्यते । भृकुंसः । भृकुटिः ।

त्वे ड्यापो क्वचित्खौ च ॥४१३१७३॥ त्वे परतो ड्यन्तस्य आवन्तस्य क्वचित्प्रो भवति खौ च द्यौ । अजत्वम् । अजात्वम् । रोहिणित्वम् । रोहिणित्वम् । त्वे छान्दसः प्रयोग इति केचित् । खौ—रेवतिमित्रः । रोहिणिमित्रः । भरणिमित्रः । क्वचिन्न भवति । नान्दीकः । नान्दीघोषः । आवन्तस्य शिलाया वहः शिलवहः । शिलप्रस्थः । शिरापस्थलम् । न च भवति लोपिकाग्रहम् । लोपिकाग्रहम् । क्वचिद् ग्रहणं बहुलार्थम् ।

हृति चैका ॥४१३१७४॥ हृति परतो द्यौ च एका इत्येतस्य प्रो भवति । एकस्या आगतम् एकलप्यम् । एकमयम् । “हेतुमनुव्याह्वार रूप्यः” [३१३१५५] “मयट्” [३१३१५६] इति च रूप्यमयदौ । एकस्याः भाव एकत्वम् । एकता । गुणवचनत्वे “तसादौ” [४१३१४७] त्वतलोर्गुणवचनस्य इति पुंवद्भावेन सिद्धत्वादन्यत्रेदं द्रष्टव्यम् । द्यौ एकस्या क्षीरम् एकक्षीरम् । एकदुग्धम् । एका प्रिया अस्य एकप्रियः । एकमनोज्ञः ।

मालेयीकेष्टकानां भारितूलचित्ते ॥४१३१७५॥ माला, इयीका, इष्टका इत्येतेषां प्रो भवति भारितूलचित् इत्येतेषु परतः । मालभारी । मालभारिणी । इयीकतूलम् । इष्टकचितम् । क्वचिदित्यनुवृत्तेर्मालादिभिस्तदन्तविधिरपि । उत्पलमालभारिणी । मुञ्जेयीकतूलम् । पक्वेष्टकचितम् ।

खित्यभेः ॥४१३१७६॥ खिदन्ते द्यौ अजन्तस्य प्रो भवत्यभेः । कालीमात्मानं मन्यते कालिम्मन्या । रोहिणिम्मन्या । “खरचात्मनः” [२१२१७१] इति खश् । खित्यनन्तरः प्रादेशभागास्तीत्युक्तम् । अभेरिति प्रतिषेधाच्च खिदन्ते द्यौ पूर्वस्य प्रपरोऽपि “मुमचः” [४१३१७७] इति प्रादेशेन बाध्यते । अभेरिति किम् ? दोषामन्यमहः । दिवामन्या रात्रिः ।

मुमचः ॥४१३१७७॥ पूर्वस्य पदस्याजन्तस्य खिदन्ते द्यौ मुम् भवत्यभेः । प्रियंवदः । वशंवदः । कालिम्मन्या । हरिणिम्मन्या । “विध्वस्योस्तुदः सखम्” [२१२३७] इति सखे कृते मुम् । विधुस्तुदः । अरुस्तुदः । “द्विपन्तपेरम्मद” [२१२३८] इति निपातनाद् द्विपन्तपः । अच इति किम् ? विद्वन्मन्यः ।

अमेकाचोऽम्बत् ॥४१३१७८॥ अच इति वर्तते । अजन्तस्य पूर्वपदस्यैकाचोऽम् भवति खिदन्ते द्यौ अमीवास्मिन् कार्यं भवति । आत्यपूर्वस्यैव युवादिप्रयोजनम् । अवर्णान्तस्याभि नास्ति विशेषः । अनवर्णान्त-मुदाहरणम् । गाम्मन्यः । स्त्रीम्मन्यः । स्त्रियम्मन्यः । नृशब्दस्य नरम्मन्यः । श्रियम्मन्यः । भ्रुवम्मन्यः । नावमात्मानं मन्यते नावम्मन्यः । प्रादेशमुमोरयमपवादः । एकाच इति किम् ? लेखाक्रं मन्यः । अच इत्येव द्विपन्त्यः । निपातनाद् वाच्यमपुनन्दरौ । अमित्यागमलिङ्गादपरोऽपि मकारः प्रयोगश्रवणार्थः स्फान्तत्वेन निर्दिष्टः । अथेह कथमभितव्यम्, श्रियमात्मानं कुलं मन्यते इति ? उच्यते-श्रीशब्द आविष्टलिङ्गः स्त्रियामेव वर्तते इति श्रियम्मन्यमिति भवितव्यम् । अन्ये मन्यन्ते त्वलिङ्गान्तरेऽपि वृत्तिर्दृष्टा । यथा प्रष्टादिशब्दानां पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तिः । प्रष्टी । प्रचरी । गणकी । एवं श्रीशब्दस्य कुले वर्तमानस्य नपुंसकलिङ्गत्वं “प्रो नपि” [१११७] इति प्रादेशः । अम्बदतिदेशात् “नपः स्वमोः” [५११२०] इत्युप् । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इति “सुपो धुमृदोः” [११११४२] इत्यस्यैवोपोऽमागमो बाधको नोत्तरस्य तेन श्रिमन्यमिति भवितव्यम् । एतच्च नातिश्लिष्टम् । वेदः प्रमाणमित्यादौ लिङ्गान्तरं प्रसज्येत ।

सत्यागदास्तोः कारे ॥४१३१७९॥ सत्य, अग्रद, अस्तु इत्येतेषां कारे द्यौ मुमागमो भवति । सत्यङ्कारः । अग्रदङ्कारः । अणि घञि वा काररूपम् । अस्तुशब्दो निषङ्गकोऽभ्युपगमे वर्तते । अस्तिव्यस्य करणम् अस्तुङ्कारः ।

रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य ॥४१३१८०॥ रात्रिशब्दस्य कृति द्यौ मुमागमो भवति प्रभाचन्द्रस्याचार्यस्य मतेन । रात्रिञ्चरः । रात्रिचरः । रात्रिमाटः । रात्र्याटः । कृद्ग्रहणसामर्थ्यादयमप्राप्ते विकल्पः । खिति पूर्वनिर्णयेन नित्यं मुमागमः । रात्रिमन्यमहः । रात्रेरनन्तरः कृत्वास्तांति कृदन्तग्रहणम् । ननु रात्रिरिवाचरतीति “आचारे सर्वमृदभ्यः क्तिप्” [२११६ वा०] इति तदन्ताकृत्विव्रस्ति । यदि तदर्थं कृद्ग्रहणं स्यात् । रात्रेः क्तिपीति निर्देशं कुर्यात् । क्तिवन्तस्य तु रात्रिशब्दस्य अन्यस्मिन् कृदन्ते मुम् स्यात् गौणत्वात् ।

नजोऽन् ॥४१३१८१॥ नजोऽनित्ययमादेशो भवति द्यौ । न हिंसा अहिंसा “नज्” [१३१६८] सुपा इति षसः । अनेकाच्चात्सर्वादेशोऽन् । स्थानिवद्भावेन पदादेशः पदवद्भावेति इति नखम् । एवम् अक्रोधः । अस्तेयम् । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? वामनपुत्रः पामनपुत्र इत्यत्र माभूत् । द्यावित्येव । न भुङ्क्ते । “नजोऽनु-भावे क्षेपे मिङ्गुपसंख्यानम्” [वा०] । अकरोषि त्वं जालम् । अपचसि त्वं जालम् ।

अचि ॥४१३१८२॥ अजादौ च द्यौ नजोऽन् भवति । अनन्तः । अनादिः । अनुपमो जिनः । पुनर्वचन नखनिवृत्त्यर्थम् । “अदोऽनज्” [२१२१६०] इति ज्ञापकाज्जो नो ङमुण् न भवति ।

नभ्राणनपाधवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रानाकनागाः ॥४१३१८३॥ नभ्रा नपात् नवेदा नासत्या नमुचि नकुल नख नपुंसक नक्षत्र नक्र नाक नाग इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । न भ्राजते न वा न भ्राजते किन्तु भ्राजत एवेति नभ्राट् । भ्राजतौ क्यन्ते द्यौ नजः प्रकृतिभावः । द्वयोर्वा नजोः एको

नशब्दो निपात्यते । न पाति न वा न पाति नपात् । नपुंसकलिङ्गे शङ्कते पातो पूर्ववक्षितनम् । न वेत्ति न वा न वेत्ति नवेदाः । “अस् सर्वधुम्” [३० सू०] इति विदेशः । “अव्वनोऽधोः” [४१४१२] इति दीप्तिम् । सत्सु सार्धा सत्या न सत्या अस्त्या । पुनर्नये नारुत्या । नञः प्रकृतिभावः । पुंस्यधीदं निपातनम् । नास्त्या नाम केचित् । न मुञ्चति न वा न मुञ्चति मुच्येर्गणविके इति नमुचिः । नास्य कुलमस्ति न वानकुलमस्ति नकुलम् । नास्य खमस्ति न वा न खमस्ति नखः । न न्वी न पुमाच् नपुंसकः । न्वीपुंसयोर्नपुंसकभावो नञश्च प्रकृतिभावः । न क्षरति न क्षीयते इति वा नक्षत्रम् । क्षन्तेः क्षीयतेर्वा क्षन्तावो नञश्च प्रकृतिभावः । न क्रीणाति न क्रामतीति वा नक्रः । क्रीजः क्रमेर्वा डत्यो नञश्च प्रकृतिभावः । अक्र अत्र कुटिव्यां गतावित्यनयोः पचाद्यचि अक्रगौ भवतः । नाक्रः । नागः । नञः प्रकृतिभावः अथवा नात्तिन् कं दुःखमस्ति नाक्रः । न गच्छतीत्यगः । एतेषां रुदिशब्दानां यथा कथञ्चिद् व्युत्पत्तिः ।

एकाद्विंशतिः ॥४१३१८३॥ एकाद्विंशतिः इति निपात्यते यो । एकेन न विंशतिः एकाद्विंशतिः । एकेन न त्रिंशत् । नञो विंशतिशब्देन “नञ्” [११३१६८] इति पठः । एकशब्दस्य भान्तस्य न विंशतिशब्देन “साधनं कृता बहुलम्” [१३१२६] इति बहुलवचनाद् भेति योगविभागात्पते कृते एकशब्दस्यादुक् नञश्च प्रकृतिभावो निपात्यते । अदुक् पूर्वान्तकरणं “यरो डो विभाषा ड” [५१४१२५] इति विकल्पेन व्यर्थम् । एकाद्विंशतिः । एकाद्विंशत् ।

नगो वाऽजीवे ॥४१३१८४॥ नग इति वा निपात्यते अजीवेऽर्थः । नगा वृक्षाः । नगाः शालयः । नगाः पर्वताः । अगा वृक्षाः । अगाः शालयः । अगाः पर्वताः । न गच्छन्तीति मुपि वाचि “गमेडः” [२१२४६] वाक्सः । अजीव इति किम् ? अगो देवदत्तः शीतेन ।

सहस्य सः खौ ॥४१३१८६॥ सहस्य स इत्ययमादेशो भवति खुविपये । खाविति वर्तते । सहाश्वत्थेन वर्तते साश्वत्थम् । सपलाशम् । सर्शिशपम् । वननाश्वेयम् । सरसा दूर्वा । “तेन” [१३१६०] “सहेति तुल्ययोगे” [१३१६१] इति वसः । “वा नीचः” [४१३१६०] इति विकल्पे प्राप्ते अयं विधिः । खाविति किम् ? सहयुच्वा । सहकृत्वा । सहयुद्धवान् । “राज्ञि युधि कृजः” [२१२८२] “सहे” [२१२८३] इति कनिप् ।

ग्रन्थान्तेऽधिके ॥४१३१८७॥ ग्रन्थान्ते अधिके च वर्तमानस्य सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । ग्रन्थान्ते हसः । सकलं ज्योतिषमधीते । समुहूर्तमधीते । कला कलावशेषः । मुहूर्तश्च तत्सहचरितो ग्रन्थोऽपि तथोक्तः । कलामन्तं कृत्वा मुहूर्तमन्तं कृत्वा । साकल्यान्तोक्तौ हसः । “हेऽकाले” [४१३१८६] इति काले प्रतिषेधादनेन सादेशः । अधिके वसः । सह द्रोणेन वर्तते सद्रोणा खारी । समापः कार्पाणः । सकाकणीको भापः । “वा नीचः” [४१३१६०] इति विकल्पः प्राप्तः ।

द्वितीयेऽनुपाख्ये ॥४१३१८८॥ द्वितीयेऽनुपाख्यायमाने सहस्य स इत्ययमादेशो भवति । द्वयोः सहयुक्तयोर्व्यम्भूतो द्वितीयः । स एवाप्रत्यक्षोऽनुपाख्य उक्तः । साग्निः कपोतः । समूसलः व्रीहिकंसः । सपिशाचा वात्या । सराश्वसीका शाला । अग्न्यादयोऽप्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानाः कपोतादिभिरनुमीयमानत्वादनुपाख्याः । अनुपाख्य इति किम् ? सच्छात्रः सहच्छात्र उपाध्यायः । उपाख्यायत इत्युपाख्यः । “युड्या बहुलम्” [२१३१६४] इति बहुलवचनात् “आतो गौ” [२१३१८६] इति कर्मणि कः ।

हेऽकाले ॥४१३१८९॥ हसंश्चे सहस्य स इत्ययमादेशो भवत्यकालवाचिनि द्यौ । सचक्रं धेहि । सधुरं प्राज । युगपच्छे । युगपद्भुरौ । “यौगपद्य” [१३१५] इति हसः । “ऋक्पूरव्यूः पथोऽनन्ते” [४१२७०] इति धुरोऽकारः सान्तः । अकाल इति किम् ? सहपूर्वाह्णम् । सहापराह्णम् । यौगपद्ये साकल्योक्तौ वा हसः ।

वा नीचः ॥४१३१६०॥ नीचोऽवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति द्यौ । शशिष्यः सहशिष्य आचार्यः । सपुत्रः सहपुत्रः पिता । नीच इति किम् ? सहयुध्वा । सहकृत्वा । नात्र समुदायस्य नीचोऽवयवः सह-शब्दः । नीच इति समुदायस्य विशेषणं सहशब्दस्य सर्वत्र विधौ न्यक्त्वात् । इह सहयुद्धप्रियः । प्रियसहयुध्वेति च सहस्य सः कस्मान्न भवति । यदत्र द्यु तदपेक्षया न सहशब्दो नीचोऽवयव इति न भवति ।

नाशिष्यगोवत्सहले ॥४१३१६१॥ आशिषि सहस्य सादेशो न भवति गोवत्सहलवर्जिते द्यौ । स्वस्ति सहशिष्याय गुरवे । स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय । अगोवत्सहल इति किम् ? स्वस्वस्तु सगवे सहगवे । सवत्साय सहवत्साय । सहलाय सहहलाय ।

समानस्य स ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ॥४१३१६२॥ समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ज्योतिष्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस् वचन, बन्धु इत्येतेषु परतः । समानं ज्योतिरस्य सज्योतिः । यदि वा समानं च तज्योतिश्च सज्योतिः । “पूर्वापरप्रथम” [१३१५३] इत्यादिना यसः । सजनपदः । सरात्रिः । सनाभिः । सनामः । सगोत्रः । सरूपः । सस्थानः । [सवर्णः । सवयाः ।] सवचनः । सवन्धुः । वसेऽभिधेयवलिङ्गम् । यसे च परवलिङ्गम् । समानस्येति योगविभागादन्येष्वपि सादेशः । तेन सधर्मा । सपञ्चः । सगन्धः । सदेशः । समानजातीयः । “जातेरष्टो बन्धुनि” [४१३१६८] इति स्वार्थे छः । समाने तीर्थे भवः सतीर्थः । दिगादित्वाद्य इत्येवमादि सिद्धम् ।

सब्रह्मचारी ॥४१३१६३॥ सब्रह्मचारीति निपात्यते चरणे गम्यमाने । समानो ब्रह्मचारी समाने ब्रह्मणि व्रतं चरति वा सब्रह्मचारी । समाने आगमे व्रतचारीत्यर्थः ।

वोदर्यं ॥४१३१६४॥ उदर्यशब्दे द्यौ समानस्य वा स इत्ययमादेशो भवति । समानोदरे शयितः सोदर्यः । समानोदर्यः । “समानोदरे शयितः” [३१३२०८] इति यः । कथं युधिष्ठिरसोदरो वृकोदर इति । समानस्येति योगविभागात् ।

दृशदृक्त्वतौ ॥४१३१६५॥ दृश दृक् दृक् वतु इत्येतेषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति । समानो दृश्यते सदृशः । बहुलवचनात्कर्मणि टगादिः । अन्यथा वा व्युत्पत्तिमात्रं कार्यम् । समानमात्मानं पश्यति सदृशः । सदृक् । सदृक्षः । “त्यदादौ दृशोऽनालोके टक् च” [२।२।५८] इत्यत्र “समानान्यबोधच” [वा०] इति वचनादृक्किश्च भवति । कसोऽप्यस्मादेव निर्देशात् तत्र स्मर्तव्यः । वतुः समानशब्दात्परो न सम्भवतीति वतुग्रहणमुत्तरार्थम् ।

किमिदमोः कीश् ॥४१३१६६॥ किम् इदम् इत्येतयोः की ईश इत्येतावादेशौ भवतः दृशादिषु परतः । क इव दृश्यते कमिव पश्यति वा कीदृशः । कीदृक् । कीदृक्षः । किम्परिमाणमस्य कियान् । “किमः” [३।४।१६२] इति वतुर्वकारस्य च घः । अयमिव दृश्यते इममिव पश्यति वा ईदृशः । ईदृक् । ईदृक्षः । इदम्परिमाणमस्य इयान् । “इदमो वो घः” [३।४।१६१] इति वतुर्वकारस्य च घः । “आ सर्वनाम्नः” [४।३।१६७] इत्यात्वत्यापवादोऽयम् ।

आ सर्वनाम्नः ॥४१३१६७॥ सर्वनाम्न आकारादेशो भवति दृशदृग्दृक्वतुषु परतः । स इव दृश्यते तमिव पश्यति वा तादृशः । तादृक् । तादृक्षः । तत्परिमाणमस्य तावान् । “यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः” [३।४।१६०] इति वतुः । यादृक् । यादृशः । यावान् । अन्यादृशः । अन्यादृक् । अन्यादृक्षः । आ इति द्विमात्रोच्चारणम् “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपनिवृत्त्यर्थम् । अकारोच्चारणं तु हस्तिवृत्त्यर्थं स्यात् । अन्यशब्दे च दोषः प्रसज्येत । त्यदादेरिति सिद्धे सर्वनाम्न इति ग्रहणम् अन्यशब्दसंग्रहार्थमुत्तरार्थं च ।

विष्वग्देवयोश्च टेरद्रयञ्चौ को ॥४१३१६६॥ विष्वग् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्रिरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । विपुवतीति विपुः । विपुमञ्चतीति ऋत्विगादिभ्यश्च यौ कृते विष्वक् । विष्वक्षमञ्चतीति कावागतनिवृत्ते नखम् । वाक्वे सुः । “उगिदचाम्” [५१४१६] इति नुम् । हल्ङयादिग्ये । रक्षान्तये । “विष्व-
स्य कुः” [५१३७५] इति नकारस्य ङकारः । विष्वद्रथङ् । यद्रथङ् । तद्रथङ् । कद्रथङ् । विष्वग्देवयोश्चेति किम् ? वृक्षमञ्चतीति वृक्षाङ् । अञ्चाविति किम् ? विष्वग्युक् । देवयुक् । काविति किम् ? विष्वगञ्चनम् । देवाञ्चनम् । ननु कावेवाञ्चतिः केवलो धुर्मवति तत्किं किग्रहणेन । इदं किग्रहणं ज्ञापकम्—“अन्यत्र धुग्रहणे ध्वादेः समुदाय-
स्य ग्रहणम्” [प०] इति । तेन कृकम्पादिसूत्रे अयस्कृतमयस्कार इत्यादौ सत्वं सिद्धम् । अन्यथेहैव स्यात् । अयस्कृदिति ।

समः समि ॥४१३१६६॥ समः समीत्यमादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सम्यङ् । सम्यञ्चौ सम्यञ्चः । इका सिद्धे समिरिति वचनम् “अतित्यमागमशासनम्” [प०] इति ज्ञापयति । तेन बान्त इत्यादि सिद्धम् ।

तिरसस्तिर्यखे ॥४१३२००॥ तिरसस्तिरित्ययमादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतो यत्राञ्चतेगकारस्य खं न भवति । तिर्यङ् । तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यग्भ्याम् । तिर्यग्भिः । अख इति किम् ? तिरश्चः । तिरश्चा । अच इत्यकारस्य खम् । न विद्यते अञ्चतेर्विशेषविहितमकारस्य खं यस्मिन् । हलुङो नखं तु सर्वसाधारणं न तस्येह पर्युदासः । न त्वस्य खमिति तस्मिन् तिरिभावः “तिरश्च्यपवर्गे” [२१४१४५] इति निर्देशात् । ननु च “तिदाक्कार-
काणां कृद्धिः सविधिः” [प०] इति कृद्गते नैयाञ्चतिना वृत्तौ कृतायां मुदन्तत्वाभावात्कथमञ्चतेर्धुसंज्ञा । नैप दोषः । अत्रविलितीत्येवमादौ विपये तिवाक्कारकाणामित्यस्य व्यापारे न सर्वत्र ।

सहस्य सध्रिः ॥४१३२०१॥ सहस्य सध्रिरादेशो भवत्यञ्चतौ क्यन्ते परतः । सध्र्यङ् । सध्र्यञ्चौ । सध्र्यञ्चः । सध्रीचः । सध्रीचा । “अचः” [४१३१२५] इत्यखम् । “चौ” इति दीत्वम् ।

द्वयनगेरीदपः ॥४१३२०२॥ द्विशब्दानवर्णान्ताच्च गेः परस्य अपशब्दस्य ईकारादेशो भवति । द्विगता आपो यस्मिन्निति द्वीपः । प्राक् “परस्यादेः” ईकारः पश्चात् “ऋक्पूरब्धूः” इत्यः सान्तः । “अन्तःशब्दस्य अ(सा)ङ्गिविधिरण्वेषु गिसंज्ञोक्ता” [वा०] अन्तर्गता आपोऽस्मिन्नन्तरीपः । समीपम् । वीपम् । इह क्रियायोगाभावाद्गिसंज्ञोपलक्षितानां प्रागेनां ग्रहणम् । अनगेरिति किम् ? प्रापम् । परापम् । समापम् ।

देशेऽनोरः ॥४१३२०३॥ देशाभिधानेऽनोः परस्यापः उकारादेशो भवति । अनुगता आपोऽस्मिन्नित्यनूपो देशः । देश इति किम् ? अन्वीपं वनम् । कथं कूपः सूपः अनूप इति ? वृषोदरादिपाठात् ।

लुकारकेऽन्यस्य दुक् ॥४१३२०४॥ छे कारके च परतोऽन्यस्य दुगागमो भवति । अन्यस्येदम् अन्यस्मिन् भवं वा अन्यदीयम् । गहादिपाठाच्छुः । अन्यस्य कारकम् अन्यत्कारकम् । अन्यः कारकः अन्यत्कारकः ।

अताभास्थस्याशीराशास्थितोत्सुकोतिरागे ॥४१३२०५॥ अतास्थस्याभास्थस्य चान्यस्य दुगागमो भवति आशिष् आशा आस्था आस्थित उत्सुक ऊति राग इत्येतेषु परतः । अन्या आशीः अन्यदाशीः अन्या आशा अन्यदाशा । अन्या आस्था अन्यदास्था । अन्य आस्थितः अन्यदास्थितः । अन्य उत्सुकः अन्यदुत्सुकः । अन्या ऊतिः अन्यदूतिः । अन्यो रागः अन्यद्रागः । “विशेषणं विशेष्येणेति” [११३१५३] यसः । अताभास्थ-
स्येति किम् ? अन्यस्याशा अन्याशा । अन्येनास्थितः अन्यास्थितः ।

वाऽर्थे द्यौ ॥४१३२०६॥ अन्यस्य वा दुग् भवति । अन्योऽर्थः, अन्यस्मै अर्थः अन्यदर्थः । अताभास्थ-
स्येत्येव । अन्यस्यार्थोऽन्यार्थः । अन्येनार्थोऽन्यार्थः ।

कत्कोः षेऽच्च ॥४१३२०७॥ कोः कद्भवति पसंज्ञके सेऽजादौ द्यौ । कुस्तितोऽजः । “तिकुप्रादयः” [११३१६१] इति षसः । कदजः । कदश्चः । कदन्नम् । प इति किम् ? क्वि-भो राजा । अचीति किम् ? कुब्राह्मणः । कुवृषलः । कत्कोरिति योगविभागात्त्रिशब्देऽपि भविष्यति । कुस्तितात्त्रयः कत्त्रयः । “किमो वा त्रौ-
कद्वक्तव्यः” [वा०] के त्रयः कत्त्रयः ।

रथवदयोः ॥४३१२०८॥ रथ वद इत्येतयोः परतः कोः कद् भवति पसे । कुत्सितो रथः कद्रथः । कुत्सितो वदः कद्रदः ।

तृणे जातौ ॥४३१२०९॥ तृणे द्यौ कोः कद्रवति समुदायेन जाताविधेयायाम् । कत्तृणा नाम जातिः । तस्या अवयवः कत्तृणम् । जाताविति किम् ? कुत्सितानि तृणानि कुत्तृणानि ।

का पथ्यक्षयोः ॥४३१२१०॥ कोः का इत्ययमादेशो भवति पथिन् अत्र इत्येतयोः परतः । कुत्सितः पन्थाः कापथः । कुत्सितमद्वं कान्त्तम् । अक्षशब्दस्य अकारान्तस्य कृतान्तस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । पस इति निवृत्तम् । कुत्सितेऽक्षिणी अस्य कान्त्तः । “स्वाङ्गाद्द्वेऽक्षिसन्धः” [४३१११३] इति टः सान्तः । पथ-शब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । तस्य कुपथमिति पे भवति ।

ईपदर्थे ॥४३१२११॥ ईपदर्थे कोः का भवति । ईपत्कटुकं काकटुकम् । कामधुरम् । कालवणम् । “तिक्रपादयः” [१३१८१] इति सः । “कक्कोः पेञ्चि” [४३१२०७] इति तत्रोपलक्षणमात्रम् । अजादावपि परत्वात्कादेश एव । काभ्लम् ।

पुरुषे वा ॥४३१२१२॥ पुरुषशब्दे द्यौ कोः का इत्ययमादेशो भवति वा । कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः । कुपुरुषः । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् । ईपदर्थे पूर्वनिर्णयेन नित्यं कादेशः ।

कवमुष्णे ॥४३१२१३॥ कोः स्थाने कवरूपं भवति उष्णे परतः का च वा । कवशब्दो नपुंसक-लिङ्गो निर्दिष्टः । कवोष्णम् । कोष्णम् । ग्राम्यां मुक्ते “कक्कोः पेञ्चि” [४३१२०७] इति कद्भावे कटुष्णम् । अनीपदर्थे कटुष्णमेव ।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥४३१२१४॥ पृषोदरप्रकाराणि शब्दरूपाणि यथोपदिष्टं साधुनि भवन्ति । यथा तेषु वर्णाशागमवर्णविकाराः विशिष्टैः प्रयुक्ता दृश्यन्ते तथैव तेषां साधुत्वमित्यर्थः । उप-दिष्टानतिक्रमेण यथोपदिष्टम् । ये ये उपदिष्टाः इति वोप्सायां वा हसः । पृषदुदरस्य पृषोदरः । पृषोदरा कन्या । प्रपत उद्गानं पृषोद्गानम् । तकारस्य खं निपात्यम् । अश्वत्थः । कपित्थः । महित्थः । दधित्थः । अश्व इव तिष्ठति कपिरिव तिष्ठति मह्यं तिष्ठति दधीव तिष्ठति । “सुपि” [२१२१७] इति स्थः कः । सकारस्य तत्वं निपात्यम् । महीशब्दस्य “त्वे ड्यापोः क्वचित्त्वौ च” [४३११७३] इति प्रादेशः । वारिवाहको बलाहकः । वारि-शब्दस्य ब्राह्मणः परस्य चादेशोऽत्वं निपात्यम् । जीवनस्य मूतं जीमूतम् । वनशब्दस्य खम् । मह्यं रौतीति मयूरः । रौतेरच टिक्वं महीशब्दस्य च मयूभावः । शवस्य शयनं श्मशानम् । शवशब्दस्य श्मादेशः शयनस्य च शानम् । ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति वृसी । ब्रुवच्छब्दस्य वृभावः सदर्लङन्तस्य च सीभावः । “षष उत्वं दत्तदशधास्त्तरपदादेः ण्त्वं च” “धाशब्दे तु वा षष उत्त्वम्” । षड् दन्ता अस्य षोडन् । “वयसि दन्तस्य दत्त” इति द्वादेशः । षड् च दश चेति षोडश । षड्भिः प्रकारैः षोढा । षड्यावा । इह षड् दधातीति स्त्री । आतः के कृते टापि च षड्धा । लान्तिक्त्वाङ्गुत्वाभावः “दिक्छब्देभ्यस्तीरस्य तारभावः” । दक्षिणस्य तीरम्, दक्षिणतारम् । उत्तरतारम् । “वाचो वादे डत्वं बलभावश्चेत्तरपदस्येति निपात्यते” । वाग्वादेस्यापत्यं वाडबलिः । एवमन्येऽप्युह्याः शब्दाः । पिशिताशः । पिशाचः । मुहुः स्वनं लातीति मुसलः । ऊर्ध्वकर्णं उलूकः । मेहनस्य स्वस्य माला मेखला । कौ जीर्यति कुञ्जरः । ऊर्ध्वं खमस्य उलूखलः ।

“वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।

धूनां तदर्थोऽतिशयेन योगास्तदुच्यते वर्णविधौ निरुक्तम् ॥”

संख्याविस्मायादेरहनस्याहन्वा डौ ॥४३१२१५॥ संख्या वि स्मा इत्येवमादेरहनशब्दस्य अहन्नित्ययमादेशो वा भवति डौ परतः । द्रयोरह-नोर्मवो द्वयहनः । “हृदर्थ” [१३१४६] इति षसः । “संख्यादी रश्च” [१३१४७] इति रसंज्ञा । सान्तष्टः । “एभ्योऽङ्गोऽङ्गः” [४२१६०] इत्यत्र भिर्भङ्यादेरित्यनुवर्तनाद्वादेशः ।

भवार्थे आगतस्य कालाद् ऽजः “रस्योवनपत्ये” [१११७४] इत्युपि डौ कृते “वा डिश्योः” [१११२४] इति वाऽनोऽखम् । द्रव्यहि । द्रव्यहनि । द्रव्यहे । यावत्सु अहस्सु भवो यावदहः । “वतोर्वेत्” [११२०] इत्यत्र वःन्तस्य संख्यासंज्ञोक्ता । डौ यावदहि । यावदहनि । यावदहे । विगतमहर्व्यहः । “तिकुप्रादयः” [११३२] इति पसः । डौ व्यहि । व्यहनि । व्यहे । सायमहः । सायाहः । विशेषणसविधिः । सायंशब्दस्य भिन्नञ्जकस्यात् एऽ निपातनात्मकारस्य खम् । अकारान्तस्य सम्भवेऽहनादेशो निपात्यः । सायाहि । सायाहनि । सायाहे । संख्या-विस्वादेरेति किम् ? पूर्वाह्णे गतः । पूर्वमहः पूर्वाहः । विशेषणसविधिः । “अतोऽहः” [११३९] इति खत्वं ।

दूखे पूर्वस्याणो दीः ॥४१३२१६॥ टकाररेफयोः खं यस्मिन् वर्णे स दूखस्तस्मिन् पूर्वस्याणो दीर्भवति । पसेऽप्यदोषः । खस्याभावरूपत्वेऽपि पौर्वापर्यं बुद्धिकृतम् । यथा वर्णयोरयौगपद्येऽपि अचीको यणित्येवमादौ । लीढमुपगूढं मूढेन । अग्नी रथम् । वायू रथम् । पुना रक्तं वासः । दूख इतीन्निर्देशात् पूर्वत्येति लब्धे पूर्वग्रहणं किम् ? पूर्वमात्रस्य यथा द्यावेव स्यात् । अन्यथा द्यावेव स्यात् । नीरक्तम् । दूरक्तम् । इह न स्वाद् अजर्घाः इति । जर्घः लडः सिप् एप् । भग्भावः । धकारस्य जश्त्वम् । “सिपि रिवा” [५१३२] “दः” [५१३२] इति रिः । अण इति किम् ? वृह वृढः । वृह वृढः ।

सहिवहोऽस्थौः ॥४१३२१७॥ सहिवहोरवर्णस्य ओकारादेशो भवति दूखे । सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् । वोढा । वोढुम् । वोढव्यम् । अस्थेत्यणग्रहणादैपि कृतेऽपि भवति । उदवोढाम् । उदवोढम् । उदवोढ । उत्पूर्वाद्बहेर्लुङ् । तसस्ताम् । थसस्ताम् । थस्य तः । “भूलो भलि” [५१३४] इति सेः खम् । दत्वादेरसिद्धत्वाद् “ब्रजवद्” [५११७] इत्यादिना प्रागेप् । अस्थेति किम् ? ऊढवान् ।

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चभिन्नछिन्नछिद्रस्त्रुवस्वस्तिकस्य ॥४१३२१८॥ कर्णे द्वौ लक्षण-वाचिनो दीर्भवति विष्टादीन् वर्जयित्वा । दात्रमिव दात्राकर्णः । शंकूकर्णः । द्विगुणाकर्णः । द्वयङ्गुलाकर्णः । द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्वयङ्गुलम् । “षेऽङ्गुलेर्भिसंख्यादेः” [४१२८] इति सान्तः । लक्षणस्येति किम् ? शोभनकर्णः । शोभनत्वं तत्त्वाख्यानं न तु लक्षणम् । अतएव तत्त्वाख्यानादिहापि न भवति । लम्बकर्णः । अविद्धकर्णः । अथवा लक्षणशब्देन चिह्नविशेषोऽभिप्रेतः स्वामिविशेषसंयन्धज्ञापनार्थम् । पशूनां दात्राकारादि चिह्नं लक्षणम् । तदभावात्त्वम्बकर्णादिषु न भवति । अविष्टादेरिति किम् ? विष्टकर्णः । अष्टकर्णः । पञ्चकर्णः । भिन्नकर्णः । छिन्नकर्णः । छिद्रकर्णः । स्त्रुवकर्णः । स्वस्तिककर्णः ।

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु कौ ॥४१३२१९॥ नहि वृति वृषि व्यधि रुचि सहि तनि इत्येतेषु किरन्तेषु परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । नहि-उपानत् । परीणत् । वृत्-नीवृत् । उपावृत् । वृषि-प्रावृत् । व्यधि-मर्मवित् । हृदयावित् । स्वावित् । रुचि-अतीरुक् । अमीरुक् । कथं मलरुक् । श्वेतरुक् ? सम्पदादिक्रिपि न भवतीत्यदोषः । अथवा तिकारकदीत्वमिष्यते । सहि-जलासट् । तुरासट् । तनि-परीतत् । “गमः कौ” [४१३१] इत्यत्र “गमादीनां ङखमिष्यते” [वा०] । क्वाविति किम् ? उपनहनम् ।

गिरिवने किंशुलुककोटराद्योः खौ ॥४१३२२०॥ गिरि वन इत्येतयोः परतो यथासंख्यं किंशुलुकादीनां कोटरादीनां च दीर्भवति खौ । गिरौ-किंशुलुकागिरिः । अञ्जनागिरिः । नलागिरिः । वने-कोटरावणम् । मिश्रकावणम् । सिम्रकावणम् । किंशुलुककोटराद्योरिति किम् ? कृष्णगिरिः । भद्रसालवनम् । नन्दनवनम् ।

वले ॥४१३२२१॥ वले त्ये परतः पूर्वस्य दीर्भवति । आसुतीवलम् । दन्तावलः । मत्वर्थं “रजःकृष्या-सुतिपरिषदो बलः” [४११३] “दन्तशिलात् खौ” [४११३] इति च वलः ।

मतौ बह्वचरादेरनजिरादेः ॥४१३२२२॥ मतौ परतः बह्वचः शरादीनां च दीर्भवति अजिरादीन् वर्जयित्वा खौ । उदुम्बरावती । मशकावती । वीरणावती । पुष्करावती । उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति “तदस्मिन्-स्तीति देशः खौ” [३१२।५७] इत्यणि प्राप्ते “नद्यां मतुः” [३१२।६५] इति मतुः । शरादीनां शरावती । वंशावती । [शर ।] वंश । धूम । अहि । कपि । मणि । मुनि । शुचि । इति शरादिः । बह्वचरादेरिति किम् ? इन्दुवती । मधुवती । “खौ” [५।३।३२] इति मतोर्वत्वम् । अनजिरादेरिति किम् ? अजिरवती । खदिरवती । अलिनवती । चक्रवाकवती । कारण्डवती । खाविति किम् ? वलयवती ।

इको वहेऽपीलोः ॥४१३२२३॥ इगन्तस्य पीलुवर्जितस्य वहे द्यौ दीर्भवति । खाविति वर्तते । ऋषीवहम् । मुनीवहम् । पचाद्यजन्तेन बहशब्देन तासः । इक इति किम् ? पिंगडवहम् । अपोलोरिति किम् ? पीलुवहम् । “अपीलवादेरिति वक्तव्यम्” [वा०] । दारुवहम् ।

गेः कासे ॥४१३२२४॥ इक इति वर्तते । इगन्तस्य गेः कासे द्यौ दीर्भवति । नीकासम् । वीकासम् । अनूकासम् । पचाद्यजन्तस्य कासस्येदं ग्रहणम् । इक इत्येव । प्रकाशते इति प्रकाशः ।

दस्ति ॥४१३२२५॥ दा इत्येतस्य यस्तकार आदेशस्तदादौ परत इगन्तस्य गेर्दीर्भवति । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । “गेस्तोऽचः” [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारः । दकारचर्चस्यात एव दीत्ववचनास्ति-द्वत्वम् । “गेस्तोऽचः” इत्यत्र द्वितकारको वा निर्देशः इति सर्वाददेशः । द इति किम् ? वितोर्णम् । तीति किम् ? निदत्तमिति वेध्यते । इक इत्येव । प्रत्तम् । आत्तम् ।

घञ्यमनुष्ये प्रायः ॥४१३२२६॥ इक इति निवृत्तम् । घञन्ते द्यौ गेः प्रायो दीर्भवति अमनुष्येऽभिधेये । अपामार्गः । नीमार्गः । नीकछेदः । प्रावारः । “आच्छादने वृजः” [२।३।५०] इति घञ् । नोवारः । “नौ बुधान्ये” [२।३।४४] इति घञ् । प्राकारः कर्मणि । अधिकरणे प्रासादः । अमनुष्य इति किम् ? निपीदत्यस्मिन्निति निपादः । “हलः” [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ् । “सदोऽप्रतेः” [५।४।४७] इति षत्वम् । प्राय इति किम् ? प्रसदनं प्रसादः । निवेशः । प्रकासः । प्रकरणं प्रकारः । वेशादिभूभयम् । प्रतिवेशः । प्रतीवेशः । प्रतिघोषः । प्रतीघोषः । गेरित्येव । चन्दनसारः ।

खावघ्नः ॥४१३२२७॥ खुविष्येऽष्टन्नित्येतस्य दीर्भवति द्यौ । अष्टापदः । अष्टावक्रः । अष्टाब्रन्धनः । अष्टाविटपः । खाविति किम् ? अष्टमहाप्रातिहार्यो जिनः । अष्टगुणः सिद्धः । “अष्टनः कपाले हविषि वक्तव्यम्” [वा०] । अष्टसु कपालेषु संस्कृतमष्टाकपालं हविः । संस्कृतायै आगतस्याणः “रस्यो-वनपत्ये” [३।१।७४] इत्युप् । “गवे च युक्ते” [वा०] । अष्टाभिर्गोभिर्युक्तम् अष्टागवं शकटम् । युक्त-शब्दस्याप्रयोगः । यथा भीमसेनशब्दे सेनशब्दस्य ।

चित्तेः कपि ॥४१३२२८॥ चित्तेर्दीर्भवति कपि परतः । एका चित्तिरस्य एकचित्तीकः । द्विचित्तीकः । त्रिचित्तीकः ।

विश्वस्य वसुराटोः ॥४१३२२९॥ विश्वस्य दीर्भवति वसु राडित्येतयोः परतः । विश्वतो वस्वस्य विश्वावसुः । विश्वस्मिन् राजत इति विश्वाराट् । “सत्सुद्विष” [२।२।५६] आदिसूत्रेण क्विप् । राडिति विकृत-निर्देशो यत्रास्यैतद्द्रुपं तत्र यथा स्यादिह मा भूत् । विश्वराजौ । विश्वराजः ।

नरे खौ ॥४१३२३०॥ नरे द्यौ विश्वस्य दीर्भवति खुविष्ये विश्वा नरो यस्य विश्वानरः । वसेन यसेन वा व्युत्पत्तिः । खाविति किम् ? विश्वे नरा अस्य विश्वनरो राजा ।

ऋषौ मित्रे ॥४१३२३१॥ ऋषावभिधेये मित्रे द्यौ विश्वस्य दीर्भवति । विश्वामित्रो नाम ऋषिः । ऋषाविति किम् ? विश्वमित्रः सुजनः ।

अन्यस्यापि ॥४१३२३२॥ अन्यस्यापिशब्दस्य द्वावप्यत्रावपि दीर्भवति । कस्यान्यस्य ? यत्प्र शिष्टै-
दीर्त्वं प्रयुक्तम् । “शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्भवति” । श्वादन्तः । श्वादंष्ट्रः । श्वाकर्णः ।
श्वाकुन्दः । श्वावराहः । श्वापुच्छः । श्वापदम् । श्वावराहमिति द्वन्द्वोऽन्यत्र पत्नो वसो वा । एकश्च दश
चैकादश । केशाकेशि । केशेषु केशेषु च गृहीत्वेदं युद्धं वृत्तम् । “तत्रेदमिति सारूपे” [११३८६] इति वसः ।
“अ इच्” [४१३१२८] इति इच्छान्तः । तिष्ठद्ग्रादिषु इजन्तस्य हसंज्ञा । अद्यावपि पुरुषः । सादनम् ।
नारकः । न भवत्यपि पुरुषः । सदनम् । नरक इति ।

चि ॥४१३२३३॥ अण इति इक इति च निवृत्तम् । च् इति अञ्चतिर्नष्टनकाराकारो गृह्यते ।
तस्मिन् परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । प्राचः पश्य । प्राचा । प्राचे । दधीचः पश्य । दधीचा । दधीचे । मधूचः
पश्य । मधूचा । मधूचे । कर्तृचा । कर्तृचे । “अचश्च” [११११२] इत्यचः स्थाने दीत्वम् । दधीच इत्यत्र
यणादेशमन्तरङ्गमपि बाधित्वा “अचः” [४११२५] इत्यकारस्य त्वं भवत्यस्मादेव वचनात् ।

जे ॥४१३२३४॥ जेदीर्भवति द्यौः । कारीरगन्धीपुत्रः । कारीरगन्धीपतिः । कौमुदगन्धीपुत्रः ।
कौमुदगन्धीपतिः । करीपस्येव गन्धो यस्य करीरगन्धिः । तस्यापत्यं स्त्री । आगतस्याणः “प्योऽशु रूपान्त्ययोः”
[३११६३] इति प्यादेशः । टाप् । “षे प्यस्य पुत्रपत्योर्जिः” [४१३१६] इति जिः । जौ कृते अत्राकृते एव
जेदीर्त्वे ग्रामणि कुलमित्यत्र सावकाशः “इकः प्रोऽड्याः” [४१३१७२] इत्ययं प्रादेशः प्राप्तः । प्रादेशाभाव-
पक्षे सावकाशमिदं च दीर्त्वं प्राप्तम् । परत्वादीर्त्वं भवति । सकृद्गतन्यायेन पुनः प्रसङ्गान् प्रादेशः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

[गोः^१ ॥४१४१॥ हलः ॥४१४२॥ नाम्यतिसृचतसृ ॥४१४३॥ नुवा ॥४१४४॥ नोडः ॥४१४५॥
धेऽकौ ॥४१४६॥ सन्तस्फमहतोः ॥४१४७॥ स्वस्त्नसृनेष्टृत्वष्टत्तहोतृपोतृप्रशास्तृत्रपाम्
॥४१४८॥ इन्हनपूर्णाभ्याम् ॥४१४९॥]

शौ ॥४१४१०॥ शौ परत इन् हन् पृषन् अर्यमन् इत्येवमन्तानां दीर्भवति । बहुदण्डिनि । बहुस्रग्वीणि ।
बहुपूषाणि । बह्वर्यमाणि । द्वितीयोऽयं नियमः । शावेवेन्नादीनां दीर्भवति नान्यत्र । दण्डिणौ । दण्डिनः ।
वृत्रहणौ । पूषणौ । अर्यमणौ । तदन्तस्यापि न भवति । परमदण्डिणौ । बहुदण्डिणौ । बहुदण्डिनः ।

सौ ॥४१४११॥ सौ परत इन्नादीनामुडो दीर्भवति । दम्भी । वाग्मी । तपस्वी । वृत्रहा । पूषा । अर्यमा ।
पूर्वेण नियमेनाप्राप्तविध्यर्थमिदम् । अकावित्येव । हे दण्डिन् । हे पृषन् । हे अर्यमन् ।

अत्वसोऽधोः ॥४१४१२॥ साविति वर्तते । अत्वन्तस्य असन्तस्य च किवर्जिते सौ परतः उडः
दीर्भवत्यधोः । गोमान् । धनवान् । सुक्तवान् । तत्परिमाणमस्य तावान् । अतोर्थवतोऽनर्थकस्य च ग्रहणम् ।
अन्यथा भवद्ग्रहणं कुर्यात् । असा साहचर्याद्वा । अतो रुडो दीत्ववचनसामर्थ्यादीत्वे कृते नुम् । अस्-
सुपयाः । सुलोताः । पिबेति चेति सुवस्तुडिति स्रोस्तुट् । अधोरिति किम् ? इषुमस्यति इष्वः । दृषदस्यति दृषदः ।
यद्येवमधोरिति किमर्थम् ? अतस् इत्येवं वक्तव्यम् ? न । अन्येषां प्रतिषेधार्थम् । पिरडग्रः । चर्मणः । ज्ञापनार्थं

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुष्टिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्यात्र
निर्दिष्टानि ।

चास्तादम् । “अनिनस्मिन्प्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च” [प०] इति । अथोरित्यान्तर्यादसन्तस्यैव प्रतिषेधः । तेनात्र दीत्वम् । गोमन्तमिच्छति गोमत्यतेः किप् । गोमान् । अकावित्येव । हे गुणवन् । हे सुपयः ।

उस्य किमल्लोः क्किति ॥४१४१३॥ डान्तस्य गोरुडो दीर्भवति कौ भलादौ च क्किति परतः । प्रशान् । प्रतान् । प्रशाभ्याम् । भलि किम् ? शान्तः । तान्तः । क्कित्तीति किम् ? शंशान्तः । तंतान्तः । यडु-पीदम् । डस्येति किम् ? ओदनपक् । पक्तिः । किमल्लोरिति किम् ? गम्यते । क्कित्तीति किम् ? यन्ता । यन्तुः ।

हनिङ्गम्यचां सनि ॥४१४१४॥ हन्तेरिङ्गमेरजन्तानां च दीर्भवति सनि भलादौ परतः । जिघांसति । इङ्गिमि-अधिजिगांसते । इङ् इति विशेषणं किम् ? संजिगंसते वसो मात्रा । अजन्तानां चिचीषति । मुलूपति । चिचीरति । उड इति निवृत्तम् । अचश्चेति हनिङ्गम्योर्थोऽच् तस्य स्थाने दीत्वे कृते द्वित्वम् । गोरित्येव । दधि सनोति ।

तनोतेर्वा ॥४१४१५॥ तनोतेः सनि भलादौ वा दीर्भवति । तितांसति । तितंसति । भलीत्येव । तित-निर्पात । “सनीवन्तर्ध” [५११६७] आदिसूत्रे तनिपतिदग्निद्राम् इङ्गित्वः ।

क्रमः क्त्वि ॥४१४१६॥ वेति वर्तते । क्रमो वा दीर्भवति भलादौ क्त्वात्ये परतः । क्रान्वा । क्रन्वा । अचश्चेत्यस्य गृह्यमाणेन विशेषणादचः स्थाने दीत्वम् । “उस्य” [४१४१३] इत्यादिना नित्यं प्राप्ते विकल्पः । भलीत्येव । क्रमित्वाऽक्रमेत्येव “प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्बाधकः” [वा०] इति पूर्वं दीत्वस्याप्रवृत्तिः । अनल्वि-धाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पश्चादपि भलादित्वं नास्ति ।

छोः शूङ्छेच ॥४१४१७॥ वेति निवृत्तम् । छुकारवकारयोः स्थाने श् ऊट् इत्येतावादेशौ भवतो ड-संज्ञके परतः कौ हलादौ च क्किति । प्रश्नः । विश्नः । “वाणाद् गावं बलीयः” [प०] इति छे तुकः परत्तान्त्वित्वा-द्वा शादेशः । अपि च विच्छेरेष्यप्रतिषेधार्थं नडो डित्करणं जापकं प्रागेव तुकश्छस्य पशावादेशाविति । “प्रश्ने चान्त्युगे” [१२११७] इति निपातनाजिर्न भवति वकारस्य । स्यो नः । सिवेरौणादिको नः । घेरुड एपः पूर्वमूढा-देशः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [प०] इत्यनित्यमेतत् । तेन यणादेशः । ऊट् एप् । सिवेरौणादिके मकि स्यूमः । छस्य कौ वर्मप्राट् । गोविट् । वकारस्य कौ हिरण्यद्यूः । अश्वद्यूः । अत्तद्युवौ । अश्वद्युवः । छस्य भलादौ पृष्ठः । पृष्ठवान् । पृष्ठा । पृष्टिः । वकारस्य द्यूतः । द्यूतवान् । क्कित्तीत्येव द्युभ्याम् । द्युभिः । अत्र दिवित्यव्युत्पन्नं गृह्यते । ननु क्कितिग्रहणं नातुवत्ये “दिव उत्” [४१३१०८] इति ऊट उदादेशे कृते सिद्धम् । एवं च “ब्रश्च” [५११५३] आदिसूत्रे छुकारग्रहणं न कर्तव्यं स्यात् । न चावश्यमुत्तरार्थं क्कित्ग्रहणमनुवर्त्यम् । प्रपञ्चार्थस्तर्हि ब्रश्चादौ छुकारः । ब्रश्चादिसूत्रेण यत्र पत्वं नास्ति तत्र श्रवणार्थः शकारः । प्रश्नः । वांछेः छिपि वान् । वांशौ । वांशः । गोविशौ । गोविशः । गोविशा । शकारसाहचर्यादूरप्यादेशः टिद्धा ।

ज्वरज्वरस्त्रिव्यविमवां वोडोः ॥४१४१८॥ ज्वर त्वर स्त्रिवि अवि मव इत्येतेषां धूनां वकारोडोः स्थाने ऊडित्ययमादेशो भवति डे कौ भलादौ च परतः । जूरः । जुरौ । जुरः । जूर्तिः । त्वरः-तूरः । तुरौ । तुरः । तूर्तिः । तेन “न वा ह्यमत्वर्” [५१११२८] इत्यादिना अनिट्पक्षे तूर्णः । तूर्णं वान् । अण्डं स्त्रीव्यतीति अण्डस्त्वः । अण्डस्त्वौ । अण्डस्त्वः । स्त्वा । स्तूतः । स्तूतवान् । अवि-ऊः । उवौ । उवः । ऊतिः । मनि वर्तमाने अव्येष्टित्वं चेति मनष्टित्वे डे परत ऊट् च । ओम् । मव-मूः । मुवौ । मुवः । मूतिः । क्कित्तीति निवृत्तम् । तेन ओतुः । “सितनिगमिमव्यविधान्कुसिभ्यस्तुः” [उ० सू०] इति तुः । ज्वरादीनामुडः वकारस्यानन्त्यस्य च ग्रहणम् ।

रः खम् ॥४१४१९॥ रेफात्परयोः खोः खं भवति कौ भलादौ च परतः । हूर्खः-हूः । हुरौ । हुरः । हूर्तिः । हूर्णवान् । मूर्खः-मूः । मुरौ । मुरः । मूर्तिः । “अष्टमूर्द्धिमदाम्” [५१३५६] इति नत्वप्रतिषेधात् मूर्तः । मूर्तवान् । तुर्वी । तूः । तुरौ । तुरः । तूर्णः । तूर्णवान् । तूर्तिः । धुर्वः । धूः । धुरौ । धुरः । धूर्णः । धूर्तिः ।

शूठोरयमपवादः । द्वितीति निवृत्तम् । यदुपि जोहोति । मोमोति । “न धुखेऽजे” [१।१।१८] इति गविषय एवम्-
तिषेधो न भवति ।

इटीटः ॥१।१।२०॥ इटि परत इट उत्तरस्य खं भवति । इडीटोर्मध्ये सामर्थ्यात्वेः खम् । । अटंवीत् ।
अक्रोषीत् । अग्रहीदित्यत्र “ग्रहोऽलिति दीः” [५।१।८५] इति दीत्वे कृते इटः स्थानिवद्भावात्वेः खम् ।

असिद्धवद्वाभान् ॥१।१।२१॥ असिद्धवच्छास्त्रं भवति आ भनंशब्दान् । अत्र शास्त्रे कर्तव्य
इत्यधिकारो वेदितव्यः । आडभिषिधौ द्रष्टव्यः । एधि इत्यत्र नित्यत्वादस एत्वभावयोः कृतयोर्भल्लक्षणं
धित्वमप्राप्तमसिद्धत्वाद्भवति । जहीत्यत्र जादेशे कृते “अतो हेः” [४।१।१६] इत्युप् प्राप्नोति असिद्धत्वान्न भवति ।
गतमित्यत्र द्विती भल्लि डखे कृते अतः खं प्राप्तमसिद्धत्वान्न भवति । एवं यथायोगमुत्तमगच्छन्ममादेशः ।
आदेशलक्षणप्रतिषेधश्च वेदितव्यः । क्त्वरणं किम् ? स्वाश्रयमपि यथा स्यात् । देभतुः । देभुः । दम्भेत्पतं-
ख्यानेन लिटः क्तत्वे कृतेऽनु नखस्य सिद्धत्वात् “हल्मध्ये लिट्यतः” [४।१।१०८] इत्येवं भवति । तथा गुणागमे
उवादेशो सिद्धः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः । युडागमः “एगिवाक्चादुडोऽमुधियः” [४।१।७८] इति यणादेशे
कर्तव्ये सिद्धः । उपदिदीये । उपदिदीयेते । उपदिदीयिरे । अद्रग्रहणं किम् ? अमाजि गगः । “उडोऽतः”
[५।२।४] इत्यैपि कर्तव्ये नकारस्य खं नामिदम् । आमादिति किम् ? रग्नित्वम् । ररन्ध्रम् । हल्मध्ये लिट्यतः
इति एत्वे कर्तव्ये नुमशास्त्रं नासिद्धम् ।

श्नान्नखम् ॥१।१।२२॥ शनात्परस्य नकारस्य खं भवति । व्यनक्ति । हिनस्ति । सशकारस्य ग्रहणं
किम् ? नन्दिता । नन्दकः । नैतदस्तिमण्डकलुप्त्या द्विद्ग्रहणानुवृत्तेः । द्वितो नात्परस्य खमिष्टम् । इह तर्हि मा भूत् ।
यज्ञानाम् । यत्नानाम् “नामि” [४।१।१३] इति दीत्यात्परत्वेन नखमिदं स्यात् । “सुपि” [५।२।१७] इति तु दीत्वं
सन्निपातपरिभाषया वार्यते । स्थानिवद्भावाद्वा नखं प्राप्नोति । प्रश्नानाम्, विश्नानाम् इत्यत्र लान्छनिकत्वात्
भवति । शनादिति श्नमो नष्टनकारस्य ग्रहणम् । न इति डसो नाशे अकारेणोच्चारणार्थेन निर्देशः ।

हलुङः द्विन्यनिदितः ॥१।१।२३॥ हल् उङो नकारस्य खं भवत्यनिदितो गोः द्विती परतः । खस्तः ।
खस्यते । ध्वस्तः । ध्वस्यते । खस्नाति । सनीखस्यते । भ्रस्नाति । वनीभ्रस्यते । हल् इति जातिग्रहणमपि ।
मग्नः । मग्नवान् । हल् इति किम् ? नीतम् । नेनीयते । उङ इति किम् ? नडम् । नानखते । द्वितीति किम् ?
खसित्वा । मृडादिनियमादकिंवम् । अनिदित इति किम् ? शङ्क्यते । मङ्क्यते । तपरकरणं किम् ? समिद्धम् ।
हलुङ इति योगविभागः । तेन “लङ्ङिकम्प्योः उपतापशरीरविकारयोर्नखम्” । विलगितः । विकपितः ।
विलङ्कितः । विकम्पितः इत्यन्यत्र ।

दंशसंजस्वज्जां शपि ॥१।१।२४॥ दंश सज्ज स्वज्ज इत्येतेषां शपि परत उङो नकारस्य खं
भवति । दशति । सजति । परिष्वजते ।

रज्जेः ॥१।१।२५॥ रज्जेश्च शपि परत उङो नकारस्य खं भवति । रजति । रजतः । रजन्ति । योग-
विभाग उत्तरार्थः ।

रौ मृगरमणे ॥१।१।२६॥ रज्जेणै परतो मृगरमणेऽर्थे नकारस्य खं भवति । रजयति मृगान् व्याधः ।
मृगान् रममाणान् दर्शयतीत्यर्थः । “जनीज्वनसुरज्जोऽमन्ताश्च” इति मित्वादुङः प्रादेशः । मृगरमण इति
किम् ? रजयति वज्रम् ।

घञि भावकरणे ॥१।१।२७॥ भावकरणाभिधायिनि घञि परतो रज्जेर्नकारस्य खं भवति ।
आश्चर्यो रागः । विचित्रो रागः । करणे रजति तेन रागः । भावकरण इति किम् ? रजत्यस्मिन्निति रज्जः ।
करणेऽधिकरणे च “हल्” [२।३।१०२] इति घञ् । घिनुरि कथं नखम् । रागी । “दुहानुख” [२।२।११८]

आदि सूत्रे त्यजरजादि निपातनात्सिद्धम् । “दशनहः करणे ऋ” इति सूत्रे दशेति विकरणनिर्देशेन निपातनम् । अजादिषु पाठाद् दंष्ट्रेति “रजकरजनरजसु नखे यन्तः कर्तव्यः” [वा०] “शिल्पिनि ट्ठुः” । युः । औणादिकश्च “अस् सर्वधुम्यः” इत्यस् ।

स्यदावोदैधौघप्रश्रथहिमश्रथाः ॥४॥४॥२८॥ स्यद, अवोद, एध, ओघन्, प्रश्रथ, हिमश्रथ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । स्यद इति स्यन्देर्घञि नखमैवभावश्च निपात्यते जवेऽभिधेये । गोस्यदः । अश्वस्यदः । कुद्योगे तासः । जवादस्यत्र तैलस्यन्दो घृतस्यन्दः । अवोद इति उन्देरवपूर्वस्य घञि नखं निपात्यते । एध इन्धेर्घञि नखमेप् च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इति प्रतिषेधो मा भूत् । ओघ इति उन्देरौणादिके मनि नखम् । प्रश्रथः हिमश्रथ इति श्रन्थेः प्रपूर्वस्य हिमपूर्वस्य च घञि नखमैवभावश्च निपात्यते । “न धुखेऽगे” [११११८] इत्यत्र इकोऽनुवर्तनादेपः प्रतिषेधो न स्यात् ।

नाञ्चेः पूजे ॥४॥४॥२९॥ अञ्चतेः पूजेऽथे नकारस्य खं न भवति । अञ्चितोऽस्य गुरुः । समञ्च्य जिनं गतः । “अन्वेः पूजायाम्” [५१११०१] इति तत्त्वोरिट् । हलुङ इति नखप्रातिः । पूज इति किम् ? उदक्तमुदकं कृपात् । अक्त्वा रज्जुम् । “बोदितः” [५१११०४] इत्यनेनेट्पक्षे मृडादिनियमादकिञ्चिन् । अञ्चित्वा । ते “यस्य” [५१११२१] इति प्रतिषेधः । नाञ्चेरित्यनेनैव प्रतिषेधेन नकारः कृतचुत्वो निर्दिष्टः ।

क्तिव स्कन्दस्यन्दोः ॥४॥४॥३०॥ क्त्वात्ये परतः स्कन्द स्यन्द इत्येतयोर्नकारस्य खं न भवति । स्कन्त्वा । स्यन्त्वा । स्यन्देः “स्वरति” [५१११२] इत्यादिनाऽनिट्पक्षे क्तिवात्तत्वं प्राप्तम् । इट्पक्षे तु मृडादिनियमादेवाक्त्वे सति नखाभावः सिद्धः । क्वीति द्वितकारकनिर्देशः । तकारादौ क्त्वात्ये इति । तेन प्रस्कथ प्रस्थेत्यत्र “अनखिधौ” [११११५६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्नकारादित्वं नास्तीति खं भवत्येव ।

जनशोर्वा ॥४॥४॥३१॥ ज इति वर्णग्रहणम् । जान्तस्य गोर्नशेश्च वा नखं भवति क्त्वात्ये परतः । रक्त्वा । रंक्त्वा । भक्त्वा । भंक्त्वा । नष्टा । नंष्टा । नशे “रधादेः” [५१११३३] इति विभाषितेऽनिट्पक्षे “मस्जिनशोर्कलि” [५११३६] इति नुम् । “हलुङः” [४११२३] इति नित्ये नखे प्राप्ते विकल्पः । हल इति जातिग्रहणपक्षे मस्जेरपि नित्यं नखे प्राप्ते मंक्त्वा । अनखपक्षे द्वयोः स्फसंज्ञामाश्रित्य स्फादिसखम् ।

भञ्जेजौ ॥४॥४॥३२॥ भञ्जेः जौ परतो वा नखं भवति । अभञ्जि । अभञ्जि पापं मुनिना । नखमप्राप्तमनेन पक्षे विधीयते ।

शास इत् ॥४॥४॥३३॥ गोखडः क्लृप्तीति वर्तते । शासेखड इदादेशो भवति क्लृप्ति परतः । किति-शिष्टा । शिष्टिः । शिष्टः । शिष्टवान् । शिष्यः । “स्तुशासिण्वृहजुषः क्यप्” [२१११९] इति क्यप् । क्लिति-शिष्टः । शिष्यः । “शास्वसवसाम्” [५११४०] इति षत्वम् । अजादावड्ये वेति नियमो भविष्यति । सामर्थ्यादयं हलादौ क्लृप्ति विधिः । हलीति यदि क्रियेत “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [प०] इति वज्रौ न स्यात् । मित्रं शास्तीति मित्रशीः । आर्यं शास्तीति आर्यशीरिति । शासु अनुशिष्टावित्यस्येह ग्रहणम् । अन्यस्य दीत्वस्य विधेरसम्भवात्तेन आडः शासु इच्छायामित्यस्येवं न भवति । आशास्यते । आशास्ते । “लिङाशिषि” [२१११५] इति निर्देशादन्यस्यापि क्वाचित्वम् ।

अङ्गि ॥ ४॥४॥३४॥ अङ्गि परतः शास उङ इद्भवति । अन्वशिषत् । अन्वशिषताम् । अन्वशिषन् । नियमार्थोऽयमारम्भः । अजादावड्येव क्लृप्ति नान्यस्मिन् । शशासुः । शासति । ज्ञादित्वात्थसंज्ञा । “अत्थात्” [५११४] इत्यदादेशः ।

शा हौ ॥४॥४॥३५॥ शासः शा इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । उङमपेक्ष्य पूर्वं शास इदित्यवयवयोगलक्षणत्वात् । सामर्थ्यात् स्थानलक्षणं संपद्यते । अनुशाधि । प्रशाधि । आह्राविति यदि सूत्रं क्रियेत

अनेनान्यस्य सम्भवादाकारे कृते पूर्वैण उड इत्ये चानिष्टं रूपं स्यात् । ननुङ् आत्वे कृते “धि” [५३।४३] इति सखे च सिद्धं शाधोति उड इति तर्हि निवृत्तम् । अपि च प्रकृतिग्रहणे यङुबन्तस्यापि मचस्य यथा स्यादित्येवमर्थः शादेशः ।

हन्तेर्जः ॥४।४।३६॥ हन्तेर्ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः । जहि मनुमु । जहि पापम् । तिपा निर्देशाद् यङुबन्तनिवृत्तिः । जंघहीति ।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनां डखं भलि ङिति ॥४।४।३७॥ अनुदात्तोपदेशानां गूनां वनतेस्तनोत्यादीनां च डस्य खं भवति झलादौ ङिति परतः । ङितीति निर्देशात्पूर्वस्याव्यवहितस्य खम् । यत्वा । यतिः । यतः । यतवान् । डखे विहतनिमित्तत्वात् “डस्य” [४।४।३३] इति दीत्वं न भवति । अनुदात्तोपदेशाः यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयः पट् । वतिः । वनतेः स्त्रियां क्तौ । तनोत्यादीनां तत्वा । ततिः । ततः । ततवान् । सनोतेरात्वं वक्ष्यति । जतः । जतवान् । ङिति । हतः । हथः । अतन । अतथाः । “तनादिभ्यस्तथासोः” [१।४।१४८] इति सेरप् । एतेषां ग्रहणं किम् ? शान्तः । तान्तः । डस्येति किम् ? पक्ववान् । भलीत्येव । गम्यते । ङितीति किम् ? यन्ता । यन्तुम् । उपदेशग्रहणमुत्तमार्थम् । वनतेस्तिपा निर्देशाद्यङुबन्तस्य निवृत्तिः । वंवांतः ।

शपा तिपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेरन च ।

यच्चैकाग्रहणं किञ्चित्पञ्चैतानि न यङ्ङुपि ॥

तनोतेर्गणनिर्देशादेव यङ्ङुबन्तस्य न भवतीति सिद्धे तिपा निर्देशः “द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति” [५०] इति निर्दर्शनार्थस्तेन सकृदुक्त ऐप् क्वचिन्न भवति । ज्योतीष्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्ये तिपः । पुनः ङितीति ग्रहणं विस्पष्टार्थम् ।

प्ये ॥४।४।३८॥ प्ये च परतोऽनुदात्तोपदेशादीनां डखं भवति । प्रहृत्य । प्रमृत्य । प्रवृत्य । प्रतृत्य । प्रसृत्य । प्रक्षृत्य । अभूलादावपि विश्वर्थमिदम् ।

वा मः ॥४।४।३९॥ अनुदात्तोपदेशादिषु मकारान्तानां वा डखं भवति प्ये परतः । प्रयृत्य । प्रयम्य । प्ररृत्य । प्ररम्य । प्रणृत्य । प्रणम्य । प्रगत्य । प्रगम्य । पूर्वैण नित्ये खे प्राप्ते विकल्पः ।

न क्तिचि दीश्च ॥४।४।४०॥ क्तिचि परतः अनुदात्तोपदेशादीनां डखं दीश्च न भवति । यन्तिः । रन्तिः । नन्तिः । वन्तिः । तन्तिः । क्षन्तिः । अनुदात्तोपदेशादीनामित्येव । शान्तिः । दीत्वं भवत्येव ।

गमः क्वौ ॥४।४।४१॥ गमः क्वौ परतो डस्य खं भवति । जनगत् । कलिगत् । मोक्षगतो मुनयः । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इति भूलाद्यभावादप्राप्तं डखमनेन विधीयते । पूर्वसूत्राच्चकारोऽनुवर्तते, सोऽत्रानुक्तसमुच्चयार्थः । तेन गमादीनां क्वौ डखं द्रष्टव्यम् । संयत् । परीतत् । “वागमिङ्” [१।३।८२] इति पसे कृते “नहिवृत्ति” [४।३।२१६] इत्यादिना परेर्दीत्वम् ।

क्व्याः ॥४।४।४२॥ अनुदात्तोपदेशादि निवृत्तम् । डस्येति वर्तते । डान्तस्य गोर्वनि परत आत्वं भवति । विजायत इति विजावा । “मन्वन्कनिव्वचः क्वचित्” [२।२।६२] इति वन् । “वशि” [५।१।११४] इतीट्प्रतिषेधः । अन्तेऽलः स्थाने आत्वम् । एवम् अग्रेगावा । दधिक्रावा । दीत्वोच्चारणं किमर्थम् ? ओणृ अपनयन इत्यस्माद्भिन्नावावा । घुण घूर्ण भ्रमणे । ध्वावा । इवि व्याप्तौ-यावा । “इदिद्धोनुम्” [५।१।३७] “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति वनि परतो नकारस्य खम् । एतच्च वर्णनिमित्तं नागनिमित्तमिति न ध्रुवेऽवात् “ध्रुङ्” [५।२।८३] इत्येप् प्राप्तस्तमन्तरङ्गत्वाद्यणादेशो बाधते ।

जनसनखनाम् ॥४१४४३॥ जन सन खन इत्येतेषां डस्य भ्लादादौ झिति परत आकारादेशो भवति । जातः । जातवान् । जातिः । सातः । सातवान् । सातिः । खातः । खातवान् । खातिः । सनोतेस्तनादौ पाठस्य “तनादिभ्यस्तथासोः” [१४१४४८] इत्यादिकार्यमवकाशः । इह पाठस्य च सनि परत आत्वमवकाशः । भ्लादादौ झिति डखादिवं परत्वात् । ननुभयोः सिद्धत्वे स्पर्धः इह च “असिद्धवदत्राभात्” [४१४१२१] इत्युभयमप्यसिद्धं तत्कथं परत्वम् । अत्रोच्यते “भुमास्थाना” [४१४१६५] आदिसूत्रे हलीति हल्ग्रहणं ज्ञापकं भवत्यत्र स्पर्धः । तथाहि तस्यैतत्प्रयोजनं हलादावीत्वं यथा स्यात् । अजादौ मा भूत् । गोदः कम्बलदः इति । अस्त्वत्रापीत्वं तस्यासिद्धत्वात् “इष्टि चात्” [४१४१६३] खेन सेत्स्यति नार्थां हल्ग्रहणेन । तदेतत्स्पर्धे सति सार्थकम् । क्रियमाणे हल्ग्रहणे गोद इत्यत्र परत्वादीत्वे “सकृद्गतं परनिर्णये विधिर्बाधितो बाधित एव” [५०] इत्यात्वं न स्यादिति मन्यमानो हलीत्याह ।

सनि ॥४१४४४॥ सनि च भ्लादादौ परतो जनादीनां डस्य आकारादेशो भवति । सिसासति । भलित्वेव । जिजनिपते । सिसनिपति । चिखनिपति । “सनीवन्तर्ध” [५१११६७] इत्यादिनाऽनिट्पक्षे सनोतेरेव सन् भ्लादिः सम्भवति । झिद्ग्रहणमसम्भवादिह न संवध्यते ।

ये च ॥४१४४५॥ झितीति वर्तते । झिति यकारे त्वे परतो वा जनादीनामाकारादेशो भवति । जायते । जन्यते । जाजायते । जञ्जन्यते । श्ये परत्वाद् “ज्ञाजनोजी” [५१२१७७] इति नित्यो जादेशः । सायते । सन्यते । सासायते । संसन्यते । खायते । खन्यते । चाखायते । चंखन्यते । अभ्लादावपि यथा स्यादित्यारम्भः । झितीत्येव । जन्यम् । “शकिसहश्च” [२११८६] इति चशब्देनान्वेभ्योऽपि यः । श्ये च सान्यम् । खान्यम् । य इति त्यनिर्देशो न वर्णनिर्देशः । तेनेह न भवति सन्यात् । खन्यात् । “किदाशिषि” [२१४१८५] इति क्त्वम् ।

तनोतेर्यकि ॥४१४४६॥ तनोतेर्यकि परतो वा आकारादेशो भवति । तायते । तन्यते । यकीति किम् ? तन्तन्यते । अप्राप्ते विकल्पः ।

सनः क्तिचि खं च ॥४१४४७॥ सनः क्तिचि परतः खं भवत्याकारश्च वा । सतिः । सातिः । सन्तिः । “न क्तिचि दीश्च” [४१४४०] इति डखदीत्वयोः प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ।

अग्रे ॥४१४४८॥ वेति निवृत्तम् । अग्रे इत्ययमधिकारो वेदितव्यः । “लुङलङ्लुङ् बट्” [४१४१००] इत्यतः प्राक् यदनुक्रमिष्यामः अग्रे इत्येवं तद्वेदितव्यम् । वक्ष्यति “अतः खम्” [४१४१५०] चिकीर्षिता । अग्रे इति किम् ? चिकीर्षति । ननु भवतु गोप्यतः खम् । शपोऽकारस्य श्रवणं भविष्यति । एवं तर्हि शपोऽकारस्यैव गे खं माभूत् । ननु “शपोऽदादिभ्यः” [१४११४३] इत्युज्ज्वचनं ज्ञापकम् । शपो गे खं न भवति । नैतदस्ति “नोमता गोः” [१४११६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधार्थं ता स्यात् । मृष्ट इति । “हल्यैबुप्युतः” [५१२१८७] इत्यैपो विधानार्थं च । यौति । रौति । तत्वलोश्च खं मा भूत् । वृत्तेति । “हलो यः” [४१४१५१] वेभिदिता । वेभिदितुम् । गे माभूत् । वेभिद्यते । “णेः” [४१४१५३] कारणा । हारणा । अग्रे इति किम् ? कारयति । हारयति । “सिस्ससीयुट्तासौ ङौ ग्रहाज्जनदृशां निवदिट् च” [४१४१६१] इति अग्रे सीयुट् । कारिषीष्ट । गे मा भूत् । प्रस्तुवीत । “स्नोश्च जिश्च” [२१११५६] इति यक् प्रतिषिध्यते । इह च क्रियेत ह्रियेत । “क्लिण्यचः” [५१२१३] इति यक् ऐपि युक् प्रसज्येत । “इष्टि चात्वम्” [४१४१६३] पपतुः । पपुः । ययतुः । ययुः । गे मा भूत् । पान्ति । वान्ति । “भुमास्थागापा” [४१४१६५] इत्यादिनेत्वम् । दीयते धीयते । गे मा भूत् । अदाताम् । अघाताम् । “लिङ् येत्” [४१४१६६] देयात् । गे मा भूत् । दद्यात् । दध्यात् । “वाऽस्थः स्फादेः” [४१४१६७] ग्लेयात् । ग्लयात् । अग्रे इत्येव । विध्यादिलिङि-स्नायात् ।

अस्जोरसोरम्वा ॥४१४१६॥ अस्जो रेफसकारयोर्वा रमादेशो भवति । भर्त्या । भ्रष्टा । भर्धुम् । भ्रष्टुम् । भर्ध्वम् । भ्रष्टव्यम् । रसोरिति पुनस्ताया उपादानादादेशोऽयं रसोः स्थाने भवति नित्योच्चारणसामर्थ्यादचोऽन्त्यात्परो भवति । रमभावपक्षे स्फादेः सत्वम् । ननु रेफस्यैव रमादेशो वक्तव्यः । द्वयोः रससंशामाश्रित्य सखेन सिद्धमिति चेदजादौ न सिध्यति । भर्जनम् । भ्रञ्जनम् । भर्गः । भ्रद्गः । पक्षे “भलां जशू भशि” [५१११२८] इति सकारस्य दत्वम् । रमादेशस्यावकाशोऽङ्किति भ्रष्टा । भर्त्या । जेरवकाशो भृञ्जति । इहोभयं प्राप्नोति भृष्टा । भृष्टवानिति । कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यो जिर्भवति । जौ कृते रमादेशो न भवति । उपदेश इत्यनुवर्तनात् । तेनेहापि न भवति वरीभृञ्जते ।

अतः खम् ॥४१४१७॥ अगोऽकारान्तस्य खं भवति । चिकीर्षिता । धिनोति । धिनुतः । कृणोति । कृणुतः । इवि दिवि धिवि प्रीणने । कृवि हिंसाकरणयोश्च । “इदिद्वोर्नुम्” [५११३७] । “धिन्विकृण्वोर च” [२११७५] इति उविकरणः । अकारश्चान्तादेशः । तस्य खे । तपरकरणं किम् ? याता । ऐपोऽवकाशः प्रियमाचष्टे प्रापयति । कारयति । अत्वस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभयं प्राप्नोति चिकीर्षक इति । दीवत्यावकाशः परिणतयते । स्तूयते । अत्वस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभयं प्राप्नोति चिकीर्ष्यते इति । किमत्र तत्त्वम् ? “ऐव्दात्वाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन” [वा०] “लिप्स्यसिद्धौ” [२१३५] इत्यत्र लिप्स्य इति विग्रहनिर्देशात् ।

हलो यः ॥४१४१८॥ हलन्तादगोस्तमस्य यकारस्य खं भवत्यगो । वेभिदिता । वेभिदितुम् । वेभिदितव्यम् । पूर्वैणातः खे कृते यलविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादनेन यत्वम् । तृचमपेक्ष्य “ध्युङः” [५१२८३] एप्प्राप्तोऽतः खस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । “न धुखेज्जे” [११११८] इत्ययं तु प्रतिषेधो हलचोः खे अत्रमात्रस्य खे न प्रवर्तते । लोलुवः । देयः इति । अत्र “यङोश्चि” [११११४४] इत्युब्ल्यास्त्वं कृतप्रसङ्गेन नित्यम् । उपि तु कृतेऽतः खं शास्त्रं न प्रवर्तते इत्यनित्यम् । तेन हलचोरपि कृते स्थानिवद्भावाभावात् “न धुखेज्जे” [११११८] इत्यनेन प्रतिषेधः । हल इति किम् ? लोलूयिता । पोषूयिता । गोर्निमित्तत्वेन विशेषणादिह न भवति । ईर्ष्यिता । समिध्यिता । अतः खे कृतेऽपि यकारमात्रस्य त्वस्य गुसंज्ञानिमित्तत्वमस्ति यथा अकरोदित्यत्र तिप् इकाराभावेऽपि ।

वा क्यस्य ॥४१४१९॥ क्यस्य हल उत्तरस्य वा खं भवत्यगो । समिधिता । समिध्यिता । दृषदिता । दृषयिता । समिधमिच्छति आत्मनः “स्वेपः क्यच्” [२१११६] समिधमिवाचरति “गौखादाचारे” [२१११८] इति वा क्यच् । समिदिवाचरतीति “कर्तुः क्यङ्स खं विभाषा” [२१११६] इति क्यङ् । तान्येवोदाहरणानि । हलन्तात् क्यखोऽसम्भवः । “नः क्ये” [१२११०४] इति पूर्वपदत्वाभावः ।

शेः ॥४१४२०॥ अगो शेः खं भवति । अततत् । इयादेशः प्रातः । आटिटत् । इयादेशापवादः “एगिवाक् चादुङोऽसुधियः” [१११७८] इति यत्वं प्रातम् । कारणा । हारणा । ऐप् प्रातः । शीप्स्यति सनि दीवं प्रातम् । कार्यते । हार्यते “दीरकृद्गे” [५२११३४] इति दीवं प्रातम् । कारको हारकः । ऐप् प्रातः । णिङ् कामनम् । कामकः । काम्यते । इयादिभिः सर्वस्य विषयस्यावष्टब्धत्वात्मान्यरूपेण तैप्रामयमपवादः ।

ते सेटि ॥४१४२१॥ तसंज्ञके सेटि परतो शेः खं भवति । कारितम् । गणितम् । लक्षितम् । संज्ञपितः । ज्ञेयः सनि विकल्पितेतोऽपि “यस्य वा” [५१११२१] इत्यनेन प्रतिषेधः । एकाच इत्यपेक्षणात् । कथं तर्हि विज्ञप्तः प्रभुरिति विकल्पेन “बुद्धज्ञप्ताः” [५१११२४] इति निपातनात् । नियमार्थोऽयमारम्भः । त एव सेटि नान्यस्मिन् । कारयिता । हारयिता । ते सेट्ये केत्यवधारणं न भवति शेः परस्यानित्यस्य व्यावर्त्यस्याभावात् । सेटीति वचनात्पूर्वमिडागमः पश्चादणित्वम् । अन्यथा कृताकृतप्रसङ्गेन नित्ये णिखे कृते “एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्” [प०] कारितमित्यत्र “एकाचोऽनुदात्तात्” [५११११५] इतीदृप्रतिषेधः प्रसज्यते ।

अयामन्तात्वाय्येतुषु ॥४१४१५॥ शेरयादेशो भवति आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इत्येतेषु परतः । आम् । कारयांचकार । अन्त । गदयन्तः । मण्डयन्तः । “द्विशिभ्यां ऋः” [उ० सू०] । “गदिमदिमण्डिजिनदिभ्यश्च” [उ० सू०] इति ऋः । आलुः । स्पृहयालुः । आय्यः । स्पृहयाय्यः । “महिसूद-चिस्त्रहिभ्य आय्यः” [उ० सू०] इत्याय्यः । इत्नुः । स्तनयितुः । गदयितुः । “स्तनिहृदियुपिगदिमदि-भ्यो शेरित्नुः” [उ० सू०] । णिखस्यायमपवादः । नेति सिद्धेऽयादेश उत्तरार्थः ।

प्ये धिपूर्वात् ॥४१४१६॥ प्ये परतो धिपूर्वाङ्गान्तरस्य शेरयादेशो भवति । प्रशमय्य । प्रतमय्य । लवणं कृतवान् प्रलवणय्य । प्रस्तनय्य । यङन्ताण्येचि प्रवेविदय्य गतः । ननु प्रादेशटिखात्त्वयखानामाभाच्छा-स्त्रत्वादसिद्धत्वे कथं धिपूर्वाङ्गान्तरं गिः । व्याश्रयत्वासिद्धत्वम् । प्रादेशादयो गौ प्ये परतो शेरयादेश इति वचनाद्वा सिद्धत्वम् । धिपूर्वादिति किम् ? प्रहास्य प्रचिकीर्ष्य गतः ।

वाऽऽपः ॥४१४१७॥ आपः परस्य शोः प्ये परतो वाऽयादेशो भवति । प्रापय्य प्राप्य गतः । स्वादिकस्य चौरादिकस्य चापेर्ग्रहणम् । सूत्रमध्याप्य गतः इत्यत्र लाक्ष्णिकत्वाच्च भवति । अपजवस्ते प्रापय्य गतः इत्यत्रैका देशस्यासिद्धत्वादयेव भवति ।

क्षियो दीः ॥४१४१८॥ वेति नाधिकृतम् । क्षियो दीर्भवति प्ये परतः । आक्षीय । तुकि प्राप्ते दीत्वम् ।

तेऽण्ये ॥४१४१९॥ अण्यार्थे विहिते ते परतः क्षियो दीर्भवति । कः पुनरर्थार्थो यः पर्युदस्यते । भावकर्मणी “तयोर्व्यक्तत्वायः” [२१४१५५] इति वचनात् आक्षीणः । परिक्षीणः । “धिगल्यथाच्च” [२१४१५८] इति कर्तरि कः । दीत्वे कृते क्षीत इति तस्य नत्वम् । इदम् क्षीणं सार्थस्य । क्षीयतेऽस्मिन्निति “अधिकरणे चाद्यथाच्च” [२१४१५९] इत्यधिकरणे क्तः । “क्तस्याधिकरणे” [११४१७०] इति कर्तरि ता । अण्य इति किम् ? आक्षितमस्य । भावे दीत्वाभावान्नत्वं नास्ति । सगेः क्षियः सकर्मकत्वे कर्मण्यपि ।

वा दैन्याक्रोशे ॥४१४१६०॥ अण्यार्थे ते परतो दैन्ये आक्रोशे च गम्ये क्षियो वा दीर्भवति । दैन्ये क्षितोऽयं क्षीणोऽयं वराकः । आक्रोशे क्षितोऽसि क्षीणोऽसि जाल्म । क्षितायुः । क्षीणायुः । कर्तरि क्तः । अण्य इत्येव । क्षितं वराकस्य । क्षितं जाल्मस्य ।

सिस्वसीयुट्तासौ डौ ग्रहाज्भनदृशां जिवदिट् च ॥४१४१६१॥ सि स्व सीयुट् तासि इत्येतेषु परतो डवर्थे ग्रहेरजन्तानां हनि दृशि इत्येतयोश्च वा जिवत्कार्यं भवति । यदा जिवद्भावस्तदा डडागमश्च भवति स्वसिचसीयुट्तासीनाम् । अग्राहिषाताम् । अग्रहीषाताम् । “ग्रहोऽलिटि दीः” [५११८५] इत्यत्र प्रकृतस्येयो दीत्वम् । ग्राहिष्यते । ग्रहीष्यते । ग्राहिषीष्ट । ग्रहीषीष्ट । ग्राहिता । ग्रहीता । इयो दीत्वाभाव ऐप् च प्रयोजनम् । अजन्तानाम्—अचायिषाताम् । अचेषाताम् । अग्लायायिषाताम् । अग्लासाताम् । अका-रिषाताम् । अकृषाताम् । “उः” [१११८६] इति सेः क्त्विम् । चायिष्यते । चेष्प्यते । ग्लायायिष्यते । ग्लास्यते । कारिष्यते । करिष्यते । चायिषीष्ट । चेष्पीष्ट । ग्लायिषीष्ट । ग्लासीष्ट । कारिषीष्ट । कृषीष्ट । “उः” [१११८६] इति लिङः क्त्वं च । चायिता । चेता । ग्लायिता । ग्लाता । कारिता । कर्ता । अनुदात्तादिडागमः । आतो युक्च प्रयोजनम् । अवानिषाताम् । अहसाताम् । अजिवद्भावे “वेडि” [११४११६] इति वधादेश उदात्तः । अवधिषाताम् । वानिष्यते । हनिष्यते । वानिषीष्ट । वधिषीष्ट । परत्वात् जिवद्भावे कृते “सकृदगते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] इति वधादेशो न भवति । अत्वं च प्रयोजनम् । अदर्शिषाताम् । अदृक्षाताम् । “सि लिङ्दे” [१११८५] इति क्त्विम् । दर्शिष्यते । द्रक्ष्यते । “मल्यकिति सृजदृशोऽम्” [४१३५१] इत्यमागमः । दर्शिषीष्ट । दृक्षीष्ट । दर्शिता । द्रष्टा । सिस्वसीयुट्तासाविति किम् ? दातव्यम् । दानम् । डविति किम् ? लविष्यति । दास्यति । ग्रहाज्भनदृशामिति किम् ? पद्यत ओदनम् । उपदेश इत्यनुवृत्तानात् कारिष्यत इत्यत्र परत्वादेपि कृतेऽपि जिवद्भावः । शमयतेरजन्तस्य जिवद्भावपक्षे

“जिणमोदीमिताम्” [१४१८६] इति वा दीत्वे कृते द्वे रूपे शामिष्यते । शामिष्यते । नित्यत्वाद्वलाघगस्येदं बाधित्वा त्रिवदित् । तस्यासिद्धत्वाणिस्त्वम् । अन्यत्र शमयिष्यते । औ दृष्टं कार्यं सामान्येनातिदिश्यते । तेन घानिष्यते । आयिष्यते । अथ्यापिष्यते इत्यत्र हनिणिङां त्रिवद्भावे वधादय आदेशाः लुङि चिद्विता न भवन्ति ।

दीडोऽचि ङिति युट् ॥१४१८२॥ दीडोऽजादौ ङिति परतो युडागमो भवति । उपदिदीये । उपदि- दीयाते । उपदिदीयिरे । दीड इति कानिर्देशोऽचीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य तां कल्पयति । वचनायुटः सिद्धत्वात् “एगिवाक्चादुडोऽनुधियः” [१४१७८] इति यणादेशो न भवति । अतीति किम् ? उपदीयते । ङिति किम् ? उपादानम् । “गागयोः” [५२८१] इत्येप् । “मिन्मीज्दीडं प्ये च” [१४१८३] इत्यात्वम् । यदुयन्ता- दामा भवितव्यमित्यनुबन्धनिर्देशो विस्पष्टार्थः । पूर्वान्तकरणे उपदिदीयिष्वे इत्यत्र इण्यन्तादगोरुत्तरस्य दत्वं प्रसज्येत ।

इटि चात्वम् ॥१४१८३॥ इटि अजादौ च ङिति परत आकारान्तस्य गोः खं भवति । पपिथ । जगिथ । “वोषदेश” [५१११०८] इत्यादिनेट् । पपुतुः । पपुः । तत्पुतुः । तत्पुः । गोदः । कम्बलदः । डिति- प्रपा । संस्था । अचीत्येव । दासीय । ग्लायते । “रञ्जभेटः” [२१४८६] इतीयोऽकारादेशः । अग इत्येव । यान्ति । व्यत्यस्ते । इटीति ययविशेषणग्रहणं तदा गोऽप्यातः खेन भवितव्यम् । व्यत्यस्तोति । एतच्च अगाधि- कारेण विरुद्धमिव लक्ष्यते ।

ईद्ये ॥१४१८४॥ आकारान्तस्य गोरीकारादेशो भवति ये परतः । देयम् । धेयम् । ग्लेयम् । “गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [प०] इति अनित्यमेतत् । “देयमृणे” [१४१२२] इत्येषो निर्देशात् । यद्येप् कियते दीत्वोच्चारणं किमर्थम् ? पीतम् । हीनम् । य इति “निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [प०] । ग्लायते । स्लायते ।

भुमास्थागापाहाक्सां हलि ॥१४१८५॥ ङितीति वर्तते । भु मा स्था गा पा हाक् सा इत्येतेषा- मीकारादेशो भवति हलादौ ङिति परतः । भुसंज्ञानाम् । दीयते । देदीयते । धीयते । देधीयते । पीतं वत्सेन । मा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । “गामादाग्रहणेऽप्यविशेषः” [प०] इति । मीयते । स्था-स्थीयते । तेष्ठीयते । गा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । गीयते । जेगीयते । अध्यगीष्ट । “लुङ् लुङोवा” [१४१२२] इति ईडो गादेशः । पा इत्यनुबन्धकरणपित्रतेर्ग्रहणम् । पीयते । पेपीयते । पातेस्तु पायते । पानम् । हाक्-अवहीयते । अवजेहीयते । जिहीतेस्तु हायते । हातम् । सा-अवसीयते । अवसेपीयते । हलीति किम् ? ददतुः । ददुः । ङितीत्येव । दाता ।

लिङ्येत् ॥१४१८६॥ लिङि परतो भुमादीनामेकारादेशो भवति । देयात् । धेयात् । मेयात् । स्थेयात् । गेयात् । पेयात् । अवहेयात् । अवसेयात् । ङितीत्येव । दासीष्ट ।

वाऽस्थः स्फादेः ॥१४१८७॥ आकारान्तस्य स्फादेः स्थावर्जितस्य गोरीकारादेशो भवति वा लिङि परतः । ग्लेयात् । ग्लयात् । ग्लेयात् । ग्लयात् । अस्थ इति किम् ? स्थेयात् । अन्यथोभयप्राप्तौ परत्वादेतेन विकल्पः स्यात् । स्फादेरिति किम् ? यायात् । ङितीत्येव । ग्लासीष्ट । गोस्त्विव । निर्यायात् ।

न प्ये ॥१४१८८॥ वेति नाधिकृतमुत्तरत्र वाग्रहणात् । प्ये परतो भुमादीनां यदुक्तं तत्र भवति । प्रदाय । प्रधाय । प्रमाय । प्रगाय । प्रस्थाप । प्रपाय । अवहाय । अवसाय । ईत्वप्रतिषेधोऽयम् । वचनात् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते” [प०] इति ज्ञापितम् । तेन “दो दङ्गोः” [५२११४८] इति दङ्गावः । दधातेर्हि-आदेशः । “हाक्ः क्वि” [५२११४७] । मास्थास्वतीनामित्वं च न भवति । प्यादेशे कृतेऽनन्विवाविति स्थानिवद्भावाप्रतिषेधात्प्राप्तिः ।

वेमंडः ॥४१४६६॥ मेडः प्ये परतो वा इकारादेशो भवति । अपमित्य । अपमाय । “माडो व्यतीहारे” [२।४।५] इति क्त्वा ।

लुङ्लङ्लुङ्यद् ॥४१४७०॥ लुङि लङि लृङि च परतो गोरडागमो भवति । अकार्षीत् । अकरोत् । अकरिष्यत् । ऐक्षिष्ट । औम्भीत् । ऐक्षत । औम्मत् । ऐक्षिष्यत् । औम्मिष्यत् “अटश्च [ना३।७८] इत्येप् । आसन् आयन् इत्यत्र लावस्थायामडागमेऽन्तरङ्गत्वादप्यायादेशे च कृतेऽत इत्यनुवृत्तेः “शनसः खम्” [४।४।१०१] यणादेशश्च न भवतः ।

न माङ्योगे ॥४१४७१॥ माङ्योगेऽडागमो न भवति । मा कार्षीत् । मास्म करोत् । मानिरसीत् । मास्म निरस्ताम् । योगग्रहणं किम् ? मा भवान् कार्षीत् । इदमेव ज्ञापकं “माङि लुङ्” [२।३।१५१] इत्यत्र माङ्योगे लुङ् द्रष्टव्यः ।

शुधुभ्रुवां य्वोरचीयुधौ ॥४१४७२॥ शु धु भ्रू इत्येतेषां गूनामिवर्णोवर्णयोरजादौ परत इय् उव् इत्यादेशौ भवतः । शु । प्राप्नुवन्ति । राप्नुवन्ति । धु-चिक्षियतुः । चिक्षियुः । लुलुवतुः । लुलुवः । नियौ । नियः । लुवौ । लुवः । भ्रू । भ्रुवौ । भ्रुवः । निर्दिश्यमानयोरिवर्णोवर्णयोरदेशः । यथा “पादः पद्” [४।४।११६] इति पाच्छब्दस्य पदादेशो न पादन्तस्य । नयति । भवति । नायकः । भावकः इत्यत्र परत्वादेवैपौ । अचीतीभिर्देशाद् व्यवधाने न भवति । विविदतुः । विविदुः । गोरित्येव । स्त्र्यर्थम् । भ्र्वर्थम् ।

चस्याऽस्वे ॥४१४७३॥ चस्वेवर्णोवर्णयोरस्वेऽचि परत इयुवौ भवतः । इयेप् । इयति । पूर्वेण गुणिमिन्तेऽचि आदेश उक्त इति न प्राप्नोति । अस्व इति किम् ? ईषतुः । ईषुः । ऊषतुः । ऊषुः । अचीत्येव । इयाज । उवाय ।

स्त्रियाः ॥४१४७४॥ स्त्रियाश्च इयादेशो भवति अचि. परतः । स्त्रियां । स्त्रियः । परमस्त्रियौ । परम-स्त्रियः । अलैवानर्थकेन तदन्तविधिः नास्मिन्धातेन । तेन शस्त्रीशब्दस्य न भवति । स्त्रीणामित्यत्र परत्वान्नुट् । पृथक्करणमुत्तरार्थम् ।

वाग्शसोः ॥४१४७५॥ अमृशसोः परतः स्त्रिया वा इयादेशो भवति । स्त्रियं पश्य । स्त्रीं पश्य । स्त्रियः पश्य । स्त्रीः पश्य ।

औतः ॥४१४७६॥ आकारादेशो भवति औतोऽमृशसोः परतः । वेति न स्वरितं गां गाः पश्य । वां आः पश्य च गोशब्दस्य अग्नि ऐपः पूर्वनिर्यानेतात्वम् । चित्रगुं पश्येत्यत्रान्तरङ्गत्वात्प्रादेशो सत्यात्वाभावः । दाता सहचरितस्यामो ग्रहणादिह न भवति । अचिनवम् । अमुनवम् ।

यणेत्योः ॥४१४७७॥ यणादेशो भवति एत्योरचि परतः । यन्ति । यन्तु । अधियन्ति । अधियन्तु । “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [प०] इतीयादेशस्य बाधा नत्वेवैपौ । अयनम् । आयुकः ।

एगिवाक्चाटुडोऽसुधियः ॥४१४७८॥ गिवाक्चात्परो य उङ् तस्मादुत्तरस्य इवर्णस्य यणादेशो भवत्यचि परतः सुधीशब्दं वर्जयित्वा । गिः-उन्न्यौ । उन्न्यः । परिण्यौ । परिण्यः । वाचः-ग्रामण्यौ । ग्रामण्यः । सेनान्यौ । सेनान्यः । चात्-चिच्यतुः । चिच्युः । निन्यतुः । निन्युः । गिवाक्चादिति किम् ? नियौ । नियः । परमनियौ । परमनियः । उङ् इति किम् ? यवक्रियौ । यवक्रियः । उङत्र गिवाक्चात्परो न भवति । ककारेण व्यवधानात् । असुधिय इति किम् ? सुधियौ । सुधियः । “ध्याप्योर्जिश्च” [उ०सू०] इति क्तिप् जित्वं च ।

सुप्योः ॥४१४७९॥ अजादौ सुपि परतो गिवाक्चपूर्वाटुङः परस्य उवर्णस्य यणादेशो भवति । सुवौ । सुवः । सकृत्सुवौ । सकृत्सुवः । खलप्वौ । खलप्वः । शतसुवौ । शतसुवः । सुपीति किम् ? लुलुवतुः । एतदर्थं च योगान्तरम् । गिवाक्चादित्येव । सुवौ । सुवः । लुवौ । लुवः । परमलुवः । उङ् इत्येव कटप्रुवौ । कटप्रुवः ।

हन्कारापुनर्वर्षाभ्यो भुवः ॥४१४८०॥ हन् कारा पुनर् वर्षा इत्येतस्य उत्तरस्य भुवो यणा-
देशो भवत्यचि सुपि परतः । हन्वौ । हन्वः । काराभ्यौ । काराभ्यः । पुनर्भौ । पुनर्भ्यः । वर्षाभ्यौ । वर्षाभ्यः ।
नियमार्थोऽयमारम्भः । एतेभ्यः एव भुवो यणं नान्यस्मात् । प्रतिभुवौ । प्रतिभुवः । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुवः ।
मित्रभुवौ । मित्रभुवः । “भुवः खन्तरे” [२।२।१५२] इति किप् ।

लुङ्लिटोर्बुक् ॥४१४८१॥ भुवो वृगागमो भवति लुङ्लिटोरचि परतः । अभूवन् । अभूवन् ।
“स्थेषिष्व” [१।१।१४६] इत्यादिना सेष् । मिषोऽमादेशे “सूभयव्योमिङि” [५।२।८६] इत्येपि प्रति-
पिद्धे बुक् । लिटि-बभूव । बभूविथ । बभूवतुः । बभूवुः । णलि थे च पूर्वविप्रतिपेयेनैवैवेर्बुक्ता याथा । लुङ्-
लिटोरिति किम् ? व्यतिभिषीष्ट । ओरित्यनुवर्तते तेन यङुवन्तस्य परत्वादेपि कृते न भवति । अत्रोभयम् ।

हुश्नुवोर्गे वः ॥४१४८२॥ हु श्नु इत्येतयोस्कारस्य वकारादेशो भवत्यजादौ ने परतः । जुह्वति ।
जुह्वतु । चिन्वन्ति । “ग्रहाऽऽनन्दशाम्” [१।१।६१] इत्यतो मण्डकगत्याऽऽग्रहणमनुवर्तते । तेनाच उत्तरस्य
श्नोर्वकारादेशः । इह मा भूत्-प्राप्नुवन्ति । राध्नुवन्ति । हुश्नुवोरिति किम् ? योयुवति । गेन्वति । चादित्यनु-
वर्तनात्प्रसज्येत । ग इति किम् ? जुहुवतुः । जुहुवुः । जुह्वानि चिनवानित्यत्र परत्वादेप् ।

गोहेरूढः ॥४१४८३॥ गोह उङ् ऊकारादेशो भवत्यचि परतः । निगूहयति । निगूहकः । माधु
निगूही । निगूहन्ति । निगूहम् । निगूहो वर्तते । गोहेरित्येवं कृत्वा विकृतनिर्देशः किम् ? यत्रास्यैतद्रूपं तत्र
यथा स्यादिह माभूत् । निजुगुहतुः । निजुगुहुः । उङ् इति किम् ? अन्त्यस्य मा भूत् । प्रकृतिग्रहणे यङुवन्तस्य
घञि जोगूह इत्यत्र चस्य च मा भूत् । ओरित्यनुवृत्तेः तद्विकारस्य चस्यापि प्रसज्येत । अत्रान्येव । निगोढा ।
निगोढुम् । ऊ इत्यविभक्तिको निर्देशः । द्विमात्रश्चायमादेशः । अन्यथा एप्प्रतिपेधः क्रियेत ।

दोषो रौ ॥४१४८४॥ दोष उङ् ऊकारादेशो भवति रौ परतः । दूषयति । दूषयते । दोष इति
विकृतग्रहणं किम् ? एपि कृते ऊकारो यथा स्यात् । अन्यथा प्रदूष्य गत इत्यत्र ऊकारस्यासिद्धत्वाणोरयादेशः
प्रसज्येत । एपि कृते विपूर्वत्वं नास्तीत्यप्राप्तिः । णाविति किम् ? दोषणं दोषः ।

वा चित्तविकारे ॥४१४८५॥ चित्तविकारेऽर्थे दोषो रौ परत उङो वा ऊकारादेशो भवति । चित्तं
दूषयति । चित्तं दोषयति । प्रज्ञां दूषयति । प्रज्ञां दोषयति । दोषमाचष्टे दोषयतीत्यत्र टिखस्यासिद्धत्वादुङ् ओः
स्थाने विकारो न भवतीत्यप्राप्तिः । चित्तविकार इति किम् ? एकान्तवादप्रयोगं दूषयति । णावित्येव ।
चित्तस्य दोषः ।

जिण्मोर्दीर्मिताम् ॥४१४८६॥ जिण्मपरे गौ परतो मितं गूनामुङो वा दीर्मवति । अघटि । अघाटि ।
घटं घटम् । घाटं घाटम् । अशमि । अशामि । शमं शमम् । शामं शामम् । घट्यते कश्चित् । शाम्यति कश्चित् ।
तमन्यः प्रयुङ्क्ते इति णिच् । उङ् ऐप् । वक्ष्यमाणेन “प्रः” [१।१।८७] इत्यनेन प्रादेशः । जौ णमि चानेनोङो
वा दीत्वम् । ननु प्रादेश एव विकल्पः । दीरिति किमर्थम् ? न शक्यमेवम् । शमयतेर्णिचि कृते रौ णित्स्य
स्थानिवद्धावात् उङ् प्रादेशविकल्पो न स्यात् । दीत्वविधौ तु न स्थानिवद्धाव इति जिपरो णिर्मितोऽनन्तर इति
दीत्वविकल्पः सिद्धः । अशमि । अशामि । तथा अत्यर्थं शाम्यतीति यङ् । शंशम्यतेर्णिच् । “अतः खम्”
[१।१।५०] । “ह्रौ यः” [१।१।५१] इति यखम् । अत्रापि यङोऽकारस्य दीत्वविधिं प्रति न स्थानिवद्धाव
इति अशंशामि । नवाऽत्रासिद्धत्वं शक्यम् व्याश्रयत्वात् । रौ हि णियङोः खं जिण्मपरे गौ गोर्दीत्वमिति ।

प्रः ॥४१४८७॥ णाविति वर्तते । मितं गूनामुङ् प्रो भवति गौ परतः । घटयति । व्यथयति । जनयति ।
“जनिवध्योः” इति विकृतोः परत ऐप्प्रतिपेधः उत्तस्ततो जेरन्यदुदाहरणम् । मितामिति किम् ? कामयति ।
आमयति । चाममति । “न कन्यमिचमाम्” इति मित्संज्ञाप्रतिपेधः । प्रशमय्य गत इत्यत्र णाबुङ् प्रादेशः

प्ये परतो शेरयादेश इति व्याश्रयत्वात्प्रादेशस्यासिद्धत्वं न भवति । कथं संक्रामयति । केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति । सा च व्यवस्थितविभाषा ततो न दोषः ।

खचि ॥४१४।८८॥ खचरे णौ परतो ओरुडः प्रो भवति । युगन्धरः । वसुन्धरः । “भृतवृजिधारि-
सहितपिदमः खौ” [२।२।४४] इति खच् । “खित्यभेः” [४।३।१७६] “सुमचः” [४।३।१७७] इति
सुमागमः ।

ह्लादस्ते ॥४१४।८९॥ ह्लादस्ते परत उडः प्रो भवति । प्रहूलन्नः । प्रहूलन्नवान् । त इति किम् ?
प्रह्लादयति । ह्लाद इति योगविभागात्प्रहूलत्तिः ।

छादेर्वे ॥४१४।९०॥ छादेर्वे परत उडः प्रो भवति । प्रच्छदः । उपच्छदः । “तिकुप्रादयः” [१।३।८९]
इति पसः । उरश्छदः । तनुच्छदः । कुद्योगे तासः । छद अपवारणे इति चौरादिकः । अस्मात् “पुंखौ घः
प्रायेण” [२।३।१००] इति घे कृते णित्स्यासिद्धत्वम् “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावो वा
क्वचनसामर्थ्यान्न भवति । ततः उडः प्रादेशः । घ इति किम् ? प्रच्छादनम् । तनुच्छादनम् ।

नानेकगेः ॥४१४।९१॥ अनेको गिर्यस्य तस्य छादेरुडः प्रो न भवति । समुपच्छादः । एकगिरिगिरिश्च
छादिः पूर्वेण प्रादेशं प्रयोजयति ।

मन्त्रेस्किषु ॥४१४।९२॥ मन्त्र इस् कि इत्येतेषु परतश्छादेरुडः प्रो भवति । छत्र । छत्रम् । छदिः
समुच्छद् । उपच्छत् । “सर्वधुभ्यो मन्त्रटौ” [३० सू०] उणादिषु विहितौ । “अर्चिष्युचिजसृषिछादिछृदिभ्य
इस्” [३० सू०] इति इस् । “छादेर्वे” [४।३।९०] इत्यतः पृथक्करणमनेकगेरपि प्रादेशार्थम् । समुपच्छत् ।
समुपाचिच्छत् । सिवसिधसामि पत्वम् ।

गमहनजनखनघसां किडत्यनडि ॥४१४।९३॥ गम हन जन खन घस इत्येतेषां कुडः खं भवति
अनडि किति डिति परतः । अनडोति किम् ? अगमत् । अघसत् । कडोति किम् ? गमनम् । गमनीयम् ।
अचोत्येव । गम्यते । हन्यते ।

हुभलभ्यो हेर्धिः ॥४१४।९४॥ हु इत्येतेस्मात् झलन्तेभ्यश्चात्तरस्य हेर्धिरित्ययमादेशो भवति ।
जुहुधि । झलन्तेभ्यः-छिन्धि । भिन्धि । “शनसः खम्” [४।३।१०९] इत्यखस्य अनुस्वारविधिं प्रति न स्थानिवच्चम्
इति अनुस्वारपरस्वत्वे । भलभ्य इति किम् ? लुनीहि । हेरिति किम् ? युवां जुहुतम् । “भुमास्थागापाहा-
क्सां हलि” [४।३।९५] इत्यतो मण्डूकगत्या हलग्रहणमनुवर्तते । तेनाह्लादेर्न भवति । रुदिहि । स्वपिहि । अथवा
अत्र परत्वादिति कृते “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] । जुहुतात्वं भिन्तात्वमित्यत्रापि
परत्वात्तात्तादेशः ।

जेरुप् ॥४१४।९५॥ जेरुत्तरस्य उब् भवति । अकारि । अलावि । लावस्थायामडागमः । पश्चादुप् ।
खमिति वर्तते । उब्ग्रहणे सर्वापहारार्थं परस्यादेर्मा भूत् । गोरित्यधिकारात् गोरिर्नित्यस्य त्यस्योन्विधानादिह
भवति अपाठि ग्रन्थः । अकारितरामित्यत्र तत्त्वस्यासिद्धत्वाच्च भवति । व्यक्तौ हि पदार्थे प्रतिव्यक्ति लक्षणं भिद्यते
इति तदेव शास्त्रं तस्मिन् कथमसिद्धमिति नाशंकनीयम् ।

अतो हेः ॥४१४।९६॥ अकान्ताद्देरुत्तरस्य हेरुम्भवति । पच । कृष । गच्छ । अत इति किम् ? युहि ।
रुहि । तपरकरणं किम् ? याहि । लुनीहि । ईत्स्यासिद्धत्वादाकारः । हेरिति वर्तमाने पुनर्हेरिति किम् ? हिरेव यो
हिस्तस्योब् यथा स्यात् इह माभूत् । जीवतात्वम् ।

उतस्यादस्फात् ॥४१४।९७॥ अस्फात्परो य उकारस्तदन्तात्त्यादुत्तरस्य हेरुम् भवति । चिनु । सुनु ।
तनु । कुरु । तन्वादिषु व्यपदेशिवद्भावादुकारान्तत्वम् । उत इति किम् ? लुनीहि । जानीहि । त्यादिति किम् ?
युहि । रुहि । अस्यादिति किम् ? आप्नुहि । तच्चापुहि ।

त्यनुवर्तनात् हित्वे कृते इत्यादिविधिः । अथवा अल्पाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्रागेव द्वित्वम् । हलीत्येव । जहति । ग इत्येव । हीनः । हीयते । जेहीयते । योगविभाग उत्तरार्थः ।

आ च हौ ॥४१४१०७॥ हाक आकारादेशो भवति इच्च वा हौ परतः । जहाहि । जहिहि । जहीहि ।

यि खम् ॥४१४१०८॥ यकारादौ गे झिति परतो हाकः खं भवति । जह्यात् । जह्याताम् । जह्युः । ग इत्येव । हीयते । जेहीयते ।

भ्वसोरेच्च खं हौ ॥४१४१०९॥ भुसंज्ञकानाम् अस्तेश्च हौ परत एकारादेशो भवति चस्य च खम् । देहि । धेहि । एधि । खमिति वर्तमाने पुनः खग्रहणं सर्वस्य चस्य नाशार्थम् । अस्तेश्च खं न सम्भवति । “शनसः खम्” [४१४१०९] इत्यखम् । अनेन सकारस्यैत्वम् । हाविति वर्तमाने पुनर्हाविति किम् ? रूपान्तरापत्तौ माभूत् । दत्तात् । धत्तात् । स्तात् ।

अतो हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥४१४११०॥ हलोर्मध्ये वर्तमानस्यात एकारादेशो भवति चस्य च खं लिटि झिति परतः । पेचतुः । पेचुः । शेकतुः । शेकुः । रेणतुः । रेणुः । हल्मध्य इति किम् ? आटतुः । आटुः । त्रपिग्रहणं नियमार्थं वक्ष्यति । अनेक हल्मध्यगतस्य त्रपरेव नान्यस्य । ततश्चतुः । पप्रथे । पप्रथाते । पप्रथिरे । लिटीति किम् ? पापच्यते । पापच्यते । अत इति किम् ? दिदिवतुः । दिदिवुः । तपरकरणं किम् ? शशासतुः । शशासुः । झितीत्येव । अहं पपच । “फलिभजोः” [४१४१३२] इति नियमो वक्ष्यते । एतयोरेव लिट्यादेशाद्योरेच्यत्वे भवतो नान्यस्य । बभणतुः । बभणुः । चकणतुः । चकणुः । नमिसहोस्तु लिङ्-त्पत्तेः प्रागेव नत्वसत्वे भवत इति नियमान्न निवृत्तिः । नेमतुः । नेमुः । सेहे । सेहाते । सेहिरे ।

सेटि ॥४१४१११॥ सेटि च लिटि परतो हल्मध्येऽत एत्वं भवति चस्य च खम् । अङ्घ्रित्वापि यथा स्यादित्यारम्भः । पेचिथ । शेकिथ । नेमिथ । “वोपदेशे” [५१११०८] इत्यादिना वेट् । सेटीति किम् ? पपक्थ । लिटीत्येव । पठितः । पठितवान् । अत इत्येव । दिदेविथ ।

फलिभजोः ॥४१४११२॥ फलि भजि इत्येतयोरत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि झिति सेटि च परतः । फेलतुः । फेलुः । फेलिथ । भेजतुः । भेजुः । भेजिथ । भेजे । भेजाते । भेजिरे । नियमार्थोऽयमारम्भः । फलिभजोरेव लिट्यादेशाद्योर्नान्यस्य । चकणतुः । चकणुः । चकणिथ । बभणतुः । बभणुः । बभणिथ । फलिभजोर्विकारलक्षण आदेशः अन्यस्यापि विकारादेशादेर्निवृत्तिः शशिदधोः प्रतिषेधाच्च । तेन प्रकृतिचरां प्रकृतिचरः प्रकृतिजशां प्रकृतिजशो भवन्तीति । नात्र नियमान्निवृत्तिः । तेनतुः । तैनुः । देमतुः । देमुः ।

तृत्रपोः ॥४१४११३॥ तृ त्रपित्येतयोरत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि झिति सेटि थलि च परतः । तेरतुः । तैरुः । तेरिथ । “ऋच्छृतृताम्” [५१२१२३] इत्येप् । त्रेपाते । त्रेपिरे । “अन्येश्चेति वक्तव्यम्” [वा०] श्रे थतुः । श्रे थुः । उपसंख्यानेन लिटः झित्वम् । इदमपि नियमार्थं सूत्रम् । एन्निवृत्तस्यातस्तरैरेव नान्यस्य । विशशरतुः । विशशरुः । विशशरिथ । लुलविथ । अनेकहल्मध्यगतस्य त्रपरेव नान्यस्य । ततश्चतुः । ततश्चिथ । ममन्थतुः । ममन्थुः । ममन्थिथ ।

वधे राधेः ॥४१४११४॥ राधेर्वधेऽर्थे हल्मध्येऽवर्णस्यैत्वं भवति चस्य च खं लिटि झिति सेटि थलि च परतः । परिरेधे । परिरेधाते । परिरेधिरे । कर्मणि दविधिः । परिरेधतुः । परिरेधुः । परिरेधिथ । वध इति किम् ? आरराधतुः । आरराधुः । आरराधिथ ।

वा नृभ्रम्वसाम् ॥४१४११५॥ नृ भ्रम् वस् इत्येतेषामतो वा एत्वं भवति चस्य च खं लिटि झिति सेटि च परतः । जेरतुः । जेरुः । जेरिथ । भ्रेमतुः । भ्रेमुः । भ्रेमिथ । त्रेमतुः । त्रेमुः । त्रेमिथ । पक्षे जजरतुः । जजरुः । जजरीथ । बभ्रमतुः । बभ्रमुः । बभ्रमिथ । तत्रसतुः । तत्रसुः । तत्रसिथ । तृग्रहणादन्यस्यैभ्नवृत्तस्य न भवतीति नृषोऽप्राप्ते । भ्रमेरादेशादित्वात् त्रसेरनेकहल्मध्यगतत्वात्प्राप्ते विकल्पः ।

फणां सप्तानाम् ॥४१४११६॥ फणादीनां सप्तानां वा एत्वं भवति चस्य च खं लिटि ङिति सेटि च परतः । फेरणुः । फेरुः । फेरिथ । पफणुतुः । पफणुः । पफणिथ । रेजतुः । रेजुः । रेजिथ । रराजतुः । रराजुः । रराजिथ । भ्रेजे । भ्रेजाते । भ्रेजिरे । बभ्राजे । बभ्राजाते । बभ्राजिरे । भ्रेमे । बभ्रासे । भ्लेसे । बभ्लासे । स्प्रेमतुः । स्प्रेमुः । स्प्रेमिथ । सस्वमुः । सस्वमिथ । स्वेनतुः । स्वेनुः । स्वेनिथ । सस्वनतुः । सस्वतुः । सस्वनिथ । सप्तानामिति किम् ? दध्वनतुः । दध्वनुः । जज्वलतुः । जज्वलुः । जज्वलिथ ।

न शसददवादीनाम् ॥४१४११७॥ शस दद् इत्येतयोर्वादीनां च लिटि ङिति सेटि च परत एत्व-चखे न भवतः । विशशसतुः । विशशसिथ । दददे । दददाते । दददिरे । वादीनाम्-ववणुतुः । ववणुः । ववणिथ । ववले । ववलाते । ववलिरे ।

भस्य ॥४१४११८॥ भस्येत्ययमधिकारो वेदितव्य आ पादपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “पादः पत्” [४१४१११६] इति । द्विपदा । द्विपदे । भस्येति किम् ? द्विपादौ । द्विपादः । धे भसंज्ञा न भवति ।

पादः पद् ॥४१४११९॥ पादन्तस्य गोर्भस्य पदित्ययमादेशो भवति । द्विपदः पश्य । द्विपदा । द्विपदे । द्वौ पादावस्येति वसे “सुसंख्यादेः” [४१२११४०] इति पादस्यातः खम् । “निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति” [प०] इति पाच्छब्दस्य पदादेशः । द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति । “संख्यायाः पादशतेभ्यो वाँप्सा-दृशङ्ल्यागे वुन्” [४१२११०] खं च । वैयाघ्रपद्यः । व्याघ्रस्येव पादौ यस्य “खं पादस्याहस्यादेः” [४१२११३६] इति खम् । रगादित्वाद्यञ् । भस्येति किम् ? द्विपाद्भ्याम् । द्विपाद्भिः । पादवतेः क्विबन्तस्य प्रयोगो नास्ति ।

वसोर्जिः ॥४१४१२०॥ वसन्तस्य गोर्भस्य जिर्भवति । उपसेदुषः पश्य । उपसेदुषा । उपसेदुषे । “वस्सदिणो वसुलिङ्गम्” [१२१८८] इति वसुः । द्वित्वम् । हल्मध्ये लिट्यत इति एत्वचखे । क्रादिनिय-मादिट् । जौ कृते निमित्ताभावादिप्पिबृत्तिः । भस्येत्येव । विद्वस्यति । विद्वस्यते । क्यच्क्वडोः स्वादिन्वा-भावाद्भसंज्ञा नास्ति । “नः क्ये” [१२११०४] इति नियमात्पदसंज्ञाविरहेण रित्वाद्यभावः ।

श्वयुवमघोनोऽहृति ॥४१४१२१॥ श्वन् युवन् मघवन् इत्येतेषां जिर्भवति अहृति परतः । शुनः पश्य । शुना । शुने । यूनः पश्य । यूना । यूने । “अनन्त्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इति यकारस्य न भवति । मघोनः पश्य । मघोना । मघोने । अहृतीति किम् ? शौवनं मांसम् । शौवनं वर्तते । माघवनम् । शुनो विकारः “प्राणितालादेः” [३१३१०५] इत्यण् । “द्वारादेः” [५१२१६] इत्यौत् । यूनो भावः “हायनान्त-युवादिभ्योऽण्” । मघोन इदम् । उत्तरत्र अन इति योगविभागः । अनन्तानां श्वादीनां जिर्भवति । तेन युवतीः पश्येत्यत्र “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य” [प०] इति न भवति ।

अनोऽखमम्बस्फात् ॥४१४१२२॥ अन्नन्त्याखं भवति स चेदन् मकारवकारान्तस्फात्परो न भवति । राज्ञः पश्य । राज्ञे । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति चुवम् । तद्धणः पश्य । तद्धणा । तद्धणे । अन्नन्-स्येति वचनात् राज्ञकीय इत्यत्र न भवति । अम्बस्फादिति किम् ? धर्मणः । धर्मणे । तत्त्वदृश्वनः पश्य । तत्त्वदृश्वना । तत्त्वदृश्वने ।

पादिहन्धृतराज्ञोऽणि ॥४१४१२३॥ पकारादेरनः हन् धृतराजन् इत्येतयोश्चाणि परतोऽकारस्य खं भवति । आक्ष्णः । ताक्ष्णः । हन्-ध्रौणध्नः । वार्त्रध्नः । धृतराजन्-धार्तराज्ञः । अपत्यार्थेऽण् “अनः” [४१४११५८] इति अखटिखयोः प्रतिषेधे प्राप्ते सूत्रम् । एतेषामिति किम् ? सामनो धौमनः । ताक्ष्ण्यः । “सेनान्त-लक्षण” [३१११४०] इत्यादिना ख्यः ।

वा डिश्योः ॥४१४१२४॥ अनोऽकारस्य वा खं भवति डौ शीशब्दे च परतः । राज्ञि । राजनि । लोमि । लोमनि । साम्नी । सामनी । दाम्नी । दामनी । भस्येत्यधिकारात् “नपः” [५१११६] इत्यनेना-दिष्टः शीशब्दो गृह्यते ।

अचः ॥४१४१२५॥ अच इत्यच्चेर्नष्टनकारो गृह्यते । तदन्तस्य गोरकारस्य खं भवति । प्रतीचः पश्य । प्रतीचा । प्रतीचे । मधूचः पश्य । मधूचा । मधूचे । भस्येत्येव । प्रत्यञ्चमिच्छति प्रत्यच्यति । क्यच् । स्वादिष्वभावात्पूर्वस्य भसंज्ञा नास्ति । अच इति नष्टनकारग्रहणं किम् ? प्रत्यञ्चः पश्य । प्रत्यञ्चा । प्रत्यञ्चे । “नाञ्चेः पूजे” [४१४१२६] इति नलाभावः ।

ईदुदः ॥४१४१२६॥ उदः परस्याच ईकारादेशो भवति भस्य । उदीचः पश्य । उदीचा । उदीचे । उदीच्यः । “द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः” [३१२।८०] इति यः । अस्वापवाद्योऽयम् ।

आतो धोः ॥४१४१२७॥ आकारान्तस्य धोर्मस्य खं भवति । कीलालपः पश्य । कीलालपा । कीलालपे । शुभंयः पश्य । शुभंया । शुभंये । आत इति किम् ? ग्रामण्या । ग्रामण्ये । धोरिति किम् ? मालाः पश्य । “जृञश्चः क्वः” [५।१।१०३] “थश्नोरातः” [४१४।१०२] इत्यादयः सौत्रा निर्देशाः । भस्येत्येव । क्षीरपामिच्छति क्षीरपीयति ।

तेर्विंशतेर्दिति ॥४१४१२८॥ भस्य विंशतेर्दिति परतस्तिशब्दस्य खं भवति । विंशत्या क्रीतो विंशकः । “विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुरखौ” [३।४।२१] इति वुः । तिले कृते “एप्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपत्वम् । विंशतेः पूरणं विंशं शतम् । विंशतिरधिका अस्मिन्निति “तदस्मिन्नधिकमिति शदृशान्ताङुः” [३।४।१६७] “विंशतेश्च” [३।४।१६८] इति डः । आसन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः । “संख्येये” [१।३।८७] इत्यादिना वसः । “संख्यात्राङ्गोऽबहुगयात्” [४।२।६९] इति डः सान्तः । डितीति किम् ? विंशत्या ।

टेः ॥४१४१२९॥ टिसंज्ञकस्य डिति परतः खं भवति । त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः । त्रिंशं शतम् । आसन्नाश्चतुर्णामिमे आसन्नचत्ताः । कुमुदान् । नड्वान् । वेतस्वान् । कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति “कुमुद-नडवेतसाङ्गित्” [३।२।६७] इति मटुः । नड्वल् । नडा अस्मिन् देशे सन्ति “नडशादाङ्गित्” [३।२।६६] इति वलः । डित्करणसामर्थ्यादभस्यपि टेः खम् । अतएव उपसरे जात उपसरजः । मन्दुगयां जातः मन्दुरजः । “ले ङयापोः क्वचित्खौ च” [४।३।१७३] इति प्रः ।

नोऽपुंसो हति ॥४१४१३०॥ नकारान्तस्य भस्य हति परतस्त्विखं भवत्यपुंसः । आग्निशर्मिः । दैवशर्मिः । औडुलोमिः । बाहूवादित्वादिन् । न इति किम् ? वैद्युतोऽग्निः । अपुंस इति किम् ? पुंस इदं पौंसम् । “स्त्रीपुं सान्नु-क्त्वात्” [३।१।७२] इति अञ्नुकौ । हतीति किम् ? शर्मणा । शर्मणे । भस्येव । शर्मण आगतं शर्मरूपम् । शर्ममयम् । “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३।३।५५] इति रूप्यमयटौ ।

सब्रह्मचार्यादेः ॥४१४१३१॥ सब्रह्मचारित्रित्येवमादीनां हति टेः खं भवति । सब्रह्मचारिणः शिष्यः साब्रह्मचारः । पीठसर्पिणोऽयं पैठसर्पः । कलापिनोऽयं कालापः । अथवा कलापिना प्रोक्तमधीते शौनकादिषु वैशम्पायनान्तेवासित्वाणिनि प्राप्ते “कलापिनोऽय्” [३।३।७६] इत्यण् । “तद्वैद्यधीते” [३।२।५१] इत्यण् । “उपप्रोक्तात्” [३।२।५४] इत्युप् । “बृन्दोब्राह्मणानि चात्रैव” [३।२।५६] इति अच्येतृविषयता । कुथुमिनः शिष्यः कौथुमः । तितिलिनः तैतिलः । जजलिनः जाजलः । अन्येषां तैतिलिजाजलिशब्दावाचार्यवचनानुपचाराद्ग्रन्थोऽपि तयोस्तुतः । तमधीते तैतिलः । जाजलः । लाङ्गलिनः शिष्यः लाङ्गलिनमधीते वा लाङ्गलः । शिलालिनोऽयं शैलालः । शिखरिणोऽयं शैखरडः । सूकरसन्नोऽयं सौकरसन्नः । सुपर्वणः सौपर्वः । इनन्तानां “प्रायोऽनपत्ये-ऽणीनः” [४।३।९५५] इति टिखप्रतिषेधः प्राप्तः ।

इवाश्मचर्मणां सङ्कोचविकारकोशेषु ॥४१४१३२॥ श्वन् अश्मन् चर्मन् इत्येतेषां संकोच विकार कोश इत्येष्वर्थेषु हति टेः खं भवति । शौवः संकोचः । शौवोऽन्यत्र । कथं शौवं मांसम् । “अनः” [४।१।१५८] इत्यत्र प्रायोग्रहणानुवृत्तेर्विकारे टिखप्रतिषेधो नेष्यते । अश्मनो विकार आश्मः । आश्मनोऽन्यत्र । चार्मः कोशः । चार्मणोऽन्यः ।

टखोरेवाहः ॥४१४१३३॥ अह्नित्येतस्य टखोः परतः टः खं भवति । द्वयहः । व्यहः । द्वे अहनी समाहृते, त्रयाणामह्नां समाहारः रसे कृते “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४१२१६३] इति टः सान्तः । “न समाहारे” [४१२१६१] इति अह्नादेशप्रतिषेधः । द्वे अहनी भूतो भावी वा द्वयहीनः । व्यहीणः । हृदयै रसः । “समायाः खः” [४१४१८२] इत्यधिकारे “राग्यहःसंवत्सरात्” [४१४१८४] इति खः । अह्नां समूहः अहीनः । हृत इति बहुवचननिर्देशात्खः । टखोरेवेति किम् ? अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम् । “तेन निर्वृत्तः” [४१४१७५] इति प्राग्वतष्ठञ् । एवकार इष्टोऽवधारणार्थः । अह्न एव टखोरिति मा भूत् । एवं हि मद्राज इति न स्यात् । “खेऽध्वनः” [४१४१६०] इति प्रतिषेधारम्भात् इष्टोऽवधारणे प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

कद्रघोरोऽस्वयम्भुवः ॥४१४१३४॥ कद्रूशब्दस्य उवर्णान्तस्य च भस्य हृति परत ओकारादेशो भवति स्वयम्भूशब्दं वर्जयित्वा । कद्र्वा अपत्यं काद्रवेयः । “स्त्रीभ्यो ढण्” [३१११०६] इति ढण् । “ढे खम्” [४१४१३५] इत्यस्यापवादार्थं कद्रूग्रहणम् । उवर्णान्तस्य माण्डव्यः । बाभ्रव्यः । औपगवः । कापटवः । अत्य-यम्भुव इति किम् ? स्वायम्भुवं धाम स्वायम्भुवी प्रक्रिया । “तस्मेदम्” [३१३१८८] इत्यण् । ओत्वे प्रतिपिडे उवादेशः ।

ढे खम् ॥४१४१३५॥ ढे परत उवर्णान्तस्य खं भवति । कामण्डलेयः । शैतिवाहेयः । जाम्बेयः । “बाह्वन्तकद्रुकमण्डलुभ्यः खौ” [३१११६०] इति ऊत्ये कृते । अपत्यार्थं “चतुष्पादभ्यो ढञ्” [३१११२३] इति ढञ् । जान्वाः जानेव । “द्वयचः” [३११११०] इति ढण् । इयुवौ परत्वात् खं बाधते । वान्मप्रेयः । लैखाप्रेयः । वत्सप्रीः चतुष्पाद् । लेखाभ्रूः शुभ्रादिः । ढ इति किम् ? कमण्डलवे हिता कमण्डलव्या मृत् ।

यस्य ड्यां च ॥४१४१३६॥ इवर्णान्तस्यावर्णान्तस्य च खं भवति डीत्ये हृति च परतः । दाक्षी । प्लाक्षी । “इतो मनुष्यजातेः” [३१११५५] इति डीः । स्वेको दीत्वे क्रियमाणे अतिसखेरागच्छतीत्यत्र दोषः स्यात् । सखीमतिक्रान्तः अतिसखिः । “स्त्रीगोनीचः” [११११८] इति प्रादेशे कृते सख्यसख्योरेकादेशः सखिशब्दवद्भवतीति “स्वसखि” [१२११६७] इति सुसंज्ञाविरहादेभ्यः स्यात् । खे तु न दोषः । अवर्णान्तस्य-गौरी । कुमारी । हृति-नाभेयः । नैधेयः । “इतोऽनजः” [३१११११] “द्वयचः” [३११११०] इति ढण् । श्रैमत्तः । अवर्णान्तस्य-दैवदत्तिः । वायुवेगेयः ।

मत्स्योड्यो ड्याम् ॥४१४१३७॥ मत्स्यशब्दस्य उडो यकारस्य खं भवति डीत्ये परतः । मत्सी । “गौरादेः” [३१११२३] इति डीः । मत्स्यस्यापत्यं स्त्री माली । “द्वयन्मगध” [३१११५२] आदिसूत्रेणाण् । तदन्तान्डीः । ड्यामवर्णखस्यासिद्धत्वादुडो यकारस्य खम् । अणि परतोऽखस्य व्याश्रयत्वात्सिद्धत्वम् । उड इति किम् ? मत्स्यचरी । यग्रहणमुत्तरार्थम् । ड्यामिति किम् ? मत्स्यस्येदं मात्स्यम् ।

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ॥४१४१३८॥ सूर्य अगस्त्य इत्येतयोश्छे ड्यां च परत उडो यकारस्य खं भवति । सौरीयः । सौरी । आगस्तीयः । आगस्ती । सूर्यागस्त्यशब्दौ केवलौ डीं न प्रयोजयत इत्यणन्तौ गृह्यते । सूर्यो देवता अत्य सौर्यः तस्यायं सौरीयः । सूर्यस्येयं सौरी । अगस्त्यस्यापत्यम् ऋषित्वाढण् । आगस्त्यः । तस्याय-मागस्तीयः । छे ड्यां चाऽतः खस्यासिद्धत्वादुड् यकारः । अण्यखस्य व्याश्रयत्वादसिद्धत्वं नास्ति । सूर्याय हितः अगस्त्याय हित इति प्राक्ठणश्छो नास्त्यनभिधानात् । छे चेति किम् ? सौर्यं तेजः । आगस्त्यं स्थानम् । उड इत्येव । सूर्यमयी ।

तिष्यपुष्ययोर्भाणि ॥४१४१३९॥ तिष्य पुष्य इत्येतयोर्भाणि परत उडो यवं भवति । तिष्येण युक्तः कालः तैषः । पौषः । तिष्यपुष्योरिति किम् ? सिष्येन युक्तं सैष्यमहः । भाणीति किम् ? पुष्यो देवताऽस्येति पौष्यः ।

हजो हतो ड्याम् ॥४१४१४०॥ हल उत्तरस्य हृद्यकारस्य उडः खं भवति ड्यां परतः । गार्गी । वाल्सी । वाजी । “यजः” [३१११६] इति डीः । यखविधिं प्रति न स्थानिवदिति हलः परत्वं यकारस्य । हल इत्य-

विशेषेण ग्रहणम् । हृतोऽन्यस्य वा हलः परस्य हृद्यकारस्य खं भवति । तेन “वृकादृश्यम्” [४।२।४] वार्केंगी । हल इति किम् ? वायुवेगेयो । हृत इति किम् ? भाष्याम् । गौरादित्वान्डी । वैद्यस्य भार्या वैद्या । ड्यामिति किम् ? आवट्या । अवटस्यापत्यं स्त्री ।

क्वच्च्यनाद्धृत्यापत्यस्य ॥४।४।१४१॥ क्य च्व इत्येतयो रनाकारादौ च हृति परत आपत्यस्य यका-
रस्य हलः परस्य खं भवति । गार्गीयति । वात्सीयति । गार्गीयते । वात्सायते । च्वि । गार्गीभूतः । वात्सीभूतः ।
अनाति हृति-गार्गीणां समूहो गार्गिकम् । वात्सिकम् । “बृद्धोक्षोद्गोरश्च” [३।२।३४] आदिना वुञ् । गार्गीणां सङ्घोऽङ्घो
वा गार्गः । वात्सः । अनातीति किम् ? गार्गीयणः । हृतीति किम् ? सामान्येनापत्यस्य खं यथा स्यात् । आप-
त्यस्येति किम् ? सङ्काश्यकः । काम्पिल्यः । सङ्काशेन निवृत्तः । कम्पिलेन निवृत्तः । “बुञ्छण्” [३।२।६०]
आदिना एयः । ततो भवार्थं “बन्धयोडः” [३।२।६६] इति वुञ् । हल इत्येव । वायुवेगेयः ।

तस्यन्तिकस्य कादेः ॥४।४।१४२॥ तसि परतोऽन्तिकस्य ककारादेः खं भवति । अन्तिकात् अन्तितः
आगतः । “तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य खं वक्तव्यम्” [वा०] । अतिशयेन अन्तिकः “तमेष्टावतिशायने”
[४।१।११४] इति तमे कृते । अन्तमः । अन्तितमः । “मिसंज्ञकस्य भमात्रे टिखं च वक्तव्यं सायम्प्राति-
काद्यर्थम्” [वा०] । सायम्प्रातर्भवः सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः । आकस्मिकः । शाश्वतिक इत्यत्र “येषां च द्वेषः
शाश्वतिकः” [१।४।८५] इति निपातनात् भवति । शाश्वच्छब्दो लक्षणम् । आरातीयः । शाश्वत इत्यादिपु च
न भवति । “कालाट्ठञ्” [३।२।१३१] इत्यतः कालादिति योगविभागः । तेन शाश्वच्छब्दादण् ।

वित्त्वकादेश्छुस्य ॥४।४।१४३॥ वित्त्वकादीनां छुस्य खं भवति हृति परतः । नडादिपु वित्त्वादयः
पठ्यन्ते कृतकुगागमाः इह निर्दिष्टाः । वित्त्वा अस्मिन् देशे सन्ति “उत्करादेश्छुः” [३।२।७०] “नडादेः कुक्”
[३।२।७१] चागमः । वित्त्वकीयः । तत्र भवो वैल्वकः । सर्वस्य छस्य खम् । अन्यथा अनर्थकं स्यात् । वेणुकीयः
वैत्रकीयः । वैनकः । वैतसकीयः । वैतसकः । तृणकीयः । तार्गकः । इन्तुकीयः । ऐन्तुकः । कपिष्ठलकीयः ।
कापिष्ठलकः । कपोतकीयः । कापोतकः । “कुञ्जायाः प्रश्च” । कुञ्चकीयः । क्रौञ्चकः । कुक् छ एव सम्भ-
वति । छत्येति किमर्थम् ? कुको निवृत्तिर्मा भूत् । अन्यथा “सन्निधोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोऽप्यपायः”
[प०] इति यथा पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य “हृदर्थ” [१।३।४६] इति रसे कृते आगतस्याणो “रस्योबनपत्ये”
[३।१।७४] इयुप् । “हृदुयुप्” [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्य निवृत्तौ आनुकोऽपि निवृत्तिः । पञ्चेन्द्रः ।

तुरिष्ठेमेयस्सु ॥४।४।१४४॥ तुराब्दस्य खं भवति इष्टेमेयस्सु परतः । करिष्ठः । करीयान् । हरिष्ठः ।
हरीयान् । सर्वे कर्तुमन्तोऽयमेवामतिशयेन कर्तुमान् “विन्मतोरूप” [४।१।१२४] इत्यनेनोप् । “इष्टेयसौ च
सर्वस्य तुः खम्” । अन्यस्य “टेः” [४।१।१४५] इति सिद्धम् । इमन्ग्रहणमुत्तरार्थम् ।

टेः ॥४।४।१४५॥ टेश्च खं भवति इष्टेमेयस्सु परतः । पटिष्ठः । पटिमा । पटीयान् । लघिष्ठः । लघिमा ।
लघीयान् ।

णाविष्ठवन्मृदः ॥४।४।१४६॥ णौ परत इष्टे इव कार्यं भवति मृदः । पटयति । लघयति । कर्तुमन्तमा-
चष्टे कस्यति । प्रशस्यमाचष्टे “आदेप्” [४।३।७५] अयति । ज्ययति । वाढस्य साधयति । युवानं करोति
कनयति । क्षग्विणः सजयति । सर्वत्र “नैकाचः” [४।४।१५४] इति प्रतिषेधः । गुकार्ये निवृत्ते नैप् । एनीमाचष्टे
एतयति । “तसादौ” [४।३।१४७] इति पुंवद्भावः । उत्तरत्रापि प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । गुकार्य-
परिभाषाया अनित्यत्वादैः पुगागमौ । पृथु प्रथयति । स्थूलस्य स्थवयति ।

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रचन्द्राणां यण इक एप्च ॥४।४।१४७॥ स्थूल दूर युवन् ह्रस्व क्षिप्र
चन्द्र इत्येतेषां यणः खं भवति इक एप् च इष्टेमेयस्सु परतः । स्थविष्ठः । स्थवीयान् । दविष्ठः । दवीयान् ।
“युवाल्पयोः कन्वा” [४।१।१२३] इत्यनादेशपक्षे-यविष्ठः । यवीयान् । “अनन्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०]
इति यकारस्य न भवति । हसिष्ठः । हसीयान् । हसिमा । क्षेपिष्ठः । क्षेपीयान् । क्षेपिमा । क्षोदिष्ठः ।

क्षोदीयान् । क्षोदिमा । ह्रस्वादयः पृथ्वादौ पठ्यन्ते । यणः परस्य तु “टेः” [४१११४५] इति खम् । इक इति किमर्थम् ? चेपिष्ठ इत्यत्र अनन्यस्याप्येव यथा स्यात् । सौ ह्रस्वमाचष्टे ह्रस्यति । गुकार्यन्व निवृत्तयान् उङ् एभ्यो भवति ।

प्रियस्थिरस्फिरयादेरः ॥४१४१४८॥ प्रिय स्थिर स्फिर इत्येतेषाम् इकागदेर्वर्णान्धातस्य अकारादेशो भवति इष्टमेयस्म परतः । प्रेष्ठः । प्रेयान् । प्रेमा । स्थेष्ठः । स्थेयान् । स्थेमा । स्फेष्ठः । स्फेयान् । स्फेमा । प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । “दैयसृणे” [३१३२२] इति निर्देशान् गुकार्यपरिभाषाया अनन्यन्वम् । तेन णिचि “ज्झित्यचः” [५२१३] इत्यैप् ।

बहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां वंहिगर्वपित्रप्द्राघवृन्दाः ॥४१४१४९॥ बहुल गुरु वृद्ध तृप दीर्घ वृन्दारक इत्येतेषां वंहि गर् वर् वर्पि त्रप् द्राघ वृन्द् इत्येत आदेशा भवन्ति इष्टमेयस्म परतः । वंहिष्ठः । वंहीयान् । वंहिमा । गरिष्ठः । गरीयान् । गरिमा । उरु-वरिष्ठः । वरीयान् । वरिमा । वृद्धस्य ज्यादेश उक्तः । वचनादयमपि भवति । वर्पिष्ठः । वर्पीयान् । त्रपिष्ठः । त्रपीयान् । द्राघिष्ठः । द्राघीयान् । द्राघिमा । वृन्दिष्ठः । वृन्दीयान् । णावपि वंहयति । गरयतीत्यादि योज्यम् । स्फिरवृद्धतृप्रवृन्दारकवर्जिताः पृथ्वादौ द्रष्टव्याः । अणुशब्दनेभ्योऽपि अण्वेव वचनात् इष्टेयम् ।

वहोर्भ्वस्मात्त्वम् ॥४१४१५०॥ वहोर्भू इत्ययमादेशो भवति अस्माच्च परेषाम् इष्टमेयतां खं भवति । भूयान् । भूमा । “परस्यादेः” [१११५१] खम् । भूमावस्यासिद्धत्वात् उकारस्यैत्वं न भवति । वहोः पृथ्वादित्वादिमन् ।

यिट् चेष्टस्य ॥४१४१५१॥ इष्टस्य विडागमो भवति वहोश्च भूरादेशः । भूयिष्ठः । खापवाडो विडागमः । इकार उच्चारणार्थः । भूमावस्यासिद्धत्वादौत्वाभावः ।

ज्यादेयसः ॥४१४१५२॥ ज्यादेशात्परस्य ईय आकारादेशो भवति । ज्यायान् । ज्यायांसौ । ज्यायांसः । “प्रशस्यस्य श्रः” [४११११६] “ज्यः” [४१११२०] इति ज्यादेशः । प्रकृते खे परस्यादौ कृते “दीरकृद्गे” [५२११३४] इति पूर्वस्य च दीत्वे सिद्धमिति चेत् “गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न” तन्निमित्तम् [५०] इति दीत्वं न स्यादित्याकारवचनम् ।

ऊरोऽनादेर्घेः ॥४१४१५३॥ ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यनादेर्विसंज्ञकस्य इष्टमेयस्म परतः । प्रथिष्ठः । प्रथीयान् । प्रथिमा । म्रदिष्ठः । म्रदीयान् । म्रदिमा । अकारान्तो रेफादेशः । उरिति किम् ? पठिष्ठः । अनादेरिति किम् ? अतिशयेन ऋतवान् ऋतीयान् “विन्मतोरुप्” [४१११२४] इति मतोरुप् । ईयन् । घेरिति किम् ? कृष्णिष्ठः । कृष्णीयान् । कृष्णिमा ।

पृथुमुद्धोः कृशन्शयोर्दृढपरिवृढयोश्चरो भवत्येव ।

सिंहावलोकतोऽग्रे प्रायोग्रहणादयं नियमः ॥

तेनेह न भवति । मातरमाचष्टे मातयति । परत्वाद्विस्त्रयायमपवादः स्यात् । तथा कृतमाचष्टे कृतयति ।

नैकाचः ४१४१५४॥ एकाचो भस्य यदुक्तं तन्न भवति । त्वचिष्ठः । त्वचीयान् । त्वचिष्ठः । सुचीयान् । “विन्मतोरुप्” [४१११२४] इति मतोरुप् कृते “टेः” [४१४१४५] इति खं प्राप्तम् । णावपि त्वगन्तमाचष्टे त्वचयति । सुचयति । एकाच इति किम् ? अतिशयेन वसुमान् वसिष्ठः । वसीयान् । वसयति । नेति योगविभागः । तेन “राजन्मननुष्ययूनामके यदुक्तं तन्न भवति” राजन्यानां समूहो राजन्यकम् । मनुष्याणां समूहो मानुष्यकम् । “क्यच्चयनाद्धृत्यापत्यस्य” [४१४१४९] इति यखं प्राप्तम् । यूनो भावो यौवनिक्का । मनोज्ञादिपाठाद्बुज् “नोऽपुंसो हति” [४१४१३०] इति टिखं प्राप्तम् ।

प्रायोऽनपत्येऽणिनः ४१४१५५॥ अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तस्य यदुक्तं तन्न भवति प्रायः । खविण इदं खविणम् । तथा सांकोटिनम् । सांविणम् । साम्मार्जिनम् । “जिन्नमिविधौ” [२१३१६६] इति

जिन् । तदन्तात् स्वार्थे “जिनोऽण्” [४।२।२१] इत्यण् । अनपत्य इति किम् ? बाहुबलिनोऽपत्यं बाहुबलः । अणीति किम् ? मेधाविने हितं मेधावीयम् । प्रार्थोग्रहणात्क्वचित्प्रतिषेधो न भवति । दण्डिनां समूहो दण्डम् । छात्रम् ।

औत्तम् ४।४।१५६॥ औत्तमिति निपात्यतेऽनपत्ये । उद्गण इदम् औत्तम् । अपत्ये औद्गण इत्येव । “वादिहन्वृत्तराज्ञोऽणि” [४।४।१२३] इत्यखम् । “अनः” [४।४।१५८] इत्यस्यापवादोऽयं योगः ।

गाथिविदथिकेशिपणिगणिस्फादेः ॥४।४।१५७॥ गाथिन् विदथिन् केशिन् पणिन् गणिन् । इत्येतेषां स्फादेश्च इनो यदुक्तं तन्न भवति । गाथिनोऽपत्यं गाथिनः । वैदथिनः । कैशिनः । पाणिनः । गणिनः । स्फादेः शाङ्गिनः । चाक्रिणः । भाद्रिणः । अपत्यार्थेऽप्यणि प्रतिषेधार्थमिदम् ।

अनः ॥४।४।१५८॥ अनपत्य इति निवृत्तम् । सामान्येनाणि परतोऽनो यदुक्तमखं टिखं च तन्न भवति । कर्मणा इदं कर्मणम् । साम देवता अस्य सामनः । हेम्नो विकारो हैमनः । यज्वनोऽपत्यं याज्वनः । प्राय इत्यनुवृत्तेरिक्तेऽपि टिखाभावः । उपचारादथर्वा ग्रन्थोऽपि तमधीते आथर्वणिकः ।

येऽडौ ॥४।४।१५९॥ अडावर्थे यकारादौ हृति परतोऽनो यदुक्तं तन्न भवति । सामनि साधुः सामन्यः । वेमन्यः । कर्मण्यः । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः । तद्गणोऽपत्यं तात्तण्यः । “सेनान्तलक्षण” [३।१।१४०] आदिना तद्गणो ण्यः । अडाविति किम् ? राज्यम् । “गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च” [३।४।११४] इति ट्यण् ।

खेऽध्वनः ॥४।४।१६०॥ अध्वनः खे परतो यदुक्तं तन्न भवति । अध्वानमलंगामी अध्वनीनः । “यखावध्वनः” [३।४।१३६] इति खः । खे इति किम् ? प्राध्वं कृत्वा गतः “गेरध्वनः” [४।२।८७] इत्यकारः सान्तः ।

न मादेरपत्येऽवर्मणः ॥४।४।१६१॥ मकारादेरनो वर्मवर्जितस्यापत्यार्थेऽणि परतो यदुक्तं तन्न भवति । सुषाम्नोऽपत्यं सौषामः । भाद्रसामः । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखं भवत्येव । मादेरिति किम् ? सौत्वनः । अपत्य इति किम् ? चर्मणा परिवृत्तश्चार्मणो रथः । “परिवृत्तो रथः” [३।२।८] इत्यण् । अवर्मण इति किम् ? हैरण्यवर्मणः । प्रायोग्रहणानुवृत्तेर्हितनाम्नो विकल्पः । हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः । हैतनामनः ।

ब्राह्मोऽजातौ ॥४।४।१६२॥ अपत्य इति कर्तमानं जातेर्विशेषणम् । ब्राह्म इति निपात्यतेऽपत्यजातेरन्यत्र । ब्राह्मणो (ब्राह्मो) गर्भः । ब्राह्ममन्त्रम् । “तस्येदम्” [३।१।८८] इत्यण् । अजाताविति किम् ? ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः । अपत्यजातेरियम् । अजाताविति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । तेन अपत्यजातेरन्यत्र जातावपि निपातनमिष्यते । ब्रह्मण इयं ब्राह्मी औपधिः ।

कर्मः शीले ॥४।४।१६३॥ कर्म इति निपात्यते शीलेऽर्थे । कर्मशीलः कर्मः । “छत्रादेर्णा” [३।३।१८०] इति णः । स तु “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इत्येव णे टिखे सिद्धः । “अनः” [४।४।१५८] इति त्यणि प्रतिषेधः । इदमेव ज्ञापकं “येऽप्यण् कृतं भवति [प०] इति । तेन चुरा-शीला चौरी । णान्ताच्-डी विधिः । शील इति किम् ? वायुक्तं कर्म कर्मणम् । “तद्युक्तात्कर्मणोऽण्” [४।२।४२] इत्यण् ।

दण्डिहस्तिनोः फे ॥४।४।१६४॥ दण्डिन् हस्तिन् इत्येतयोः फकारादौ हृति यदुक्तं तन्न भवति । दण्डिनोऽपत्यं दण्डिनायनः । हस्तिनायनः । नडादिवाल्फण् ।

वाशिजिह्वाशिनोः फे ढे ॥४।४।१६५॥ वाशिन् जिह्वाशिन् इत्येतयोः फे ढे च यदुक्तं तन्न भवति । वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनः । तिकादिवाल्फिज् । जिह्वाशिनोऽपत्यं जैह्वाशिनेयः । “शुभ्रादेः” [३।१।११२] इति ण् । “नोऽपुंसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखं प्राप्तम् ।

औणहृत्यधैवत्यसारवैच्चाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥४।४।१६६॥ औणहृत्य धैवत्य सारव ऐच्चाक मैत्रेय हिरण्मय इत्येतानि निपात्यन्ते । औणहन् धीवन् इत्येतयोश्च्यणि तत्वं निपात्यते । औणध्नो भावो

औणहृत्यम् । इदमेव शापकं “हनस्तोऽञ्जिल्लोः” [५।२।३६] इति धोत्त्य एव नान्यत्र हन्तेस्तत्त्वम् । तेनेह न भवति । वार्त्तन् इति । धीवो भावो धैवत्यम् । सरयूशब्दस्य अणि परतो यत्वं निपात्यते । सारवं जलम् । इच्छाको-
रपत्यम् ऐच्छाकः । “राष्ट्रशब्दाद्वाज्ञोऽञ्” [३।१।१५०] इति अणि उकारस्य त्वं निपात्यते । “तस्येदम्” [३।३।८८]
इति वा भवार्थे “कोङ्” [३।२।११०] इति वाऽणि । मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः “गृष्ट्यादेः” [३।१।१२४] इति ढणि
कृते “यादेरिय्” [५।२।७] यादो युशब्दस्य त्वं निपात्यते । यादेरियादेशस्तु विदादित्वाद्वाञ्जि कृते द्रष्टव्यः । अत्र-
न्तस्य सङ्घादिविवक्षायां “सङ्घाङ्गलक्षणवोपेऽभ्यञ्जिजामण्” [३।३।१५] इति अणि कृते मैत्रेयः सङ्घः ।
दणान्तस्य सङ्घादौ “बृद्धचरणाञ्जित्” [३।३।१४] इति वुनि मैत्रेयकः सङ्घ इति भवति । हिरण्यस्य विकारः ।
“मयड्वैतयोरभक्त्याच्छादनयोः” [३।३।१०८] इति मयटि कृते यशब्दस्य खम् । हिरण्यमयं त्रिनगृहम् ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां महावृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

५ अमोऽध्यायः

युवोरनाको ॥५।१।१॥ युवु इत्येतयोर्गोनिमित्तभूतयोः अत्र अक इत्येतावादेशौ भवतः । युवोरित्यु-
त्सृष्टविशेषणयोः सामान्यग्रहणम् । योरनः । वोरकः । नन्यादेत्युः नन्दनो रमणः । “खुनुचौ”
[२।१।१०६] कारको हारकः । एवमाङ्गको वाङ्गकः । अङ्गेषु जातो भवो वेति विगृह्य “बहुल्लेऽदोरपि”
[३।२।१०३] इति वुज् । योः कृत एव ग्रहणं व्याख्यानात् । तेनेह न भवति । उर्यायुः । शुर्मयुः । उणादीनां
बहुलं त्यवंशा तेनेह न भवति भुजुः । “मुजिमृद्भ्यां युक्त्युको” [उ० सू० ३।२१] इति युक् ।

आयनेयीनीयियः फटखल्लुघां त्यादीनाम् ॥५।१।२॥ फ ट ख ल्ळ घ इत्येतेषां त्यादौ वर्तमानानां
निरचाम् आयन् एय् ईन् ईय् इय् इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति । “नडादेः फण्” [३।१।८८] नाडायनः ।
चारायणः । “स्त्रीभ्यो ढण्” [३।१।१०६] वायुवेगेयः । वासवदत्तेयः । “प्रतिजनादेः खञ्” [३।३।२०३] ।
प्रतिजने साधुः प्रतिजनीनः । ऐदंयुगीनः । “दोश्छः” [३।२।६०] वासवीयो ध्वजः । वैश्रवणीया शिविका ।
क्षत्रस्या पर्यं क्षत्रियः । त्यग्रहणं किम् ? फकृति । दौकृते । आदिग्रहणं किम् ? जानुदध्न्म् । पण्टः । शङ्खः
इत्यादौ “उणादयो बहुलम्” [२।२।१६७] इत्यादेशा न भवन्ति ।

भोऽन्तः ॥५।१।३॥ त्य इत्यनुवर्तते । आदिग्रहणं निवृत्तम् । स्वरितलिङ्गाभावात् । भ इति भकारस्य
त्यावयवस्य अन्त इत्ययमादेशो भवति । जानन्ति । पश्यन्ति । “जृविशिभ्यां भः” [उ० सू०] जरन्तः । वेशन्तः ।
त्यस्येति किम् ? उजिभूतः ।

अत्र्यात् ॥५।१।४॥ थवंजकाल्परस्य भस्य अन् इत्ययमादेशो भवति । ददति । ददतु । मिमते । मिमताम् ।
अन्तादेशापवादोऽयम् । न तु भेजुंसः । अददुः । अजल्लुः ।

देऽन्तः ॥५।१।५॥ ढविष्ये यो भकारस्तस्यानकारान्ताद्बोद्धतरस्य अदित्ययमादेशो भवति । लुनते ।
लुनताम् । अलुनत । पुनते । पुनताम् । अपुनत । द इति किम् ? लुनन्ति । पुनन्ति । अनत इति किम् ?
व्यवन्ते । प्लवन्ते । नित्यत्वात् प्रागेव शप् ।

शीङो रुट् ॥५।१।६॥ शीङो गोनिमित्तभूतस्य भस्य रुडागमो भवति । शेरेते । शेरेताम् । अशेरेत ।
रुडयं परादिः क्रियते भ्रग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात्तेन “शीङो गे” [५।३।१३०] इत्येप् । परत्वेन रुटि कृते आदिग्रहण-
निवृत्तेर्मध्येऽपि त्यावयवस्य भस्यादादेशः । सानुक्प्रग्रहणं किम् ? यङुन्तस्य मा भूत् । व्यतिशेष्यते ।

वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥५१।७॥ वेत्तेर्गोनिमित्तभूतस्य भूतस्य सङ्गागमो भवति सिद्धसेनस्याचार्यस्य मतेन । संविद्यते । संविदते । संविदताम् । संविदताम् । समविदत । समविदत । “समो गम्प्रच्छि” [१।२।२४] इत्यादिना विदेर्दः । तिपा निर्देश उच्चिकरणार्थः । तेन “विद विचारणे” [घा.] इत्यस्य रौढादिकस्य ग्रहणं न भवति । विन्दते ।

भिसोऽत ऐस् ॥५१।८॥ अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः । अत इत्यकारान्ताद् गोरुत्तरस्य भिस ऐस् भवति । सुरैः । असुरैः । अत्र “बहौ ऋष्येत्” [५।२।१८] इति परत्वादेवं कस्मान्न भवति । कृतेऽप्येवे भूतपूर्व-गत्या पुनः प्राप्नोतीति नित्यत्वादेस् । एमिति सिद्ध ऐम्ग्रहणं किम् ? अतिजरसैः । “तिक्कुप्रादयः” [१।३।८१] इति से “स्त्रीगोर्वीचः” [१।१।८] इति प्रादेशे च कृते । “एकदेशविकृतमनन्यवत्” [प०] इति जरशब्दस्या-सङ्गदेशः । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विवातस्य” [प०] इति परिभाषेयमनित्या “कष्टाय” [२।१।१२] इति ज्ञापकात् । अत इति किम् ? साधुभिः । तपरकरणं किम् ? विद्याभिः ।

इदमदसोः सकोः ॥५१।९॥ इदम् अदस् इत्येतयोः सककारयोरेव भिस ऐस् भवति । इमकैः । “भिसर्वनाम्नोऽक् प्राक्तेः को दः” [४।१।१३०] इत्यक् “दः” [५।३।८२] इति तस्य मत्वम् । अदसः “दादु-दोमोऽदोऽजे” [५।३।८८] इति दात्यरस्य वर्णमात्रस्योत्वं दस्य च मत्वम् । सकोरिति किम् ? एभिः । “बहौ ऋष्येत्” [५।२।१८] इत्येत्वम् । “हलि खम्” [५।१।७१] इतीदम् इदः खम् । अदसस्तु “बहव्रीरेतः” [५।३।८६] इतीत्वम् । इदमदसोरेव सकोरित्येवमवधारणं मा विज्ञायीति ज्ञापनार्थः ।

स्येनान्डस्टाडसेः ॥५१।१०॥ अकारान्ताद्गोः परेषां डस् डसि इत्येतेषां स्य इन आत् इत्येत आदेशा भवन्ति । इन्द्रस्य । चन्द्रस्य । इन्द्रेण । चन्द्रेण । इन्द्रात् । चन्द्रात् । अत इत्येव । कर्त्रा । कर्तुः ।

ड्येयः ॥५१।११॥ अकारान्ताद्गोरुत्तरस्य डे इत्येतस्य य इत्ययमादेशो भवति । इन्दाय । चन्द्राय । अत इति किम् ? गवे । नावे ।

सर्वनाम्नः स्मै ॥५१।१२॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोरुत्तरस्य डे इत्येतस्य स्मै इत्ययमादेशो भवति । सर्वस्मै । तस्मै । अमुष्मै । अत इति किम् ? भवते ।

डसिडयोः स्मास्मिन् ॥५१।१३॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोरुत्तरयोर्डसि डि इत्येतयोः स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ भवतः । सर्वस्मात् । सर्वस्मिन् । यस्मात् । यस्मिन् । अत इत्येव । भवतः । भवति ।

जसः शी ॥५१।१४॥ अकारान्तात्सर्वनाम्नो गोः परस्य जसः शी इत्ययमादेशो भवति । सर्वं । एते । के । दीवग्रहणमुत्तरार्थम् । पयसी । दधिनी ।

औड आपः ॥५१।१५॥ आकारान्ताद्गोः औडः शीत्ययमादेशो भवति । आगिति टापडापोः सामान्येन ग्रहणम् । औडिति वेपोरौकारस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा । माले लम्बते । माले पश्य । बहुराजे तिष्ठतः । बहुराजे पश्य । “अनश्च बात्” [३।१।१०] इति डाप् । “अधिपरी अनर्थको” [१।४।१०] इति निर्देशात् “सोडिति” [५।१।१०६] इत्यादिषु स्वशास्त्रसंज्ञया डिदाश्रीयते ।

नपः ॥५१।१६॥ नपो गोरुत्तरस्य औडः शीत्ययमादेशो भवति । दधिनी तिष्ठतः । दधिनी पश्य । एवं वने । जले । “नेच्यात्” [४।३।१२] इति “सुटि पूर्वस्वम्” [४।३।८६] दीर्घं भवति ।

जशसोः शिः ॥५१।१७॥ नपः परयोर्जम् शस् इत्येतयोः शिरित्ययमादेशो भवति । दधीनि तिष्ठन्ति । दधीनि पश्य । एवं मधूनि । वनानि । धनानि । जसा सहचरितस्य शसो ग्रहणादिह नेष्यते । पात्रशो ददाति ।

अष्टाभ्य औश् ॥५१।१८॥ अष्टनशब्दात्परयोर्जम्शसोरौश् भवति । अष्टौ तिष्ठन्ति । अष्टौ पश्य । अष्टन इति सिद्धे अष्टाभ्य इति कृतात्वस्योच्चारणं किम् ? यत्रैवात्वं तत्रैवौशभावो यथा स्यात् । ननु नित्यमात्वम् । इदमेवं ज्ञापकमात्वविकल्पस्य । अष्ट तिष्ठन्ति । अष्ट पश्य ।

“अनुरक्तः शुचिर्दक्षः श्रुतवान् देशकालविद् ।

चपुष्मान् कान्तिमान् वाग्मी दूतः स्याद्यष्टभिर्गुणैः ॥”

“गोरधिकारे तदन्तस्य च” [प०] इति तदन्तादपि भवति । परमाष्टौ । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वसे न भवति । प्रियाष्टान इति । “उविलः” [५।१।१६] इति उपि प्राप्ते औशारम्यते न “सुपो धुसृदोः” [१।४।१४२] इति । तेन अप्यौ गुणा यस्य सोऽष्टगुणः । ओदिति सिद्धे औशुप्रहणं किम् ? अप्ठावाचक्षते अप्ठयन्तीति । क्विप्प्यागतनिवृत्ते अप्ठाविति यथा स्यात् ।

उविलः ॥५।१।१६॥ इत्संज्ञकादुत्तरयोर्जशसोऽस्त्वभवति । पट् तिष्ठति । पट् पश्य । एवं पञ्च । नव । परमपञ्च । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययादिह न भवति । प्रियपपः । प्रियपञ्चानः ।

नपः स्वमोः ॥५।१।२० नविति नपुंसकलिङ्गं पूर्वाचार्यस्य संज्ञेयम् । तस्मादुत्तरयोः स्वमोऽस्त्वभवति । दधि पश्य । मधु तिष्ठति । मधु पश्य । तत्कुलमित्यत्र त्यदाद्यत्वं बाधित्वा कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वादुप । नन्वत्वे कृते लक्षणान्तरेणाभावे सत्यनित्य उप ? नैवम् । “यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्” [प०] इति ।

अतोऽम् ॥५।१।२१॥ अकारान्तात्रपः परयोः स्वमोऽस्त्वभवति । धनम् । वनम् । तपरकरणं मुखमुत्वार्थम् । मादेशो क्रियमाणे सुपीति दीत्वं स्यात् । अतिजरसं कुलं पश्येति च न स्यात् । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” [प०] इत्यम उम्न भवति ।

डतरादेः पञ्चकस्य दुक् ॥५।१।२२॥ डतरादेः पञ्चकस्य दुगागमो भवति स्वमोः परतः । कतरत्तिष्ठति । कतरत्पश्य । एवं कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । पञ्चकस्येति किम् ? समम् । सिमम् । डतरेण सिद्धे अन्यतरप्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र वनम् । अनित्यमगामानुशासनमित्येकतरस्य न भवति । एकतरं वनम् ।

युष्मदस्मदो ङसोऽश् ॥५।१।२३॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यामुत्तरस्य ङसोऽश् भवति । तव स्वम् । मम स्वम् । शित्करणं सर्वादेशार्थम् ।

ङेसुटोऽम् ॥५।१।२४॥ युष्मदस्मद्व्यां परस्य ङे इत्येतस्य सुटश्च अमित्ययमादेशो भवति । तुभ्यम् । मयम् । त्वम् । अहम् । युवाम् । आवाम् । यूयम् । वयम् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । “युवावौ द्वौ” [५।१।१५१] । “आवि” [५।१।१४७] इति दस्यात्वम् । इपि पुनः “इपि” [५।१।१४६] इत्यात्वम् ।

शसो नः ॥५।१।२५॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य शसो नकारादेशो भवति । युष्मान् । अस्मान् पातु जिनः । “परस्यादेः” [१।१।५१] इत्यकारस्य नकारः । “स्फान्तस्य खम्” [५।३।११] इति सकारस्य खम् । “इपि” [५।१।१४६] इत्यात्वम् । “नश्च पुंस्” [४।३।६१] इति नत्वं न सिध्यत्यलिङ्गत्वाद्युष्मदस्मदोः ।

भ्यसोऽभ्यम् ॥५।१।२६॥ युष्मदस्मद्व्यां परस्य भ्यसोऽभ्यमित्ययमादेशो भवति । युष्मभ्यं देयम् । अस्मभ्यं देयम् । “खमादेशे” [५।१।१४६] इति दखम् । “एष्यतोऽपदे” [४।३।८४] इति पररूपत्वम् ।

अत्कायाः ॥५।१।२७॥ युष्मदस्मद्व्यां परस्य काया भ्यसोऽदित्ययमादेशो भवति । युष्मदधीते । अस्मदधीते ।

ङसेः ॥५।१।२८॥ युष्मदस्मद्व्याम् परस्य ङसेरदादेशो भवति । “त्वमावेके” [५।१।१५६] । त्वत् । मत् ।

साम आकम् ॥५।१।२९॥ युष्मदस्मद्व्याम् परस्य साम आकमादेशो भवति । युष्माकम् । अस्माकम् । भाविनं सुष्टं भूतवदुपादाय साम इति निर्देशः कृतः । आकमि कृते सुण्निवृत्त्यर्थः । कमि क्रियमाणे

एवं स्यात् । अकर्म्यकारोच्चारणसामर्थ्यात्पररूपाभावे स्वेऽको दीत्वेन सिद्धमाकारवचनं किम् ? हलन्तादपि यथा स्यात् । युष्मानाचक्षते युष्मवन्ति । तेषां युष्माकम् ।

तुहोस्तातङ्ङाशिपि ॥५११३०॥ तु हि इत्येतथोराशिष्यर्थे तातङ्ङादेशो भवति वा । जीवताङ्ङवान् । जीवतु भवान् । जीवतात्वम् । जीव त्वम् । तातङ्ङि ङिक्करणमत्रैवोर्बुव ईटश्च प्रतिषेधार्थं नत्वन्तादेशार्थं व्याख्यानात् । तेन कुरुतात् । मृष्टात् ब्रूताङ्ङवानिति सिद्धम् । आशिपीति किम् ? किं करोतु भवान् । कुरु त्वम् । जीवतात्वमित्यत्र “अतो हेः” [४१४१६] इति स्थानिवद्भावादुप प्राप्नोति । नैवं “हुभलभ्यो हेधिः” [४१४१६४] इत्यत्राधिकारे अतो हेरिति पुनर्हिंग्रहणाद् हिरूपस्यैव हेरुभवति । उक्तं च—

“तातङ्ङि ङिक्वं संक्रमकृत्स्यादन्यविधिरचेत्तच्च तथा न ।

हेरधिकारे हेरधिकारो नाशविधौ तु ज्ञापकमाह ॥”

प्यस्तिवाक्से त्वक्वः ॥५११३१॥ त्क्वा इत्येतस्य प्य इत्ययमादेशो भवति तिसे वाक्से च । तिसे—प्रकृत्य । वाक्से—उच्चैःकृत्य । नीचैःकृत्याचष्टे । तिवाक्स इति किम् ? अकृत्वा । परमकृत्वा ।

यभेऽश्ववृषयोः क्यचि सुक् ॥५११३२॥ यभविपये अश्व वृष इत्येतयोः क्यचि परतः सुम्भवति । अश्वस्यति वृषा । वृषस्यति गौः । यभ इति किम् ? अश्वीयति । वृषीयति देवदत्तः ।

क्षीरलवणयोर्लौल्ये ॥५११३३॥ क्षीरलवणयोर्लौल्ये क्यचि परतः सुग् भवति । क्षीरस्यति माणवकः । लवणस्यति उद्धः । लौल्य इति किम् ? क्षीरीयति । लवणीयति वातकी । यभेऽश्ववृषात्क्यचि स इति सिद्धे गुरुनिर्देशात् “कचिदन्यत्रापि सुगसुक्च सर्वमृद्धयो लौल्ये भवति” । दधिस्यति । मधुस्यति । दध्यस्यति । मध्वस्यति इत्यादि सिद्धम् ।

आम्यात्सर्वनाम्नः सुट् ॥५११३४॥ आवर्णान्तात्सर्वनाम्न आमि परतः सुट् भवति । सर्वेषाम् । येषाम् । तेषाम् । केषाम् । सर्वोसाम् । यासाम् । तासाम् । कासाम् । आदिति कानिर्देशः आमीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य तानिर्देशं प्रकल्पयति । आदिति किम् ? भवताम् । सर्वनाम्न इत्येव । नराणाम् ।

त्रेस्त्रयः ॥५११३५॥ त्रि इत्येतस्य त्रय इत्ययमादेशो भवत्यामि परतः । त्रयाणाम् । परमत्रयाणाम् ।

प्रेलम्बापचतुरो नुट् ॥५११३६॥ प्र इल्मु इत्येवंसंज्ञकेभ्य आघन्ताच्चतुःशब्दाच्च आमि परतो नुट् भवति । प्र—देवानाम् । कवीनाम् । साधूनाम् । इल्—पण्डाम् । पञ्चानाम् । सु—नदीनाम् । वधूनाम् । आप्—विद्यानाम् । बहुराजानाम् । चतुर्—चतुर्णाम् । “गोरधिकारे तस्य तदन्तस्य च” [५०] इति । परमपण्डाम् । परमपञ्चानाम् । मुख्ये कार्यसंप्रत्ययादिह न भवति । प्रियषणाम् । प्रियपञ्चाम् ।

इदिद्धोर्नुम् ॥५११३७॥ इकारेतो धोर्नुमागमो भवति । नन्दिता । नन्दिनुम् । कुण्डिता । कुण्डिनुम् । इदिति किम् ? पचति । धोरिति किम् ? अमैत्सीत् । सिरयं त्यः । “धित्विकृण्वोर च” [२११७५] इति सनुम्कनिर्देशास्योत्पत्तेः प्रागेव नुम् । तेन कुण्डा । हुण्डा । “सरोर्हलः” [२११८५] इत्यः सिद्धः । “उबुन्दिर” [४०] इति ज्ञापकादिरितो नुम् भवति । भेदनम् ।

शे मुचाम् ॥५११३८॥ शे परतो मुचादीनां नुम् भवति आगणपरिसमाप्तेः । मुञ्चति । लुम्पति । विन्दति । श इति किम् ? मोक्ता । मोक्तुम् । एकस्य बहुत्वानुपपत्तेर्मुचादीनामिति विशेषम् । शे इति योगविभागात् “तृम्फादीनां नकारोङां नुम् भवति” । तृम्फति । इम्फति । गुम्फति । उम्भति । शुम्भति । “हलुङः क्लित्यनिदितः” [४१४२३] इति नखम् । पश्चान्नुम् ।

मस्जिनशोर्भलि ॥५११३९॥ मस्जि नश् इत्येतयोर्नुम्भवति झलादौ परतः । मड्क्ता । मड्क्त्म् । नंष्टा । नंष्टुम् । मस्जेर्नुमि कृते “हलोऽनन्तराः स्फः” [१११३] इति द्वयोस्त्रयाणां वा स्फसंज्ञा । द्वयोः स्फसंज्ञामा-

मार्थम् । उगितकार्यं धुष्वस्यैव । तेनेह न भवति । उखास्तत् । पर्णध्वत् । अघोरिति ग्रहणं पर्युदासार्थम् । घोरस्यस्य अघुभूतपूर्वस्य यथा स्यात् । गोमत्यत इति गोमान् । गोमानिवाचरति “कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा” [२।१।६] इति क्यङि कृते क्विप्यागतनिवृत्ते अतः के यत्वे च कृते सौ नुम् “अत्वसोऽघोः” [४।१।१२] इति दीत्वम् ।

युजेरसे ॥५।१।५०॥ युजि इत्येतस्यासे नुम्भवति धे परतः । युङ् । युञ्जौ । युञ्जः । “ऋत्विग्दधक्” [२।२।५७] इत्यादिना क्विप् । “क्वित्यस्य कुः” [५।३।७५] । अत इति किम् ? अश्वयुक् । अश्वयुजौ । ‘ससूद्विष’ [२।२।५६] इत्यादिना क्विप् । “वागमिङ्” [१।३।२२] इति प्रसः । अस इत्यनर्थकम् । युजे-रुच्यमानः कथं तदन्तस्य नुम् । इदमेव ज्ञापकम् “घोरधिकारे तदन्तविधिरप्यस्ति” [प०] इति । युजे-रितीकारनिर्देशः किम् ? “युज् समाधौ” [धा०] इत्यस्य ग्रहणं मा भूत् । युजमिच्छति मोक्षाय ।

नपोऽज्भलः ॥५।१।५१॥ नपुंसकलिङ्गस्याजन्तस्य भ्रून्तस्य च नुम् भवति धे परतः । वनानि । धनानि । दधीनि । मधूनि । उदश्चिन्ति । सर्पाणि । अज्भल इति किम् ? विमलदिवि । चत्वारि । बहुगिरि । अहानि । “उगिदवां धेऽघोः” [५।१।४६] इति नुमं बाधित्वा परत्वादनेन नुम् । ददन्ति । जाग्रन्ति । जगन्ति ।

सुपीकोऽचि ॥५।१।५२॥ अजादौ सुपि परत इगन्तस्य नपो नुम् भवति । तुम्बुरुणे । त्रपुणे । सुपीति किम् ? तुम्बुरुणे विकारः तौम्बुरं चूर्णम् । “कद्र्वोरोऽस्त्वयम्बुवः” [४।१।१३४] इत्युकारस्यौत्वम् । इक इति किम् ? वने । जले । अचीति किम् ? जतुभ्याम् । अज्ग्रहणमनर्थकम् । हल्यपि नुमि नखे कृते सिध्यति जतुभ्यामिति । तथा अतिराभ्याम् प्रियतिसृभ्यां कुलाभ्यामित्यपि । रायमतिक्रान्ताभ्यां कुलाभ्याम् । “तिकुप्रादयः” [१।३।२३] इति प्रसे कृते । “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशः । प्रियास्तिष्ठो ययोः कुलयोरिति विग्रहे वसः । अत्र परत्वानुमं बाधित्वा “रायो हलि” [५।१।१४४] इत्यात्वं तिसृभावः । “सकृद्गते परनिर्णये बाधित एव” [प०] इति तिसृशब्दस्य पुनर्नुम्न भवति । शुचिशब्दस्यापि नपुंसकलिङ्गविवक्षायां मांमि परतः पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि कृते नुम् । मृदन्तस्य नुमः खम् । “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्” [प०] इति “इन्हन्पूर्वार्थम्णाम्” [४।४।६] “शौ” [४।४।१०] इत्यस्य नियमस्याभावात् “नोडः” [४।४।५] इति दीत्वे कृते सिद्धं शुचीनामिति । यत्र नखं नास्ति तत्र श्रवणं स्यात् । हे जानो । “नोमता गोः” [१।१।६४] इति प्रतिषेधात्कथन्नुम् ? इदमेवाज्ग्रहणं ज्ञापकम् । अनित्यः सप्रतिषेधः । तेन कौ प्रस्यैपि कृते सिद्धं हे तपो इति । उत्तरार्थं च ।

भादौ वोक्तपुंस्कं पुंवत् ॥५।१।५३॥ अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः । इगन्तं नप् उक्तपुंस्कं भादावजादौ परतो वा पुंवद्भवति । शुचिः साधुः । शुचि साधुवृत्तम् । शुचये । शुचिने वस्त्राय । अग्रणी-दण्डश्चक्रिणः । अग्रणि दण्डरत्नम् । पुंवद्भावपक्षे “प्रो नपि” [१।१।७] इति प्रादेशाभावः । “एर्गिवाक्वा-दुङोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यण् च । अग्रण्या । अग्रणिना । अग्रण्ये । अग्रणिने । अग्रण्यः । अग्रणिनः । अग्रण्योः । अग्रणिनोः । अग्रण्याम् । अग्रणीनाम् । पूर्वविप्रतिषेधेन नुट् । अग्रण्याम् । अग्रणिनि इत्यत्र कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् “ङेराम् स्वाग्नीभ्यः” [५।२।११०] इत्याम् । मृदवे मृदुने वस्त्राय । कर्ता नरः । कर्तुं कुलम् । कर्त्रा कर्तृणा । कत्रे । कर्तृणे । इक इत्येव । जलपाः पुरुषः । जलपं कुलम् । जलपेन । विचीदं रूपम् । अचीत्येव ग्रामणिभ्याम् । प्रादेशो भवत्येव । भादाविति किम् ? अग्रणिनी दण्डचक्ररत्ने । उक्तपुंस्कमिति किम् ? त्रपुणे । भादावुक्तपुंस्काद्वेति सिद्धे नपो विकल्पे पुंवद्ग्रहणसामर्थ्याद-प्रकृतस्यापि प्रादेशस्य विकल्पः । उक्तः पुमान् येन तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्तेऽर्थे तदुक्तपुंस्कं शब्दरूपं गृह्यते । तैन भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसकशब्दस्य विकल्पो न भवति । पीलुने फलाय । पीलुशब्दस्य वृद्धे समुदायः प्रवृत्तिनिमित्तं फले तु तदवयवः ।

सक्थस्थिदध्यन्ताप्रनङ् ॥५११५४॥ सक्थ अस्थि दधि अक्षि इत्येतेषां नपामनङादेशो भवति । सक्थना । सक्थने । अस्थना । अस्थने । दध्ना । दध्ने । अक्षणा । अक्षणे । भादावित्येव । अस्थिनी । अचीत्येव । अस्थिभ्याम् । प्रियसक्थना व्याधेन । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरपि सक्थ्यादीनां नपुंसकानाम् । तदन्तस्य नपुंसकस्यानपुंसकस्य च गोरनङादेशो भवति । केवलानां सक्थ्यादीनां व्यपदेशिवद्भावादगुणम् । “व्यपदेशिवद्भावो न सृदा” [प०] इतीयं परिभाषा व्यवपिषया नेहावतिष्ठते । नप इति किम् ? दधिनाम कश्चित् तेन दधिना । लोकप्रसिद्धशब्दानुशासनं हीदमिति लोकमिद्वेदाननङा सूत्रनिर्देशः । सुगीकोऽर्चीत्येव । नप इति प्रकृतिविशेषमिह यद्व्यमाणविशेषणमिति पुंलिङ्गः समुदायोऽनङोऽवकाशः प्रियसक्थना पुरस्केण । नुमस्तु दधिनी सक्थिनी । दध्नेत्यादौ परत्वादनङ् ।

विदेः शतुर्वसुः ॥५११५५॥ भादावजादौ सुपीति निवृत्तम् । विदेः परस्य शतुर्वसुरादेशो भवति । विद्वान् । विद्वांसौ । विद्वांसः । विद्वांसम् । विद्वांसौ । विदेरिति कानिदेशाद्विन्दतेतिवृत्तिः । केल्यनुवर्तत इत्येके । विदन् । विदन्तौ ।

न थात् ॥५११५६॥ नुमनुवर्तते प्रकृतत्वात् । थादुत्तरस्य शतुर्नुम् भवति । ददत् । ददतौ । ददतः । ददतम् । ददतौ । जाग्रत् । जाग्रतौ । जाग्रतः । जाग्रतम् । जाग्रतौ । “उगिदचां धेऽधोः” [५११४६] इत्यस्य प्रतिषेधः ।

चा नपः ॥५११५७॥ थादुत्तरस्य नपुंसकस्य शतुर्वा नुम् भवति । ददन्ति कुलानि । ददति कुलानि । जाग्रन्ति कुलानि । जाग्रति कुलानि । “नपोऽञ्जलः” [५११५१] इति नुमिक्कल्पितः । उगिल्लक्षणस्तु “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [प०] इति ।

शीम्बोरात् ॥५११५८॥ अयवर्णान्ताद् गोः परस्य शतुर्वा नुम् भवति शी सु इत्येतयोः परतः । तुदती कुले । तुदन्ती कुले । तुदती स्त्री । तुदन्ती स्त्री । याती कुले । यान्ती कुले । याती वड्वा । यान्ती वड्वा । करिष्यती कुले । करिष्यन्ती कुले । करिष्यती स्त्री । करिष्यन्ती स्त्री । आदिति किम् ? अदती स्त्री । धन्ती स्त्री । अवर्णमात्राश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्राङ्नुमः पररूपम् “वाणाद् गावं बलीयः” [प०] इत्यपि नास्ति भिन्नकालत्वात् । समकालं हि बलावलं चिन्त्यते । भिन्नकालता च पूर्वमेकादेशः पश्चान्नुम् । एकादेशे कृते व्यपवर्णाभावादवर्णान्ताद्गोरुत्तरस्य शतुरिति न घटेते । “आद्यन्तवदेकस्मिन्” [तद्वत् ४१३७३] इति तद्वद्भावोऽपि न सम्भवति । “उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः” [प०] इति वचनात् । उभयं ह्यत्राश्रयतेऽवर्णान्तो गुः शता च । यद्येकादेशः पूर्व प्रत्यन्तवद्भवति तदा शता न विद्यते । अथ परं प्रत्यादिवत्तदाऽवर्णान्तो गुर्नास्ति । भूतपूर्वगत्याऽवर्णान्तस्य गौराश्रयणे अदतीत्यादिभ्यो स्यात् । अत्रापि भूतपूर्वगत्या शप् । एवं तर्हि सूत्रसामर्थ्याद्भूतपूर्वगतिराश्रयणीया । अदतीत्यादिषु तु नुम् भवति आदिति निर्देशात् । अन्यथा शीम्बोरित्येव वाच्येत अवर्णस्यासम्भवात् ।

श्यशपः ॥५११५९॥ श्य शप् इत्येताभ्यां परस्य शतुर्नुम् भवति शीम्बोः परतः । दीव्यन्ती कुले । दीव्यन्ती स्त्री । पचन्ती कुले । पचन्ती स्त्री । पुनरारम्भो नित्यार्थः ।

सावनडुहः ॥५११६०॥ वेति निवृत्तम् । अनडुह इत्येतस्य नुम् भवति सौ परतः । अनड्वान् । हे अनड्वन् ।

दिच औत् ॥५११६१॥ दिव् इत्येतस्य सौ परत औकारादेशो भवति । द्यौराकृत्यते पुण्येन । हे द्यौः । सुखे प्राप्ते परत्वादौकारादेशः । “अनखिवधौ” [१११५६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पुनर्न सुखम् । अथेह कस्मान्न भवति अक्षरुति । अत्रान्तरङ्गत्वादूठ् । अन्तरङ्गता च द्वौ वकारस्योठ् क्यन्तस्य सावौकारः । व्युत्पत्तिः “दिवेडिब्” [उ० सू०] इति दिव् ।

पथिमथ्यमुच्चात्मात् ॥५१।६२॥ पथिन् मथिन् ऋमुक्षिन् इत्येतेषामाकारादेशो भवति सौ परतः । पन्थाः । मन्थाः । ऋमुक्षाः । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इति नकारस्यात्वम् । “एधे” [५।१।६३] इतीकारस्यापि । “स्वेऽको दीः” [४।३।८८] ।

एधे ॥५१।६३॥ पथ्यादीनामवयवस्येकारस्याकारादेशो भवति धे परतः । पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः । पन्थानम् । पन्थानौ । एवं मन्थाः । मन्थानौ । ऋमुक्षाः । ऋमुक्षाणौ । एरित्यत्र तपरत्वाभावादिह कस्मान्न भवत्यात्वं पथीरिति ? पन्थानमिच्छति । “स्वेपः क्यच्” [२।१।६] । “नः क्ये” [१।२।१०४] इति पदत्वम् । मृन्त-नखम् “दीरकृद्गो” [५।२।१३४] इति दीत्वम् । पथीयतेः क्तिप् । “अतः खम्” [४।४।५०] । “बलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यखम् । इदानीं धे परत आत्वं प्राप्नोति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद्दकारेण व्यवधानात् भवति । “न पदान्तद्वित्व” [१।१।५८] इत्यादिना तु यखविधिमेव प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । आत्वविधिश्चायम् । ईविधिं प्रति कस्मान्न स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ईकारे विधिरौविधिरिति तत्र विग्रहः । धे चायं विधिर्नकारे । “कौ नष्टं न स्थानिवत्” [५०] इति कस्मान्न प्रतिषेधः । तत्रापि “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [५०] । धे चायं विधिर्न कौ । अवश्यमेवं विज्ञेयम् । अन्यथा कौ निमित्तभूते नष्टं न स्थानिवद्भवतीत्युच्यमाने लौरिति न सिध्यति । लवमाचष्टे णिच् । “अतः खम्” [४।४।५०] लवतेः क्तिप् । णोः खम् । अत्रापि णिखमेव क्विनिमित्तम् नातः खम् । ततः “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद्दकारेण व्यवधानादूप्नोति । “कौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्” [५०] इत्युच्यमाने सर्वस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधाल्लौरिति सिद्धम् ।

थो न्यः ॥५१।६४॥ पथ्यादीनां थकारस्य न्यादेशो भवति धे परतः । उक्तान्येयोदाहरणानि । त्रयाणामप्यनुवृत्तौ सम्भाव्यपथिमथोस्थस्य न्यादेशः ।

भस्य टेः खम् ॥५१।६५॥ पथ्यादीनां भसंज्ञकानां टेः खं भवति । पथः पश्य । पथा । पथे । मथः मथा । मथे । ऋमुक्षः पश्य । ऋमुक्षा । ऋमुक्षे । भस्येति किम् ? पथिभ्याम् । ध इत्यनुवर्तमानमपीह न सम्बध्यते ।

पुंसोऽसुङ् ॥५१।६६॥ पुंसोऽसुङ्गादेशो भवति धे परतः । पुमान् । पुमांसौ । पुमांसः । पुमांसम् । पुमांसौ । ध इत्येव पुंसः पश्य । “पुनातेर्मुकसुकौ प्रश्च” [उ. सू.] इति पुंसः ।

गोरिण् ॥५१।६७॥ घस्य विभक्तिविपरिणामः । गोशब्दात्परं धं णिङ्भवति । णित्कार्यं भवतीत्यर्थः । गौः । गच्छतीति “गमेर्ङोस्” [उ. सू.] । गावः । सुगौः । इह कस्मान्न भवति ? हे चित्रगो । हे चित्रगावः । विहितविशेषणाददोषः । गोरैकत्वादिष्वर्थेषु विहितं धं णिङ्भवति । चित्रगुशब्दाच्चन्यपदार्थादेकत्वादिषु धम् । अतिदेशोऽयं विनापि वतं लभ्यते । यथा गौर्वाहीकः । गौरित्युक्ते गोवदिति गम्यते । एवमिहाप्यणितं त्वं णितमाह । णिङ्गदिति गम्यते । गोरविषि सिद्धे णिदिति प्रतिपत्तिगौरवं किम् ? कचिदन्यत्राप्यतिदेशो यथा स्यात् । तेन गोशब्दस्य द्यौः । द्यावौ । द्यावः ।

वास्मरलाल् ॥५१।६८॥ अस्मदो वा लाल् णिङ्भवति । अहं पपच । अहं पपाच । अहं चकर । अहं चकार । अस्मदिति विकस्य संज्ञा । “मिङ्छिशोऽस्मद्युष्मदन्याः” [१।२।१५२] इति । अस्मदिति किम् ? स पपाच ।

सख्युरकौ ॥५१।६९॥ वेति नानुवर्तते । अकौ यः सखिशब्दस्तस्मात्परं धं णिङ्भवति । सखायौ । सखायः । सखायम् । सखायौ । अकाविति किम् ? हे सखे ।

अनङ् सौ ॥५१।७०॥ सख्युरनङादेशो भवति अकौ सौ परतः । सखा । अकावित्येव । हे सखे ।

ऋदृशनस्पुरुदंशोऽनेहसाम् ॥५११७१॥ ऋकारान्तानाम् उशनस्, पुरुदंशस्, अनेहस् इत्येतेषां चानडादेशो भवति सावकौ परतः । कर्ता । पिता । माता । उशना । पुरुदंश । अनेहा । अकाविति किम् ? हे कर्तः । हे मातः । हे पितः । हे उशनः । हे पुरुदंशः । हे अनेहः । “उशनसः कौ त्रैरूप्यमेके वाञ्छन्ति” । नान्तमदन्तं सान्तमिति । कथं नान्तता । अकावित्यनुवर्तते । स च नञीपदार्थं द्रष्टव्यः । तेन कर्वाचक्रा-
वयनङ् । हे उशनन् । तथा “नखं मृदन्तस्याकौ” [५३।३०] इत्यत्रापि नञीपदार्थ एव । तेन कावपि नखम् । हे उशन । यदा अनङ् न भवति तदा हे उशनः । ऋदिति तपरकरणमनन्देहार्थम् । “गृ निगरणे” [धा०] इत्याद्यनुकरणनिवृत्त्यर्थं च गृरिति मया श्रुतः ।

चतुरनडुहोर्वा ॥५११७२॥ चतुर् अनडुह् इत्येयोस्कारस्य वा इत्ययमादेशो भवति धे परतः । अनडुह इत्यत्र “द्वन्द्वचुदहो राधे” [४२।१०८] इत्यः सान्तोऽन्यथाऽन्तर्वर्तिविभक्तिकृतपदाश्रयो हकारस्य ङः स्यात् । चत्वारि । चत्वारः । अनड्वान् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । गोः प्राधान्यान्तदन्तविधिरपि । चतुरङ्ङनस्य गोर्वाऽऽदेशो भवत्यमिषंनधात् । केवलयोस्तु व्यपदेशिवद्भावः । प्रियचत्वारि । प्रियचत्वारः । प्रियानड्वान् । प्रियानड्वाहौ । प्रियानड्वाहः । अनडुह् अनड्वाह् इति गौरादावुभयग्रहणात् अनडुही । अनड्वाही । इह क्रोष्टु क्रोष्टुशब्दा एकार्था ऋदन्तौ स्तस्तत्र धे स्त्रियां च क्रोष्टुशब्दस्यैव प्रयोगः—क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्टी । भाटिष्वजादिभूभयोः । क्रोष्ट्रा । क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे । क्रोष्ट्वे । क्रोष्टुः । क्रोष्टोः । क्रोष्टोः । क्रोष्ट्वोः । क्रोष्टरि । क्रोष्टौ । कौ शस्यामि ह्लादौ च क्रोष्टुशब्दस्यैव । हे क्रोष्टो । क्रोष्टून् । क्रोष्टुभ्याम् । क्रोष्टुभिः । क्रोष्टुभ्यः । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टुषु । अभिवानलक्षणाः कृद्धृन्ताः । “सितनिगमिमिश्रच्यविधाञ्कृशित्यस्तुः” [उ० सू०] ।

वः कौ ॥५११७३॥ चतुरनडुहोस्कारस्य व इत्ययमादेशो भवति कौ परतः । हे अतिचन्वः । हे अनड्वन् । वाऽऽदेशापवादोऽयम् ।

ऋत इडोः ॥५११७४॥ ऋकारान्तस्य धोर्गोरिकारादेशो भवति । किरिति । गिरिति । आस्तीर्णः । विस्तीर्णः । विकीर्णते । स्तूत्रः क्ते वृतः “सनीङ् वा” [५।१।८३] इति विभाषित इट् । “यस्य वा” [५।१।१२९] इति प्रतिषेधः । धोरिति किम् ? मातृणाम् । पितृणाम् । ननु लाक्षणिकं तदत्र कथं प्राप्तिर्लाक्षणिकस्याप्यत्र ग्रहणमिष्यते । चिकीर्षिता ।

[उँडः ॥५११७५॥ पुवादुप् ॥५११७६॥ सावेम्मे ॥५११७७॥ हलामचः ॥५११७८॥ व्रजवद्वज्रोऽतः ॥५११७९॥ नेटि ॥५११८०॥ ह्रस्वक्षणाश्वसजागृणिष्येदिताम् ॥५११८१॥]

वोर्णुजः ॥५११८२॥ उर्णुज इडादौ सौ मपरे वा ऐबभवति । प्राप्ते विकल्पोऽयम् । प्रौर्णावीत् । प्रोर्णवीत् । यदा तु “इड्विजः” [१।१।७६] इत्यनुवर्तमाने “वोर्णोः” [१।१।७७] इति डित्वम्, तदा एवैपौः प्रतिषेधः । प्रौर्णवीत् ।

अतोऽनादेर्धेः ॥५११८३॥ अनादेरतो धेर्वा ऐबभवति इडादौ सौ मपरे । अकर्णीत् । अकाणीत् । अरणीत् । अराणीत् । अत इति किम् ? अदेवीत् । असेवीत् । तथा न्यकुटीत् । न्यपुटीत् । ननु चात्र कुटीदित्वादिङ्वे सत्येप्रतिषेधो भविष्यति । इलक्षणस्य स प्रतिषेधः धिलक्षणश्चायम् । अनादेरिति किम् ? मां निरसीत् । मां निरडीत् । धेरिति किम् ? अतकीत् । अरकीत् । इडादावित्येव । अधाकीत् । इह कस्माच्च भवति । अचकासीदिति चकारेऽकारस्य । यस्य न व्यवधानं तस्याकारस्य विकल्पः । अत्र तु कास्श्च्येन

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुदिता । सूत्राणि तु जेनेन्द्रपञ्चाध्यायी-
मनुसूत्यात्र निर्दिष्टानि ।

व्यवधानम् । नन्वराणीदित्यत्रापि एकारेण व्यवधानमस्ति, नैवं “येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि” [प०] इति वचनप्रामाण्यात् । हलन्तानुवृत्तेरेकेण हला व्यवधानेऽप्यलसङ्घातेन व्यवधाने न भवति । यद्येवं धेरिति व्यर्थम् । अतश्चीदित्यत्र समुदायेन व्यवधानात् वर्णसङ्घातेन व्यवधानं भवति । न च न भवतीति परिभाषाऽऽश्रयणाददोषः ।

बलाद्यगस्येड् ॥५१।८४॥ बलादेरगस्य इडागमो भवति । लघिता । लघितम् । लघितव्यम् । बलादेरिति किम् ? लव्यम् । लवनीयम् । अगस्येति किम् ? आस्ते । शेते । ननु “ऋत इद्धोः” [५।१।७४] इत्यनुवर्तमाने धोः संशब्दनेन विहितस्य बलादेरिद्धवतीत्युच्यमाने “रुदादेर्गे” [५।१।९३५] इत्यत्र रुदादेरेव गे नान्वस्येति रुदादीनामुदात्त-पाठनामर्थेनेप्यवधारणात् स्वयमेवागस्येद्विधेयतीति व्यर्थमगग्रहणम् । नैवं प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । जुगुप्सत इत्यादौ धोः संशब्दनेन सन्विहित इतीण् न भवति ।

ग्रहोऽलिटि दीः ॥५१।८५॥ ग्रह उत्तरस्य इयोऽलिटि दीर्भवति । वान्त इडनुवर्तमानोऽर्थवशात्तया विपरिणामते । ग्रहीता । ग्रहीतुम् । ग्रहीतव्यम् । अलिटीति किम् ? जग्रहिम् । “लिङ्स्फात्किम्” [१।१।७९] “ग्रहिज्या” [४।२।१२] आदिना जिः । यङन्तस्य कस्मादीर्न भवति । जरीग्रहिता । जरीग्रहितुम् । तत्र ग्रहेयो विहित इट् तस्य दीर्भवतीति विहितविशेषणात् । “प्रकृतिग्रहणे यङुबन्तस्य ग्रहणम्” [प०] कस्मान्न भवति ? “एकाचोऽनुदात्तात्” [५।१।९३५] इति सिंहावलोकनेनैकाजग्रहणं सम्बध्यते । तेन ग्रहेरेकाचः कार्यं यङुबन्तस्य न भवति । ईटि कृते अग्रहीदित्यादौ “ईटीटः” [४।४।२०] इत्यादिकं दीप्ते कथमिड् कार्यम् ? स्थानि-वद्भावात् । “अनखिव्यौ” [१।१।५६] इति कथं न प्रतिषेधः ? नायमल्विधिरागमविधिरयम् । अग्रकृतस्येयो ग्रहणाभावात् ग्राहिता ग्राहिष्यते इत्यादौ विवदितो दीर्न ।

[वृतो वा ॥५१।८६॥ न लिङि ॥५१।८७॥]

सौ मे ॥५१।८८॥ मरे सौ परतः वृत इयो दीर्न भवति । प्रावारिष्यम् । प्रावारिपुः । आस्तारिष्यम् । आस्तारिपुः । “मिथस्थ” [२।४।८२] इत्यादिना तसस्ताम् । “बलाद्यगस्येड्” [५।१।८४] मे इति किम् ? प्रावरिष्ट । प्रावरीष्ट । “लिङ्स्योर्दे” [५।१।९०] इतीट् ।

सनीड् वा ॥५१।८९॥ सनि परत वृत इड् वा भवति । वुवूर्पते । विवरिषते । विवरीषते । प्रावुवूर्पते । प्राविवरिषते । प्राविवरीषते । प्रावुवूर्पति । प्राविवरिषति । प्राविवरीषति । आतिस्तीर्षति । आतिस्तरिषति । आतिस्तरिषति । “सनि ग्रहगुहश्च” [५।१।९३८] इतीट् प्रतिषेधे प्राप्ते पक्षे इट् । चिकीर्षतीत्यादौ दीप्ते ऋतो लान्छिक्त्वादिडभावः ।

लिङ्स्योर्दे ॥५१।९०॥ वृतः परयोः लिङ् सि इत्येतयोर्दे वा इड् भवति । द इति सेरेव विशेषणम् । लिङो मविष्ये यासुटि सति अवलादित्वादिडभावः । वृपीष्ट । वरिपीष्ट । प्रावृपीष्ट । प्रावरिपीष्ट । आस्तीर्षाष्ट । “न लिङि” [५।१।८७] इति दीत्वाभावः । अनिट् पक्षे “उः” [१।१।८६] इति कित्त्वम् । सौ । अवृत । अवरिष्ट । अवरीष्ट । प्रावृत । प्रावरिष्ट । प्रावरीष्ट । आस्तीर्षाताम् । आस्तरिषाताम् । आस्तरिषाताम् । इयो “वृतो वा” [५।१।८६] इति दीत्त्वम् । अवृतेत्यादौ “प्रादुगोः” [५।१।९४५] इति सेः खम् । द इति किम् ? आस्तारिष्यम् । आस्तारिपुः । “सौ मे” [५।१।८८] इति दीत्वाभावः । बलाद्यगस्येयो विकल्पोऽयम् ।

स्फादतोऽसुटः ॥५१।९१॥ स्फादसुटः परो य ऋकारस्तदन्तात् परयोर्लिङ्स्योर्दे वा इड् भवति । स्मृपीष्ट । स्मरिपीष्ट । ध्वृपीष्ट । ध्वरिपीष्ट । अस्मृपाताम् । अस्मरिपाताम् । “डौ” [१।२।७] दः । स्फादिति किम् ? कृषीष्ट । अकृषत । ऋत इत इति किम् ? च्योपीष्ट । अच्योष्ट । असुट इति किम् ? संस्कृपीष्ट ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतयोः सूत्रयोर्द्वितीर्नोपलब्ध्यातः जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्य सूत्र द्वयमत्र निर्दिष्टम् ।

समस्कृत । समपूर्वस्य कृजः “सम्पूर्युपाकृजः” [४।३।११०] इति मुट् । पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात्साधन-
वाचिना त्येनेत्यन्तरङ्गः मुट् । गृहिरङ्गत्वे समकृतेत्यत्र कात्पूर्वमट् स्यात् ।

स्वरतिषूङ्धूञ्स्त्वृदितः ॥५।१।१२॥ स्वरति षूङ् धूञ् स्तृति इत्येतेभ्यः ऊदित्भ्यश्च वलाद्यगस्य
वा इङ् भवति । “लिङ् स्योदे” [५।१।११०] इत्येतन्निवृत्तम् । वेत्यनुवर्तते । इष्टतोऽधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्ती
इति स्वरतेरप्रति विकल्पोऽन्येषां प्राप्ते । स्वर्ता । स्वरिता । स्वरुम् । स्वरितुम् । विसोता । विसयिता ।
विषोता । विधयिता । सोता । सविता । ऊदितः । विगाटा । विगाहिता । निगोटा । निगूहिता । स्वरतेस्तिपा
निर्देशो यदुच्यन्तनिवृत्त्यर्थः । सरीस्वरिता । सूङ्धूजोरनुबन्धनिर्देशः सुवतिधुवत्योर्विकल्पनिवृत्त्यर्थः । सविष्यति ।
धुविष्यति । स्वरतेः स्वविषये “हनुतः स्ये” [५।१।१२६] इति परत्वादित् । स्वरिष्यति । किद्विषयेऽपि परत्वात्
“श्रुकः किति” [५।१।११७] इति प्रतिषेधः । सुत्वा । धूत्वा । स्वरत्यादीनां प्रतिपदग्रहणं किम् ? ऊदित एव
ते पठितव्याः ? प्रथमग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम् । अनुबन्धकृतमनित्यं भवति । तेन उपलब्धिः । दंष्ट्रा इत्यत्र
प्रित्वादङ् टित्वान्कीर्न भवति । अनुबन्धनिर्दिष्टं यदुच्यन्तस्य न भवति । जोगूहिता ।

रधादेः ॥५।१।१३॥ रध इत्येवमादिभ्यश्च वा इङ् भवति । रद्धा । रधिता । नंष्टा । नशिता ।
रधादयोऽष्टौ वृत्पर्यन्ताः । प्रकृतस्येष्टः स्याद्विकल्पः, क्रादिनियमास्ति कथम् ? रधादिपूदात्तादात्तपाठाभावात्
“येन नाप्राप्ते तस्य तद्बाधनम्” इत्यस्य न्यायस्यासम्भवात्, अविशेषेण विकल्पः । ररख् । ररभ्म ।
ररन्ध्रव । ररन्ध्रम ।

निष्कुपः ॥५।१।१४॥ निस्पूर्वात्कुपः बलाद्यगस्य वा इङ् भवति । निष्कोष्टा । निष्कोष्ठिता ।
“इदुदुङोऽप्यपुम्मुहुसः” [५।१।२८] इति रेफस्य सत्वम् । इणः कत्वम् । निस् इति किम् ? कोपिता ।
प्रकोपिता ।

इट् ते ॥५।१।१५॥ निस्पूर्वात् कुपः ते परतः इङ् भवति । निस्कुपितः । निस्कुपितवान् । पुन-
रिङ्ग्रहणं नित्यार्थमन्यथा विकल्पः स्यात् । आरम्भो हि “यस्य वा” [५।१।१२१] इत्यस्य बाधनार्थो न
नित्यार्थः । वेत्युत्तरत्रानुवर्तत एव ।

तीपसहलुभरुपरिपः ॥५।१।१६॥ तकारादावगो परतः इष सह लुभ रुप रिप इत्येतेभ्यो वा इङ्
भवति । एष्टा । एषिता । सोटा । सहिता । लोब्धा । लोभिता । रोष्टा । रोषिता । रेष्टा । रेषिता । तकारादा-
विति किम् ? एषिष्यति । इषेभौवादिकस्य ग्रहणं सहिसाहचर्यात् । तेनेतरयोर्विकल्पो न भवति । को
विशेषः ते “यस्य वा” [५।१।१२१] इति प्रतिषेधो न भवति । इषितः । इषितवान् । लुभ इत्यविशेषण-
ग्रहणम् ।

सनीधन्तर्ध्रस्सजदम्भुस्त्वृथ्रियूर्णुभरङ्गपिसनाम् ॥५।१।१७॥ इवन्तानां धूनाम् ऋध् भ्रस्ज
दम्भु स्त्वृ थ्रि यु ऊर्णु भर ङपि सन इत्येषां च सनि परतः वा इङ् भवति । दुबूपति । दिदेविषति । सूत्यूपति ।
सिसेविषति । अनिट्पक्षे “हलन्तात्” [१।१।८४] इति सनः कित्त्वम् । “द्वोः शूङ्गे च” [४।१।१७] इत्यूट् ।
य्पादेशो द्वित्वं च “षणि चाणिस्तोरेव” [५।१।४१] इति नियमात् सिवेषचात् परस्य प्रत्यं न भवति । ईर्त्सति
अर्दिधिषति । ऋधेः सन् । अच इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । “आण्डपृथामीत्” [५।२।१५७] इति
ऋकारस्य ईत्वम् । रन्त्वम् । “चस्यात्र खम्” [५।२।१६०] । इटि अर्धिस इति । “न स्फादौ ऋोऽयि” [४।३।३]
इति घिशब्दस्य द्वित्वम् । “चे चत्वम्” [५।१।१२६] इति दः । विभर्षति । विभ्रक्षति । विभर्जिषति विभ्रजि-
षति । “भ्रस्जो रसोरम्बा” [४।१।४६] इदि रेफसकारयोः वा परो रम् भवति । विप्सति । धीप्सति । दिदम्भिषति ।
“दग्भ इच्च” [५।२।१५८] इति अस्य इत्वमी ईत्वम् । “चस्यात्र खम्” । “हलन्तात्” [१।१।८४]
इति कित्वान्पै । “एकाचो वशः” [५।३।५४] इति धत्वम् । “खरि” [५।१।१३०] इति चत्वम् । सूस्वृषति ।

नत्स्यति । अनत्स्यत् । निट्स्यति । नत्तिष्यति । अनत्तिष्यत् । निनर्तिषति । सीति किम् ? कर्तिता । असाविति किम् ? अकर्त्तित् । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

गमेरिण्यमे ॥५१११०६॥ गमेरिङ् भवति सकादौ मे । इङ्ग्रहणं नित्यार्थम् । गमेरिति मम् । “गम्लृ सृष्ट् गतौ” [धा०] । “सनि” [१११११६] इति इणो गमादेशस्य “इयवदिकः” [वा०] इति वक्तव्येन “इक् स्मरणे [धा०] इत्यस्य “इङ्” [११११२०] इति “इङ् अध्ययने” [धा०] इत्यस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । गमिष्यति । अगमिष्यत् । अनादेशस्येदम् । जिगमिष्यति । इणादेशस्यापीदम् । अधिजिगमिषति । “इयवदिकः” [वा०] । गमेरिति किम् ? एष्यति । म इति किम् ? संगसीष्ट । संगस्यते । संजिगंसते वत्सो मात्रा । अधिजिगांसते । “हनिङ्ग्रन्थचां सनि” [४११११४] इति दीत्वम् । म इति विपयनिर्देशोऽयम् । मे यो गमिहसलव्यस्तस्य सकारादाविङ् भवतीति । तेन हेरुपि कृति चेद् सिद्धः । जिगमिष त्वम् । जिगमिषिता । गमेरिति योगविभागो द्रष्टव्यः । तत्र वेति सम्प्रत्यते । क्वचिदन्यत्रापि वा सकाराविङ् भवति । संजिगमिषिता । संजिगमिता । अधिजिगांसिता व्याकरणस्य ।

न वृतादेः ॥५१११०७॥ वृतादेर्मे इण् न भवति । सकारादाविति निवृत्तम् । वत्स्यति । अवत्स्यत् । वृध् । वत्स्यति । अवत्स्यत् । विवृत्सति । शत्स्यति । अशत्स्यत् । शिद्यत्सति । स्यत्स्यति । अत्यन्त्यत् । सित्यत्सति । कल्स्यति । अकल्स्यत् । चिकल्सति । कल्ता । कल्तारौ । कल्तारः । म इत्येव । वर्तिष्यते “स्यसनोवृद्धयः” [११२१८८] “लुटि च क्लृपः” [११२१८६] इति वा मविधिः । वृतादयः पञ्च वृत्तपर्यन्ताः । वृत्तकरणमिहार्थं वृताद्यर्थं च । द्विगता अपि हेतवो भवन्तीति । इह कथं विवृत्तत्वम् । अत्रापि मे इति विपयनिर्देशान्मेनोपलक्षितानां वृतादीनां नेङ् भवति । तेन हेरुपि कृति च इङ्भावः सिद्धः । विवृत्सिता । दविपये तु विवर्तिषस्व । विवर्तिषितुम् ।

वोपदेशोऽत्वदचसृजिदृशस्तासौ नित्यानिटस्येऽव्यादः ॥५१११०८॥ उपदेशो अकारवद्ग्रन्थः अजन्तेभ्यः सृजि दृशि इत्येताभ्यां च तासौ नित्यानिटभ्यः थे वा इङ् भवति व्या अद् इत्येतौ वर्जयित्वा । क्रादिनियमादिषु प्राप्ते विकल्पः । अत्वान्-पक्ता । पक्थ । पेचिथ । शक्ता । शशक्थ । शेकिथ । अच्-याता । ययाथ । ययिथ । चेता । चिचेथ । चिचयिथ । होता । जुहोथ । जुहविथ । लप्या । सप्तष्ट । ससर्जिथ । दृश्-द्रष्टा । दद्रष्ट । दर्शिथ । उपदेश इति किम् ? कर्था । चकर्षिथ । एतेषामिति किम् ? भेत्ता । त्रिभेदिथ । तासाविति किम् ? गन्ता । जगन्थ । जगमिथ । नित्यानिट एवोच्यमाने अयं गमिर्नित्यानिसन भवति । सकारादावित्वात् “गमेरिण्यमे” [५१११०६] इति । अतोऽस्य विकल्पो न स्यात् । तथा—जिघृक्षति । जगृह्थि । लूत्वा । लुलविथ । “सनि ग्रहगृहश्च” [५११११८] “श्रुयुक्तः किति” [५११११७] इति सनि किति च नित्यानिटाविमौ न तु तासौ । नित्यग्रहणं किम् ? अङ्क्ता । अञ्जिता । आनञ्जिथ । विधोता । विधविता । विदुधविथ । तासौ विभाषितेऽटोऽनिट्कार्यं मा भूत् । असति तु नित्यग्रहणे पाक्षिकेणापि हीङ्भावे वाऽनिट्भवत्येव । यथा गुहो विभाषितेऽपि अनिट्कार्यं “शलोऽनिटोऽदृशः क्सः” [२१११४०] इति क्सः । अयुक्षत् । थ इति किम् ? पेचिम । ययिव । ययिम । अव्याद इति किम् ? व्याता । विव्ययिथ । अत्ता । आदिथ । “तदादेशास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” [प०] जवसिथ । अत्वदिति तपरकरणं किम् ? राद्धा । रराधिथ ।

ऋतः ॥५१११०९॥ उपदेशो ऋकारान्तात्तासौ नित्यानिटः थे नेङ् भवति । कर्ता । चकर्थ । हर्ता । जहर्थ । स्मर्ता । सस्मर्थ । धर्ता । दधर्थ । तपरकरणमसन्देहार्थम् । यदि विकल्पः त्यादजन्तत्वात् पूर्वैर्यैव सिद्धः । यदि विधिरिष्टः स्यादव्याद इत्यत्रैव ऋकारस्य पयुंदासः क्रियेत पृथग्योगकरणमनर्थकम् । तस्मात्पारिशेष्यात् “न वृतादेः” [५१११०७] इत्यतः प्रकृतः प्रतिषेध एवाभिसम्बध्यते । असुटः इत्यनुवर्तते । सञ्चस्करिथ ।

विभिदिव । विभिदिम । ददिव । ददिम । “अयुक्तः किति” [५।१।११०] इति प्रतिषेधे सिद्धे वृग्रहणं स्थानियमार्थम् । वृजवृजोरेवोदात्तेषु लिटि नेङ् । तेन लुलुविव । लुलुविम । अथ (प्रति) पदार्थं वृग्रहणं कस्मान्न भवति ? यदि प्रतिषेधः इष्टः स्यात् थाधिकारे वृग्रहणं क्रियेत न किदधिकारे । इह करणं ज्ञापकं ये प्रतिषेधाभावस्य । वग्रथि । स्तुप्रभृतिग्रहणं तु प्रतिषेधार्थम् । (ये) “वोपदेशे” [५।१।१०६] इति प्रातः । वमयोस्तु कृस्तुम् नियमादि (ट्) प्रातः प्रतिषिध्यते । अमुट् इत्यनुवर्तते । संचस्करिव । संचस्करिम ।

श्वीदितस्ते ॥५।१।१२०॥ श्वयतेरीदिङ्ग्यश्च ते परतः इणन् भवति । शूनः । शूनवान् । लग्नः । लग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् । शिव ई ईदित ईकारोऽप्यत्र प्रश्लिष्यते । शीङः “तः सेट् पूङ् शीङः” [१।१।६२] इति ज्ञापकादिट् । पारिशेष्यादीकारान्तस्य डीङो ग्रहणम् । उड्डीनः । उड्डीनवान् । “ओदितः” [५।३।६३] इति क्त्वम् । स्वादय ओदितः ।

यस्य वा ५।१।१२१॥ यस्य वाऽन्यस्मिन्निहुक्तस्तस्य ते परतः इणन् भवति । रद्धः । रद्धवान् । इष्टः । इष्टवान् । धृतः । धृतवान् । “तनिपतिद्विराणाम्” [वा०] इति वेद्यपि पतित इत्यत्र “इसच्छ्रुतासीतपतित” [१।३।२१] इति ज्ञापकादिट् ।

आदितः ॥५।१।१२२॥ आकारेतश्च धोस्ते परतः इणन् भवति । मिन्नः । मिन्नवान् । स्विन्नः । स्विन्नवान् । द्विष्णः । द्विष्णवान् । धृष्णः । धृष्णवान् । “समः समि” [५।३।१६६] इत्यत्र क्यन्ते इगागमवचनासिद्धे आदेशवचनं ज्ञापकमनित्यमागमशासनमिति । तेन वान्तः । विश्वस्तः ।

वा भावारम्भयोः ॥५।१।१२३॥ भावे आरम्भे च आदितो धोस्ते परतो वा इङ् भवति । मिन्नमस्य । मेदितमस्य । प्रमिन्नः । प्रमेदितः । द्विष्णमस्य । द्वेदितमस्य । प्रद्विष्णः । वेति योगविभागात् कर्मणि वा शक्रेरिट् । आदित इति तु न सन्निधीयते । शक्तितो घटः कर्तुम् । शक्तो घटः कर्तुम् । भावो ध्वर्थः । आद्यः क्रियाऽवयवः प्रेत्यादिना द्यौत्यः आरम्भः । भावग्रहणं तस्य विशेषणम् आरम्भो धोः “नन्भावे क्तः” [२।३।६५] इति भावे क्तः । “कर्तरि चारम्भे” [५।३।५६] इति कर्तरि क्तः ।

दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टलुन्नङ्गमाः ॥५।१।१२४॥ दान्तादयः शब्दाः प्यन्ताद् वा निपात्यन्ते । दान्तः । दमितः । शान्तः । शमितः । पूर्णः । पूरितः । दस्तः । दासितः । स्पष्टः । स्पाशितः । लुन्नः । छ्वादितः । ज्ञनः । ज्ञापितः । ते वाऽनित्त्वं निपात्यते । दस्तादेशः प्रादेशश्च । शमिदम्योर्णिखे दीत्वं प्रति न स्थानिवत् इति “ङस्य क्विक्कङोः क्ङिति” [१।४।१३] इति दीत्वम् । अन्यत्र मित्तां प्रः । ज्ञपेस्तु “भरज्जिसनाम्” [५।१।६७] इति विकल्पितेयो “यस्य वा” [५।१।१२१] इति प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् ।

हृष्टापचितौ ॥५।१।१२५॥ हृष्टापचित इत्येतौ वा ते परतो निपात्येते । हृष्टेलोमविस्मितप्रतिधातेषु वाऽनित्त्वम् । हृष्टानि लोमानि । हृषितानि लोमानि । हृष्टं लोमभिः । हृष्टो देवदत्तः । हृषितो देवदत्तः । हृष्ट्य दन्ताः । हृषिता दन्ताः । हृष्टेः “वोदितः” [५।१।१०४] इति विकल्पितेयो “यस्य वा” [५।१।१२२] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । अपचितोऽनेन गुरुः । अपचायितोऽनेन गुरुः । चायतेस्ते विभावोऽनित्त्वं च वा निपात्यते । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन कौ नित्यमपचितिः ।

लुब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टविरिब्धफारट्वाढविशस्तधृष्टकष्टधुष्टहटपरिवृढाभ्यर्णवृत्ताः ॥५।१।१२६॥ लुब्धादयः शब्दाः कान्ता अर्थविशेषे निपात्यन्ते । लुब्धो भवति मन्यश्चेत् । दध्यादिकं येन मथ्यते स मन्थः । ननु द्रवद्रव्यसंप्रयुक्ताः सक्तवो मन्थ इह गृह्यते । तदुक्तं “शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भो-धिवर्णना” इति । क्रियाभिधानेऽन्याभिधाने च न भवति । लुभितं मन्थेन । लुभिता सेना । स्वान्तमिति भवति मनश्चेत् । स्वनितमन्यत् । ध्वान्तमिति निपात्यते तमोऽभिधानं चेत् । ध्वनितमन्यत् । लग्नमिति भवति सक्तश्चेत् । लगितमन्यत् । म्लिष्टमिति भवति अविस्पष्टश्चेत् । म्लेच्छितमन्यत् । इत्यमेकारस्य निपातनादेव । विरिब्ध

इति निपात्यते स्वरश्चेत् । विरेमितमन्यत् । इत्वमेतो निपातनात् । फ्रायटमिति निपात्यते अनायासे । फणितमन्यत्र । अग्निना ततं यत्कथोष्णं तत्फ्रायटम् । अथवा यदपक्वमचूर्णितमनिध्यन्दिदमुदकादिसंयो-
गादिभक्तसम् । वादमिति भवति नष्टं (भृशं) चेत् वाहितमन्यत् । वाह् प्रयत्ने इत्यस्थानिदृशम् ।
विशस्त्युष्णविति भवतः विधातौ चेत् । विशस्तो वादी धृष्टो वादी प्रगल्भोऽविनीतो वा शशुधृष्टोः “यस्य वा”
[५।१।१२१] “आदितः” [५।१।१२२] इति च प्रतिपेधे सिद्धे नियमार्थं वैयात्य एवेति । भावारम्भयोर्धृपे-
वैयात्येऽनभिधानम् । नियमादन्यत्रेद् । विशस्तितः पशुः । धर्षितः शत्रुणा । कष्टमिति भवति कृच्छ्रे गहने च ।
कृच्छ्रं दुःखं दुःखहेतुश्चोपचारात् । गहनं वनम् । धुपेरविशब्देऽनिदृशं निपात्यते । धुष्टा रज्जुः । धुष्टौ
पादौ । अविशब्देन इति किम् ? अत्रधुषितं वाक्यमाह । शब्देनाभिप्रायनिवेदनं विशब्देन तदपि धुपेरर्थः ।
अनेकार्थत्वादधूनाम् । दृढ इति स्थूले बलवति च । दृहिः क्लेशनिदृशं न ह्रस्वं परस्य च दृत्वं निपात्यते ।
दृहेर्वा नखवर्जम् । ननु दृहेर्ह्रस्वं दृत्वं च न निपात्यं दृत्वे दृत्वे च कृते सिध्यति । नैवम् । द्रदिमा । द्रदयति ।
परिद्रदय्य गतः इत्यत्र पूर्वत्रासिद्धत्वात् “ऊ रोऽनादेर्घेः” [४।४।५३] इति रत्वम् “न्ये विपूर्वात्” [४।४।५६]
इति शेरयादेशश्च न स्यात् । इह च परिद्रदस्यापत्यं पारिद्रदी कन्येति “न्योऽक्षु रूपान्त्ययोः” [३।१।६३]
इति ध्यः प्रसज्यते । स्थूलबलवतोरिति किम् ? दृहितम् । दृहितं वा । परिबृद्ध इति निपात्यते । प्रसृश्चेत् ।
परिपूर्वस्य बृहेर्बृहेर्वा न ह्रस्वम् । दृत्वे प्रयोजनं पूर्वोक्तम् । परिद्रदय्य गतः इत्यत्र संग्राम युद्धे इति सगेः पाठात्
गिरहितस्य णितुत्पद्यते । तेन “तिकुप्रादयः” [१।३।८१] इति पसे क्त्वात्यस्य प्यादेशः । प्रभाविति किम् ?
परिवृद्धितम् । परिवृद्धितम् । अभ्यर्ण इति निपात्ये आविदूर्ये । अभ्यर्णं शेते । अभ्यर्णा शरत् । विदूरं
विप्रकृष्टं ततोऽन्यत्सर्वमविदूरं तस्य भाव आविदूर्यम् । “नञ्स्ये चतुर” [३।४।१५५] इत्यत्र नञ्स्ये इति
योगविभागात्सापेक्षत्वेऽपि ट्यण् । आविदूर्य इति किम् ? अभ्यर्दितश्चौरः शीतेन । वृत्तमित्यव्ययनेऽर्थे निपात्यते ।
वृत्तेर्यन्तादिङभावो पोरुप् च क्ते निपात्यते । वृत्तं जैनेन्द्रम् । वृत्तस्तर्को देवदत्तेन । अध्ययन इति किम् ?
वर्तितो घटः कुम्भकारेण । यदा वृत्तिकर्मकस्तदाऽस्य एयन्तस्य वृत्तस्तर्क इति न भवति । यदा तु “तेन
निवृत्तः” [३।२।५८] इति ज्ञापकादन्तर्भावितार्थः सर्मकस्तदा कर्मणि क्तः “यस्य वा” [५।१।१२१] इति
प्रतिपेधाद्वृत्तस्तर्कः । एयन्तस्य अध्ययने वर्तित इति भवति ।

सन्निविभ्योर्दे ॥५।१।१२७॥ सम् नि वि इत्येवंपूर्वाददेरिण भवति ते परतः । समर्णः । न्यर्णः ।
व्यर्णः । सन्निविभ्य इति किम् ? अर्दितः । प्रार्दितः ।

न वा रुष्यमत्वरसंधुपास्वनः ॥५।१।१२८॥ रुषि अम् त्वर संधुष आस्वन् इत्येतेभ्यः ते न वा
इङ् भवति । रुष्टः । रुषितः । अम्यन्तः । अम्यमितः । तूर्णः । त्वरितः । संधुष्टः पादः । संधुषितः पादः ।
संधुष्टं वाक्यम् । संधुषितं वाक्यम् । आस्वान्तो देवदत्तः । आस्वानितो देवदत्तः । आस्वान्तं मनः ।
आस्वानितं मनः । रुषेः “तीषसहलुभस्परिषः” [५।१।६६] इति विकल्पेयो “यस्य वा” [५।१।१२१] इति
निषिद्धे अम्यमः प्राप्ते त्वर “आदितः” [५।१।१२२] इति प्रतिपिद्धे संधुपास्वनोरविशब्दनमनसोप्राप्ते
सतोऽपि प्रातौ नेति प्रतिषिद्धायां सर्वत्र वेति विकल्पः ।

हनृत्तः स्ये ॥५।१।१२९॥ हन्तेः ऋकारान्तेभ्यश्च स्ये परत इङ् भवति । हनिष्यति । अहनिष्यत् ।
करिष्यति । अकरिष्यत् । स्वरत्यादि विकल्पं बाधित्वाऽनेन परत्वादित् । स्वरिष्यति । न वेति नानुवर्तते ।

सावज्जे ॥५।१।१३०॥ अज्जेः सौ परतः इङ् भवति । आज्जीत् । आज्जिष्ठम् । आज्जिषुः ।
नित्यार्थ आरम्भः । साविति किम् ? अज्जिता ।

स्तुसुधूजो मे ॥५।१।१३१॥ स्तु सु धूज इत्येतेभ्यः मपरे सौ परतः इङ् भवति । अस्तावीत् ।
अस्तावीत् । अधावीत् । म इति किम् ? अस्तोष्ट । अतोष्ट । अधोष्ट । अधविष्ट । धूजो विकल्पः
प्रातः । अकारो धुवतिनिवृत्त्यर्थः ।

यमरमनमातः सक् च ॥५१११३२॥ यम रम नम इत्येतेषाम् आकारान्तानां च मपरे सौ परतः सगागमो भवति इट् च । अयंसीत् । अयंसिष्टाम् । अयंसिपुः । व्यरंसीत् । व्यरंसिष्टाम् । व्यरंसिपुः । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् । अनंसिपुः । अस्ततीटि हलन्तलक्षण ऐप् स्यात् । सति तु “नेटि” [५१११८०] इति प्रति-पिब्यते । आतः—आयासीत् । आयासिष्टाम् । आयासिपुः । म इत्येव । उपायंस्त । उपायंसाताम् । उपायंसत । अरंस्त । अरंसाताम् । अरंसत ।

स्मिपूडरञ्जवशः सनि ॥५१११३३॥ स्मिङ् पूड् ऋ अञ्जू अञ्जुङ् इत्येतेभ्यः सनीङ् भवति । स्मिस्मयिषते । पिपयिषते । अरिषति । अजिषति । अशिषति । पूडः सन् । “सनि ग्रहगुहश्च” [५१११९८] इति प्रतिपिद्वेऽनेनेट् । द्वित्वात्पर एप् “द्वित्वेऽचि” [११११५६] इति स्थानिवद्भावेन द्वित्वम् । “ओः पुयण्ये” [५१११७८] इति इत्वम् । अञ्जवशोरुदित्वाद्विकल्पः प्रातः अरनातेरुदात्तस्य नेह ग्रहणम् ।

किरश्च पञ्चभ्यः ॥५१११३४॥ किरादिभ्यः पञ्चभ्यः सनीङ् भवति । उच्चिकरिषति । निजिगरिषति । दिदरिषते । दिधरिषते । पिपृच्छिषति । “प्रच्छेः” [४१३११२] इति जिः । पञ्चभ्य इति किम् ? सिसृञ्शति । किरतिगिरत्योः “सनीङ् वा” [५१११८६] इति विकल्पः प्रातः । “वृतो वा” [५१११८६] इति व्यवस्थित-विभाषाश्रयणादस्येदो दीर्घो भवति । किर इति आदिशब्दस्य खे “सूत्रेऽस्मिन् सुविविधिरिष्टः” [५१२११४] इति भ्यसः स्थाने ङसिः । चकारः सनोऽनुकर्षणार्थः, अन्यथा निमित्ते सन्देहः स्यात् सेरपि पूर्वं श्रुतत्वात् अनुक्तसमुच्चयार्थ इति केचित् । तेन क्वचिदन्यत्रापीट् । “जुगूहिषन् मत्तगजोऽभ्यधावत्” ।

रुदादेर्गे ॥५१११३५॥ रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः वलादौ गो इङ् भवति । रोदिति । रुदितः । स्वापति । निःश्वसिति । प्राणिषति । जहति । “णोऽनितेः” [५१११०४] इति णत्वम् । पञ्चभ्य इत्येव शास्ति । ग इति किम् ? स्वता । स्वप्नुम् । अन्ये तृदात्ताः । वलादावित्येव । रुदन्ति । स्वपन्ति । रुदादेरित्येव कानिदंशो ग इत्यस्येन्निर्देशस्योत्तरत्र सावकाशस्य तां प्रकल्पयति ।

ईङः र्ध्वे ॥५१११३६॥ ईङः सकारादौ ध्वे च गो परतः इङ् भवति । ईङिष्व । ईङिध्वे । ईङ्वम् ।

ईशः ॥५१११३७॥ ईश इत्येतस्माच्च इङ् भवति सकारादौ गो ध्वे च । ईशिषे । ईशिष्व । ईशिध्वे । ईशिष्वम् । योगविभागो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।

लिङोऽनन्त्यसखम् ॥५१११३८॥ लिङोऽनन्त्यस्य सस्य खं भवति गो । कुर्याताम् । कुर्युः । कुर्वीत । “सुट् तथोः” [२१४१८७] इति सुट् । सुट्यासुट्सीयुट्सखमनेन । तिपि स्कादौ सखेन सिद्धम् । “कृजो ये च” [४१४१६६] इत्युखम् । “उसि” [४१३१८३] इति पररूपम् । अनन्त्य इति किम् ? कुर्युः । कुर्याः । कुर्वीथाः । वस्मसोः “ङितः सखम्” [२१४१८०] तसस्तां थसस्तमिति भवितव्यम् । ग इत्येव । क्रियासुः । कृषीष्ट । “रिङ्यग्लिङ्गेशे” [५१२१३७] इति यादौ रिङादेशः । “उः” [११११८६] इति लिङो दे किञ्चम् ।

अतो येय् ॥५१११३९॥ अकारान्ताद् गोरुत्तरस्य या इत्येतस्य इयादेशो भवति गो । पचेत् । दीव्येत् । “वलि व्योः खम्” [४१३१५५] पचेयुः इत्यत्र “उसि” [४१३१८३] इति पररूपं न । “वाण्डाङ्गावं वलीयः” [५०] इति इयादेशो भवति । “यञ्यतो दीः” [५१२१६६] इति दीत्वं सामान्येनोक्तमनवकाशोऽयं विधिर्वाधते । अत इति किम् ? चिनुयात् । तपरकरणं किम् ? यायात् । ग इत्येव । चिकीर्ष्यात् । अतः खे पूर्वगत्या स्यात् । या इत्येतत्तु “सूत्रेऽस्मिन्” [५१२११४] इति ङसः खम् ।

ङिदातः ॥५१११४०॥ अकारादुत्तरस्य ङिदवयवस्यात इत्यित्ययमादेशो भवति । पचेते । पचेथे । सचेताम् । पचेथाम् । ङकार इयस्य सोऽयं ङित् तस्यावयव आत् । “गाङ्कुटादेः” [११११७५] इत्यत्र

डिङिति । डिङीव डिङ्गदिति कार्यातिदेशः । तेन चुकुटिप्रति इत्यत्र सनोऽडित्वाद्दो न भवति । “गोऽपित्” [१११७८] इत्यत्र तु डित इव डिङ्गदिति द्रष्टव्यम् । न कार्यातिदेशः । कार्यस्यावयवासम्भवात् । डिति किम् ? पचावहै । आत इति किम् ? पचन्ति ।

आने मुक् ॥५१११४१॥ अत आने मुगागमो भवति । आन इति ईमिर्देशो अत इति कानिर्देशस्य पूर्वसूत्रे कृतार्थस्य ताप्रकृतिं करोतीति अकारान्तस्य मुक् । पचमानः । वपमानः ।

ईदासः ॥५१११४२॥ आस उत्तरस्य आनस्य ईकारादेशो भवति । आसीनोऽधीते । आस इति कानिर्देशोऽनवकाश आनस्य तां प्रकल्पयति । परस्यादेरीत् ।

विभक्त्यामाष्टनः ॥५१११४३॥ अष्टन आकारादेशो भवति विभक्त्यां परतः । अष्टामिः । अष्टाभ्यः । अष्टासु । अष्टानामित्यष्टन आम्प्रात्वे च कृते नान्तत्वाभावादित्त्वञ्ज्ञा नास्ति । कथं नुङ् । “प्यान्तेल्” [११११३४] इत्यत्रान्तग्रहणमुपदेशार्थमुक्तमित्यदोषः । विभक्त्यामिति किम् ? अष्टमहाप्रातिहायों जिनः । “नोमता गोः” [११११३४] इति प्रतिपेधात्प्रात्ययमात्रं न भवति । कथं “दूतः स्यादष्टभिर्गुरौः” इति ? “अष्टाभ्य औश्” [५१११५८] इति कृतात्वोच्चारणं ज्ञापकम्, यत्रैवात्वं तत्रैवौश्भाव इति तेनानित्यमात्रम् । आ इति विशेषनिर्देशो नकारस्य स्थाने ङसञ्ज्ञकाकारनिवृत्त्यर्थः । आत्वमिति जातिनिर्देशो प्रसज्येत ।

रायो हलि ॥५१११४४॥ रै इत्येतस्य हलादौ विभक्त्यामाकारादेशो भवति । राः । राभ्याम् । राभिः । राभ्यः । रासु । हलीति किम् ? रायौ । रायः । विभक्त्यामेव । रैत्वम् । रैता ।

युष्मदस्मदोः ॥५१११४५॥ युष्मदस्मदित्येतयोर्हलादौ विभक्त्यां परतः आत्वं भवति । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्मभिः । अस्मभिः । युष्मासु । अस्मासु । “अन्तेऽलः” [११११४६] इति दकारस्य भवति ।

इपि ॥५१११४६॥ इपि च विभक्त्यां परतः युष्मदस्मदोरात्वं भवति । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । युष्मान् । अस्मान् । “खमादेशे” [५१११४६] इति खे प्राप्ते पुरस्तादपवादोऽयम् । “ङेसु-दोरम्” [५११२४] इत्यम् । “शसो नः” [५११२५] इति नकारः ।

आवि ॥५१११४७॥ औकारे परतः युष्मदस्मदोरात्वं भवति । युवां जैनेन्द्रमधीयाथे । आवाम् अधीवहे ।

यः ॥५१११४८॥ यकारादेशो भवति युष्मदस्मदोर्विभक्त्यां परतः । त्वया । मया । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । उत्सर्गोऽयम् । आत्वं खं चापवादः । पारिशेष्यादच्यनादेशोऽवतिष्ठते ।

खमादेशे ॥५१११४९॥ आदेशो विभक्त्यां युष्मदस्मदोः खं भवति । आदिश्यत इत्यादेशो विभक्ती । त्वम् । अहम् । यूयम् । वयम् । तुभ्यम् । मयम् । युस्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । त्वत् । मत् । युष्मत् । अस्मत् । तव । मम । युष्माकम् । अस्माकम् । विभक्त्यामिति किम् ? युष्मदीयः । “त्यदादि” [११११६६] इति दुसञ्ज्ञा । “दोरङ्” [३१२१६०] इति छः । इदं खवचनं ज्ञापकम् । अत्यविधिं प्रति द्विपर्यन्तात्पदादयः । तेन भवच्छब्दस्य भवानिति ।

मावधेः ॥५१११५०॥ युष्मदस्मदोर्मकारावधेः सङ्घातस्यादेशो भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । अवधि-ग्रहणं किम् ? मान्तस्थेति वक्तव्यम् । नैवं शक्यम् । यत्र युष्मदस्मदौ मान्तौ शिचि क्पिप्रागतनिवृत्ते तत्रैवादेशाः स्युः । ननु योः “परञ्चः पूर्वविधौ” [११११५७] स्थानिवद्भावान्मानन्ता नास्ति व्यवधानात् । वचनाच्छ्रुतिकृत-मानन्तयं विभक्त्याः । अवधिग्रहणे सति दकारान्तयोरपि युष्मदस्मदोर्मवधेः समुदायावयवस्यादेशाः सिद्धा भवन्ति ।

युवावौ द्वौ ॥५१११५१॥ द्वाकित्यन्वर्थग्रहणम् । “एकद्विवहवश्चैक्यः” [११२१५५] इत्यत्रान्व-र्थसञ्ज्ञाकरणात् । द्वित्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्युव आव इत्येतावादेशौ भवतः । युवाम् । आवाम् । युवाभ्याम् ।

आवाभ्याम् । युवयोः । आवयोः । मावधेरित्येव । युवकाम् । आवकाम् । अकसहितस्य न भवति । सेऽपि यदा युष्मदस्मदी द्वित्वे वर्तते समुदायः एकत्वे बहुत्वे वा तदापि युवावौ भवतः । न चेत् परत्वाद् “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] “त्वाहौ सौ” [५।१।१५३] “तुभ्यमह्यौ डयि” [५।१।१५४] “तवममौ डसि” [५।१।१५५] इत्यादेशान्तरेण बाध्यते । अतिक्रान्तं युवाम् अतियुवाम् । अत्यावाम् । अतिक्रान्तान् युवाम् अतियुवान् । अतिक्रान्तेन युवाम् अतियुवया । अत्यावया । अतिक्रान्तैर्युवाम् अतियुवाभिः । अत्यावाभिः । अतिक्रान्तेभ्यो युवां देहि वा अतियुवभ्याम् । अत्यावभ्यम् । अतिक्रान्तात् युवां अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तेभ्यो युवाम् अतियुवन् । अत्यावन् । अतिक्रान्तानां युवाम् अतियुवाकम् । अत्यावाकम् । अतिक्रान्ते युवाम् अतियुवयि । अत्यावयि । अतिक्रान्तेषु युवाम् अतियुवासु । अत्यावासु । यदा समुदायोऽपि द्वित्वे वर्तते तदा सुतरां भवतः । अतिक्रान्तौ युवाम् अतियुवाम् । अत्यावामित्यादि । अपवादविषये न भवतः । अतिक्रान्तो युवाम् अतित्वम् । अत्यहम् । अतिक्रान्ता युवाम् अतियूयम् । अतिवयम् । अतिक्रान्ताय युवाम् अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । अतिक्रान्तस्य युवाम् अतितव । अतिमम । यदा च युष्मदस्मदी एकत्वे बहुत्वे च वर्तते समुदायो द्वित्वे तदापि न भवतः । अतिक्रान्तौ त्वाम् अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तौ युष्मान् अतियुष्मान् । अत्यस्मान् । इत्यप्येवम् । अतिक्रान्ताभ्यां त्वाम् अतित्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्याम् । अत्यस्माभ्यां कृतम् । अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्यां देहि । एवम् अतित्वाभ्याम् । अतियुष्माभ्यां त्रिभेति । अतित्वयोः । अतियुष्मयोः स्वम् । अतित्वयोः । अतियुष्मयोर्निधेहि ।

यूयवयौ जसि ॥५।१।१५२॥ युष्मदस्मदोर्जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः । यूयम् । वयम् । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरप्यत्र । अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा अतियूयम् । अतिवयम् । परमयूयम् । परमवयम् ।

त्वाहौ सौ ॥५।१।१५३॥ युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः सौ परतः । त्वम् । अहम् । परमत्वम् । परमाहम् । अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् वा अतित्वम् । अत्यहम् ।

तुभ्यमह्यौ डयि ॥५।१।१५४॥ तुभ्य मह्य इत्येतावादेशौ भवतः युष्मदस्मदोर्डयि परतः । तुभ्यम् । मह्यम् । तदन्तविधिना अतिक्रान्ताय त्वां युवां युष्मान् वा अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । परमतुभ्यम् । परममह्यम् ।

तवममौ डसि ॥५।१।१५५॥ युष्मदस्मदोर्डसि परतः तव मम इत्येतावादेशौ भवतः । तव स्वम् । मम स्वम् । अतिक्रान्तस्य त्वां युवाम् युष्मान् वा अतितव । अतिमम । परमतव । परममम ।

त्वमावेके ॥५।१।१५६॥ एक इत्ययमन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशस्तेन एकत्वे वर्तमानथोर्युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः । त्वाम् । माम् । त्वत् । मत् । त्वयि । मयि । अत्रापि यदा युष्मदस्मदावेकत्वे वर्तते समुदायो द्वित्वे बहुत्वे वा तदापि त्वमादेशौ भवतः, यदि “यूयवयौ जसि” [५।१।१५२] इत्यादिभिरादेशान्तरेण बाध्यते । कथं बाधा ? अतीताश्चत्वारो योगा इहानुवर्तन्ते । ततो बाधा तद्विषयादन्यत्रायं विधिः । अतिक्रान्तौ त्वां तिष्ठतः पश्येति वा अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तास्त्वाम् अतित्वान् । एवम् अतित्वाभ्याम् । अतितुभ्यं देहि । अतित्वत् । अतित्वयोः । अतित्वाकम् । अतित्वयोः । अतित्वासु । यदा समुदायोऽप्येकत्वे तदा सुतराम् । अतिक्रान्तं त्वाम् अतित्वाम् ।

त्वद्योश्च ॥५।१।१५७॥ त्वमावेक इहानुवर्तते । एकार्थविषयोर्युष्मदस्मदोः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः त्वे द्यौ च परतः । त्वत्तरो मत्तरः । त्वदीयो मदीयः । त्वत्पधानाः । मत्पधानाः । त्वद्धितम् । मद्धितम् । त्वच्छिष्यो मच्छिष्यः । विभक्त्यां परतः पूर्वो योगस्तस्या उपि प्रापणार्थं वचनम् । ननु नानापदाश्रयत्वाद्बहिरङ्ग उप विभक्तीमात्राश्रयत्वादनन्तरङ्गस्त्वामादेशः पूर्वं भविष्यतीत्यनर्थकमिदम् । नानर्थकम् । त्वाह तुभ्यमह्य

तव मम विषये प्रापणार्थम् । चकारो मविध्यनुकर्णार्थः । ननु तवममाद्यादेशापवादादेव भावधित्वं लब्धम् । नैवं शक्यम् । विभक्त्या उपि कृते तवममाद्यादेशाभावात्कृत्स्नयोर्युष्मदस्मदोः स्थाने स्यात् । ननु वहिरंग उच्यते । इदमेव च शब्दोपादानं ज्ञापकम् “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उच् वाधते” [प०] तेन यूयं पुत्रा यस्य स युष्मत्पुत्रः यूयादेशाभावः । गोमान् प्रियो यस्येति गोमत्प्रियः इत्यादौ नुमादीनामभावः सिद्धः ।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥५१११५८॥ गोर्विभक्त्यां परतः त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रियां वर्तमानयोस्तिसृ चतसृ इत्येतावादेशौ भवतः । तिसृभिः । चतसृभिः । तिसृषु । चतसृषु । स्त्रियामित्येतन् त्रिचतुरोरेव श्रुतत्वाद्विशेषणं किमर्थम् ? यदा त्रिचतुरो स्त्रियां वर्तते समुदायः पुंसि नपुंसके वा तदापि तदन्तर्विधिना तिसृचतसृभावो यथा स्यात् । प्रियतिसा । प्रियतिसौ । प्रियतिस्रः । प्रियतिसृ कुलम् । प्रियतिसृणी । प्रियतिसृणि । यदा तु त्रिचतुरौ पुंसि नपुंसके वा वर्तते समुदायः स्त्रियां तदा न भवति । प्रियाः त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्याः स प्रियत्रिः । एवं प्रियचत्वाः । स्त्रियामिति किम् ? त्रयश्चत्वारः । त्रीणि । चत्वारि । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते । तेन “क्वचित्केऽपि खौ” । तिसृका ग्रामः ।

रोऽच्युः ॥५१११५९॥ तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यचि परतः । तिस्रस्तिस्रन्ति । तिस्रः पश्य । चतस्रस्तिस्रन्ति । चतस्रः पश्य । प्रियतिस्रो भयम् । “ऋतो डिधे” [५१२१०५] इत्येप् शसि “सुष्टि पूर्वस्वम्” [४१३८६] दीत्वं ङसिङ्सोः “ऋत उत्तः” [४१३१६८] इति उः प्रसज्येत । ननु “मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोचरान्” [प०] इति ऋतो डिधे इत्येपः कथं बाधा “स्पष्टं परम्” [१२१६०] इति परशब्दस्थेष्टवाचित्वादेरिति फादेशः इष्टः । छायेप् । प्रियतिसरि । अथ प्रियतिस्र इत्यादौ कप्प्रान्तः कस्मान्न भवति । समुदायविभक्त्यां तिसृभाव इति तयाऽन्तो व्याप्त इति न कप् । अचीति किम् ? तिसृभिः । तिसृणी । नन्वामि परत्वादेरुः प्राप्नोति । नैवम् । “नाम्यतिसृचतसृ” [४१३१३] इति ज्ञापकानुष्टिपुत्रभावौ न स्तः । उरिति किम् ? “अन्तेऽङ्” [१११४९] इत्येव सिद्धम् । उरित्यक्रियमाणे “येन नाप्राप्त” न्यायेन तिसृचतसृभावस्यापवादो रेफः स्यात् ।

जराया वाऽसङ् ॥५१११६०॥ जराया अचि परतो वा असङ्गादेशो भवति । जरसौ । जरे । जरसः । जरसम् । जरसा । जरसा । आमि परत्वानुङोऽसङ् । जरसाम् । जराणाम् । नुमः परत्वादसङ् । अतिजरसि तपांसीति । प्रादेशे “एकदेशविकृतमन्यवद्” [प०] इति । अतिजरसं कुलं पश्येत्यात्राम् विभक्तौमपेक्ष्यासङ् । अनकारान्तो जातः । स तस्येपो निमित्तं न भवति सन्निपातलक्षणत्वात् । अतिजरं तिष्ठति । अतिजरैरित्यत्र सन्निपातलक्षणवाम्भावैस्मावौ । तेन नाऽसङ् । अनित्यैषा परिभाषेति केचित्तेन अतिजरसं तिष्ठति । अतिजरसैरिति ।

त्यदादेरः ॥५१११६१॥ अचीति निवृत्तम् । त्यदादीनामकारादेशो भवति विभक्त्याम् । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । एप्रः । एतौ । इमौ । इमे । अमू । अमी । द्वौ । द्वाम्याम् । त्यदादिषु स्त्रीत्वविवक्षायां “भाविनि भूतवदुपचारात्” इति स्वादिमपेक्ष्यात्वे कृते टाप् । तेन स्या सेत्यादिसिद्धम् । अत्वविधिं प्रति द्विपर्थनास्त्यदादयः । “भवतष्टण्डुलौ” [३१२१६१] इति निर्देशात् । तेन भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । गृह्माणेन त्यदादिना विभक्तौ विशेष्यते । तेनाप्रधानानामत्वं न भवति । अतितदः । प्राधान्ये तु शोभनः सः सुसः । अतिसः । परमसः । सञ्ज्ञाशब्दानां तु त्यदादित्वाभावः सर्वनामान्तर्गणत्वात्त्यदादेः ।

किमः कः ॥५१११६२॥ किमित्येतस्य क इत्ययमादेशो भवति विभक्त्यां परतः । कः । कौ । के । किमोऽकार एवानुवर्त्यः । पूर्वेण मकारस्यानेन “अनन्यविकारेऽन्यसदेशस्य” [प०] इतीकारस्यात्वे पररूपत्वे च कृते सिद्धमिति चेत् ; न, पूर्वेण सत्यपि मकारस्यात्वसम्भवे इकारस्यात्वं बाधकमेव स्यात् । तत्क्रदानमिव दधिदानस्य । किञ्च कुत्साद्यर्थे सकेऽपि यथा स्यादिति कादेशः । विभक्त्यामित्येव । किं राजा यो न रक्षति ।

कुक्कौ तयोः ॥५१११६३॥ किमः कु क इत्येतावादेशौ भवतस्तकारादावकारे च परतः । कुतः । क । “कुतसोः” इति सूत्रे सिकरणसामर्थ्यात्पदसञ्ज्ञया भसञ्ज्ञाकार्ये उल्लेखे बाधिते यणादेशेन सिद्धे करूपे साको यथा स्वादित्येवमर्थः कादेशः ।

तोः सः सावनन्त्ये ॥५१११६४॥ त्यदादीनां तवर्गस्यानन्त्ये सकारादेशो भवति सौ परतः । स्यः । सः एपः । अनन्त्य इति किम् ? यः । सः । त्यदाद्यत्वस्येदमादयोऽवकाशाः । सत्वस्यानन्त्यस्तवर्गः । परत्वाद् दस्य सत्त्वं स्यात् । ननु सत्त्वेऽपि यत्वे सिध्यति । नैवम् “अनिनस्मिन्ग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणात्” [प० ४।४।१२] इति दीर्घं स्यात् । इह च स पुरुष इति हलि मुखे दोषः स्यात् । सा इत्यत्र “अतः” [३।१।४] इति टाग्न स्यात् । तस्माद-
नन्त्य इत्युच्यते । अनेप इत्यत्र नकारस्य कस्मान्न भवति ? “नजोऽन्” [४।३।१८] इति नकारस्य त्यदादिग्रहा-
णेनाग्रहणात् । भवानित्यत्र “स्फान्तस्य खम्” [५।३।४१] इति तत्त्वस्यासिद्धत्वात्तत्कारस्य प्राप्नोति । यद्येवं परस्त्वस्याप्यसिद्धत्वात्तत्कारो नास्ति । ततोऽन्तरङ्गत्वादनुस्वार एव स्यात् ।

असौ ॥५१११६५॥ असाविति निपात्यते । अदसः सकारस्यौत्वं सौ सुखम् । अन्ववाधनार्थम् । “तोः” [५।१।१६४] इति दस्य च सत्वम् । असौ । हे असौ । स्त्रीपुंसयोऽपिदम् । सावित्येव । अदः कुलम् । अदसः परस्य सोरौत्वमेव निपात्यमिति चेत्, न, कुलाद्यर्थविवक्षायां किं त्यदाद्यत्वे टापि कृते “त्यस्ये क्वापीदतः” [५।२।५०] इति इत्वं स्यात् । तेन अत्तकौ स्त्रीति न सिध्येत् । सकारस्य त्वौत्वे टाग्न्यास्तीति न दोषः ।

इदमो मः ॥५१११६६॥ इदमित्येतस्य मकारादेशो भवति विभक्त्यां परतः । साविति निवृत्तम् । उत्तरत्र साविति निर्देशात् । इमौ । इमे । इमे । इमाः । इमे । इमानि ।

दः ॥५१११६७॥

यः सौ ॥५१११६८॥ इदमो दस्य यकारादेशो भवति सौ परतः । उत्तरत्र पुंसीति निर्देशात् स्त्रियामयं विधिः । इयं स्त्री । नपुंसके मुखे नास्ति ।

पुंसोदोऽय् ॥५१११६९॥ इदम इद्रूपस्य अयादेशो भवति सौ परतः पुंस्यभिधेये । अयम् । परमायम् । “पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं पश्चादेकादेशः” । “नेन्द्रस्य” [५।२।२७] इति ज्ञापकात् ।

अनाप्यकः ॥५१११७०॥ इदम इद्रूपस्याककारस्यान इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्त्यां परतः । अनेन । परमानेन । अनयोः । अक इति किम् ? इमकेन । इमकयोः । आविति प्रत्याहारः टादिरासुपः पकारेण ।

हलि खम् ॥५१११७१॥ हलादावापि परतः अककारस्येदम इद्रूपस्य खं भवति । आभ्याम् । एभिः । एभ्यः । एषु । अक इत्येव । इमकेभ्यः । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] कस्मान्न भवति । “नानर्थकेऽन्तेऽलो विधिः” [प०] । अथवा अर्थवशाद्विभक्त्योपरिणाम इति पूर्वेण सिद्धस्यानोऽन्तेऽल इति नखम् ।

इत्यभयनन्दिर्विरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

मृजेरेप् ॥५१२।१॥ गोरित्येतदेवानुवर्तते । मृजेरिक ऐब्भवति । मार्षा । मृजेरितीगु निर्देशः “धोः स्वरूप-
ग्रहणात्तत्त्वविज्ञानम्” [प०] औणहृत्येति तत्त्वनिपातनाज्ज्ञायते । अन्यथा “हन्स्तो जिह्वलोः” [५।२।३६] इत्येव तत्त्वं स्यात् । धोर्विहिते त्ये ऐब्भवति । न मृदस्ये तेन कंसपरिमृडभिरिति । ननु “किञ्चि” [१।१।१६] इति प्रतिषेधः सिद्धो नैवम् । क्लिप्तिमित्योरेवैपोः स प्रतिषेधः ।

किञ्चित्वा ॥५१२।२॥ मृजेरजादौ किञ्चि वा ऐब्भवति । परिमृजन्ति । परिमार्जन्ति । परिमृज-
जतुः । परिममार्जतुः । किञ्चितीति किम् ? परिमार्जनम् । अचीति किम् ? मृष्टः । के तसि वा द्रष्टव्यम् ।

१. प्रतिषु सूत्रस्यास्य वृत्तिस्फुटिता ।

जिणित्यञ्च ॥५१२३॥ ञिति णिति च परतोऽजन्तस्य गौरैश्च भवति । प्राकारः । अच्चायः । “अध्या-
यानुवाकयोर्वोष्” [४।१।६४] इति निपातनाद्यञ् । वारको हारकः । नावकः । लावकः । सखायौ । सखायः ।
अनर्थकमिदम् । एपिरक्षत्वे अयवौश्च कृतयोः “उडोऽतः” [५।२।४] इत्येपा सिद्धम् । मैवं शक्यम् । “गुकार्ये
निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [५०] इति असि च सख्युरेव विहितः गौर्जैत्रमित्यत्र चावयादेशाभावादैनं सिद्ध्येत् ।
अज्जहणमनिगर्थं गौरिति । णित्करणं तु गावौ गावः इत्यत्रावादेशे सति “उडोऽतः” [५।२।४] इत्येपि चरि-
तार्थं स्यात् ।

उडोऽतः ॥५१२४॥ गोरकारस्य उडः ऐच् भवति ञिति परतः । पाकः । पाटः । पाचकः । पावकः ।
पाचयति । उड इति किम् ? पिपठिपकः । पकाराकारस्य मा भूत् ! अन्त्यस्य पूर्वेण प्राप्नोति । नैवम् । पूर्ववि-
प्रतिषेधेनातः खं भवति । अतः इति किम् ? भेदकः । तपरकरणं मुखसुखार्थम् ।

हृत्यचामादेः ॥५१२५॥ अच् इत्यनुवर्तते । हृति ञिति परतः अचामादेरच् ऐच् भवति । आश्च-
ग्रीविः । त्रैष्टुषिः । सौलोचनः । सौतारः । “नदीमानुर्या” [३।१।१०२] इत्यादिनाम् । अचामिति किम् ? हला
मविवक्षार्थमन्यथा अजादीनामेव स्यात् । अजन्तलक्षणस्थोऽल्लक्षणस्य चैपः परत्वादादेरैप । त्वाद्- । जागतः ।
“तस्येदम्” [३।३।८८] इत्यण् । “सकृद्गते परनिर्णये बाधितः एव” [५०] पुनः प्रसङ्गविज्ञानपक्षेऽपि न
दोषः । अनुशक्तिकादिषु पुष्करसच्छब्दपाठात् पौष्करसादिः । बाह्यादेरिच् [३।१।८५] । अन्यथा तत्रोभयोः
पदयोरैवार्थपाठोऽनर्थकः स्यात् ।

देविकार्शिशापादीर्घसत्रश्रेयसामाः ॥५१२६॥ देविकादिभिराद्यचो विशेषणात् केवलानां तदादीनां
च ग्रहणम् । देविकायां भवं दाविकमुदकम् । आद्यज्विशेषणादे विक्कले भवा दाविकूलाः शालयः । शिशापाया
विकारः शांशापं भस्म । शिशापास्थले भवं शांशापास्थलम् । दीर्घसत्रे भवं दार्घसत्रम् । श्रेयोऽधिकृत्य कृतो ग्रन्थः
श्रेयसि भवो वा श्रायसः स्याद्वाद् । देविकादीनामादेरच् इति किम् ? सुदेविकायां भवा सौदेविकाः । पूर्वदेविकायां
भवः पूर्वदाविकः । पूर्वशांशपः । प्राचां ग्रामौ । “प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति योरैप्सङ्गे अनेनाकारः ।

केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरिय् ॥५१२७॥ केकय मित्रयु प्रलय इत्येतेषां यकारादेरियादेशो
भवति हृति ञिति परतः । केकयस्यापत्यम् । “राष्ट्रशब्दाद्वाजोऽञ्” [३।१।१५०] । आदेरैप् । कैकेयः ।
मित्रयोर्भावः “बृद्धचरणाद्धलाघात्याकारावेते” [३।४।९२४] इति बुञ् । लौकिकं तत्र वृद्धं गृह्यते । मैत्रेयक-
माशलायते । प्रलयादागतं प्रालेयम् ।

पदे य्वोरैयौच् ॥५१२८॥ पदे परतः अचामादेरच् स्थाने कृतौ यौ यकारवकारौ तयोरैयौच्
इत्येतावादेशौ भवतः हृति ञिति परतः । व्याकरणां वेत्यधीते वा वैयाकरणः । एवं नैयायिकः “क्रंतुव्यादि-
सूत्रान्तादृण्” [३।२।५२] इति ठण् । शोभना अश्वा अस्येति स्वश्वः । तस्यापत्यं सौवश्वः । आदरैप् ।
परत्वादौयौवो भवतः । अर्हता प्रोक्तमर्हंतं तत्त्वम् । पद इति किम् ? इणः शतरि यत् । यतः छात्रा याताः ।
अन्त्यचामादेरच् स्थाने “यरोत्थोः [४।४।७७] इति यकारो न तु पदे परतः । योरिति किम् ? आश्विः ।
अचामादेरच् इति किम् ? अभ्यञ्जनेन चरति आम्यञ्जनिकः । दाध्यश्वः । इह कस्मान्न भवति द्वे
अशीती भूतो भावी वा द्वयाशीतिकः ? यत्रैवादेश्च ऐप्प्रातिस्तत्रायं विधिः । अत्र च “संखायाः संख्या-
संवत्सरस्य” [५।२।२०] इति योः प्रातिर्न द्विशब्दस्य । योरैपोऽप्ययमपवादः । पूर्वयलिन्दे जातः पूर्वत्रैयलिन्दः ।
“प्राचां ग्रामाणाम्” [५।२।१६] इति प्रातिः ।

द्वारादेः ॥५१२९॥ द्वार इत्येवमादीनां च य्वोरैयौविलेतावादेशा भवतः ञिति हृति परतः । द्वारे
नियुक्तः द्वौवारिकः । नायं पदेऽच् स्थाने वकारः इति पूर्वेणाप्रातिः । अत्र द्वारादिभिर्नोर्विशेषात्तादादि-

ग्रहणम् । द्वास्पात्या अपत्यं दौवारपालिकः । “रेवत्यादेष्ट्य” [३।१।१३४] इति ठण् । स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः । तदादेशेऽपि । स्वराध्याये भवः सौवराध्यायः । व्यत्कस्ते भवः वैयत्कसः । स्वस्तीत्याह सौवस्तिकः । तदाहेत्यस्मिन्नर्थे ठणुक्तः । स्वर्मवं सौवम् । “क्लैर्ममात्रे टिखम्” [वा०] इति टिखम् । स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिकः । स्वः अध्याय स्वाध्यायः । स्वाध्यायेन चरति सौवाध्यायिकः । अचामादेस्तिव्यनुवर्तनादाद्यचः समीपस्य यण एयौवादेशौ स्वशब्दस्यैव । तदादिविधिना सिद्धमिति चेत्, न “स्वशब्देन तदादिविधिरनित्यः” इतीदमेव ज्ञापकम् । तेन स्वपतौ साधु स्वापतेयमिति । स्म्यकृतस्यापत्यं स्फैयकृतः । “कुर्वृष्यन्धकवृष्येः” [३।१।१०३] इत्यण् । स्वादुष्यस्येदं सौवादुष्यम् । शुनो विकारः शौवः सङ्कोचः “श्वाश्मचर्मणां संकोचविकार-कोशेषु” [४।४।१३२] इति टिखम् । शुनो दंष्ट्रा श्वादंष्ट्रा । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । तत्र भवः शौवादग्नौ मणिः । तथा शौवाहननम् । स्वस्येदं सौवम् । तदादेः स्वग्रामे भवः सौवग्रामिकः । अध्यात्मादिस्वाहणम् ।

न्यग्रोधस्य केवलस्य ॥५।२।१०॥ न्यग्रोधस्य केवलस्य यो यकारस्तस्य ऐयित्ययमादेशो भवति हृति ञिति परतः । न्यग्रोधस्यायं नैयग्रोधो द्रष्टव्यः । केवलस्येति किम् ? न्यग्रोधा अस्मिन्देसो सन्ति “बुब्बुखुठ” [३।२।६१] इत्यादि पाठात्कः । टाप् “त्यस्ये क्वापी” [५।२।५०] इत्यादिनेत्वम् । न्यग्रोधिकायां भवः न्यग्रोधिकः । अत्र “भस्य ह्व्यडे” [वा०] इति पुंवद्भावः प्रातः । “न वुह्वकोडः” [४।३।१४६] इति प्रतिषेधः । तथा न्यग्रोधमूले भवं न्यग्रोधमूलं तृणम् । ऐवेव भवति । ननु न्यग्रोधस्योच्यमानं कथमन्याधिकस्य स्यात् ? तदन्तविधिना । यद्येवं नार्थः केवलग्रहणेन न्यग्रोधस्य प्राधान्येनाश्रयणात्तदन्तविध्यभावः । एवं तर्हि तदादिनिवृत्त्यर्थं केवलग्रहणम् । अन्यत्रेह तदादिविधिस्तीति ज्ञायते । न्यग्रोधतीति व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । केवलस्यैव । अव्युत्पत्तिपक्षे विव्यर्थं सूत्रम् ।

न जे ॥५।२।११॥ जे जायै कर्मव्यतिहारे ञिति हृति यदुक्तं तत्र भवति । व्यात्युक्षी । व्याक्रोशी । व्यापचोरी वर्तते । “कर्मव्यतिहारे जः” [२।३।७६] इति जः । “जात् स्त्रियाम्” [४।२।२२] इत्यण् । तस्मिन् प्रतिषेधः ।

स्वागतदेः ॥५।२।१२॥ स्वागतादेशश्च यदुक्तं तत्र भवति । स्वागतेन चरति स्वागतिकः । स्वध्वरस्यापत्यं स्वाधरिः । स्वङ्गः स्वाङ्गिः । व्यङ्गः व्याङ्गिः । व्यङ्गः व्याङ्गिः । व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः । व्यवहारशब्दो न कर्मव्यतिहार एव वर्तते किन्तर्हि लोकवृत्तेऽपि । ततः पाठः । स्वपतौ साधु स्वापतेयम् ।

श्वादेशरावतः ॥५।२।१३॥ श्वादेशेर्गौरिकादौ यदुक्तं तत्र भवति । अतश्च य उत्पद्यते तस्मिंश्च । चकारमन्त्रेणापि समुच्चयो गम्यते । यथा पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति । श्वाभस्त्रिः । श्वादंष्ट्रिः । श्वाकर्णिः । श्वाशीर्षिः । श्वागणिकः । श्वेव भस्त्रास्य, शुन इव दंष्ट्राऽस्य, शुन इव कर्णावस्य, शुन इव शिरोऽस्य । स्वशिरसोऽपत्यं बाह्यादिपाठादिज् । अजादौ हृति शिरसः शीर्षदेश उपसङ्ख्यानेन । इकारदीत्वं व्यपदेशिवद्भावेन । अतो य उत्पद्यते तत्रापि प्रतिषेधः । श्वाभस्त्रेरिदं श्वाभस्त्रम् । श्वाकर्णम् । “इजः” [३।१।८६] इत्यण् । श्वन्शब्दो द्वारादिविषु पठ्यते । तस्य तदादिविधिः अस्तीति इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् । श्वादेरिति किम् ? श्वमिश्चरति शौविकः । केवलस्य न प्रतिषेधः “नोऽणुसो हृति” [४।४।१३०] इति टिखम् । आवत इति किम् ? श्वाभस्त्रस्येदं शौवाभस्त्रम् । शौवादंष्ट्रो मणिः ।

वा पदान्तस्य ॥५।२।१४॥ श्वादेशोः पदशब्दान्तस्य यदुक्तं तत्र भवति वा । किमुक्तम् ? द्वारादौ श्वशब्दस्य तदादिविधिना औदुक्तः । श्वापदानां समूहः श्वापदम् । शौवापदम् । शुन इव पदमस्य श्वापदः । “अन्यस्यापि” [४।३।२३२] इति दीत्वम् । इकारादौ पूर्वनिर्णयेन नित्यः प्रतिषेधः । श्वापदेन चरति श्वापदिकः । अन्तग्रहणं न कर्तव्यम् । “येनास्ति विधिस्तदन्ताद्योः” [१।१।६७] इति स्वयमेव पदान्तस्य श्वादेरित्यनु-

वर्तमानाच्च नान्यस्य कस्यचिद् भविष्यति । एवं तर्ह्यन्तग्रहणं ज्ञापकमनित्यस्तदन्तविधिः । तेन “स-न्य-विधौ न तदन्तविधिः” [५०] इति न वक्तव्यम् ।

द्योः ॥५१२।१५॥ द्योरित्ययमधिकारो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः द्योरित्येवं तद् वेदितव्यम् । “हनस्तोऽजिगल्लोः” [५१२।१६] इत्यतः प्राग्वक्ष्यति । “प्रोष्ठपदानां जाते” [५१२।२३] प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादो माणवकः । द्योरैप् । पूर्वपदस्य तेन न भवति । “येन नाप्राप्ते तस्य तद्वाचनम्” [५०] इति न्यायात् । ननु “ईष्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१११।६०] इति न्यायेन “अवयवाद्गतोः” [५१२।१६] इत्यादौ कानिदंशाद् द्योरेव भविष्यति नार्थोऽनेन ? “प्रोष्ठपदानां जाते” इत्यादौ कानिदेशो नास्ति तदर्थं वचनम् । अन्यथा प्रोष्ठपदादौ नियमो न शक्येत ।

अवयवाद्गतोः ॥५१२।१६॥ अवयवाचिनः शब्दादुत्तरस्य ऋतोर्द्यौरचामादेरच ऐवभवति । पूर्व-
वार्पिकः । अपरवार्पिकः । पूर्वासु वर्षासु जातः । हृदर्थविवक्षायां “हृदर्थद्युसमाहारे” [११३।४६] इति पसः । “कालाट्ठञ्” [३१२।१३१] इति ठञ् । ननु कालाट्ठञुक्तः । “स-न्य-विधौ न तदन्तविधिः” [५०] । कथं कालान्तात् ? नैव दोषः । “ऋतोर्जिद्विधवावयवात्” इति तदन्तविधिरुपसङ्ख्ययातः । एवं पूर्वहैमनः । अपरहैमनः । “भसन्ध्या” [३१२।१३७] इत्यादिनाण् । “हैमन्तात्तखम्” [३११।१३८] इति तन्त्रम् । अवयवादिति किम् ? पूर्वास्वतीतासु वर्षासु जातः पौर्ववर्षः । आपरवर्षः । “प्राग्दोरण्” [३११।६८] । पूर्वशब्दोऽत्र कालवाची नावयवाची । अत एवावयवलक्षणतदन्तविध्यभावात् “कालाट्ठञ्” [३१२।१३१] नेष्यते ।

सुसर्वाद्धाद्राष्टस्य ॥५१२।१७॥ सु सर्वं अर्द्धं इत्येवं पूर्वस्य राष्ट्रवाचिनः शब्दस्य द्योरचामादेरच ऐव भवति । सुपाञ्चालकः । सर्वपाञ्चालकः । अर्द्धपाञ्चालकः । शोभनाः पाञ्चालाः । प्रादिलक्षणः पसः । सर्वे पाञ्चालाः । “पूर्वकाल” [११३।४४] इत्यादिना यसः । अर्द्धपाञ्चाला इति । “विशेषणं विशेष्येणेति” [११३।५२] पसः । सुपाञ्चालेपु जातः “राष्ट्रावधोः” [३१२।१०२] “बहुव्देशोरपि” [३१२।१०३] इति वुञ् । कथं राष्ट्रद्वयमानस्तदन्ताद्वुञ् । “सुसर्वाद्धाद्रिदिशब्दभ्यो जनपदस्य” इति तदन्तविधिरुपसङ्ख्ययातः । एवं सुमागधकः । सर्वमागधकः । अर्द्धमागधकः ।

दिशोऽमद्राणाम् ॥५१२।१८॥ राष्ट्रस्येत्यनुवर्तते । दिक्शब्दादुत्तरस्य राष्ट्रस्य मद्रवर्जितस्य द्योरचामादेरच ऐव भवति । पूर्वपाञ्चालकः । अपरपाञ्चालकः । दक्षिणमागधकः । उत्तरमागधकः । पूर्वेषु पाञ्चालेषु जातः । हृदर्थे षसः । पूर्वोक्तेन तदन्तविधिना वुञ् । अमद्राणामिति किम् ? पौर्वमद्रः । “मद्रभ्योऽण्” [३१२।८५] । दिश इति किम् ? पूर्वेष्ववयवभूतेषु पाञ्चालेषु भवः । अणि । पौर्वपाञ्चालः । दिशि यः पूर्वशब्दो वर्तते स दिक्शब्दोऽभिप्रेतो नावयवे वर्तमानः । अत एव तदन्तविध्यभावाद्वुञ् नास्ति । योगविभाग उत्तरार्थः ।

प्राचां ग्रामाणाम् ॥५१२।१९॥ दिश इत्यनुवर्तते । दिक्शब्दादुत्तरे प्राचां देशे ग्रामाणामचामादेरच ऐवभवति । राष्ट्रस्येत्यनुवर्तनात् प्राचामित्याचार्यग्रहणं नाशङ्क्यम् । यदि पूर्वोत्तरपदसमुदायो ग्रामनामधेयस्तदा ग्रामवाचिनो गोरवयवस्य दिक्शब्दात् परस्य ऐवभवतीत्यभिसम्बन्धः । इतरत्र तु दिश उत्तरेषां ग्रामाणामिति । पूर्वा चासौ इषुकामशमी च “द्विसङ्ख्यं खौ” [११३।४५] इति पसः । पूर्वेषुकामशम्यां जातः । अणि । पूर्वेषुकामशमः । अपरैषुकामशमः । “नेन्द्रस्य” [५१२।२७] इति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् । प्राक्पूर्वोत्तरपदयो-
रैवादिकार्यं पश्चादिकोदेश इति । एवं पूर्वा चासौ कृष्णमृत्तिका च पूर्वकार्णामृत्तिकः । असञ्ज्ञापत्वे पूर्वस्यामिषु-
कामशम्यां जातः । “हृदर्थ” [११३।४६] इति षसः । “दिगादेरखौ” [३१२।८४] इति रुः । शेषं पूर्ववत् । “अत्र ग्रामग्रहणे नगरस्यापि ग्रहणम्” [वा०] । यथा लोके-अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुट इति नागरोऽपि न भक्ष्यते । सञ्ज्ञापत्वे पूर्वं च तत्पाटलिपुत्रं च । अन्यत्र पूर्वस्मिन् पाटलिपुत्रे जात इति “रोहीतो प्राचायम्” [३१२।१०१]

इति वुञ् । पूर्वपाटलिपुत्रकः । अपरपाटलिपुत्रकः । पूर्वकन्याकुब्जायां पूर्वस्यां कन्याकुब्जायां वा जातः अणि णे च कृते पूर्वकान्यकुब्जः । ननु चैकमेव पाटलिपुत्रम् । पाटलिपुत्रान्तरस्य व्यवच्छेदस्याभावाद् कथं पूर्वशब्देन विशेष्यते ? पाटलिपुत्रैकदेशे पाटलिपुत्रशब्दो वर्तते इत्यदोषः ।

सङ्ख्यायाः सङ्ख्यासंवत्सरस्य ॥११२०॥ सङ्ख्यायाः परस्य सङ्ख्याशब्दस्य संवत्सरस्य च द्योश्चामादेरच ऐब्भवति ङिति हृति परतः । दिनावतिकम् । त्रिनावतिकम् । द्वाभ्यां नवतिभ्यां क्रीतम् । हृदर्थं रसः । “आर्हाट्टण” [१११७] । तस्य “रादुबखौ” [१११२६] इत्युप् । दिनवतिना द्रव्येण क्रीतं पुनष्टण । अथवा द्वौ च नवतिश्च । “वा चत्वारिंशदादौ” [१११६०] इत्यन्तात् । “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य” [५०] इति नैकवद्भावेऽपि नपुंसकत्वम् । “द्वन्द्वे युवलिङ्गम्” [१११०२] दिनवत्या क्रीतम् । एवं द्वे षष्ठी भूतो भावी वा द्विपाठिकः । द्विषष्ठ्यादिशब्दो वर्षेण सङ्ख्येयेषु वर्तमानः कालवाची । तेन कालाधिकारविहितश्च । द्वौ संवत्सरो भूतो भावी वा द्विसंवत्सरिकः । त्रिसंवत्सरिकः । संवत्सरग्रहणं निरर्थकम् । “परिमाणस्याखुशाणे” [५१२२] इत्येव सिद्धम् । तत्र अशाण इति प्रतिषेधात् परिच्छेदमात्रं गृह्यते नारोहपरिणाहलक्षणम् । तेन द्विवैतस्तिकम्, त्रिवैतस्तिकमिति सिद्धम् । एवं तर्हि संवत्सरग्रहणं ज्ञापकम् । “परिमाणग्रहणेन कालपरिमाणं गृह्यते” । तेन द्वे समे अधीष्टो द्वैसमिकः । द्यौर्येन भवति तथा दिवर्षे माणविका । “परिमाणादुष्टुपि” [११२६] “रात्” [११२५] इति डीर्नं भवति । द्वे वर्षे भूता प्राग्वत्पठ्यः “वर्षादुष्टु च” [१११८५] “प्राणिन्युप्” [१११८६] ।

वर्षस्याभाविति ॥११२१॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य वर्षशब्दस्य अचामोदश्च ऐब्भवति हृति ङिति परतः यद्यभावित्यर्थे हृत्तदैव स्यात् । द्वे वर्षे भूतं द्विवर्षिकम् । अभाविनीति किम् ? त्रीणि वर्षाणि भावि त्रैवर्षिकं धान्यम् । ननु द्वे वर्षे अधीष्टो भूतो वा कर्म करिष्यति द्विवर्षिको मनुष्य इति भाविता गम्यते कथं न प्रतिषेधः ? नैवम् ; करिष्यतीति प्रयोगे भाविता गम्यते न तु हृदर्थं भावी । ननु मनुष्याभिधाने “प्राणिन्युप्” [१११८६] इति ठण उप् कस्मान्न भवति । भूतविषये सोऽभ्युपगम्यते नाधीष्टादौ । ततो “वर्षादुष्टु च” [१११८५] इति विकल्प उच्यते भवति ।

परिमाणस्याखुशाणे ॥११२२॥ सङ्ख्याया इति वर्तते । सङ्ख्यायाः परस्य परिमाणस्य समुदायेनाखौ गम्यनानायामशाणे च द्योश्चामादेरच ऐब् भवति । अखुशाण इति विषयलक्षणेयमीप् । द्विसौवर्णिकम् । द्वाभ्यां सुवर्णभ्यां क्रीतम् । आर्हाट्टणः “कार्षापणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा” [१११७] इति वानुप् । एवं द्विनैष्ठिकम् । त्रिनैष्ठिकम् । बहुनैष्ठिकम् । “द्वित्रिवहोर्निष्कविस्तात्” [१११८] इति वोप् । द्विकोडविकम् । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीतम् । “रादुबखौ” [१११२६] इत्युप् । द्विकुडवेन द्रव्येण क्रीतं पुनष्टण । अखुशाण इति किम् ? पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चलौहितिकम्, लोहिनीशब्दस्य “वा ठण् छसोः” [ठक् छसोश्च] [वा०] इति पुंवद्भावे रूपम् । पाञ्चकालापिकम् । “परिमाणात्सङ्ख्यायाः सङ्ख्यसूत्राध्ययने” [१११५६] इति ठणः “रादुबखौ” [१११२६] इति नोप् । द्वैशाणम् । त्रैशाणम् । “द्वित्रिभ्यामण्” [१११३४] इत्यण् । “कुलि- जस्यापि प्रतिषेधो वक्तव्यः” [वा०] । द्विकुलिजे प्रयोजनमस्य द्वैकुलिजिकम् ।

प्रौष्ठपदानां जते ॥११२३॥ योरिति वर्तते । प्रौष्ठपदानां द्योश्चामादेरच ऐब् भवति जातार्थे हृति ङिति परतः । प्रौष्ठपदाभिर्युक्तः कालः । “भाद्युक्तः कालः” [१११४] इत्यण् । तस्य “उसभेदे” [१११५] इत्युप् । उसि युक्तवल्लिङ्गसङ्ख्यातिदेशः । प्रौष्ठपदासु जातः । अण् । तस्य “भेभ्यो बहुलम्” [१११३] इति बहुलवचनादिहानुप् । प्रौष्ठपादो माणवकः । जात इति किम् ? प्रौष्ठपदासु भवः प्रौष्ठपदो मेघः ।

हृत्सिन्धुभगे द्वयोः ॥११२४॥ हृत्सिन्धु भग इत्येषु लुप् द्वयोः पदयोश्चामादेरच ऐब्भवति । सुहृदस्येदं सौहार्दम् । “हृदस्य हृत्सिन्धुयत्नासेषु” [१११६१] इति हृद्भावः । अथवा “सुहृदुर्हृदौ मित्रा-

मित्रयोः” [४।२।१५०] इत्यनयोर्ग्रहणम् । महासिन्धौ भवः माहासैन्धवः । “कच्छादेः” [३।२।१११] इत्यण् । सिन्धुशब्दस्य तत्र तदन्तविधिरपि । सौभाग्यम् । दौर्भाग्यम् । सुभगाया अपत्यं दृणि “कल्याण्यादीनामिनङ्” [३।१।११५] सौभागिनेयः ।

अनुशक्तिकादेः ॥५।२।२५॥ अनुशक्ति इत्येवमादीनां शब्दानां द्वयोः पदयोरचामादेरच् ऐच् भवति । अनुशक्तिकस्येदम् आनुशक्तिकम् । आनुशातकिः । अनुहोड-आनुहौडिः । अनुसंवरण-आनुसांवरणिः । अगारवेणोरिदम् आगारवैणवम् । असिहत्यायां भवम् आसिहात्यम् । अस्यहत्य इति केषाञ्चित् पाठः । अस्य-हत्यशब्दोऽस्मिन्नस्ति आस्यहात्यम् । “विमुक्तादिभ्योऽण्” [४।१।६५] अस्यहेतीति पाठान्तरम् । अस्यहेतिः प्रयोजनमस्य आस्यहैतिकम् । अव्ययः । आध्यायिः । वध्योगस्यापत्यं वाध्योगः । “विदादिभ्योऽनुवृत्त्यनन्तर्येऽण्” [३।१।६३] । पुष्करसद्-पौष्करसादिः । अनुबाहुः-सान्वबाहुः । सान्वबाह्विः । “बाह्वादेरिञ्” [३।१।८५] । कुरुक्त्-कौरुकात्यः । “गर्गादेर्यञ्” [३।१।६४] । कुरुपञ्चालेषु भवः कौरुपञ्चालः । “प्राग्द्वोरण्” [३।१।६८] । राष्ट्रसमुदायो राष्ट्रग्रहणेन न गृह्यते । तेन “राष्ट्रावध्योः” [३।२।१०२] इति वुञ् नास्ति । उदकशुद्ध-औदक-शौद्धिः । इहलाक-ऐहलौकिकः । पारलौकिकः । प्रयोजनार्थं वुञ् । सर्वलोकः-सर्वस्मिन् लोके विदितः सार्वलौकिकः । “लोकात्” [३।४।४४] “सर्वात्” [३।४।४५] इति ठण् । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । “सर्वभूमिपृथिवी-भ्यामण्” [३।४।४१] । सर्वपौरुषम् । तस्येदमर्थे प्रायोगिकम् । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । भवार्थं अध्या-त्मादित्वाट्ठण् । परस्त्री-पारस्त्रैख्येयः । ठणि “कल्याण्यादीनामिनङ्” [३।१।११५] । सूत्रनट-सौत्रनाटिः । अभिगममर्हति अभिगामिकः । राजपुरुषात्किञ् । राजपुरुषायणिः ।

देवताद्वन्द्वे ॥५।२।२६॥ देवताद्वन्द्वे च द्वयोः पदयोरचामादेरच् ऐच् भवति । आग्निवारुणम् । अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्य । ऐन्विषये “ऐपीत्” [४।१।१४१] इत्यग्नेरित्वम् । एवम् आग्निमास्तम् । अभिधानवशादानङ् विषयेऽयं विधिरन्यत्र न भवति । स्कान्दविशालः । ब्राह्मप्रजापत्यः । तस्येदमर्थे अण् । “दिति” [३।१।७०] आदिना एयश्च ।

नेन्द्रस्य ॥५।२।२७॥ योरिति वर्तते । इन्द्रस्य द्यौरैन भवति । आग्नेन्द्रः । “देवताद्वन्द्वे” [५।२।२६] इति पूर्वपदस्यानङ् । इन्द्रस्य द्योरैकादेशे कृते “यस्य ड्यां च” [४।१।१३६] इत्यस्ते च आग्नेन्द्रो नाशात्कथमैषः प्राप्तिः । इदमेव ज्ञापकम् “पूर्वोत्तरपदयोः कार्यमन्तरङ्गमप्येकादेशं बाधते” । तेन पूर्वपुका-शमादयः सिद्धाः भवन्ति । द्योरिति किम् ? ऐन्द्राग्नः । “अजाद्यत्” [१।३।१६६] इत्यत्रेन्द्रस्य वा पूर्वनिपात इष्यते ।

द्यो वरुणस्य ॥५।२।२८॥ द्यन्तात्परस्य वरुणशब्दस्यैव न भवति । ऐन्द्रावरुणः । द्य इति किम् ? आग्निवारुणः । मैत्रावरुणः । ऐन्विषये “ऐपीत्” [४।१।१४१] इत्यग्नेरित्वम् पश्चाद्द्यौरैप ।

प्राचां नगरे ॥५।२।२९॥ प्राप्यभावान्नेति न सम्प्रथ्यते । द्वयोरिति वर्तते । अर्थवशाद्विभक्तीपरिणामः । प्राचां देशे नगरे द्यौर्द्वयोः पदयोरैव भवति । सुहानगरे भवः सौहानागरः । पौण्ड्रनागरः । वैराट्नागरः । दोरिति तत्रानुवर्तनाद्रोडन्तात् “प्राचाम्” [३।२।१०१] इति वुञ् भवति । प्राचामिति किम् ? मलनगरे भवो मालनगरः ।

जङ्गलधेनु वलजे ॥५।२।३०॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतेषु द्युषु पूर्वपदस्य अचामादेरच् ऐच् भवति । पूर्वपदस्येति कथं लभ्यत इति चेत् “वा द्योः” [५।२।३१] इत्युत्तरव वक्ष्यमाणत्वात् । कुरुजङ्गले भवः कौरु-जङ्गलः । वैश्वधेनवः । सौवर्णवलजः ।

वा घोः ॥५१२।३१॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतस्य घोरेचामादेरच ऐब्भवति वा । कौरु-
जाङ्गलः । कौरुजङ्गलः । वैश्वधैनवः । वैश्वधेनवः । सौवर्णवालजः । सौवर्णवलजः । पूर्वेण नित्ये
प्राप्ते विकल्पः ।

परिमाणस्याऽनतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य ॥५१२।३२॥ परिमाणस्यार्द्धादुत्तरस्य अनतः स्थाने ऐब् भवति
पूर्वपदस्य तु वा । अर्धद्वौणिकः । अर्द्धद्वौणिकः । आर्धकौडविकः । अर्द्धकौडविकः ।
“पूर्वपदस्य वा” इति वचनाद् शुविशेषणं वाग्रहणं नेहाभिसम्बध्यते । अनत इति किम् ? आर्द्धप्रस्थिकः । अर्द्ध-
प्रस्थिकः । अर्धचमसेन क्रीतम् आर्धचमसिकम् । अर्धचमसिकम् ।

प्रवाहणस्य ढे ढस्य ॥५१२।३३॥ प्रवाहणस्य ढे परतः घोरेब् भवति पूर्वपदस्य तु वा दान्तस्य
चान्वस्मिन् हृति ङिति परतः । प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः । “शुभ्रादेः” [३११।१२] इति टण् । दान्तस्य
प्रावाहणेयस्यापत्यं प्रावाहणेयिः । प्रवाहणेयिः । प्रवाहणेयस्येदम् । “वृद्धचरणञ्जित्” [३।३।६४] इति वुञ् ।
प्रावाहणेयकम् । घोरेपि सत्यसति च नास्ति विशेषः । पूर्वपदस्य विकल्पार्थः ।

नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलचपलनिपुणानाम् ॥५१२।३४॥ घोरेपूर्वस्य वेति वर्तते । नञः
परेपां शुचि ईश्वर क्षेत्रज्ञ कुशल चपल निपुण इत्येतेषामचामादेरच ऐब्भवति पूर्वपदस्य तु वा । न शुचिरशुचिः
अशुचेरिदम् अशौचमाशौचम् । अथवा नास्य शुचिरस्ति अशुचिः । अशुचेर्भावः “व्यादेरिकः” [३।४।१२१]
इत्यण् । “नञ्सेऽचतुरसङ्गत” [३।४।११५] इत्यत्र व्याख्यातम् । चतुरादिभ्यो नञ्स एव भावकर्मद्विविधः ।
अन्येभ्यस्तु नञ् स्यात्पूर्वमिति । न पठोर्भावः अपाठवम् । तेन नञ्सेभावाभिधायी त्यो नोक्तः । अनैश्वर्य-
मानैश्वर्यम् । अक्षौत्रज्ञ्यम् । अक्षौत्रज्ञ्यम् । ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ । अकुशलस्येदम् अकौशलमाकौशलम् ।
अचपलस्येदम् अचपलमाचपलम् । अनिपुणस्येदम् अनैपुणमानैपुणम् । यद्यपि कुशलचपलनिपुणशब्दा
ब्राह्मणादिषु युवादिषु च पठ्यन्ते तथापि तत्र तदन्तविधेरभावान्नञ्से ऋसे वा कृते ऋण्णावप्राप्तावाकृति-
गणत्वाद्द्रष्टव्यौ ।

यथातथयथापुरयोः क्रमेण ॥५१२।३५॥ यथातथ यथापुर इत्येतयोः नञ् उत्तरयोः क्रमेण द्वयोरेब्भ-
वति । अयथातथयथातथम् । अयथापुर्यमायथापुर्यम् । ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ । यथातथा यथापुरा
“सुप्तपा” [१।३।३] इति सविधिः । अयथातथाभावः अयथापुरा भावः इति विग्रहः । सौत्रत्वान्निर्देशस्येति प्राप्नोती
पठितौ । यदि वा “यावदथावधृत्यसादृश्ये” [१।३।६] इति हसे कृते पश्चान्नञ्से । नन्वेकत्र नञ्सात्पूर्वं त्यविधिः
अन्यत्र नञ्से । तेनोभयं सिद्धमतो व्यर्थमिदम् । न व्यर्थम् । नञ्सात्पूर्वं प्राप्नोतीत्युक्तम् ।

हनस्तोऽञ्जिलोः ॥५१२।३६॥ हृतीलि निवृत्तम् । अञ्जिलोरिति प्रतिषेधात् सामान्येन ङितितीति
वर्तते । हनस्तकारादेशो भवति ङिति परतः अञ्जिलोः । घातयति । घातकः । “अन्तेऽज्ञः” [१।१।४६]
इति नकारस्य तत्त्वम् । देशघाती । सर्वघाती । “सुपि शीलेऽजातौ णिन्” [२।२।६६] घातंघातम् । “णम् चा-
भीचय्ये” [२।४८] इति णम् । द्वित्वम् । घञि घातः । सर्वत्र “हो हन्तेऽणिञ्चि” [५।२।५६] इति कुत्वम् ।
अञ्जिलोरिति किम् ? अघानि । जघान । इह कस्मान् न भवति वृत्र हतवानिति वृत्रहा । तस्येदं वार्त्तध्वम् ।
“घादिहन्त्यतराञ्चोऽणि” [४।४।१२३] इत्यलम् । “घोः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानम्” [प०] इति घोरेब् भवति ।

आतो णल औः ॥५१२।३७॥ आकारान्ताद्गोरुत्तरस्य णल औकारादेशो भवति । पपौ । तस्थौ । पा
इत्येस्तामणलि परतः युगपत्त्रीणि कार्याणि प्राप्नुवन्ति द्वित्वमेकादेश औत्वं च । तत्रैकादेशादनवकाशत्वेन
परमौत्वम् । द्वित्वादिप परत्वादेप् । इदानीमपि कृते निमित्तनिमित्तनोर्विभागमावात् लिटि परतो द्वित्वनुच्य-
मानं न स्यात् । “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] इति स्थानिवद्भाविष्यति । ननु द्वित्वनिमित्ते अचि स्थानिवद्भाव उच्यते

चात्राचो निमित्तत्वं भेदाभावात् । एवं तर्हि “द्वित्वेऽचि” [१।१।५६] इति सूत्रे द्वित्व इति योगविभागादिह स्थानिवद्भावः ।

जिहृतोर्युक् ॥५॥२॥३८॥ आकारान्तस्य गोः जौ कृति ङिति च परतः युगागमो भवति । अदायि ।
अधायि । दायः । धायः । दायकः । धायकः । जिहृतोरिति किम् ? ययौ । बभौ । ववौ । जा देवता अस्य
अणि ङः ।

न सेटस्तासि मोऽवमिकमिचमः ॥१२॥३९॥ मान्वात्य गोः तासि सेटः जौ कृति जिति च यदुक्तं तन्न भवति । किञ्चोक्तम् ? ङिणीतीत्यनुवर्तनाद् “उङोस्तः” [५२।१४] इत्यैप् । अशमि । अतमि । अदमि । शमकः । दमकः । तमकः । शमः । तमः । दमः । विश्रमः । कथं सूर्यविश्रामभूमिः ? प्रमादप्रयोग एषः । तासि सेट इति किम् ? यामकः । रामकः । म इति किम् ? चारकः । पाठकः । अवमिकमिचम इति किम् ? वामः । कामः । आचामः । जिह्रुतोरेति किम् ? शशाम । तताम । कथमुद्यमः । उपरमः ? “अङ्ग उद्यमे” [धा०] “यम उपरमे” [धा०] इति निपातनात् ।

जनिवध्योः ॥५१॥४०॥ जनि वधि इत्येतयोश्च त्रिकृतोर्द्यदुक्तं तन्न भवति । अजनि । अवधि । जनकः । वधकः । जनः । वधः । वधिरिति प्रकृत्यन्तरं हलन्तमस्ति । तस्येदं ग्रहणम् । न हनादेशस्यादन्तत्वात् । तेन सिद्धम् । “भद्रकश्चेन्न विद्येत वधकोऽपि न विद्यते” ।

अतिह्रीव्लीरीक्न्यूीद्माम्यातां पुग्णावेप् ॥१।२।४१॥ गोखिति वर्तते । अति ह्री व्ली री क्न्यूी
द्मायी इत्येषामाकारान्तानां च गूनां गौ परतः पुग् भवति एप्च । अतिरिति तिपा निर्देशः ऋकारान्तिवृत्त्यर्थः ।
इयति ऋच्छति वा कश्चित् तं प्रयुङ्क्ते अर्पयति । ह्रेपयति । विजनातेव्लंपयति । रीयते रिणातेश्च रेपयति ।
निरनुक्त्वपरिभाषा नाश्रीयते । क्न्यूी क्नोपयति । “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यखम् । “न धु-
खेज्जे” [१।१।१८] इत्येप्प्रतिषेधः प्रानोति अगनिमित्ते खे स प्रतिषेधः । वर्णनिमित्तं चेदम् । द्मायी द्माप-
यति । आकारान्तानाम् । दापयति । धापयति । लक्षणेप्रतिपदोक्तपरिभाषेह नाश्रीयते । ग्लापयति । अघ्याप-
यति । “इक्स्तौ” [१।१।१७] इत्याश्रयणात् आतः एव न भवति । पुक्ः पूर्वान्तकरणं किम् ? दापयतेर्लुङि
अदीदपदित्यत्र “लौ कच्युङः” [५।२।१।५] प्रादेशार्थः ।

शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् ॥१२।४२॥ शा च्छा सा ह्वा व्या वे पा इत्येतेषां खौ परतः युगागमो भवति । निशाययति । अग्रच्छाययति । अग्रसाययति । संह्राययति । संवाययति । पाययति । शादीनां कृतात्वानां ग्रहणं लाक्षणिकस्यापि पूर्वेण एकमाख्यातुम् । कापयति । जापयति । वेज एकारान्तनिर्देश “अत्रैव शोषणे” [धा०] इत्यस्य निवृत्त्यर्थः । वातेरुन्विकरणादग्रहणम् : पाग्रहणे “पै अत्रैव शोषणे” [धा०] इत्यस्यापि ग्रहणम् । आकारान्तवर्गात् पृथक् पाटो लाक्षणिकत्यागार्थः इत्यन्ये । पातेर्लुङ् वदयति । युक् : पूर्वान्तत्वं निशायय-तेर्लुङि न्यशीशयदिति प्रादेशार्थम् ।

घो विधूनने जुक् ॥१२॥४३॥ वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे जुग्मवति शौ परतः । पक्षकेणोपवाजयति । “वज व्रज गतौ” [धा०] इत्यस्य अयन्तस्य किन्न रूपम् । नैवं वातेर्युक् स्यात् । विधूनन इति किम् ? आवापयति केशान् । “ओवै शोषणे” [धा०] इत्यस्येदं रूपम् । “धून्प्रीओरौं जुगिष्यते” इति विधूननवचनं ज्ञापकम् ।

पातेर्लुक् ॥५॥२४४॥ पातेर्लुगागमो भवति णौ परतः । पालयति शीलं गुरुः । तिपा निर्देशोऽनुत्वि-
करणनिवृत्त्यर्थः । यङुबन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ननु पाल रक्षण इति चौरादिकस्य रूपं भविष्यति । नात्रापि
यकस्यात् ।

लो वा स्नेहद्रवे ॥५१२।४५॥ ला इत्येतस्य शौ परतः वा लुगागमो भवति स्नेहद्रवेऽर्थे । घृतं विलाययति विलापयति । विलाययति । ला इति लिनातेः द्रवीकरणार्थस्य “विभाषा लियोः” [४।३।४४] इति कृतात्वस्य धूनामनेकार्थत्वात्लातेश्च स्नेहद्रवे वृत्तिरित्युभयोर्ग्रहणम् । स्नेहद्रव इति किम् ? अथो विलापयति । जटाभिरालापयते । लीयतेः कृतात्वात् “लियोऽश्वाष्ट्यं सम्मानने च” [१।२।६६] इति दः ।

लियो नुक् ॥५१२।४६॥ ली इत्येतस्य शौ परतः स्नेहद्रवेऽर्थे वा नु भवति । घृतं विलीनयति । घृतं विलापयति । लियोऽनात्वपक्षे स्नेहद्रवार्थस्य ग्रहणम् । स्नेहद्रव इत्येव । अथो विलाययति । शो ऐव्यादेशौ । अथ “विभाषा लियोः” [४।३।४४] इत्यात्वपक्षे एकदेशविकृतस्यानन्यत्वान्नुक् कस्मान्न भवति ? लिय इत्यत्र ली ई इतीकारप्रश्लेषादीकारान्तस्य नुक् ।

रुहः पः ॥५१२।४७॥ रुहः शौ परतः पकारादेशो भवति वा । आरोपयति । आरोहयति स्वर्गं जिनधर्मः । अथ “युप रुप लुप विमोहने” [धा०] इति रूप्यतेः रोपयति, रुहः रोहयतीति भविष्यति । न शक्यमेवम्, आरोपयतीति भविष्यति न शक्यमेवम् । आरोपयतीत्यत्र रुहेरर्थः प्रतीयते न रूप्यतेः । अनेकार्था धव इति पादप्रसारिकैवा ।

स्फायो वः ॥५१२।४८॥ वेति निवृत्तम् । स्फायी इत्येतस्य वकारादेशो भवति शौ परतः । स्फावयति । स्फावयतः । स्फावयन्ति । “अन्तेऽलः” [१।१।४६] इत्यन्तस्य ।

शदोऽगतौ तः ॥५१२।४९॥ शदेः शौ परतः अगतावर्थे तकारादेशो भवति । पुष्पाणि शातयति । फलानि शातयति । अगताविति किम् ? गाः शादयति यष्ट्या । “शद्लु शातने” [धा०] इति निपातनात् सिद्धमिति चेत् ; निपातनमत्राधकस्मिन्तस्य शक्येत । यथा “पूर्वकालैक” [१।३।४४] इत्यत्र पुराणशब्दः पुरातनशब्दस्य ।

त्यस्थे क्वापीदतोऽसुपोऽयत्तदौ ॥५१२।५०॥ त्यस्थे ककारे परतः पूर्वस्य अकास्येकारादेशो भवति असुपो य आप् तस्मिन् यत्तदित्येतौ वर्जयित्वा । कुत्सिता जटा जटिका । मुण्डिका । त्य इति किम् ? शक्नोतीति शका । तका । धोरयं कः । स्थग्रहणं किम् ? कारिका । हारिका । असति स्थग्रहणे त्वे कीत्युच्यमाने “येनाल्विधिः” [१।१।६७] इति ककारादावेवं स्यात् । स्थग्रहणे सर्वत्र सिद्धम् । कीति किम् ? नन्दना । रमणा । कीतीपूनिर्देशः किम् ? “ईन्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः” [१।१।६०] इति परस्य मा भूत् । पटुका । मृदुका । आपीति किम् ? कारको हारकः । अत इति किम् ? गोका । नौका । तपरकरणं किम् ? बहुलत्वाका । बहुमालाका । “वाऽपः” [५।२।१२७] इत्यप्रादेशपक्षे । प्रपक्षे असुवः कपः परोऽयमाप् । असुप इति किम् ? बहवः परिव्राजका अस्यां बहुपरिव्राजका मथुरा । “त्यस्ते त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति सुव्रन्तात्परिव्राजकशब्दादयमाप् । ननु च वसे समुद्रायादसुव्रन्तादावित्त्वं प्राप्नोति, तदसत्, असुप इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । न चाप्सुव्रन्तादव्यवान्परो भवति । पर्युदासे हि दोषः । सुपोऽन्यः असुप् समुद्रायास्तस्मादावित्त्वं स्यात् । बहूनि चर्माणि अस्यां बहुचर्मिकेत्यत्र असुव्रन्तात्कपः परोऽयमावित्त्वं । अयत्तदाविति किम् ? यका । सका । यकां यकां पश्यति तकां तकां वृणीते । इह कथं प्रतिषेधः, यातीति स्वतीति विचि या सा इति स्थिते के प्रादेशे च कृते यका सका । क्षिपकादावेतौ द्रष्टव्यौ । ननु कीति वर्णनिर्देशः तस्यापीति परत्वेन विशेषणं नोपपद्यते आकारेण व्यवधानात् । एकादेशो भविष्यति । एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति व्यवधानमेव । एवं तर्हि वर्णनैकेन व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद्भवति । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमिति । रथानां समूहो रथकट्या पुत्रकाम्यान् पुत्रकाम्या इत्यादौ न भवति ।

वाऽतोऽधोर्यकात् ॥५१२।५१॥ अधोर्यो यकारः ककारश्च ताभ्यामुत्तरस्यातः स्थाने यो अकारः तस्याप्यसुपः वा इद्भवति । कुत्सिता इम्या इम्यका । इभमर्हतीति “दृषडादेः” [३।४।६४] यः । एवं

क्षत्रियका । क्षात्रियिका । अर्यका । अर्यिका । चट्टका । चट्टिका । मूपिकका । मूपिकिका । आत
इति किम् ? साङ्काश्ये भया साङ्काश्यिका । अधोरिति किम् ? सुनयिका । मुशयिका । मुशोचिका ।
सुपाकिका । शोभनो नयोऽस्या सुनया । “केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशो कृते धोरस्तौ यकारक-
कारावम् ताभ्यां परस्य न विकल्पः । यकादिति किम् ? अश्वी । अश्विका । वेति योगविभागः । सा च
व्यवस्थितविभाषा । तेन “तारका ज्योतिषि” । तारिकान्या । “आशिषि” जीवतादिति जीवका । नन्दका ।
जीविका नन्दिकाऽन्यत्र । अनुकम्पिता देवदत्ता । के कृते “अतजादौ वा द्युखम्” [वा०] उक्तम्—“देवका”
देवदत्तिकाऽन्यत्र । “वर्णका तन्तुविकारे” । वर्णिकान्या । “वर्तका शकुनौ प्राचाम्” । वर्तिकाऽन्यत्र । “अष्टका
कर्मविशेषे” । अष्टिका तुलान्यत्र । अष्टौ परिमाणमस्या इति । सूतका । सूतिका । पुत्रका । पुत्रिका ।
वृन्दारका । वृन्दारिका । “क्षिपकादौ न भवत्येव” “क्षिप प्रेरणे” [धा०] । ध्रु स्थैर्यं क्षिपतीति
क्षिपा, के क्षिपका । ध्रुवा, ध्रुवका । यका । सका । इत्येवमादिः क्षिपकादिः दक्षिणात्यिका । इहत्तिका
इत्यादावित्वमेव ।

भस्त्रैषाजानाद्वास्वानां नञ्सेऽपि ॥५।२।५२॥ भस्त्रा एषा अजा ज्ञा द्वा स्वा इत्येतेषां नञ्से
असेऽपि आतः स्थाने यो अकारः तस्य वा इद् भवति । भस्त्राशब्दस्य “अनुक्तपुंस्कादाच्च” [५।२।५३]
इतीमं विधिं वक्ष्यति । इह नञ्सादन्यत्रापि प्रतिपादयिष्यते । अभस्त्रका । अभस्त्रिका । अविद्यमाना
भस्त्रा अस्या इति अभस्त्रा । कुत्सार्थे कः । एपका । एपिका । एतदः सर्वनाम्नोऽकभाविनि सौ “त्यदा-
देरः” [५।१।१६१] इत्यत्वम् । प्राक् सुपः टाप् । एपेति विकृतनिर्देशाच्च पत्वं तत्र विकल्पः । एतिकास्ति-
ष्ठन्ति इत्यत्र नित्यमित्वम् । अजका । अजिका । अनजका । अनजिका । नञ्से कृते कः । जानातीति ज्ञा ।
सका । जिका । अजिका । द्वके । द्विके । स्वका । स्विका । अस्वका । अस्विका । एषा द्वे नञ्पूर्वं
अनुदाहरणे । सुवन्तादापो विहितत्वात् । नञ्सात् पूर्वम्पश्चाद्वा अकि कृते “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इति
अन्तर्वर्तिनीं विभक्तौमाश्रित्य सुवन्तादाविति न प्राप्तिरित्यस्य । अनेपका । अद्वके इति भवति । स्वशब्दस्य
तु ज्ञातिधनाख्यायां सर्वनामसञ्ज्ञाविरहादनास्ति । अकि हि सति तस्य टेः प्राग्भावात्सुवन्तग्रहणेन ग्रहणम् ।
सुवन्तादास्यात् । ज्ञातिविवक्षायां तु न स्वा अस्वा कुत्सार्थे कः । अस्वका । अस्विका । अपिग्रहणं किम् ?
नञ्से अस् इत्येवास्तु । अन्यस्मिन्नपि से क्वचिद्भावार्थम् । बह्वो भस्त्रा अस्या इति के बहुभस्त्रका । बहु-
भस्त्रिका । निर्भस्त्रका । निर्भस्त्रिका ।

अनुक्तपुंस्कादाच्च ॥५।२।५३॥ अनुक्तपुंस्काद्विहितस्यातः स्थाने योऽकारस्तस्य आच्च भवति
इच्च वा । नञ्से असेऽपीति वर्तते । खट्वाका । खट्विका । खट्वाका । मालका । मालिका । मालका ।
भस्त्राका । भस्त्रिका । भस्त्रका । खट्वादिशब्दा नित्यं स्त्रियामेव वर्तन्ते इत्यनुक्तपुंस्काः । नञ्सेऽपि । अभ-
स्त्राका । अभस्त्रिका । अभस्त्रका । अखट्वाका । अखट्विका । अखट्वाका । परमखट्वाका । परमखट्विका ।
परमखट्वाका । बसेऽपि यदा कपि परतः “वाऽपः” [५।२।१२७] इति प्रादेशस्तदानुक्तपुंस्काद्विहित-
स्यातः स्थाने अकार इत्यमेव विधिः । अविद्यमाना खट्वाऽस्या अखट्वाका । अखट्विका । यदा न
कप् तदा “स्त्रीगोर्नीचः” [१।१।८] इति प्रादेशादुक्तपुंस्कत्वम् । अखट्विका । अतिकान्ता खट्वाम्
अतिखट्विका ।

ठस्येकः ॥५।२।५४॥ गोर्निमित्तभूतस्य ठस्य इक इत्यमदेशो भवति । ठस्येति त्यस्य ग्रहणम् ।
अश्वैर्दांयति आत्तिकः । शालात्तिकः । “प्राग्याट्ठण्” [३।३।१२६] दक्षि संस्कृतं दाधिकम् । अपूपानां
समूहः आपूपिकम् । “कण्ठेष्टः” [उ० सू०] कण्ठ इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [२।२।१६७] इति
न भवति ।

इसुसुकः कः ॥१२।१५॥ इस् उस् उक् इत्येवमन्तात्कारान्ताच्च गोः परस्य ठस्य क इत्यय-
मादेशो भवति । सर्पिः परस्यस्य सर्पिष्कः । बार्हिष्कः “कुप्वोस्त्ये” [५।१।२६] इति रेफस्य सः ।
“इणः षः” [५।१।२७] इति पत्वम् । धनुः प्रहरणमस्य यजुः पण्यमस्य “प्राग्याट्टण्” [३।३।१२६]
धानुष्कः । याजुष्कः । उक्-निष्ठाहकर्षां जातः नैष्ठाहकर्षुः । शावरजम्बुकः । “ओर्देशो ठञ्” [३।२।१६] ।
“केऽणः” [५।२।१२५] इति प्रादेशः । मातुरागतं मातृकम् । “कृतष्टञ्” [३।२।५२] । तान्तात्—
उद्शिवत् पण्यमस्य श्रौदशिवत्कः । भवतोऽयं भावत्कः । ननु मथितं पण्यमस्य मथितिक इत्यत्र “यस्य
इयां च” [४।१।१३६] इति खे कृते तान्तादिकस्य स्थानिवद्भावेन कादेशः प्राप्नोति । अजादिति
निमित्तस्तकारो नाजादि हन्ति । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य” [५०] “अञ्चिंशुचिहु-
सृपिच्छद्विच्छद्विभ्य इत्” [३० सू०] इत्येवमादिना प्रतिपदोक्तयोरिसुसोर्ग्रहणादिह न भवति । आशिषा तरति
आशिषिकः । उपा चरति औषिकः । “आडः शासु इच्छायाम्” [धा०] “वस निवासे” [धा०] इत्येताभ्यां
क्विपि “लिङाशिषि” [२।१।१६] इति निपातनादिवम् । “वसोर्जिः” [४।१।१२०] “शासिवसिधसाम्”
[५।१।४०] इति पत्वं नञ्सेऽपीत्यतोऽपिशब्दवृत्तेः “दोषोऽपीष्यते” [वा०] । दोर्भ्यां तरति दौष्कः ।

चजोः कुघिरण्ययोस्तेऽनितः ॥१२।१६॥ चकारजकारयोः कुत्वं भवति धिति एये च परतः ।
पाकः । त्यागः । रागः । पाक्यम् । योग्यम् । भोग्यम् । न तत्र चकारस्य धिति जकारस्य णे साम्याद्यथासङ्गत्वं
प्राप्नोति “तेन रक्तं रागात्” [३।२।१] इति ज्ञापकात् स्वरितलिङ्गाभावाद्वा न भवति । तेऽनितः इति किम् ? कजः ।
खर्जः । गर्जः । समाजः । परित्राज्यम् । याच्यम् । अच्यम् । नन्वजेस्तेऽनित इति कुत्वं प्राप्नोति । नैप
दोपः । तेऽनित इति विद्यमानस्य विशेषणम् । अजेस्तु वीभावेनासत्त्वादविशेषणं तस्मात् समाज इति भवति ।

शुच्युञ्ज्योर्घञि ॥१२।१७॥ शुचि उञ्जि इत्येतयोर्घञि परतः कुत्वं भवति । ते सेगविमौ ।
शोकः । समुद्रगः । उब्जेर्द्विकारोऽप्युक्ते कुत्वे कृते “उद्ग” इति । चुना योगे बलमुक्तं चुत्वाभावे न भवति ।
अथ समुद्रगतः । समुद्रग इति । गमेर्डेन सिद्धम् । एवं तर्हि घञि उद्गोः जकारान्ततानि वृत्त्यर्थम् ।

न्यङ्क्वादेः ॥१२।१८॥ पूर्वैणाप्राप्ते विधिः । न्यङ्कु इत्येवमादीनां च कुत्वं भवति । “नावञ्चेः”
[३० सू०] इत्युः । मद्गुः । मस्जेः “भृमृशतृचरितनिमिसस्त्रिभ्य उः” [३० सू०] जश्त्वम् । सस्य दः ।
भृगुः । भ्रस्जेः “प्रथिमृदिभ्रस्जां जिः सखं च” [३० सू०] इति कुः । तक्रम् । चक्रम् । “स्फायितञ्चि-
वञ्चि” [३० सू०] आदिसूत्रेण रक् । मेहतीति मेघः । इगुङ्लक्षणः कः गणपाठादेप् । शुनः पचतीति
श्वपाकः । पचादिषु श्वपचशब्दोऽस्ति सोऽपि साधुः । अर्धवदघनिदाघाः घञन्ताः सञ्ज्ञाशब्दाः । अग्रहित-
लक्षणं कुत्वमिह ज्ञेयम् ।

हो हन्तेर्जिञ्चि ॥१२।१९॥ हन्तेर्हकारस्य कुत्वं भवति जिञ्चति त्ये नकारे घञि भावकरणे खपरतः ।
घातयति । घातकः । सर्वघाती । देशघाती । घातंघातम् । घातो वर्तते । नकारे-ध्नन्ति । ध्नन्तु । अध्नन् । ह
इति किम् ? अलोऽन्त्यस्य मा भूत् । हन्तेरिति किम् ? विहारः । जिञ्चतीति किम् ? हतः । कथं यदुच्यन्तस्य
जङ्घनीति । अत्र “चात्” [५।२।६०] इति कुत्वमिष्यते । धुनिर्देशार्थस्तिप् । जिङ्गद्वृणं हन्तेर्विशेषणं जित्परस्य
हन्तेर्यो हकारस्तस्य । नकारो हकारस्य विशेषणम् । नकारे परतोऽनन्तरस्य हकारस्य स चेद् हन्तेरिति श्रौतं चान-
न्तर्यं धन्तीत्यादाविष्टं स्थानिवद्भावादेकेन व्यवधानं नाश्रितम् । वचनप्रामाण्यात् । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानम्,
हननमिच्छति हननीयति । तस्य ष्वौ हननीयकः ।

चात् ॥१२।२०॥ चादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कुत्वं भवति । अहं जघन । अणित्यच्चे गलि ।
जङ्घयते । जिघ्रांसति । हन्तेर्यश्चः तस्मादपरस्य कुत्वं च निमित्तत्वे तेनेह न भवति । हननीयितुमिच्छति
जिहननीयिषति ।

हेरकचि ॥५१२।६१॥ हिनोतेर्हकारस्य चात्परस्य अकचि कुत्वं भवति । प्रजिघाय । प्रजेघीयते । प्रजिघीयति । अकचीति किम् ? प्राजीह्यत् । हेर्यन्ताल्छुडि “णिश्चिद्रु” [२।१।४३] इत्यादिना कच् । णिखम् “खौ कच्युडः” [५।२।११५] इति प्रादेशः । खौ कृतं स्थानिवद्भवतीति कचि हिशब्दस्य द्वित्वम् । ननु हेः स्वनिमित्ते त्वे चादुत्तरस्य कुत्वमुक्तम् । एतन्तं च प्रकृत्यन्तरं कथं कचि प्रातिः । अयमेव प्रतिपेधो शापको एतदधिकस्यापि भवति । प्रहाययितुमिच्छति प्रजिघाययिपति ।

सल्लिटोर्जे ॥५१२।६२॥ सनि लिटि च यश्चस्तस्मात्परस्य जेः कुत्वं भवति । जिगीपति । जिगाय । संल्लिटोरिति किम् ? जेजीयते । जिनातेर्लिटि जित्वे कृते “हलः” [४।४।२] इति दीत्वे कृते एकदेशपरिभाषया जिग्रहणेन ग्रहणं नेप्यते लाक्षणिकत्वात् । “एगिवाक्चादुडोऽसुधियः” [४।४।७८] इति यत्वम् । जिज्यतुः । जिज्युः ।

वा चे ॥५१२।६३॥ चिनोतेः संल्लिटोः परतः चात्परस्य वा कुत्वं भवति । धर्मे चिकीपति । धर्मे चिचीयति । चिकाय । चिचाय । संल्लिटोरित्येव । चेचीयते । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

न वञ्चवेर्गतौ ॥५१२।६४॥ वञ्चवेर्गत्यर्थस्य कुत्वं न भवति । वञ्च्यं वञ्चति वाणिजाः । गतौ किम् ? वङ्क्यं काष्ठम् । “यस्य वा” [५।१।१२९] इति “तेऽनितः” [५।२।५६] कुत्वं प्रातम् । ननु गतावेव वञ्चिः पठ्यते । सत्यम् । अनेकार्था धव इत्यन्यत्र मा भूत् ।

एय आवश्यके ॥५१२।६५॥ आवश्यकेऽर्थे ण्ये परतः कुत्वं न भवति । अवश्यपाच्यम् । अवश्य-
सेच्यम् । “आवश्यकाममर्ययोणिन्” [२।३।१४६] इत्यधिकृत्य “व्याः” [२।३।१४७] इति एयः । मयूरव्यनकादित्वात्सन्निधिः । “व्यान्ते ह्यवश्यमो नाशः” इति मखम् । आवश्यक इति किम् ? पाक्यम् । सेक्यम् ।

यजित्यजिप्रवचाम् ॥५१२।६६॥ यजि त्यजि प्रवच इत्येतेषां एये परतः कुत्वं न भवति । याज्यम् । त्याज्यम् । प्रवाच्यम् । अनावश्यकार्थमिदम् । प्रवचिग्रहणं शब्दखावपि प्रतिषेधार्थम् । प्रवाच्यो नाम पाठविशेषः । अन्ये तु पुनराहुः—प्रपूर्वस्यैव वचेः अशब्दत्वात् कुत्वप्रतिपेधो यथा स्यात् । अत्यगिपूर्वस्य मा भूत् । अधिवाक्यम् ।

वचोऽशब्दखौ ॥५१२।६७॥ वचोऽशब्दखौ एये परतः कुत्वं न भवति । वाच्यमाह । अशब्द-
खाविति किम् ? अवबुधितं वाक्यमाह । शब्दस्यैव सञ्ज्ञावाक्यमिति । तदुक्तम्—आख्यातं सविशेषण-
मित्यादि वाक्यम् ।

भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्यनियोज्यभोज्यानि ॥५१२।६८॥ भुज प्रयाज अनुयाज श्रोत्र
प्रयोज्य नियोज्य भोज्य इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । भुज इति पाणौ । भुज्यतेऽनेनेति भुजः ।
“हलः” [२।३।१०२] इति करणे घञ् । एङ्कुत्वयोरभावो निपात्यते । भोगोऽन्यः । अथ “भुजो कौटिल्ये”
[धा०] इत्यस्य इगुङ्लक्षणो के रूपम् । न तस्याभ्यवहारार्था प्रतीतिः । रुदिशब्देऽप्यनुगमोऽस्ति । यथा
गच्छतीति गौः । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे । “अकर्तरि” [२।३।१०८] इति घञ् । प्रयागः । अनुयागः । इत्येवा-
न्यत्र । श्रोत्र इति भवति । उचः के उच्यतीत्योकः । इगुङ्लक्षणः कः । न्युच्यत्यस्मिन्निति न्योकः ।
“वज्रार्थे कविधानम्” [वा०] इति कः । एप् कुत्वं च निपात्यते । उचिस्ते सेट् तदर्थम् । के उच इत्यस्य
रूपस्य निवृत्त्यर्थं वेदम् । दिवौकस इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [२।२।१६७] इति कुत्वम् । प्रयोज्यनि-
योज्यौ शक्यार्थे । प्रयोक्तुं शक्यः प्रयोज्यः । नियोक्तुं शक्यो नियोज्यः । “शकि लिङ् च” [२।३।१४८]
इति एयः । कुत्वाभावोऽनेन । प्रयोग्यो नियोग्य इत्येवान्यत्र । भोज्यमिति भुज पालनाभ्यवहारोरित्यस्य
भक्ष्येऽभिधेये । भोज्य ओदनः । भोज्या अप्रूपाः । ननु भक्षिरयं खरविशदे वर्तते न तु द्रवद्रव्ये तत्कथं

भोज्या यवागूरिति ? भक्षित्यवहार्येऽपि वर्तते न खरविशद एव । अभ्यन्तः । वायुभक्षः इति । अभ्यव-
हरणादन्यत्र न भवति । भोग्या अङ्घ्रिपाः पालनीयाः इत्यर्थः । भोग्यः कम्बलः । इष्टार्थसङ्ग्रहो
निपातनात् । न्युञ्ज इति कथं सिध्यति ? न्युञ्जिताः शेरतेऽस्मिन्निति न्युञ्जो रोगः । “वञ्चर्थं कविधानम्”
[वा०] इति श्यन्तस्य वाऽचि रूपम् ।

कसस्याचि खम् ॥५१२।६६॥ कसस्याजादौ परतः खं भवति । “अन्तेऽलः” [१११४६] इत्यन्तस्य ।
अधुन्नि । अधुक्षाताम् । अधिन्नि । अधिक्षाताम् । दुहिदिही स्वरितेतौ । “इगुङः शलोऽनिटोऽदृशः कसः”
[२११४०] । अचि किम् ? अधुक्षत् । अधिक्षत् । अधुक्षन्तैत्यत्र कसस्य खे कृते “देऽन्तः” [५११५] इत्यन्तादेशस्य
स्थानिवद्भावेन भक्त्यादादेशः प्राप्नोति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१११५७] इत्यकारस्य
स्थानिवद्भावान्न भवति । पूर्वेऽस्मादपि विधिः पूर्वविधिरित्युक्तम् । कसस्य कितो ग्रहणं किम् ? इह मा भूत् ।
वत्सौ । वत्साः “वृत्तवदिह्निकमिकिसुचिमाभ्यः सः” [उ० सू०] ।

वोवुहुदिहलिहगुहो दे दन्त्ये ॥५१२।७०॥ दुह दिह लिह गुह इत्येतेभ्यः कसस्य वा उक् भवति दे
दन्त्यादौ परतः । अधुग्ध । अधुग्धाः । अधुक्षत । अधुक्षथाः । अधुग्ध्वम् । अधुक्ष्वम् । अधुद्गहि ।
अधुक्ष्वाहि । दिह । अदिग्ध । अधिक्षत् । अलोढ । अलिक्षत । न्यगूढ । न्यधुक्षत् । दुहादिभ्य इति किम् ?
व्यत्यरक्षत । द इति किम् ? अधुक्षत् । दन्त्य इति किम् ? अधुक्ष्माहि । खमिति वर्तमाने उग्रहणं
सर्वापहारार्थम् ।

ओतः श्ये ॥५१२।७१॥ ओक्रान्तस्य गोः श्ये परतः खं भवति । निश्चयति । अपहृयति ।
अवद्यति । अवस्यति । वोग्रहणमन्तरित्वान्नाविकृतम् । श्य इति शित्करणं किम् ? गव्यम् ।

शमित्यामदो दीः ॥५१२।७२॥ शमादीनामामदो दीर्भवति श्ये परतः । शाम्यति । ताम्यति ।
दाम्यति । भ्राम्यति । भ्राम्यति । क्षाम्यति । क्लाम्यति । माद्यति । “अचश्च” [११११२] इत्यचः स्थाने
दीः । आम इति किम् ? अस्यति । श्य इत्येव । भ्रमति । “वा भ्राशम्भाश” [२११६६] इत्यादिना वा शप् ।

ष्ठिवुक्लम्वाचमां शिति ॥५१२।७३॥ ष्ठिवु क्लमु आचम इत्येतेषां दीर्भवति शिति परतः ।
ष्ठीवति । ष्ठीवेत् । क्लामति । क्लामेत् । आचामति । आचामेत् । क्लमः शितीति दीत्ववचनं शत्र्थम् ।
चमेराङ्पूर्वस्यैव । केवलस्यान्यपूर्वस्य च मा भूत् । चमति । विचमति ।

क्रमो मे ॥५१२।७४॥ क्रमो मपरे शिति दीर्भवति । क्रामति । क्रामेत् । म इति किम् ? आक्रमते
आदित्यः । “ज्योतिरुद्गतावाङः” [१२।३६] इति दः । शितीत्येव । क्रमिष्यति । ननु सर्वत्र गृह्यमाणेन
शमादिना अज्विदोष्यते । तेनाग्रेऽपि दीत्वं स्यात् । अशाम्यत् । “अन्याभावेऽन्यसदेशस्य कार्यम्”
[५०] इत्यदोषः । इह सङ्क्रामेति हेरुपि कृते “नोमता गोः” [१११६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधाद्
दीत्वं न प्राप्नोति । न दोषोऽयम् । उमता वचनेन नष्टे यो गुस्तस्य कार्यं स प्रतिषेधः । तत्रायं क्रमिः
दिवचने गुः । किं तर्हि शिति ।

गमिषुयमां छुः ॥५१२।७५॥ गम् इषु यम् इत्येतेषां छो भवति शिति परतः । गच्छति । इच्छति ।
यच्छति । म इति नाधिकृतम् । संगच्छते । इषेरदितः शब्धिकरणस्य ग्रहणम् । “इष गतौ” [धा०]
इत्यस्य इष्यति । “इष आभीक्ष्ये” [धा०] इष्णातीति ।

**पाघ्राध्मास्थाम्नादाण् दृष्ट्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छुधौशीय-
सीदाः ॥५१२।७६॥** पा घ्रा ध्मा स्था म्ना दाण् द्रष्टि अर्ति सर्ति शद सद इत्येतेषां पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन
यच्छ पश्य ऋच्छ धौ शीय सीद इत्येते आदेशा शिति यथासङ्ख्यं भवन्ति । पा-पिबति । पिबतः ।

पिबन्ति । अत्र “धुङ्” [५।२।८३] इति एध्नाप्नोति । अकारान्तोऽयमादेशो अथवा गुकायं निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तमिति न भवति । प्रा-जिघ्रति । ध्मा-धमति । स्था-तिष्ठति । म्ना-मनति । दाण् । प्रयच्छति । द्रष्टि इति दृशेस्तिपि “शपोऽदादिभ्यः” [१।४।१४३] इत्यत्र शप इति योगविभागाच्छप उपि कृते “कृत्वकिति सृजिदृशोऽम्” [४।३।५१] इत्यमा निर्देशः । एवमर्तिसत्योरपि ज्ञेयम् । पश्यति । पश्यतः । पश्यन्ति । अर्तित-मृच्छति । अनुविकरणस्य ग्रहणम् । सर्ति । धावति । सतैर्व्याख्यानात् शैश्रवे धावादेशो नान्यत्र । संसरति । प्रसरतीत्यादि । शद्-शीयते । शीयेते । “सदेगात्” [१।२।५५] इति दः । सद् । सीदति । द्रष्ट्यादीनां तिपा निर्देशो यदुबन्तनिवृत्त्यर्थः । शतरि शिति प्राप्तिः । दर्शत् । अरियत् । ससत् । अतेश्च रिक् । इतरयो रुक् ।

ज्ञाजोर्जा ॥५।२।७७॥ ज्ञा जन इत्येतयोः जा इत्यमादेशो भवति शिति । जानाति । जायते । जा इति दीत्वोच्चारणं किम् ? “यव्यतो दीः” [५।२।६६] इत्यत्र मिडीत्यनुवर्तनाद् दीत्वं न स्यात् ।

प्वादेः प्रः ॥५।२।७८॥ पू इत्येवमादीनां प्रादेशो भवति शिति परतः । पुनाति । लुनाति । प्वादयो रीलीवृद्धिर्वायवत् । ल्वादीनां सामान्यर्थं वृत्करणमेतदिति केचित् । आगणान्ताः प्वादयः । तदयुक्तम् । उभयगणपरिसमाख्यता वृत्करणस्य न विरुद्ध्यते । किञ्चागणान्तपक्षे व्रीणाति, भ्रीणाति जानातीत्यत्र प्रः स्यात् ।

मिदेरेप् ॥५।२।७९॥ मिदेर्गोरेभ्भवति शिति । मेद्यति । मेद्यतः । मेद्यन्ति । मिदेर्य इक् तस्याय-मेप् । मिदेरिति किम् ? क्लिद्यति । शितीत्येव । मिद्यते ।

जुसि ॥५।२।८०॥ जुसि परतः इगन्तस्य गोरेप् भवति । कामचारेण विशेषणम् । इका सन्निहितेन गुर्विधेयते । तेन तदन्तविधिः । अजुह्वुः । अविभयुः । अविभरुः । लडो भिः । शप उप् । “धविस्तेः” [२।४।८६] इति जुल् । भृजश्चत्येवम् । इगन्तस्येति विशेषणं किम् ? अनेनिजुः । जुसीति जकारग्रहणं किम् ? लुलुबुः । अथ चिनुयुः सुनुयुरित्यत्र उसीति पररूपे कृते “तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते” [५०] इति शनोः कस्मान्न भवति । अत्र द्वे डित्वे गाश्रयं यासुडाश्रयं च । तत्र नाप्राप्ते गाश्रये डित्व-निमित्ते प्रतिषेधे एविवहितस्तमेव बाधते । यासुडाश्रये डित्वनिमित्ते तु प्रतिषेधे प्राप्ते चाप्राप्ते च । अतस्तं न बाधते ।

गागयोः ॥५।२।८१॥ गे चागे च परतः इगन्तस्य गोरेभ्भवति । तरति । नयति । करोति । अगे-कर्त्ता । भविता । चेता । स्तोता । गागयोरिति किम् ? अग्नित्वम् । अथ सङीति कर्तव्यम् । सनः सकारादारभ्य आ आडो डकाराव्याहारः । यदि सङीत्युच्येत अग्निकाम्यतीत्यत्रापि स्यात् । अथ यङीत्युच्येत । शिशविषत इत्यत्र न स्यात् ।

जागुरविजिणल्लिङिति ॥५।२।८२॥ जागृ इत्येतस्य गोरेप् भवति अविजिणल्लिङिति परतः । जागर-यति । जागरकः । साधु जागरी । जागरं जागरम् । जागरो वर्तते । किति-जागरितः । जागरितवान् । ऐव्वि-षये प्रतिषेधविषये च प्रापणार्थो जागुरेव्विहितोऽन्यत्र पूर्वैणैव सिद्धः । नायमेप् सावैपमन्तरङ्गं बाधते । तेन “ह्ययम्यक्षणाश्वस्” [५।१।८१] इत्यादिना जागुरैप्रतिषेधः । जागरयतीत्यादौ “उडोऽतः” [५।२।१४] इति पुनरैप् कस्मान्न भवति ? यदि स्याद्वचनमनर्थकं भवेत् । जागरित इत्यत्र सार्थकमिति चेत् ; एवं तर्हि जिणलोः प्रति-षेधोऽनर्थकः स्यात् । कृते एपि “उडोऽतः” [५।२।१४] ऐपा सिद्धवात् । अविजिणल्लिङीति किम् ? जागृविः । “जृशस्तृजागृभ्यो कित्” [३० सू०] इति विः । अजागरि । जजागर । डिति-जागृतः । जागृतः । अवि-जिणल्लिङीति पर्युदासोऽयम् । विजिणल्लिङ्भ्योऽन्यत्रायमेव विधीयते तेन विजिणल्लिङिति प्रतिषिध्यते । यदि लक्षणांतरमस्ति भवत्येव । अजागरः । अहं जजागर । प्रसज्यप्रतिषेधे हि दोषः । विजिणल्लिङिति न भव-

तीति ततश्च अजागरित्यत्र “जुसि” [५।२।८०] इत्यस्य अहं जजागर। अणिप्लवे “गागयोः” [५।२।८१] इत्यस्य च प्रतिषेधः स्यात्। अथवा जागुरित्यनेनानन्तराप्तिः प्रतिषिध्यते न “जुसि” [५।२।८०] इत्यादि प्रातिः। अथ नञर्थः पर्युदासो नोपपद्यते अभावमात्रस्य वृत्त्यर्थात्। न चोत्तरपदार्थाभावेन विधेर्निमित्तत्वमाश्रयितुं शक्यम्। तदयुक्तम्, यद्यभाव एव वृत्त्या गम्यते कथमब्राह्मणादिवाक्ये क्षत्रियादेरानयनम्। अथापि स्यात्। कथमुत्तरपदं सादृश्ये न विपरीते वर्तते। वृत्तौ वा वर्त्तिपदार्थव्यतिरेकेणान्यपदार्थसम्प्रत्ययादुपसर्जनीभूतस्वार्थत्वे सत्यवर्षाहेमन्त इत्यत्र “स्त्रीगोनीचः” [१।१।८] इति प्रादेशः प्राप्नोति। अनेकमित्यत्र च द्विवहू स्यातामित्येदम्यसारम्। यथोत्तरपदं स्वार्थे वर्तते। स्वभावतः तथानवृत्तौ परार्थि न वर्त्तिपदार्थकत्वे वर्त्तिष्यते। यथा च स्वार्थे वर्तमानं नोपसर्जनमेवं परार्थेऽपि सादृश्येन स्वार्थ एवेति कथमुपसर्जनत्वात् प्रादेशप्राप्तिः। अनेकमित्यत्र च एकशब्दः प्रधानभूत उपात्तत्वलिङ्गसंख्य एव परार्थे वर्तते इति द्विवहदुत्वयोरभावः। एवं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधो नञर्थो न युक्तो वृत्त्यभावप्रसङ्गात्। तथाहि क्रियामपेक्षमाणस्य नञः उत्तरपदेन सामर्थ्याभावाद्बुद्धिर्न प्राप्नोति। नैप दोषः, वचनाद् भविष्यति। देवदत्तस्य गौर्नस्तीत्यनभिधानात्र भवति। ततो द्वावपि नञर्थौ युक्तौ। यदोत्तरपदं स्वार्थविपरीते वस्तुनि वर्तते तदा निवृत्तपदार्थकत्वं द्योतयन्न वृत्तिं लभते। यदा तूत्तरपदं स्वार्थ एव वर्तते तदा नञ् क्रियाप्रतिषेधद्वारेण सामर्थ्यमनुभवन् वृत्तिमाप्नोति।

ध्युङ् ॥५।२।८३॥ घिसञ्जस्योङः एब् भवति गागयोः। द्योतते। वर्धति। छेदनम्। भेदनम्। ननु च भेत्ता छेत्ता इत्यत्र त्यादेर्गौरवयवस्य च हलोरानन्तर्ये “स्फेरः” [१।२।१००] इति रुसञ्जया घिसञ्जा बाधिता कथमेप्। उच्यते “त्रसिगृधिशिषिपः क्तुः” [२।२।११६] इति “हलन्तात् [१।१।८३] इति च क्तुसन्तोः क्तिक्करणं ज्ञापकम्। त्यादेर्गौरन्तस्य च हलोरानन्तर्ये “ध्युङ्” एब् न व्यावर्तते। घि चासावुङ् च घुङिति यसः किम्? भिनत्तीत्यत्र मा भूत्। इको ध्युङ् एब्भवतीति सम्बन्धात् प्रसज्येत।

नेट् ॥५।२।८४॥ इट् एब् न भवति। अरणिषम्। अरणिषम्। कणिता। रणिता। अयं डादेशो टिखं चाश्रित्य पूर्वस्य गुसञ्जायां “ध्युङ्” [५।२।८३] इति एप्राप्तः।

यस्य गे पित्यचि ॥५।२।८५॥ थसञ्जस्य गोर्थो ध्युङ् तस्याजादौ गे पित्येब् न भवति। नेनिजानि। अनेनिजम्। वेविचानि। अवेविचम्। वेविषाणि। अवेविषम्। लोटि लङि च चस्य “निजामुच्येप्” [५।२।१७३]। एवं बोबुधीति। बोभुजीति। बेभिदोति। भस्येति किम्? वेदानि। ग इति किम्? निनेज। अचीति किम्? नेनेकि। विद्ग्रहणमुत्तरार्थम्। अपिति गे क्तितीति प्रतिषेधः सिद्धः। ध्युङ् इत्येव। जुहवानि।

सूभवत्योर्मिङि ॥५।२।८६॥ सू भवति इत्येतयोर्मिङि पिति गे एब् न भवति। सुवै। सुवावहै। सुवामहै। अभूवम्। अभूत्। सृग्रहणेन सूतिर्गृह्यते। सूयतिसुवत्योर्विकरणेन व्यवधानम्। विकरणस्य डित्वादेव प्रतिषेधः सिद्धः। मिडीति किम्? भवति। शबयम्। भवतेस्तिपा निर्देशो यङ्वन्तनिवृत्त्यर्थः। बोभवीति। सूत्रोपलक्षणं चेदं तिपा निर्देशेन सूतेरपि यङ्वन्तस्य निवृत्तिः। सोषवीति।

हल्यैबुप्युतः ॥५।२।८७॥ हलादौ पिति गे परतः उपि सति उकारान्तस्य गोरैप् भवति। एपोऽपवादोऽयम्। यौमि। यौषि। यौति। रौमि। रौषि। रौति। इदमेव ज्ञापकम्—पूर्वं विकरणः पश्चाद् गुकार्यम्। अन्यथा पूर्वमेपि सति उकारान्तता न भवेत्। तरतः। तरन्तीत्यत्र ऋत इत्वं च स्यात्। अथवा नित्यः शप्। हलीति किम्? यवानि। उपीति किम्? जुहोमि। सुनोमि। उत इति किम्? एमि। एषि। एति। तपरकरणं किम्? लोलोति। पितीत्येव। युतः। रुतः। हलि पितीभिर्देशादव्यवहितग्रहणम्। इह मा भूत्। अपि स्तुयाद्राजानम्। थस्य नेत्येतदिहानुवर्त्यमिति केचित्। योयोति। रोरोतीत्यादिसिद्धये।

वोऽणौ ॥५।२।८८॥ उणोर्तेर्वा एब्भवति हलादौ पिति गे। प्रोर्णौमि। प्रोर्णौमि। प्रोणौषि। प्रोर्णौषि। प्रोर्णौति। प्रोर्णौति। हलीत्येव। प्रोर्णवानि। पितीत्येव। प्रोर्णुतः। पूर्वेण प्राप्ते विकल्पः।

हल्येप् ॥५१२।८६॥ उणोतेर्हलि पिति गे एम्भवति । प्रौगांः । प्रौगांत् । पुनर्हल्यहणं केवलार्थम् । हलादौ मा भूत् । वेति नाधिकृतम् ।

तृणह इम् ॥५१२।९०॥ तृणह इत्येतस्य गोरिमागमो भवति हलादौ पिति गे परतः तृहिरागतश्नम्को गृह्यते । श्नमि कृते इम(गमो यथा स्यादिति । तृणेधि । तृणेदि । हलीत्येव । तृणहानि । पितृत्येव । तृणः । अतृणेडित्यत्र तिस्योः “हल्ङ्यपः” [५१३।५६] इत्यादिना खं कृते हलाग्रभावादिम्न प्राप्नोति । “त्यखे त्याश्रयम्” [१११।६३] अपि न सम्भवति । वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति । यथा गवे हितम् गोहितमित्यत्र अचीति वर्णाश्रये नास्त्यवादेशस्त्याश्रयः । नेदं वर्णाश्रयं कार्यम् । किं तर्हि मिडाश्रयम् । मेडि हलादौ परतः । तस्य च त्यखे त्याश्रयमित्यवस्थानादिम् ।

ब्रुव ईट् ॥५१२।९१॥ ब्रुव ईडागमो भवति हलि पिति गे । ब्रुव इति कानिर्देशात्परादिरीट् । ब्रवीति । ब्रवीतु । अव्रवीदित्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन हलादित्वम् । हलीत्येव । ब्रवाणि । पितृत्येव । ब्रूतः । ग इत्येव । उवचिथ । ईट् बाधित्वा परत्वादीट् स्यात् । आत्थ इत्यत्र स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति “ब्रुव आहश्च” [२।१।७०] इति आहादेशः । तिपश्च थादेशः । “आहस्थः” [५१३।५२] इति हस्य थत्वम् । चत्वम् । नायं दोषः । अलि विधिरयम् । “अनल्विधौ” [१११।५६] इति प्रतिषेधः ।

यडो वा ॥५१२।९२॥ यडु वन्ताद्वा ईड् भवति हलि पिति गे । अत्रापि यड इति कानिर्देशात् परस्य तथा योगः । लालपीति । वावदीति । शाश्वसीति । चोक्रुशीति । “थस्य गे पित्यचि” [५१२।८५] इत्युङः एप्प्रतिषेधः । पन्ने लालति । वावति । शाश्वति । चोक्रोष्टि । यडन्तात्परस्य हलादेः पितो गस्याभावाद्ब्रुवनाद्यडु-वन्तस्य ग्रहणम् । इदमेव ज्ञापकं “यडोऽचि” [११४।१४४] इत्यत्राविशेषेण यड उव् भवति । “चकर्णीतम्” इत्यादिषु पठितम् । तस्यादादिकार्यम् । “मम्” [११२।७५] इति मविधिः । “चकर्णीतम्” इति यडु वन्तस्य सञ्ज्ञा ।

हल्यस्तेः ॥५१२।९३॥ हलि परतः अस्तेः स्यन्ताच्च ईड् भवति । अस्तिग्रहणं लङ्गर्थम् । आसीत् । आसीः । स्यन्तात् । अकार्षीः । अलावीत् । अलावीः । पुनर्हल्यहणं केवलार्थम् । इह मा भूत् । अस्ति । वेति नाधिकृतम् । नन्वभूदित्यत्र अस्तेः स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति । अस्तेरिति त्रिसकारको निर्देशः । तेन अस्तेः सकारान्तादीट् ।

रुद्भ्योऽड्वाऽजच्चे ॥५१२।९४॥ रुदादिभ्यो जक्षिपर्यन्तेभ्यः अड्वागमो भवति ईट्च हलि पिति गे । आजक्षेरित्याडभिषिधौ द्रष्टव्यः । केवलहलग्रहणमनुवर्तते । अरोदत् । अरोदीत् । अस्वपत् । अस्वपीत् । अश्वसत् । अश्वसीत् । प्राणत् । प्राणीत् । अजक्षत् । अजक्षीत् । सर्वत्र लङ् । “शोऽनितेः” [५१४।१०४] इति णत्वम् । आजक्षेरिति किम् ? अजागर्भवान् । एपि रन्तत्वे च कृते “हल्ङ्यपः” [५१३।५६] आदिना खम् । “रुदादेर्गे” [५११।१३५] इतीटि प्राप्ते तदपवादोऽयम् ।

अदोऽट् ॥५१२।९५॥ अदः अड् भवति हलि पिति गे । आदः । आदत् । केवलहलीति किम् ? अर्ति । पुनरङ्ग्रहणमीणिनवृत्त्यर्थम् ।

यज्यतो दीः ॥५१२।९६॥ यजादौ मिडि अकारान्तस्य गोर्दीर्भवति । “सुभवत्योमिडि” [५१२।८६] इत्यनुवर्तते । पचामि । पचावः । पच्यामि । पच्यावः । पच्यामः । मिडीति किम् ? धनवान् । केशवः । केशा अस्य सन्ति “केशाद्गो वा” [४।१।३५] इति वः । यजीति किम् ? पचति । अत इति किम् ? चिनुवः । चिनुमः । तपरकरणं किम् ? क्रीणीवः इत्यत्र माभूत् । नन्वीत्वेनात्र भवितव्यम् । नैवम् । क्रीणीथः । क्रीणीतः इत्यत्र सावकाशमीत्वं दीत्वेन बाध्येत । यजीतीमिर्देशादव्यवहितस्य गोरन्तस्य दीत्वम् ।

सुपि ॥१२।१७॥ अकारान्तस्य गोः यत्रादौ सुपि दीर्भवति । देवाय । देवाभ्याम् । यजीत्येव । देवस्य । सुपीति सु इत्यतः प्रभृति आ सुपः पकारेण ।

बहौ भृत्येत् ॥१२।१८॥ भलादौ बहौ सुपि परतः अकारान्तस्य गोरेकारदेशो भवति । देवेभ्यः । देवेषु । बहाविति किम् ? देवाभ्याम् । भलीति किम् ? देवानाम् । “नामि” [११।३] इति दीत्वम् अग्नीनाम्, वायूनामित्यत्र सावकाशम्, इहातति भृत्ग्रहणे परत्वादेत्वं स्यात् । यजीत्यस्य निवृत्त्यर्थं च भृत्ग्रहणम् । अन्यथा देवेष्विति न स्यात् । अत इत्येव । अग्निभ्यः । तपरकरणं किम् ? खट्वाभ्यः । सुपीत्येव । पचध्वम् ।

ओसि ॥१२।१९॥ ओसि च परतः अकारान्तस्य गोरेकारदेशो भवति । देवयोः स्वम् । देवयोर्विधेहि ।

आडि चापः ॥१२।१००॥ आडि ओसि च परतः आबन्तस्य गोरेकारदेशो भवति । आब्रिति टाप्-डापोर्ग्रहणम् । विद्यया । विद्ययोः । बहुराजया । बहुराजयोः । “अनश्च बाट्” [३।१।१०] । “वोङ् खे” [३।१।११] इति डाप् । आडिति टारूपस्य ग्रहणं पूर्वाचार्यसञ्ज्ञानिर्देशेन । आप इति पिङ्ग्रहणं किम् ? कीलालपा नरेण । कीलालपोः । विद्यामर्तनिवृत्ते “आतो धोः” [४।४।१२७] इति खम् । अथातिखट्वेनेत्यत्र “खीगोर्षीचः” [१।१।३] इति प्रादेशे कृते स्थानिवद्भावादेत्वं कस्मान्न भवति ? उच्यते “हृङ्वाप” [४।३।५६] इति सूत्रे हृङ्वापो घ इति योगविभागस्तस्यार्थो ङ्यापोर्यत्कार्यं तद्दीत्वभाजोरेव । ननु दीत्वमपि स्थानिवद्भावाद्भविष्यति । “ङ्यापोर्दीत्वं न स्थानिवत्” [वा०] इति प्रतिषेधः ।

कौ ॥१२।१०१॥ कौ च परतः आप एवं भवति । हे कन्ये । हे बहुराजे । “क्रेरेङः” [४।३।५७] इति सोः खम् ।

प्रोऽम्भार्थम्भोः ॥१२।१०२॥ अम्भार्थवाचकानां मुसञ्ज्ञस्य च प्रो भवति कौ परतः । अम्भार्थाः मातृशब्दपर्यायाः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । हे अत्त । मुसञ्ज्ञकस्य । हे गौरि । हे वामोर । “यङो वा” [५।२।१२] इत्यतः मण्डूकप्लुत्या बहुलार्थो वाशब्दोऽत्र वर्तते । तेन बह्वचोऽम्भार्थस्य प्रो न भवति । हे अम्बाले । हे अम्बिके । हे अम्बाडे । “तलन्तस्य ङिक्योरुभयम्” [वा०] । देवते भक्तिः । देवतायां भक्तिः । हे देवत । हे देवते । छान्दसमेतदिति केचित् । “बसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्” [वा०] । गार्गी माता अस्थेति श्लघते । हे गार्गीमात । श्लघाया अन्यत्र । हे गार्गीमातृक । “जातिश्च” [४।३।५३] इति न पुंवद्भावः ।

प्रस्यैप् ॥१२।१०३॥ प्रान्तस्य गोरेव् भवति कौ परतः । हे मुने । हे साधो । “अन्तेऽल्लः” [१।१।४६] इति न्यायादनन्त्यस्य न भवति । हे युव (बुध) । हे नदि । हे वधु । इत्यत्र प्रादेशवचनसामर्थ्या देव् न भवति ।

जसि ॥१२।१०४॥ जसि परतः प्रान्तस्य सोरेव् भवति । मुनयः । साधवः । “अन्तेऽल्लः” [१।१।४६] इति परिभाषया अनन्तस्येको न भवति बुधा इति ।

अतो डिधे ॥१२।१०५॥ अकारान्तस्य गोः डौ धसञ्ज्ञके च परतः एव् भवति । मातरि । पितरि । कर्तरि । धे । मातरौ । मातरः । मातरम् । मातरौ । पितरः । तपरकरणमसन्देहार्थम् । कृरिति ऋकारान्तः सम्भवति तन्निवृत्त्यर्थम् ।

सोडिति ॥१२।१०६॥ स्वन्तस्य गोडिति एव् भवति । मुनये । साधवे । मुनेः । साधोः । सोरिति किम् ? सख्ये । पत्ये । असखीति पर्युदासात् “पतिः से” [१।२।६८] इति नियमाच्च सुसञ्ज्ञा नास्ति । डितीति किम् ? मुनिभ्याम् । सुपीत्येव । पट्वी । कुस्तः । डीतसोडितोरपि मा भूत् । ङकारश्चासाविच्च डित् तस्मिन् ङित्यव्यवहितस्य कार्यम् । तेन वृद्ध्यै धेन्यै । इत्येव् (न) व्यवधाने । आडि औडि च न भवति । मत्या । मती । इति ।

अणु भोः ॥५१२।१०७॥ भ्वन्तादोः परस्य डितोऽडागमो भवति । मोरित्यकृतार्थः कानिर्देशो ङित्तीत्यस्य तां प्रकल्पयति । कुमार्यै । वामोर्वै । कुमार्याः । वामोर्वाः । परेण सह “अटश्च” [५१३।७८] इत्यैव वचनात् “एच्यतोऽपदे” [५१३।८४] इति पररूपं न भवति ।

याडापः ॥५१२।१०८॥ आबन्तादुत्तरस्य डितो याडागमो भवति । विद्यायै । बहुराजायै । विद्यायाः । “एच्यैप्” [५१३।७६] “स्वेको दीः” [५१३।८८] इति दीत्वं वा । ड्याव्ग्रहणेन दीत्वं न स्थानिवदिति । अतिखट्वाय । पुनर्दीत्वे लाक्षणिकत्वम् ।

सर्वनाम्नः स्यात् प्रश्च ॥५१२।१०९॥ आबन्तात् सर्वनाम्नः परस्य डितः स्याडागमो भवति प्रश्च भवत्यापः । सर्वस्यै । यस्यै । तस्यै । कस्यै । सर्वस्याः । यस्याः । तस्याः । एच्यैप् स्वेको दीत्वे । आप इत्येव । भवत्यै । भवत्याः ।

डेराम् स्वाम्नीम्यः ॥५१२।११०॥ “प्रे लिप्सायाम्” [२।३।४२] इति निर्देशात् डेरिति डिवचनस्य ग्रहणम् । डेरामादेशो भवति भ्वन्तादाबन्तानी इत्येतस्माच्च परस्य । कुमार्याम् । वामोर्वाम् । विद्यायाम् । बहुराजायाम् । ग्रामयाम् । सेनान्याम् । “सत्सुद्विप्” [२।२।५६] इत्यादिना क्तिप् । “अग्रग्रामाभ्यां नियो एच्यम्” [वा०] । “एर्गिवाक्चदुडोऽसुधियः” [४।१।७८] इति यत्वम् । अथ डेरामः नुट्कस्मान्न भवति । पस्वाद्वाडादिभिरागमैर्भवितव्यम् । कृतेष्वपि “सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव” [५०] । ड्यापोर्दीत्वभाजोः कार्यमुक्तम्” (ड्याप) “ग्रहणे दीत्वं न स्थानिवत्” इति च । तेन निष्कौशाम्बौ । अतिखट्वे निषेहि ।

इदुद्धयाम् ॥५१२।१११॥ इकारोकाराभ्यां सुसञ्ज्ञकाभ्यां परस्य डेराम् भवति । बुद्ध्याम् । धेन्वाम् । ननु पूर्वैरेवाम्सिद्धोऽपार्थक्यमिदम् । “औदच्च सोः” [५।२।११२] इत्यौत्वं स्यात् तच्चाविशेषेण वक्ष्यति । सुग्रहणमिहानुवर्तते तेनेदुतौ विशेष्येते ।

औदच्च सोः ॥५१२।११२॥ असुसञ्ज्ञकाभ्यामिदुद्ध्यां परस्य डेरौकारादेशो भवति सोश्चाकारादेशः । सख्यौ । पत्यौ । सोः मुनौ । साधौ । प्रधानशिष्टमिदुद्धयामैर्भवम् । अन्वाचयशिष्टं सोरत्वम् । यथा भित्तां चर गां चानय । गोनयनम् । शास्त्रेऽपि “कतुः क्यङ्स्खं विभापा” [२।१।१६] इति अन्वाचयशिष्टं सखम् । तपरकरणां मुखसुखार्थम् । अत्वे कृते स्त्रियां टापो निवृत्त्यर्थमित्यप्यन्ये । टापि को दोष इति चेत्, औकारस्य डिग्रहणेन ग्रहणादामादेशयाडागमौ स्याताम् । तदसत् । प्रागेव सुबुत्पत्तेः स्त्रीत्येन भाव्यम् अन्यथा मातेत्यत्र नान्तलक्षणो ङीविविधिः स्यात् ।

आडो नाऽस्त्रियाम् ॥५१२।११३॥ सोरिति वर्तमानमर्थात् काविभक्त्यन्तं सम्पद्यते । सोरुत्तरस्याङः ना इत्यादेशो भक्त्यस्त्रियाम् । मुनिना । साधुना । सोरित्येव । सख्या । पत्या । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ध्या । धेन्वा । आङो ना पुंसीति कर्तव्यम् । त्रपुणा । जानुनेत्यादि । “सुपीकोऽचि” [५।१।५२] इति नुमैव सिद्धम् । नपुंसके अमुना कुलेनेति न सिद्ध्येत् । सुभावस्यासिद्धत्वान्मुन स्यात् । अस्त्रियामित्युच्यमाने नपुंसकेऽपि नाभावे भवति । ततश्च “न मु टाविधौ” [५।३।२६] इति नाभावे सुभावस्य नासिद्धत्वम् ।

सूत्रेऽस्मिन् सुविधिरिष्टः ॥५१२।११४॥ सूत्रेऽस्मिन् जैनेन्द्रेषु यो विधिः सुपि च विधिरिष्टो भवति । सूत्रावयवेषु सूत्रशब्दो द्रष्टव्यः । उदाहरणम्—“स्त्रीगोर्वाचः” [१।१।८] स्त्रीगूनामिति प्राप्तं सुविधिरयम् । “मिडैकार्थे वाः” [१।४।५४] । हलङ्थादिना सुखं प्राप्तम् । सुपो विधिरयम् । अथ विति हलन्तात् कथं टाप् । अयमपि सुपो विधिरिष्टः । आ कपः पकारेण सुपो ग्रहणात् ।

शौ कच्युडः प्रोऽशास्वकख्युदितः ॥५१२।११५॥ शौ परतः कच्यरे गोखडः भवति शासु अक्खि ऋदित् इत्येतान् वर्जयित्वा । अजीहरत् । अजीहरत् । अत्र “णिश्रिद्रुल्लु” [२।१।४३] इत्यादिना कचि कृते द्विर्वचनोऽप्रादेशयोः प्राप्तयोः परस्वाडुङः प्रादेशः । तत्र कृते “ओः पुच्यज्ये” [५।२।१७८] इति

ज्ञापकात् णौ कृतं स्थानिवद्भवति । अथ वा “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावः । कृद्शब्दयो-
र्द्वित्वम् । “घौ कच्यनङ् खे सन्वत्” [५२१११०] इति सन्वद्भावेनेत्वम् । “घेर्दीः” [५२११५१] इति दीत्वमेव-
अलीलवत् । अपीपवत् । “ओः पुयण्ये” [५२११७८] इति उकारस्येत्वम् । अथवा ओणृ अपनयने
इत्यस्य प्रतिषेधार्थम् । ऋदित्करणं ज्ञापकं द्वित्वात्पूर्वं प्रादेश इति । अन्यथा मा ओणिणदित्यत्र द्वित्वे कृते परेण
रूपेण व्यवधानात् प्रादेशस्याप्राप्तिः । अत एव मा भवानटिट् अत्र प्रादेशे सति “अचः” [४३१२] इति
द्वित्वम् । णाविति किम् ? कच्युङ् प्र इत्युच्यमाने अलीलवदित्यत्र प्रादेशो वचनसामर्थ्यादन्तरङ्गमैपमावादेशं
बाधित्वा नित्यत्वेन णेः खं च बाधित्वा वकारस्य स्यात् । इह चापीपचदपीपठदिति अनुङ्भूतत्वात् प्रो न स्यात् ।
किम् ? कारयति । हारयति । ननु मितां णौ प्रादेशवचनं ज्ञापकमन्यत्र प्रादेशाभावस्य । यद्येवमचीकरदित्यादावपि
न स्यात् । अथ प्रवचनाद् भवति । कारयतीत्यादावपि स्यात्तद्विशेषहेत्वभावात् । उङ् इति किम् ? अचकाङ्क्षत् ।
अनुङ् आकारस्य मा भूत् । अशास्वकव्युदित इति किम् ? अशशासत् । परस्य थेरभावान्न सन्वद्भावः ।
अकः खम् अकवम् अकवमस्यास्तीति अकली तस्य नेति । राजानमत्याख्यत् अन्यरराजत् । “तत्करोति
तदाचष्टे” इति णिच् । यत्र केवलस्याचः खं तत्र “परेऽचः पूर्वविधौ” [१११५७] इति स्थानिवद्भावः ।
हलचोश्चायमादेशः । तदर्थमकिलप्रतिषेधः । ननु च अनकारिदं खं कथमनकः खम् । यदत्राकः खं
तदाश्रयः प्रतिषेधः । स्थानिवद्भावस्तु नास्याश्रयः । ताधिकारस्तत्रानुवर्तते । तानिर्दिष्टस्याचः स्थानिवद्भावो
न समुदायरूपेण टिग्नस्य । ऋदित् । अङुदौकत् । अतुयौकत् । इह कथं गयन्ताणिणचि प्रादेशः । वादितवन्तं
प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणां परिवदकेन । णौ णिखस्य स्थानिवद्भावानुङो न स्यात् । णावित्यत्र
जातिग्रहणाददोषः ।

भ्राजभासभापदीपजीवमोलपीडो वा ॥५२१११६॥ भ्राज भास भाप दीप जीव मोल पीड
इत्येतेषां कचपरे णौ उङ् वा प्रो भवति । अत्रभ्राजत् । अविभ्राजत् । अत्रभासत् । अत्रीभसत् । अत्रभापत् ।
अत्रीभपत् । अदिदीपत् । अदिदीपत् । अजिजीवत् । अजीजिवत् । अमीमिलत् । अमिमीलत् । अपि-
पीडत् । अपीपिडत् । पूर्वसूत्रेण प्रादेशे प्राप्ते विकल्पः । यदा प्रः तदा पूर्ववत्सन्वद्भावेनेत्वं घेर्दीत्वम् ।
वेति योगविभागात् कणादीनां विकल्पः । अचकाणत् । अचीकरत् । अत्रमाणत् । अत्रीभणत् इत्यादि ।
भ्राजग्रहणं किम् ? यावता फणादिषु भ्राज इत्यृत्कारेदस्ति तस्य सिद्धः प्रः । एजृ भेजृ भ्राजृ
दीतावस्य ऋदितो नेति सिद्धमुभयम् । एवं तर्हि ज्ञापकार्थम् । अन्यत्र “यजराजभ्राजच्छसां षः”
[५३१५३] इत्यादौ भ्राजग्रहणेन राजिसहचरितस्य अर्द्धदितो ग्रहणम् । ऋदितो भ्रागिति भवति ।
भास ऋदित्करणमनर्थकम्

खं पिवश्चस्येत् ॥५२१११७॥ पिवतेरुङ् णौ कचपरे खं भवति चस्य च ईकारादेशः ।
अपीप्यत् । अपीप्यताम् । अपीप्यन् । उङ् खे कृते “द्वित्वेऽचि” [१११५६] इति स्थानिवद्भावाद्द्वित्वम् ।
पिव इति शब्धिकरणान्तो विकृतनिर्देशः । पिवतेरेकदेशो यङुबन्तनिवृत्त्यर्थः । अपपायत् । घेरभावात्सन्वद्भावो
न भवति । पातेरुब्धिकरणत्वात् “पै ओवै शोपणे” इत्यस्य च लक्षणात्कादेव निवृत्तिः ।

स्थ इत् ॥५२१११८॥ तिष्ठतेः कचपरे णावुङ् इकारादेशो भवति । अतिष्ठिपत् । अतिष्ठिपताम् ।
अतिष्ठिपन् । “लुङ्लिटोः प्रतिपदोक्तानि” इत्यादि वचनाद्यङुबन्तस्य न भवति । अततास्थपत् । ता स्था
इति स्थिते णिचि पुक् कचि द्वित्वं घेरभावात् सन्वद्भावो नास्ति ।

ओ वा ॥५२१११९॥ जिघ्रतेः कचपरे णावुङ् इकारादेशो भवति वा । अजिघ्रिपत् । अजिघ्रिपताम् ।
अजिघ्रिपन् । अजिघ्रपत् । अजिघ्रपताम् । अजिघ्रपन् । चस्य सन्वद्भावेनेत्वम् । अत्रापि यङुबन्तस्य न भवति ।
अजजाघ्रपत् । उभयोर्विकल्पयोर्मध्ये योगा नित्या इति पूर्वौ प्रापवादौ नित्यौ ।

उत्थत् ॥५१२१२०॥ कच्यरे णौ ऋवर्णस्य उङः स्थाने ऋकारदेशो भवति वा । अनवकाशत्वादन्तरङ्गाणाम् हररारामपवादः । अचीकृतत् । अवीवृतत् । अमीमृजत् । पत्ते इर् । अचकीर्तत् । अर् अववर्तत् । आर । अममार्जत् । “उङः” [५११७५] इति ऋकारस्येत्यम् । “व्युङः” [५१२१३] एप् । “मृजेरैप्” [५१२११] । ऋकारादेशस्य “रन्तोऽणुः” [१११४८] इति रन्तत्वं भवति । “अणुदिवस्वस्या-” [१११७२] इतीमं ग्राहकाणां मुक्त्वा सर्वमणुग्रहणं पूर्वेण एकारेणेति व्याख्यानात् ।

देङो दिगि लिटि ॥५१२१२१॥ देङो दिग्यादेशो भवति लिटि परतः । वेति निवृत्तम् । अवदिग्ये । अवदिग्याते । अवदिग्यरे । चस्येत्यनुवर्तते । वचनाद्द्वित्वे कृते चस्य देङश्च यथासङ्ख्यं दिगी आदेशौ भवतः । “ऐरिगिवाचचादुङोऽनुधियः” [४१४७८] इति यणादेशः सिद्धोऽन्यथा हीयादेशः स्यात् ।

ऋतः स्फादेरेप् ॥५१२१२२॥ ऋकारान्तस्य गोः स्फादेरेप् भवति लिटि परतः । सस्मरतुः । सस्मरुः । दधरतुः । दधरुः । वचनात्प्राग्विद्वत्त्वात्स्फादेरिति विशेषणम् । अन्यथा स्फादित्वासम्भवः । प्रतिषेधविषये लिटीदमारभ्यते । सस्मरेत्यादौ ऐव भवति पूर्वविप्रतिषेधेन । ऋत इति किम् ? चित्तिपतुः । चित्तिपुः । तपरकरणा-मसन्देहार्थम् । ऋकारास्याप्युत्तरसूत्रेण विधानात् । स्फादेरिति किम् ? चक्रतुः । चक्रुः । लिटीत्येव । स्मृतः । स्मृतवान् । ननु संचस्करतुः । संचस्करस्ति यत्र द्विपदाश्रयस्य सुयो बहिरङ्गलक्षणास्यासिद्धत्वात्कथमेप् । नैप दोषः । “पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन” [प०] इत्यस्मिन् दर्शनेऽन्तरङ्गे सुटि कृते पश्चादेप् । अतएव “स्फादतोऽसुटः” [५१११९१] । “स्फाद्यल्योरस्कुरेप्” [५१२१३८] इति प्रतिषेध उपपन्नो भवति ।

ऋच्छत्यताम् ॥५१२१२३॥ ऋच्छत ऋइत्येतस्य ऋकारान्तानां च लिटि एव भवति । आनच्छत् । आनच्छतुः । आनच्छुः । एप् द्वित्वम् । “आद्यतः” [५१२१७०] इति दीत्वम् । “ततो नुट्” [५१२१७१] इति नुट् । ऋ । आरतुः । आरुः । “अश्नोतेः” [५१२१७२] इति नियमानुगुणं न भवति । ऋत् । विचकरतु । विचकरुः । निजगरतुः । निजगरुः । वितस्तरतुः । वितस्तरुः । ऋच्छेरन्तरङ्गत्वात् “छे” [४१३६१] इति तुकि कृते सर्वत्राप्राप्तः ऋतां तु लिटि किति प्रतिषिद्ध एविवधीयते । निजगारेत्यादावैप् पूर्वनिर्णयेन ।

शृदृप् प्रो वा ॥५१२१२४॥ शृ दृ इत्येपां लिटि वा प्रो भवति । विशश्रुतुः । विशश्रुः । पत्ते पूर्वैणैप् । विशशरतुः । विशशरुः । विदद्रतुः । विदद्रुः । विददरतुः । विददरुः । निपप्रतुः । निपप्रुः । निपपरतुः । निपपरुः । प्रादेशवचनादिवोत्वे न भवतः । ये तु आ पाके, द्रा कुत्सायां गतौ, द्रा पूरणे इत्येतेषामनेकार्थत्वात् पत्ते प्रयोगादनर्थकमिदमिति मन्यन्ते तेषां प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् ।

केऽणः ॥५१२१२५॥ के परतोऽणः प्रो भवति । नदिका । कुमारीका । वामोरुका । कुत्साद्यर्थविवक्षायां “एवाकः” [४१११२९] इति कः । “स्वार्थिकाः प्रकृतिखिङ्गसङ्ख्ये अनुवर्तन्ते” [प०] इति यप् । क इति सान्कनिर्देशात्यग्रहणम् । वर्णग्रहणे तदादिविधिः स्यात् । ततश्च नदीकल्पः परीवाहः । कुमारी काम्यतीत्यत्रापि स्यात् । अण इति किम् ? गोका । नौका । पूर्वेण एकारेणाण् व्याख्यातः । राका काक इत्यादिषु “उणादयो बहुलम्” [२१२१६७] इति न भवति “कृदाधाराच्चिकलिभ्यः कः” [उ० सू०] “इण्भीकापाशल्हणतिमचिभ्यः कः” [उ० सू०] इति कायतेः कः । “न कपि” [५१२११६] इति प्रतिषेधादिहाननुबन्धकपरिभाषा नाश्रीयते । तेन निषाहकध्वं जात “ओर्देशे ङ्” [३१२१६५] तदादेशे के सानुबन्धकेऽपि प्रादेशः सिद्धो भवति । नैषाहकर्षुकः इति ।

न कपि ॥५१२१२६॥ कपि परतोऽणः प्रो न भवति । बहुकुमारीकः । बहुवामोरुकः । “ऋन्मोः” [४१२१५३] इति कप् सान्तः । खार्या क्रीतं खारीकम् । काकणीकम् । “खारीकाकणीभ्यां कप्” [३१४३०] ।

वाऽऽपः ॥५१२१२७॥ कपि परतः आवन्तस्य वा प्रो भवति । बहुखट्वकः । बहुखट्वाकः । बहुदामकः । बहुदामाकः । “शेषाद्वा” [४१२१५४] इति कप् ।

श्व्यस्पद्वचोऽयुक् पुमुमोऽङि ॥५१२१२८॥ शिव असि पति वचि इत्येषामङि परतः अकार थुक् पुम् उम् इत्येते यथासङ्ख्ये भवन्ति । अकार आदेशः थुगादय आगमाः । अश्वत् । “जृश्चि” [२११५०] इत्यादिनाङ् । “अन्तेऽन्तः” [१११४६] स्थाने अकारस्तस्य पररूपम् । आस्थत् । आस्थताम् । आस्थन् । “वक्त्यसुख्यातेरङ्” [२११४५] । “अटश्च” [४३१७८] इत्यैप् । अपतत् । अपतताम् । अपतन् । “द्युत्सुषा” [२११४८] आदिनाऽङ् । अवोचत् । अवोचताम् । अवोचन् । “आदेप्” [४३१७५] ।

दृशुरेप् ॥५१२१२९॥ दृशि इत्येतस्य गोः ऋवर्णान्तानां च अङि परतः एब् भवति । अदर्शत् । अदर्शताम् । अदर्शन् । “वेरितः” [२११४६] इत्युङ् । आरत् । असरत् । “द्युत्सुषा” [२११४८] आदिना अङ् । अजरत् । अजरताम् । अजरन् । “जृश्चि” [२११५०] इत्यादिनाङ् । जृप् : पित्करणमङ्गर्थम् । “जराया वा” [५११९६०] इति वचनं ज्ञापकमुरिति ऋवर्णनिर्देशस्य ।

शीङो गे ॥५१२१३०॥ शीङो गे परतः एब् भवति । शेते । शयाते । शेते । ङिति गे विधानमिदम् । शयावहै । शयामहै इत्यत्र सिद्धत्वात् । ग इति किम् ? शिश्ये । सानुबन्धकनिर्देशो यङुबन्तनिवृत्त्यर्थः । शेशीतः । शेश्यति ।

यि किङित्यङ् ॥५१२१३१॥ यकारादौ किङिति त्ये परतः शीङः अयङ्ङादेशो भवति । शय्यते । शाशय्यते । यङि परत्वेन च द्वित्वात्प्राग्यङादेशः । ङकारो “ङित्” [१११५०] इत्यन्तादेशार्थः । अकारः उच्चारणार्थः । शय्या । “समजनिषद्” [२१३८१] इत्यादिना क्यप् । प्रशय्य । क्तवान्तम् । यीति किम् ? शिश्ये । किङीति किम् ? शोयम् ।

गेरूहः प्रः ॥५१२१३२॥ गेः परस्य ऊहतेः प्रो भवति यकारादौ किङिति परतः । अभ्युह्यते । समुह्यते । “अचश्च” [११११२] इत्युपपत्थानादूहेरचः प्रादेशः । गेरिति किम् ? ऊह्यते । ऊह इति किम् ? समीह्यते । यीत्येव । समूहितम् । किङित्येव । अभ्यूह्यः श्लोकः । “केऽणः” [५२११२५] इत्यतोऽणग्रहणमनुवर्तते । तेन आ ऊह्यते ओह्यते । समोह्यते इत्यत्र न भवति । प्रोह्यत इत्येकादेशे कृते व्यपवर्गाभावान्न भवति । तद्गङ्गात्वेन व्यपवर्ग इति चेत् “उभयत आश्रये न तद्गङ्गावः” [५०] इति गेः परत्वं नास्ति ।

लिङ्यङेतेः ॥५१२१३३॥ एतेर्गोस्तरस्य लिङि यकारादौ किङिति प्रो भवति । उदियात् । समियात् । आशिषि लिङ् । यासुट् । “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [५३१४६] इति सखम् । “दीरकृद्गे” [५२११३४] इति दीत्वम् । तस्यानेन प्रः । कृति गे च दीत्वं न सम्भवति । न गे उदाहरणम् । अभियादित्यत्र स्वेको दीत्वे कृते प्रादेशः । गेरित्येव । ईयात् । अण इत्येव । आ ईयात् एयात् । समेयात् । तिपा निर्देशो असन्देहार्थः ।

दीरकृद्गे ॥५१२१३४॥ अकृद्यकारे अगयकारे च किङिति गोर्दीर्भवति । “अचश्च” [११११२] इत्युपपत्थानादचा विशेषणेन तदन्तविधिः । परिङतायते । चीयते । चेचीयते । स्तूयते । तोस्तूयते । चीयात् । स्त्यात् । आशिषि लिङ् । अकृदिति किम् ? प्रकृत्य । प्रस्तुत्य ! परत्वादीत्वे तुग्न स्यात् । अग इति किम् ? चिनुयात् । स्तुयात् ।

च्वौ ॥५१२१३५॥ च्वौ च त्ये परतः गोर्दीर्भवति । शुचीभवति । पट्टभवति । “कृभ्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वे सम्पत्तिरि च्विः” [४२१५५] इति च्विः । अवयवनिवृत्तिः । “त्यख्ये त्याश्रयम्” [१११६३] इत्यजन्तस्य दीत्वम् ।

रीङतः ॥५१२१३६॥ ऋकारान्तस्य गोः च्वौ अकृद्यकारे अगयकारे च परतः रीङादेशो भवति । मात्रीभवति । पित्रीभवति । मात्रीयति । पित्रीयति । “स्वेपः क्यच्” [२११६] । मात्रीयते । पित्रीयते । “कतुः क्यङ् सखं विभाषा” [२११६] इति क्यङ् । चेक्रीयते । जेह्रीयते । किङीत्येतदिह निवृत्तम् । तेन पित्र्यम् । पितुरागतम् “पितुर्यश्च” [३१३५३] ये रीङादेशः सन्निपातलक्षणस्यानित्यत्वात् “यस्य ङ्यां च” [४१४१३६]

इति खम् । उत्तरसूत्रे रिङिहैव कर्त्तव्यः । तस्य दीत्वेन सिद्धमिति चेत् ; “गुकार्यै निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्” [प०] इति दीत्वं न स्यात् । ऋत इति तपरकरणं किम् ? कीर्यते । अन्यथा कीर्णमित्यादौ सावकाशम् ऋत इत्वं रीडा बाध्यते । उत्तरार्थमकृद्गे यि इत्येतदनुवर्तते इति ज्ञापनार्थं तपरकरणम् । अन्यथा अनन्तरे च्वावेवायं विधिः स्यात् । न च मृदन्त ऋकारो निवर्त्योऽस्तीत्यनर्थकं भवेत् ।

रिङ्यग्लिङ्शो ॥५१२१३७॥ ऋकारान्तस्य गोर्यक् लिङ् श इत्येतेषु परतः रिडादेशो भवति । यीति अकृद् इति चानुवर्तमानं सम्भवादव्यभिचाराच्च लिङ एव विशेषणम् । यकारादावगो द्रष्टव्यम् । यक्-क्रियते । ह्रियते । लिट्-क्रियात् । ह्रियात् । यीत्येव । कृषीष्ट । हृषीष्ट । अग इत्येव । विभृयात् । विध्यादिलिङ्यम् । शो-आद्रियते । “शुभुभ्रुवाम्” [४१४७२] इति यादेशः । ऋत इति तपरकरणं किम् ? किरति । गिरति । रीङिति वर्तमाने रिङग्रहणं पुनर्दीत्वनिवृत्त्यर्थम् ।

* **स्फाद्यत्योरस्कुरेप्** ॥५१२१३८॥ स्फादेरतेश्च ऋतो यकि लिङि यकारादावगो च परतः एवभवति स्कृशब्दं वर्जयित्वा । श इत्यसम्भवान्नोक्तम् । स्मर्यते । स्मर्यात् । ध्वर्यते । ध्वर्यात् । अर्यते । अर्यात् । यामुटः “स्फादेः स्कोऽन्ते च” [५१३१६६] इति सखम् । यीत्येव । स्मृषीष्ट । अग इत्येव । इय्यात् । विध्यादिलिङ् । शप उप् । द्वित्वम् । “उरः” [५१२१६६] इत्यत्वम् । “प्रोः” [५१२१७६] इति चस्थेत्वम् । “चस्यास्वे” [४१४७३] इतीय् । अस्कुरिति किम् ? संस्क्रियते । “पूर्वं धुर्गिना युज्यते पश्चात् साधनवाचिना त्येन” [प०] इति पूर्वं मुटि सति प्राप्नोति । अतिरिति ऋच्छतीत्यर्थग्रहणम् ।

यङि ॥५१२१३९॥ यङि च परतः स्फादेरतेश्च ऋत एव भवति । सारमर्यते । दाध्वर्यते । अरार्यते । अतैर्यङ् एप् । “अचः” [४१३१२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । “हलोऽनादेः” [५१२१६९] इति यखम् । “दीरकृद्गे” [५१२१३४] इति दीत्वम् । “हन्तेर्हिंसायां ध्नीभावो वक्तव्यः” [वा०] । जेष्ठीयते । हिंसायामिति किम् ? गतौ जङ्गन्यते ।

ई प्राध्मोः ॥५१२१४०॥ प्रा ध्मा इत्येतयोर्यङि परतः ईकारादेशो भवति । जेष्ठीयते । देष्ठीयते । नित्यत्वेन परत्वेन च प्राग् द्वित्वादीकारः । ईकारस्य दीत्वं किम् ? गुकार्यत्वात्पुनर्न स्यात् । उत्तरार्थञ्च ।

अस्य च्वौ ॥५१२१४१॥ अवर्णान्तस्य गोः च्वौ परतः ईकारादेशो भवति । शुक्लीभवति । मालीभवति । “च्वौ” [५१२१३५] इति दीत्वस्यायमपवादः ।

क्यचि ॥५१२१४२॥ क्यचि परतः अवर्णान्तस्य गोरीकारादेशो भवति । पटीयति । मालीयति । “दीरकृद्गे” [५१२१३४] इति दीत्वं प्राप्तम् । पृथक् सूत्रमुत्तरार्थम् ।

लुत् वृद्धगर्थेऽशनायोदन्यधनायाः ॥५१२१४३॥ लुत् वृद्धगर्थ इत्येतेष्वर्थेषु अशनाय उदन्य धनाय इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । अशनायतीत्यात्वं क्यचि निपात्यते लुच्चेद्भवति । अशनीयत्यन्यत्र । उदन्यतीत्यत्र उदकस्योद्भावो निपात्यते वृट् चेत् । उदकीयतीत्यन्यत्र । धनायतीत्यात्वं निपात्यते गर्द्धश्चेत् । धनीयतीत्यन्यत्र ।

द्यतिस्यतिमास्थानं ति कितीत् ॥५१२१४४॥ द्यति स्यति मा स्था इत्येतेषां तकारादौ किति परतः इकारादेशो भवति । निर्दितः । निर्दितवान् । अवसितः । अवसितवान् । मितः । मितवान् । “गामादाग्रह्येष्वविशेषः” [प०] इति मामाङ्मेढां ग्रहणम् । स्थितः । स्थितवान् । आद्यस्य “दो दद्भोः” [५१२१४८] इति दद्भावे “भुमास्था” [४१४६५] आदिना सूत्रेणान्येषामीत्वे च प्राप्ते इत्ववचनम् । तीति किम् ? दीयते । स्थीयते । कितीति किम् ? अवदाता । अवसाता । द्यतिस्यत्योस्तिपा निर्देशो यडुबन्तनिवृत्त्यर्थः । निर्दादत्तः । निर्दादत्तवान् । अवसासीतः । अवसासीतवान् । दद्भावे ईत्वं च भवति । तपरकरणं सुखार्थम् ।

शाच्छोर्विभाषा ॥५१२१४५॥ शा छा इत्येतयोर्विभाषया इकारादेशो भवति तकारादौ किति परतः । निशितः । निशितवान् । निशातः । निशातवान् । अपच्छितः । अपच्छितवान् । अवच्छातः । अपच्छातवान् ।

व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन श्यतेरित्वं व्रतविषये नित्यमिष्यते । संशितव्रतः साधुः । संशितं यत्नेन सम्यक्सम्प्रादितं व्रतं यस्य येन वा स एवमुक्तः । संशितः साधुरित्यपि भवति । यः प्रकरणादिना व्रते यत्नवान् गम्यते ।

धाञो हि ॥५१२१४६॥ धाञः हिरित्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । हितः । हितवान् । अनेकाल्वात् सर्वस्य स्थाने “सुमास्था” [४१४६५] आदिनेत्वे प्राप्ते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशो यडुबन्त-निवृत्त्यर्थः । देधीतः । देधीतवान् । धेयो लाक्षणिकत्वान्निवृत्तिः ।

हाकः कित्व ॥५१२१४७॥ हाकः क्त्वात्ये परतः हिरादेशो भवति । हित्वा गतः । हित्वा गच्छति कर्माणि । मोक्षम् । पूर्ववदीत्वे प्राप्ते हिरादेशः । अनुबन्धनिर्देशस्तु हाङो निवृत्त्यर्थः । यडुबन्तनिवृत्त्यर्थश्च । ईत्वमपि यडुबन्तस्य नेष्यते । क्त्वोति सौत्रो निर्देशः ।

दो दद्धोः ॥५१२१४८॥ दा इत्येतस्य भुसञ्ज्ञकस्य दद् इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । दत्तः । दत्तवान् । दत्त्वा । दत्तिः । द इति किम् ? धीतः । धीतवान् । धेट इदं रूपम् । धाञो हिरादेश उक्तः । भोरिति किम् ? दातम् बर्हिः । ते आदेशे सुदत्तमित्यत्र “दस्ति” [४१३१२२५] इत्यनेन इगन्तस्य गेदीत्वं स्यात् । दान्तो “द्वान्तस्य तो नः” [५१३१५६] इति नत्वम् । धान्ते “तथोर्धोऽधः” [५१३१५६] इति भ्रष्टः परस्य धत्वम् । धान्ते नास्ति दोषः । तान्तो वास्तु । “दस्ति” [४१३१२२५] इत्यत्र द्वौ पक्षौ । दा इत्येतस्मिन्तकारादौ तकारान्ते वा दीत्वम् । तत्र तकारादौ नास्ति दोषः । धान्तपदे “खरि” [५१३१३०] इति चर्त्वम् ।

गेस्तोऽचः ॥५१२१४९॥ अजन्ताद्गोरुत्तरस्य दा इत्येतस्य भुसञ्ज्ञकस्य त इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः । नीत्तम् । वीत्तम् । परीत्तम् । प्रत्तम् । अवत्तम् । “अन्तेऽलः” [११११४६] इत्याकारस्य तकारः । अकार उच्चारणः । दकारस्य चर्त्वम् । गोरिति कानिर्देशात् “परस्यादेः” [११११५१] इति चेददोषोऽयम् । “अस्य चवौ” [५१२१४१] इत्यतो मण्डूकपुल्या अवर्णस्येति वर्तते । तेनाकारस्य भविष्यति । द्वितकारको वा निर्देशोऽनेकाल्वात् सर्वस्य स्थाने भवति । गोरिति किम् ? दधि दत्तम् । अच इति किम् ? संदत्तम् । द इत्येव । निधीता गौर्यत्सेन । भोरित्येव । अवदात्तं मुखम् । अतेरित्वात्तो भवति परत्वात् । अवत्तः । अवत्तवान् । ननु च—

अवदत्तं विदत्तञ्च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।

सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेप्यते ॥

तत्कथं सिद्ध्यति । अवादीनां गम्यमानक्रियान्तरविषयत्वेन ददाति प्रत्यगित्वात् सिद्धम् । “यत्क्रिया-युक्तस्तं प्रति गीतिसञ्ज्ञको भवति” इति वचनात् । अवहीनमवगतं वा दत्तमवदत्तमिति क्रियान्तरविषयत्वं योज्यम् । अथ वा “शाङ्खोर्विभाषा” [५१२१४५] इत्यतो मण्डूकपुल्या व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेः ।

भ्यपः ॥५१२१५०॥ भकारादौ परतः अप् इत्यस्य गोः तकारादेशो भवति । अद्भिः । अद्भ्यः । भीति किम् ? अप्त्तु । द्वितकारकनिर्देशपदे तु पूर्वस्यापि तकारस्य जश्त्वम् । अनेकाल्वात् सर्वदेश इति चेन्न । अच इति वर्तते । अचः परस्य भवति । गोरिति विशेषणत्वे भादौ सम्प्रत्ययः । तेन पदे न भवति । अभ्यारः । अभ्यक्षः ।

स्यगे सः ५१२१५१॥ सकारादावगो परतः सकारान्तस्य गोस्त इत्ययमादेशो भवति । वस्त्यति । अवस्त्यत् । विवत्सति । “अन्तेऽलः” [११११४६] इति वा । “निर्दिश्यमानस्यादेशा” [५०] इति वा सकारस्य तत्त्वम् । द्वितकारकपदे अच इति काविभक्त्यन्तमनुवर्त्यम् ? सीति किम् ? प्रवासः । अगे इति

किम् ? आस्ते । वस्ते । स इति किम् ? पठ्यति । अशिष्यत इत्यत्र इटः सकारं प्रति भक्त त्वेऽपि सीति वचनान्न भवति । द्विसकारको वास्तीति निर्देशः ।

तासस्त्योः खम् ॥५१२।१५२॥ तासेः अस्तेश्च सकारस्य सकारादौ खं भवति । कर्तासि । कर्तासे । अस्तेः-असि । अग इति निवृत्तमसम्भवात् । तासिगं विहितः । अस्तेरप्यगो भूभावेन भवितव्यमिति । व्यतिषे इत्यत्र परत्वात्सखमेकदेशविकृतस्यानन्यात् “शनसः खम्” [५१४।१०१] इत्यखम् । त्वमात्रमेव पदम् । पत्वं प्राप्तम् “नाद्यन्ते” [५१४।७६] इति प्रतिपिद्धम् । “गिप्रोटुभ्यां यच्यस्तेः” [५१४।६८] इति । तत्र पदस्येति वर्तते । गिपूर्वस्यास्तेः पदस्य यकाराच्चरस्य इति पत्वम् ।

रि ॥५१२।१५३॥ रेफादौ त्वे परतः तासस्त्योः सखं भवति । कर्त्तारौ । कर्त्तारः । अस्ते रेफादिर्नास्ति ।

एति हः ॥५१२।१५४॥ एकारे परतः तासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति । कर्त्ताहे । लविताहे । अस्तेः । व्यतिहे । तपरत्वमसन्देहार्थम् “इटि ह” इति सूत्रे व्यत्यासीति न स्यात् ।

स्सनि मीमाभुरभलभशकपतपदोऽच इसू ॥५१२।१५५॥ सनि सकारादौ परतः मी मा भु रभ लभ शक पत पद इत्येतेषामचः स्थाने इस् भवति । मी इति मीनातिमिनोत्योर्ग्रहणम् । “हनिङ्गभ्यचां सनि” [५१४।१४] इति दीत्वे कृते विशेषाभावात् । मिनाति । प्रमित्सति । मा इति “गामादाग्रहणेष्वाविशेषः” [प०] इति प्रतिपदोक्तपरिभाषा नापेक्षिता । मित्सति । मेङ् । अपमित्सते । माङ्-मित्सते । भु-दित्सति । धित्सति । आरिप्सते । आलिप्सते । शिन्ति । पित्सति । प्रपित्सते । अनेकाल्वात्सर्वादेशो मा भूदच इस् विधीयते । द्वित्वम् । “चस्यात्र खम्” [५१२।१६०] इति चखम् । “स्यगे सः” [५१२।१५१] इति सकारस्य तत्त्वम् । रमादिषु “स्फादेः स्कोन्ते च” [५१३।१६] इति इसः सखम् । सकारादाविति किम् ? पिपतिषति । “तनिपतिदरिद्रां वेट्” [वा०] । सनीति किम् ? दास्यति । सीत्येतद्व्यवहितम् । सनीति द्विसकारको निर्देशः ।

राधोः वधे ॥५१२।१५६॥ राधेः वधेऽर्थे वर्तमानस्य अच इस् भवति सनि सकारादौ । प्रतिरित्सति श्वानम् । वध इति किम् ? आरिरात्सति ।

आपृञ्जप्यधामीत् ॥५१२।१५७॥ आपृ ऋपि ऋध इत्येतेषामच ईकारादेशो भवति सनि सकारादौ । ईप्सति । शीप्सति । ईर्त्सति । ऋपेः पूर्वनिर्यायेन णिखे आद्यच ईत्वम् । सकारादावित्येव । जिञ्जपयिषति । आर्दिधिषति । “सर्नावन्त” [५११।६७] इतीदृक्विकल्पः ।

दम्भ इच्च ॥५१२।१५८॥ दम्भेरच इकारादेशो भवति ईच्च सनि सकारादौ । धिप्सति । धीप्सति । दम्भेरनिट्पक्षे इकारादेशो कृते “हलन्तात्” [१११।८४] इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवचनत्वात् सनः कित्त्वे “हलुङः क्ङित्यनिदितः” [५१२।२३] इति नखं भण्भावः । सकारादावित्येव । दिदम्भिषति ।

वा मुचो धेरेप् ॥५१२।१५९॥ मुचेर्धिसञ्ज्ञकस्य वा एप् भवति सनि सकारादौ । मोक्षते वत्सः स्वयमेव । मुमुक्षते वत्सः स्वयमेव । आत्मनो मोक्षुमिच्छतीति सन् । वत्सो हि मोक्षुमिष्यमाणो मुक्तक्रियां प्रत्यानुकूल्यं यदा प्रतिपद्यते तदा मुमोचत्वात् कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितमिति बाह्यकर्माभावात्मुचिरकर्मकः । इक एप् चस्य खम् । अच इत्येतन्निवृत्तम् । अन्यथा “चस्यात्र खम्” [५१२।१६०] इत्यत्र चस्याचः खं स्यात् । धेरिति किम् ? मुमुक्षति कर्माणि मुनिः ।

चस्यात्र खम् ॥५१२।१६०॥ यदेतदनुक्रान्तं सनि सकारादौ मुचेरेपर्यन्तम् एतस्मिन् चस्य खं भवति । तथा चैवोदाहृतम् । यच्चेत ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आपादपरिसमाप्तेश्चस्येतद्वेदितव्यम् । ननु सनि सकारादावित्यधिकारेणामिसम्बन्धात् सिद्धम् अत्रग्रहणं किम् ? सर्वस्य चस्य खं यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

हलोऽनादेः ॥५१२१६१॥ अनादेर्हलः खं भवति चस्य । हुटौके । तुत्रौके । पपाच । आटतुः । आट । अनादेर्हलः अच उत्तरस्य चखम् ।

शरः खयि ॥५१२१६२॥ शरः खं भवति खयि परतश्चस्य । चुश्च्योतिषति । तिष्ठासति । पिस्वंपिषते । शर इति किम् ? पपाच । एकारो पकारेऽकारस्य मा भूत् । खयीति किम् ? सस्नौ । उचिच्छिषति । उच्छेरन्तरङ्गत्वात्तुकि चुत्वे च कृते चुत्वस्यासिद्धत्वात् सतकारस्य छस् द्वित्वे उचिच्छिषतीति प्रातम् । “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वक्ष्यत्यतो द्वित्वे चुत्वं सिद्धम् ।

प्रः ॥५१२१६३॥ प्रो भवति चस्य । पिपासति । निनीपति । हुटौके । हुटौकिषते । “अचश्च” [११११२] इत्यचः प्रादेशः ।

कुहोश्चुः ॥५१२१६४॥ चस्य कवर्गहकारयोः चवर्ग आदेशो भवति । चिकीर्षति । चखान । जगाम । जिघत्सति । जुहुवे । जहास । जहार । नादवतो महाप्राणस्य हस्य चुत्वे तादृश एव भकारः । जश्वं जकारः ।

वा कोर्यडि ॥५१२१६५॥ कोश्चस्य यडि वा चुर्मवति । कोरिति यस्य कस्यचिच्छब्दक्रियस्य ग्रहणे रूपद्वयं सिद्ध्यति । उष्ट्रश्चोकूयते । उष्ट्रः कोकूयते । यडीति किम् ? चुकुवे ।

उरः ॥५१२१६६॥ ऋवर्णान्तस्य चस्य अकारादेशो भवति । ववृते । ववृधे । चक्रे । जहे । अथ नर्नर्त्यादी परत्वाद्गुणादिषु कृतेषु ऋकारान्तत्वाभावाच्चस्यात्वं न प्राप्नोति । नैवं शङ्क्यम्, “चविकारे ष्वपवादा प्र उत्सर्गाच्च बाधन्ते” [५०] इति उरत्वे कृते रुगादयः ।

द्युतिस्वाप्योर्जिः ॥५१२१६७॥ द्युति स्वापीत्येतयोश्चस्य जिर्मवति । दिद्युते । अदिद्युतत् । देद्युत्यते । दिद्योतिषते । सनि “व्युडोऽवो हलः संश्च” [१११६७] इति विकल्पेन क्त्वम् । यदा नास्ति तदा “व्युडः” [५१२१८३] इत्येप् । स्वापि-मुष्वापयिषति । मुष्वापयिषतः । मुष्वापयिषन्ति । स्वापेय्यन्तस्य ग्रहणं किम् ? हेतुमति ण्यन्तस्यैव यथा स्यादिह मा भूत् । स्वापं करोतीति णिच् । स्वापयितु-मिच्छति । सिष्वापयिषति ।

व्यथो लिटि ॥५१२१६८॥ व्यथः लिटि परतश्चस्य जिर्मवति । विव्यथे । विव्यथाते । विव्यथिरे । ननु वकारस्यापि प्राप्नोति । अनादेरित्यनुवर्तमानं भवति ।

कितीणो दीः ॥५१२१६९॥ लिटि किति परतः इणश्चस्य दीर्मवति । ईयतुः । ईयुः । परत्वात् “यथेयोः” [४१४७७] इति यणादेशः । तस्य “द्वित्वेऽचि” [१११५९] इति स्थानिवद्भावादिकारस्य द्वित्वम् । द्वित्वे एव स्थानिवद्भावो न तु स्वेऽको दीत्वे । कितीति किम् ? इयाय । इययिथ । ऐबेपोः । कृतयोः स्थानिवद्भावाद्वित्वम् । “चस्यास्वे” [४१४७३] इति यादेशः ।

आद्यतः ॥५१२१७०॥ आदेरतश्चस्य दीर्मवति लिटि परतः । लिटीति वर्तते । कितीति निवृत्तम् । आटतुः । आटुः । आटिथ । “एण्यतोऽपदे” [४१३८७] इति पररूपत्वे प्राप्ते चस्य दीत्वम् । आदेरिति किम् ? दददे । दददाते । चान्तस्य न भवति । अत इति किम् ? इयेष । उवोष । तपरकरणं किम् ? य उपदेश आकार-स्तस्य प्रादेशे कृते अनेन दीत्वं मा भूत् । “आङ्गि आयामे” [४०] आञ्छुतुः । आञ्छुरिति । यद्यनेन दीत्वं स्यात् “ततो नुट्” [५१२१७१] इति नुट् प्रसज्येत ।

ततो नुट् ॥५१२१७१॥ तस्मात् कृतदीत्वान्नुडागमो भवति । आनङ्ग । आनङ्गतुः । आनङ्गुः । आनञ्ज । आनञ्जतुः । आनञ्जुः । नुगिति पूर्वान्तः कर्तव्यः । चस्येति वर्तते । चस्य कृतदीत्वस्य भविष्यति । एवं लघुना निर्देशेन सिद्धे परादिवचनं ज्ञापकम् “अस्मिन्प्रकरणे पूर्वान्तः आगमः स्वनिमित्तमन्तरेणैषि क्रियते” तेनाभिलादावप्यनुस्वारः । यंयम्यते । रंरम्यते ।

अश्नोतेः ॥५१२१७२॥ अश्नोतेश्च कृतदीत्वान्नुङ् भवति । व्यानशे । व्यानशाते । व्यानशारे । नियमाथोऽयमारम्भः । अश्नोतेरेवाकारोऽङ् नुङ् भवति नान्यस्य । आद्यतुः । आद्युः । तुल्यजातीयस्य नियमादिह भवत्येव । आनृचतुः । आनृचुः । अश्नोतेरिति विकरणनिर्देशादश्नोतेर्न भवति । आशतुः । आशुः ।

भवतेरः ॥५१२१७३॥ भवतेश्चस्य अकारादेशो भवति लिटि परतः । बभूव । बभूवतुः । बभूवुः । व्यतिबभूवे । “लुङ् लिटोर्बुक् [४१४८१] इति वुगागमः । लिटीत्येव । वुभूषति । वोभूयते । तिपा निर्देशो यदुद्यन्तनिवृत्त्यर्थः । वोभवाञ्चकर । नैतदस्ति “कास्यनेकाख्याल्लिङ्ग्याम्” [२११३१] इति आमाव्यवहिते लिटि कथं प्राप्तिः । “इकस्तिपौ धुनिर्देशे” इत्यस्य सूचनार्थस्तर्हि ।

निजामुच्ये ॥५१२१७४॥ निजादीनामुचि चस्यैव भवति । बहुत्वनिर्देशादाद्यर्थो गम्यते । नेनेक्ति । वेवेक्ति । वेवेष्टि । नेनेक्ति इत्यव चस्य “किडिति” [११११६] इत्येप्रतिप्रेषो न भवति । धुरुपेण व्यवहितत्वात् । उचीति किम् ? निनेज । निजादयस्त्रयो वृत्त्यन्ताः ।

भृजां त्रयाणामिः ॥५१२१७५॥ भृजादीनां त्रयाणामुचि चस्य इकारादेशो भवति । त्रिमिति । मिमीते । सञ्जिहीते । “अन्तेऽलः” [१११४६] इति अच इत्वम् । त्रयाणामिति किम् ? जहाति । उचीत्येव । वभार ।

प्रोः ॥५१२१७६॥ पिपति इयति इत्येतयोः उचि चस्यैव भवति । पिपति । पिपृयात् । अपिपः । इयति । इयृयात् । ऐपः । अर्त्तलट् शप् । उच् एप् द्वित्वमित्त्वं “चस्यास्व” [४१४७३] इतीय् । “हृङ्ङापः [४१३५६] इति तिपः खम् । अडागमः । “अटश्च” [४१३७८] इत्यैप् । उचीत्यनुवर्तनम् । जुहोत्याद्योः प्रोरिदं ग्रहणम् । अर्तेर्भाषायामपि प्रयोगः ।

सन्त्यतः ॥५१२१७७॥ सनि परतश्चस्यात् इत्वं भवति । पिपत्ति । पिपासति । सनीति किम् ? पपाच । अत इति किम् ? तुष्टूपति । सनि यश्चस्तस्येत्वम् । पापच्यतेः सन् पिपापचिषते । तपरकरणं सुवार्थम् ।

ओः पुयण्ये ॥५१२१७८॥ उवर्णान्तस्य पवर्णयण्जकारेषु अवर्णपरेषु सनि परतः इत्वं भवति । पिपावयिषति । विभावयिषति । यण । यियावयिषति । रिरावयिषति । लिलावयिषति । जु इति सौत्रो धुः । जिजावयिषति । प्वादिभ्यो एयतेभ्यः सन् । ओरिति वचनं ज्ञापकम् “द्वित्वे कर्तव्ये णौ कृतं स्थानिवद्भवति” ननु वचनस्येदं प्रयोजनम् । पिपविषते यियविषतीति । “स्मिङ् पूङ् उवशः सनि” [५११३३३] । “सनीवन्त-र्द्धभ्रस्ज” [५११६७] इत्यादिना वेट् । एववादेशौ । “द्वित्वेऽचि” [१११५७] इति स्थानिवद्भावद्वित्वमने-नेत्वम् । यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात् । पकारयकारग्रहणमेव क्रियेत । पवर्णयण्जग्रहणमनर्थकं स्यात् । पुयण्जोति किम् ? नुनावयिषयिति । अवर्णपर इति किम् ? लुलूपति ।

सुश्रुद्र प्रुल्लुङ्च्युडो वा ॥५१२१७९॥ सवत्यादीनां चस्य ओः अवर्णपरे यणि परतः सनि वा इकारादेशो भवति । सिखावयिषति । सुखावयिषति । शिखावयिषति । शुशावयिषति । दिद्रावयिषति । दुद्रावयिषति । पिप्रावयिषति । पुप्रावयिषति । पिप्लावयिषति । पुप्लावयिषति । चिच्यावयिषति । चुच्यावयिषति । अवर्णपर इति वचनात् प्यन्तात्सन् । वचनसामर्थ्यात् सकारादिनैकेन यणो व्यवधानमिहाश्रितम् । अवर्णपर इत्येव । सुश्रूषति । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

यडुपोरेप् ॥५१२१८०॥ यङि यडुपि च परत इगन्तस्य चस्य एप् भवति । नेनीयते । वोभूयते । नेनयीति । वोभवीति । न हि यडुपोऽन्यत्रोपि चः सम्भवन्तीत्युल्लेखेन यडुप्सम्प्रत्ययः । “नोमता गोः” [१११६४] इत्याश्रयकार्यप्रतिषेधाद्यडुपि विधानम् ।

दीरकितः ॥५१२१८२॥ अकितश्चस्य पुडुपोर्दीर्भवति । पापच्यते । पापचीति । पापच्यते । पाप-
ठीति । “यङो वा” [५१२१८२] वचनं ज्ञापकमविशेषेण यङुपः । अकित इति किम् ? यंयम्यते । यंयमीति ।
ननु दीत्वापवादे परत्वान्नुकि कृते अनजन्तत्वात् कथं दीत्वप्राप्तिः । इदमेवाकित इति वचनं ज्ञापयति—“चविका-
रेष्वपवादा नोत्सर्गान् बाधन्ते” [प०] इति । तेन किं सिद्धम् ? मीमांसत इत्यादौ ईत्वं दीत्वेन न बाध्यते । डोटो-
क्यत इति दीत्वेन प्रादेशस्य न बाधा । अचीकरदित्यत्र “वेदीः” [५१२१८१] इत्यनेन “सन्त्यतः” [५१२१७७]
इत्वं न बाध्यते । अजीगणदिति “ईच्च गणः” [५१२१८३] इत्यनेन “हलोऽनादेः” [५१११६१] खस्य
न बाधा ।

नीगव्यचुखंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥५१२१८२॥ वञ्चु खंसु ध्वंसु भ्रंसु कस पत
पद स्कन्द इत्येतेषां यङुपोश्चस्य नीगागमो भवति । वनीवच्यते । वनीवञ्चीति । सनीस्रस्यते । सनीखंसीति ।
दनीध्वस्यते । दनीध्वंसीति । वनीभ्रश्यते । वनीभ्रंशीति । चनीकस्यते । चनीकसीति । पनीपत्यते ।
पनीपतीति । आपनीपद्यते । आपनीपदीति । चनीस्कद्यते । चनीस्कन्दीति । यङुपि “नोमता गोः” [१११६४]
इति प्रतिषेधात् “हलुङः” [४११२३] इति नखं न भवति । नीगिति दीत्वोच्चारणसामर्थ्यान्न प्रादेशः ।
अकित इति दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तरणम् ।

डस्यातो नुक् ॥५१२१८३॥ डसञ्ज्ञान्तस्य गोर्यश्चेऽकारान्तस्तस्य तुगागमो भवति यङुपोः परतः ।
बंभयते । बंभणीति । तन्तन्यते । तन्तनीति । जङ्गभ्यते । जङ्गमीति । नुको “नश्चापदान्तस्य भलि”
[५१४१८] इत्यनुस्वारस्य परस्वत्वम् । असत्यपि स्वनिमित्ते भलादौ अनुस्वारो भवतीत्युक्तम् । तेन यंयम्यते ।
रंरम्यते इत्यनुस्वारः । अत्रापि दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तत्वम् । डस्येति किम् ? पापच्यते । अत इति किम् ?
तेतिम्यते । तपरकरणं किम् ? आकारभूतपूर्वस्य मा भूत् । बाभाम्यते ।

जपजमदहदशमञ्जपशाम् ॥५१२१८४॥ जप जम दह दश मञ्ज पश इत्येतेषां चस्य तुगागमो
भवति यङुपोः परतः । जञ्जयते । जञ्जपीति । जञ्जभ्यते । जञ्जभीति । दन्दह्यते । दन्दहीति । दंदश्यते ।
दंदशीति । बम्भज्यते । बम्भजीति । पम्पश्यते । पम्पशीति । पश इति सौत्रो धुः । जपादिषु दंशिपर्यन्तेषु
“लुपसदचर” [२११२१] इत्यादिना यङ् । अन्यत्र क्रियासमभिहारे । दश इति सूत्रनिर्देशाद्यङुप्यपि नखं
भवतीति केचित् । तदयुक्तम् । विकरणादिर्देशोऽयम् । यथा “पतदशनहः करणे ऋट्” [२१२१६०] इति ।

चरफलोऽरुचोऽङः ॥५१२१८५॥ चर फल इत्येतयोश्चस्य तुग्भवति यङुपोः उङश्च उकारादेशश्चर-
फलोः । चञ्चूर्यते । “हल्यमकुच्छुरः” [५१२१८६] इति दीत्वम् । चञ्चुरीति । पम्फुल्यते । पम्फुलीति ।
उदिति तपरकरणं किम् ? चञ्चूर्ति । पम्फुल्लीत्यत्र “व्युङः” [५१२१८३] एमिवृत्त्यर्थं दीत्वस्यासिद्धत्वादेप्
प्राप्नोति । नन्वेव इव दीत्वस्यापि तपरकरणात् किञ्च निवृत्तिः । अत्रोच्यते—यथा “गेऽत उत्” [४१११००]
इति तपरकरणे न दीत्वमशक्यं निवर्तयितुम् अभकुच्छुर इति प्रतिषेधारम्भात्तथाऽत्रापि ।

ति ॥५१२१८६॥ तकारादौ चपरतः चरफलोऽङः उकारादेशो भवति । देवचूर्तिः । “क्तिचकौखौ”
[२१११५०] इति क्तिच् । एवं चरणं चूर्तिः । फलनं फुलितः । प्रफुल्ला लता । यङुपोश्चस्येति चानुवर्तमान-
मिह वचनसामर्थ्यात् नाभिसम्बध्यते ।

रीगृत्वतः ॥५१२१८७॥ ऋत्वतो गोश्चस्य रीगागमो भवति यङ् । वरीवृत्त्यते । नरीनृत्त्यते । यदि
ऋदुङ इति क्रियेत । सरोसृज्यते इति न स्यात् । ऋ मत् इति तर्हि कर्तव्यम् । चिकीर्षत इत्यत्र तु कृताकृत-
प्रसङ्गिनाहतः ईर्षविष्यति । एवं सिद्धे तपरकरणं लाक्षणिकस्यापि रीगर्थम् । तेन वरीवृत्त्यते । वरीभृज्यते ।
परीपृच्छयते ? चेक्रीयते जेहीयते इत्यत्र कस्मान्न रीगिति चेत् ; द्वित्वात् । परत्वेन रीडादेशे कृते ऋकारा-
भावान्न भवति ।

रुग्रिकौ चोपि ॥५।२।१८८॥ ऋत्वतो गोश्चस्य यडुपि रुग्रिकौ भवतः रीक् च । नर्नर्ति । नरि-
नर्ति । नरीनर्ति ।

ऋतः ॥५।२।१८९॥ ऋकारान्तस्य गोर्यश्चस्तस्य यडुपि रुग्रिकौ भवतः रीक् च । तपरकरणसामर्थ्यादता
गुर्विरोष्यते । चर्कति । चरिकति । चरीकति । जर्हति । जरिहति । जरीहति । “अदोऽट्” [५।२।१९५] इत्यत्रोक्तं
चानुक्कष्टमपि क्वचिदुत्तरत्रानुवर्तते तेन रीक् । तपरकरणं किम् ? कृ गृ । चार्कति । जार्गति । ननु च “रुग्रिकौ
चोपि” [५।२।१८७] इत्यनेनैव तृतयं सिद्धम् । तत्रापि “ऋत्वतः” [५।२।१८६] इति तपरकरणमस्ति तेन चाक-
र्त्यादौ न भविष्यतीति चेत् ; तत्र तपरकरणं लाक्षणिकार्थमुक्तमिति किरत्यादेर्निवृत्तिर्न स्यात् ।

घौ कच्यनक्खे सन्वत् ॥५।२।१९०॥ कच्यरे घिसञ्जके वणें यश्चस्तस्य सनीव कार्यं भवति
अनक्खे । “सन्वतः” [५।२।१७७] इतीत्वमुक्तम् । कच्यपि तथा अचीकरत् । अपीपचत् । “ओः पुयणञ्वे”
[५।२।१७८] कच्यपि तथा । अपीपठत् । अलीलवत् । अजीजवत् । वा सत्रत्यादीनां कच्यपि तथा ।
असिखवत् । असुखवत् । अदिद्रवत् । अदुद्रवत् । ननु हला व्यवधानात् कथं कच्यरो पवर्णः ? वचन-
प्रामाण्यादेकेन व्यवधानमाश्रितम् । घाविति किम् ? अततक्षत् । अवभासत् । कचीति किम् ? अहं
पपच । अनक्ख इति किम् ? स्तनमाख्यत् अतस्तनत् । वनमाख्यत् । अववनत् । “णाविष्ठन्मृदः” [४।४।१४६]
इति इष्टद्वावः “तुरिष्ठेमेयस्सु” [४।४।१४४] “टः” [४।४।१४५] इति टिखम् । इह कस्मान् न भवति ।
अचकमतेति कच्चिषये । “वाऽगे” [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तिपक्षे कचि कृते । अत्रोच्यते-नैवं ज्ञातव्यम् ।
अकः खम् अकलम् । अकखेनेति । किं तर्हि ? अक् खं यस्मिन्निमित्तभूते सोऽयमक्खो न अक्खो अनक्खः
तस्मिन् । पयुदासवृत्त्या अनक्खनिमित्ते शौ मय्यगते सन्वद्वाव इत्यदोषः । तथा अकः खं यस्मिन्णिणिसामान्ये
अन्यस्य । न तु शौ णिखमकः खम् । तेन वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदत् । ननु अजजागरदित्यत्र गकार-
ऋकारे घिसञ्जामाश्रित्य प्रानोति सन्वद्वावः । वचनप्रामाण्याद् व्यवधानेऽपि सन्वद्भावेन भवितव्यम् । सर्व-
त्रापीपचदित्यादावपि चस्थानान्तर्यं घिना नास्ति । नायं दोषः । वचनप्रामाण्यादिहैकवर्णेन व्यवधानमिष्टं
सङ्घातेन पुनर्व्यवधाने भवति न भवति च । तत्र “त्वर” [५।२।१९२] आदीनामित्वापवादार्थमत्ववचनं ज्ञापकम् ।
हलङ्घातेन व्यवधाने भवति । अचिक्कणत् । अवित्रजत् इति । अज्जल्लसङ्घातेन व्यवधाने तु न भवति । अमीमप-
दित्यादौ “स्सनि मीमा” [५।२।१५५] इत्येष विधिः कस्मान् भवति ? णिजन्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वात् ।

घेदीः ॥५।२।१९१॥ चस्य घेदीर्भवति घौ कच्यरेऽनक्खे । अचीकरत् । अजीहरत् । अब्बुधत् ।
घेरिति किम् ? अचिक्कणत् । घावित्येव । अध्यापिपत् । “द्वित्वेऽचि” [१।१।५९] णिखस्य स्थानिवद्भावात् “अचः”
[४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम् । अत्र कच्यरो घिवर्णो नास्ति । कचीत्येव । अहं पपच । यत्र सन्व-
द्भावो नास्ति तत्र दीत्वमिह मा भूत् । अचकमत । अनक्ख इत्येव । अचकथत् । “आद्यतः” [५।२।१७०]
इत्यतः आदेरिति वर्तते तेनादेशस्य दीर्भवति । न द्वितीयस्यैकाचो यश्चस्तस्येति । प्रौणु नवदिति ।

स्मृदृत्वरप्रथमदृत्स्वशोऽत् ॥५।२।१९२॥ स्मृ दृ त्वर प्रथमदृ तृ स्पर्श इत्येतेषां चस्य अदा-
देशो भवति कच्यरे घौ परतः । असस्मरत् । अददरत् । अतत्वरत् । अप्रप्रथत् । अमम्रदत् । अतस्तरत् ।
अपस्पर्शत् । सन्वद्भावादिवे प्राप्ते वचनम् । अदिति तपरकरणं घेदीत्वनिवृत्त्यर्थम् । अददरत् ।

घा वेष्टिचेष्टयोः ॥५।२।१९३॥ वेष्टि चेष्टि इत्येतयोश्चस्य वा अद्भवति कचि परतः । अववेष्टत् ।
अविवेष्टत् । अचचेष्टत् । अचिचेष्टत् । इकारस्थानेनात्वम् ।

ईच्च गणः ॥५।२।१९४॥ गणयतेश्चस्य ईकारादेशो भवति अच्च कचि परतः । अजीगणत् ।
अजगणत् । अनक्ख इति प्रतिषेधात् सन्वद्भावो नास्ति । तदर्थमिदम् । चकारोऽदनुकर्षणार्थः ।

इत्यभयवन्दिचरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

[सर्वस्य द्वे ॥५१३१॥ परो त्रिः ॥५१३२॥ नित्यवीप्सयोः ॥५१३३॥ परेर्वर्जने ॥५१३४॥ उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥५१३५॥ वाक्यादेर्वीध्यस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ॥५१३६॥ एको बवत् ॥५१३७॥ आवाधे च ॥५१३८॥]
कश्चिदेवं प्रयुङ्क्ते इत्यावाधः । प्रयोक्तव्या । (?)

यवदुत्तरे ॥५१३९॥ उत्तरे द्वित्वे यस्येव कार्यं भवति । वदयति “प्रकारे गुणोक्तेः” [५१३१०] इति । पटुपटुः । पटुपट्वी । कालकालिका । वसतिदेशे “न वुहकोडः” [४३१४६] इति पुंवद्भावाप्रतिषेधः स्यात् । यसे तु “पुंवद्यजातीयदेशीये” [४३१५४] इति भवति । अधिकारेणाऽप्येतत्सिद्धम् । उत्तरग्रहणं ज्ञापकार्थम् । अयमधिकारः । “एको बवत्” [५१३७] इत्यादिलक्षणं चाधिकारश्च । तेन एष तवाञ्जलिरेष तवाञ्जलिः । अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया । आधिक्येऽपि द्वित्वमुक्तम् । “स्वार्थेऽवधार्यमाणोऽनेकस्मिन् द्वे भवतः” [वा०] अस्मात्सुवर्णादिह भवद्भ्यां माषं माषं देहि । अत्र द्वावेव माषौ दीयते न सर्वे माषाः । तेन वीप्सा नास्ति । अवधार्यमाण इति किम् ? इह भवद्भ्यां माषमेकं देहि । “पूर्वप्रथमयोरतिशये द्वे भवतः” [वा०] पूर्वं पूर्वं पुष्यन्ति । प्रथमं प्रथमं पच्यते । वेत्यधिकाराद्यद्वा न द्वित्वं तदाऽतिशायिकः । पूर्वतरं पुष्यन्ति । प्रथमतरं पच्यन्ते । “समसप्रधारणायां किम् आक्षेपे द्वे भवतः” [वा०] । उभाविमावादयौ कतराकतराऽनयोस्तयोरान्यता । कतमा कतमाऽनयोरादृत्यता । कीदृशी कीदृशी अनयोरादृत्यता । कतरः कतरोऽनयोर्विभवः । “कर्मव्यतिहारे सर्वानान्नो द्वित्वं सवच्च बहुलम्” [वा०] तत्र वेत्यधिकारात्सम्भ्यते । असक्यत्वे पूर्वपदस्यान्यशब्दस्य सुरेव । सवद्भावे च मिभूतस्यादेरुत्वं परशब्दस्य सुट् । अन्योन्यमिमे ग्रामा भोजयन्ति । अन्योन्यस्य भोजयन्ति । पुत्रादीति गम्यते । एवमितरेतरेषाम् । इतरेतरस्य । परस्परं परस्परस्य भोजयन्ति । “स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽम्भावो द्योस्तु” [वा०] अन्योन्यं नायौ भोजयतः । अन्योन्यां वा । अन्योन्यं कुले भोजयतः । अन्योन्यं वा । अन्योन्यं नायौ भोजयन्ति । अन्योन्यां वा । अन्योन्यं वा कुलानि भोजयन्ति । अन्योन्यं वा । इत्यादि सिद्धम् ।

प्रकारे गुणोक्तेः ॥५१३१०॥ प्रकारे वर्तमानस्य गुणोक्तेर्द्वे भवतः । प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते । उच्यते इत्युक्तिरभिधेयं वस्तु । गुण उक्तिरभिधेयोऽस्येति गुणोक्तिः, तस्य द्वित्वम् । पटुपटुः । परिङत-परिङतः । पटुपट्वी । परिङतपरिङता । उत्तरसूत्रे वाग्रहणमिह सिंहावलोकनेन सम्बध्यते । तेन जातीयोऽपि भवति । पटुजातीयः । मृदुजातीयः । द्वित्वजातीययोर्विधेयामेदे मृदुमृदुजातीय इत्यनिष्टं स्यात् । प्रकार इति किम् ? शुल्को गुणः । अग्निर्माणवकः । गौर्वाहीकः । सदागुणवचनो यः प्रकारे वर्तते तस्य द्वित्वम् । अयं तूपमानात्सर्वद्रव्यवचनः ।

प्रियसुखयोर्वाऽकृच्छ्रे ॥५१३११॥ प्रिय सुख इत्येतयोरकृच्छ्रे वा द्वे भवतः । प्रियप्रियेण ददाति । प्रियेण ददाति । सुखसुखेनाधीते । सुखेनाधीते जैनेन्द्रम् । अप्रयासेनेत्यर्थः । अकृच्छ्रे इति किम् ? प्रियः पुत्रः । सुखो रथः । प्रीणातीति प्रियः । सुखयतीति सुखः ।

यथास्वे यथायथम् ॥५१३१२॥ यथायथमिति निपात्यते यथास्वेऽर्थे । सर्वे ज्ञाता यथायथम् । यथास्वभावं यथाऽत्मीयं चेत्यर्थः । यथाशब्दस्य द्वित्वमम्भावश्चान्ते निपात्यते । यो य आत्मा यो य आत्मीयो वा यथास्वम् । “यावद्यथा” [१३१६] इति वीप्सायां हसः । शिंसंज्ञकं वा यथायथमिति शब्दान्तरमस्मिन्नर्थे साधुत्वेनान्वाख्यातम् ।

१. प्रसिद्धि [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्फुटिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनु-सूत्यान् निर्दिष्टानि ।

द्वन्द्वं रहस्यादौ ॥५१३१३॥ द्वन्द्वमिति निपात्यते रहस्यादावर्थे । द्वि औ इत्यस्य द्वित्वे सुवुपि पूर्वोत्तरपदयोः रिकारस्याम्भावोऽस्त्वं च निपात्यते रहस्यप्रकारेऽर्थे रहस्याभिधाने । द्वन्द्वं मन्त्रयेते । द्वन्द्वं मन्त्रयेते । द्वौ द्वौ रहसि मन्त्रयेते इत्यर्थः । मर्यादावचनादथो विषयत्वेनाश्रीयन्ते । मर्यादयाम् आसप्तमनरकादधोऽधो द्वन्द्वं नरकपटलानि हीनानि व्युत्क्रमणं भेदः पृथक्स्थानम् । तत्र द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः । द्विवर्गसम्बन्धेन भिन्ना इत्यर्थः । यज्ञपात्रप्रयोगे, द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति । अभिव्यक्तौ, द्वन्द्वं नारदपर्वतौ । द्वन्द्वं सूर्याचन्द्रमसौ । विधिब्राह्मणौ द्वन्द्वम् । “वा वीप्सायां द्वन्द्वः” वीप्सायां द्वन्द्वं द्वौ द्वौ । वृत्तिविशेषे “चाथे द्वन्द्वः” [१३१३२] अन्यत्रापि दृश्यते । द्वन्द्वानि सहेते । द्वन्द्वं युद्धं कृतम् ! अतएव च रहस्य-मर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिरूपं परिगणनं न कृतम् ।

पदस्य ॥५१३१४॥ पदस्येक्ययमधिकारो वेदितव्य आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । वक्ष्यति “नखं मृदन्त-स्याकौ” [५१३१०] इति । राजभ्याम् । राजमिः । तथा “स्फान्तस्य खम्” [५१३१४] इति पतन् । यजन् । अत्रार्थवशात्पदस्येत्यवयवे ता द्रष्टव्या । पदस्येति किम् ? राजे । राज्ञः । भर्त्सना नपुंसकलिङ्गा पदसंज्ञा बाध्यते

पदादापादादौ ॥५१३१५॥ पदादिति अपादादाविति च एतद्विषयमधिकृतं वेदितव्यं प्रागसिद्धाधिकारात् । वक्ष्यति “बहोर्वस्नसौ” [५१३१७] इति । ग्रामो वो दीयते । नगरं नो दीयते । पदादिति किम् ? युष्मभ्यं ग्रामो दीयते । अपादादाविति किम् ?

शान्तिनाथो जिनः सोऽतु युष्माकमवशान्तये ।

येन संसारताभीतिरस्माकमिह नाशिता ॥

युष्मदस्मदोऽविप्तास्थस्य घांनावौ ॥५१३१६॥ पदात्परयोः पदादौ वर्तमानयोर्युष्मदस्मदित्येत-योर्गुणानामुत्थितयोर्गाम्नी इत्येतावादेशौ भवतः । युष्मदस्मदिति इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः । ओसः स्थाने ङ्स्कृतः सौत्रत्वाभिर्देशस्य । पदस्य सर्वस्येति च वर्तते । यदि वा पदस्येति स्थानलक्षणाऽत्र ता सम्पद्यते, सर्वस्य पदस्य स्थाने आदेशः । एकत्रहोरादेशान्तरं वक्ष्यति । अतो द्विविधे विधिः । ज्ञानं वां दीयते । शीलं नौ दीयते । ज्ञानं वां रक्षतु । शीलं नौ रक्षतु । ज्ञानं वां स्वम् । शीलं नौ स्वम् । अविप्तास्थस्येति किम् ? दानं युवाभ्यां कृतम् । स्थग्रहणं किम् ? श्रूयमाणविभक्त्यां यथा स्यात् । इह मा भूत् । इति युष्मदुपाध्यायः । पदविधिरयम् । अस्माभ्यं न भवति । आवाभ्यां भाव्यते ज्ञानम् । युवाभ्यां दीयते दानमिति । अथेह सामर्थ्येऽपि कस्मान्न भवति ? ओदनं पच तव भविष्यति मम भविष्यतीति । “समाने वाक्ये युष्मदस्मदादेशविधिरिष्यते” । इह तु ओदनं पचत्येकं वाक्यं तव भविष्यतीति द्वितीयं वाक्यम् । अवश्यं समानवाक्याधिकार एष्टव्यः । शालीनां ते ओदनं ददातीत्यत्रापि यथा स्यात् । अन्यथा शालीनामित्यस्य ते इत्यनेन सामर्थ्याभावान्न स्यात् ।

बहोर्वस्नसौ ॥५१३१७॥ बह्वन्तयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नस् इत्येतावादेशौ भवतस्तास्वेव विभक्तीषु । ज्ञानं वो दीयते । शीलं नो दीयते । ज्ञानं वो रक्षतु । शीलं नो रक्षतु । ज्ञानं वः स्वम् । शीलं नः स्वम् ।

एकस्य ते मे ॥५१३१८॥ एकान्तयोर्युष्मदस्मदोस्ते मे इत्येतावादेशौ भवतः । एक इति त्यः । “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणम्” [५०] । ज्ञानं ते दीयते । शीलं मे दीयते । इपो वक्ष्यति । ज्ञानं ते स्वम् । शीलं मे स्वम् ।

त्वामाविपः ॥५१३१९॥ एकस्येति वर्तते । इवेकान्तयोर्युष्मदस्मदोस्त्वा मा इत्येतावादेशौ भवतः । ज्ञानं त्वा रक्षतु । शीलं मा रक्षतु ।

न चवाहाऽहैवयोगे ॥५१३२०॥ च वा ह अह एव इत्येतैर्योगे युष्मदस्मदोर्वाभ्वादायो न भवन्ति । ज्ञानं तुभ्यं मङ्गं च दीयते । युवाभ्यां आवाभ्यां च दीयते । युष्मभ्यं अस्मभ्यं च दीयते । ज्ञानं त्वां मां च रक्षतु ।

युवां आवां च रक्षतु । युष्मान् अस्माँश्च रक्षतु । ज्ञानं तव च स्वम् । ज्ञानं मम च स्वम् । युवयोः आवयोश्च स्वम् । युष्माकं अस्माकं च स्वम् । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं वा दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं ह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमेव दीयते । इत्यादि योज्यम् । योग इति किम् ? ज्ञानं च मे स्वम् । नात्र चादिभिर्बुध्मद-
स्मदोयोगः । किन्तर्हि ? ज्ञानस्य ।

दृश्यर्थैश्चिन्तायाम् ॥५१३१२१॥ चिन्तायां वर्तमानैदृश्यर्थैर्बुध्मियोगे बुध्मदस्मदोर्वाग्मावादयो न भवन्ति । अत्र साक्षाद्योगे तद्युक्तयोगे च प्रतिषेधः । ज्ञानं तुभ्यं दीयमानं समीच्यागतो जनः । ज्ञानं मह्यं दीयमानं समीच्यागतः । साक्षाद्योगे ग्रामस्त्वां समीच्यागतः । ग्रामो मां समीच्यागतः । ज्ञानं तव स्वं समीच्यागतः । शीलं मम स्वं समीच्यागतः । सन्दृश्य संचिन्त्य निरूप्येति यावत् । दृश्यर्थैरिति किम् ? ग्रामस्त्वा मन्यते । अस्ति चिन्तार्थो मन् धुर्न तु दृश्यर्थः । चिन्तायामिति किम् ? ग्रामस्त्वा पश्यति । अत्र चक्षुर्दर्शने दृशिर्वर्तते । तेन न प्रतिषेधः ।

वाऽनन्वादेशे ॥५१३१२२॥ बुध्मदस्मदोर्वाग्मावादयो वा भवन्ति अनन्वादेशे । आदेशः कथनम् । अनन्वादेशोऽनुकथनम् । नान्वादेशोऽनन्वादेशः । तत्र विकल्पोऽनन्वादेशे नित्यो विधिः । ज्ञानं ते दीयते । ज्ञानं तुभ्यं दीयते । ज्ञानं मे दीयते । ज्ञानं मह्यं दीयते । इत्यादि योज्यम् । अनन्वादेश इति किम् ? अथो ज्ञानं ते दीयते । अथो ज्ञानं मे दीयते । पूर्वं किञ्चिदादिश्य इदमादिश्यते इत्यन्वादेशोऽयम् ।

सपूर्वाया वायाः ॥५१३१२३॥ विद्यमानपूर्वाद् वान्तात्परयोर्बुध्मदस्मदोर्वा वाग्मावादयो भवन्ति । अनन्वादेशो सामान्येन सिद्धम् । अनन्वादेशार्थमिदम् । अथो आचार्येण ज्ञानं ते दीयते । अथो आचार्येण ज्ञानं तुभ्यं दीयते । इत्यादि ।

बोध्यमसद्वत् ॥५१३१२४॥ बोध्यान्तं पदमसद्वद् भवति । बोध्यमिति सम्बोधनलक्षणया वाया ग्रहणम् । असद्वद्भावे प्रयोजनम् । बोध्यान्तात्परयोर्बुध्मदस्मदोरादेशनिवृत्तिः । देवदत्त तुभ्यं दीयते । देवदत्त मह्यं दीयते । इत्यादि नेयम् । इह च देवदत्त ज्ञानं ते । देवदत्त ज्ञानं मे । “सपूर्वाया वायाः” [५१३१२३] इत्यन्वादेशो विकल्पो न भवति । वत्करणं स्वश्रुत्यनिवृत्त्यर्थं कार्यं प्रत्यसद् भवति ।

नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम् ॥५१३१२५॥ एकार्थे बोध्यान्ते परतः सामान्यवचनं बोध्यान्तं नासद् भवति किन्तु सद्वेव भवति एकार्थः विशेषलक्षणो यस्य तदिदमेकार्थं विशेषवचनमित्यर्थः । कथं ज्ञायते ? सामान्यवचनम् इति निर्देशात् । परस्य विशेषवचनत्वमपेक्ष्य सामान्यवचनत्वं भवति । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो दीयते । क्षत्रिय श्रेणिक त्वाऽहं नृक्षतु । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो वर्धताम् । एकार्थ इति किम् ? क्षत्रिय ब्राह्मण युवाभ्यां धर्मो दीयते । बोध्य इति किम् ? क्षत्रिय धनवान् मे त्वं देहि । पूर्वस्य सत्वे “सपूर्वाया वायाः” [५१३१२३] इत्येव विधिः प्रसज्येत । सामान्यवचनमिति किम् ? श्रेणिक क्षत्रिय तुभ्यं धर्मो दीयते ।

वा विशेषवचने बहौ ॥५१३१२६॥ विशेषवचने बोध्ये बह्वन्ते परतः सामान्यवचनं वा बोध्यान्तमसद् भवति । देवाः शरण्या वो दीयते । देवाः शरण्या बुध्मस्य दीयते । “नैकार्थे बोध्ये सामान्यवचनम्” [५१३१२५] इत्यस्याथं विकल्पः । सामान्यवचनमित्यनुवृत्तेः परस्य विशेषवचनमनुक्तं सिद्धम् । तत्कृतं स्पष्टार्थमुत्तरार्थं च ।

पूर्वत्रासिद्धम् ॥५१३१२७॥ पूर्वत्र इति असिद्धमिति च एतदधिकृतं वेदितव्यम् आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । येषं चतुरध्यायी सार्धद्विपादाऽतिक्रान्ता तस्यामयं सार्धद्विपादोऽसिद्धो भवति । इत उत्तरं च उत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रासिद्धो भवति । असिद्धवद्भवति । शास्त्रासिद्धत्वेन तदाश्रयं कार्यं न भवतीत्यर्थः । अस्मा उद्भवति सिद्धा अत्र । असा आदित्यः । “ब्योः खम्” [५१३१५] इत्यस्य यवक्षशास्त्रस्याऽसिद्धत्वात् “आदेप्”

[४१३।७५] “स्वेऽङ्को दीः [४१३।८८] इति च न भवति । अमुष्मं । अमुष्मात् । अमुष्मिन् । उत्पशान्नस्या-
सिद्धत्वात्समायादयो भवन्ति ।

शुष्किका यन् सुशर्माणः क्षामिमानैजिद्व सुगीः ।

पक्वमाशीःपु गोलियमान् कुर्वन्ति पिपठीः सुमुत् ॥

शुष्किकेति “शुषि पचेः क्वौ” [५१३।६७] इति कादेशः । टप् । कुत्साद्यर्थे कः । पुनष्टाप् ।
“केऽणः” [५१२।१२५] प्रः । कत्वस्यासिद्धत्वात् “वातोऽघोर्यकात्” [५१२।५१] इति विकल्पो न भवति ।
“त्यस्थे क्वापी” [५१२।५०] इति नित्यमित्त्वम् । यन्निति स्फान्तत्वस्यासिद्धत्वान्मृदन्तनखं न भवति । सुशर्माण
इति णस्यासिद्धत्वात् नोङः “धेऽङ्कौ” [४१३।६] इति दीत्वम् । द्वौ जै सै क्षये क्तः । “क्षै मः”
[५१३।६८] इति मत्वम् । क्षामोऽस्यास्तीति क्षामी । सोऽस्यास्तीति क्षामिमान् । मत्वस्यासिद्धत्वात् “ममोङ् भूयो
मतोर्वोऽयवादेः” [५१३।३१] इति मनोर्वत्वं न भवति । ऊढमाख्यत् रिणचि लुङि कचि च कृते “अचः”
[४१३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वे कर्तव्ये ढत्वादेरसिद्धत्वात् हतकारयोर्द्वित्वम् । “हलोऽनादेः” [५१२।१६१] इति
तत्त्वम् । हकारस्य चुत्वम् । औजिदत् । ननु शौ च यद्विखं तस्य स्थानिवद्भावाद्द्विरुच्यते । अनक्व इति प्रतिषेधात्
सनीत्वं नास्ति । तत औजिदत् इति भवितव्यमिति केचित् । तदयुक्तम् । णौ कृतं स्थानिवद् भवति । न च टिखं शौ
कृतम् । किन्तुर्होषि । ततो “द्वित्वेऽचि” [१११।५१] इति स्थानिवद्भावात् सरोर्द्वित्वम् । ननु च “पूर्वत्रासिद्धीयम-
द्वित्वे” इति वक्ष्यति । तत्कथमसिद्धत्वं ढत्वादेः । न । “सर्वस्य द्वे” [५१३।१] इत्येतद्द्वित्वं तत्र गृह्यते । तेन गलो
गल इति लत्वं सिद्धम् । सुगीरिति विसर्जनीयस्यासिद्धत्वात् “ङ्को दी वोरुङः” [५१३।८५] इति दीत्वम् । पक्वमिति
वत्वस्यासिद्धत्वात् भल्लि चोः कुत्वम् । आशीःष्विति “रेश्च सुषि” [५१२।२४] इति सत्वस्यासिद्धत्वात् “ङ्को दी
वोरुङः” [५१३।८५] इति दीत्वम् । गोलियमान् इति ढत्वस्यासिद्धत्वात् “भूयः” [५१३।३१] इति क्तं न भवति ।
कुर्वन्ति इत्यनुस्वारपरस्वस्यासिद्धत्वात्सङ्गत्वं नास्ति । पिपठीरिति पत्वस्यासिद्धत्वाद्वित्वम् “परेऽचः पूर्वविधौ”
[१११।५७] इति अतः स्वस्य स्थानिवद्भाव इति चेत् ; न ; पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इति । सुमुदिति
जश्त्वस्यासिद्धत्वात् भूपन्तस्य वशो भवभावः । वृद्धो हसतीति रेरसिद्धत्वेऽप्युत्वं वचनाद् भवति ।
अपवादस्य परस्यापि वचनप्रामाण्यान्नासिद्धत्वम् । वृद्धा इति जश्त्वापवादो रित्वम् । दोग्धा इति ढत्वापवादो
षत्वम् । काष्ठतडिति स्फान्तत्वापवादः स्फादिस्त्वम् । येऽत्र कानिर्देशास्तानिर्देशा ईमिर्देशाश्च “रात्सः”
[५१३।४२] । “स्फान्तस्य खम्” [५१३।४१] “भूलो भल्लि” [५१३।४४] इत्यादयस्तेषाम् “ईप्केत्यव्यवाये
पूर्वपरयोः” [१११।६०] “तास्थाने” [१११।४६] इति च नियमे कर्तव्ये नासिद्धत्वम् । “कार्यकालं
संज्ञापरिभाषम्” [५०] इति पूर्वत्वं नास्ति । इह विस्फोर्यम् अवगोर्यम् इत्येवं बाधित्वा परत्वेन
“हृल्यभकुर्छुरः” [५१३।८६] इति दीत्वं नास्ति । “पूर्वत्रासिद्धे नास्ति स्पद्धोऽस्तत्वादुत्तरस्य” । विशेषवचन इति
वर्तते । विशेषे इदमसिद्धम् । तेन क्वाचिदपि विषये सिद्धत्वं भवति । तादेशः पत्वत्येङ्विधिषु सिद्धः ।
अन्वथा वृक्णः वृक्णवान् इति भल्लीति पत्वं स्यात् । क्षीवेण तरति क्षीविकः । द्वयज्जलक्षणाष्टो न
स्यात् । क्षीव इति वलादित्वादिट् स्यात् । छे तुकि पविधिः सिद्धः अग्नादे इ छत्रम् । पटादे
उ छत्रम् । छ इति किम् ? अग्निचीरेत् । चत्य जश्चत्वमेत्वतुकोः सिद्धम् । बभणतुः । बभणुः ।
आदेशस्यासिद्धत्वादेत्वं प्राप्नोति । उचिच्छिषतीति चादेशस्यासिद्धत्वाच्छे तुक् प्राप्नोति । यद्वित्वे परस्वत्वं
सिद्धम् । सँध्यतः । सँवत्सरः । यँल्लोकम् । तँल्लोकम् । यर इति द्वित्वं न स्यात् । “सर्वस्य द्वे” [५१३।१] इति
द्वित्वे ढत्वादयः सिद्धाः । द्रोग्धा द्रोग्धा । द्रोढा द्रोढा । गरोगरः । गलोगल इत्यादि । ढत्वादीनामसिद्धत्वात् ।
प्राग्वित्वे पश्चाद्विकल्पे सति रूपवैषम्यं स्यात् । गरोगल इति ।

नखं सुन्विधिकृत्तु कि ॥५१३।२८॥ सुपः स्थाने विधिं सुपि च विधिं कृति विहितं च तुकं प्रति
नखमसिद्धं भवति । विधीयते इति विधिः कार्यम् । ऐस्भावदौत्वादिः । सुपो विधिः सुन्विधिः एको विग्रहः सुवा-

अथो विधिरित्यर्थः । कृतस्तुक् कृत्तुक् । कृदाश्रयो हि तुक् कृतस्तुगुच्यते । राजभ्याम् । राजभिः । “सुपि” [५।२।१७] इति दीत्वम् । “भिसोऽत ऐस्” [५।१।८] इति च न भवति । वृत्रहभ्याम् । वृत्रहभिः । “पिति कृति तुक्” [४।३।५६] इति तुङ् न भवति । कृतीति किम् ? वृत्रहच्छत्रम् । छे तुगयम् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” [५०] । एतयोरेव नखमसिद्धं नान्यत्र । हस्त्यश्वम् । राजीयति । राजावळा । कृत्तुकीति न कर्तव्यम् । “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य” [५०] इति तुग्न भविष्यति । तत् क्रियते ज्ञापकार्थम् । “अवयव-नाशिनामस्तः खं न भवति” इति । अन्यथा तुकः प्रातिश्च नास्ति । नखेऽतः खे च कृते प्रान्तत्वाभावात् । एवं च सुपमेति सिद्धम् । अय वय पय गतौ । पयतेर्मनि कृते “वशि” [५।१।११४] इतीष्टि प्रतिषिद्धे “वलि व्योः खम्” [४।३।५५] इति यत्ने कृतेऽतः खं न भवति । किं च सन्निपातपरिभाषाश्रयणे वृत्रहच्छत्रमिति तुग्न स्यात् । अथ “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इत्येव सिद्धं कृत्तुकीति व्यर्थम् । अनित्येषा परिभाषा । तेन एषा द्वे इति सिद्धम् । अत्राऽन्तरङ्गे टापि कर्तव्ये बहिरङ्गत्वदाद्यत्वं सिद्धम् । पञ्च नार्थ इत्यत्र मृदवस्यायामित्संज्ञा । एकया च संज्ञया अनेकं कार्यं क्रियते इति ङीप्रतिषेधो जशसोः “उबिलः” [५।१।१६] उपि कृते टापः प्राति-र्नास्त्यलिङ्गत्वात्पदार्थस्य । तेनेत्संज्ञाविधौ न खमसिद्धं न कर्तव्यम् ।

न मु टाविधौ ॥५।३।२६॥ मुभावो नासिद्धः सिद्ध एव टाविधौ कर्तव्ये । टा इत्येतस्य स्थाने टा इत्येत-स्मिंश्च यो विधिः स टाविधिरुच्यते । अमुना । अदस् टा इति स्थिते त्यदाद्यत्वे “दादुर्दो मोऽदुसोऽस्ते” [५।३।८] इति उक्ते मत्वे च कृते मुभावस्याऽसिद्धत्वात् “आडो नाऽस्त्रियाम्” [५।२।११३] इति सुलक्षणो नाभावो न स्यात् । सिद्धत्वाद् भवति । नाभावेऽपि कृते मुभावस्यासिद्धत्वात् । “वज्यतो दीः” [५।२।६६] “सुपि” [५।२।८०] इति दीत्वं प्रान्नोति । तच्च न भवति । टाविधाविति किम् ? इह अमुना नपि “सुपीकोऽचि” [५।१।५२] इगभावान्मुन् भवति । नेति योगविभागादिष्टसिद्धिः । तेन “हलुङः” [४।३।२३] इति नखे कर्तव्ये द्वयोः स्फसंज्ञामाश्रित्य स्फादिसत्वं सिद्धम् । मग्नः । मग्नवानिति । “धुटः प्राप्तौ श्चुत्वं सिद्धम्” । अट् श्च्योतति । अटतीत्यट् । जशस्वं डकारः । सकारश्चुत्वस्यासिद्धत्वात् । “ङ्नाद् धुट् सोऽश्चः” [५।३।१३] इति धुङ्भ्याम् । श्च्योततिः सकारादिः पठ्यते । तथा “अहो नखे कर्तव्ये रिरैफो सिद्धौ” । अहोभ्याम् । अहोभिः । अहर्गच्छति । मृदन्तनखं स्यात् । नखं इति विशेषणान्यत्रासिद्धत्वम् । दीर्घाहास्तत्रेति “नोङः” [४।३।५] “वेऽकौ” [४।३।६] इति दीत्वम् । अहन् । “रोऽसुपि” [५।३।७] इति वचनं किविषये साव-काशम् । हे दीर्घाहोऽत्रेति । हे अहः ।

नखं मृदन्तस्याकौ ॥५।३।३०॥ मृदन्तस्य नस्य खं भवत्यको परतः । पदस्येति वर्तते । किर्वाजिते स्वादौ पदस्य योऽवयवो मृदन्तस्तस्य नस्य खं भवतीत्यर्थः । राजभ्याम् । राजभिः । राजत्वम् । राजता । राजतरः । राजतमः । मृदग्रहणं किम् ? जिनेन्द्रान् वन्देरन् । अस्ति पदस्य नकारोऽन्तश्च न तु मृदः । किन्तु विभक्त्याः । अन्तस्येति किम् ? नयभ्याम् । वनाभ्याम् । अयं पदस्यावयवो नकारो न तु मृदन्तः । पदस्येति किम् ? राजानौ । राजानः । राजे । अस्ति मृदन्तो नकारो न तु पदसंज्ञकस्य । अकाविति किम् ? हे राजन् । अकावितौपदस्ये नञ् । तेन “नपुंसके वा प्रतिषेधः” । हे चर्मन् । हे चर्मैति । अकाविति नखप्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् । त्यस्वे त्याश्रयन्याये-न कृद्भृन्नियमान्मुत्संज्ञा न निवर्तते । भसंज्ञा च न भवति । तेन राजेत्यत्र राज्ञः पुरुषो राजपुरुष इत्यत्र च नखं सिद्धम् । “अनोऽखमम्बस्फात्” [४।३।१२२] इति भकार्यं च न भवति । हे राजवृन्दारक इत्यादौ क्यन्तयोरनभिधानाद्यसमुदायात्किः । तत् उत्तरपदे नखं न वक्तव्यम् ।

ममोङ्भयो मतोर्वोऽयवादेः ॥५।३।३१॥ मकारान्तात् अयवर्णान्तात् मकारोङः अयवर्णोऽङो भयन्ताच्च यवादिर्वर्जितात् उत्तरस्य मतोर्वकारादेशो भवति । मृदो हि मरुर्विहितस्ततः “परस्यादेः” [१।१।५१] इति वत्वम् । नुम्बान् । गुणवान् । विद्यावान् । मोङः । शमीवान् । दाडिमीवान् । यशस्वान् । भास्वान् । भयः । मव-

त्वान् । तडित्वान् । उदशित्वान् । “मत्वर्थे स्तौ” [१।२।१०८] इति भस्ज् । ममोङ्ङ्य इति किम् ? अग्निमान् । अयवादेरिति किम् ? यवमान् । ऊर्मिमान् । भूमिमान् । कृमिमान् । मोङ् इति । ककुब्जान् । गरुत्मान् । हरित्मान् । भय इति । शिखिमान् । इन्दुमती । द्रुमती । मधुमानाम गिरिः । “खौ” [५।३।३२] इति प्राप्तेः प्रतेवेधः । आकृतिगणोऽयम् । नृमत इदं नार्मतमिति बह्निङ्ङ आकारः । तेन क्त्वाभावः । पदावयवस्य क्त्वम् । ततः शीलवतः शीलवद्भ्य इति च सिद्धम् ।

खौ ॥५।३।३२॥ खुविषये च मतोर्वो भवति । कर्पावती । ऋषीवती । मुनीवती । “नद्यां मतुः” [३।२।६५] इति चातुरर्थिको मतुः । “मतौ बद्धच्छरादेरनजिरादेः” [४।३।२२२] इति दीत्वम् । आसन्दीवान्नाम ग्रामः । आसन्दीवदहस्थलम् । आसनपर्याय आसन्दीशब्दोऽस्ति । तदुक्तम्—**औदुम्बरी राज्ञ आसन्दी भवति ।**

चर्मणवदष्टीवचक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वत् ॥५।३।३३॥ चर्मणवत् अष्टीवत् चक्रीवत् कक्षीवत् रुमण्वत् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते खुविषये । चर्मणः परस्य मतोर्नुङागमो निपात्यते मृदन्तनखम् । “अद्रकुप्वाङ् व्यवाये” [५।४।८६] इति शत्वम् । चर्मणवती नदी । चर्मवतीत्यन्यत्र । अस्थोऽक्षीभावो वत्त्वं च निपात्यते । अष्टीवानिति कायैकदेशसंज्ञा । अस्थिमानित्यन्यत्र । चक्रस्य ईत्वम् । चक्रीवान् । चक्रवानित्यन्यत्र । कक्षयाया जिनिपात्यः । “हलः” [४।४।२] इति दीत्वम् । कक्षीवान् । कक्ष्यावानित्यन्यत्र । लवणस्य रुमणभावो निपात्यते । रुमणवानाम पर्वतः । लवणवानित्यन्यत्र । रुमन् इति शब्दान्तरं वा मतोर्नुङर्थं निपातनम् ।

उदन्वानुदधौ ॥५।३।३४॥ उदन्वानीति निपात्यते । उदकस्य उदन्भावो मतौ निपात्यते । यत्र प्रयोगो दृश्यते । उदन्वानुदधिः । उदन्वानाश्रमः । अयं तु विशेषः । यदा उदकमस्यास्तीति उदकसम्बन्धमात्र-चित्रत्वा तदा उदकवान् धटः । यदा तु उदकं धेयमस्मिन्मिति तदा उदन्वान् घट इति ।

राजन्वान् सौराज्ये ॥५।३।३५॥ राजन्वानिति निपात्यते सौराज्ये गम्ये । राजाऽस्मिन्नस्ति प्रशंसायामर्थं मतुस्तस्येदन्निपात्यते । राजन्वान्देशः । राजन्वती पृथिवी । सुराज्ञो भावः सौराज्यम् । शोभनेन राज्ञा सम्बन्धस्तदभावे राजवान् इति भवति ।

कृपो रो लोऽकृपादेः ॥५।३।३६॥ कृपेर्वो रेफस्य लकारादेशो भवति कृपादीन् वर्जयित्वा । र इति एपि कृते यः केवलो रेफः वर्षैकदेशा वर्षाग्रहणेन गृह्यन्ते इति यश्च ऋकारस्थः तयोऽरिह सामान्येन ग्रहणम् । कल्ता । कल्पिष्यते । कल्स्यति । कलुप्तः । कलुप्तवान् । “लुटि च कल्पः” [१।२।८६] इत्यादि च ज्ञापकम् ऋकारस्थस्यापि रेफस्य लश्रुतिर्भवतीति । अकृपादेरिति किम् ? कृपा । भिदादित्वादङ् । कृपणः । कर्पूरादय औष्णादिकाः । ये तु प्रतिषेधं नारभन्ते क्रपेः कृतजित्वस्य लाश्रणिक्त्वादग्रहणमिति तेषां यत्नगौरवं स्थातुम् ।

गेरयतौ ॥५।३।३७॥ गेयौ रेफस्तस्यायतिपरस्य लत्वम् । प्लायते । पलायते । ननु चायतिपरत्वं रेफस्य न सम्भवति । “परेऽचः पूर्वविधौ” [१।१।५७] इत्येकादेशस्य स्थानिवद्भावात् । वचनप्रामाण्यादे-केन व्यवधानमाश्रितम् । एवं च प्लययते इत्यत्राऽप्यदोषः । सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमेव प्रत्ययते इति । ननु वचनस्यावकाशो निलयनं दुलयनमिति भविष्यति । न शक्यमेवम् “पूर्वत्रासिद्धम्” [५।३।२७] इति रेफस्यासिद्धत्वाल्लत्वाभावः । निरयणम् । दुरयणमिति । यदि लत्वं दृश्यते कपिलकादिषु द्रष्टव्यम् ।

ग्री यङि ॥५।३।३८॥ गिरते रेफस्य लत्वं भवति । निजेगिल्यते । निजेगिल्येते । निजेगिल्यन्ते । “लुपसद” [२।१।२१] इत्यादिना यङ् । नित्यत्वाच्च । “इको दी वोरुङः” [५।३।८५] इति दीत्वम् । विकरणान्तनिर्देशो गृणार्तेर्निवृत्त्यर्थः । जेगीर्यते । यङीति किम् ? निगीर्यते ।

विभाषाऽचि ॥५।३।३९॥ गिरते रेफस्य विभाषया लत्वं भवति अजादौ परतः । गिरति । गिलति । निगरणम् । निगलनम् । व्यवस्थितविभाषेयम् । “प्राण्यङ्गे नित्यं लत्वम्” [वा०] । गलः कण्ठः । “विषे न

भवत्येव" [वा०] । गरः । निगार्यते । निगाल्यते इत्यत्र "परेऽचः पूर्वविधौ" [१११५७] इति शेषः स्थानिवद्भावाद्भावादित्यम् । ननु "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति । "नेयं परिभाषास्फादिखलस्वणेष्वेषु व्याप्रियते" । अथवा वर्णाश्रयमन्तरङ्गलत्वमगाश्रयं बहिरङ्गं णिखम् । इयमप्राप्ते विभाषा । प्राप्तं नित्यो विधिः । निजेगिलः । "धोः स्वरूपग्रहणे तस्यविज्ञानम्" [प०] इति मृदस्त्ये न भवति । गिरो गिर इति । विभाषेति योगविभाषादिष्टे कपिलकादौ विकल्पः । कपिरकः । कपिलकः । तिथिरीकम् । तिथिलीकम् । रोमाणि । लोमानि । "संज्ञाछन्दसोः पूर्वो विधिः" [प०] । "डल्योः समानविषयत्वं स्मर्यते" [प०] । व्याडः । व्यालः । वारः । वालः । मूरम् । मूलम् । रघुः । लघुः । अरे । अले । असुरः । असुलः । अङ्गुरिः । अङ्गुलिः ।

परेर्घ्राङ्गयोगे ॥१३१४०॥ परे रेफस्य विभाषया लत्वं भवति घशब्दे अङ्के योगे च परतः । परिवः । पलिवः । "घनान्तर्घण" [२१३६६] इत्यादौ परिवशब्दो निपातितः । पर्यङ्कः । पल्यङ्कः । परियोगः । पलियोगः ।

स्फान्तस्य खम् ॥१३१४१॥ स्फान्तस्य पदस्य खं भवति । गोमान् । कृतवान् । इह श्रेयान् भूयान् इति रित्वस्यासिद्धत्वात्स्फान्तस्य खं भवति । इहापि तर्हि पयः शिर इति रित्वस्यासिद्धत्वाज्जत्वं प्राप्नोति । "येन नाप्राप्ते तस्य बाधनम्" [प०] इति रित्वं जश्त्वस्य बाधकमेव । स्फान्तखे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च रित्वमारभ्यते । दध्यत्र । मध्वत्रेति बहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वात्स्फान्तखं न भवति । स्फ इति किम् ? वाक् । अन्तर्ग्रहणं किमर्थम् ? आदौ मध्ये च पदावयवस्य स्फस्य खं मा भूत् । "येनालि विधिस्तदन्ताद्योः" [१११६७] इति सिद्धे स्पष्टार्थं चान्तर्ग्रहणम् । पदस्येति किम् ? गोमन्तौ । गोमन्तः ।

रात्सः ॥१३१४२॥ स्फान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य खं भवति । "अन्तेऽलः" [१११४६] इत्यन्तस्य । चिकीः । जिहीः । क्विपि अतः खे च कृते पत्वस्यासिद्धत्वात् सखम् । "पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवत्" [प०] इत्यजादेशस्य न स्थानिवद्भावः । एवं मातुः । पितुः । "कृत उत्" [४३१६८] इत्युत्वम् । द्वयोरेकत्वम् । रन्तत्वम् । "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" [प०] रेफनियमोऽयम् । रादुत्तरस्य सकारस्यैव खं नान्यस्य । न्यमाट् । ऊर्कम् । लङि क्विपि च रूपम् । रादेव सकारस्येति कस्मान्न नियमः । व्याख्यानात् । उरःप्रभृतिषु पुनानित्यस्य कृतसखस्य निर्देशाद्वा ।

धि ॥१३१४३॥ धकारादौ च परतः सस्य खं भवति । आध्वम् । आशाध्वम् । सकारस्य जश्त्वेनाप्येतत्सिध्येत । श्रुतिकृतविशेषाभावादिति चेत् ? इह दोषः स्यात् । अलविध्वम् । आलविध्वम् । "वेटः" [५१४६१] इति वा धस्य दत्वम् । यद्यत्र सखं न स्यात् ; तदा सेः पत्वे जश्त्वे च डकारे धस्य च दत्वे दत्वाभावपक्षेऽपि धकारो न श्रूयेत । चक्राधिपलितं शिरः इत्यत्रापि अविशेषेण सखं भवति । "दादेर्धोर्धः" [५१४६६] इत्यतो धुग्रहणं सिंहावलोकनेन संवध्यते । तेन धोर्विहिते धीत्यभिसम्बन्धादिह न भवति । पयो धावति ।

भलो भलि ॥१३१४४॥ भल उत्तरस्य सकारस्य भलि परतः खं भवति । अभित् । अभित्थाः । "सिलिङ्दे" [१११८५] इति क्त्वादेप्रतिषेधः । अवात्तामिति वसतेस्तस्मात् । सखस्यसिद्धत्वात् "स्योसः" [५१२१५१] इति तत्वम् । भल इति किम् ? अमंस्त । भलीति किम् ? अभैत्सम् ।

प्राद्गोः ॥१३१४५॥ प्रान्ताद्गोर्दत्तरस्य सकारस्य खं भवति भलि परतः । अकृत । अकृथाः । अहृत । अहृथाः । प्रादिति किम् ? अव्योष्ट । अप्लोष्ट । गोरिति किम् ? अलाविष्टम् । अलाविष्टम् । अस्ति प्रादित् परः सकारो न तु गोः । भलीति किम् ? अकृषाताम् । अकृषत । "उः" [१११८६] इति

किंवादेप्रतिषेधः । सिंहावलोकनेन धोरिति किम् ? द्विष्टराम् । द्विष्टमाम् । “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [४।२।२५] तदन्तात् अतिशयिते तरतमौ “किमेमिङ् भिभात्” [४।२।२०] इत्यादिनाऽम् । “प्राद्वृत्त्यमिङ्” [५।४।७३] पत्वम् ।

स्फादेः स्कोऽन्ते च ॥५।३।४६॥ सकारस्य ककारस्य च स्फादेः भलि परतः पदान्ते च खं भवति । भलि पदस्यावयवः पदान्ते च यः स्फस्तदाद्योः स्कोः खं भवतीत्यर्थः । लग्नः । लग्नवान् । साधुलक् । तष्टः । तष्टवान् । काष्ठतट् । आचष्टे मुनिर्धम्मम् । वास्यर्थः । शक्यर्थः । इत्यत्राजादेशस्य स्थानिवद्भावान्न स्फादि-खम् । “पूर्ववासिद्धे न स्थानिवत्” [प०] इतीदं “स्फादिखलत्वण्वेषु नास्ति” [प०] इत्युक्तम् । अथवा बहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वान्न स्फादिखम् । काष्ठशक्स्थालेत्यत्र गोरधिकारात् सिंहावलोकनेन धोरिति वा न भवति । स्फादेरिति किम् ? न्यस्तः । शक्तः । भलीदं द्रष्टव्यम् । स्क इति किम् ? नर्नत्ति । अन्ते चेति किम् ? तद्धिता ।

चोः कुः ॥५।३।४७॥ चवर्गस्य कवर्ग आदेशो भवति भलि पदान्ते च । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । वाक् । “क्विपि घवि [२।२।१५७ वा०] इत्यादिना क्विपि दीत्वमजित्वं च । पक्ता । पक्तुम् । पक्तव्यम् । साधुपक् । क्रुञ्चेत्यत्र अनुस्वारस्य परस्वत्वस्य चासिद्धत्वात् जकार एव नास्ति । चकारे भलि कुत्वं न भवति । “युजिक्कुञ्जः” [२।२।५७] इति निपातनान्नखं न भवति । रेफरहितस्य धोः कुञ्चिसमानार्थस्य नखं भवत्येव । निकुचितिरिति ।

हो ढः ॥५।३।४८॥ हकारस्य ढकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् । ढत्वे कृते परस्य “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] इति धत्वम् । ढत्वम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] “सहिवहोऽस्यौः” [४।३।२१७] इत्योत्वम् । अन्ते । परिषट् । सट् विचीदं रूपम् । अन्यथा “नहिवृत्तिवृषिव्यधिरुचिसहि-तनिषु कौ” [४।३।२१६] इति दीत्वं स्यात् । एवं वोढा । वोढुम् । गुणवट् । विचीदं क्विपि जित्वं स्यात् । पृथग् योगकरणमुत्तरार्थम् ।

दादेर्धोर्धः ॥५।३।४९॥ दकारादेर्धोर्धकारस्य धकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । दग्धा । दग्धुम् । दग्धव्यम् । कर्मन्धनम् । दोग्धा । दोग्धुम् । दोग्धव्यम् । गोधुक् । पदान्ते घत्वे कृते “एकाचो वशो” [५।३।५४] इत्यादिना भ्रष्टन्त्यस्य वशो भट्ठवम् । धोरिति किम् ? दामलिट् । धुपाठे यो दादिः स दादेरित्यनेन गृह्यते । तेन अघोक् इत्यत्र अडागमेऽपि सति दादित्वं सिद्धम् । इह च दामलिहतेः क्विपि घत्वं न भवति । दामलिङिति ।

वा द्रुहमुहष्णहृष्णिहाम् ॥५।३।५०॥ द्रुह मुह षणुह ष्णिह इत्येतेषां हकारस्य वा घत्वं भवति भलि पदान्ते च । द्रोग्धा । मित्रघ्नक् । द्रोदा । मित्रघ्नट् । उन्मोग्धा । उन्मुक् । उन्मोदा । उन्मुट् । स्नोग्धा । उत्स्नुक् । स्नोदा । उत्स्नुट् । स्नेग्धा । चेलस्निक् । स्नेदा । चेलस्निट् । द्रुहेः पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते विकल्पः ।

नहो धः ॥५।३।५१॥ नहोर्धकारस्य धकारादेशो भवति भलि पदान्ते च । नद्धम् । नद्धव्यम् । उपानत् । “नहिवृत्ति” [४।३।२१६] इत्यादिना दीत्वम् । “तथोर्धोऽधः” [५।३।५६] परस्य घत्वं यथा स्यादिति धकारादेशः कृतः ।

आहस्थः ॥५।३।५२॥ आहो हकारस्य थकारादेशो भवति भलि परतः । धर्ममाथ । सुखमाथ । “ब्रुव आहश्च” [२।४।७०] इति ब्रुव आहादेशो लडादेशस्य च सिपस्थादेशः । अनेन हस्य थत्वम् । “खरि” [५।४।१३०] इति चत्वम् । आहस्तकारादेशेनैव सिद्धे थकारस्य “खरि” इति चत्वं ज्ञापकम् ।

आहो ब्रूजग्रहणेन ग्रहणात् ब्रुव ईप्सा भूत् । झलादिवचनाद् वा न भवति । पदान्तत्वं नास्ति । झलीत्येव । आहृतः । आहुः ।

ब्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजछ्रां षः ॥५१३॥५३॥ ब्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राज इत्येतेषां चकारशकारयोश्च वो भवति झलि पदान्ते च । ब्रष्टा । मूलबृट् । स्फादिसखम् । “ग्रहिज्यावयि” [५१३१२] इत्यादिना जित्वम् । भ्रष्टा । धानाभृट् । स्रष्टा । तीर्थसृट् । मार्ष्टा । कर्मपरिमृट् । यष्टा । देवयट् । विचीदं रूपम् । राजिभ्राजोः क्तिरेव झलादिः । राष्टिः । भ्राष्टिः । सुराट् । सुभ्राट् । विभ्राट् । प्रष्टा । धर्मप्राट् । “क्विपि वचिप्रच्छायतस्तु कटूप्रजुप्रीणां दीरजिश्च” [५१२१५७ वा०] इति क्विपि दीत्वाजित्वे । “छ्वोः शूङ् ङे च” [५१४१७] इत्ययं विधिरुक्तः । लिशि । लेष्टा । धर्मलिट् । विश । वेष्टा । स्वर्गविट् ।

एकाचो वशो भष् भवः स्थ्वोः ॥५१३॥५४॥ धोरेकाचो झषन्तस्य योऽवयवस्तस्य यथासङ्ख्यं भप्माचो भवति झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च । भोत्स्यते । अमुद्ध्वम् । “सिलिङ् द्वे” [१११८५] इति कित्वम् । धर्मसुट् । धोक्ष्यते । अयुग्धम् । गोधुक् । निबोधयते । न्यबुद्ध्वम् । मन्त्रबुट् । एकाच इति किम् ? दामलिहमिच्छति दामलिह्यतेः क्विप् । दामलिट् । असत्येकाग्रहणे भप्नन्तस्य धोरवयवस्य वशो भप् अत्रापि त्यात् । वश इति किम् ? क्रोत्स्यति । भप्नन्तस्येति किम् ? दास्यति । स्थ्वोरिति किम् ? बोद्धां । बोद्धुम् । धकारस्य वकारपरस्य ग्रहणं किम् ? दादद्धि । दध धारणे इत्यस्य यङुपि लोटि “दुभक्तभ्यो हेर्धिः” [५१४१४] इति धिभावे रूपम् । अबुद्ध । अबुद्धाः इत्यत्र “भक्तो झलि” [५१३१४४] इति सखे कृते “त्यखे त्याश्रयम्” [१११६३] इति कस्मान्न भवति । “वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्” [५०] इत्यदोषः ।

धः ॥५१३॥५५॥ धो धातोर्भषन्तस्य वशो भप् भवति झलि परतः । धत्से । धत्स्व । धद्ध्वे । धद्ध्वम् । धत्तः । धत्थः । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [५०] इति अजादेशस्य न स्थानिवद्भावः । वचन-सामर्थ्याद्वा श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भषन्तता । धस्यापि जश्त्वमाश्रयात्सिद्धम् । “प्रकृतिग्रहणे यङुबन्तस्यापि ग्रहणम्” [५०] । धात्तः । धात्थः । भषन्तस्येत्येव । दधाति । दधासि । झलीत्येव । दधे । दधते ।

तथोर्ध्वोऽधः ॥५१३॥५६॥ भषन्तादुत्तरयोः तकारयकारयोर्धकारादेशो भवत्यदधातेः । दोग्धा । दोग्धुम् । अदुग्ध । अदुग्धाः । बोद्धा । बोद्धुम् । अबुद्ध । अबुद्धाः । अधः इति किम् ? धत्तः । धत्थः ।

झलो जश् ॥५१३॥५७॥ झलो जश् भवति पदान्ते वर्तमानस्य । पदमध्ये “झलां जश् झशि” [५१४१२८] इति वक्ष्यति । झलीति निवृत्तम् । वागत्र । मधुलिङत्र । अग्निचिदत्र । झलीत्यस्य निवृत्तिः किम् ? वस्ता । वेष्टव्यम् ।

षढोः कः सि ॥५१३॥५८॥ षकारटकारयोः वकारादेशो भवति सकारादौ परतः । वेक्ष्यति । तोक्ष्यति । दस्य । लेक्ष्यति । वक्ष्यति । सीति किम् ? पिनष्टि ।

द्रात्तस्य तो नः पूर्वस्य दोऽपमूर्च्छिमदाम् ॥५१३॥५९॥ दकाररेफाभ्यां परस्य तसञ्ज्ञकस्य तकारस्य नकारादेशो भवति पूर्वस्य च दकारस्य पृथुर्च्छिमदो वर्जयित्वा । भिन्नः । भिन्नवान् । छिन्नः । छिन्नवान् । आस्तीर्णम् । अवगूर्णम् । द्रादिति किम् ? शक्तः । शक्तवान् । तसञ्ज्ञकस्येति किम् ? कर्त्ता । हर्त्ता । त इति किम् ? मुदितम् । चरितम् । द्रादित्यनेन तकारो विशेष्यते । स चेत्तसञ्ज्ञ इति । तेनेया व्यवधाने न भवति । पूर्वस्येति किम् ? परस्य मा भूत् । भिन्नवद्भ्याम् । भिन्नवद्भिः । “अधिकृत्य कृते ग्रन्थे” [३१३६९] इत्यादि निर्देशात् “इह वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते” । तेन हृतम् कृतमित्यादि सिद्धम् । कृतस्यापत्यं कार्त्तिकिरिति बहिरङ्गो रेफः । अपमूर्च्छिमदामिति किम् ? प्रपूर्त्तः । मूर्त्तः । मत्तः ।

स्फादेरातो धोर्यखतोऽध्याख्यः ॥५१३॥६०॥ स्फादियो धुः आकारान्तः यस्वत् तस्मात्परस्य तत-कारस्य नो भवति ध्या ख्या इत्येतौ वर्जयित्वा । प्रद्राणः । प्रद्राणवान् । ग्लानः । स्तानः । ध्या इत्येतस्य

प्रतिषेधात् प्रतिषेक्तपरिभाषा नाश्रिता । स्फादेरिति किम् ? यातः । यातवान् । आत इति किम् ? च्युतः । प्लुतः । धोरिति किम् ? निर्यातः । दुर्यातः । यएव इति किम् ? स्नातः । प्सातः । अध्याख्य इति किम् ? ध्यातः । ख्यातः ।

लवादेः ॥५१३६१॥ लू इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य ततकारस्य नो भवति । लूनः । लूनवान् । लीनः । लीनवान् । लू इत्यतः प्रभृति वृद्धिर्न कृत्पर्यन्ता लवादयः । तत्र स्तुञ्जित्येवमादिभ्यो नत्वं पूर्वेष्वैव सिद्धम् ।

ऋतश्च क्तेः ॥५१३६२॥ ऋकारान्तेभ्यो ल्वादिभ्यश्च परस्य क्तेस्तकारस्य नो भवति । ल्वादिभ्यो अत्ये ऋद्ग्रहणं प्रयोजयन्ति । कीर्णिः । गीर्णिः । शीर्णिः । ल्वादिभ्यः । लूनिः । लीनिः । गृणिः । चूणिः । घूर्णिः । इति त्रयं चित्यम् ।

ओदितः ॥५१३६३॥ ओकारेतश्च धोः परस्य ततकारस्य नो भवति । लग्नः । लग्नवान् । उद्विग्नः । उद्विग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् । “प्यायः पी” [५१३६३] “आङः” [५१३६४] इति पीभावः । आति-देशिकाः स्वादयः ओदितः । पूङ् प्राणिप्रसव इत्यादयो व्रीङ् वृणोत्यर्थे इत्येवमन्ता दैवादिकाः । सूनः । सूनवान् । दूनः । दीनः । उडूनिः इत्यादि ।

क्षीणः ॥५१३६४॥ क्षी इत्येतस्मात् कृतदीत्यात्परस्य ततकारस्य नो भवति । तपरकरणमसन्दे-हार्थम् । प्रक्षीणः । प्रक्षीणवान् । “तेऽण्ये” [५१३६५] इति दीत्वम् । यदा दीत्वं तदाऽनेन नत्वम् । क्षीणोऽसि जाल्म । “वा दैन्याक्रोशे” [५१३६०] इति दीत्वम् । दीत्वनिर्देशः किमर्थः ? क्षितोऽसि जाल्म ।

श्याञ्चिद्वोऽस्पृशनिपादानाजये ॥५१३६५॥ श्या अञ्चि दिव इत्येतेभ्यः परस्य ततकारस्य नो भवत्यस्पर्शं अनपादाने अजये यथासङ्ख्यम् । शीनं घृतम् । शीनं मेदः । “द्रवघनस्पर्शयोः श्यः” [५१३६६] इति जित्वम् । “हलः” [५१३६७] इति दीत्वम् । अजित्वपक्षे “स्फादेरातो” [५१३६०] इति नत्वं सिद्धम् । अस्पर्श इति किम् ? शीतं वर्तते । शीतो वातः । शीतमुदकमित्यत्र स्पर्शाभिवानद्वारेणैव द्रव्ये वृत्तिः । तेन नत्वाभावो जित्वं च सिद्धम् । स्पर्शो गुणो गृह्यते । ननु “स्पृश उपतापे” इत्येतस्य स्पर्शो रोगः । तत्र प्रतिशीनः । कथं ज्ञायते “द्रवघनस्पर्शयोः” [५१३६६] इति जित्वे सिद्धे “प्रतेः” [५१३६०] इति वचनात् । अञ्च । समवनो शकुनेः पक्षौ । अनपादान इति किम् ? उदक्तमुदकं कृपात् । व्यक्त इत्यञ्जेः प्रयोगः । दिव । आधूनः । आधूनवान् । “छोः शूण्डे च” [५१३६७] इत्यूट् । अजय इति किम् ? घृतं वर्तते । क्रीडायामप्युपमानाद्विजिगीवा गम्यते ।

निर्वाणोऽवाते ॥५१३६६॥ निर्वाण-इति निपात्यते अवातेऽर्थे । यदि ध्वर्थो वाताधारो न भवतीत्यर्थः । निःपूर्वाद्वातेः परस्य ततकारस्य नत्वं निपात्यते । निर्वाणो मुनिः । निर्वाणो दीपः । “धिगत्यर्थञ्च” [२१३५८] इति कर्तरि क्तः । अवात इति किम् ? निर्वातो वातः । निर्वातं वातेन । वातोऽत्र निर्वातिक्रियायाः आधारः । निर्वाणो दीपो वातेनेत्यत्र दीपाधारो ध्वर्थो वातस्तु करणं तेन नत्वम् ।

शुषिपचेः क्रौ ॥५१३६७॥ शुषि पचि इत्येताभ्यां परस्य ततकारस्य ककारवकारादेशौ भवतः । शुष्कः । शुष्कवान् । पकः । पकवान् ।

क्षै मः ॥५१३६८॥ क्षै इत्येतस्मात्परस्य ततकारस्य मकारादेशो भवति । क्षामः । क्षामवान् ।

प्रस्त्यो वा ॥५१३६९॥ प्रपूर्वास्त्यायतेः परस्य ततकारस्य मकारादेशो वा भवति । प्रस्तीमः । प्रतीम-वान् । प्रस्तीतः । प्रस्तीतवान् । “प्रपूर्वस्य स्यः” [५१३६८] इति जिः । “हलः” [५१३६९] इति दीत्वम् । यदा मत्वं न भवति तदा “स्फादेरातो धोर्यएवतः” [५१३६०] इत्यस्यासिद्धत्वात् पूर्वं ज । कृते विहृतनिमित्तत्वा-

वत्त्वं न भवति । प्रग्रहणं किम् ? केवलादव्यगिपूर्वाच्च न भवति । सत्यानः । संस्त्यानः । त्वै स्त्वै इत्यनयोः परस्य ग्रहणं पूर्वस्य सत्त्वाभावात् ।

फुल्लः ॥५१३।७०॥ फुल्ल इति निपात्यते । फुल्लः । फुल्लवान् । जिफला विशरण इत्यस्मात्परस्य तत्कारस्य लत्वं निपात्यते । “ति” [५।२।१८६] इति उङ उच्चम् । कथं फलितः । फलान्यस्य सञ्जातानीति द्रष्टव्यम् । अथवा फल निष्पत्तावित्यस्य इडभाव उङ उत्वं लत्वं च निपात्यते । फुल्ल विकसन इत्यस्य पचाद्यचि रूपमिति चेत्, नैवं फलेस्ते लत्वमन्तरेण प्रयोगः स्यात् ।

समुद् ॥५१३।७१॥ सम् उद् इत्येताभ्यां परः फुल्लो निपात्यते । सम्फुल्लः । सम्फुल्लवान् । उत्फुल्लः । उत्फुल्लवान् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” [५०] । समुद्ग्रथामेव गोः । इह मा भूत् । प्रफुल्ला लता ।

क्षीवकृशोल्लाघाः ॥५१३।७२॥ क्षीव कृशः उल्लाघ इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते । क्षीवादिभ्यः क्ते कृते तत्कारस्य ल्त्वं निपात्यते । इटि वा कृते इत्शब्दस्य । क्षीवः । कृशः । उल्लाघः । अचि इगुङ्लक्षणे के च कृते रूपं सिद्ध्येत् । किं तु कृते क्ते अनिष्टं स्यात् । लाघेर्गिपूर्वस्य ग्रहणं किम् ? अस्यैव गिपूर्वस्य निपातनमन्यस्य मा भूत् । प्रक्षीवितः । परिकृशितः । उदिति विशेषनिर्देशात् अन्यगिपूर्वस्य न भवति । प्रोक्षितः । परिकृशः इत्यादिषु निपातितस्य शब्दस्य पश्चात् प्रादिसविधिः । परिगतः कृशः परिकृशः । प्रगतः क्षीवः प्रक्षीवः । नात्र गिसञ्ज्ञा । यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गिसञ्ज्ञा भवन्ति ।

ब्राघ्राहीनुदोन्दविन्तेर्विभाषा ॥५१३।७३॥ ब्रा ब्रा ह्री नुद उन्द विन्ति इत्येतेभ्यः परस्य तत्कारस्य विभाषया नत्वं भवति । ब्रातः । ब्राणः । ब्रातः । ब्राणः । ह्रीतः । ह्रीणः । नुत्तः । नुन्नः । समुत्तः । समुन्नः । वित्तः । वित्तः । ह्री इत्येतस्याप्राप्ते इतरेषां प्राप्ते नत्वं विकल्प्यते । विन्तेरिति शनम्बिकरणनिर्देशाद् “विद विचारणे” [धा०] इत्यस्य ग्रहणम् । तदुक्तम्—

वेत्तेस्तु विदितो ज्ञेयो विद्यतेवित्त इत्यते ।

विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च वित्तभोगे तु विन्दतेः ॥

विभाषेति व्यवस्थितविभाषाविज्ञानम् । तेन—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः ।

मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

इति सिद्धम् । देवैस्त्रातः देवत्रातः । सञ्ज्ञायामपि त्रातेति भवति । प्राणयङ्गे गलः । विषे गर एव । नक्रे ग्राहः । “विभाषा ग्रहः” [२।१।११७] इति णः । आदित्यादिषु पचाद्यजेव ग्रहः । इतियोगे च सद्विधिर्न भवति वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः” [२।२।१०४] इति शतृशानौ न भवतः । “न वा साकाङ्क्षे” [२।२।१४] इत्यतो मण्डूकलुत्या विभाषाऽनुवर्तते । अनितियोगे नित्यं भवतः । अर्जयन् वसति । अधीयानो वसतीति । ननु चेतिशब्देनैव हेत्वर्थस्य द्योतितत्वाद् वर्षतीत्यादौ कथं सद्विधिः ? इदं तद्दूर्युदाहरणम् “विभाषा लृटः सत्” [२।३।१३] इत्यनेन करिष्यामीति व्रजति क्रियायां तदर्थयामितियोगे लृटः सद्विधिर्न भवति । अवान्तसमानाधिकरणे अनितियोगे च सद्विधिः । करिष्यन्तं पश्येति । वान्तसमानाधिकरणेऽपि विकल्प इति केचित् । करिष्यन् पुरुषः । करिष्यति पुरुषः । वातायने नित्यम् । गवाक्षः । प्राणयङ्गे गोऽक्षम् । अन्यत्रोभयम् । गोग्रम् । गवाग्रम् । व्रतविषये नित्यमिदम् । संशितव्रतः । विधिप्रतिषेधयोर्भयरूपेण विविधमवस्थितया विभाषया सर्वं लभ्यते । आकृतौ पदार्थे सर्वं लक्ष्यराशिमैकत्वमुपनीय विधिः प्रतिषेधश्चेति द्वयमुपदिश्यते । व्यक्तौ पदार्थे उभयमत्र भवतीति प्रतिपाद्यते ।

वित्तभित्तदूनगूनपूनसितर्णानि ॥५१३।७४॥ वित्त भित्त दून गून पून सित ऋण इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । वित्तमिति “विद् लृ लाभे” इत्यस्य भोगे प्रतीतौ च निपात्यते । भोगे वित्तमस्य । बहुवित्तः ।

भुज्यत इति भोगो धनादिप्रतीतौ विरोड्यं पुरुषः । विन्नमन्यत् । भित्तमिति निपात्यते शकलं चेत् । भिन्नं खण्डमित्यर्थः । उक्तञ्च—

तत्त्वमभिधायकं चेच्छकलस्यानर्थकः प्रयोगः स्यात् ।

सकलेनाप्यभिहिते न भवति तत्त्वं निगमयामः ॥

भिदि क्रिया शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तम् । प्रवृत्तिनिमित्तं तु शकलत्वजातिः । क्रियाभिधाने भिन्नं शकल-
मित्यपि भवति । दूनः । गूनः । दुग्धोदीत्वं नत्वं च निपात्यते । पूजो विनाशो नत्वम् । पूना यवाः । विनाश
इति किम् ? पूता यवाः । पूतं धान्यम् । सित इति सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य भवति । सितो ग्रासः स्वयमेव ।
ग्रास इति किम् ? सिता पाशेन शूकरी । कर्मकर्तृकस्येति किम् ? सितो ग्रासो देवदत्तेन । ऋण इति ऋ इत्येत-
त्मात् उत्तमर्णधमर्णयोर्नत्वम् । ऋणं ददाति । ऋणं धारयति । ऋतमन्यत् ।

क्रित्यस्य कुः ॥५१३७५॥ क्विस्त्यो यस्य तस्य धोः कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते । घृतस्यृक् । “सृशोऽनुदके
क्रिः” [११२५६] इति क्विः । एवं याहक् । ताहक् । युङ् । नस्य कुत्वम् । त्यग्रहणपरिभाषया “क्रेः कुः”
इति सिद्धे क्विस्त्यो यर्येति वसनिदेशात् असत्यपि क्वौ क्विविधानेनोपलक्षितस्य क्विचरन्तस्यापि भवति ।
सहस्रहरिति । इहापि तर्हि स्यात् । रज्जुसुड्भ्याम् । रज्जुसुड्भिः । क्षगिति निपातनात् क्यन्तोपलक्षणं
नास्तीत्यदोषः । “नशेर्वा” [वा०] । जीवनक् । जीवनट् । क्विपि विचि वा । अथवा जीवस्य नाशो जीवनडिति
सम्पदादित्वात्क्विप् ।

ससजुषो रिः ॥५१३७६॥ सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रिर्भवति । “अन्तेऽलः” [१११४६]
इत्यन्तस्य । जशत्वापवादोऽयम् । सर्वज्ञः साधुभिरासेष्यते । सजृः । सह जुषा वर्तते “सहेति तुल्ययोगे”
[११३१९] वसः । “वा नीचः” [११३१९०] इति सहस्य सो भवति । यदि वा सह जुपते इति सजृः ।

अहन् ॥५१३७७॥ अहन्नित्यस्य पदस्य रिर्भवति । अहोभ्याम् । अहोभिः । दीर्घाहा कालः । हे दीर्घा-
होऽत्र । अहन्निति विकृतनिदेशात् रेसिद्धत्वेन नत्वं न भवति । वचनं तु हे दीर्घाहोऽत्रेति सावकाशम् ।
हन्तेर्लिङ् अहन्नित्यस्य लाक्षणिक्त्वान्न भवति । “अह्नो रिविधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसङ्ख्यानम्” [वा०] इति ।
रोऽसुपीत्यस्य बाधनार्थम् अहोरूपम् । अहोरात्रिः । एकदेशविकृतत्वादिहापि भवति । अहश्च रात्रिश्च
अहोरात्रः । अह्नो रथन्तरम् अहोरथन्तरम् ।

रोऽसुपि ॥५१३७८॥ अहन्नित्येतस्य रेफादेशो भवत्यसुपि परतः । अहर्गच्छति । अहर्ददाति । असु-
पीति किम् ? अहोभ्याम् । अहोभिः । ननु अहर्ददातीत्यत्रापि “त्यखे त्याश्रयम्” [१११६७] इति सुश्लि ।
एवं तर्हि रेफविधानसामर्थ्यात् अह्नो रिविधौ उपि त्यलक्षणं न भवति । यत्र तु खं तत्र त्याश्रयेण रित्वम् । दीर्घाहा
निदाघः । हे दीर्घाहोऽत्रेति ।

वसुखंसुध्वस्वनडुहां दः ॥५१३७९॥ वत्त्वन्तस्य पदस्य खंसु ध्वंसु अनडुह् इत्येतेषां च दकारादेशो
भवति । विद्वत्कुलम् । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भिः । उखाया खंसते उखाखत् । उखाखद्भ्याम् । उखाखद्भिः ।
पर्यध्वत् । पर्यध्वद्भिः । स्वनडुत्कुलम् । अनडुद्भ्याम् । अनडुद्भिः । पदस्येति किम् ? अनडुहा । वत्वा-
दीनामिति किम् ? पयोभ्याम् । अनडुहो दत्वप्राप्तिरितरेषां रित्वम् । “ससजुषो रिः” [५१३७६] इत्यतः सका-
रान्तग्रहणमनुवर्तते । तेन विद्वानिति नकारस्य न भवति । “येन नाप्राप्ते” इति न्यायेन रित्वस्य दत्वं बाधकम् ।
स्फान्तखे प्राप्ते चाप्राप्ते च दत्वमतौ विद्वानित्यत्र स्फान्तखस्य न बाधकम् । अनडुहो वचनसामर्थ्याद् दत्वं न
भवति । नुमो दत्वं वचनसामर्थ्यान्न भवति । पदाधिकारादिहापि भवति । विद्वत्काम्यति । “नः क्ये”
[१२१०३] इति नियमाद् विद्वत्स्यतीत्यत्र भसञ्ज्ञा ।

तिपि धोः ॥५१३१८०॥ तिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य दकारादेशो भवति । अचकाद्भवान् । अन्वशाद्भवान् । लङ् । “हृडथापः” [५१३१५६] इति तिपः खम् । तिपीति किम् ? क्विपि चकाः । रित्वा-पवादो योगः ।

सिपि रिर्वा ॥५१३१८१॥ सिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य रिर्भवति दकारो वा । अचकास्त्वम् । अचकास्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । अन्वशास्त्वम् । दकारस्य विकल्पपक्षे रित्वं सिद्धमेव । रिग्रहणमुत्तरार्थम् । “दः” [५१३१८२] इत्यत्र पक्षे रिर्यथा स्यात् । तिपि सिपि च परतो धुरेव सम्भवति । धुग्रहणमप्युत्तरार्थम् ।

दः ॥५१३१८२॥ धोर्दकारान्तस्य पदस्य सिपि परतो रिर्भवति दकारो वा । अभिनस्त्वम् । अभिनस्त्वम् । अजर्वास्त्वम् । अजर्वास्त्वम् । गृध इत्येतस्मात् यङुच् । द्वित्वादिकार्यम् । लङ् सिप् उङ् एप् “एकाचः” [५१३१५४] इत्यादिना भष्मावः । हृडथापः खम् । जश्त्वं दकारः ।

मो नः ॥५१३१८३॥ धोर्मकारान्तस्य पदस्य नकारादेशो भवति । प्रताम्यतीति प्रतान् । प्रशान् । प्रदान् । नत्वस्यासिद्धत्वान्न मृदन्तनखम् । न इति किम् ? विद् । भिद् । धोरित्येव । इदम् । किम् । अनयोर्मकारो-च्चारणस्यावकाशः इदामतीत्यादौ “नः क्ये” [१२११०४] इति पदत्वाभावः । पदस्येत्येव । प्रशामौ । प्रशामः ।

म्वोः ॥५१३१८४॥ धोर्मकारस्य मकारवकारयोश्च परतः नकारादेशो भवति । जङ्गन्वः । जङ्गन्मः । अपदान्तार्थं आरम्भः ।

इको दी वोरुडः ॥५१३१८५॥ रेफवकारान्तस्य धोः पदस्य उङ् इको दीर्भवति । गीः । आशीः । आङ् पूर्वस्य शासोऽनुदात्तेतो ग्रहणादप्राप्तमित्वम् । “आशिषि” [२१४११४६] इति निपातनाद्भवति । धूर्वा । धूः । धूर्वः पदान्तस्य वकारस्य ऊठा भवितव्यमिति वग्रहणमुत्तरार्थम् । इक इति किम् ? अग्रिमर्भवान् । मकारे अकारस्य मा भूत् । वोरिति किम् ? भिद् । छिद् । उङ् इति किम् ? अग्रिमर्भवान् । चस्य वेर्मा भूत् । धोरिति किम् ? साधुः । मुनिः । पदस्येत्येव । गिरी । गिरः ।

हल्यभकुर्धुरः ॥५१३१८६॥ हल्परौ यौ रेफवकारौ तदन्तस्य धोरुड इको दीर्भवति भवञ्चक्रं कुरङ्छुरौ च वर्जयित्वा । आस्तीर्णम् । अवगूर्णम् । दीव्यति । सीव्यति । अभकुर्धुर इति किम् ? भस्य धुरं वहतीति धुर्यः । दिवि भवो दिव्यः । क्विवन्तस्येदं ग्रहणम् । कुर । कुर्यात् । कृजो विकृतनिर्देशात् चिक्रीर्षतीत्यत्र दीत्वं भवत्येव । छुर् । छुर्यात् । आशिषि लिङ् । धोरित्येव । चतुर इच्छति चतुर्यति । दिवमिच्छति दिव्यति । त्यस्येमौ रेफवकारौ । इक इत्येव । गव्यति । “यि त्ये” [४१३१६७] इत्यवादेशः । हल्परविति विशेषणं किम् ? मुमुरीयतीत्यत्र मा भूत् । अपदान्तार्थं वचनम् ।

उङि ॥५१३१८७॥ धोरुडभूतौ यौ रेफवकारौ तयोरुड इकः दीर्भवति । कीर्तयति । हूर्छिता । मूर्छिता । तूर्विता । धूर्विता । “अचो रहाद् द्वे” [५१३११२६] इत्यस्यासिद्धत्वादुङ्भूतत्वम् । प्रतिदीप्ता । प्रतिपूर्वादिबः “कन् युवृषित्ति” [३० सू०] इत्यादिना कन् । “अनोज्ज्वलम्बस्फात्” [४१३१२२] इत्यखम् । “न पदान्त” [१११५८] इत्यादिना स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । “असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे” [५०] इत्यस्यानित्यत्वाच्च दीत्वम् । अथ वाऽत्र “हलि” [४१३१२६] इति दीत्वम् । तस्य नेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति । रेफवकारान्तस्य सस्य [भस्य] स प्रतिषेधः । इह कस्मान्न भवति । री गतिरमणयोः । वी गतिप्रजनकान्त्यशनेषु । रिर्यतुः । [रिर्युः] । विव्यतुः । विव्युः । यणादेशस्य स्थानिवद्भावात् बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा असिद्धत्वमिति न भवति । चतुर्यितेत्यत्र अतः खस्य बहिरङ्गत्वात् धोरुडभूतो रेफो नास्तीति न दीत्वम् । गुणादीनामव्युत्पन्नत्वात् । जिब्रिः । किर्यो । गिर्योरित्यादिषु “हलि” दीत्वं न भवति । व्युत्पन्नौ बहुलवचनात् । “जीर्यतेः किरच वः” [३०] । इति क्रिः । “ऋत इद्धोः” [५११७४] इतीत्वम् । रन्तत्वम् । रेफस्य वकारः । (कृगभ्यां) “कृ गृ पृ कुटिभिदिभ्यश्च” [३०] इति इः । उङोरिति प्राप्ते उङीति सौत्रो निर्देशः ।

दादुर्दो मोऽदसोऽसः ॥५१३८८॥ अदसः असकारस्य दात्परस्य वर्णमात्रस्य उवर्णादेशो भवति दकारस्य च मकारः । असुम् । अम् । अमून् । अमुना । अमूभ्याम् । उत्त्वस्यासिद्धत्वात्पाक् सन्धिकार्यम् । भाव्योपि क्वचित्त्वं गृह्णात्युक्तम् । ततः “स्थानेऽन्तरतमः” [१११४७] इति मात्रिकार्थमात्रिकयोर्मात्रिको द्विमात्रिकस्य द्विमात्रिक उकारो भवति । असेरिति किम् ? अदस्यति । “स्वेपः क्यच्” [२११६] । अनेरिति यद्यविद्यमानसकारस्येत्युच्यते । अदः कुलम् । अदोऽत्र इत्यत्रापि स्यात् । एवं तर्हि अः निर्यस्मिन् सोऽयमसि । अकाराभूतः सिर्यस्मिन्त्यर्थः । तस्यासेस्त्वम् । तेन त्यदाद्यन्वविषये विधिः । “विष्वग्देवयोश्च ढेरद्र्यञ्चौ कौ” [३१४१६८] इति अद्र्यादेशो कृते दर्शनभेदः । “अन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य” [५०] इति परिभाषा नाश्रिता तेषाम् “अदे सोऽद्रौ” परतः उत्वं भवति । अमुद्रयङ् । “पृथङ् मत्वं कैचिदिच्छन्ति लत्ववत्” । चलीकुप्यते । क्लृप्तः । कल्पकः । इत्यत्र लान्तरिकस्य रेफस्य ऋकारस्य च लत्वम् । एवमन्यत्रापि । असुसुयङ् । परिभाषाश्रयणे तु “केचिदन्त्यसदेशस्य” अदसुयङ् । त्यदाद्यत्र विषय एव मुत्वम् । “नेत्येकेऽसेहि दृश्यते” । अदद्र्यङिति चत्वारो भेदाः । दादिति किम् ? अमुश । अमुयोः । स्त्रियां यौसोः परतः त्यदाद्यत्वे टापि “आङि चापः” [५१२१००] इति एत्वे अयादेशो च कृते “अन्तेऽलः” [१११४९] इति यकारस्योत्वं मा भूत् ।

वहावीरेतः ॥५१३८९॥ बहौ निमित्ते निष्पन्नस्य अदसः दात्परस्यः एतः ईकारादेशो भवति । अमी । अमीभिः । अमीभ्यः । अमीषाम् । अमीषु । अथवा बहावित्यर्थनिर्देशः । बहावर्थे वर्तमानस्य अदसः इति ज्ञेयम् । पारिभाषिके हि अमी इत्यत्र परत्वासम्भवाच्च स्यात् ।

वाक्यस्य टेः पः ॥५१३९०॥ वाक्यस्य टेः पो भवतीत्येपोऽधिकारो वेदितव्यः । वक्ष्यति “दूराद्धते” [५१३९२] आगच्छ भो देवदत्ता ३ । वाक्यग्रहणं किम् ? अन्त्यस्य यथा स्यात् । पदाधिकारात् सर्वेषां पदानां मा भूत् । ढेरिति किम् ? “अचश्च” [११११२] इति अनन्तस्याप्यचो यथा स्यात् । अन्यथा अचा वाक्ये विशेष्यमाणे हलन्तस्य न स्यात् । अचो विशेष्यत्वे सर्वेषामचां स्यात् ।

प्रत्यभिवादेऽशूद्रस्यसूयके ॥५१३९१॥ शूद्र स्त्री असूयक विषयवर्जिते प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं वर्तते तस्य टेः पो भवति । अभिवादये देवदत्तोऽहं भो ३ । आयुष्मानेधि देवदत्ता ३ । अत्राभिवाद्यमाने गुरुणा प्रयुक्तमाशीःपूर्वकं प्रियहितयुक्तं प्रतिवचनम् इत्यभिवादः । अशूद्रस्यसूयक इति किम् ? अभिवादये तुपजकोऽहम् । भो आयुष्मानेधि तुपजक । शूद्रे पो न विहितः । अभिवादये गार्ग्यहं भो । आयुष्मती भव गार्गि । स्त्रियां पो न भवति । अभिवादये स्थाल्यहं भो । आयुष्मानेधि स्थालिन् । अत्र दण्डवदसञ्ज्ञाशब्दे पो न भवति । सञ्ज्ञाशब्दे भवत्येव । यदा तु विहेठयितुकामः सञ्ज्ञामसञ्ज्ञां च तस्य कथयति तदा असूयकोऽयमिति ज्ञाते भिद्यस्व वृषल स्थालिन् न त्वं प्रत्यभिवादमर्हसीत्युच्यते । लोकव्यवहारात्प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वा नानामान्तस्य गोत्रान्तस्य च पविधिः । इह न भवति देवदत्त कुशल्यसि । देवदत्त आयुष्मानेधि । इन्द्रधर्मन् कुशल्यसि । सर्वः पविधिर्वा भवतीति वक्ष्यति । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेन “भोजान्यविशां वा भवति” । अभिवादये देवदत्तोऽहं भो । आयुष्मानेधि देवदत्त भो ३ । आयुष्मानेधि देवदत्त भो । राजन्यः । अभिवादये इन्द्रवर्माऽहं भो । आयुष्मानेधि इन्द्रवर्मन् । आयुष्मानेधि इन्द्रवर्मन् । विशः । अभिवादये इन्द्रपालितोऽहं भो । आयुष्मानेधि इन्द्रपालिता ३ । आयुष्मानेधि इन्द्रपालित । भोजवदस्याप्राप्ते राजन्यविशोगोत्रत्वाप्राप्ते विकल्पः ।

दूराद्धूते ॥५१३९२॥ दूराद्धूते आह्वाने वर्तमानस्य वाक्यस्य टेः पो भवति । आगच्छ भो देवदत्ता ३ । दूराद्धूत इति किम् ? आगच्छ भो जिनदत्त । प्रयत्नविशेषेण आह्वाने यत्र शब्दः श्रूयते तद्दूरमिह नास्ति । दूतग्रहणं सम्बोधनमात्रोपलक्षणम् । तेनेहापि पः सिद्धः । सक्तून् पिव देवदत्ता ३ इति । सूत्रे दूरादिति “तेभ्य इप् च” [११४४३] इति का ।

हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥५१३।६३॥ है हे इत्येतयोः प्रयोगे हैहयोः पो भवति दूराद्धूते । हैरे जिनदत्त । जिनदत्त हैरे । हैरे जिनदत्त । जिनदत्त हैरे । पुनर्हैहयोर्ग्रहणं किम् ? अन्यस्य मा भूत् । हैहयोरेव यथा स्यात् । प्रथमं हैहेग्रहणम् अनन्तयोरपि यथा स्यात् । अन्यथा वाक्यस्य टेः प्राप्नोति । सूत्रारम्भस्तु अनृतोऽनन्तस्येयादिबोधकः सम्भाव्येत । प्रयोगग्रहणादनर्थक्योरपि भवति । आगच्छ भो माणव हेरे देवदत्त इति ।

अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः ॥५१३।६४॥ ऋकारवर्जितस्य रोरनन्त्यस्यापि अन्त्यस्यापि टेः एकैकस्य पो भवति । हेरेदेवदत्त । हे देवदत्त । अनृत इति किम् ? कृष्णमित्रा । रोरिति किम् ? देवदत्तस्य वकारात्परत्र माभूत् । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् ।

ओमभ्यादाने ॥५१३।६५॥ अभ्यादानं प्रारम्भः । ओमित्येष शब्दः अभ्यादाने पो भवति । ओरे-मृषमं पवित्रम् । ओरेमृषममृषमभगामिनं प्रणमत । अभ्यादान इति किम् ? ओं भो ददाति । अयमोमशब्दः प्रतिश्रवणे वर्तते ।

वा हेः पृष्टप्रत्युक्तौ ॥५१३।६६॥ पृष्टप्रत्युक्तौ हेः पो भवति वा । अकार्षीः कटं देवदत्त ! इति पृष्टः अकार्षं हीरे । अकार्षं हि । अलावीः केदारं देवदत्त ! अलाविषं हीरे । अलाविषं हि । हेरिति किम् ? करोमि ननु । पृष्टप्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्तः कटं करिष्यति । प्रत्युक्ताविति किम् ? देवदत्त कटमकार्षीर्हि । वेति योगविभागः । तेन सर्व एव पविधिः साहसमनिच्छता वा प्रयोक्तव्यः ।

विचार्यं पूर्वम् ॥५१३।६७॥ विचार्यं पूर्वं पविधिमापद्यते । अहिर्नुरे रज्जुर्नु । स्यात्तुर्नु रे पुरुषो नु । द्वयोर्बहूनां वा वाक्यानां पूर्वस्य टेः पो भवति ।

प्रतिश्रवणे ॥५१३।६८॥ प्रतिश्रवणे च वाक्यस्य टेः पो भवति । प्रतिश्रवणं श्रवणाभिमुख्यं प्रतिज्ञानम् अभ्युपगमश्चाविशेषेण गृह्यते । श्रवणाभिमुख्ये देवदत्त भो किमात्थरे इति । प्रतिज्ञाने कृतकः शब्दो भोः । एवं भवितुमर्हतीरे । अभ्युपगमे भोज्यं मे देहि भोः । हन्त ते दास्यामीरे ।

पूजिते ॥५१३।६९॥ पूजिते च वाक्यस्य टेः पो भवति । शोभनः खल्वसि अग्निभूतारेह । पटारेह । कावेपि च कृते “एचोऽद्रेः” [५१३।१०४] इत्यादिना आकार इदुतौ च । अथवा शोभनः खल्वसि देवदत्तारेह इत्युदाहरणम् ।

चिदित्युपमार्थे ॥५१३।१००॥ चिदित्येतस्मिन्नुपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेः पो भवति । अग्निश्चिद्भावारेह । राजाचिद्ब्रूयारेह । चिदिति किम् ? राजेव ब्रूयात् । अग्निर्माणवको भायात् । इवशब्दस्य प्रयोगाप्रयोगयोरुपमार्थोऽस्ति । न तु चिच्छब्दः । उपमार्थ इति किम् ? कथञ्चिद्ब्रवीषि । कृच्छ्रेऽत्र चिच्छब्दः । इतिकरणं किम् ? चिच्छब्दस्य मा भूत् । वाक्यस्य टेः यथा स्यात् ।

कोपाऽसूयासम्मतौ औ वा ॥५१३।१०१॥ कोपा असूया सम्मति इत्येतेष्वर्थेषु औ परतः पो भवति वा । कोपे-माणवकारे । माणवक । अविनीतकारे । अविनीतक । इदानीं ज्ञास्यसि जाल्मारे । असूयायाम्-माणवकारे । माणवक । अभिरूपकारे । अभिरूपक । शोभनः खल्वसि माणवक । कुत्सन-मसूयान्तभूतं तत्कार्यत्वात् । शाक्तीकारे । शाक्तीक । याष्टीकारे । याष्टीक रिक्ता ते शक्तिः । “वाक्यादेर्वोध्यस्य” [५१३।६] इत्यादिना द्वित्वम् । वेति व्यवस्थितविभाषा विज्ञानात् कोपकार्ये भर्त्सने च पर्यायेण पः । चौर । चौरारे । वृषल । वृषलारे । चौरारे । चौर । वृषलारे । वृषल । घातयिष्यामि त्वाम् । बन्धयिष्यामि त्वाम् । भर्त्सने च मिडः साकाङ्क्षस्याङ्गयुक्तस्य टेः पविधिरद्वित्वं च । अङ्ग कूजारे अङ्ग व्याहारे इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । मिड इति किम् ? अङ्ग देवदत्त । साकाङ्क्षस्येति किम् ? अङ्ग पच । नैतत्परमाकाङ्क्षति । भर्त्सन इत्येव । अङ्ग पठ पुस्तकं ते दास्यामि ।

क्षियाशीःप्रैषेषु मिडाकाङ्क्षम् ॥५॥३॥१०२॥ क्षिया क्षेपः । इष्टाशंसनमाशीः । अस्त्कार-पूर्विका व्यापारणा प्रैषः । क्षियादिषु मिडन्तमाकाङ्क्षं पविधिं लभते । क्षियायाम्-स्वयं ह रथेन यातीः उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं ह ओदनं भुङ्क्तेः उपाध्यायं सकृन् पाययति । भुङ्क्ता इति मिडन्तमाकाङ्क्षकम् । आकाङ्क्षयमपि मिडन्तमाकाङ्क्षग्रहणसामर्थ्यात् । सुयन्ते मिद्वैवाकाङ्क्षा । आशिधि—पुत्रांश्च लप्सीष्ठाःः धनं च । अत्र लप्सीष्ठा इत्यस्य गम्यमानमिडन्तापेक्षस्य पविधिः । तात तर्कं चाध्ये-पीष्ठाःः जैनेन्द्रं च । प्रैषे—त्वं ह पूर्वग्रामं गच्छाः देवदत्तो दत्तिष्णं व्रजतु । आकाङ्क्षमिति किम् ? दीर्घमायु-रस्तु । प्रैष इत्यत्र “प्रादूहोढोढ्यैष्येषु” [४३।७६ वा०] इत्यनेन एडि पररूपापवाद ऐप् ।

अनन्तस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥५॥३॥१०३॥ प्रश्ने आख्याने च अनन्तस्यापि मिडन्तस्य अन्त्यस्यापि यस्य कस्यचित् पदस्य टेः पो भवति । प्रश्ने-आगमःः पूर्वात् ग्रामान् अग्निभूताः इ । पटाः उ । आख्याने-आगमःः पूर्वाःःन् ग्रामाःःन् भोःः । अत्र सर्वेषामपि पदानां पदान्ते केचित् पमिच्छन्ति ।

एचोऽदेः पूर्वस्यात्परस्येदुतौ ॥५॥३॥१०४॥ एचः अदिसञ्ज्ञकस्य पप्रसङ्गे पूर्वत्यार्थस्य आकारः पो भवति परस्य चार्द्धस्य इदुतौ भवतः । “एचोऽदेरदिदुत्परः” इति सिद्धे गुहसूत्रकरणं किम् ? इदुतौः पो न भवति । प्रश्नान्तपूजितप्रत्यभिवादेषु पदान्तस्य च एचः पो भवतीति ज्ञापनार्थम् । प्रश्नान्ते अगमःःः पूर्वाग्रामान् अग्निभूताः इ । पटाः उ । पूजिते—शोभनः खल्वसि अग्निभूताः इ । पटाः उ । प्रत्यभिवादे—आयुष्मानेधि अग्निभूताः इ । पटाः उ । परिगणनं किम् ? दस्योः दस्यो घातयिष्यामि त्वाम् । आगच्छ भो अग्निभूतेः । पदान्तस्येति वचनादिह न भवति । भद्रं करोमि गौःरिति । पूजिते पः । आदिति किम् ? अपास्ताः मोदनं कन्येः । प्रश्ने पविधिः ।

य्वावचि सन्धौ ॥५॥३॥१०५॥ अर्थवशाद्विभक्तीपरिणामः । इदुतोरचि परतः यकारवकारादेशौ भवतः सन्धौ विवक्षिते । आ अध्यायपरिसमाप्तेः सन्धावित्यधिकारः । अगनाःःविन्द्रम् । पटाःःःबुदकम् । सिद्धः पविधिः सन्धाविति ज्ञापितं पुरस्तात् । तेन “अचीको यण्” [४३।६५] इति यत्र यणादेशो नास्ति तदर्थमिदम् । अचीति किम् ? अगनाः इ गतम् । पटाः उ गतम् । सन्धाविति किम् ? अगनाः इ इन्द्रम् । पटाः उ उदकम् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वारपूर्वः ॥५॥४॥१॥ पुमित्येतस्याम्परे खयि परतः सो भवत्यनुस्वारपूर्वः । पुमिति पुसः स्थान्तखे कृतेऽनुकरणम् । खयीति प्रत्याहारसाहचर्यात् अमोऽपि प्रत्याहारग्रहणम् । पुंस्कामा । पुंश्चली । पुंस्पृजा । पुंस्कोकिलः । पुंसि कामोऽत्याः । पुमांसं चलयतीत्यादि ज्ञेयम् । सकारस्यासिद्धत्वादित्वं न । खयीति किम् ? पुंदासः । पुंगवः । अम्पर इति किम् ? पुंक्षीरः । अनुस्वार इति विन्दोः सञ्ज्ञा पूर्वैः कृता । पुङ्ख इत्यत्र पुंशब्दस्यानर्थकत्वादग्रहणम् ।

नश्छुव्यप्रशान् ॥५॥४॥२॥ नकारान्तस्य पदस्य अम्परे छवि परतः सो भवत्यनुस्वारपूर्वः प्रशान्शब्दं वर्जयित्वा । भवाँश्छादयति । भवाँष्ठकारीयति । भवाँस्थुडति । भवाँश्चरति । भवाँष्टीकते । भवाँस्तरति । छवीति किम् ? भवान् करोति । अग्रशानिति किम् ? प्रशान् चिनोति । “मो नः” [५।३।८३] इति नत्वस्यासिद्धत्वा-नलाभावः । अम्पर इत्येव । भवान् लसकः । लसौ कुशलः । “आकर्षादेः कः” [३।३।१७] इति कः ।

भवद्भगवद्भवतो वा रिः काववस्यौ ॥५॥४॥३॥ भवत् भगवत् अववत् इत्येतेषां कौ परतः वा रिर्भवति । यदा रिस्तदा अवशब्दस्यौकारः रित्वं प्रति भवदादीनां स्थानार्थस्तानिर्देशः सोऽर्थादवशब्दापेक्षयाऽव-

यवार्थः सम्पद्यते । अवस्येति निर्देशात् “नानर्थकेऽन्तेऽलो विधिः” [प०] इति वा सर्वस्य स्थाने ओकारः । हे भोः । हे भवन् । हे भगोः । हे भगवन् । हे अघोः । हे अघवन् । भवच्छब्दो “भातेर्डवतुः” [उ० सू०] इति डवत्वन्तः । तेन विशेषवाचित्वात्सम्बोधनम् । “मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्” [प०] इतीयं परिभाषा विभक्तीविषये नेष्यत इति स्त्रियां विधिर्न भवति । हे भवति । हे भगवति । हे अघवति । भो इति भि-संज्ञकं शब्दान्तरमस्ति तस्यार्थं प्रयोगः । भो मुन्दरि । भो भो नरेन्द्राः सुखमाप्नुवन् ।

ओदपूर्वस्य योऽशि ॥१४१॥ रिरिति वर्तमानो विपरिणम्यते । ओकारपूर्वस्यावर्णपूर्वस्य च रेः यकारादेशो भवति अशि परतः । भोयत्र । भगोयत्र । अघोयत्र । भोयाहि । भगोयाहि । अघोयाहि । अवर्णपूर्वस्य-सर्वज्ञयास्ते । देवायास्ते । नरा गच्छन्ति । अनन्तरसूत्रेण निवर्तितस्य ओकारस्य ग्रहणादिह न भवति । गोरत्र । पटोरत्र । ओदपूर्वस्येति किम् ? मुनिरत्र । अशीति किम् ? वृक्षस्तत्र । छवीति सत्वस्यासिद्धत्वाद्यत्वं प्रसज्येत । रेरित्येव । पुनरत्र ।

व्योः खं वा ॥१४१॥ वकारयकारयोरशि परतः खं भवति वा । पदस्येत्यनेन विशेषणात्पदान्तयोर्व्योः सञ्ज्ञातव्यम् । पट इह । पटविह । वृक्षा अत्र । वृक्षावत्र । वकारसाहचर्याद्यकारस्याविशेषेण खम् । भो अत्र । भोयत्र । सर्वज्ञ आस्ते । सर्वज्ञयास्ते । देवा आस्ते । देवायास्ते । ते आस्ते । तयास्ते ।

हलि ॥१४१॥ अशीति वर्तते । व्योः खं भवति अशि हलि परतः । नित्यार्थ आरम्भः । देवा यान्ति । वाता वान्ति । वकारादौ “वलि व्योः खम्” [१४१५५] इत्यनेन यखं नाशङ्कनीयम् । तस्मिन् यकारस्यासिद्धत्वात् । अशीति हलो विशेषणं किम् ? वृक्षं करोतीत्यत्र मा भूत् । वृक्षं वनतीति वृक्षवन् । वृक्ष-नमाचष्टे णिच् । वृक्षयते पुनः क्विप् । “पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” [प०] इति णेः स्थानिवद्भावो नास्ति । अशि तु हलि खं भवत्येव । वृक्ष हसति ।

मोऽनुस्वारः ॥१४१॥ अशीति निवृत्तम् । मकारान्तस्य पदस्य अनुस्वारो भवति हलि परतः । व्रतं रक्षति । धर्मं शृणोति । अयं षडिकः । स्वर्गं साधयति । पादं हन्ति । हलीत्येव । इदमत्र । पदान्तस्येत्येव । रम्यते ।

नश्चापदान्तस्य भलि ॥१४१॥ नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारो भवति भलि परतः । यशांसि । तितांसि । अनुस्वारस्यासिद्धत्वात् “सन्तस्फमहतोः” [१४१७] इति दीत्वम् । मकारस्य-रम्यते । अश्विजागंस्ते । “सनि” [१४११६] “इङ्” [१४१२०] इति गमादेशः । अपदान्तस्येति किम् ? हे राजन् भवान् स्थास्यति । भलीति किम् ? राजन्यः । गम्यः ।

सम्राट् ॥१४१॥ सम्राडिति निपात्यते क्यन्ते राजतौ परतः । समो मकारस्य मकार एव निपात्यते । “सत्सुद्विष” [२१५६] आदि सूत्रेण क्विप् । सम्राट् समरः ।

हि म्परे वा ॥१४१॥ म इति वर्तते । हकारे मकारपरे परतः मकारस्य वानुस्वारो भवति । किं हलयति । किम्हलयति । कथं हलयति । कथम्हलयति । ज्वल हल हल चलन इत्यस्य णिचि “ज्वल-हल हलनमामगे वा” [ग० सू०] इति मित्सञ्ज्ञा । हीति किम् ? कथं स्मरसि । म्पर इति किम् ? किं ज्वलयति ! प्राप्ते विकल्पोऽयम् । वाग्रहणं बहुलार्थम् । तेन “यवलपरे हकारे नकारस्य वा यवला भवन्ति” । किञ् ह्यः । किं ह्यः । किञ् हलयति । किं हल्यति । किलहल्यदयति । किं हलादयति ।

नपरे नः ॥१४१॥ नकारपरे हकारे परतः मकारस्य वा नकारादेशो भवति । किन् हुते । किं हते । कथन्हुते । कथं हते ।

ङ्गोः कुक्कुक्चुरि ॥१४१॥ ङकारणकारयोः पदान्ते वर्तमानयोः वा कुक् कुक् इत्येतावागमौ भवतः शरि परतः । प्राङ्क छेते । प्राङ्छेते । पदान्ताङ्गयः परस्य छ्वार्थं पूर्वान्तकरणम् । प्राङ्छण्डे । प्राङ्-

षण्डे । प्राङ्साये । प्राङ्साये । कुक् । पूर्वान्तत्वात् परस्य “नाद्यन्ते” [५।४।७६] इति पत्वप्रतिषेधः ।
 टुक—सुपण्ट् शेते । सुपण्ट् शेते । सुपण्ट् परङे । सुपण्ट् परङे । सुपण्ट् साये । सुपण्ट् साये । टुकः पूर्वान्तन्वे
 परस्य “पदस्य टोः” [५।४।१२१] इत्यादिनियमात् ण्डुत्वाभावः ।

[ड्नां धुट् सोश्च ॥५।४।१३॥]

नश्शि तुक् ॥५।४।१४॥ नकारस्य पदान्तस्य शकारे परतो वा तुगागमो भवति । अत्रापि छुत्वार्थं
 पूर्वान्तत्वम् । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते । भवाञ्छेते ।

[मयो वोञ्च्युजः ॥५।४।१५॥]

डमो नित्यं डमुट् प्राट् ॥५।४।१६॥ प्रात्वरो यो डम् तदन्तस्परस्याचो नित्यं डमुट् भवति ।
 क्रुङ्डास्ते । सुगरिणह । कुर्वत्रास्ते । प्रादिति किम् ? प्राडास्ते । अचीत्येव । कुङ् शेते । ननु परमदण्डिना-
 वित्यत्र कस्मान्न भवति । अत्र हि “त्यखे त्याश्रयम्” [१।१।६३] इत्यवयवविभक्तीमाश्रित्य पदान्तत्वमस्तीति चेत् ;
 नायं दोषः—त्याश्रयलक्षणेन पदत्वमुत्तरपदे एव भवति नान्यत्र । कथमिति चेत्, “भवद्भगवद्वचनः” [५।४।३]
 इति निर्देशात् । अन्यथा अवयवत्कारस्यापि जश्त्वं स्यात् । एवं च पीतपयसौ सुराजानावित्यत्र सित्वनखे न भवतः ।

ढो ढे खम् ॥५।४।१७॥ ढकारस्य ढकारे परतः खं भवति । ऊढिः । गूढम् । लीढम् । पदान्ते
 ढकारस्यासम्भवात् वचनात्पदमध्ये विधिः । नन्विह सम्भवति मधुलिङ्गद्वौकत इति । ढत्वस्यासिद्धत्वात्
 जश्त्वमत्र भविष्यति । ननु मध्येऽपि ढत्वस्यासिद्धत्वात्परो ढकारो नास्ति तत्र यदि वचनाड्ढखम् । पदान्तेऽपि
 स्यात् । पदमध्ये श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भवति । पदान्ते न श्रुतिकृतं नापि शास्त्रकृतमानन्तर्यम् ।
 जश्त्वस्य सिद्धत्वात् ।

रो रि ॥५।४।१८॥ रेफस्य रेफे परतः खं भवति । नीरुक्तम् । दूरुक्तम् । अग्नीरथः । इन्दूरथः ।
 पुना रक्तं वासः । “निरुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य” [प०] इतीयं परिभाषा नेहाश्रीयते “रेश्च सुषि”
 [५।४।२४] इति ज्ञापकात् । तत्र रेरेव सुपीति नियमो वक्ष्यते । इह यदि निरुबन्धकस्य रेफस्य ग्रहणं स्यात्
 इदमेव तत्रानुवर्तते । इति रेः प्राप्यभावाग्नियमोऽनर्थकः स्यात् । इह पदस्यावयवो यो रेफः तस्य खं भवतीत्या-
 श्रयणादपदान्तरस्यापि रेफस्य खं भवति । अजर्वा इति जर्गृध् इत्यस्माद्यङुवन्ताल्लङः सिप् । “हल्ङापः”
 [४।३।५६] इति सिपः खम् । “ध्युङः” [५।२।८३] एप् । रन्तत्वम् । “क्ल्लो जश्” [५।३।५७] इति धकारस्य
 दत्वम् । “सिपि रिवा” [५।३।८१] “दः” [५।३।८२] इति ढकारस्य रिवादेशः । अत्र रो रीति पूर्वस्य
 खं परस्य विसर्जनीयः । एवं स्पद्धैर्यङुवन्तस्य अपासाः । रो रीति निर्देशात् “रादिक्” [उ० सू०] इति
 विधानमनित्यम् । “ढो ढे खम्” [५।४।१७] इति निर्देशात् “वर्णात्कारः” [उ० सू०] अप्यनित्यः ।

विरामे विसर्जनीयः ॥५।४।१९॥ विरामविषये रेफान्तस्य पदस्य विसर्जनीयादेशो भवति । देवः ।
 कविः । साधुः । स्वः । अत्तः । विराम इति किम् ? अग्निरत्र । प्रातरत्र । वायुर्वाति । विरतिः वर्णस्यानुच्चारणं
 विरामः । विसर्जनीय इति अयोगवाहेषु बिन्दुद्वयस्य सञ्ज्ञा ।

शर्परे खरि ॥५।४।२०॥ शर्परे खरि परतः रेफान्तस्य विसर्जनीय आदेशो भवति । पुरुषः स्तरुक् ।
 नरः स्तरति । “छवि” [५।४।२५] सत्वस्यायमपवादः ।

कुप्वो ॥५।४।२१॥ शर्परे खरीति वर्तते । “खरि यौ कुप् तयोः” शर्पयोः परतः रेफस्य विसर्जनीय
 आदेशो भवति । वासः क्षौमेम् । अग्निः प्लातम् । “ननु” पूर्वेण सिद्धे किमर्थमिदम् । अस्मिन्ननुच्यमाने स
 पुरस्तादपवादः सन् ऋक ऋयोरेव बाधकः स्यात् न छवि सत्वस्य । कुप्वोरित्यनेनारम्भेण ऋक ऋयोर्बाधा ।
 पूर्वेण छवि सत्वस्येति ।

५कःपौ ॥५१४२२॥ शर्पर इति निवृत्तम् । खरीति वर्तते । इष्टत्वात् । खरि यौ कुपू तयोः परतः रेफस्य ५कः ५ प इत्येतावादेशौ भवतः विसर्जनीयश्च । कः करोति । कः करोति । कः खनति । कः खनति । कः पचति । कः पचति । कः फलति । कः फलति । केवलौ जिह्वामूलीयोपध्यानीयावुच्चार-
यितुमशक्यौ ककारपकारा उच्चारणार्थौ । इह नृकुख्यां भवः नाकुःख्यः । नृपतेरपत्यं नार्पत्य इति रेफस्य
बहिरङ्गत्वान्नायं विधिः । ननु सति विसर्जनीये अन्तरङ्गेऽस्य प्रतिद्वन्द्वित्वाद्बहिरङ्गत्वम् । विसर्जनीयश्चासिद्धः ।
कथं तन्मूलपरिभाषाव्यापारः । नैष दोषः । ईषत्सिद्धमसिद्धं क्वचित् सिद्धमित्याश्रयणाद्विसर्जनीयः सिद्धः ।

शरि सश्च ॥५१४२३॥ शरि परतः रेफस्य सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । कश्शेते । कः
शेते । कष्ष्कते । कः षष्कते । कस्सरति । कः सरति ।

रेश्च सुपि ॥५१४२४॥ सुपि परतः रेश्च सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । चकारो विसर्जनीयानु-
कर्षणार्थः । शरीत्यनुवर्तते । सुपीति ईपो बहोर्ग्रहणम् । पयस्सु । पयःसु । सर्पिषु । सर्पिःषु इत्यत्र सत्वपक्षे
“नुमशर्व्यवाये” [५१४३८] इति परस्य पत्वे कृते पूर्वस्य पदान्तत्वात् “नाद्यन्ते” [५१४३६] प्रतिषेधे सति
ध्रुत्वम् । विसर्जनीयपक्षे परस्य पत्वम् अयोगवाहस्य शर्ग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् । रेरेव सुपि
सत्वविसर्जनीयौ नान्यस्य । गीर्षु । धूर्षु । सुन्येव रेरेति कस्मान्न नियमः । “सस्सेऽद्युस्थस्य” [५१४३३] इति
सकारद्वयनिर्देशात् ।

छवि ॥५१४२५॥ रोरीत्यतो रेफमात्रमनुवर्तते । विसर्जनीय इति निवृत्तम् । छवि परतः रेफस्य
सकारादेशो भवति । कश्छिनति । कश्छकारीयति । कस्थुडति । कश्चरति । कष्टीकते । कस्तरति ।
पुनश्चरति ।

कुप्वोस्त्ये ॥५१४२६॥ स इति वर्तते । पदान्तरफस्य सकारादेशो भवति कवर्गवर्गादौ त्ये परतः ।
“पाशकल्पकाम्याः प्रयोजयन्ति” [वा०] । याप्यं पयः । पयस्पाशम् । अयस्पाशम् । “याप्ये पाशः” [४११११०]
इति पाशः । ईषदसिद्धं पयः पयस्कल्पम् । अयस्कल्पम् । “आसिद्धौ देश्यदेशीयकल्पाः” [४१११२६] इति
कल्पः । महोरस्कः । पयस्कम् । पयस्काम्यति । कुवोरिति किम् ? पयोभ्याम् । नन्वत्रापि पवर्गत्वात् प्राप्नोति ।
खरीत्यनुवर्तनात् भवति । त्य इति किम् ? अयः करोति । पयः पिबति । “उब्ज आर्जवे” इत्यस्योपध्मानीयोऽङ्घ्रौ
कुत्वविषये “उपध्मानीयस्य सत्त्वं वक्तव्यम्, द्वित्वप्रतिषेधश्च” [वा०] अम्भुदृगः । समुदृगः । उब्जिजिषतीति ।
दकारोऽङ्घ्रौ तु कुत्वादस्यत्र । असिद्धकाण्डे “व उद्गोः” [वा०] इति वचनात् वत्वस्यासिद्धत्वात् “न स्फादौ
न्दोऽयि” [४१३३] इति द्वित्वप्रतिषेधः । उब्जिजिषति । “अत्राप्तिस्त्वञ्चकस्येति वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् ।
प्रातःकल्पम् । मुहुः काम्यति । “रेरेव काम्ये वक्तव्यम्” [वा०] इह मा भूत् । गीः काम्यति । धूः काम्यति ।

इणः षः ॥५१४२७॥ इण उत्तरस्य सकारस्य षकारादेशो भवति कवर्गपवर्गादौ त्ये परतः । सर्पिष्कल्पम् ।
सर्पिष्कः । सर्पिष्काम्यति । “कुप्वोस्त्ये” [५१४२६] इत्यनेन निवृत्तस्य सकारस्य षत्वमनेन विधीयते इति
लक्षणमिदमधिकारश्च । इत ऊर्ध्वं यत्सत्त्वं विधीयते तस्य इण उत्तरस्य पत्वं भवतीत्येतदधिक्रियते ।

इदुदुडोऽत्यमुं मुहुसः ॥५१४२८॥ त्ये हि पूर्वेण सिद्धमत्यार्थोऽयमारम्भः । इकारोकारोडोः
रेफस्य सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः त्यपुमुहुसो वर्जयित्वा । “निदुर्बहिराविश्चतुःप्रादुषः प्रायः प्रयोजयन्ति”
निष्कृतम् । निष्पीतम् । बहिष्कृतम् । बहिष्पीतम् । आविष्कृतम् । आविष्पीतम् । चतुष्कुण्डिका । चतुष्कण्टकः ।
चतुर्षु कण्टकेषु भवः इत्यण् । हृदऽयं रसे कृते “रस्योबनपत्ये” [३११७४] इत्यण् उप् । प्रादुष्कृतम् । प्रादु-
ष्पीतम् । सर्वत्र “इणः ष” [५१४२७] इत्यनुवर्तनात् पत्वम् । तपरकरणं किम् ? गीः करोति । अत्यपुमुहुस इति
किम् ? मुनिः करोति तपम् । पटुः पठति । पुंस्कामा । मुहुःकामा । ननु पुंस्कामेत्यत्र रेफाभावात् प्रतिषेधोऽनर्थकः ।
लक्षणान्तरेण सत्वस्य विधानाच्च षत्वप्रतिषेधोऽप्ययुक्तः । नैष दोषः । उक्तं हि भाष्ये अविशेषण सत्वमुक्त्वा

“इणः षः” [५।४।३७] इति षत्वं विधीयते इति प्राप्तिरस्ति । इह मातुः करोति । पितुः करोतीति “रास्सः” [५।३।४२] इति सकारस्य खे कृते नायं त्यस्य रेफ इति कस्मान्न पत्वम् । कस्कादिषु भ्रातृपुत्रग्रहणं ज्ञापकमेकादेशनिमित्तकस्य न भवति । नैष्कुल्यम् । दौष्पुण्यम् । बहीरेष्कृतम् इत्यत्र बहिरङ्गत्वादौषविधोरसिद्धत्वात्पत्वम् ।

नमःपुरसोस्त्योः ॥५।४।२६॥ त्य इति निवृत्तम् । नमस् पुरस् इत्येतयोस्तिसंज्ञकयोः रेफस्य सकारादेशो भवति कुष्णोः परतः । नमस्कर्ता । नमस्कर्तुम् । नमस्कर्तव्यम् । पुरस्कर्ता । पुरस्कर्तुम् । पुरस्कर्तव्यम् । नमः शब्दस्य “साक्षादादिः” [१।२।१४३] इति तिसंज्ञा वर्तते ।

तिरसो वा ॥५।४।३०॥ तिरसो रेफस्य वा सकारादेशो भवति कुष्णोः परतः । तिरस्कर्ता । तिरस्कृत्य । तिरः कृत्य । “तिरोऽन्तर्द्धौ” [१।२।१४०], “वा कृञि” [१।२।१४१] इति तिसंज्ञा । इह तिरस्ति सञ्ज्ञकस्येति विशेषणं विषयद्वारकम् । तेनान्तर्द्धौ विषये “वा कृञि” इति सञ्ज्ञाविरहेऽपि सत्वम् । तिरस्कृत्वा । तिरः कृत्वा । तिसंज्ञकस्येति किम् ? तिरः कृत्वा काण्डं गतः । नान्तर्द्धिः प्रतीयते । अन्तरेण कृत्वा गत इत्यर्थः । षत्वमौदासीन्येन गच्छति ।

सुचः ५।४।३१॥ सुजन्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्य वा सकारादेशो भवति कुष्णोः परतः । द्विष्करोति । द्विष्पचति । त्रिष्करोति । त्रिष्पचति । चतुष्करोति । चतुष्पचति । अन्यस्मिन् पदे “ऋःपौ च” [५।४।२२] इत्येष विधिः । द्विष्करोति । द्विष्करोतीत्यादि योज्यम् । द्वौ वारौ करोतीति विग्रहः “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्” [१।२।२५] इति सुच् । द्वित्रिभ्यां परस्य अत्यपुम्मुहसः इति प्रतिषेधादप्राप्तं चतुःशब्दस्य तु “इदुदुङः” [५।४।२८] इति प्राप्तं सत्वं विकल्प्यते । “इणः षः” [५।४।२७] इत्यधिकारात्पत्वम् ।

इसुसोः सामर्थ्ये ॥५।४।३२॥ इस् उस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति सामर्थ्ये सति कुष्णादिना । सर्पिष्करोति । सर्पिः करोति । सर्पिष्पिबति । सर्पिः पिबति । धनुष्करोति । धनुःकरोति । धनुष्पतति । धनुः पतति । सर्पिर्धनुःप्रभृतयः शब्दा इसुसन्ता व्युत्पाद्यन्ते इति दर्शने त्यस्य नेत्यप्राप्ते अव्युत्पत्तौ “इदुदुङः” [५।४।२८] इति प्राप्ते विकल्पः । सामर्थ्ये इति किम् ? तिष्ठतु सर्पिः पिबतु पयः । ननु पदाधिकारे समर्थपरिभाषाव्यापारात् सामर्थ्यग्रहणं किम् ? कर्गपर्वणादिना धुना व्यपेक्षालक्षण एव सामर्थ्ये यथा स्यादित्येवमर्थम् । इह मा भूत् । सर्पिःकालकम् । यजुः पीतकमिति । सापेक्षमसमर्थमिति नायं पदस्तत्र स्थितः । तेनेहापि गमकत्वात्पत्वम् । देवदत्तस्य सर्पिष्करोति ।

सस्सेऽद्युस्थस्य ॥५।४।३३॥ इसुसो रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति । सर्पिष्कुण्डिका । सर्पिष्पात्रम् । धनुष्काण्डः । धनुष्पातः । पुनः सप्रहणं नित्यार्थम् । अद्युस्थस्येति किम् ? परमसर्पिःकुण्डिका । पूर्वैणाप्यत्रैकार्थीभावे विकल्पो न भवति । यदा तु व्यपेक्षा सामर्थ्यम् ; तदा द्युस्थस्यापि पूर्वैरेव विकल्पः । परमसर्पिष्करोति । परमसर्पिः करोति । इदमेवाद्युस्थस्येति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् “इसुसोः” [५।४।३२] इत्यत्र “त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः” [५०] इति नियमाभावादधिकृत्यापि ग्रहणम् ।

कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णीप्रात्रेऽतोऽभेः ॥५।४।३४॥ कृ कर्म कंस कुम्भ कुशा कर्णी प्रात्र इत्येतेषु परतः अकारत उत्तरस्य रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति । कृकम्भोः सर्वैल्यान्तयोर्ग्रहणम् । अयस्कारः । यशस्कारः । तपस्कामः । यशस्कामः । अयस्कान्तः । अयस्कंसः । पयस्कंसः । कंस इति कमेरव्युत्पत्तिपदे पृथग्रहणम् । अयस्कुम्भः । “सृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि” [५०] अयस्कुम्भी । पयस्कुम्भी । गौरादित्वान्डी । अयस्कुशा । पयस्कुशा । अय इव कर्णावस्थाः “नासिकोदरौष्ठ” [३।१।४८] आदिना डी । अयस्कर्णी । पयस्कर्णी । शुनस्कर्णस्तु “कस्कादौ” [५।४।३६] । अयस्पात्रम् । पयस्पात्रम् । अयस्पात्री । पयस्पात्री ।

कृकम्यादिग्रहणं किम् ? पयःपानम् । अत इति किम् ? गीःकारः । धूःकारः । तपरकरणं किम् ? भाः
कामः । भास्कर इति “कस्कादौ” । अभेरिति किम् ? प्रातःकारः । स इत्येव । यशः करोति । अद्युस्थ-
स्येत्येव । परमवशःकारः । कमेरणिङन्तस्य सूत्रे निर्देशः किम् ? अयस्काः ।

शिरोऽधसोः पदे ॥१४।३५॥ शिस् अघस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति पदशब्दे
परतः । शिस्पदम् । अधस्पदम् । मयूरव्यंसकादित्वात् । से इत्येव । शिरसः पदम् । अद्युस्थस्येव ।
परमशिरःपदम् ।

कस्कादौ ॥१४।३६॥ कस्क इत्येवमादिषु रेफस्य सकारादेशो भवति । यथा ते तत्र पठ्यन्ते तथैव
तेषां साधुत्वम् । कस्कः । किमः तसन्तस्य वीप्सायां द्वित्वम् । कौतस्कुतः । समुदायस्यामृत्वेऽपि वचनात् तत
आगतेऽर्थेऽण् । भातुषुत्रः । सेऽपि “ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धात्” [४।२।१३६] इत्यनुप् । “इणः षः”
[५।१।२७] इति पत्वम् । शुनस्कर्णः । असञ्ज्ञायां “ताया आक्रोशे” [४।३।१३४] इत्यनुप् । सञ्ज्ञायां तु
श्वकर्ण इति । सद्यस्कालः । सद्यस्कीः । सम्पदादित्वात् क्विप् । तत्र भवः साद्यस्कः । तमस्काण्डम् ।
अयस्काण्डम् । तपस्काण्डम् । मेदस्पिण्डः । आकृतिगणोऽयमविहितलक्षणं सत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

इण्कोः सः षः ॥१४।३७॥ इणः कवर्गाच्चोत्तरस्य सकारस्य पत्वं भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः ।
वक्ष्यति “व्यादेशयोः” [५।१।३६] । मुनिषु । देवेषु । गीर्षु । वान्तु । प्राङ्क्तु । उदङ्क्तु । सिषेव । सुष्वाप ।
इण्कोरिति किम् ? यास्यति । “क्षियाशीःप्रेषेषु” [५।३।१०२] इति निर्देशादिणपरिण रकारेण गृह्यते । स
इति स्थानिर्निर्देशो रेफस्य स्थानित्वनिवृत्त्यर्थः । पुनः पद्मग्रहणं कुप्पोरित्यस्य निवृत्त्यर्थम् । उत्तरत्र “नाद्यन्ते”
[५।१।७६] इति प्रतिषेधात् पदस्येत्येतदनुवर्तमानमिह विशेषणरूपेण सम्बन्ध्यते ।

नुमश्चर्ववायेऽपि ॥१४।३८॥ नुम्व्यवाये शर्च्यवाये अव्यवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य पकारा-
देशो भवति । सर्पीषि । धनूषि । अत्र नुमादेशो नुम् । तेनेह न भवति । पुंसु । शर्च्यवाये । सर्पिषु । धनुषु ।
रेः सत्वे कृते वरस्य पत्वम् ।

[त्यादेशयोः ॥१४।३६॥ शास्वस्वसाम् ॥१४।४०॥ षणि चाणिस्तोरेव ॥१४।४१॥
सखिदिखदिसहेः ॥१४।४२॥ प्राक् सितादटापि ॥१४।४३॥ स्यादेश्चेन चस्य ॥१४।४४॥ गेः
सूज्स्सोस्तुस्तुभः ॥१४।४५॥]

.....म इति पत्वे य.....माश्रीयते । अमितप्लावित्यत्र चस्य टवर्गः स्यात् । चस्य च गेः
परस्य सत्वं भवतीदमपि नियमार्थवचनम् । अभिषिञ्चति । परिषिञ्चति । अत्र द्विः प्रयोगो द्वित्वं गोः सिच
इत्येव पत्वं सिद्धम् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय ।” स्यादीनामेव वक्ष्यमाणानां चस्य पत्वम् । चेन च व्यवाये-
नात्येषां सुनोऽयादीनाम् । अभिसुषूषति । अभिसिषासति । स्यादीनां चस्यैवेति न शङ्क्यम्.....ये विधान-
मनर्थः स्यात् ।

स्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥१४।४६॥ गैरिति वर्तते । गेः परेषां स्या से नय सेध सिच्
सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य पत्वं भवति । अभिष्ठास्यति । परिष्ठास्यति । अट्ट व्यवाये-अभ्यष्ठात् ।
पर्यष्ठात् । चेन च व्यवाये-अमितधौ । अभिषेणयति । अभ्यषेणयत् । अतिषिषेणयिषति । अत्रादेशसकारा-
भावाद्प्राप्ते विधिः । सेध इति भौवादिकस्य ग्रहणम् । अभिषेधति । निषेधति । अभ्यषेधत् । न्यषेधत् । चस्य
त्र । अभिषिषेध । निषिषेध । अभिषिञ्चति । अभ्यषिञ्चत् । चेन च व्यवाये-अभिषिञ्चति । अभिषजति ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्तुदिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीमित्तुसूत्रात्र
निर्दिष्टानि ।

अभ्यषजत् । चेन च व्यवाये-अभिषिषड्भूति । अभिषजते । अभ्यषजत् । चेन च व्यवाये । अभिषिषड्भूति । गेरित्येव । दधि सिञ्चति ।

सदोऽप्रतेः ॥५१४४॥ अप्रतेतैः परस्य सदेः सकारस्य पत्वं भवति । अभिपीदति । निपीदति । अभ्यषीदत् । न्यषीदत् । चत्स्य । अभिषिपत्सति । अभिषसादेत्यत्र “सद्विस्वज्योः परस्य लिटि” [५१४८४] इति धोः प्लवप्रतिषेधः । अप्रतेरिति किम् ? प्रतिसीदति ।

स्तम्भेः ॥५१४४८॥ गेरिणः परस्य स्तम्भेः सकारस्य पत्वं भवति । अभिपट्भ्नाति । प्रतिपट्भ्नाति । अभ्यपट्भ्नात् । पर्यपट्भ्नात् । चेन च व्यवाये-अभिपट्भ्नात् । प्रतिपट्भ्नात् । स्तम्भः सौत्रो धुः । तस्य अप्रपोपदेशत्वादप्राप्ते प्रतिषिद्धे वा पत्वे सूत्रं प्रतिसङ्ग्रहार्थम् । उत्तरार्थं च पृथक्करणम् ।

आलम्बनाविदूरेऽवात् ॥५१४४९॥ अनिगर्थ आरम्भः । अवाद्गोरुत्तरस्य स्तम्भेः सकारस्य पत्वं भवति आलम्बने अविदूरे चार्थे । अवष्टभ्य आस्ते । अवष्टभ्नाति । अवाष्टभ्नात् । अवतष्टभ्नात् । अविदूरे-अवष्टब्धे सेने । अवष्टब्धा शरत् । आलम्बनाविदूरे किम् ? अवस्तब्धो वृषभः । विदूरप्रतिषेधात्तद्विदूरमासनं च सङ्ग्रहीतम् ।

वेश्च स्वनोऽशने ॥५१४५०॥ वेरवाच्चोत्तरस्य स्वनः सकारस्य पत्वं भवत्यशनेऽर्थे । विष्वणति । सशब्दमशनातीत्यर्थः । अवष्वणति । व्यष्वणत् । अवाष्वणत् । चेन च व्यवाये-विष्वणात् । अवष्वणात् । विष्वण्यते । अशन इति किम् ? विस्वनति । अवस्वनति मृदङ्गः । नात्राभ्यवहारविशेषः ।

परिनिविभ्यः सेवसितसयाम् ॥५१४५१॥ परि नि वि इत्येतेभ्यः परेषां सेव सित सय इत्येतेषां सकारस्य षो भवति । सेव इति भौवादिकः सेवार्थो धुर्गृह्यते । परिपेवते । निपेवते । विपेवते । पर्यपेवते । न्यपेवते । व्यपेवते । चेन व्यवाये-परिषिषेविषते । परिषितः । निषितः । विषितः । परिपयः । निपयः । विपयः । पित्र बन्धन इत्यस्य क्तान्तस्याजन्तस्य च ग्रहणम् । केचित्तु-सह (योगाकरणान्निवमार्थमेवा) ग्रहणमिच्छन्ति । एतेभ्य एव परस्य पत्वमिति । सेवादीनां स्वरितत्वाभावाद्यथासङ्ख्यं न भवति ।

सिबुसहसुट्स्तुस्वज्जाम् ॥५१४५२॥ परिनिविभ्यः परेषां सिब सह सुट् स्तु स्वज्ज इत्येतेषां सकारस्य षो भवति । परिषीव्यति । निषीव्यति । विषीव्यति । परिषहते । विषहते । निषहते । सुट् परिमेव प्रयोजयति । परिष्कर्ता । परिष्करोति । “संपर्युपाकृजः सुट् भूषे” [४३११०] इति सुट् । तस्यानादेशत्वादप्राप्ते इतरयोर्नाद्यन्त इति प्रतिषिद्धे पत्वे वचनम् । गेः परयोः पत्वसिद्धेः स्तुस्वज्जोर्ग्रहणमुत्तरार्थम् । अयो व्यवाये विकल्पो यथा स्यात् ।

वाऽटा ॥५१४५३॥ सिवादीनामया व्यवाये वा षो भवति । परिनिवेरिति वर्तते । पर्यषीव्यत् । न्यषीव्यत् । पर्यसीव्यत् । न्यसीव्यत् । व्यषीव्यत् । पर्यषहत् । व्यसीव्यत् । न्यषहत् । व्यषहत् । पर्यसहत् । न्यसहत् । व्यसहत् । पर्यष्टौत् । न्यष्टौत् । व्यष्टौत् । पर्यस्तौत् । न्यस्तौत् । व्यस्तौत् । पर्यष्वजत् । न्यष्वजत् । व्यष्वजत् । पर्यस्वजत् । न्यस्वजत् । व्यस्वजत् । सिबुसहसयामप्राप्ते स्तुस्वज्जेः प्राप्ते विभाषा ।

निव्यभ्यनुपरेः स्यन्दोऽजीवे ॥५१४५४॥ नि वि अभि अनु परि इत्येतेभ्यः परस्य स्यन्देः सकारस्य वा पत्वं भवत्यजीवे । परिष्यन्दते । निष्यन्दते । विष्यन्दते । अभिष्यन्दते । अनुष्यन्दते । विष्यन्दते । अभिष्यन्दते । परिष्यन्दते जलम् । अजीव इति किम् ? अनुष्यन्दते मत्स्यः । अजीव इति पर्युदासोऽयम् । जीवा जीवसमुदायो जीवादयो भवतीति विकल्पः सिद्धः । अनुष्यन्दते मत्स्योदके । अनुष्यन्दते । अप्राप्ते विकल्पः ।

वेः स्कन्दोऽस्ते ॥५१४५५॥ वेरुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा पत्वं भवत्यस्ते परतः । विष्कन्ता । विष्कन्तुम् । विस्कन्ता । विस्कन्तुम् । अत इति किम् ? विस्कन्नः । विस्कन्नवान् ।

परेः ॥५।४।५६॥ परेरुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा षत्वं भवति । परिष्कन्ता । परिस्कन्ता । तसञ्ज-
केऽपि यथा स्यादिति योगविभागः । परिष्करणः । परिष्कन्नः ।

परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥५।४।५७॥ प्राच्यभरतेषु परिस्कन्द इति निपात्यते । पचाद्यचि पूर्वेण पक्षे
प्राप्तस्य षत्वस्थाभावो निपात्यते । परिस्कन्दो वहति । प्राच्यभरतैष्विति किम् ? परिष्कन्दः । परिस्कन्दः ।

स्फुरिस्फुल्योर्निनिवेः ॥५।४।५८॥ निस् नि वि इत्येतैभ्यः परयोः स्फुरि स्फुलि इत्येतयोः सकारस्य वा
पकारो भवति । शर्व्यवायेऽपि षत्वम् । निःस्फुरति । निःस्फुरति । निष्फुरति । निस्फुरति । विष्फुरति । विस्फुरति ।
निःस्फुलति । निःस्फुलति । निष्फुलति । निस्फुलति । विष्फुलति । विस्फुलति ।

वेः स्कम्भेः षः ॥५।४।५९॥ वेरुत्तरस्य स्कम्भातेः सकारस्य षकारो भवति । विष्कम्भाति । विष्कम्भकः ।
पुनः प्रग्रहणं नित्यार्थम् । स्कम्भिः सौत्रो धुः पोपदेशः ।

इणः षीध्वंलुङ्लितां धो गोर्धः ॥५।४।६०॥ इणन्ताद्गोरुत्तरेषां षीध्वंलुङ्लितां धकारस्य ढकारादेशो
भवति । च्योषीढ्वम् । प्लोषीढ्वम् । अथोढ्वम् । अथोढ्वम् । “धि” [५।३।४३] इति सत्वम् । चकुढ्वे ।
ववुढ्वे । “कु” [५।१।१११] आदिनेट्प्रतिषेधः । इण इति किम् ? कवर्गान्मा भूत् । पक्षीध्वम् । यक्षीध्वम् ।
षीध्वंलुङ्लितामिति किम् ? स्तुध्वे । स्तुध्वम् । लिङीति कर्तव्यं षीध्वमिति किम् ? अधीषीध्वम् । स्तुषीध्वम्
इत्यत्र मा भूत् । ध इति किम् ? च्योषीढ्वमित्यत्र परस्यादेर्माभूत् । गोरिति किम् ? परिविविषीध्वम् । अत्र धोः
षकारस्य ईध्वंशब्दस्य च समुदायः षीध्वंशब्दो न तु गोः परः । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा चानित्या । तेन
“अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन” [५०] इति सिद्धम् ।

वेटः ॥५।४।६१॥ इणन्ताद्गोरुत्तरो यः इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लितां धकारस्य ढकारादेशो वा
भवति । इट् पक्षे परत्वं श्रुतिकृतमाश्रीयते । लविषीढ्वम् । लविषीध्वम् । इट् इणग्रहणेन ग्रहणात् । पूर्वेण नित्ये
प्राप्ते । अलविढ्वम् । अलविध्वम् । सेरिङागमो न लुङ् इति तदग्रहणाभावाद् व्यवधानमस्तीत्यप्राप्ते लुलुविढ्वे ।
लुलुविध्वे । अत्र लिट् एवेङागम इति प्राप्ते विकल्पः । इणन्ताद्गोरित्येव । आसिषीध्वम् । उपदिदीयिध्वे इत्यत्र
“दीङोऽचि ङिति युट्” [४।१।६२] इति युटि कृते इणन्ताद्गोरानन्तर्यमित्यस्समुदायभक्तेन युटा विहतमिति
दत्वं न भवति । तस्मान्न नित्यो विधिः । अस्ति ह्यत्रेणन्ताद्गोरुत्तरो लिट् तत्सम्बन्धौ च यकारः । एवं तर्हि वेति
व्यवस्थितविभाषा पूर्वमवलोकते । ततोऽत्रापि विकल्पः ।

सेङ्गुलेः सङ्गः ॥५।४।६२॥ अङ्गुलेरुत्तरस्य सङ्गसकारस्य षत्वं भवति से । सङ्ग इत्यत्र “सूत्रेऽस्मिन्
सुब्विधिरिष्टः” [५।२।११४] इति डसः स्थाने सुः । अङ्गुलिषङ्गो दृढः । अङ्गुलिषङ्गा यवागूः । भावे
कर्मणि च घञ् । इत्येव अङ्गुलेः सङ्गः । अङ्गुलिपदात्परस्य पदस्य षत्वारम्भाद्विभक्त्या व्यवधानेऽपि
प्रसज्यते ।

भीरोः स्थानम् ॥५।४।६३॥ भीरोरुत्तरस्य स्थानसकारस्य षत्वं भवति से । भीरुस्थानम् । स इत्येव ।
भीरोः स्थानम् । अधिकारणे युट् । पृथग्योगकरणं स्पष्टार्थम् ।

ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥५।४।६४॥ ज्योतिष् आयुष् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य षो भवति ।
ज्योतिःष्टोमः । आयुःष्टोमः । “शरि सरच” [५।४।२३] इति विसर्जनीयः सत्वं वा । तस्य घुत्वम् । ज्योतिः
स्तोमस्य दाहकम् ।

स्तुत्सोमौ चाग्नेः ॥५।४।६५॥ अग्नेरुत्तरयोः स्तुत् सोम इत्येतयोः स्तोमस्य यः सकारस्तस्य से षो
भवति । अग्निष्ठुत् । किवन्नन्तैर्वाकसः । अग्नीषोमौ । “गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात्” [५०] इह न भवति ।
अग्निगुणसोमगुणौ अग्निस्तोमौ मनुष्यौ । अत एवाग्नेरीत्वाभावः । अग्निष्टोमः । व्युत्पत्तिपक्षे “नाद्यन्ते”
[५।१।७६] इति प्रतिषेधः प्राप्तः ।

मातृपितृभ्यां स्वसुः ॥५१४६६॥ मातृपितृभ्यां परस्य स्वसुसकारस्य षो भवति । मातृष्वसा । पितृष्वसा । अनादेशसकारोऽयम् । स इत्येव । वाक्ये न भवति । मातुः स्वसा । पितुः स्वसा ।

वाऽनुपि ॥५१४६७॥ अनुपि से मातृपितृभ्यामुत्तरस्य स्वसुसकारस्य वा षो भवति । मातुःष्वसा । मातुः स्वसा । पितुःष्वसा । पितुः स्वसा । ताया अनुप् ।

गिप्रादुभ्यां यच्यस्तेः ॥५१४६८॥ स इति निवृत्तम् । गेरिणः प्रादुःशब्दाच्चोत्तरस्य अस्तेः सकारस्य यकारादौ अजादौ च षत्वं भवति । अभिष्यात् । निष्यात् । प्रादुःप्यात् । अभिषन्ति । निषन्ति । प्रादुःषन्ति । गिप्रादुभ्यामिति किम् ? दधि स्यात् । मधु स्यात् । यचोति किम् ? अनुस्वः । अनुस्मः । अस्तेरिति किम् ? केवलं सकारं क्रियावाचिनं प्रति गिसञ्ज्ञायां षत्वमत्र स्यात् । अनुसूते इति अनुसुः । अनुस्वः अपत्यम् आनुसेयः । “चतुष्पाद्भ्यो ढञ्” [३१११२३] इति ढञ् । “ढेः खम्” [३१११३५] इति ऊकारस्य खम् । प्रादुःशब्दस्य तु कृभ्यस्तिष्वेव प्रयोगात् प्रत्युदाहरणं नास्ति ।

निर्दुस्सुवेः सुपिसूतिसमाः ॥५१४६९॥ निट् दुस् सु वि इत्येतेभ्यो गिन्य उत्तरेषां सुपिसूति-समानां सकारस्य षो भवति । निष्पुतः । दुष्पुतः । सुपुतः । विपुतः । निःपूतिः । दुःपूतिः । सुपूतिः । विपूतिः । निःषमः । दुःषमः । सुषमः । विषमः । “गिप्रकरणे सर्वत्र सुदुभ्यां योगे षत्वं नेप्यते” इति वचनम् । “सुदुसोः प्रतिषेधो नुविधिनत्वषत्वखल्वेषु” इति वचनात् । सम इति सर्वाद्विषु पठ्यते । तस्य “सम एव अवैकल्ये” [धा०] इत्यनेन व्युत्पत्तिपक्षेऽपि ग्रहणम् । सूतिरिति सूतेः सूयतेः सुवतेश्च क्यन्तमेव रूपं समशब्द-साहचर्यद्वारा ह्यते । तेन विस्तृतमित्यादौ षत्वं न । सुपीति विकृतनिर्देशादिह मा भूत्-विस्वन्न इति । विमुष्वापेत्यत्र तर्हि कस्मान्न भवति । “ह्रस्वोऽनादेः” [५१२१६९] इति खे कृते पश्चाज्जिरिति सुपिरत्र नास्ति । नैष युक्तः समाधिः । ह्रस्वोऽनादेः खात्प्राग्निर्मवतीत्युक्तम् । एकदेशविकृतस्य चानन्यत्वात् सुपिरेवायमिति प्रान्नोति । स्थादीनामेव चस्य नान्येषामित्यपि नास्ति । सुनोत्यादिषु स नियमो निवर्तकः । एवमप्यनर्थकोऽयं सुपिः । द्विःप्रयोगेऽपि द्वित्वे समुदायस्यैवार्थवत्तानेन केवलस्य धोर्नापि चस्य । विषुपुपुर्विपुपुपुरित्यत्र “पूर्वत्रा-सिद्धीयमद्वित्वे” [प०] इति सुपिः षत्वभूतो द्विरुच्यते । रोरित्येव । निर्गता सूतिः निःसूतिः ।

विकुशमीपरेः स्थलम् ॥५१४७०॥ वि कु शमी परि इत्येतेभ्यः परस्य स्थलसकारस्य षत्वं भवति । विष्टलम् । कुष्टलम् । विकू यदि तिसञ्ज्ञौ तदा स्थलशब्देनाजन्तेन “तिकुप्रादयः” [११३१८] इति सः । अतिसञ्ज्ञा चेत्तासः । शमिष्टलमिति सञ्ज्ञायां “त्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च” [११३१७३] इति परिष्टलम् ।

अम्बाग्मगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्ग्मुमञ्जिपुञ्जिपरमेवहिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥५१४७१॥ अम्बा अम्ब गो भूमि सव्य अप दि त्रि कु शेकु शङ्कु अङ्ग मञ्जि पुञ्जि परमे वहिप् दिवि अग्नि इत्येतेभ्यः उत्तरस्य स्थासकारस्य षो भवति । अम्बाष्ठः । सञ्ज्ञायां तु “त्वे ङ्यापोः क्वचित् खौ च” [११३१७३] इति प्रादेशे सत्यम्बाष्ठः । अम्बष्ठः । गोष्ठः । गावस्तिष्ठत्यस्मिन्निति घञर्थे कविधानम् । भूमिष्ठः । सव्येष्ठः सारथिः । अपष्ठः । द्विष्ठः । त्रिष्ठः । कौ कुत्सितं तिष्ठतीति कुष्ठः । शेकुष्ठः । शङ्कुष्ठः । अङ्गुष्ठः । मञ्जिष्ठः । पुञ्जिष्ठः । परमेष्ठः । वहिष्ठः । दिविष्ठः । अग्निष्ठः । सर्वत्र “सुपि” [२१२१७] “स्थः” [२१२१८] इति कः । स्थ इत्यकारान्तो निर्देशः किम् ? गोस्थानम् । गोस्थितिः । अथ सव्येष्ठा सारथिः । परमेष्ठी विधिः । “परमे क्वि” [उ० सू०] इति इनि च कथं षत्वम् ? सुषामादिष्वेतौ द्रष्टव्यौ । “षे कृति बहुलम्” [११३१३२] इतीपोऽनुप् ।

सुषामादिषु च ॥५१४७२॥ सकारस्य षो भवति । स्वतेर्मनि साम । शोभनं सामाऽस्य सुषामा । एवं निःषामा । दुःषामा । सुषेधः । निःषेधः । दुःषेधः । “सुः पूजायां न गिति” [११४७] इति सोः निर्दुषोश्च क्रियान्तरविषयत्वादागित्वमिति गिलक्ष्णं षत्वं नास्ति । गित्वेऽपि सेवतेः “सेधो गतौ” [५१४७६]

इति प्रतिषेधे मा भूत् । सुप्रन्धिः । निःप्रन्धिः । दुःप्रन्धिः । अयमनादेशसकारः । सुष्टु । दुष्टु । तिष्ठते-
रौणादिकः कुः । अत्र “नाद्यन्ते” [५।१।७६] इति प्रतिषेधः प्रातः । गौरिसन्धिः । “असिसञ्जिभ्यां विधः”
[७० सू०] इति विधः । गौर्याः सक्थीव सक्थि यस्येति वसे “स्वाङ्गाद्वेऽन्ति सक्थनः” [१।२।११३]
इति टः सान्तः । अनङ् । “नोऽपुंसो हति” [४।१।१३०] इति टिक्स् “त्वे ङयापोः” [४।३।१७३] इत्यादिना
प्रादेशः । प्रतिष्णिका । प्रतिपूर्वात् स्नातेः “आतो गौ” [२।३।८८] इति कः । याप् । तदन्तात् स्वार्थे कः ।
पुनष्टाप् “केऽणः” [५।२।१२५] इति । प्रत्ययस्थेत्यादिनेत्वम् । नौषेविका । दुन्दुभिसेवनम् । सञ्ज्ञैषा ।
“एति सञ्ज्ञायामगकारात्” [१० सू०] । हरिषेणः । साधुषेणः । एतीति किमर्थः ? हरिसन्धिः ।
सञ्ज्ञायामिति किम् ? पृथ्वी सेनाऽस्य पृथुसेनः । अगकारादिति किम् ? विष्वक्सेनः । इरकोरित्येवासर्वसेनः ।
“नक्षत्राद्वा एतिसञ्ज्ञायामगकारात्” [वा० सू०] । रोहिणिषेणः । रोहिणिसेनः । भरणिषेणः । भरणिसेनः ।
अगकारादित्येव । शतभिषक्सेनः । अविहितलक्षणं षत्वमिह द्रष्टव्यम् ।

प्रादुभ्युत्थमिडस्ति ॥१।४।७३॥ प्रादुत्तरस्य अमिडः सकारस्य पो भवति तकारादौ हति परतः ।
सर्पिष्टरम् । सर्पिष्टमम् । चतुष्टयम् । सर्पिष्टा । सर्पिष्ट्वम् । सर्पिष्ठो विभेति । पदान्तेऽपि षत्वार्थमिदम् । प्रादिति
किम् ? गीस्तरा । धूस्तरा । हतीति किम् ? सर्पिस्तत्र । अमिड इति किम् ? भिन्युस्तराम् । छिन्युस्तराम् ।
तकारादाविति किम् ? सर्पिस्ताद् भवति । पूर्वस्य मा भूत् । परस्य “सात्” [५।१।७७] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः ।

निसस्तपतावनासेवने ॥१।४।७४॥ निसः सकारस्य तपतौ परतः प्रो भवत्यनासेवनेऽर्थः । मुहुर्मुहुः
क्रियायाः सेवनमासेवनम् । निष्टं सुवर्णम् । निस्तप्ता अरातयः । सकृत्तता इत्यर्थः । अनासेवन इति
किम् ? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । मुहुर्मुहुस्तपतीत्यर्थः । इदमप्यन्ते विधानार्थम् । धुनिर्देशार्थंस्तपि निर्देशः ।

निष्णातनदीष्णातप्रतिष्णाताभिनिष्ठानकपिष्ठलप्रष्ठविष्टरविष्टारगविष्टिरयुधिष्ठिराः ॥१।४।७५॥
निष्णात नदीष्णात प्रतिष्णात अभिनिष्ठान कपिष्ठल प्रष्ठ विष्टर विष्टार गविष्टिर युधिष्ठिर इत्येते शब्दा
निपात्यन्ते । “निनदीभ्यां स्नातस्य कौशले षत्वम्” । निष्णातः काव्यकरणे । नदीष्णातः । नदीस्ताने
कुशल इत्यर्थः । निस्नातनदीस्नातावन्यत्र । योपि “सुपि” [२।२।७] “स्थः” [२।२।८] इति योगविभागात्के
कृते नदीष्ण इति । तस्य सुषामादिषु षत्वम् । प्रतिष्णातं भवति सूत्रं चेत् । प्रतिस्नातमन्यत् । अभिनिःष्ठानो
भवति वर्णश्चेत् । अभिनिभ्यां परस्य स्तन ध्वन इत्यस्य कर्तारि षञि रूपम् । अभिनिःस्तन्यत इति अभिनि-
ष्ठानो विसर्जनीयः । अभिनिःस्तानोऽन्यः । कपिष्ठलो भवति गोत्रशब्दश्चेत् । कपिष्ठलोऽपत्यं यस्य कापिष्ठलिः ।
वाद्यः पुमानपत्यसन्ततेः प्रवर्तयिता लोके गोत्रम् । ततोऽन्यः कपिस्थलम् । प्रष्ठ इति प्रात् स्थस्य षत्वमग्रे
ग्रामिणि प्रतिष्ठते इति प्रष्ठो देवदत्तः । प्रष्ठो गौः । प्रस्थ इत्यन्यत्र । अग्रेग्रामिणीत्यत्र “कुमति” [५।१।६७]
इति णत्वम् । “न भाभूपूञ्कमिगमि” [५।१।१३] इति गेः कृतस्य प्रतिषेधः । “वेः स्तरस्य वृत्तासनयोः
षत्वम्” । विष्टरो वृद्धः । विष्टरमासनम् । विस्तर इत्यन्यत्र । “वेः स्तरस्य छन्दोनाग्नि षत्वम्” । विष्टारः
पङ्क्तिछन्दः । विष्टारः बृहती छन्दः । “छन्दः खौ” [२।३।३२] इति घञ् । पदस्य विस्तर इत्यन्यत्र ।
“गवियुधिपूर्वस्य स्थिरस्य सञ्ज्ञायां षत्वम्” । गविष्ठरो युधिष्ठिरो गोशब्दादहल्तादपि निपातनादीपोऽपु ।
गविस्थिरो युधिस्थिर इत्यन्यत्र ।

नाद्यन्ते ॥१।४।७६॥ पदस्य आदावन्ते च षत्वं न भवति । दधि सिञ्चति । मधु सिञ्चति । अग्निस्तत्र ।
वायुस्तत्र । “इरकोः” [५।१।३७] “त्यादेशयोः” [५।१।३६] इति षत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सात् ॥१।४।७७॥ सादित्येतस्य च षत्वं न भवति । अग्निं सात् । मधुसात् ।

सिचो यडि ॥१।४।७८॥ सिचो यडि परतः षत्वं न भवति । सेसिच्यते । “त्यादेशयोः”
[५।१।३६] इति प्राप्तिः । अयामिसेसिच्यते परिसिच्यते इत्यत्र गिलक्षणं षत्वं कस्मान्न भवति ? “धेन

नाप्राप्त्यायेन” [५०] “नाद्यन्ते” [५१४७६] इत्यस्यैव प्रतिषेधस्य बाधकं गिलक्षणं न सिचो यङीत्यस्य । अथवा “पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्” [५०] इति यङि सर्वत्र प्रतिषेधः । यङीति किम् ? परिषिष्यति ।

सेधो गतो ॥५१४७६॥ सेधतेर्गत्यर्थस्य पत्वं न भवति । अभिसेधति । प्रतिसेधति गाः । “स्थासेन-यसेध” [५१४७६] इत्यादिना प्रातस्य प्रतिषेधः । गताविति किम् ? प्रतिषेधति पापम् । निवारयतीत्यर्थः ।

निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ ॥५१४८०॥ निस्तब्ध प्रतिस्तब्ध इतीमौ शब्दौ निपात्येते । निस्तब्धः । प्रति-स्तब्धः । के परतः “स्तम्भेः” [५१४८८] इति प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सोढः ॥५१४८१॥ सहेः सोढभूतस्य पत्वं न भवति । परिसोढा । परिसोढुम् । एवं निसोढा । विसोढा । परिनिविभ्यः “सिबुसहसुदस्तुस्त्राजम्” [५१४५२] इत्यनेन प्राप्तिः । सोढभूतस्य ग्रहणं किम् ? परिग्रहते । निग्रहते । सोढ इति सहेः सोढभूतस्यानुकरणं ङसा निर्दिष्टः ।

स्तम्भुसिबुसहां कचि ॥५१४८२॥ स्तम्भु सिबु सह इत्येतेषां कचि परतः पत्वं न भवति । अभ्यत-स्तम्भत् । पर्यतस्तम्भत् । “स्तम्भेः” [५१४८८] इत्यया चेन च व्यावाये गिनिमित्तं प्रतिषिध्यते । सिबुसहोस्तु परिनिविभ्यः परयोः “वाऽया” [५१४५३] इति विकल्पः प्राप्तः । पर्यसीषिवत् । न्यसीषिवत् । पर्यसीषहत् । न्यसीषहत् । सर्वत्र गियुक्ताणि च क्रियते । गिलक्षणस्य पत्वस्यायं प्रतिषेधो न तु “त्यादेशयोः” [५१४३६] इत्यनेन चादुत्तरस्य व्यवहितत्वात् ।

सुजः स्यसनोः ॥५१४८३॥ सुनोतेः सकारस्य स्य सन् इत्येतयोः परतः पत्वं न भवति । अभिसोष्यते । परिसोष्यते । अभ्यसोष्यत । पर्यसोष्यत । सनि । सुसूषति । नैतद्युक्तम् । “षणि चाणिस्तोरेव” [५१४११] इति नियमादत्राप्राप्तिः । इदं तर्हि अभिसुसूषति । अत्रापि “स्थादेशचेन चस्य” [५१४४४] इति नियमादप्राप्तिः । तत्रोक्तम् । गिनिमित्तं स्थादीनामेव पत्वं नान्यस्येति । क्वपि तद्गुदाहरणम् । अभिसुसूः । रित्वे विसर्जनीये च कृते “षणि” [५१४११] इति नियमाभावाच्चात्सरस्य प्राप्तं पत्वं प्रतिषिष्यते । स्यसनोरिति किम् ? सुषाव ।

सदिस्वञ्ज्योः परस्य लिटि ॥५१४८४॥ सदि स्वञ्जि इत्येतयोर्लिटि परस्य पत्वं न भवति । अभिषसाद । निषसाद । अभिषस्वञ्जे । निषस्वञ्जे । “लिटि स्वञ्जे वा न खं भवतीत्युपसंख्यातव्यम्” [वा०] अभिषष्वजे । विषष्वजे । सदेशचेन व्यावाये “सदोऽप्रतेः” [५१४४७] इति स्वञ्जेस्तु “स्थासेनय” [५१४४६] इत्यादिना पत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

षो नो णः समाने ॥५१४८५॥ पदस्येति वर्तमानं समान इत्यनेन समानधिकरणं जायते । प्रकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति समाने पदे चेन्निमित्तानिमित्तिनौ भवतः । कुष्णाति । सुष्णाति । आस्तीर्यम् । विस्तीर्यम् । समान इति किम् ? मुनिर्नयति । साधुर्नयति स्वर्गम् । “धन्विक्कृण्व्योर च” [२११७५] इत्यत्र णत्वनिर्देशात् ऋकारादपि परस्य णत्वं भवति । तिसृणाम् । मातृणाम् । षकारग्रहणमुत्तरार्थम् । अव्यवाये षट्वेनापि सिद्धमेतत् ।

अट्कुप्वाड्यवायेऽपि ॥५१४८६॥ अट् कु पु आङ् इत्येतैर्व्यावाये अव्यवायेऽप्यनेन प्रकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णो भवति । अट् । वर्षेण । वृषेण । गिरिणा । मेघणा । कु । निष्केण । शुष्केण । अर्केण । मूर्खेण । वगेण । दीर्घेण । पु । पुष्पेण । सर्पेण । दर्पेण । रेफेण । गर्भेण । धर्मेण । आङ् । पर्याणद्धम् निराणीतम् । अङ्ग्रहणेनैव सिद्धे आङ् ग्रहणं “पदव्यवायेऽपि” [५१४११६] अस्य बाधनार्थम् । अडादिष्वेकेनाकेन च व्यावाये णत्वं ज्ञातव्यम् । उभयथा वाक्यपरिसमाप्तौराश्रयणात् । यथा गौः सह न भोक्तव्यमेकेनाकेनेन च सह न भुज्यते । इह कथं णत्वम् बृंहणम् । बृंहणीयम् । “तृह् स्तृह् वृह् हिंसार्थाः” । तृंहणम् । तृंहणीयमिति । अनुस्वारस्यायोगाहत्वादङ्ग्रहणेन ग्रहणमिति णत्वम् । तदुक्तम्—“अयोगावाहो यत्रेष्टस्तत्र तत्र

तदा भवेत्” इति । “रिवि रवि गतौ” इत्यस्य । रिखनम् । रिखनीयम् । झत्परत्वाभावादनुस्वारो नास्तीति
एत्वाभावः । तुष्कणम् । तुष्कणीयमित्यत्र परस्वत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारोऽस्तीति एत्वं भवति ।

पूर्वपदात् खावगः ॥१४।८७॥ खु इति वर्तते । षकाररेफवतः पूर्वपदात् अगकारान्तात् उत्तरस्य
नकारस्य णो भवति खुविषये । पुष्पणन्दी । श्रीणन्दी । श्रीनन्दिशब्दस्य लुभ्नादिषु णत्वं निषिद्धम् । खरणसः ।
वाध्रीणसः । खाविति किम् ? शुष्कनासिकः । दीर्घनासिकः । अग इति किम् ? ऋगयनम् । लुभ्नादिषु नृनमन-
तृप्नोतिशब्दयोः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् ऋकारस्थाद्रेफादञ्जशेन व्यवहितत्वात् पदस्य एत्वं भवतीति एत्वप्राप्तिः ।
नियमार्थोऽयं योगः । पूर्वपदात्खावेव नान्यत्र । अथ पूर्वपदादेव खाविति कस्मान्न नियमो भवति । एवं सति खु-
नियमः स्यात् । अलुविषये पूर्वैण एत्वसिद्धेः “वाह्याद्वाहनम्” [५।४।९२] इत्याद्यारम्भोऽनर्थकः स्यात् । अत्र
से कृते समुदायाद्या विभक्ती तथा समुदायस्यैकपदत्वे पूर्वैण प्रातिरस्तीति नियमो घटते । पूर्वपदत्वं तु स्मर्यमाणव-
यवापेक्षम् । पूर्वपदशब्दश्च सम्बन्धिशब्दः । तेनोत्तरपदस्थस्य नकारस्य एत्वं नियमो निवर्तयति न पूर्वपदस्थस्य नापि
त्यस्यस्य । करणप्रियः । खारपायणः । करणं प्रियमस्य । खरपस्यापत्यमिति विग्रहः । अग इत्यनन्तरस्य प्रतिषेधः
प्राप्नोतीति चेत् ; तत्र को दोषः ? खौ चाखौ च पूर्वैण एत्वं स्यात् । एवं तर्हि अग इति योगविभागः । तेन
विधिनियमयोः प्रतिषेधः ।

वनं पुरगामिश्रकासिद्धकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥१४।८८॥ खाविति वर्तते । पुरगा
मिश्रका सिद्धका शारिका कोटरा अग्र इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते । विनाम इति पत्वणत्वयोः सञ्ज्ञा । पुरगा-
वणम् । मिश्रकावणम् । सिद्धकावणम् । शारिकावणम् । कोटरावणम् । तासे कृते पूर्वपदस्य “गिरिवने किंशुलुक-
कोटराद्योः खौ” [४।३।२२०] इति दीत्वम् । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । “राजदन्त” [१।३।९६] आदिस्त्वात्पूर्वनिपातः ।
“ईपोऽद्वलः” [४।३।१२७] इत्यनुप् । “सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः” । एतेभ्य एव वनं विनम्यते नान्येभ्यः ।
मनोहरवनम् । अथ पुरगादिभ्यो वनमेव विनम्यते नान्यदिति कस्मान्न नियमः । एवं सति पुरगादिनियमः स्यात् ।
वनं त्वनियतं तस्य खौ पूर्वैणैव एत्वं सिद्धमित्युत्तरसूत्रे खावपि प्रादिभ्यः परं वनं विनम्यत इत्यपिशब्दोऽनर्थकः
स्यात् । ज्ञायते पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इति नियमः । पुरगादीनां कृतदीत्वानामुच्चारणं किम् ? यत्रैव
दीत्वं तत्रैव एत्वं यथा स्यात् । इदमेव ज्ञापकमनित्यं द्वौ दीत्वमिति तेन लम्बकर्णः । विद्धकर्णः । अल्लिङ्गः ।
कमलङ्गः इत्येवमादि सिद्धम् ।

प्रान्तर्निःशरेक्षुप्लक्ष्माक्षकार्प्यखदिरपीयूचाभ्योऽखावपि ॥१४।८९॥ प्र अन्तर् निस् शर
इक्षु प्लक्ष्मा आक्ष कार्प्य खदिर पीयूक्षा इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते अखावपि खावपि च । प्रवणम् । अन्त-
र्वणम् । निर्वणम् । शरवणम् । इक्षुवणम् । प्लक्षवणम् । कार्प्यवणम् । खदिरवणम् । पीयूक्षावणम् । प्रगतं
वनम् । अन्तर्गतं वनम् । निर्गतं वनमिति विग्रहः । शरवणादिषु तासः । ये ओषधिवनस्पतिशब्दा न भवन्ति तेभ्यः
अखौ खौ च पूर्वार्थमप्राप्ते विधिः । ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यस्तु खावप्राप्ते विधिः । अखौ तूत्तरसूत्रेण विकल्पे
प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । अपिशब्दस्य पूर्वसूत्रे प्रयोजनमुक्तम् ।

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ॥१४।९०॥ ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यः परं वनं विभाषा विनम्यते ।
ओषधिभ्यः-दूर्वावणम् । दूर्वावनम् । ब्रीहिवणम् । ब्रीहिवनम् । वनस्पतिभ्यः-करीरवणम् । करीरवनम् ।
आरकवणम् । आरकवनम् । व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणात् द्व्यक्षरव्यक्षरयोर्विकल्पः । तेनेह न भवति । भद्रदारु-
वनम् । “ईरिकादिभ्यश्च न भवति” [वा०] । ईरिकावनम् । तिमिरवनम् । समीरवनम् । खौ पुरगादिभ्य
एव वनं विनम्यते इत्याखावियं विभाषा । खौ त्वसिद्धत्वान्नियमेन बाध्यते । यदि खावपि प्रयोगोऽस्ति विभाषेति
योगविभाषान्नियमबाधा द्रष्टव्या । बहुत्वनिर्देशः पर्यायार्थः । इह वनस्पतिग्रहणो बृहत्त्वमपि ग्रहणम् । यतः —

“फली वनस्पतिर्ज्ञेयो बृहत्ताः पुष्पफलोपगाः ।”

पुष्पफले अन्यतरच्चोपगच्छन्ति चे ते वृक्षाः । तत्र यो वनस्पतिः स वृक्षो भवत्येव । वृक्षस्तु नात्रश्वं वनस्पतिरिति वनस्पतिग्रहणं कृतम् । एतेभ्य इति किम् ? शिरीषवनम् । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः तस्य वनम् । “वरणादेः” [३।२।६२] इत्युप् । उपि कृते “युक्तवदुसि लिङ्सङ्ख्ये” [१।१।६३] इत्यनेन लिङ्ग-सङ्ख्ययोरेवातिदेशो न वनस्पतित्वस्येति गत्वाभावः ।

अतोऽहः ॥५।४।६१॥ अकारान्तात्पूर्वपदादुत्तरस्य अह्नो नकारस्य गत्वं भवति । पूर्वाहणः । अपराहणः । “पूर्वापरप्रथम” [१।३।५३] आदि सूत्रेण पसः । “राजाहःसखिभ्यष्टः” [४।२।६३] इति टः । “एभ्योऽहोऽहः” [४।२।६०] इत्यह्नादेशः । अत इति किम् ? निरहः । दुरहः । निर्गतमहः । दुष्टमहः । तपरकरणं किम् ? परावृत्तमहः पराह्नः । अह्न इति सूत्रे वृत्तिघटितैकदेशो वान्तः । “सूत्रेऽस्मिन् सुव्विधिरिष्टः” [५।२।११४] इति तास्थाने वानिर्देशाद् व्याख्येयः । अह्न इति अकारान्तनिर्देशाद्दीर्घाह्ना शरदित्यत्र न भवति । दीर्घाण्यहान्यस्यामिति यसे “बोद्ध्वे” [३।१।११] इति वा ङीविधिः ।

वाह्याद्वाहनम् ॥५।४।६२॥ कालसामान्ये वोढव्यं वाह्यम् । वाह्यादुत्तरस्य वाहनस्य गत्वं भवति । ऊह्यतेऽनेनेति वहनम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण् । अतो वा निपातनाडो दीत्वम् । इक्षुवाहणम् । शरवाहणम् । कर्मणि तासः । वाह्यादिति किम् ? सुरवाहनम् । सुरस्वामिकमित्यर्थः । एवं नरवाहनः । नात्र वाह्यात्परं वाहनम्, किन्तु वाहनात् । वाह्यावाहकसम्बन्धे गत्वं भवत्येव । सुरवाहणम् । नरवाहणम् । खौ पूर्वेण सिद्धं गत्वं नरवाहण इति ।

पानं देशे ॥५।४।६३॥ पाननकारस्य गत्वं भवति देशे गम्ये । सर्वत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति वर्तते । कषायपाणाः गान्धारयः । क्षीरपाणाः आन्ध्राः । सौवीरपाणाः द्रमिणाः । सुरापाणाः प्राच्याः । अतिशयोऽत्र गम्यते । तात्स्थ्यात्ताच्छब्दमिति मनुष्याभिधाने देशाभिधानम् । पीयते इति पानम् । “युङ्ख्या बहुलम्” [२।३।६४] इति कर्मणि युट् । कषायं पानमेवामिति कर्तरि ता । देश इति किम् ? दाक्षिणानम् । क्षीरपाना गोपालकाः ।

वा भावकरणे ॥५।४।६४॥ भावे करणे च यः पानशब्दस्तत्रकारस्य वा गत्वं भवति । भावे-क्षीरपाणम् । क्षीरपानं वर्तते । करणे-पीयतेऽनेनेति पानः । वारिपाणः । वारिपानः कंसः । वेति योगविभागाद्विरि-नद्यादिपु वा गत्वम् । चक्रणदी । चक्रनदी । चक्रणितम्या । चक्रनितम्या ।

मृदन्तनुम्विभक्त्याम् ॥५।४।६५॥ मृदन्ते नुमि विभक्त्यां च यो नकारः तस्य पूर्वपदस्थान्निमित्ताद् वा गत्वं भवति । मृदन्ते-माषवापिणौ । माषवापिनौ । व्रीहिवापिणौ । व्रीहिवापिनौ । “प्रायोऽभीक्ष्ये” [२।२।६६] इति णिन् । नुमि । माषवापाणि । माषवापानि । “लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव” [प०] इति नुमो मृदन्तग्रहणेनाग्रहणम् । विभक्त्याम्-माषवापेण । माषवापेन । व्रीहिवापेण । व्रीहिवापेन । नियमाद्-प्राप्ते विकल्पः । पूर्वपदादिति वर्तते तेन सम्बन्धादुत्तरपदं यन्मृत्सञ्ज्ञं तदन्तस्य विकल्पः । तेनेह न भवति । गर्गाणां भगिनीः गर्गभगिनीति । यदा यु गर्गभगशब्दान्मत्वर्थीय इन् तदा गत्वं भवत्येव । गर्गभगिणीति । “पूर्वपदात्खा-वाः” [५।४।८०] इत्यनेनोत्तरपदस्यस्य नकारस्य गत्वं निवर्त्यते । न त्यस्येत्युक्तम् । यथा मातृभोगीण इत्यत्र समुदायस्य समानपदत्वे । पुरुवारिणी इत्यत्र विकल्पस्य बहिरङ्गत्वादसिद्धत्वाच्चादिसूत्रेण नत्वम् । माषवापिणा माषवापिना इत्यत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य विधिरिति । मृदन्तत्वाद्विकल्पः । वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तनादिह न भवति । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । प्रपक्वानि । परिपक्वानि । दीर्घाङ्गी शरदिति ।

एकाच्यौ णः ॥५।४।६६॥ एकाचि चो पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य मृदन्तनुम्विभक्तौनकारस्य णकारो भवति । ब्रह्महणौ । वृत्रहणौ । क्षीरपाणि । सुरापाणि । क्षीरपेण । सुरापेण । “आतः कः”

[२।२।३] इति कः । सुरायां वाचि पिबते: “सुराशीध्वोः पिबः” [२।२।१२] इति टक् । पुनर्ग्रहणं नित्यार्थम् ।

कुमति ॥५।४।६७॥ कवर्गवति च द्यौ मृदन्तनुम्विभक्तीनकारस्य णत्वं भवति । इत्तुयुगिणौ । करयुगिणौ । इत्तुयुगेण । अनेकाण्वर्थं वचनम् । काविति सिद्धे कुमतीति मत्वर्थीयः किम् ? अकवर्गादावपि द्यौ प्रापणार्थम् । अन्यथा “येनालि विधि” न्यायेन कवर्गादावेव स्यात् ।

गेरसेऽपि विकृतेः ॥५।४।६८॥ गेरुत्तरस्य सामर्थ्याद्धोर्विकारस्यासेऽपि णो भवति । असे । प्रणमति । परिणमति । से-प्रणायकः । परिणायकः । विक्रियते इति विकृतिः नकारः । अवयवविकारे समुदायस्य धोर्विकारो यथैकदेशाऽलङ्कारेऽलङ्कृतो देवदत्त इति । ततो विकृतं प्रति क्रियायोगित्वात् प्रादीनां गित्वम् । गेरिति किम् ? मुनिर्नयति स्वर्गम् । प्रगता नायका अस्माद्ग्रामात् प्रनायको ग्रामः । अपिग्रहणं किम् ? से पूर्व-पदात् खाविति नियमात् णत्वं न स्यात् । ननु णत्वस्यासिद्धत्वान्न नियमप्राप्तिः । इदमेवापिग्रहणं ज्ञापकम् । “न योगे योगोऽसिद्धोऽपि तु प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं भवति” । तेन निष्कृतं दुष्कृतमित्यत्र “इणः षः” [५।४।२७] इति पत्वे क्रियमाणे “इडुडुडः” [५।४।२८] इति सत्वं नासिद्धम् । विकृतेरिति किम् ? प्रनृत्यति । प्रनर्तकः । अयमौपदेशिको नकारो न तु “णो नः” [४।३।५४] इत्यनेन विकृतः । “नृतिनन्दिनकिनाधुनाथ-वज्जम्” इति वचनात् ।

नशोः शः ॥५।४।६९॥ नशोः शकारान्तस्य णत्वं भवति । प्रणश्यति । परिणश्यति । प्रणाशकः । परिणाशकः । श इति किम् ? प्रनष्टः । प्रनश्यति । शकारस्यैवेति नियमात् णत्वाभावः । नशोरेव शकारान्तस्येति कस्मान्न नियमः । अन्यस्य शकारान्तस्यासम्भवात् । सम्भवे वा णत्वोपदेशादेव व्यावृत्तिः । णत्वोपदेशो हि “णो नः” [४।३।५४] इति विकृतिद्वारेण णत्वार्थः ।

नेर्गदन्तपदपदभुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु ॥५।४।१००॥ गिस्थान्निमित्तात् परस्य गेर्नेर्नकारस्य णत्वं भवत्यसेऽपि गदादिषु परतः । प्रणिगदति । परिणिगदति । सेऽपि । प्रणिगदिता । परिणिगदिता । प्रणिनदति । परिणिनदति । प्रणिनदिता । परिणिनदिता । प्रणिपति । प्रणिपतिता । प्रणिपद्यते । प्रणिपत्ता । भुसञ्ज्ञे-प्रणिददाति । प्रणिदाता । प्रणिदधाति । प्रणिधाता । मा इति माङ्मेडोर्ग्रहणम् । प्रणिमिमीते । प्रणिमाता । मेडः कृतात्वस्यैव ग्रहणम् । प्रणिमास्यते । प्रणिमाता । “मीञ् हिंसायाम्” । “डुमिञ् प्रचेपणे” इत्यनयोः “मिन्मीन्दीङ्नां प्ये च” [४।३।४३] इति कृतात्वयोः “मा माने” इत्यस्य च न ग्रहणम् । अस्य शेषत्वेनोत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषाऽतः सर्वमिदं लभ्यते । प्रणिष्यति । प्रणिषाता । प्रणिहन्ति । प्रणिहन्ता । प्रणिष्याति । प्रणिष्याता । प्रणिषाति । प्रणिषाता । प्रणिद्राति । प्रणिद्राता । प्रणिप्साति । प्रणिप्साता । प्रणिवपति । प्रणिवप्ता । प्रणिवहति । प्रणिबोधा । प्रणिशाम्यति । प्रणिशामिता । प्रणिचिनोति । प्रणिचेता । प्रणिदेग्धि । प्रणिदेग्धा । गदादिष्वीमिर्देशादनन्तरस्य कार्यमित्यदा व्यवये कथं णत्वम् । प्रणयगदत् । परिणयगददिति । अडागमश्च गोर्विहितो विकरणान्तश्च गुरशक्यो गदग्रहणेन ग्रहीतुमिति । नैष दोषः । अडव्यवाये इति मण्डूकानुत्या सम्बध्यते । तिषा निर्देशा यडुवन्तनिवृत्त्यर्थाः ।

पाऽपान्तेऽकखादौ ॥५।४।१०१॥ गेरिति वर्तते । अककारान्ते अककारखकारादौ द्यौ परतः गिस्थान्निमित्ताद्वा नेर्णो भवति । प्रणिपचति । प्रनिपचति । परिणिपिनन्ति । परिनिपिनन्ति । अप्रान्त इति किम् ? प्रनिपेष्टा । अन्तग्रहणानुपदेशार्थमिहापि न भवति । प्रनिपेच्यति । प्रच्छेदश्छकारान्तत्वाद् भवति । प्रतिप्रष्टा । अकखादाविति किम् ? प्रनिक्रोति । प्रनिखादति । अचापि अकखोरिति सिद्धे आदिग्रहणमुपदेशार्थम् । प्रनि-चकार । प्रनिचखाद ।

हिम्योर्नुनोः ॥५।४।१०२॥ हि मी इत्येतयोर्नो नुनौ तयोर्णत्वं भवति गित्थान्निमित्तात् । प्रहिणोति । प्रहिणुतः । प्रमीणाति । प्रमीणीतः । एवीत्वयोः कृतयोः एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्पणत्वम् ।

आनि ॥५।४।१०३॥ आनीत्येतस्य धोः परस्य णो भवति । आनिं प्रति गित्वाभावादिह गिरग्रहणं आदि-मात्रोपलक्षणम् । प्रवपाणि । प्रापयाणि । अर्थवदग्रहणपरिभाषयाऽर्थवत् एव नेर्ग्रहणादिह न भवति । प्रवृद्धा वपा येषां तानि प्रवपानि मांसानि । आनीत्यविभक्तीको निर्देशः ।

णोऽनितेः ॥५।४।१०४॥ णेः परस्यानितेर्नकारस्य णो भवति । प्राणिनि । पर्याणिनि । अङ्गव्यायेऽपि । पर्याणीत् । पुनर्णग्रहणमपवादविषयेऽपि णत्वार्थम् । हे प्राण् ? इति । कथन्तस्य किः । “अन्तस्य” [५।४।११५] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । तिपा निर्देशो यङुचन्तनिवृत्त्यर्थः ।

सचस्योभौ ॥५।४।१०५॥ सचस्यानितेर्भौ नकारौ विनश्येते । गेरिति वर्तते । प्राणिणिपति । परा-णिणिपति ! पराणिणत् । अत्र द्वित्वे कृते चरूपेण व्यवधानाद्धोर्नकारस्य न प्राप्नोतीत्येवमर्थं सूत्रम् । उभौ-ग्रहणं किमर्थम् ? यावता पूर्वनकारस्य पूर्वसूत्रेण णत्वं सिद्धम् । धोस्त्वारम्भसामर्थ्यान्नकारस्य व्यवधानेऽपि भविष्यति । नापि द्वितीयस्य णत्वमुच्यमानं पूर्वस्यापवादः । सचस्येति वसनिर्देशात् । अन्यथा चादित्येवोच्येत । नियमार्थं तद्धुंभौग्रहणम्—गेरनन्तरमुभयोरेव णत्वं न तृतीयस्य । प्राणिणिप्रत्ययेः लुङि कचि च कृते पुनः कचि द्वित्वे सति प्राणिणिनिपत् । ननु च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति वचनात् कृतणत्वस्य द्वित्वे सति उभयोर्णत्वं लभ्यत इति नार्थोऽनेनेति उभौग्रहणार्थं तर्हि सूत्रं कर्तव्यम् । न च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इतीदं सर्वविषयम् अन्यथा औजिददित्यत्र दत्वधत्वध्त्वदत्वानामसिद्धत्वाभावात् हृति इत्येतस्य द्वित्वं न स्यात् ।

हन्तेरघः ॥५।४।१०६॥ घवर्तिस्य हन्तेर्नकारस्य णो भवति । गेरिति वर्तते । प्रहण्यते । परिहणनम् । अन्तःशब्दस्य गिसञ्ज्ञोक्ता । अन्तर्हण्यते । अन्तर्हणनम् । उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषावलोकनात् देशविषये न भवति । अन्तर्हणनो देशः । अघ इति किम् ? प्रवृन्ति । प्राघानि । “घनान्तर्घण” [२।३।६६] आदि सूत्रे अन्तर्घणादीनां निपातनाणत्वम् । अघ इति योगविभागात् । हन्तेरघपूर्वस्यैव णत्वम् । तेनेह न भवति । वृत्रघ्न इति । सञ्ज्ञायां “पूर्वपदात्खावगः” [५।४।८७] इति णत्वं प्राप्तम् । असञ्ज्ञात्वे “एकाञ् घौ णः” [५।४।६६] इति ।

वा म्वोः ॥५।४।१०७॥ मकारवकारयोः परतः हन्तेर्नकारस्य वा णत्वं भवति । प्रहण्यः । प्रहन्वः । प्रहण्यः । प्रहण्यः । वाग्रहणं पूर्वविधीनां नित्यार्थम् ।

कृत्यचः ॥५।४।१०८॥ कृत्यथो यो नकारः तस्याच उत्तरस्य णो भवति स चेन्नकारपरो भवति गित्थान्निमित्तात् । कृतीति नकारस्य विशेषणं नाचः । कृत्यञ्चकाच्चाचः परस्य नकारस्य णत्वं भवतीत्यर्थः । प्रयाणम् । प्रवहणम् । प्रयायमाणम् । प्रयाणीयम् । अप्रयाणिर्हन्त ते वृषल । प्रयाधिणः । प्रहीणः । प्रहीणवान् । अन्तःशब्दस्य गित्त्वे अन्तर्याणम् । अन्तरयणम् । वेति व्यवस्थितविभाषाभिसम्बन्धादिह न भवति । अन्तरयणो देश इति । इहापि भवति । निर्विण्णः प्रात्राजीदिति । अच इति किम् ? प्रभुग्नः ।

रोर्वा ॥५।४।१०९॥ ग्यन्ताद्यो विहितः कृत्यत्थस्याच उत्तरस्य नकारस्य वा णत्वं भवति । गेरिति वर्तते । प्रयापणम् । प्रयापनम् । ननु प्रयायमाण इत्यत्र यका व्यवहितत्वात् कथं कृतो णत्वम् ? अङ्गव्याय इति वर्तते । ग्यन्ताद्विहितस्य कृतो व्यव्यायेऽपि णत्वं भविष्यति । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

हलश्चेजुङः ॥५।४।११०॥ इजुङः सर्वस्य हलन्तत्वात् हल्यग्रहणादिविशेषणम् । हजादेरिजुङो धोः परस्य कृति नकारस्य वा णत्वं भवति गेरिति मित्तात् । प्रकोपणम् । प्रकोपनम् । प्रमोहणम् । प्रमोहनम् । “कृत्यचः” [५।४।१०८] इति नित्ये प्राप्ते विकल्पः ।

[संजुम इजादेः ॥५१४१११॥ निंसनिन्ननिन्दो वा ॥५१४११२॥ न भाभूपूकमिगमिप्या-
यीवेपाम् ॥५१४११३॥ पात् पदान्तात् ॥५१४११४॥ अन्तस्य ॥५१४११५॥ पदव्यघावेऽपि
॥५१४११६॥]

लुभ्नादिषु ॥५१४११७॥ लुभ्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य णकारादेशो न भवति । लुभ ।
लुभ्नाति । नृप । नृप्नोति । इदमेव ज्ञापकम् । नृपिः स्वादावप्यस्ति । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् लुम्नीतः ।
लुम्नन्ति । नृप्नुतः । नृप्नुवन्ति । विकरणान्तनिर्देशः किम् ? क्षोभणम् । तर्पणम् । नन्दिन् । नन्दन नगर इत्येतेषां
“पूर्वपदात्वावगः” [५१४१८७] इति णत्वं प्राप्तम् । हरिनन्दी । हरिनन्दनः । गिरिनगरम् । नर्त्तन नदन गहन
निवेश निवास अग्नि अनूप एतान्युत्तरपदानि सञ्ज्ञायामेव । परिनर्तनम् । परिनन्दनम् । भेरीनदनः । परिगहनम् ।
शरनिवेशः । शरनिवासः । शराग्निः । दर्भानूपम् । आचार्यभोगीनः । “आचार्यादणत्वं च” [ग० सू०] ।
आचार्यानी । “चतुर्हायनी वयसि द्रष्टव्या” [वा०] । “ईरिकादीनि च वनोत्तरपदानि सञ्ज्ञायाम्” [वा०] ।
ईरिका । तिमिर । समीर । कुबेर । हरि । कर्मार । इति ईरिकादिः । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । दीर्घाहूनी
शरदिति । अविहितलक्षणो णत्वप्रतिषेधः लुभ्नादिषु द्रष्टव्यः ।

न नृतेर्यङि ॥५१४११८॥ नृतेर्यङि णत्वं न भवति । नरीनृत्यते । नरीनृत्येते । नरीनृत्यन्ते । त्यखे ।
त्याश्रयात् । नर्नर्ति । नरिनर्ति । नरीनर्ति ।

स्तोः श्चुना श्चुः ॥५१४११९॥ सकारतवर्गयोः शकारचवर्गान्यां योगे शकारचवर्गौ भवतः । अत्र
स्थान्यादेशयोर्यथासंख्यम्, स्थानिनिमित्तयोस्तु नेष्यते । “शात्” [५१४१२३] इति तवर्गस्य चत्वं प्रतिषेधाज्जायते ।
सकारस्य शकारेण । जिनालयश्शोभते । तस्यैव चवर्गेण । धन्यश्चिनोति पुण्यम् । ओब्रश्चू । वृश्चति पापम् ।
मुनिश्छिनन्ति कर्मबन्धम् । तवर्गस्य शकारेण । अग्निचिच्छेते । छ्वमसिद्धमिति शे चुत्वम् । पूर्वेषां शकारेण ।
“शात्” [५१४१२३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तवर्गस्य चवर्गेण । तत्त्वविच्छिनोति । तत्त्वविच्छादयति । तत्त्वविज्ज-
यति । सरिज्जपः । भवाज्जकारोयति । श्राविति सिद्धे श्चुनेति निर्देशः शादिति प्रतिषेधश्च ज्ञापकः । परेण
पूर्वेण च चुना योगे चुत्वमिति । तेन राज्ञः । याच्ञा । “मस्जिनशोर्म्मलि” [५१४१३६] इति निर्देशात् मज्जति ।
भृज्जतीत्यत्र चुत्वे कर्तव्ये जश्त्वं नासिद्धम् ।

घुना घुः ॥५१४१२०॥ सकारतवर्गयोः पकारटवर्गान्यां योगे पकारटवर्गौ भवतः । अत्रापि “न तोः षि”
[५१४१२२] इति प्रतिषेधात् स्थानिनिमित्तयोर्यथासङ्ख्याभावः । सकारस्य पकारेण । कषण्डे । तस्यैव टवर्गेण ।
अश्वष्टीकते । पुरुषष्टक्वयति । तवर्गस्य पकारेण परेण प्रतिषेधं वक्ष्यति । पूर्वेषां पेषा । पेषुम् । तवर्गस्य टवर्गेण ।
वृद्धष्टक् । अष्ट अष्टते । तकारोपदेशः क्विपि स्फान्तखे च कृते श्रवणार्थः । मरुड्टक्वयति । अडु । अडुति ।
श्राविड्वीकते । भवाण्णकारोयति ।

पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी ॥५१४१२१॥ पदस्य टोः परेषां नाम्नवति नगरी इत्येतेषां दुत्वं भवति ।
पण्णाम् । पण्णवतिः । पण्णसार्थः । नियमार्थमिदम् । पदान्तयोः परस्य नाम्नवतिनगरीत्यस्यैव नान्यस्येति ।
तत्त्वामृतलिङ् तरति दुःखम् । पदान्तस्यैव नियमादिहाप्रतिषेधः । ईड स्तुतौ । ईट्टे । पदस्येति वर्तमाने पुनः
पदस्येति ग्रहणमन्तार्थम् । ननु तथापि नाम्नवतिनगरीषु परतः पूर्वस्य पदान्तत्वसिद्धेः पदस्येति किमर्थम् ?
अतुल्यजातीयस्य सकारस्यापि परस्य घुत्वनिवृत्तिर्यथा स्यात् । मधुलिङ् सीदति ।

न तोः षि ॥५१४१२२॥ तवर्गस्य षकारे यदुक्तं तन्न भवति । दुत्वमुक्तम् । तीर्थकृत् षोडशः ।
भवान्ण्डः ।

१. प्रतिषु [] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिः खण्डिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायी-
मनुसूत्रात्र निर्दिष्टानि ।

शात् ॥५१४१२३॥ शकारात् परस्य तवर्गस्य यदुक्तं तन्न भवति । किमुक्तम् ? सुत्वम् । प्रश्नः ।
विश्नः । पदान्तस्य शकारस्याभावात् अपदान्ते प्रतिषेधः ।

खशः शो यो वा ॥५१४१२४॥ खश इत्येतस्य शकारस्य यकारो भवति वा । आख्याता ।
आख्याता । पर्याख्यानमिति यत्वस्यासिद्धत्वात् “कृत्यचः” [५१४१०८] इति ण्वं नास्ति । वेति योगविभागः ।
तेन जुना योगे “व उञ्जेः” इति लब्धम् । उञ्जिता । उञ्जितुम् । उञ्जितव्यम् ।

यरो डो विभाषा डे ॥५१४१२५॥ पुनः पदस्येति सामर्थ्यात् पदान्त इति लभ्यते । यरः पदान्तस्य
विभाषया ङादेशो भवति डे परतः । सुवाङ्मनयति । सुवाग् नयति । षमुखः । षड्मुखः । सन्नयनम् । सदनयनम् ।
ककुभमण्डलम् । ककुभमण्डलम् । पदान्तस्येति किम् ? सङ्ग । स्तम्भाति । वेत्यनुवृत्तौ विभाषाग्रहणं व्यवस्थार्थम् ।
तेन तेन नित्यं भवति । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । षण्णाम् । वाचो विकारः । “नित्यं दुशरादेः” [३१३१०६]
इति मयङ् । त्वचः आगतं “हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः” [३१३५५] । “मयट्” [३१३५६] इति मयट् ।

अचो रहाद् द्वे ॥५१४१२६॥ अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो विभाषया द्वे रूपे
भवतः । अर्कः । अचर्कः । तर्कः । तचर्कः । ब्रह्मन् । ब्रह्मन् । सहाम् । सहाम् । अच इति किम् ? हनुते ।
विभाषेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था । शरोऽचि द्वित्वन्न भवत्येव । आदर्शः । वर्षति । तर्सम् । “रहौ निमित्तभूतौ द्वित्वस्य न
च निमित्तिकार्यं निमित्तस्य” । तेनेह न भवति । भद्रहृदः ।

अनचि ॥५१४१२७॥ रहादिति निवृत्तम् । अच इति वर्तते यर इति च । अच उत्तरस्य यरो
विभाषया द्वे भवतः अनचि । दध्यत्र । दध्यत्र । मध्यत्र । मध्यत्र । अत्र यकारवकारौ निमित्तम् । अनचीति
यदि पर्युदासः हल्प्रहणं कर्तव्यम् । एवं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । अनचि नेति । तेन हल्यवसाने च द्वित्वम् ।
वाक्क् । वाक्क् । त्वक्क् । त्वक्क् । अच इत्येव । स्नातम् । प्सातम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारात् “त्रिप्रभृतिषु न
भवति” [वा०] । इन्द्रः । राष्ट्रम् । “यणः परस्य मयोऽचि विकल्पः” [वा०] । उल्का । उल्का । वल्मीकः ।
वल्मीकः । “शर उत्तरस्य खयः” [वा०] । स्थाली । स्थाली । “खय उत्तरस्य शरोऽपि” [वा०] । अप्सरः ।
अप्सरः । “पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते” [वा०] । “द्विमात्रात्परस्यापि” [या०] । पात्रम् । सूत्रम् ।

भलां जश भशि ॥५१४१२८॥ भलां वर्णानां जशादेशो भवति भशि परतः । लब्धा । दोग्धा ।
अबुद्धाः । अपदान्तार्थं आरम्भः । भशीति किम् ? दध्मेह ।

चे चर्त्वम् ॥५१४१२९॥ चे वर्तमानानां भलां चर्त्वं भवति जशत्वं च । चिखनिषति । चिच्छेद ।
डिदक्कायिषति । तिष्ठासति । पम्कुल्यते । जिघत्सति । बुभुल्यते । डुदौके । दधौ । प्रकृतिचरां प्रकृतिचरः
प्रकृतिजरां प्रकृतिजशो भवन्ति । अभिन्नरूपा इत्यर्थः । चिचीषति । टिटीके । ततार । पपौ । जिजनिषते ।
बुबुधे । डिडेप । ददौ । सर्वत्र “स्थानेऽन्तरतमः” [१११४७] इति व्यवस्था ।

खरि ॥५१४१३०॥ भलां खरि परतः चर्भवति । भेत्ता । भेत्तुम् । त्रिभिस्सति ।

विरामे वा ॥५१४१३१॥ विरामे वर्तमानानां भलां वा चर्त्वं भवति । वाक् । वाग् । मधुलिट् ।
मधुलिङ् । तत्त्वमुत् । तत्त्वमुद् । ककुप् । ककुब् ।

यय्यनुस्वारस्य परस्वम् ॥५१४१३२॥ ययि परतः अनुस्वारस्य परस्वं भवति । शङ्कितः ।
अञ्चितः । हिषिडतः । शान्तः । कृषन्तीत्यत्र शत्वप्राप्तेरसिद्धत्वादानुस्वारः । परस्वत्वम् । तस्यासिद्धत्वात्पश्चादपि
णत्वाभावः । ययीति किम् ? रिरंसते ।

वा पदान्तस्य ॥५१४१३३॥ पदान्तस्यानुस्वारस्य वा परस्वत्वं भवति ययि परतः । शुद्धं करोति ।
शुद्धकरोति । ययीत्येव । त्वं शोपे ।

तोलि ॥५१४१३४॥ तवर्गस्य लकारे परतः परस्वत्वं भवति । तडिल्लोला । भवाँल्लोकेशः । नकारस्य नासिक्थो लकारः । वेति नाधिकृतम् ।

स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः ॥५१४१३५॥ स्था स्तम्भ इत्येतयोर्दः परयोः पूर्वस्य स्वं भवति । उत्थाता उत्थातुम् । उत्थातव्यम् । उत्ताम्भिता । उत्ताम्भितुम् । उत्ताम्भितव्यम् । उद इति कानिदेशात् परस्यादेः अथोपस्य सकारस्य तकारः । स्थास्तम्भोरिति किम् ? उत्स्विन्नः । पूर्वस्येति किम् ? परस्वनिवृत्त्यर्थम् । उद इति किम् ? संस्थितिः ! उद इति योगविभागः कल्पनीयः । तेन स्कन्देरपि रोगे पूर्वस्वम् । उत्कन्दको नाम रोगः ।

भय्यो हः ॥५१४१३६॥ भयः पदान्तादुत्तरस्य हकारस्य पूर्वस्वं भवति । सुवाग्घसति । मधुलिङ्हरति । धर्मविद्धितम् । ककुब्भसति । महाप्राणस्योष्मणः स्थाने तादृश एव पूर्वचतुर्थो भवति । “चतुष्टयं समन्तभद्रस्य” [५१४१४०] इति वक्ष्यति तेन विकल्पः । सुवाग् हसति । मधुलिङ् हरति । धर्मविद् हितम् । ककुब् हसति । भय इति किम् । प्राङ् हसति ।

शश्छोऽटि ॥५१४१३७॥ शयः पदान्तादुत्तरस्य शकारस्य अटि परतश्छकारो भवति । वाक्छोभते । धर्मविच्छेते । ककुप्छोभते । पक्षे न भवति । वाक् शोभते । धर्मवित् शेते । ककुप्शोभते । केचित् शश्छोऽमीति पठन्ति । तेन तच्छ्लोकः । तच्छ्वसनमिति ।

हलो यमां यमि खम् ॥५१४१३८॥ हल उत्तरेपां यमां यमि परतः खं भवति । शय्या इत्यत्र “समज” [२१३८१] आदिसूत्रेण क्यपि अयङि च कृते द्वौ यकारौ । क्रमजस्तृतीयः । मध्यमस्यानेन खम् । पक्षे न भवति । शय्या । आदित्य इत्यत्र अपत्यार्थे द्वौ यकारौ । “सास्य देवता” [३१२११] इति तृतीयः । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्य मध्यमयोर्वा खम् । हल इति किम् ? अन्नम् । यमामिति किम् ? अर्घ्यं मधु । अर्घमर्हति । अर्घार्थं वा । “पाद्यार्थे” [४१२३२] इति निपातनम् । यमीति किम् ? शार्ङ्गम् । यथासंख्यविज्ञानादिह न भवति । पित्र्यम् ।

भरो भरि स्वे ॥५१४१३९॥ हल उत्तरस्य भरो भरि स्वे परतः खं भवति । प्रत्तमवत्तमित्यत्र “गे स्तोऽचः” [५१२१४१] इत्याकारस्य तकारे कृते त्रयस्तकाराः । क्रमजश्चतुर्थः । मध्यमस्य मध्यमयोर्वा खं विकल्पपावलोकनात् । मरुत्त इत्यत्र मरुच्छब्दस्य गित्वोपसंख्यानंसामर्थ्यादनजन्तादपि तकारे कृते चत्वा रस्तकाराः । क्रमजः पञ्चमः । मध्यमस्य मध्यमयोर्मध्यमानां वा खम् । भर इति किम् ? शार्ङ्गम् । भरीति किम् ? प्राध्मोति । स्वे इति किम् ? तप्ता । याथासंख्यात्मिद्धमिति चेत् । उज्झिता । शिण्डि । पिण्डि इत्यत्र चतुर्थेऽपि स्वे तृतीयस्य खं यथा स्यात् ।

चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ॥५१४१४०॥ ज्यो ह इत्यादि चतुष्टयं समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति नान्येषां मते । तथा चैवोदाहृतम् ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्थः

पादः समातः । समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ प्रशस्तिः

जिनमतं जयताञ्जितदुर्मतं सकलसत्त्वहितं सुमतिप्रदम् ।

नयचयाङ्कितमिष्टविशिष्टवाग्भवभयातपवारणवारिदम् ॥१॥

पाणिनिना यदयुक्तं लपितं कृत्वाष्टकं मोहात् ।

तदिह निरस्तं निखिलं श्रीगुरुभिः पूज्यपादाख्यैः ॥२॥

जगन्नाथनाम्ना द्वितीयाभिधानात्सतां वादिराजार्यमोपाख्यसाधोः ।

जनन्याः सुतेनापि वीराभिधायाः दयादानपूजादिसंशुद्धमूर्तेः ॥३॥

जैनेन्द्रशब्दशास्त्रं स्वोपक्रमतो नरेन्द्रकीर्तिसुगुरोः ।

अन्ते लिखितं पठितं पाठितमपि भारतीभक्त्या ॥४॥

जीवोऽस्वमगुरुत्वमेवमुशनाः काव्याह्वयं भास्करो

मित्रत्वं च बिचक्षणत्वमगमन्निन्दुः सुधाधामताम् ।

गीर्वाणत्वमनन्ततां सुरगणाः शेषो वृषा जिष्णुतां

जैनेन्द्रं समधीत्य शब्दविलयं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥५॥

पूज्यपादापराख्याय नमः श्रीदेवनन्दिने ।

व्यधायि पञ्चकं येन सूत्रं जैनेन्द्रमूलकम् ॥६॥

महावृत्तिकृते तस्मै नमोऽस्त्वभयनन्दिने ।

यद्वाक्यादभया धीराः शब्दविद्यासु सन्ततम् ॥७॥

स्रष्टा दृष्ट्वा सुसृष्टिं स्तुतिमकृत मुखैश्चाथ जैनेन्द्रशब्दीं

जिह्वाभूयस्त्वभावादुरगपतिरतोऽध्येति नात्येति पारम् ।

रीढां दुःखावलीढां निजमदवशगाः प्रापुरिन्द्रादयोऽपि

कृत्वेमां देवनन्दी विविधसुरगणैः पूज्यपादाह्वयोऽभूत् ॥८॥

प्रमृणमकलङ्कीयं पूज्यपादीयलक्षणम् ।

धानञ्जयं च सत्काव्यं रत्नत्रयमुदाहृतम् ॥९॥

इति प्रशस्तिः सम्पूर्णा शुभम्भवतु

जैनेन्द्रमूत्राणामकारादिक्रमः

अ	अतिक्रमे चातिः	१।४।८	अनवकलृप्त्यमर्षे	२।३।१२१
अकथितञ्च	अतोः	२।२।१२३	अनश्च वात्	३।१।१०
अकर्तरि	अतोऽनादेर्घेः	५।१।८३	अनाप्यकः	५।१।१७०
अकर्मको धिः	अतोऽप्राच्यभर्गादेः	३।१।१५८	अनाश्वाननूचानौ	२।२।१६०
अकामेऽमूर्धमस्तकात्	अतोऽम्	५।१।२१	अनितावनुकरणम्	१।२।१३३
अक्षाद्यैवदुः	अतो येय्	५।१।१३६	अनीचः	३।१।१७
अग्ने	अतो ह्रस्वमध्येऽनादेशादेः	४।४।११०	अनुकम्पायाम्	४।१।१३२
अग्नौ चेः	अतो हेः	४।४।६६	अनुक्तपुंस्कादाच्च	५।२।५३
अङि	अतोऽहः	५।४।६१	अनुक्ते	१।४।१
अङ्गुल्यादेष्टुण्	अत्कायाः	५।१।२७	अनुग्वलंगामी	३।४।१३८
अचः	अत्थात्	५।१।४	अनुदात्तेतोऽपसूददीप-	२।२।१३१
अचश्च	अत्वसोऽधोः	४।४।१२	अनुदात्तोपदेशवनति-	४।४।३७
अचि	अदेडेप्	१।१।१६	अनुपदेशेऽदः	१।२।१३६
अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्	अदेशकालाङ्गण्	३।३।७१	अनुशक्तिकादेः	५।२।२५
अचीको यण्	अदोऽट्	५।२।६५	अनृतोऽनन्तस्याप्येकै-	५।४।६४
अचो रहाद् द्वे	अदोऽनन्ते	२।२।६०	अनोऽखमम्बस्फात्	४।४।१२२
अजाद्यत्	अद् बाह्यादेरिज्	३।१।८५	अनोर्घेः	१।२।४५
अजाद्यतष्टाप्	अद्रौ त्रिकुट्	४।२।१४७	अन्तरादेष्टञ्	३।३।३५
अजाविभ्यां थः	अधिकरणे चावर्थाच्च	२।४।५६	अन्तरान्तरेण योगे	१।४।३
अजीवे	अधिकृत्य कृते ग्रन्थे	३।३।६१	अन्तस्य	५।४।११५
अजीवेऽङ्गणः	अधिपरी अनर्थकौ	१।४।१०	अन्तेऽलः	१।१।४९
अञ्चेः पूजायाम्	अधीत्याऽदूराख्यानाम्	१।४।८१	अन्त्यादचष्टिः	१।१।६५
अञ्चेरुप्	अधीष्टे	२।३।१४२	अन्त्येनेतादिः	१।१।७३
अटश्च	अधुना	४।१।८३	अन्धूधसोः	४।३।२५
अटकुप्वाङ्व्यवायेऽपि	अधु मृत्	१।१।५	अन्यथैवंकथमित्थं-	२।४।१३
अडवू वोपादेः	अध्यायानुवाकयोर्वोप्	४।१।६४	अन्यपदार्थेऽनेकं बम्	१।३।८६
अण्	अध्यायिन्यदेशकालात्	३।३।१८८	अन्यस्यापि	४।३।२३२
अणि	अध्वर्युकृतुरनप्	१।४।८०	अन्येभ्योऽपि	२।२।१५७
अणुदित्स्वस्यात्मनो	अनः	४।२।११०; ४।४।१५८	अन्वचानुलोम्ये	२।४।४६
अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्	अनङ् सौ	५।१।७०	अपथम्	१।४।१०७
अण् कुटिलिकायाः	अनचि	५।४।१२७	अपादानेऽहीयरुहोः	४।२।५०
अण् मोः	अनद्यतने लङ्	२।२।६२	अपे क्लेशतमसोः	२।२।४८
अतः खम्	अनद्यतने लुट्	२।३।१४	अपे च लषः	२।२।१२१
अतोभास्यस्याशी-	अनन्तरस्यापि	५।३।१०३	अपो नष्पान्नन्तृभ्याम्	३।२।१२

अप् चाशिष्यायुष्यमद्र- ११४।७७
 अप् तदर्थवलिहित- ११३।३१
 अप्राणिजतेः ११४।८२
 अभिजनः ३१३।६४
 अभिजिद्विदभृतोऽणो यञ् ४।२।७
 अभिनिविशश्च १।२।११९
 अभिनिष्क्रामति द्वारम् ३।३।६०
 अमानिनीत्स्वाङ्गात् ४।३।१५२
 अमावस्या वा २।१।१०३
 अमेकाचोऽम्बत् ४।३।१७८
 अम्बाम्नोभूमिसव्याप- ५।४।७१
 अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट् २।२।६३
 अयामन्तात्वाद्येत्नुषु ४।४।५५
 अर्जुनाद् वुन् ३।३।७३
 अर्तिहीनलीरीकन्यूदीमा- ५।२।४१
 अर्तैः ५।१।११०
 अर्थैतावत्त्वे च १।४।६१
 अर्धाच्च ४।२।१०३
 अर्शआदेशः ४।१।५०
 अर्हः २।२।१७
 अलङ्कुञ्जिनिराकुञ् २।२।११४
 अल्पाख्यायाम् ४।२।१३७
 अल्पात्तरम् १।३।१००
 अल्पे ४।१।१४१
 अवक्रयः ३।३।१७०
 अवयवाहतोः ५।२।१६
 अवारपारात्यन्तानु- ३।४।१३६
 अविविच्छेदे १।३।२६
 अव्यक्तानुकरणादनेका- ४।२।६१
 अश् ४।१।७२
 अशला १।४।१००
 अशनोतेः ५।२।१७२
 अश्वत्थाग्रहायणीभ्यां ३।२।१७
 अश्वपत्यादेः ३।१।६६
 अश्ववडवौ पूर्ववत् १।४।१०३
 अश्वादेः फञ् ३।१।६६
 अषड्ज्ञासितंगविद्यः ४।२।१६
 अष्टाभ्य औश् ५।१।१८

असंख्यं झिः १।१।७४
 असिद्धवदत्राभात् ४।४।२१
 असौ ५।१।१६५
 अस्ताति ४।१।१०४
 अस्तिब्रूओर्भूवची १।४।१२४
 अस्त्यात् २।३।८४
 अस्य च्चौ ५।२।१४१
 अस्विदित्वदिसहेः ५।४।४६
 अहः १।४।१०५
 अहस्त्वैक देशसंख्यात् ४।२।८६
 अहन् ५।३।७७

आ

आकर्षादेः कः ३।३।१७
 आकालोऽच् प्रदीपः १।१।११
 आक्रोशे नयनिः २।३।६३
 आक्रोशेऽव्यन्योर्ग्रहः २।३।४१
 आक्रेः शीलधर्मसाधुत्वे २।२।११२
 आङः ४।३।२४
 आङः स्पद्धे १।२।२६
 आङि चापः ५।२।१००
 आङि यमियसिक्रीडि- २।२।१२५
 आङि शीले २।२।१६
 आङो दोऽव्यसने १।२।१४
 आङो नाऽस्त्रियाम् ५।२।११३
 आङो यमहनः १।२।२३
 आङो यि ५।१।४४
 आङ्माङोः ४।३।६२
 आङ्याङौ २।३।६०
 आ च त्वात् ३।४।१११
 आ च हौ ४।४।१०७
 आ चार्थवेदसत्यानाम् २।१।२३
 आच्छादने वृजः २।३।५०
 आज्ञायिनि ४।३।१२४
 आतः २।४।६०
 आतः कः २।२।३
 आतो गौ २।१।१०६; २।३।८८
 आतो एल औः ५।२।३७

आतो धोः ४।४।१२७
 आथर्वणः ३।३।१०१
 आदितः ५।१।१२२
 आदेप् ४।३।७५
 आदेरेकाचो द्वे ४।३।१
 आदैर्गैप् १।१।५
 आद्यतः ५।२।१७०
 आधमर्त्ये चैनः १।४।७४
 आधरोऽधिकरणः १।२।११६
 आनङ् द्वन्द्वे ४।३।१३८
 आनि ५।४।१०३
 आने मुक् ५।१।१४१
 आन्महतो जातीये च ४।३।१५८
 आपृज्पृधामीत् ५।२।१५७
 आप्रपदम् ३।४।१३३
 आवाधे च ५।३।८
 आमः १।४।१४९
 आमीयुवोः १।२।९४
 आमेतः २।४।७६
 आम्यात् सर्वनाम्नः सुट् ५।१।३४
 आम्बत् तत्कृजः १।२।५६
 आयनेयीनीयियः फट्ग्व- ५।१।२
 आयस्थानेय्यष्टण् ३।३।४९
 आयामिना १।३।१३
 आर्हाङ्ण ३।४।१७
 आलम्बनाविदूरेऽवात् ५।४।४६
 आवट्यात् ३।१।५
 आवश्यकाधमर्त्ययोः २।३।१४६
 आवि ५।१।१४७
 आशितम्भवः २।२।४३
 आशिषि २।१।१२३
 आशिषि नाथः १।४।६२
 आशिषि लिङ्लोटौ २।४।४६
 आशिषि हनः २।२।४७
 आश्वयुज्या वुञ् ३।३।२०
 आषाढाच्च ३।३।८
 आ सर्वनाम्नः ४।३।१६७
 आसिद्धौ देशदेशीय- ४।१।१२६

आहस्थः	५।३।५२	इपा च प्राप्तापन्ने	१।३।२०	उगिदचां धेऽधोः	५।१।४९
आहि च दूरे	४।१।१०१	इपि	२।४।३८ ; ५।१।१४६	उगिद्वन्नान्डी	३।१।६
इ		इप् सच्छ्रितातीतपतित-	१।३।२१	उङः	५।१।७५
इकः प्रोऽङयाः	४।३।१७२	इधेनेन	१।४।४०	उङि	५।३।८७
इकस्तौ	१।१।१७	इवे प्रतिकृतौ कः	४।१।१५०	उङोऽतः	५।२।४
इको दी वोरुङः	५।३।८५	इष्टादेः	४।१।२२	उच्चनीचाबुदात्तानुदात्तौ	१।१।१३
इको वहेऽपीलोः	४।३।२२३	इसुसुक्तः कः	५।२।५२	उच्चरोऽधेः	१।२।४६
इगुङः शलोऽनियो-	२।१।४०	इसुघोः सामर्थ्ये	५।४।३२	उज्जुहोत्यादिभ्यः	१।४।१४५
इग्यणो जिः	१।१।४५	ई		उज्	१।१।२५
इङः	१।४।१२० ; २।३।२०	ई उत्	४।३।१०७	उणादयोऽन्यत्राभ्याम्	२।४।६२
इङानं दः	१।२।१५१	ई ब्राध्मोः	५।२।१४०	उणादयो बहुलम्	२।२।१६७
इच्छा	२।३।८३	ईच्च गणः	५।२।१६४	उतस्त्यादस्फात्	४।४।९७
इच्छार्थे लिङ् लोटौ	२।३।१३३	ईटीटः	४।४।२०	उताप्योः पृष्ठ्यक्तौ लिङ्	२।१।२८
इच्छोद्बोधेऽकचित्ति	२।३।१२६	ईङः स्वे	५।१।१३६	उत्तरादेश्छुः	३।२।७०
इजः	३।२।८८	ईतः बुङ् नित्यम्	४।३।४९	उत्तरपथेनाहृतं च	३।४।७३
इजो बह्वचः प्राच्यभरतेषु	१।४।१३७	ईदासः	४।४।१२६	उत्तरपदं घु	१।३।१०५
इटि चात्स्वम्	४।४।६३	ईदुदः	४।४।१२३	उत्तराच्च	४।१।१०२
इट् ते	५।१।१५	ईदूदेद् द्विदिः	१।१।२०	उत्सादेरज्	३।१।७१
इडविजः	१।१।७६	ईधे	४।४।६४	उदः	१।२।६१
इणः षः	५।४।२७	ईपन्नः	४।१।७६	उद ईहे	१।२।१९
इणः धीध्वलुङ् लिटां-	५।४।६०	ईपात्र वाक्	२।१।६६	उदकस्योदयोश्च खौ	४।३।१६८
इण्को सः षः	५।४।३७	ईपि चोपपोडरुधकर्षः	२।४।३५	उदन्वानुदाद्यौ	५।३।३४
इतोऽनिजः	३।१।१११	ईपोऽङ्गलः	४।३।१२७	उदिकूले रुजिवहोः	२।२।३४
इतो मनुष्यजातेः	३।१।५५	ईकोत्यव्यवाये पूर्वपरयोः	१।१।६०	उदि ग्रहः	२।३।३४
इदम इश	४।१।६६	ईपञ्चौण्डैः	१।३।१५	उदि पुद्गयोतिश्रिजः	२।३।४५
इदमदसोः सकोः	५।१।१६	ईचधिकरणे च	१।४।४४	उन्न्योर्ग्रः	२।३।२७
इदमो मः	५।१।१६६	ईवाधिके	१।४।१७	उपज्ञाते	३।३।८४
इदमो वो घः	३।४।१६१	ईव्विशेषणे वे	१।३।१०१	उपज्ञोपक्रमं तदायुक्तौ	१।४।६७
इदमो हः	४।१।७७	ईन्मयोर्विभाषा	१।४।१५३	उपत्यकाधित्यके	३।४।१५५
इदमो हिं	४।१।८२	ईयसश्च	४।२।१५६	उपदंशो भायाम्	२।४।३३
इदिद्वोर्नुम्	५।१।३७	ईशः	५।१।१३७	उपमानात्	४।२।६६ ; ४।२।१३८
इदुदुङोऽत्यु सुहुसः	५।४।२८	ईश्वरः	३।४।४२	उपर्यध्यधसः सामीप्ये	५।३।५
इदुदुम्याम्	५।२।१११	ईश्वरेऽधिना	१।४।१८	उपर्युपरिष्यात्पश्चात्	४।१।६७
इद्गोण्याः	१।१।१०	ईषदर्थे	४।३।२११	उपाजेऽन्वाजे	१।२।१४२
इद्दरिद्रः	४।४।१०४	उ		उपाज्जानुनीविकर्णात्	३।३।३६
इन्	४।१।१६	उः	१।१।८६	उपात्	१।२।८१
इनः ब्रियाम्	४।२।१५२	उगवादेयः	३।४।२	उपात्प्रतियत्नवैकृव-	४।३।११२
इनहनपूषार्थम्याम्	४।४।६	उगितश्च	४।३।१५७	उपात्प्रशायायाम्	५।१।४५

उपान्त्यालुङ्	१।१।६६	ऋतः	५।१।१०६; ५।१।१८६	एच्यैप्	४।३।७६
उपान्मन्त्रकरणे	१।२।२०	ऋतः स्कादेरेप्	५।२।१२२	एजेः खशः	२।२।३२
उपेन	१।४।१६	ऋत इदोः	५।१।७४	एत ऐ	२।४।७६
उपचोलादेः	३।१।१५६	ऋत उत्	४।३।९८	एतटः	४।१।७१
उप्ते	३।३।१६	ऋतश्च क्तेः	५।३।६२	एति हः	५।२।१५४
उप्प्रोक्तात्	३।२।५४	ऋतश्चञ्	३।३।५२	एतेतौ थोः	४।१।७०
उप्फले	३।३।१२१	ऋतो ङिधे	५।२।१०५	एत्येधत्पूङ् सु	४।३।७७
उधिरुः	५।१।१६	ऋतोऽरण्	३।४।९९	एधा	४।१।१०६
उडुडुत्	१।१।६२	ऋतो विद्यायोनि-	४।२।१३६	एप्यतोऽपदे	४।३।८४
उभात्वम्	३।४।१६५	ऋत्यकः	४।३।१०५	एभ्योऽहोऽहः	४।२।६०
उरः	५।२।१६६	ऋत्विग्दधृक्स्त्रिगुणि-	२।२।५७	एरुः	२।४।७३
उरःप्रभृतिभ्यः कप्	४।२।१५१	ऋदुडोऽक्लृपिचृतेः	२।१।६२	एर्गिवाक्चादुडो-	४।४।७८
उऋत्	५।२।१२०	ऋदुशनस्त्पुस्दंशोऽनेह-	५।१।७१	एधे	५।१।६३
उरसोऽण् च	३।३।२००	ऋन्महिष्यादेरण्	३।३।१६९	एमें	२।४।८१
उरसोऽग्रे	४।२।९५	ऋन्मोः	४।२।१५३	एवात्कः	४।१।१२६
उषासोषसः	४।३।१४४	ऋषौ मित्रे	४।३।२३१	ए	
उष्ठाद् बुञ्	३।३।११६	ए		एपीत्	४।३।१४१
उसभेदे	३।२।५	एकः	३।१।७६	ओ	
उसि	४।३।८३	एकः किः	१।४।५६	ओः पुयण्ड्ये	५।२।१७८
उसि मे	१।४।५३	एकगोपूर्वाङ्गि नित्यम्	४।१।४४	ओजः सहोम्मसा वर्तते	३।३।५०
उसिलौ च देशे	४।१।३२	एकदिक्	३।३।८१	ओत्	१।१।२३
उस्मनुष्ये उपमेये	४।१।१५२	एकद्वित्रहवश्चैकशः	१।२।१५५	ओतः श्ये	५।२।७१
ऊ		एकविभक्ति	१।३।९४	ओदपूर्वस्य योऽशि	५।४।४
ऊधसः	३।१।१३	एकस्य ते मे	५।३।१८	ओदितः	५।३।६३
ऊधसोऽनङ्	४।२।१३२	एकस्य सकृत्	४।२।२६	ओमभ्यादाने	५।३।९५
ऊम् (ऊँ)	१।१।२६	एकाचोऽनुदात्तात्	५।१।११५	ओमाङोः	४।३।८२
ऊरुतः	३।१।५६	एकाचो वशो भष् झषः	५।३।५४	ओरावश्यके	२।१।१०२
ऊरुद्योरिवे	३।१।५८	एकाच्च	४।१।१४९	ओदेशे ठञ्	३।२।६५
ऊ रोऽनादेर्धेः	४।४।१५३	एकाच् झौ णः	५।४।६६	ओषधेरजातौ	४।२।४३
ऊर्णाहंशुभंभ्यश्च युस्	४।१।६२	एकादार्किश्चासहाये	४।१।११३	ओसि	५।२।६६
ऊर्ध्वे शुषिपूरोः	२।४।३१	एकान्नः	४।३।१८४	ओ	
ऋ		एको बवत्	५।३।७	ओक्षम्	४।४।१५६
ऋक्पूरब्धूःपथोऽनक्षे	४।२।७०	एङि पररूपम्	४।३।८१	ओङ् आपः	५।१।१५
ऋगयनादेश्चान्	३।३।४७	एङोऽति पदान्तात्	४।३।६६	ओतः	४।४।७६
ऋचः शे	४।३।१६६	एङ् प्राग्देशे	१।१।७०	ओदच्च सोः	५।२।११२
ऋचः सामयजुर्भ्याम्	४।२।८४	एचोऽदेः पूर्वस्यात्परस्ये	३।१०४	क	
ऋच्छत्युत्ताम्	५।२।१२३	एचोऽयवायावः	४।३।६६	कंशंभ्याम्	४।१।६०
ऋयो व्यैः	१।३।३७	एचोऽशित्याः	४।३।३८	कंसाद्यन्	३।४।२२

कः खौ	३।३।११	कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा	२।१।६	काण्डाण्डादिरः	४।१।३७
ककुदस्यावस्थायां खम्	४।२।१४६	कर्तृकरणे भा	१।४।२६	काण्डात् क्षेत्रे	३।१।२८
कचि स्वापेः	४।३।१४	कर्तृकर्मणोः कृति	१।४।६८	का पथ्यक्षयोः	४।३।२१०
कच्छाग्निवक्त्रवर्तयोः	३।२।१०४	कर्तृकर्मणोर्भूकृञ्	२।३।१०५	का भोभिः	१।३।३२
कच्छादं:	३।२।१११	कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ	१।२।३२	काभ्यः	२।१।७
कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु	३।३।१८६	कर्त्राप्यम्	१।२।१२०	कायाः स्तोकादेः	४।३।१२१
कडङ्गरदक्षिणास्थाली-	३।४।६६	कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्न	२।४।३०	कायास्तस्	४।१।७३
करोमनःश्रद्धाघाते	१।२।१३६	कर्मठः	३।४।१५६	कारके	१।२।१०६
कण्ड्वदेर्दयक्	२।१।२५	कर्मणि च	१।३।७६	कारे प्रायः	४।३।१२८
कतरकतमौ समर्थौ	१।३।५८	कर्मणि चाण्	२।३।१०	कार्मः शीले	४।४।१६३
कतिः संख्या	१।१।३३	कर्मणि चेवे	२।४।३२	कार्यार्थोऽप्रयोगीत्	१।२।३
कत्को पेडचि	४।३।२०७	कर्मणि भृतौ	२।२।२७	कार्षापणसहस्रसुवर्णशत-	३।४।२७
कन्यादेर्दकञ्	३।२।७५	कर्मणि यत्स्पर्शाकर्त्रङ्ग-	२।३।६८	कार्षापणाद् वा प्रतिश्च	३।४।२३
कथादेश्ण	३।३।२०६	कर्मणि हनः	२।२।७४	कालप्रयोजनाद् रोगस्य	४।१।१६
कद्र्वो रोडस्त्वयम्भुवः	४।४।१३४	कर्मणीन् विक्रियः	२।२।८०	कालविभागेऽनहोरात्रा-	२।३।११३
कन्थापलदनगरग्राम-	३।२।११८	कर्मणीप्	१।४।२	कालसमयवेलासु तुम्	२।३।१४३
कन्थायाः	३।२।६७	कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्	१।२।१११	कालाः	१।३।२५
कन्यायाः कनीन् च	३।१।१०५	कर्मण्यग्न्याख्यायाम्	२।२।७९	कालाच्च	४।२।३९
कन् पौ च	५।४।२२	कर्मण्यण्	२।२।१	कालाहञ्	३।२।१३१
कपिज्ञातेर्दञ्	३।४।११७	कर्मण्यधिकरणे	२।३।७४	कालात्साधुपुण्यत्पच्य-	३।३।१८
कपिबोधदाङ्गिरसे	३।१।६६	कर्मण्यशेषे दशिबिदः	२।४।१५	कालाद्यः	३।४।१००
कमुल्योर्णि डीयङ्	२।१।२८	कर्मण्यक्रोशे कृञः	२।४।११	कालाध्वन्यविच्छेदे	१।४।४
करणाधिकरणयोः	२।३।६६	कर्मण्यत्तमनि	२।१।५३	काला मैयैः	१।३।६७
करणे	२।४।२४	कर्मवेधाद्यः	३।४।९४	काले	४।१।६३
करणे यजः	२।२।७३	कर्मव्यतिहारे जः	२।३।७६	कालेऽधिकरणे सुजर्थे	१।४।६७
कर्कलोहिताङ्गीकण्	४।१।६४	कर्माध्ययने वृत्तम्	३।३।१८१	कालेभ्यः	३।४।७४
कर्णललाटभूषणे कः	३।३।४१	कर्मेवाधिशीङ्स्थासः	१।२।११७	कालेभ्यो भववत्	३।२।२९
कर्णेऽकर्तरि	१।४।३३	कलापिनोऽण्	३।३।७६	काश्यादेश्छञ्जिठौ	३।२।६२
कर्णे लक्ष्णस्याविष्टा-	४।३।२१८	कलाप्यश्वत्थयवबुसाद्	३।३।२३	कासूगोणीभ्यां तरट्	४।१।१४५
कर्तरि	१।३।७६	कल्याणयादीनामिन्ङ्	३।१।११५	कास्यनेकाच्याल्लित्थाम्	२।१।३१
कर्तरि कृञ्	२।४।५२	कच उष्णे	४।३।२१३	किंकिलास्त्यर्थे लृट्	२।३।१२२
कर्तरि कृति	५।१।११३	कष्टाय	२।१।१२	किबहुसर्वनाम्नो	४।१।६८
कर्तरि स्तेन	१।३।७७	कस्कादौ	५।४।३६	कियत्तदो निर्धारणे	४।१।१४७
कर्तरि चर्षिदेवतयोः	२।२।१६४	कस्येः	३।२।२०	कियदत्तद्वहुष्वः	२।२।२८
कर्तरि चारम्भे क्तः	२।४।५६	कांस्वपारशवौ	३।३।१२५	किबृत्ते लिङ्लृटौ	२।३।१२०
कर्तरि जे	१।२।८	काऽपादाने	१।४।३७	किबृत्ते लिप्सायाम्	२।३।४
कर्तरि शप्	२।१।६४	काकिनादेः कुक्	३।१।१४५	कितीणो दीः	५।२।१६९
कर्तरीवे	२।२।६७	काऽऽडा मर्यादावचने	१।४।२०	किदन्तः	१।१।५४

किदाशिपि	२।४।८५	कुशलयुक्तेन चासेवायाम् १।४।४८	कौरव्यासुरिमाण्डूकान् ३।१।२२
किमः	३।४।१६२	कुशाग्राच्छुः ४।१।१५६	कौ वेतौ १।१।२४
किमः कः	५।१।१६२	कुशिरञ्जः श्यो मे वा २।१।६०	कौशल्येभ्यः ३।१।१४२
किमिदंभ्यां थम्	४।१।६०	कुसीददशैकादशाष्टौ ३।३।१५४	कौशेय्या दण् ३।३।११५
किमिदमोः कीदा	४।३।१९६	कुस्तुम्बुरगोष्पदा ४।३।११६	किङ्कति १।१।१६
किमोमिङ्भिभ्मादामद्रव्ये	४।२।२०	कुहोश्चुः ५।२।१६४	किङ्कत्यचि वा ५।२।२
किमोऽः	४।१।७८	कुमर्मिकंसकुम्भकुशाः ५।४।३४	कृत्तवतु तः १।१।२८
किरतेर्लवे	४।३।११३	कृजः करणे ख्युट् २।२।५५	कृत्याधिकरणे १।४।७०
किरतेर्हर्षजीविकाकुला-	१।२।३३	कृजः श च २।३।८२	क्तादनत्यन्ते ४।२।१२
किरश्च पञ्चभ्यः	५।१।१३४	कृजो द्वितीयतृतीयशम्भ- ४।२।६२	क्तादल्पे ३।१।४४
किसरादेष्टु	३।३।१७२	कृजो मिथ्यायोगेऽभ्यासे १।२।६७	क्तिचत्तौ खौ २।३।१५०
कुक्कौ तयोः	५।१।१६३	कृजो ये च ४।४।६६	क्तेनाहोरात्रभेदाः १।३।३६
कुटारश्चावात्	३।४।१५०	कृजो हेतुशीलानुलोम्ये २।२।२५	क्या १।३।८५
कुटीशमीशुराडान्यो रः	४।१।१४३	कृज् त्नादेरुः २।१।७४	क्वि स्कन्दस्यदोः ४।४।३०
कुण्डगोणस्थलभाजनाग	३।१।३७	कुतलब्धक्रीतसम्भूताः ३।३।१४	क्यङ्मानिनोः ४।३।१४८
कुण्डपाय्यसंचाय्य	२।१।१०५	कृति १।३।७१	क्यचि ५।२।१४२
कुत्वा डुपः	४।१।१४४	कृते ग्रन्थे ३।३।८५	क्यन्यनाद्भृत्यापत्यस्य ४।४।१४१
कुत्साऽशातयोः	४।१।१३१	कृत्यचः ५।४।१०८	क्यपो वा १।२।८६
कुत्स्यं कुत्सनैः	१।३।४८	कुदमिङ् २।१।८०	क्यूकथादिसूत्रान्ताष्टण् ३।२।५२
कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः	३।१।१५७	कुद्भृत्साः १।१।६	क्रमः ५।१।११२
कुण्वोः	५।४।२१	कुम्भस्तियोगेऽतत्तत्त्वे- ४।२।५५	क्रमः कित्व ४।४।१६
कुण्वोरुये	५।४।२६	कुपो रो लेऽङ्कपादेः ५।३।३६	क्रमादेवुन् ३।२।५३
कुमति	५।४।६७	कुवृषिभृजं यशोभद्रस्य २।१।९९	क्रमिद्रमो यङः ३।२।१३४
कुमहद्भ्याम्	४।२।१०७	कुसम्भृत्स्तद्रुखं श्रुवो ५।१।११६	क्रमो मे ५।२।७४
कुमारः भ्रमणादिभिः	१।३।६५	कृ धान्ये २।३।२८	क्रम्यः स्वार्थं ४।३।७१
कुमारशीर्षयोर्णिन्	२।२।४६	कैकयमित्रयुप्रलयानां ५।२।७	क्रव्ये २।२।६१
कुमुदनडवेतसाङ्ङित्	३।२।६७	केऽणः ५।२।१२५	क्रियामध्ये केपौ १।४।६
कुम्भपद्यादिः	४।२।१४१	केदाराद्यञ्च ३।२।३५	क्रियायोगे गि १।२।१३०
कुरुयुगन्धरेभ्यो वा	३।२।१०८	केनौ वि (चि) क् ३।४।१५३	क्रियासमभिवहारे लोट् तस्य २।४।२
कुर्वादेर्यः	३।१।१३६	केरेडः ४।३।५७	क्रोङ्जेणौ ४।३।४१
कुर्वं ध्यन्धकवृणोः	३।१।१०३	केशाद्द्वो वा ४।१।३५	क्रोडाजीविकयोर्नित्यम् १।३।८०
कुलटया वा	३।१।११६	केशाश्वाभ्यां यञ्छौ वा ३।२।४०	क्रोडोऽनुपर्याङः १।२।१५
कुलस्थकोऽङोऽण्	३।३।१२६	कोङोऽण् ३।२।११०	क्रीतवत्परिमाणात् ३।३।११४
कुलङ्कज् च	३।१।१२७	कोपासूयासभ्तौ ५।३।१०१	क्रीतात्करणादेः ३।१।४३
कुलालदेवुज्	३।३।८७	कोऽविवावादेः ४।२।३५	कृधमण्डार्थात् २।२।१३३
कुलिजाच्च	३।४।५४	कौ ५।२।१०१	क्रौड्यादेः ३।१।६५
कुल्मापादण्	४।१।१५	कौण्डिन्यागस्त्ययोः १।४।१४१	क्र्यादेः रना २।१।७६
कुशलः	३।३।१५	कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ३।३।१००	क्लिशः १।१।८१

क्लिशस्तक्वोः	५।१।६८	खावन्यपदार्थे	१।३।१८	गाण्ड्यजगात्खौ	४।१।३६
क्वणो वीणायां च	२।१।६८	खावष्टनः	४।३।२२७	गाथिविदथिकेशिपरिण	४।४।१५७
क्वित्यस्य कुः	५।३।७५	खित्यभेः	४।३।१७६	गावदः	२।३।५३
क्विप्	२।२।६३	खेऽध्वनः	४।४।१६०	गिप्रादुर्भ्यो यऽच्यऽस्तेः	५।४।६८
क्षत्राद् वः	३।१।१२५	खेयराजसूर्यसूर्यमृपोद्य	२।१।६४	गिरिनदीपौर्णमास्याग्रहा-	४।२।११२
क्षिप्योः	४।३।६८	खोऽलं कर्मपुरुषात्	४।२।१५	गिरिवने किंशुलुककोटरा	४।३।२२०
क्षिप्रवचने लृट्	२।३।१०६	खौ	१।३।३८; २।४।२६;	गिरेश्छः शस्त्रजीविषु	३।३।६५
क्षियाशीः प्रैषेषु	५।३।१०२		३।३।८६; ३।४।५७;	गुणात्संख्यादेः	४।२।६३
क्षियो दीः	४।४।५८		४।१।१५१; ५।३।३२	गुरो श्रीदत्तस्यास्त्रियाम्	१।४।३४
क्षीणः	५।३।६४	खौ कन्थोशीनरेषु	१।४।६६	गुरोक्तिब्राह्मणादिभ्यः	३।४।११४
क्षीकृशोल्लावाः	५।३।७२	खौ मनसः	४।३।१२३	गुरोक्ते स्तोऽल्लस्फोटः	३।१।३०
क्षीणलवणयोर्लौत्ये	५।३।३३	खौ विभाषा बुण्	२।३।६०	गुरोक्तेष्वत्	१।३।६६
क्षीरहविषो श्रुतम्	४।३।२२	खौ शरदो बुज्	३।३।३	गुपूधूपविच्छिपणि-	२।१।२६
क्षीराद्दृण्	३।२।१५	खौ श्रमणाश्कथाभ्याम्	३।२।६	गुपतिज्किद्भ्यः सन्	२।१।३
क्षुत्तृडगर्भेऽशनायो-	५।२।१४३	ख्यत्यादत्तः	४।३।६६	गृष्ट्यादेः	३।१।१२४
क्षुद्रजीवाः	१।४।८४	खशः शो यो वा	५।४।१२४	गेः	४।२।११९
क्षुद्राभ्यो वा	३।१।१२०	ग		गेः काशे	४।३।२२४
क्षुद्रवसतेरिट्	५।३।१००	गत्यर्थवदेऽच्छः	१।२।१३८	गेः खद्योः	५।३।४६
क्षुब्धस्यान्तध्वान्तलग्न-	५।३।१२६	गत्वरः	२।२।१४७	गेः मुञ् सुसोस्तुस्तुमः	५।४।४५
क्षुभ्नादिपु	५।४।११७	गदमदचरयमोऽगेः	२।१।८७	गेऽत उत्	४।४।१००
क्षुश्रुवः	२।३।३३	गन्धनावक्षेपसेवाऽन्याय-	१।२।२७	गे यक्	२।३।६३
क्षोपाव्यथातिग्रहेष्वकर्तृ-	४।२।५१	गन्धस्यैरुत्पूतिसुसुरभि-	४।२।१३६	गेरध्वनः	४।२।८७
क्षेपे	१।३।४१	गमः	२।२।४५	गेरयतौ	५।३।३७
क्षेपे किमः	१।३।५९	गमः क्वौ	४।४।४१	गेरसेऽपि विकृतेः	५।४।६८
क्षेमप्रियमद्रेऽण् च	२।२।४२	गमहनजनखन-	४।४।९३	गेरूहः प्रः	५।२।१३२
क्षै मः	५।३।६८	गमिषुयमां छः	५।२।७५	गे स्तोऽचः	५।२।१४९
क्वस्याचि खम्	५।२।६६	गमेरिण् मे	५।२।१०६	गेहे कः	२।१।११८
ख		गमो वा	१।१।८७	गोः	४।४।१
खं पादस्याहस्त्यादेः	४।२।१३६	गम्भीराज्यः	३।३।३३	गोखलरथात्	३।२।४३
खं पित्रश्चस्येत्	५।२।११७	गम्यादिवर्त्यति	२।३।१	गोत्रावयवात्	३।१।६४
खः	३।१।१२८	गर्गादियञ्	३।१।६४	गोधाया शारः	३।१।११८
खचि	४।४।८८	गर्तद्युगहादिभ्यश्छः	३।२।११४	गोपयसोर्धः	३।३।११८
खट्वाऽक्रमे	१।३।२३	गर्हं	२।३।१२५	गोऽपित्	१।१।७८
खमादेशे	५।१।१४६	गवाश्वादीनि च	१।४।८७	गोब्रह्मवर्चसात्	३।४।३६
खरि	५।४।१३०	गष्टक्	२।२।११	गोयवाग्वपदातौ	३।२।११३
खश्चात्मनः	२।२।७१	गाऽगयोः	५।२।८१	गोरहृदुपि	४।२।९४
खारीकाकणीभ्यां कप्	३।४।३०	गाडकुटादेशज्जिन्डित्	१।१।७५	गोरिन्द्रेऽवङ्	४।३।१०१
खार्था वा	४।२।१०४	गाङ्गुलिदि	१।४।१२१	गोर्णित्	५।३।६७

गौत्रोहेः शकृत्पुरोडाशे	३।३।११३
गोहे रुडः	४।४।८३
गौणादाचारे	२।१।८
गौणयुथकौ	२।१।१२०
गौ भोः क्रिः	२।३।७३
गौरादेः	३।१।२३
गौ रुवः	२।३।२१
गौष्टीनारवीनकौपीन-	३।४।१४१
ग्रन्थान्तेऽधिके	४।३।१८७
ग्रहिष्यावयव्यविधिवशि	४।३।१२
ग्रहेरः	२।२।१३
ग्रहोऽलिति दीः	५।१।८५
ग्रहोऽवे वर्षप्रतिग्रन्थे	२।३।४७
ग्रामकौटाभ्यां तदणः	४।२।६७
ग्रामजनवन्धुसहायेभ्य-	३।२।३७
ग्रामराष्ट्रयोरण् ठञौ	३।२।१२७
ग्रामात्पर्यन्वोः	३।२।३७
ग्रामाद्यखञौ	३।२।७४
ग्रामस्तुवः क्विप्	२।२।१५६
ग्रीवाभ्योऽण् च	३।३।३२
ग्रीष्मवसन्ताद्रा	३।३।२१
ग्रीष्मावरसमाद् वुज्	३।३।२४
ग्रो यङि	५।३।३८
ग्रोऽवात्	१।२।४७
ग्लहोऽन्ते	२।३।५७
ग्लाम्भुजिस्थः क्नुः	२।२।११५

घ

घञि भावकरणे	४।४।२७
घञ्यमनुष्ये प्रायः	४।३।२२६
घनान्तर्धराप्रधराप्रधराणो	२।३।६९
घस्तृलुङ्घञ्सनक्नु-	१।४।१११
घेर्दीः	५।२।१६१
घेलौ	४।१।१३५
घोषदादेर्बुन्	४।१।६६
घौ कच्यनक्वे सन्वत्	५।२।१६०
घ्यादेरिकः	३।४।१२१
घ्युङः	५।२।८३

घो वा	५।२।११६
ङ	
ङनुदात्ते तो दः	१।२।६
ङमो नित्य ङमुट् प्रात्	५।४।११६
ङसिङ्सोः	४।३।६७
ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ	५।१।१३
ङसेः	५।१।२८
ङस्य क्विभल्लोः विङिति	४।४।१३
ङस्यातो नुक्	५।२।१८३
ङिङस्योरतः	१।१।४३
ङित्	१।१।५०
ङितः सखम्	२।४।८०
ङिति प्रश्च	१।२।६६
ङिदातः	५।१।१४०
ङीखौ	३।१।१२
ङेः खौ पराच्च	४।३।१२६
ङेराम् भ्वाभ्नीभ्यः	५।२।११०
ङेर्यः	५।१।११
ङेसुयोर्म	५।१।२४
ङौ	१।२।७
ङ्णोः कुक्कुट् शरि	५।४।१२
ङ्याम्मृदः	३।१।१

च

चक्षः खशाञ्	१।४।१२५
चजोः कुविण्ययोस्ते-	५।२।५६
चटकाणोरः	३।१।११७
चतुरनडुहोर्वा	५।१।७२
चतुरशरलिङ्कुक्षेः	४।२।१२२
चतुष्टयं समन्तमद्रस्य	५।४।१४०
चतुष्पाच्छकुनिष्पदाद्	४।३।११५
चतुष्पाद् गर्मिण्याः	१।३।६१
चतुष्पाद्भ्यो ढञ्	३।१।१२३
चरणानामनूतौ	१।४।७६
चरणेभ्यो धर्मवत्	३।२।३८
चरति	३।३।१३२
चरफलोद्वचोङः	५।२।१८५
चरेः	२।२।१२२
चरेष्टः	२।२।२१

चर्मणोऽञ्	३।४।१४
चर्मणवदशीवच्चक्रीवद्	५।३।३३
चर्मोदस्योः पूरेः	२।४।१७
चल्यवर्थात्	१।२।८४
चरयात्र खम्	५।२।१६०
चस्याऽस्वे	४।४।७३
चस्यैपां लिटि	४।३।१३
चात्	५।२।६०
चादिरसत्वे	१।२।१२८
चायः कीः	४।३।१६
चार्यं द्रव्यः	१।३।६२
चि	४।३।२३३
चित्तेः कपि	४।३।२२८
चित्रार्थे	२।३।१२६
चिदित्युपमार्थे	५।३।१००
चिन्तिपूजिकथिकुम्भ-	२।३।८७
चिस्फुरोर्णी	४।३।४६
चे चर्त्वम्	५।४।१२६
चेलेषु वनोपेः	२।४।१९
चोः कुः	५।३।४७
च्विडाजूर्यादिः	१।२।१३२
च्वौ	५।२।१३५

छ

छः	३।२।२३
छकारकेऽन्यस्य दुक्	४।३।२०४
छगलिनो द्विनिष्	३।३।८०
छत्रादेर्यः	३।३।१८०
छदिरपधिवलेर्दञ्	३।१।१२
छन्दः खौ	२।३।३२
छन्दसा निर्मिते	३।३।१९९
छन्दसो यः	३।३।४६
छन्दोगौत्रिकयाज्ञिक-	३।३।६७
छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव	३।२।५६
छवि	५।४।२५
छश्चाभ्यमित्रात्	३।४।१४०
छश्चायुधात्	३।३।१३७
छादेर्वै	४।४।९०
छाया बहूनाम्	१।४।९८

छे	४।३।६१
छेदादेर्नित्यम्	३।४।६२
छोऽनुप्रवचनादेः	३।४।१०४
छः च	४।४।१७
ज	
जज्ञित्वाद्यः	४।३।५
जङ्गलधेनुवलजे	५।२।३०
जनपद उस्	३।२।६१
जनशोर्वा	४।४।३१
जनसनखनाम्	४।४।४३
जनिवध्योः	५।२।४०
जनेर्ङः	२।२।८४
जन्यधेनुध्यानवश्यवन्त्य-	३।३।१६५
जयजमदहदशमञ्जपशाम्	५।२।१८४
जम्ब्या वोश्च	३।३।१२३
जय्यलभ्यकार्यसुकरम्	३।४।९२
जराया वासङ्	५।१।१६०
जल्पमिक्षुकुट्टलुगट-	२।२।१३८
जशशतोः शिः	५।१।१७
जसः शी	५।१।१४
जसि	५।२।१०४
जागुः	२।२।१३६
जागुरविजिणलङ्घिति	५।२।८२
जातमहद्बुद्धादुच्चाः	४।२।७८
जातरूपेभ्यः परिमाणे	३।३।१०४
जातिनाम्नः कः	४।१।१३७
जातिश्च	४।३।१५३
जातुयद्यदायदौ लिङ्	२।३।१२३
जातेरयोङः	३।१।५३
जातेर्नात्	३।१।४५
जातेरुच्छो बन्धुनि	४।२।१८
जायापत्योर्लक्षणे	२।२।५१
जायाया निङ्	४।१।१३५
जासनिप्रहणनाटकाथ-	१।४।६३
जिह्वामूलज्जुलेश्छः	३।३।३८
जीवति वंश्ये युवाऽस्त्री	३।३।८१
जीवाकृते ग्रहिकृजः	२।४।२१
जीविकार्थेऽपण्ये	४।१।१५३

जीविकोपनिषदाविधे	१।२।१४८
जुसि	५।२।८०
जृषोऽनृ	२।२।८७
जृषश्च क्तः	५।१।१०३
जृषिवस्तम्भुमुमुमुचु-	२।१।५०
जेः	४।३।९५; ४।३।२३४
ज्ञः	१।२।५३
ज्ञाकृप्रीगुङः कः	२।१।१०८
ज्ञागम्यार्थधेरणि कर्ता णौ	१।२।१२२
ज्ञाजनोर्जा	५।२।७७
ज्ञोप्तास्थेयोक्तौ	१।२।१८
ज्ञोऽगोः	१।२।७१
ज्ञोऽपह्वे	१।२।४०
ज्ञो स्वार्थे करणे	१।४।५८
ज्यः	४।१।१२०; ४।३।३५
ज्यादेयसः	४।४।१५२
ज्योतिरायुपः स्तोमः	५।४।६४
ज्योतिरुद्गतावाङः	१।२।३६
ज्योत्स्नातमिह्याश्रुङ्घिणी-	४।१।४०
ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवां वोडोः	४।४।१८
ज्वलितिकसन्ताणः	२।१।११३
झ	
भकालतनेकालेभ्यो वा	४।३।१३३
झयो हः	५।४।१३६
झरूपकल्पचेलङ्ब्रुवगोत्र	४।३।१५५
झरो झरि त्वे	५।४।१३६
झलां जश् भशि	५।४।१२८
झलिकः	१।१।८३
झलो जश्	५।३।५७
झलो झलि	५।३।४४
भक्त्यकिति सृज्जशोऽम्	४।३।५१
भावनिष्ठोक्तौ कृजः	२।४।४४
भि विभक्त्यभ्यासद्वर्थ	१।१।३।५
भिसर्वनाम्नोऽकप्राक्तेः	४।१।१३०
भेर्जुस्	२।४।८८
भेस्तुट्	३।२।८१
भोऽन्तः	५।१।३

ञ	
ञ इच्	४।२।१२८
जस्वरितेः कर्त्राण्ये कले	१।२।६८
जात् स्त्रियाम्	४।२।२२
जिह्वतो मुक्	५।२।३८
जिणमोर्दीर्मिताम्	४।४।८६
जिणमोर्वाऽगो	५।१।४८
जिण्यराजार्पाद्यृत्युवणि-	१।४।३०
जिनोऽण्	४।२।२१
जिन्नमिविधौ	२।३।६६
जिह्वौ	२।१।६२
जिस्ते पदः	२।१।५१
जीतः क्तः	२।२।१६५
जेरुपः	४।४।६५
ज्जिण्यचः	५।२।३
ज्जिण्यदृष्टदरक्तविकारे	४।३।१५१
ट	
टखोरेवाहः	४।४।१३३
टगमनुष्ये	२।२।५०
टाबृचि	३।१।१६
टिङ्हाणज् ट्ठसृज् कवरपः	३।१।१८
टिदादिः	१।१।५३
टिह्वरे	२।४।६५
टेः	४।४।१२६; ४।४।१४५
टौसिप्येनदेतदश्च	४।३।११९
ट्फण् कापिश्याः	३।२।७८
ट्वितोऽणुः	२।३।७१
ठ	
ठज् कवचिनश्च	३।२।२६
ठडमन्त्रादेः	३।३।३९
ठण्डौ	३।२।६४
ठश्चावयसि	३।४।८१
ठस्येकः	५।२।५४
ठाऽचि द्वितीयात्परोऽचः	४।१।१३६
ठेनावतः	४।१।४१
ठोऽगारान्तात्	३।३।१८७
ड	
डः	२।२।४६

डो ग्रहणो कः	४।१।११	खतुचौ	२।१।१०६	तदस्यास्यस्मिन्निति मनुः	४।१।२३
डो वयसि	४।१।५३	खोर्व्याः	२।१।८२	तदस्यास्मिन्निति	३।४।१५
डट्रव्योः	४।३।१५०	त		तद्वच्छति पथिदूतयोः	३।३।५०
डट्यात्मनः	४।३।१२५	तः	३।३।१०२; २।२।८५	तद्दीयते नियुक्तम्	३।३।८४
डट्कीप्रमाणयोरः	४।२।११६	तः सेट् पूङ्शीङ्स्विन्	१।१।१२	तद्धरति वहत्यावहति	३।४।४६
डडर्थाङ्गः	३।४।४७	तद्वाः स्वार्थे	२।१।७२	तद्युक्तात् कर्मणोऽण्	४।२।४२
डङ् गुणतृतार्थ-	१।३।७५	ततः आगतः	३।३।४८	तद्योजको हेतुः	१।२।१२६
डतरादेः पञ्चकस्य दुक्	५।१।२२	ततो नुट्	५।२।१७१	तद्वत्	४।३।७३
डनाट् धुट् सोश्चः	५।४।१३	ततो यूनि	३।१।८०	तद्वहतिरथ युगप्रासङ्गा-	३।३।१६१
डाजहँस्येतावतः	४।३।८५	तत्र	१।३।४०	तद्वाचि धौ वाऽयदि	२।३।३१
डाज्जलोहितात् क्यप्	२।१।११	तत्र जातः	३।३।१	तद्वेच्यधीते	३।२।५१
डिवतः क्त्रिः	२।३।७०	तत्र दीयते भववत्	३।४।८९	तनादिभ्यस्तथासोः	१।४।१४८
ढ		तत्र नियुक्तः	३।३।१८६	तनोतेर्यकि	४।४।४६
ढणि खम्	३।१।१२२	तत्र भवः	३।३।२८	तनोतेर्वा	४।४।१५
ढण् च मण्डकात्	३।१।१०८	तत्र विदितः	३।४।४३	तपःसहस्राभ्यां विनिनौ	४।१।२६
ढेः खम्	४।४।१३५	तत्र साधुः	३।३।२०२	तपस्तपःकर्मकरय कर्मवत्	२।१।६१
ढो ढे खम्	५।४।१७	तत्रेदमिति सरूपे	१।३।८६	तपोऽनुतापे च	२।१।५६
ढूखे पूर्वस्याणो दीः	४।३।११६	तत्रेव	३।४।१०८	ततान्वावाद्रहसः	४।२।८४
ढूण्	३।१।११६	तत्रोद्धृतमन्त्रेभ्यः	३।२।९	तमधीष्टो भूतो भूतो भावी	३।४।७६
ण		तत्प्रकृतौ कौ मयट्	४।२।२८	तमसोऽवसमन्वात्	४।२।८१
णम् चाभीक्ष्ण्ये	२।४।८	तत्प्रत्यनुमीपलोलकृलात्	३।३।१५१	तमेष्टावतिशायने	४।१।११४
णम्यपगुरो वा	४।३।४५	तथोर्धोऽधः	५।३।५६	तथोर्व्यक्तस्वार्थः	२।४।५५
णाविष्टवन्मुदः	४।४।१४६	तद्	४।१।८५	तरति	३।३।३०
ण्विचः	१।२।७२	तदधीनोक्तौ	४।३।५९	तवकममकावेकार्थे	३।२।१२३
णिश्रिद्रुश्रुकमेः कर्तरि कच्	२।१।४३	तदन्ता धवः	२।१।२६	तवममौ ङसि	५।१।१५५
णोः	२।३।७७; ४।४।५३	तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ	३।४।११	तव्यानीयौ	२।१।८३
णोर्भीस्मेहँतुभये	१।२।६४	तदर्हति	३।४।६०	तस्	३।३।८२
णोर्वा	५।४।१०९	तदर्हँ वत्	३।४।१०६	तसादौ	४।३।१४७
णो नः	४।३।५४	तदस्मिन्नधिकमिति	३।४।१६७	तसेः	४।१।७४
णोऽनितेः	५।४।१०४	तदस्मिन्नन्नं प्राये खौ	४।१।१४	तस्मै प्रभवति सन्तापादेः	३।४।६५
णौ कच्युङः प्रोऽशा	५।२।११५	तदस्मिन्नस्तीति देशः खौ	३।२।५७	तस्मै हितम्	३।४।४
णौ गमज्ञाने	१।४।११८	तदस्मिन् युद्धे योद्धृ	३।२।४८	तस्य	३।४।१०६
णौ मृगरमणे	४।४।२६	तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभ	३।४।४६	तस्य दक्षिणायज्ञाख्यात्	३।४।८८
णौ सन्कचोः	१।४।१२३	तदस्य पर्ययम्	३।३।१७१	तस्य धर्मम्	३।३।१६८
णयः	२।१।१०१	तदस्य ब्रह्मचर्यम्	३।६।८७	तस्य निवासादूरमवौ	३।२।५६
ण्य आवाश्यके	५।२।६५	तदस्य संजातं तारका-	३।४।१५७	तस्यन्तिकस्य कादेः	४।४।१४२
ण्यासश्रन्थिवष्टिवन्दि-	२।३।८९	तदस्य सोढम्	३।३।२७	तस्य पूरणे ङट्	४।१।१
ण्योऽतिथेः	४।२।३३	तदस्यांशवस्नभृतयः	३।४।५५	तस्य वापः	३।४।३६

तस्य विकारः ३।३।१०२
 तस्य व्याख्यान इति च ३।३।४२
 तस्य शतृशानाववैकार्ये २।२।१०२
 तस्य समूहः ३।२।३२
 तस्यापत्यम् ३।१।७७
 तस्येदम् ३।३।८८
 ता १।३।७०
 ता चानादरे १।४।४६
 ताऽतसर्थे न्येन १।४।३९
 तादी भः ४।१।११७
 ताया आक्रोशे ४।३।१३४
 ताया रूप्यश्च ३।४।१४३
 ताया व्याश्रये ४।२।५३
 ता शेषे १।४।५७
 तासस्त्योः लम् ५।२।१५२
 तासामाप्परास्तद्धलचः १।२।१५८
 तास्थाने १।१।४६
 ता हेतौ १।४।३५
 ति १।२।१३१; ५।२।१८६
 तिक्रिकितवादिभ्यो द्वन्द्वे १।४।१४०
 तिकादेः फिञ् ३।१।१४१
 तिकित्येऽदो जगिधः १।४।११०
 तिकुप्रादयः १।३।८१
 तिकुत्रतथसिसुसरकसे- ५।१।११६
 तितिरिवरतन्तुखण्डि- ३।३।७८
 तिपि धोः ५।३।८०
 तिरश्च्यपवर्गे २।४।४५
 तिरसस्तिर्यखे ४।३।२००
 तिरसो वा ५।४।३०
 तिरोऽन्तर्द्धौ १।२।१४०
 तिल्यवादासौ ३।३।११२
 तिष्ठद्वादीनि च १।३।१४
 तिष्यपुनर्वसूनां भद्रन्द्वे १।१।१६६
 तिष्यपुष्ययोर्भाणि ४।४।३९
 तीयस्य डिति १।१।४४
 तीपसहलुभरुपरिषः ५।१।९६
 तुण्डवतिवलेर्भः ४।१।५६
 तुन्दशोकयोः पीरमृजाप- २।२।१०

तुन्दादरिलः ४।१।४३
 तुभ्यमह्यौ डयि ५।१।१५४
 तुमर्थाद् भावे १।४।२५
 तुमीच्छायां धोर्वोप् २।१।५
 तुमेककर्तृके २।३।१३४
 तुमिष्टेमेयस्तु ४।४।१४४
 तुह्योस्तातडङ्गशिपि ५।१।३०
 तूदीवर्मतीभ्यां ढण् ३।३।६८
 तुष्णीमि भुवः २।४।४८
 तृजकाम्यां योगे १।३।७८
 तृज्याश्चाहं २।३।१४५
 तृणह इम् ५।२।६०
 तृणे जातौ ४।३।२०६
 तृन् २।२।११३
 तृष्यस्वोः क्रियान्तरे २।४।४२
 तृतपोः ४।४।११३
 तृन्मोरवे घञ् २।३।१०१
 तेऽण्ये ४।४।५९
 ते द्रयः ४।२।९
 तेन १।३।६०
 तेन क्रियातुल्ये ३।४।१०७
 तेन क्रीतम् ३।४।३५
 तेन दीव्यति खनति ३।३।१२७
 तेन निर्वृत्तः ३।२।५८; ३।४।७५
 तेन प्रोक्तम् ३।३।७६
 तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां ३।४।६१
 तेन रक्तं रागात् ३।२।१
 तेन वित्तश्चुचुचणौ ३।४।१४६
 तेभ्य इप् च १।४।४३
 तेभ्यो भवति वा २।३।१३६
 तेरसंख्यादेः ४।१।६
 ते विभक्त्यः ४।१।६१
 ते विंशतेर्दिति ४।४।१२८
 ते सेटि ४।४।५४
 तोः सः सावनन्त्ये ५।१।१६४
 तोलि ५।४।१३४
 तौ सद् २।२।१०५
 ल्यः २।१।१
 ल्यवे त्याश्रयम् १।१।६३

त्यदादि १।१।६९
 त्यदादेरः ५।१।११६
 त्यदादौ दृशोऽनलोके ट्क्चर २।२।५८
 त्यद्योश्च ५।१।१५७
 त्यस्थे कयापीदतोऽनुपो ५।२।५०
 त्यादेशयोः ५।४।३६
 त्रपुजतुनोः पुक् ३।३।१०६
 त्रसिगृधिधृषिज्ञिपः क्तुः २।२।११६
 त्राघ्नाहीतुदोन्वित्ते- ५।३।७३
 त्रिचतुरोः स्त्रियां तिस्र- ५।१।१५८
 त्रेः ३।३।१४४
 त्रेन् कख्याः ३।२।४४
 त्रेस्तृ च ४।१।७
 त्रेस्त्रयः ५।१।३५
 त्वमावेके ५।१।१५६
 त्वर्यपादाने २।४।३७
 त्वामाविपः ५।३।१६
 त्वाहौ सौ ५।१।१५३
 त्वे ड्यापोः क्वचित्तौ ४।३।१७३

थ

थः ४।३।४
 थवित्सेः २।४।८६
 थस्नोरातः ४।४।१०२
 थस्य ४।३।३०
 थस्य गे पित्यञि ५।२।८५
 थासः से २।४।६६
 थो न्यः ५।१।६४

द

दंशसंजस्वजां शपि ४।४।२४
 दः ५।३।८२
 दक्षिणादा ४।१।१००
 दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ३।२।७७
 दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ४।२।१३७
 दक्षिणोत्तराधरादात् ४।१।६८
 दक्षिणोत्तराभ्यामतस् ४।१।६४
 दण्डादेः ३।४।६४
 दण्डिहस्तिनो स्ते ४।४।१६४
 दध्नष्टक् ३।२।१३

दन्तशिखात्खौ	४।१।३६	दीरकृद्गो	५।२।१३४	द्य तिस्यतिमास्यां ति	५।२।१४४
दम्भ इच्च	५।२।१५८	दुन्योरगौ	२।१।११६	द्यावनुप्	४।२।१२०
दयायासः	२।१।३३	दुसो दृण्	३।१।१३१	द्यावापृथिवीमुनाशीर-	३।२।२७
दस्ति	४।३।२२५	दुहानुरुधदुपद्विप्रद्रुह-	२।२।११८	द्युतिस्वाप्नोर्जिः	५।२।१६७
दाज्ञः	२।२।५	दुहो घश्च	२।२।६	द्युत्पुपादिलिन्मति-	२।१।४८
दाज्धाओर्वा	२।१।११२	दूराद्भूते	५।३।६२	द्युद्भ्यो लुङि	१।२।८७
दादुर्दोमोऽदसोऽसेः	५।३।८८	दूरान्तिकार्थैस्ता च	१।४।४२	द्युद्भ्यो मः	४।१।३४
दादेर्धोर्धः	५।३।४६	दृतिकुक्षिकलसिवस्त्यल-	३।३।३१	द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो	३।२।८०
दाधा भवपित्	१।१।२७	दृतिनाथयोः पशौ हृजः	१।२।३०	द्योः	५।२।१५
दाधेत्सिदसदो रुः	२।२।१४२	दृन्कारापुनर्वर्षाभ्योऽभुवः	४।४।८०	द्योः खं चाऽजिनस्य	४।१।३८
दानीम्	४।१।८४	दृशदृग्दृशवतौ	४।२।१६५	द्यो जसि च	४।३।६३
दान्तशान्तपूर्णदस्त	५।१।१२४	दृशुरेप्	५।३।१२६	द्यो वरुणस्य	५।२।२८
दामन्यादेश्छः	४।२।५	दृशो क्वचिन्	२।१।८१	द्रव्यघनस्पर्शयोः श्वः	४।३।६६
दामहायनात् संख्यादेः	३।१।१४	दृश्यर्थैश्चिन्तायाम्	५।३।२१	द्रव्यं भव्ये	४।१।१५८
दाम्नीशसयुजस्तुद-	२।२।१६०	दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि	४।१।७६	द्रान्तस्य तो नः पूर्वस्य दो	५।३।५६
दासगोघ्नौ सम्प्रदाने	२।५।६०	देडो दिगि लिटि	५।२।१२१	द्विः	३।१।१४६
दिक्छब्दाऽन्यारादितर्ते	१।४।३८	देऽनतः	५।१।५	दृश्यङ्गुलेः	४।२।११४
दिक्छब्देभ्यो वाकेभ्योऽ	४।१।६२	देयमृणे	३।३।२२	द्वे बहुषु तेनैवात्रियाम्	१।४।३३
दिक्संख्यं खौ	१।३।४५	देये वा च	४।२।६०	द्रोः	३।३।११९
दिगादेरखौ	३।२।८४	देवताद्वन्द्वे	४।३।१३९; ५।२।२६	द्रोणं पर्यतजीवन्ताद् वा	३।१।६२
दिगादेर्यः	३।३।२९	देवतान्तात्तादर्थ्ये यः	४।२।३१	द्वन्द्वं रहस्यादौ	५।३।१३
दिगादेष्ठण् च	३।२।१२६	देवपथादिभ्यः	४।१।१५४	द्वन्द्वमनोनादेः	३।४।१२३
दित्यदित्यादित्यपतिद्योर्ध्वः	३।१।७०	दे वा	२।१।४७	द्वन्द्वाच्चुदहपो रार्थे	४।२।१०८
दिवः कर्म	१।२।११५	देवात्तल्	४।२।३४	द्वन्द्वाच्चुः	३।२।७
दिव उत्	४।३।१०८	देविकशिशापदीर्घसन्नश्रय-	५।२।६	द्वन्द्वाद्विबु वैरमैथुनकयोः	३।१।६३
दिव औत्	५।१।६१	देविकुशो गौ	२।२।१२६	द्वन्द्वे	१।१।३६
दिवश्च	१।४।६७	देशोऽनोरः	४।२।२०३	द्वन्द्वे युवल्लिङ्गम्	१।४।१०२
दिवसश्च पृथिव्याम्	४।३।१४३	देहाङ्गात्	३।३।३०	द्वन्द्वे सुः	१।३।६८
दिवादेः श्वः	२।१।६५	दैकान्यकिंयतदः काले	४।१।८०	द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्पाणि-	४।१।५१
दिवाविभानिशाप्रभाभा-	२।२।२६	दैवजज्ञिशौचिवृक्षिसात्य-	३।१।६६	द्वयोरेकः	४।३।७२
दिवो द्यावा	४।३।१४२	दोः कखोङः	३।२।११७	द्वारादेः	५।२।६
दिशोऽन्तराले	१।३।८८	दोः प्राचाम्	३।२।६६	द्वितीयेऽनुपाख्ये	४।३।१-८
दिशोऽमद्राणाम्	५।२।१८	दो दद्भोः	५।२।१४८	द्विः कुरुनाथजादकोश-	३।१।१५३
दीः	१।२।१०१	दोषो गौ	४।४।८४	द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्	४।२।२५
दीडोऽचि विडति युट्	४।४।६२	दोष्टण् सौवीरेषु प्रायः	३।१।१३६	द्वित्रिपुसपादायुषः	४।२।७७
दीपजनबुधपूर्तिायिप्या-	२।१।५२	दोश्छः	३।२।९०	द्वित्रिवहोर्निष्कविस्तात्	३।४।२८
दीप्युपोक्तिज्ञाने हवि-	१।२।४३	द्वाः	१।१।२१	द्वित्रिभ्यां मूर्ध्नः	४।२।११५
दीरकितः	५।२।१८१	द्यः	४।३।३६	द्वित्रिभ्यां वा	३।४।१६७

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः	४।२।१०५
द्वित्रिभ्यामण् च	३।४।३४
द्वित्रैर्धमुञ्	४।१।१०८
द्वित्रेऽचि	१।१।५६
द्विदण्ड्यादिः	४।२।१२६
द्विप्राप्तौ परे	१।४।६९
द्विविभज्ये तरेयसू	४।१।११६
द्विपः	२।४।६२
द्विपोऽरौ	२।२।१०६
द्विस्तावान्निस्तावानुगमम्	४।२।८६
द्वीपादनुसमुद्रे यञ्	३।२।१३०
द्वेस्तीयः	४।१।६
द्वयचः	३।१।११०
द्वयचोऽणः	३।१।१४३
द्वयजृचः	३।३।४४
द्वयज्यगधकलिङ्गसूरम्	३।१।१५२
द्वयनगरीदपः	४।३।२०२
द्वयष्टनः संख्यायामवाऽ	४।३।१५६

ध

धः	५।३।५५
धनुषः	४।२।१३३
धन्वयोऽङः	३।२।६६
धर्मं चरति	३।३।१६२
धर्मपथ्यर्थन्यायादानपते	३।३।१९८
धर्मशीलवर्णान्तात्	४।१।५५
धर्मात् केवलादन्	४।२।१२५
धात्रो हिः	५।२।१४६
धात्रपोत्रे	२।२।१६१
धान्यप्ररोहणे खञ्	३।४।१२७
धावृत्ति गोः	४।३।७९
धारीङः शत्रकृच्छ्रिणि	२।२।१०८
धारेस्तमर्णः	१।२।११२
धि	५।३।४३
धिगत्यर्थाच्च	२।४।५८
धिन्विक्कृण्भ्योर च	२।१।७५
धुयोगे त्याः	२।४।१
धुरो ढण् च	३।३।१६२

धूमादेः	३।२।१०५
धेः १।२।२१; १।२।३०; १।२।४१	
धेऽकौ	४।४।६
धोर्यङ् क्रियासमभिहारे	२।१।१९
धोस्तस्मिन्नेव	४।३।७०
ध्यपाये ध्रुवमपादानम्	१।२।११०
ध्वर्थवाचः कर्मणि	१।४।२४
ध्वाङ्त्रैः	१।३।४२
ध्वादेः प्रस्सः	४।३।५३

न

नः क्ये	१।२।१०४
न कपि	५।२।११६
नक्तंरत्रिमहोभ्यो दिवम्	४।२।७६
न क्तिच दीश्च	४।४।४०
न क्रोडादिवह्वचः	३।१।४६
नखं मृदन्तस्याकौ	५।३।३०
नखं सुम्बिधिं कृत्तुकि	५।३।२८
नखमुखात्कौ	३।१।५१
न खौ	४।२।१५५
न गतिर्हिंसार्थेभ्यः	१।२।६
नगरात्कुत्सादाद्ययोः	३।२।१०६
न गोपवनादेः	१।४।१३८
नगो वाऽजोवे	४।३।१८५
न चवाहृवैयोगे	५।३।२०
न जौ जिः	४।३।३१
न क्षितलोकस्वार्थतृनाम्	१।४।७२
नञ्	१।३।६८
नञः	४।२।६७
नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञ-	५।२।३४
न जे	५।२।११
नञोऽन्	४।३।१८१
नञ् दुस्तोः सक्थिहले-	४।२।१२३
नञ् विसृपत्रिभ्यश्चतुरः	४।२।७५
नञ् से चतुरसंगतलवणः	४।१।१५
नङशादाङ्ङित्	३।२।६६
नङादेः कुक्	३।२।७१
नङादेः फण्	३।१।८८

न ते नासिकायाः खौ	३।४।१५१
न थात्	५।१।५६
न थात्मदः	२।४।७१
न दण्डमाणावान्तेवासिपु	३।३।६८
न दधिपयश्चादीनि	१।४।६०
नदीभिश्च	१।३।१७
नदीमानुपीभ्योऽदुभ्य-	३।१।१०२
नद्यादेर्दङ्	३।२।७६
नद्याम्मनुः	३।२।६५
न द्वयचः प्राच्यभरतेषु	३।२।८६
न धुखेऽगे	१।१।१८
नन्दिग्रहिपचिभ्यो ल्यु-	२।१।१०७
नपः	५।१।१६
नपः स्वमोः	५।१।२०
न पदान्तद्वित्वरेयलोपः	१।१।५८
नपरे नः	५।४।११
नपोऽञ्जलः	५।१।५१
नपो वा	४।२।१११
न प्ये	४।४।६८
न प्रतिपदम्	१।३।७३
न विस्ताचितकम्बल्यात्	३।१।२७
न वे	१।१।३७
नञ्वाच्य आसम्	१।२।६१
नञ्भावे क्तः	२।३।९५
न भामूपूकमिगमित्या-	५।४।११३
न भ्रान्तपान्नवेदानासत्य-	४।२।१८३
नमः पुरसोऽस्योः	५।४।२६
नमः शप्	२।१।५८
नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽ	१।४।२६
न माङ्योगे	४।४।७१
न मादेरपत्येऽवर्मणः	४।४।१६१
नमिकम्पिस्यजस्कमहि-	२।२।१४८
न सु टाविधौ	५।३।२९
नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्	२।१।१६
न भ्रेस्तो वा	४।३।८६
न यदनाकाङ्क्षे	२।४।९
न रुधः	२।१।५५
नरे खौ	४।३।२३०

न लङ्लुट् सामीप्याव्यु-२।३।१११	
न लिङि	५।१।८७
न वञ्चेर्गतौ	५।२।६४
न वर्जने	१।४।१२६
न वा रुष्यमत्वरसंबुषा	५।१।१२८
न वा श्वेः	४।३।२७
न वा साकाङ्क्षे	२।२।६४
न विस्ताचिक्तकम्बल्यात्	३।१।२७
न वृहत्कोडः	४।३।१४६
न वृतादेः	५।१।१०७
न व्यो लिटि	४।३।३६
न शशददवादीनाम्	४।४।११७
नशेः श	५।४।९९
नश्च पुंसि	४।३।६१
नश्चापदान्तस्य भलि	५।४।८
नश्छव्यप्रशान्	५।४।२
नरिश तुक्	५।४।१४
न समाहारे	४।२।६१
न सामेः	४।२।१३
न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्	५।१।४७
न सेटस्तासि मोऽवमि-	५।२।३६
न स्कादौ न्द्रोऽयि	४।३।३
न स्वतिक्रिमः	४।२।६६
नहिवृतिवृषिब्यधिरुचि-	४।३।२१६
नहो धः	५।३।५१
नाञ्चेः पूजे	४।४।२६
नाडीयन्त्र्योः स्वाङ्गे	४।२।१५८
नातोऽम् त्वकायाः	१।४।१५२
नाद्यन्ते	५।४।७६
नाधार्थत्ये च्छ्वर्थे	२।४।४७
नानेकगेः	४।४।६१
नानोः	१।२।५४
नाभ्याऽऽदिशिग्रहः	२।४।४३
नाभ्यतिसृचतसृ	४।४।३
नावो रात्	४।२।१०२
नाशः खम्	१।१।६१
नाशिष्यगोवत्सहले	४।३।१६१
नासिकादौ घेट्धमः	२।२।३३

नासिकाया नश्चात्स्थू-	४।२।११८
नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्त-	३।१।४८
नासिक्यो ङः	१।१।४
नास्तिकास्तिक्रदैष्टिकाः	३।३।१७८
निसनिन्ननिन्दो वा	५।४।११२
निः	१।२।१२७
निकटावसथे वसति	३।३।१९
निजामुच्येप्	५।२।१७४
नित्यं गतिविशेषे	२।१।२०
नित्यं दुशरादेः	३।३।१०६
नित्यम्	३।३।१४५
नित्यवोप्ययोः	५।३।३
निन्दहिंसकिलशाखाद-	२।२।१२७
निपानमाहावः	२।३।६१
निमित्तं संयोगोत्पादौ	३।४।३७
निमूले कपः	२।४।२२
नियोऽवोदोः	२।३।२५
निरभ्योः घृत्वोः	२।३।२६
निरैकाजनाङ्	१।१।२२
निर्दुं स्तुवेः सुपिस्तिसमाः	५।४।६६
निर्धारणे	१।३।७४
निर्वाणोऽवाते	५।३।६६
निर्वृत्ते ऽश्चघृतादेः	३।३।१४२
निवासचितिशरीरोपसमा-	२।३।३६
निविशः	१।२।११
निव्यभ्यनुपरेः त्यन्दोऽ-	५।४।५४
निशाप्रदोषान्याम्	३।२।१३४
निषेधेऽलंखत्वोः क्त्वा	२।४।४
निष्कान्छतसहस्रान्तात्	४।१।४५
निष्कुपः	५।१।६४
निष्णातनदीष्णातप्रविष्णा	५।४।७५
निष्प्रवारिणः	४।२।१५६
निसः श्रेयसः	४।२।८२
निसस्तपतावनासेवने	५।४।७४
निसंब्युपाद् ह्	१।२।२५
निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ	५।४।८०
नीगञ्चुखंसुध्वंसुध्वंसु	५।२।१८२
नीतौ त तद्युक्तात्	४।१।१३३

नीलपीतादकौ	३।२।२
नुमशर्व्ववायेऽपि	५।४।३८
नुवा	४।४।४
नृतस्थयोर्जुञ्ज	३।२।१२२
नृतेर्यङि	५।४।११८
नेच्यात्	४।३।६२
नेटः	५।२।८४
नेटि	५।१।८०
नेन्द्रस्य	५।२।२७
नेर्गदनदपतपदमुमा-	५।४।१००
नेर्विङ्विरीसौ	३।४।१५२
नेल् स्वस्त्राटेः	३।१।८
नैकाचः	४।४।१५४
नैकार्थ्ये बोध्ये सामान्य-	५।२।३५
नोङः	४।४।५
नोङस्थकात् क्त्वा	१।१।६५
नोऽपुंसो हृति	४।४।१३०
नोमता गोः	१।१।६४
नोऽसे मट्	४।१।२
नौ गदनदपठस्वनः	२।३।६७
नौ णश्च	२।३।५४
नौ द्वथचण्ठः	३।३।१३१
नौ धर्मविषसीताभ्यस्ता-	३।३।१६७
नौ दुर्धान्ये	२।३।४४
न्यग्रोधस्य केवलस्य	५।२।१०
न्यङ्क्वादेः	५।२।५८
न्यायपरिणायपर्य्यायः	२।३।३६
प	
पक्षातिः	३।४।१४५
पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति	३।३।१५७
पंक्तिविशतित्रिंशच्चत्वा	३।४।५८
पङ्क्तोः	३।१।५७
पञ्चदशतौ वर्गे वा	३।४।५८
पणः परिमाणे	२।३।५५
पणपादमाषाढः	३।४।३१
पण्यावद्यवर्षावह्वायोपस-	२।१।८८
पतिः से	१।२।६८
पतिवन्त्यन्तर्बन्त्यौ	३।१।३१

पत्नी	३।१।३३
पत्यन्तपुरोहितादेर्ण्यः	३।३।११८
पत्रात्	३।३।६९
पत्रादण्	३।३।९०
पथः कट्	३।४।७१
पथः पन्थः	३।३।६
पथिमथ्यमुक्षामात्	५।१।६२
पथो वा	४।२।६८
पथो बुन्	३।३।१६
पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्र-	३।४।१३२
पथ्यतिथिवसतिस्त्वपते-	३।३।२०७
पदद्योगुल्लाति	३।३।१६०
पदरुजविशस्पृशो घञ्	२।३।१५
पदव्यवायेऽपि	५।४।११६
पदस्य	५।३।१४
पदस्य दोर्नाम्नवतिनगरी	५।४।१२१
पदादपदादौ	५।३।१५
पदार्थसम्भावनानुज्ञा	१।४।६
पदास्वैरिवाह्वयवक्ष्येषु	२।१।९८
पदे व्योरैयौव्	५।२।८
पद् ये	४।३।१६४
पन्थो ण नित्यम्	३।४।७२
परः	२।१।२
परकालैककर्तृकात्	२।४।७
परम्	१।३।६५
परस्परान्थोन्येतरेतरे	१।२।१०
परस्यादेः	१।१।५१
परानुकृजः	१।२।७६
परावरयोगे	२।४।६
परावराधमोत्तमादेः	३।२।१२५
परिक्रयणम्	१।२।११३
परिखाया ढञ्	३।४।१६
परिणाऽन्तशलाकासंख्याः	१।३।८
परिनिविभ्यः सेवसितसयाम्	५।४।५१
परिपन्थं तिष्ठति	३।१।१५८
परिभूजिहृत्तिविश्रीणव-	२।२।१४०
परिमाणस्याखुशाणे	५।२।२२
परिमाणस्यानतोऽर्धाद्वा	५।२।३२

परिमाणसंख्यायां सर्वेभ्यः	२।३।१९
परिमाणात्संख्यायाः सङ्ख-	३।४।५६
परिमाणाद्घृदुपि	३।१।२६
परिमुखम्	३।३।१५२
परिवृतो रथः	३।२।८
परिव्यवक्रियः	१।२।१२
परिषदो ण्यः	३।३।१६५; ३।३।२०५
परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु	५।४।५७
परेः	५।४।५६
परेः सृदेविक्षिपरटवद-	२।२।११९
परेऽचः पूर्वविधौ	१।१।५७
परेर्वाङ्क्योगे	५।३।४०
परेर्वर्जने	५।३।४
परेर्वा	४।३।३७
परोक्षे लिट्	२।२।६५
परोऽचो मित्	१।१।५५
परोपात्	१।२।३५
परो मिः	५।३।२
परोवरपरंपरपुत्रपौत्र-	३।४।१३५
परो भुवोऽवज्ञाने	२।३।५१
परो यज्ञे	२।३।४३
परौ वादिक्षिपरटः	२।२।१२८
पर्यादेष्ट	३।३।१३३
पर्यापाङ्बहिरञ्चवः कया	१।३।१०
पर्याभिभ्याम्	४।१।७५
पर्यातिवचनेऽलमर्थे	२।४।५१
पर्यायार्हणोत्पत्तौ बुण्	२।३।६२
पर्वतात्	३।२।११६
पश्वादेरण्	४।२।६
पलल्यादेः	३।२।८६
पल्यराजहस्तिभ्यो वर्चसः	४।२।८०
पशुष्वजः समुदोः	२।३।५६
पाककर्णपर्यपुष्पफलमूल	३।१।५४
पाकमूले पीलुकर्णा-	३।४।१४४
प्राघ्राध्माधेट्दृशः शः	२।१।११०
प्राघ्राध्मास्थाम्नादाण्	५।२।३६
पाणिषताडघराजघाः	२।२।५३
पाण्डोऽर्हण्	३।१।१५५

पातेर्लुक्	५।२।४४
पात्राद् घश्च	३।४।६५
पात्रेसमितादयश्च	१।३।४३
पादः पत्	४।४।११६
पादम्याङ्यमाङ्यसपरि-	१।२।७३
पादस्य पदाज्यातिगोप-	४।३।१६३
पादो वा	३।१।१५
पाद्यार्धे	४।२।३२
पानं देशे	५।४।६३
पापाणके कुल्यैः	१।३।४९
पाथ्यसान्नाय्यनिकाय-	२।१।१०४
पारायणतुरायणचन्द्राय	३।४।६८
पारे मध्ये तथा वा	१।३।१५
पाशरूपवीणातूलश्लोक-	२।१।२२
पाशादेर्यः	३।२।४१
पिच्चास्मदः	२।४।७८
पिटे चिः	३।४।१५४
पिति कृति तुक्	४।३।५६
पितुर्यश्च	३।३।५३
पितृव्यमातुलमातामह-	३।२।३१
पिष्टात्	३।३।११०
पीलाया वा	३।१।१०७
पुंखौ घः प्रायेण	२।३।१००
पुंयोगात् खोरगोपाल-	३।१।३८
पुंवद्यजातीयदेशीये	४।३।१५४
पुंसि चाद्धर्चाः	१।४।१०८
पुंसीदोऽव्	५।१।१६९
पुंसोऽसुङ्	५।१।६६
पुच्छभाण्डचीवराणिङ्	२।१।१७
पुरयसुदिवाभ्यां नप्	१।४।१०६
पुण्यैकाभ्याम्	४।२।६२
पुत्राच्छ वा	३।४।४०
पुत्रान्ताद्वा	३।१।१४६
पुत्रे वा	४।३।१३५
पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वा-	५।४।१
पुरायावतोर्लट्	२।३।२
पुरि लुङ् वा	२।२।६८
पुरुषहस्तिनोऽण् च	३।४।१५९

पुरुषाड्ढण्	३।४।६	पौत्रादि वृद्धम्	३।१।७८	प्रयच्छति गृह्यम्	३।३।१५३
पुरुषात् प्रमाणे वा	३।१।२९	प्यस्तिवाक्से क्वः	५।१।३१	प्रयोजनम्	३।४।१०२
पुरुषे वा	४।३।२१२	प्यायः पी	४।३।२३	प्रवहः	१।२।७८
पुरोऽप्रतोऽप्रेषु सुः	२।२।२३	प्ये	४।४।३८	प्रवाहणस्य ढे दस्य	५।२।३३
पुरोडाशाड्ढञ्	३।३।४५	प्ये विपूर्वात्	४।४।५६	प्रशंसायां रूपः	४।१।१२५
पुरोऽन्तं भिः	१।२।१३७	प्ये च	४।३।३४	प्रशंसेऽहं	२।२।१११
पुवः खौ	२।२।१६३	प्रः	४।४।८७; ५।२।१६३	प्रशंसोक्त्या	१।३।६२
पुवादुत्	५।१।७६	प्रकारे गुणोक्तेः	५।३।१०	प्रशस्यस्य श्रः	४।१।११९
पुस्करादेर्देशे	४।१।५६	प्रकारे था	४।१।८६	प्रश्ने चान्तर्युगे	२।२।९७
पुष्यसिद्धयौ मे	२।१।६६	प्रकरोक्तौ जातीयः	४।१।१२८	प्रसहनेऽधेः	१।२।२८
पूगाञ्च्योऽग्रामणीपूर्वत्	४।२।१	प्रकृत्याऽचि दिपाः	४।३।१०३	प्रसितोत्सुकाम्यां भा च	१।४।५२
पूङः	५।१।९६	प्रकृष्टे ठः	३।४।१०१	प्रस्त्यो वा	५।३।६६
पूङ्यजोः शानः	२।२।१०६	प्रकृष्यगर्हे मन्यकर्मण्य-	१।४।२७	प्रस्थपुरवहान्तात्	३।२।१००
पूजाकुत्सयोर्भ्यत्ययः	३।१।८४	प्रचये वा	२।४।३	प्रस्थैप्	५।२।१०३
पूजिते	५।३।६६	प्रजने वातेः	४।३।४७	प्रहरणम्	३।३।१७६
पूतकतौरै च	३।१।३६	प्रजने सुः	२।३।५८	प्रहरणमिति क्रीडायां णः	३।२।४६
पूर्णाद् वा	४।२।१४६	प्रजामेधादस्	४।२।१२४	प्रहासे मन्यर्वाचि युष्म-	१।२।१५४
पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण	१।३।४४	प्रज्ञादेः	४।२।४४	प्राक्खणश्छुः	३।४।१
पूर्वत्रासिद्धम्	५।३।२७	प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः	४।१।२८	प्राक्तेर्वाऽसमः	२।१।८१
पूर्वपदात्खावगः	५।४।८७	प्रतिकरुललामार्थात्	३।३।१६१	प्राक्सितादपि	५।४।४३
पूर्वम्	१।३।६७	प्रतिजनादेः खञ्	३।३।२०३	प्राग्द्रोरण्	३।१।६८
पूर्वश्च	४।३।६	प्रतिज्ञाने समः	१।२।४८	प्राग् धोस्ते	१।२।१४६
पूर्वात्	४।१।२०	प्रतिपदमेति ठश्च	३।३।१६३	प्राग्याहण्	३।३।१२६
पूर्वादयो नव	१।१।४२	प्रतिपत्ते कृञः	१।४।६०	प्राग्वतश्छञ्	३।४।६१
पूर्वान्यायेतरेतरापरवरो	४।१।८७	प्रतियोगे कायास्तसिः	४।२।४६	प्राचां कटादेः	३।२।११५
पूर्वापरप्रथमचरम-	१।३।५३	प्रतिश्रवणे	५।३।६६	प्राचां ग्रामाणाम्	५।२।१६
पूर्वावरसदृशकलहनिपुण	१।३।२८	प्रतेः	४।३।१०	प्राचां नगरे	५।२।२६
पूर्वावराधराणां पुरव-	४।१।१०३	प्रतेरुरस ईपः	४।२।८५	प्राचामिजोऽतौत्वलिभ्यः	१।४।१३२
पूर्वाह्णापराह्णाऽऽर्हामूल-	३।३।५	प्रत्यन्ववात्सामलोम्नः	४।२।७१	प्राणितालादेः	३।३।१०५
पूर्वे कर्तरि	२।२।२४	प्रत्यभिवादेऽश्चद्रस्यसूयके	५।३।६१	प्राणित्थसेनाङ्गानां द्वन्द्व	१।४।७८
पूर्वोऽमि	४।३।६४	प्रत्यभ्यतिक्षिपः	१।२।७७	प्राणिन्युप्	३।४।८६
पृथग्विनानानामिर्वा	१।४।४१	प्रत्याङ्श्रवः	१।२।५५	प्राण्यङ्करथखलयवमाषिष्टुव-	३।४।५
पृथ्वादेर्वैमन्	३।४।११२	प्रथने वावशाब्दे	२।३।३१	प्राण्यङ्गादातो वाऽलः	४।१।२४
पृषोदरादीनि यथोप-द-	४।३।२१४	प्रथमचरमतयात्पार्धकति-	१।१।४१	प्राण्योषधिवृत्तेभ्योऽवयव	३।१।०३
पेक्षमि	४।३।१६६	प्रपूर्वस्य स्यः	४।३।१८	प्रात्	४।३।५८
पैलादेः	१।४।१३१	प्रभवति	३।३।५७	प्रातर्निःशरेन्दुप्लक्षाम्-	५।४।८६
पोटायुवतिस्तोक-	१।३।६०	प्रमाणासत्योः	२।४।३६	प्रादारम्भे	१।२।३८
पोरुडोऽपिपिपरिपि-	२।१।८५	प्रमाणे द्वयसङ्घट्ट-	३।४।१५८	प्रादिः	१।२।१२६

प्राद्वगोः	५।३।४५	फेनादिलश्च	४।१।२६	भक्तिः	३।३।७०
प्राद्वृत्त्यमिडस्ति	५।४।७३	फेरु च	३।१।१३७	भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्य-	१।३।३०
प्राध्वं बन्धे	१।२।१४७	ब		भजो यिवः	२।२।६५
प्रायश्चित्तिचित्तयोः	४।३।११७	बन्धोऽधिकरणे	२।४।२८	भजभासमिदो घुरः	२।२।१४४
प्रायोऽनपत्येऽस्तीनः	४।४।१५५	बन्धौ वे	४।३।१०	भञ्जेजौ	४।४।३२
प्रायो (य आ) भीक्षये	२।२।६९	बलादेर्मनुर्वा	५।१।५७	भर्गात् त्रैगते	३।१।१००
प्रावृष एरयः	३।२।१३६	बले	४।३।२२१	भवतष्टण्छुसौ	३।२।६१
प्रावृषष्ठः	३।३।२	बहावीरेतः	५।३।८६	भवति	१।४।७१
प्रियवरो वदः खच्	२।२।३६	बहुत्वेऽदोरपि	३।२।१०३	भवतैरः	५।२।१७३
प्रियस्थिरस्फिरणदरः	४।४।१४८	बहुपूगणसङ्घस्य	४।१।४	भवद्भगवदघवतो वा रिः	५।४।३
मुखत्वः साधुकारिणि	२।१।१२२	बहुलं खौ	१।४।१२६	भवद्बद्धा तत्सामीप्ये	२।३।१०७
प्रे	२।२।४	बहुल गुरुवृद्धतृप्रदीर्घ	४।४।१४९	भव्यगेयप्रवचनीयो-	२।४।५३
प्रेवृस्तु श्रवः	२।३।२६	बहुलापिन्यालायौ	४।१।४६	भसन्व्यावृत्तुभ्योऽवर्पा-	३।२।१३७
प्रेलपसृष्टमथवदवसः	२।२।१२६	बहोर्वा वासतौ	४।२।२७	भक्षैपाज्ञाद्वास्वानां	५।२।५२
प्रे लिप्तायाम्	२।३।४२	बहोर्वस्नसौ	५।३।१७	भस्य	४।४।११८
प्रेत्वापचतुरो नुट्	५।१।३६	बहौ भल्येत्	५।२।६८	भस्य टेः खम्	५।१।६५
प्रे वणिजाम्	२।३।४८	बह्वचो नृन्वोर्वा ठः	४।१।१३४	भागाद्यश्च	३।४।४८
प्रे सूजोरिन्	२।२।१३६	बह्वजादेष्टः	३।३।१८२	भा गुणोक्त्याऽर्थेनोनैः	१।३।१७
प्रे पातिसर्गप्राप्तकाले	२।३।१३६	बह्वल्पाच्छुस्कारकाद्वा	४।२।४७	भागे चानुप्रतिपरिणा	१।४।२२
प्रोः	५।२।१७६	बह्वदेः	३।१।३१	भाऽनुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः	१।४।७६
प्रो धि च	१।२।६६	बह्वृचो बहुलं ठञ्	३।३।४३	भादाविदमोऽन्वादेशे	४।३।११८
प्रो नपि	१।१।७	बादान्तिकयोः साधनेदौ	४।१।२२	भादौ वोक्तपुंस्कं	५।१।५३
प्रोऽम्भार्थम्भोः	५।२।१०२	बाह्वन्तकद्रुक्मण्डलुभ्यः	३।१।३०	भाद्युक्तः कालः	३।२।४
प्रोष्टपदानां जाते	५।२।२३	विभेतेर्हेतुभये	४।३।४८	भाया ग्रीजस्तहो	४।३।१२२
प्रोष्टैरयजात्पदः	४।२।१२१	वित्त्वकादेशेऽस्य	४।४।१४३	भार्थे	१।४।१४
प्लक्ष्मादिभ्योऽण्	३।३।१२२	बुध्यन्शजनेङ्प्रद्रुल्लोर्णैः	१।२।८३	भावकर्म डिः	१।१।३०
प्लादेः प्रः	५।२।७८	बृहत्तिका	४।२।१४	भाववाचिनः	२।३।६
फ		बोध्यमसद्वत्	५।३।२४	भावादिमः	३।३।१४३
फट्	३।१।२०	ब्रह्मणस्त्वः	३।४।१२६	भावे	२।३।१७
फणां सप्तानाम्	४।४।११६	ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः	४।२।१०६	भावेऽगौ	२।२।६२
फण्किजोर्वा	३।१।७६	ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्	२।२।७५	भावे त्वन्तलौ	३।४।११०
फलिभजोः	४।४।११२	ब्राह्मणमाणाववाडवात्	३।२।४२	भासे	१।१।३८
फलेग्रहात्मभरिक्कि-	२।२।३१	ब्राह्मोऽजावौ	४।४।१६२	भिद्धादेः	३।२।३३
फलुन्याष्टः	३।३।६	ब्रुव आहश्च	२।४।७०	भिद्धासेनादाये	२।२।२२
फाण्टाहृतेर्णः	३।१।१३८	ब्रुव ईट्	५।२।६१	भिद्योद्ध्यौ नदे	२।१।६५
फाल्गुनीश्रवणांकार्तिकी	३।२।१८	भ		भिन्नलिङ्गो नदीदेशो-	१।४।८३
फिरदोः	३।१।१४७	भक्ताण्यः	३।३।२०४	भियः कुक्कुको	२।२।१५३
फुल्लः	५।३।७०	भक्ताद्वाऽण्	३।३।१८५	भियो वा	४।४।१०५

मिसोऽत ऐस्	५।१।८
भोमादयोऽपादाने	२।४।६१
भीरोः स्थानम्	५।४।६३
भीहीभृदुवामुज्वत्	२।१।३५
भुजप्रयाजानुयाजौकप्रयोज्य-	५।२।६८
भुजोऽदौ	१।२।६३
भुमास्थागापाहाक्सां	४।४।६५
भुवः ख्वन्तरे	२।२।१५२
भुस्थोरिः	१।१।६१
भूतपूर्वे चरट्	३।४।१४२
भूतवच्चाशंसायाम्	२।३।१०८
भूते	२।२।७२; २।३।११६
भूयहये	२।१।९०
भूवादयो धुः	१।२।१
भूपाऽपरिमहेऽलमन्तः	१।२।१३५
भृग्वत्रिकुत्सवशिष्टगोत-	१।४।१३६
भृजां त्रयाणामिः	५।२।१७५
भृजोऽखौ	२।१।६३
भृतृवृजिधारिसहि-	२।२।४४
भृशादेश्चौ हलो भुवि	२।१।१०
भेभ्यो बहलम्	३।३।१३
भेपजानन्तावसथेतिहाज्यः	४।२।३०
भौरिकाद्यैपुकार्यादिभ्यो	३।२।४७
भ्यपः	५।२।१५०
भ्यसोऽभ्यम्	५।२।२६
भ्रस्जोरसोरम्वा	४।४।४६
भ्राजभासभापदीपजीव-	५।२।११६
भ्रातरि च ज्यथसि	३।१।८२
भ्रातुर्व्यश्च	३।१।१३३
भ्रुवो बुक्	३।१।११४
भ्रौणहत्यधैक्यसार-	४।४।१६६
भ्रसोरेञ्च खं हौ	४।४।१०९

म

मङ्कुक्कर्मरादवाऽण्	३।३।१७५
मतिबुद्धिपूजार्थाच्च	२।२।१६६
मतौ बह्वच्छरादे-	४।३।२२२
मत्वर्थे स्तौ	१।२।१०८
मत्स्योड्यो ड्याम्	४।४।१३७

मदजनहत्याकरण-	३।३।२०१
मद्रेभ्योऽण्	३।२।८५
मधुवम्भोर्ब्राह्मणकौशिकयोः	३।१।६५
मधूपशुचिमुष्काद्रः	४।१।३३
मध्यान्ताद्गुरौ	४।३।१३०
मध्यान्मः	३।२।१२८
मध्ये पदे निवचने	१।२।१४५
मध्वादेः	३।२।६६
मनः	२।२।७०
मनस्युरनस्यनत्याधाने	१।२।१४४
मनुष्यादिष्वरण्यात्	३।२।१०७
मनो डाप्च	३।१।६
मनोरश्चक्षुश्चेतोरहोर-	४।२।५६
मनोरौ च	३।१।४१
मनोर्जातौ पुक् चाऽजौ	३।१।१४८
मन्त्रेस्क्विपु	४।४।६२
मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्र-	४।३।१७१
मन्माभ्यां खौ	४।१।५८
मन्वन्कनिव्विचः क्वचित्	२।२।६२
मम्	१।२।७५
ममोड्झयो मतोर्वोऽ-	५।३।३१
मयट्	३।३।५६
मयड्वैतयोरभन्नाच्छा-	३।३।१०८
मयूर्व्यंसकादयश्च	१।३।६६
मयो वोऽच्युञ्चः	५।४।१५
मस्जिनशोर्भलि.	५।१।३६
महतोऽञ् खजौ	३।१।१३०
महाराजप्रोष्ठपदान्यां ठण्	३।२।३०
महाराजात्	३।३।७२
महेन्द्राद् घाणौ च	३।२।२४
माङि लुङ्	२।३।१५१
माङो व्यतिहारे	२।४।५
माणवचरकात् खज्	३।४।१०
मातरपितरौ वा	४।३।१४५
मातुरुत्संख्यासम्भ्रादेः	३।१।१०४
मातृपितृभ्यां त्वसुः	५।४।६६
माथद्युपदव्यनुपदाक्रन्दं	३।३।१५६
मानपश्वङ्गयोः कोपौ	४।१।११२

मानां राख्वमथाथुसण-	२।४।६८
माने क्यः	३।३।१२०
मानवधदानशान्भ्यो दीश्च	२।१।१४
मालेपीकेष्टकानां भारि-	४।३।१७५
मावधेः	५।१।१५०
मासाद् वयसि खज्	३।४।७७
मिङः	४।१।११५
मिङ्गिश्चोऽस्मद्युप्म-	१।२।१५२
मिङ्गैकार्थे वा	१।४।५४
मिङ्गिदृगः	२।४।६३
मिञ्मीञ् दीङां प्ये च	४।३।४३
मितनखपरिमाणे पचः	२।२।३६
मिदरेप्	५।२।७६
मिथस्थितसोऽमृतंतासाम्	२।४।८२
मिथ्वस्मस्विथस्थितिस्त-	२।४।६४
मुक्तापेतापोदपतितापत्र-	१।३।३३
मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवण	२।१।१८
मुदगादण्	३।३।१४८
मुमचः	४।३।१७७
मुपग्रहिद्विदः संश्च	१।१।८२
मृगोत्तरपूर्वात्सकधनः	४।२।१०१
मृजैरेप्	५।२।१
मृडमृदगुधकुथवदवसः	१।१।८०
मृदन्तनुम्बिभक्त्याम्	५।४।६५
मृदस्तिकः	४।२।४५
मृदो लुङ्लिङोश्च	१।२।५७
मृषः परेः	१।२।७६
मृपः स्थायै	१।१।९३
मेघर्तिभयेषु कृजः	२।२।४१
मेनिः	२।४।७५
मो नः	५।३।८३
मोऽनुस्वारः	५।४।७
म्रौ डाचि नित्यम्	४।३।८७
म्योः	५।३।८४

य

यः	३।४।७८; ५।१।१४८
यः सौ	५।१।१६८
यखावध्वनः	३।४।१३९

यलौ वाऽशब्दे	३।३।४०
यगु दुहः	२।१।५७
यङि	५।२।१३६
यङुङोरेप्	५।२।१८०
यङोऽचि	१।४।१४४
यङो वा	५।२।९२
यचि भः	१।२।१०७
यच्चयत्रयोः	२।३।१२४
यजयाचयतविच्छ्रप्रच्छ-	२।३।७२
यजिजपिवद्दशामूकः	२।२।१३५
यजितजिप्रवचाम्	५।२।६६
यज्ञर्त्विग्भ्यां घलजौ	३।४।६७
यज्ञेः स्तुवः	२।३।२३
यजः	३।१।१६
यज्जोः	१।४।१३५
यजिजोः	३।१।९०
यज्यतो दोः	५।२।६६
यणेत्योः	४।४।७७
यतः प्रतिदाप्रतिनिधी	१।४।२२
यतश्च निर्धारणम्	१।४।४९
यत्तदेतेभ्यः परिमाणे	३।४।१६०
यत्ये तदादि गुः	१।२।१०२
यत्समयाऽनुः	१।३।१२
यथातथयथापुरयोः क्रमेण	५।२।३५
यथातथयोरसूयाप्रत्युक्तौ	२।४।१४
यथानुखसम्मुखस्य	३।४।१३१
यथासंख्यं समाः	१।२।४
यथास्वे यथायथम्	५।३।१२
यद्भावाद् भावगतिः	१।४।४५
यमेऽश्ववृषभयोः क्यचि	५।१।३२
यमः सन्निव्युपे च	२।३।६६
यमः सूचने	१।१।८६
यमरमनमातः सक् च	५।१।१३२
ययनुस्वारस्य परस्वम्	५।४।१३२
यरो ङो विभाषा ङे	५।४।१२५
यवदुत्तरे	५।३।६
यवयवकषट्ठिकाद्यः	३।४।१२६
यश्चोरसः	३।३।८३

यसः	२।१।६७
यस्कादिभ्यो वृद्धे	१।४।१३४
यस्य ङ्यां च	४।४।१३६
यस्य वा	५।१।१२१
याचितापमित्यात्करण्	३।३।१४६
याजकादिभिः	१।३।७२
याडापः	५।२।१०८
याप्ये पाशः	४।१।११०
यावति विन्दजीवः	२।४।१६
यावद्यथावधृत्यसादृश्ये	१।३।६
यासुण् मो ङित्	२।४।८४
यि किङ्कत्यङ्	५।२।१३१
यि खम्	४।४।१०८
यिट् चेष्टस्य	४।४।१५१
यित्ये	४।३।६७
युक्तवदुसि लिङ्गसंख्ये	१।१।६८
युयं पत्रे	२।१।१००
युजातः	२।३।१०६
युजेरसे	५।१।५०
युजोऽयश्पात्रे गेः	१।२।६०
युट्	२।३।६७
युट्ठ्या बहुलम्	२।३।९४
युवा खलतिपलितवलि-	१।३।६३
युवात्पयोः कन् वा	४।१।१२३
युवावौ द्वौ	५।१।१५१
युवोरनाकौ	५।१।१
युष्मदस्मदोः	५।१।१४५
युष्मदस्मदोऽकङ्खञ्	३।२।१२१
युष्मदस्मदो ङसोऽश्	५।१।२३
युष्मदस्मदोऽविप्रास्थस्य	५।३।१६
यूतिजृत्सितिद्वेतिकीर्तयः	२।३।७८
यूनस्तिः	३।१।६२
यूनि	३।१।७५
यूयवयौ जसि	५।१।१५२
ये कङाराः	१।३।१०४
येऽङौ	४।४।१५६
ये वा	४।४।४५
येनाङ्गविकारेत्यम्भावौ	१।४।३१

येनालि विधिस्तदन्ताद्योः	१।१।६७
येपां च द्वेषः शाश्वतिकः	१।४।८५
योगाद्यश्च	३।४।६६
योङो रूपोत्तमाद् वुञ्	३।४।१२२
योऽचोऽरासुयुवः	२।१।८४
योजनं याति	३।४।७०
यो यङः	२।२।१५५
योऽर्धात्	३।२।१२४
योऽसंख्यापरिमाणा-	३।४।३८
यौनमौस्ताद् वुञ्	३।३।५१
य्वावचि सन्धौ	५।३।१०५
य्वृग्रहृष्टृगमोऽच्	२।३।५२
य्वौ स्त्र्याख्यौ सुः	१।२।९२
र	
रः खम्	४।४।१६
रक्ते	४।२।१८
रक्षत्युञ्जति	३।३।१५५
रङ्गोः	३।२।७६
रजःकुप्यासुतिपरिषदो	४।१।३८
रञ्जेः	४।४।२५
रथवदयोः	४।३।२०८
रथाद्यः	३।३।८६
रघादेः	५।१।९३
रधिजभोरचि	५।१।४०
रन्तोऽणुः	१।१।४८
रन्नज्मेऽटः	२।४।८६
रभोऽशब्दिलोः	५।१।४२
रश्मौ	२।३।४६
रस्थोवनफये	३।१।७४
राजदन्तादौ	१।३।६६
राजन्यादेर्बुञ्	३।२।४६
राजन्वान् सौराज्ये	५।३।३५
राजश्चक्षुराद्यः	३।१।१२६
राजाहःसखिभ्यः	४।२।६३
राज्ञः क च	३।२।११६
राज्ञि युधि कृजः	२।२।८२
राष्ट्र च	३।४।५३

रात्	३।१।२५; ३।४।७६
रात्राहौ पुंसि	१।४।१०४
रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य	४।३।१८०
रात्र्यहः संवत्सरात्	३।४।८४
रात्सः	५।३।४२
रादुबलौ	३।४।२६
राद् भूतबलेः	३।४।८३
राधो वधे	५।२।१५६
रायो हलि	५।१।१४४
राष्ट्रवत्तद्वतां सर्व-	३।३।७५
राष्ट्रशब्दाद् राज्ञोऽञ्	३।१।१५०
राष्ट्रावध्योः	३।२।१०२
राष्ट्रावारपाराद्वखौ	३।२।७३
राष्ट्रे	३।२।४५
रि	५।२।५३
रीङ्यग्लिङ्शे	५।२।१३७
रीङ्वतः	५।२।१८७
रीङ्वतः	५।२।१३६
रुग्गिकौ चोपि	५।२।१८८
रुचलार्थाद्धैर्युच्	२।२।१३०
रुजर्थश्च भाववाचिनोऽ-	१।४।६१
रुदादेर्गे	५।१।१३५
रुद्भ्योऽड्वाज्जेः	५।२।९४
रुधितुदादिभ्यां शनम्शौ	२।१।४७
रुहः पः	५।२।४७
रुप्यद्योर्यः	३।२।८३
रुप्यहिम्यगुण्याः	४।१।४६
रेरद्वशोः	४।३।१००
रेवत्याष्ठण्	३।१।१३४
रेश्च सुपि	५।४।२४
रैवतिकादेश्छुः	३।३।९६
रोगादपनये	४।२।५४
रोङ्गीतोः प्राचाम्	३।२।१०१
रोऽप्युः	५।१।१५६
रोमन्थतपःशब्दवैरकल-	२।१।१४
रो रि	५।४।१८
रोऽसुपि	५।३।७८
रोति मृगः	३।३।२६
ल	
लः कर्मणि च भावे	२।४।५४

लङ्गणहेवोः	२।२।१०४
लङ्गणेनाभिमुख्येऽभिप्रती	१।३।११
लङो वा	२।४।६१
लट्	२।२।६६
लभेः	५।१।४३
लभतपदस्याभूवृत्पहन-	२।२।१३७
लस्य	२।४।६३
लालारोचनाशकलकर्दमा-	३।२।३
लालाटिककौकुकुटिकौ	३।३।१६७
लिङ्	२।३।१३५
लिङः सीयुट्	२।४।८३
लिङां सोक्तौ	२।३।११०
लिङाशिपि	२।४।६६
लिङोऽनन्त्यसखम्	५।१।१३८
लिङ् चौर्ध्व-	२।३।७; २।३।१४०
लिङ् यदि	२।३।१४४
लिङ्येत्	४।४।६६
लिङ्येतेः	५।२।१३३
लिङ्येदे	५।१।६०
लिङ्हेतौ लृङ्क्रियावृत्तौ	२।३।११५
लिट्	२।४।६५
लिटस्तभ्योरेशिरे	२।४।६७
लिटि वा	१।४।११२
लिटि वेओ यः	४।३।३२
लिटिटी रवेः	५।१।४१
लिङ्स्फात् कित्	१।१।७६
लिङ्चकचि धोः	४।३।७
लिङ्यङोः	४।३।२६
लिङ्वत् कृजि	२।१।३६
लिप्यसिद्धौ	२।३।५
लिक्चविन्दधारिपारि-	२।१।१११
लियोऽधाष्ट्यसम्मानने	च१।२।६६
लियो नुक्	५।२।४६
लुङ्	२।२।९१
लुङि	१।४।५१
लुङ्येत्योर्गाः	१।४।११७
लुङलङ्लुङ्यट्	४।४।७०
लुङ्लियोर्लुङ्	४।४।८१

लुङ्लुङोर्वा	१।४।१२२
लुटि च क्लृपः	१।२।८६
लुटोऽन्यस्य डारौरसः	१।४।१५४
लुपसदचरजभजभदह-	२।१।२१
लूधूसूखनर्तिसहचरइत्रः	२।१।१६२
लृट्	२।३।११
लोकात्	३।४।४४
लोट्	२।३।१३८
लोटो लङ्वत्	२।४।७२
लोडर्लक्षणे	२।३।६
लोमपामादिभ्यां शनौ	४।१।२७
लो मम्	१।२।१५०
लोम्नोऽन्तर्वहिभ्याम्	४।२।११७
लो वा स्नेहद्वये	१।१।४५
लोहितादिसकलान्तात्	३।१।२१
लोहितान्मणौ	४।२।३६
ल्वादेः	५।३।६१
व	
वः कौ	५।१।७३
वक्त्यमुख्यातेरङ्	२।१।४५
वचने गृधिवच्चेः	१।२।६५
वाचिस्वपियजादीनां-	४।३।११
वचोऽशब्दलौ	५।२।६७
वञ्चिलुञ्च्यृत्तृषि-	१।१।६६
वतण्डात्	३।१।९७
वतोरिथुक्	४।१।५
वतोर्वेत्	३।४।२०
वत्साद्वा	३।३।१२
वत्सोच्चाश्चर्षभेभ्यस्त-	४।१।१४६
वदः सुपि क्यप् च	२।१।८६
वदोऽपात्	१।२।६९
वधे प्रतेश्च	४।३।११४
वधे राधेः	४।४।११४
वनं पुरगामिश्रकासिद्ध्वा	५।४।८८
वनहिरण्ये कामे	४।१।६७
वनाऽइशो रश्च	३।१।७
वन्याः	४।४।४२

वयःशक्तिशीले २।२।१०७
 वयसि २।२।१५
 वयसि दन्तस्य दत्तु ४।२।१४२
 वयस्ति तुताः ४।१।६१
 वयस्तुलाभ्यां सम्मिते ३।३।१६६
 वयस्यनन्त्ये ३।१।२४
 वयोवाक्प्राणि जाल्यु- ३।४।११६
 वरणादेः ३।२।६२
 वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्र- ३।१।४२
 वर्गान्तात् ३।३।३६
 वर्जनेऽपपरिभ्याम् १।४।२१
 वर्णहृदादेष्टयण् च ३।४।११३
 वर्णाद् बहुलं तो नस्तु ३।१।३६
 वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम् १।४।८६
 वर्णे नित्ये ४।२।३७
 वर्णौ बुञ् ३।२।६८
 वर्त्यत्यक्तस्य १।४।७३
 वर्त्यत्यवरेऽवधे १।३।११२
 वर्षप्रमाणे २।४।१८
 वर्षस्याभाविनि ५।२।२१
 वर्षादुप् च ३।४।८५
 वलाग्रगस्येत् ५।१।८४
 वलि व्योः खम् ४।३।५५
 वशि ५।१।११४
 वसुसंमुध्वंस्वनड्डां दः ५।३।७६
 वसोऽनूपाध्याङः १।२।११८
 वसोर्जिः ४।४।१२०
 वस्तेर्दञ् ४।१।१५५
 वस्तन्रथविक्रयाद् ३।३।१३६
 वस्तन्रद्रव्याभ्यां ठकौ ३।४।५०
 वस्तदिणो वसुलिणम् २।२।८८
 वहाम्ने लिहः २।२।३५
 वा १।२।६५; १।३।६
 वा कथमि लिङ् च २।३।११६
 वा कदाकह्योः २।३।३
 वा कृजधिः १।४।१६
 वा कृञि १।२।१४१
 वा कोर्यङि ५।२।१६५

वा क्यस्य ४।४।५२
 वाक्यस्य टेः पः ५।३।६०
 वाक्यादेशोऽध्यस्यासूर्या- ५।३।६
 वाऽक्षः २।१।७१
 वा खौ ४।२।१३४
 वागमिङ् १।३।८२
 वाऽगो २।१।२७
 वाऽगोः १।२।३९
 वा गौ १।४।६६
 वाऽग्रेप्रथमपूर्वं २।४।१०
 वा प्राघेदृष्टाशासः १।४।१४७
 वाङ्मिस्त्वोः २।३।४६
 वा ङिश्योः ४।४।१२४
 वाचंयमासूर्यं पश्योग्रं पश्य २।२।३८
 वा चत्वारिंशदादौ ४।३।१६०
 वाचस्तदर्थ्याः ४।२।४१
 वा चित्तविकारे ४।४।८५
 वाचेः ५।२।६३
 वाचो ग्मिन् ४।१।४८
 वा जसि १।१।४०
 वा जभ्रमुत्रसाम् ४।४।११५
 वाऽच्चेरिदक्खियाम् ४।२।१७
 वाऽटा ५।४।५३
 वा व्यङ्ग्यरोगशोके ४।३।१६२
 वाऽऽट्काचितपात्रात् ३।४।५२
 वा तरुमृगतृणधान्यव्य- १।४।८८
 वातातीसाराभ्यां कुक् ४।१।५२
 वाऽतोऽधोर्यकात् ५।२।५१
 वा दिक्सवे १।१।३६
 वा दैन्याक्रोशे ४।४।६०
 वा द्योः ५।२।३१
 वा द्रुहमुहृषुहृष्णिहाम् ५।३।५०
 वा धेः १।२।८२
 वा धेःश्व्योः २।१।४४
 वाऽनघतने हिं ४।१।८६
 वा नपः ५।१।५७
 वाऽनन्वादेशे ५।३।२२
 वा नाम्नः १।१।७१

वा निष्कत्रोपमिश्रशब्दे ४।३।१६७
 वा नीचः ४।३।१६०
 वाऽनुदात्तस्यर्तुङः ४।३।५२
 वाऽनुपि ५।४।६७
 वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थ- ३।१।८३
 वाऽऽपः ४।४।५७; ५।२।१२७
 वा पदस्य ४।३।६४
 वा पदान्तस्य ५।२।१४; ५।४।१३३
 वा परावराभ्याम् ४।१।६५
 वा परे २।३।११४
 वाऽपवदितौ ४।३।१०६
 वा पूर्वापरादह्नात् ३।२।१४०
 वा बहूनां जातिप्रश्ने ४।१।१४८
 वा भादि १।३।८४
 वा मावकरणे ५।४।९४
 वा भावारम्भयोः ५।१।१२३
 वाऽभ्यवात् ४।३।२१
 वाभ्राशभ्लाशभ्रमुक्तु- २।१।६६
 वा मः ४।४।३६
 वाऽमर्त्यं ३।२।१२०
 वाऽमावास्यायाः ३।३।७
 वा मुचो धेरेप् ५।२।१५६
 वा मोः ४।३।१५६
 वा म्योः ५।४।१०७
 वा म्योः खम् ४।४।६८
 वाभ्रासोः ४।४।७५
 वाय्वुपिबृषसो यः ३।२।२६
 वा रोगातपयोः ३।२।३३
 वाऽर्थं द्यौ ४।३।२०६
 वा लिटि १।४।१२७
 वाऽवरस्य ४।१।१०५
 वा वाग्न्ये १।२।७४
 वा विवधवीवधात् ३।३।१४०
 वा विपादे १।२।४६
 वा विशेषवचने बहौ ५।३।२६
 वाऽवृद्धाद्धोः ३।१।१४४
 वावेष्टिचेष्टयोः ५।२।१६३
 वाशि ५।१।११४

वाशिजिह्वाशिनोः के दे४।४।१६५	विन्नस्मायामेधास्त्रजः ४।१।४७	वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ङ्कः ३।१।८७
वाऽशेषात् २।३।११७	विन्मत्तोऽरुप् ५।१।१२४	वृद्धेऽच्यतुप् ३।१।७३
वा श्यावारोकात् ४।२।१४४	विपराजेः १।२।१३	वृद्धोक्षोष्ठोरभ्राजन्य- ३।२।३४
वाऽपान्तेऽकखादौ ५।४।१०१	विपूयविनीयजित्या- २।१।१७	वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत् १।३।५७
वाष्पोष्मफेनादुद्धमे २।१।१३	विप्रसमोऽखौ डुः २।२।१५६	वृषभोपनहो ज्यः ३।४।१३
वा समीपे १।४।६२	विभक्ती १।२।१५७	वृषाकप्यग्निकुसित- ३।१।४०
वाऽसुपि ४।३।८०	विभक्ते का १।४।५०	वृतो वा ५।१।८६
वा सुपो बहुः प्राक्तु ४।१।१२७	विभक्त्यामाष्टनः ५।१।१४३	वेः शालशङ्कटौ ३।४।१४८
वा से ३।१।३५	विभाषा ग्रहः २।१।११७	वेः स्कन्दोऽते ५।४।५५
वाऽस्थः स्फादेः ४।४।६७	विभाषाऽचि ५।३।३६	वेः स्कम्मेः षः ५।४।५९
वा स्वसृपत्योः ४।३।१३७	विभाषाऽन्यत्र ४।३।१०२	वेः स्वार्थे १।२।३७
वाऽस्वाङ्गादेः ३।१।४६	विभाषा लियोः ४।३।४४	वेङि १।४।११६
वा स्मरणल् ५।१।६८	विभाषा लृटः सत् २।३।१३	वेजो वधिः १।४।११३
वाऽऽहिताग्न्यादौ १।३।१०३	विभाषेकोऽस्वे प्रश्च ४।३।१०४	वेञ्च प्रश्नाख्याने २।३।६१
वाहीकग्रामेभ्यः ३।१।६३	विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ५।४।६०	वेटः ५।४।६१
वा हेः पृष्ठप्रत्युक्तौ ५।३।६६	विमुक्तादिभ्योऽण् ४।१।६५	वेतनादेर्जावति ३।३।१३५
वाह्याद् वाहनम् ५।४।९२	विरामे वा ५।४।१३१	वेत्तेः सिद्धसेनस्य ५।१।७
विशंतितात्त्वः ३।४।२९	विरामे विसर्जनीयः ५।४।१६	वेरितः २।१।४९
विशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुरखौ ३।४।२१	विरोधि चानाश्रये १।४।८६	वेर्मैङः ४।४।६९
विंशतेश्च ३।४।१६८	विशिपतिपदिस्कन्दो- २।४।४१	वेवे स्थानान्तात् ४।२।१६
विंशत्यादेर्वा ४।१।१०	विशेषणं विशेष्येणेति १।३।५२	वेश्च स्वनोऽशने ५।४।५०
विकर्णकुपीतकात्का- ३।१।११३	विश्वदेवयोश्च टेर- ४।३।१६८	वैकशालायाष्टः ४।१।१६३
विकर्णशुङ्गलुगलात्- ३।१।१०६	विश्वजनात्मभोगान्तात् ३।४।७	वैकहलि पूर्वे ४।३।१७०
विकुशमीपरेः स्थलम् ५।४।७०	विश्वस्य वसुराटोः ४।३।२२६	वैकाद्वघमुज् ४।१।१०७
विचार्यं पूर्वम् ५।३।९७	विसमाप्तौ क्तोऽनज् १।३।५५	वैनोऽदूरेऽकायाः ४।१।६६
वित्तभित्तदूनगून- ५।३।७४	विसारिणो मत्स्ये ४।२।२३	वैशाखाषाढषष्ठिकैका- ३।४।१०३
विदांकुर्वन्तु वा २।१।३७	वीप्सेत्थम्भूतलक्षणे- १।४।११	वैषमोह्यस्रवसः ३।२।८२
विदाभ्योऽनृधनन्तर्ह्ये- ३।१।६३	वुञ्ज्ण् कठेन्नदण्य- ३।२।६०	वोक्तं न्यक् १।३।६३
विदूराञ्ज्यः ३।३।५८	वुण्णुमौ क्रियायां तदर्थाया २।३।८	वोङ्क्ते ३।१।११
विदेः शतुर्वसुः ५।१।५५	वृकाट्टे ण्यण् ४।२।४	वोदर्ये ४।३।१०४
विदो लटो वा २।४।६९	वृजिमद्रात्कः ३।२।१०६	वोदशिवतः ३।२।१४
विद्भिच्छिदः कुरः २।२।१४५	वृत्तिर्गतायने क्रमः १।२।३४	वोदितः ५।१।१०४
विधिनिमन्त्रणामन्त्र- २।३।१३७	वृद्धचरणाक्छुलाघाऽ- ३।४।१२४	वोदुडो भावारभ्योः शपः १।१।६४
विध्यत्यकरणेन ३।३।१६४	वृद्धचरणाञ्जित् ३।३।९४	वोपकादिभ्यः १।४।१३९
विध्वरुषोस्तुदः सखम् २।२।३७	वृद्धराजाख्येभ्यो- ३।३।७४	वोपदेशेऽल्वदचसृजि- ५।१।१०८
विनञ्भ्यां नाजौ न सह ३।४।१४७	वृद्धलिया क्षेपे णश्च ३।१।४५	वोपयमे १।१।९०
विनयादेष्टण् ४।२।४०	वृद्धस्य ४।१।१२१	वोबुहदिहलिहगुहो दे ५।२।७०
विन्दिच्छू २।२।१५०	वृद्धादङ्कवत् ३।३।५४	वोमोर्णात् ३।३।११७

बोर्णुजः	५।१।८२	शक्ति सहश्च	२।१।८६	शास इत्	४।४।३३
बोर्णोः	१।१।७७ ; ५।२।८८	शक्ति हस्तिकवाटे	२।२।५२	शास्वस्वसाम्	५।४।४०
बोर्धात्	४।२।१३१	शक्तियष्टेष्टीकण्	३।३।१७७	शा हौ	४।४।३५
बो वा किति	४।३।३३	शक्तौ	४।३।६६	शिखाया बलः	३।२।६८
बो विधूनेने जुक्	५।२।४३	शरिङकादेर्ज्यः	३।३।६६	शिखाशालाशम्यूर्णाश्रियां	४।२।८
बोषजायविदात्	२।१।३४	शतमानविंशतिसहस्रवस	३।४।२४	शित्सर्वस्य	१।१।५२
बोशीनरेषु	३।२।६४	शतादस्वार्थेऽसे ठयौ	३।४।१८	शि धम्	१।१।३१
बो कषविचलसकत्थ-	२।२।१२०	शतादिमासार्धमाससंवत्स-	४।१।८	शिरोऽधसे पदे	५।४।३५
व्यः	४।३।३६	शताद्वा	३।४।३२	शिलाया ढः	४।१।१५६
व्यक्तवाक्समुक्तौ	१।२।४४	शदेर्गात्	१।२।५६	शिल्पम्	३।३।१७४
व्यजोऽघञचोः	१।४।१२८	शदोऽगतौ तः	५।२।४६	शिल्पिनि ट्बुः	२।१।११९
व्यञ्जनैरुपसिक्ते	३।३।१४६	शपोऽदादिभ्यः	१।४।१४३	शिवादिभ्योऽण्	३।१।१०१
व्यतुल्याख्या अजात्या	१।३।६४	शब्दकर्मणो वेः	१।२।२६	शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्र-	३।३।६२
व्यथो लिटि	५।२।१६८	शब्दददुरं करोति	३।३।१५६	शीङो गो	५।३।१३०
व्यधमदजपोऽगौ	२।३।६४	शब्दे च	१।२।१२३	शीङोऽधिकरणे	२।२।२०
व्यवहृत्पणोः सामर्थ्ये	१।४।६४	शमित्यामदेर्घिणिन्	२।२।११७	शीङोरट्	५।१।६
व्यस्य वा कर्तरि	१।४।७५	शमित्यामदो दीः	५।२।७२	शीम्बोरात्	५।१।५८
व्याः	२।३।१४७	शमि धोः खौ	२।२।१६	शीर्षच्छेदाद्यश्च	३।४।६३
व्याङश्च रमः	१।२।८०	शम्याष्टलज्	३।३।१०७	शीलम्	३।३।१७६
व्याघ्रैरुपमेयोऽतद्योगे	१।३।५१	शरः खयि	५।२।१६२	शुक्राद् घः	३।२।२१
व्यामिश्रः स्वरितः	१।१।१४	शरद्वच्चुनकदर्भाद्	३।१।६१	शुच्युब्ब्योर्घञि	५।२।५७
व्युङोऽवो हलः संश्च	१।१।९७	शरि सश्च	५।४।२३	शुण्डिकादिभ्योऽण्	३।३।५०
व्युत्तपः	१।२।२२	शर्करादिभ्योऽण्	४।१।१६१	शुद्राग्रान्तशुभवृषव-	४।२।१४५
व्युदः काकुदान्तात्	४।२।१४८	शर्करावा वा	३।२।६३	शुनोऽतेः	४।२।६८
व्युपेशीङोऽन्त्ये	२।३।३७	शर्परे खरि	५।४।२०	शुभ्रादेः	३।१।११२
व्युष्टादेरण्	३।४।६०	शालालुनो वा	३।३।१७३	शुषिपचेः क्वौ	५।३।६७
व्यो खं वा	५।४।५	शश्छोऽटि	५।४।१३७	शुष्कचूर्णभक्षेषु पिषः	२।४।२०
व्रजयजः क्यप्	२।३।८०	शसि	५।१।२५	शूलोखाद्यः	३।२।१२
व्रजवदलोऽतः	५।१।७६	शसो नः	५।१।२५	शृङ्खलकोदरिकसस्यकां-	४।१।१७
व्रते	२।२।६८	शस्त्रजीविसङ्ख्याज्यऽवाही-	४।२।३	शृङ्खलोरावः	२।२।१५२
व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजरा	५।३।५३	शाकलाद्वा	३।३।६६	शूद्रां प्रो वा	५।२।१२४
व्रातस्कादस्त्रियाम्	४।२।२	शाखादेर्यः	४।१।१५७	शौ मुचाम्	५।१।३८
व्रीहिशालेर्दञ्	३।४।१२८	शाच्छासाह्वावेषां युक्	५।२।४२	शेवलसुपरिविशाल-	४।१।१४०
व्रीह्यादेः	४।१।४२	शाच्छोर्विभाषा	५।२।१४५	शेषाद्वा	४।२।१५४
श		शाण्यात्	३।४।३३	शेषे	२।३।१२ ; ३।२।७२
शकलादिभ्यो वृद्धे	३।२।८७	शात्	५।४।१२३	शेषेऽयदौ लृट्	२।३।१२७
शकवृषशालाभटरभ-	२।४।५०	शालातुरकूचवाराच्छण्यौ	३।३।६६	शैषोऽग एव	२।४।९४
शकि लिङ् च	२।३।१४८	शालाद् गोखरात्	३।३।११	शेषौ गुणवचनादेव	४।१।११८

शौ ४।४।१०
 शौनकादिभ्यश्छन्दसि ३।३।७७
 शनसः खम् ४।४।१०१
 शनान्नखम् ४।४।२२
 शन्धुभ्रुवां खोरचीयवौ ४।४।७२
 शयशपः ५।१।५९
 शयाद्विचिदिवोऽस्पर्शापा- ५।३।६५
 शयाद्व्यधासुखंसुलिह- २।१।११४
 शयैनपातातैलपाता ३।२।५०
 श्राद्धं भुक्तं ठोऽनेन ४।१।१८
 श्राद्धे शरदः ३।२।१३२
 श्रिणीमुवोऽगौ २।३।२४
 श्रुवः शृ २।१।७०
 श्रुवोऽनिट् २।२।८९
 श्रुस्मृदशः सनः १।२।५२
 श्रेण्यादि कृतैः १।३।५४
 श्र्युकः किति ५।१।११७
 श्लिषः २।१।४१
 श्लिषशीङ्स्थासवसज- २।४।५७
 श्वगणाद्वा ३।३।१३४
 श्वयुवमधोनोऽहति ४।४।१२१
 श्वसस्तुट् च ३।२।१३५
 श्वसो वसीयसश्च ४।२।८३
 श्वादेरावतः ५।२।१३३
 श्वाशमचर्मणां संकोच- ४।४।१३२
 श्वीदितस्ते ५।१।१२०
 श्व्यस्पद्वचोऽथुक् ५।२।१२८

ष

षट्कृतिकतिपयचतुरां थुक् ४।१।३
 षटोः कः सिः ५।३।५८
 षणि चाणिस्तोरेव ५।४।४१
 षणमासाण्यश्च ३।४।८०
 षत्वेऽसद्रत् ४।३।७४
 षम् १।३।१६
 षष्ठाष्टमाद् भागे जः ४।१।१११
 षात् पदान्तात् ५।४।११४
 षादिहन्धृतराज्ञोऽणि ४।४।१२३
 षिद्भिदादिभ्योऽङ् २।३।८६

षे कृति बहुलम् ४।३।१३२
 षेऽङ्कुर्लेर्मिसंख्यादेः ४।२।८८
 षे ष्यस्य पुत्रपत्योर्जिः ४।३।६
 षोऽन्यः १।४।६५
 षुना षुः ५।४।१२०
 ष्विचुक्लम्वाचमां शिति ५।२।७३
 ष्णान्तेल् १।१।३४
 ष्योऽन्तु रूपान्त्ययो वृद्धे ३।१।६३
 ष्रो नो यः समाने ५।४।८५
 स
 सङ्गोः १।२।६२
 संख्यः २।२।६
 संख्यादी रश्च १।३।४७
 संख्यापरिमाणे ङतिश्च ३।४।१६३
 संख्याबाह्वोऽग्रहगणात् ४।२।६६
 संख्यायाः कोऽतिशतः ३।४।१६
 संख्यायाः पादशतेभ्यो ४।२।१०
 संख्यायाः संख्यासंवत्स- ५।२।२०
 संख्याया अत्रयवे तयट् ३।४।१६४
 संख्याया गुणस्य नि- ३।४।१६६
 संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्व ४।२।२४
 संख्याया विधार्थे धा ४।१।१०६
 संख्या वंशयेन १।३।१६
 संख्याविसायादेरहन् ४।३।२१५
 संख्ये संख्यया भ्यासन्ना १।३।८७
 संख्यैकाद्वीप्सायाम् ४।२।४८
 संज्ञा लुः १।१।२६
 संज्ञो भा १।४।२८
 संवत्सराग्रहायणीभ्यां ३।३।२५
 संशयमापन्नः ३।४।६९
 संसृष्टे ३।३।१४७
 संस्कृतं भक्षाः ३।२।११
 संस्कृतम् ३।३।१२८
 संहारोद्यावानाया- २।३।१०३
 संहितशफलक्षणवामादेः ३।१।५६
 सः १।३।२
 स एषां ग्रामणीः ४।१।१२
 सकृत्स्तम्भे वत्सब्रीह्योरिः २।२।२९

सकथ्यन्निदध्यक्षणामनङ् ५।१।५४
 सकलेशे २।४।४०
 सख्यशिश्वी ३।१।५२
 सख्युरकौ ५।१।६६
 साङ्घाङ्गलक्षणघोषे- ३।३।६५
 सङ्घेऽनुर्द्धे २।३।४०
 सचस्योभौ ५।४।१०५
 सत्यागतास्तोः कारे ४।३।१७९
 सत्सुद्विषद्रुद्वयुजविद- २।२।५६
 सदादरानादरयोः १।२।१३४
 सदित्स्वञ्ज्योः परस्य लिटि ५।४।८४
 सदोऽप्रतेः ५।४।४७
 सद्योद्येषमः परेद्यविपर- ४।१।८८
 सनः क्तिचि खं च ४।४।४७
 सनः पूर्ववत् १।२।५८
 स नप् १।४।१३
 सनाशंसमिक्ष उः २।२।१४६
 सनि १।४।११६; ४।४।४४
 सहिग्रहगुरुश्च ५।१।११८
 सनिमीमाधुरभलभ- ५।२।१५५
 सनीङ् वा ५।१।८६
 सनीवन्तर्द्ध अस्जदम्मु- ५।१।९७
 सनुमः इजादेः ५।४।१११
 सन्कचोर्णौ ४।३।२८
 सन्तस्फमहतोः ४।४।७
 सन्धौ ४।३।६०
 सन्निविभ्योऽर्द्धे ५।१।१२७
 सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं १।३।५६
 सन्यङोः ४।३।८
 सन्यतः ५।२।१७७
 सन्निटोर्जेः ५।२।६२
 सपल्यादौ ३।१।३४
 सपूर्वात् ४।१।२१
 सपूर्वाया वायाः ५।३।२३
 सप्रहचारी ४।३।१६३
 सप्रहचर्यादेः ४।४।१३१
 सभाऽराजामनुष्यात् १।४।६९
 समः २।१।६८

समः समि	४।३।१६६
समजनिषदनिपदमन-	२।३।८१
समयस्तदस्य प्राप्तम्	३।४।९७
समयासपत्रानिष्पत्रा-	४।२।६४
समर्थः पदविधिः	१।३।१
समर्थात् प्रथमाद् वा	३।१।६७
समवायात् समवैति	३।३।१६४
समवाये	४।३।१११
समां समां विजायते	३।४।१३७
समानस्य स ज्योतिर्ज-	४।३।१६२
समानोदरे शयितः	३।३।२०८
समापनात्सादेः	३।४।८२
समायाः खः	३।४।१०५
समिपृचिसृजिवरः	२।२।१२४
समि सुष्ठौ	२।३।३५
समियुद्रुवः	२।३।२२
समुदः	५।३।७१
समुदाङ्यमोऽग्रन्थे	१।२।७०
समूले हनश्च	२।४।२३
समूहवच्च बहुषु	४।२।२६
समोऽकृजे	१।२।१६
समो गम्पच्छिस्वृच्छि-	१।२।२४
समो भया	१।२।५०
सम्पदा चाभिधिधौ	४।२।५८
सम्पर्युपात्तजः सुङ्भूषे	४।३।११०
सम्पादिनि	३।४।६३
सम्प्रति	२।२।१०१
सम्प्रतेरस्मृतौ	१।२।४२
सम्प्रत्यः	३।१।१२६
सम्प्रदानेऽप्	१।४।२३
सम्प्राज्जानुनो ज्ञः	४।२।१३०
सम्प्रोदश्च कटः	३।४।४६
सम्प्रोधने	२।२।१०३
सम्प्रोधने बोध्यम्	१।४।५५
सम्भवत्यवहरति पचति	३।४।५१
सम्भावनेऽलमि स्थानि	२।३।१३०
सम्मानतोऽसञ्जनोपनयन	१।२।३१
सम्नाट्	५।४।९

सरजसोर्वैष्टीवपदष्ठीवा-	४।२।७६
सरोरिजादेः	२।१।३२
सरोऽनोऽश्यामायसः	४।२।९६
सरोर्हलः	२।३।८५
सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः	२।२।४०
सर्वचर्मणः कृतः	३।४।१३०
सर्वत्राग्निक्लिभ्यां ढण्	३।२।२८
सर्वनाम्नः स्मै	५।१।१२
सर्वनाम्नः स्थाट् प्रश्च	२।१०९
सर्वनाम्नो भा च	१।४।३६
सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण्	३।४।४१
सर्वस्य द्वे	५।३।१
सर्वस्य सो वा दि	४।१।८१
सर्वाण्यो वा	३।४।८
सर्वात्	३।४।४५
सर्वादिः सर्वनाम	१।१।३५
सर्वाङ्गीनानुपदीनायान-	३।४।३४
सर्वैकाभ्यां खः	३।३।१६३
ससजुषो रिः	५।३।७६
सस्थानक्रियं स्वम्	१।१।२
सस्तौ प्रशंसे	४।२।४६
सस्मे लङ् च	२।३।१५२
सस्तेऽयुस्थस्य	५।४।३३
सहनञ्चविद्यमानाद्	३।१।५०
सहस्य सः खौ	४।३।१८६
सहस्य सन्निः	४।३।२०१
सहार्थेन	१।४।३०
सहिवहोऽस्त्यौः	४।३।२१७
सहे	२।२।८३
सहेति तुल्ययोगे	१।३।६१
साक्षादादिः	१।२।१४३
सात्	५।४।७७
सात्तद्विषयात्	४।१।१६०
सादेः	३।१।१२६
साद्रा कास्त्ये	४।२।५७
साधकतमं करणम्	१।२।११४
साधनं कृता बहुलम्	१।३।२६
साधने स्वार्थे	१।२।१५३

साधुनिपुरोन्नार्चामीवप्रते	१।४।५१
सान्ताः	४।२।६५
साम आकम्	५।१।२९
सामान्येनोपमानम्	१।३।५०
सामि	१।३।२४
सायश्चिरं प्राहुर्योगे-	३।२।१३६
साल्वावयवप्रत्यग्रथ-	३।१।१५४
साल्वेयगान्धारिभ्याम्	३।१।१५१
सावञ्जेः	५।१।१३०
सावनडुहः	५।१।६०
सावैम्मे	५।१।७७
साऽस्मिन् पौर्णमासीति	३।२।१६
साऽस्य देवता	३।२।१९
सिक्ताशर्कराभ्याम्	४।१।३१
सिचो यङि	५।४।७८
सिति	१।२।१०५
सिद्धशुष्कपक्ववन्धैः	१।३।३६
सिद्धिरनेकान्तात्	१।१।१
सिद्धौ भा	१।४।५
सिद्धादेः	४।१।२५
सिध्यतेरज्ञाते	४।३।४२
सिन्ध्वपकरादण्	३।३।४
सिन्ध्वादेरणा	३।३।६७
सिपि रिवा	५।३।८१
सिर्लुङि	२।१।३८
सिलिङ् दे	१।१।८५
सिबुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्	५।४।५२
सिस्थसीयुट्तासौ डौ	४।४।६१
सुः पूजायां न गिति	१।४।७
सुकर्मपापमन्त्रपुरये कृञ्	२।२।७६
सुखदुःखयोर्वा कृच्छे	५।३।११
सुखादेः	४।१।५४
सुखादेः स्वभोगे	२।१।१५
सुचः	५।४।२१
सुजः स्थसनोः	५।४।८३
सुजो यज्ञसंयोगे	२।२।११०
सुटि पूर्वस्वम्	४।३।८६
सुट् तथोः	२।४।८७

मुडनपः	१।१।३२	सोटः	५।४।८१	स्थानीवादेशोऽनत्विधौ	१।१।५६
सुधातुरकङ् च	३।१।८६	सोमवरुणोऽग्नेरीः	४।३।१४०	स्थानेऽन्तरतमः	१।१।४७
सुपश्च	१।२।१५६	सोमाट्स्थगु	३।२।२५	स्थादेशेन चस्य	५।४।४४
सुपि	२।२।७; ५।२।६७	सोमे सुजः	२।२।७७	स्थासेनयसेधसिचसञ्ज-	४।४।४६
सुपि शीलेऽजातो णिन्	२।२।६६	सोर्द्धिति	५।२।१०६	स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः	५।४।१३५
सुपीकोऽचि	५।१।५२	सोऽस्य निवासः	३।३।६३	स्थूलदूरयुवहृस्वक्षिप्र-	४।४।१४७
सुपो भेः	१।४।१५०	सौ	४।४।११	स्थूलादिभ्यः प्रकारोक्तौ	४।२।११
सुपो धुमृदोः	१।४।१४२	सौ मे	५।१।८८	स्थेण्पिबसुभूयः सेमे	१।४।१४६
सुण्योः	४।४।७८	स्तबेरमकर्णैजपौ	२।२।१८	स्थेशभासपिसकसो वरः	२।२।१५४
सुप् सुपा	१।३।३	स्तम्बुसिबुसहां कचि	५।४।८२	स्योऽवविप्राच्च	१।२।१७
सुभगाद्यस्थूलपलित-	२।२।५४	स्तम्बुस्तुम्बुस्कुम्बु-	२।२।७७	स्नेहने पिषः	२।४।२७
सुम्भिडन्तं पदम्	१।२।१०३	स्तम्भेः	५।४।४८	स्नोर्दाथ्यात्	५।१।१११
सुयजोर्वनिप्	२।२।८६	स्तुते भ्रातुः	४।२।१५७	स्नोश्च जिश्च	२।१।५६
सुराशीव्योः पिबः	२।२।१२	स्तुत् सोमौ चाग्नेः	५।४।६५	स्पद्धं परम्	१।२।६०
सुप्रामादिषु च	५।४।७२	स्तुशासिण्वृडुलुपः क्यप्	२।१।१९१	स्तृशमृशकृषतृपहपो वा	२।१।३९
सुसंख्यादेः	४।२।१४०	स्तुसुधूजो मे	५।१।१३१	स्तृशोऽनुदके क्विचः	२।२।५६
सुसर्वाद्धाष्टस्य	५।२।१७	स्तैयसख्ये	३।४।११६	स्तृहिगृहिपतिदयि-	२।२।१४१
सुहरिततृणसोमाज-	४।२।१२६	स्तोः श्चु ना श्चुः	५।४।११६	स्काहतोऽसुटः	५।१।६१
सुहृदुदुह् दौ मित्रा-	४।२।१५०	स्तोकात्तिकदूरार्थकृच्छ्रं	१।३।३४	स्कादेः स्कोऽन्ते च	५।३।४६
सुक्तसान्नोश्छः	४।१।६३	स्तोके प्रतिना	१।३।७	स्कादेरातो धोर्षणवतोऽ	५।३।६०
सूत्रात्कोडः	३।२।५५	स्त्रियाः	४।४।७४	स्काद्यत्योरस्फुरेप्	५।२।१३८
सूत्रेऽस्मिन् सुबिधि-	५।२।११४	स्त्रियां क्तिः	२।३।७५	स्कान्तस्य खम्	५।३।४१
सुभवत्योर्मिडि	५।२।८६	स्त्रियां खौ	४।२।१४३	स्कायः स्फीस्ते	४।३।१७
सूर्पाद्वा	३।४।२५	स्त्रियाम्	३।१।३	स्कायो वः	५।२।४८
सूर्यागस्त्ययोश्छे च	४।४।१३८	स्त्रियामुप्	३।१।६८	स्फुरिस्फुत्योर्ध्वि	४।३।४०
सुघस्यदः कमरः	२।२।१४३	स्त्री	१।२।६३	स्फुरिस्फुत्योर्निर्निवेः	५।४।५८
सुजीणनशः क्वरप्	२।२।१४६	स्त्रीगोर्नीचः	१।१।८	स्फेरः	१।२।१००
सुजुज्वलगृधशुचलष-	२।२।१३२	स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुंसनहु-	४।२।७३	स्मिडः	४।३।५०
सुस्थिरे	२।३।१६	स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्	३।१।७२	स्मिपूड्रञ्ज्वशः सनि	५।१।१३३
सेऽङ्गुले सङ्गः	५।४।६२	स्त्रीभ्यो ढण्	३।१।१०६	स्मृहृत्वरप्रथमस्तृत्पशो-	५।२।१६२
सेटि	४।४।१११	स्त्रोऽयश्चे	२।३।३०	स्मे	२।२।१००
सेधो गतौ	५।४।७९	स्युक्तपुं स्कादनूरेथार्थे	४।३।१४६	स्मे लोट्	२।३।१४१
सेनान्तलक्षणकारिभ्य	३।६।१४०	स्यः	२।२।८	स्मदर्थदयेशां कर्मणि	१।४।५६
सेनाया वा	३।३।१६६	स्थः कः	२।२।६४	स्यगे सः	५।२।१५१
सेनोसुराच्छायाशाला-	१।४।१०१	स्थ इत्	५।२।११८	स्यतासी लुलुटोः	२।१।३०
सेर्ह्यपिच्च	२।४।७४	स्यागापापचो भावे	२।३।७८	स्यदाबोदैधौन्नप्रश्रयहिम-	४।४।२८
सेवलसुपरिविशाल-	४।१।१४०	स्थाण्डिलः	३।२।१०	स्यसनोर्दृभ्यः	१।२।८८
सोः प्रातर्दिवाश्वसः	४।२।१२०	स्थानान्तादुप्	३।३।१०	स्यसौ कृतचृत्तच्छद-	५।१।१०५

स्येनाब्दस्याब्देः	५।१।१०	ह्नो वध लिङि	१।४।११४	हिमकाषिहतौ	४।३।१६५
सुश्रुद्प्लुङ्च्युङो वा	५।२।१७६	हन्तेरघः	५।४।१०६	हि म्परे वा	५।४।१०
स्वतन्त्रः कर्ता	१।२।१२५	हन्तेर्जः	४।४।३६	हिम्योर्नुनोः	५।४।१०२
स्वनहसोर्वा	२।३।६५	हरत्युसङ्गादेः	३।३।१३८	हीने	१।४।१५
स्वपितृषोर्नाजिङ्	२।२।१५१	हरिताद्यञः	३।१।८९	हीयमानपापयोगात्	४।२।५२
स्वपितृमित्रेणां यङि	४।३।१५	हरीतक्यादेः	२।३।१२४	हुङ्गल्भ्यो ह्येर्धिः	४।४।६४
स्वयं क्तेन	१।३।२२	हलः	२।३।१०२; ४।४।२	हुस्तुवोर्गेवः	४।४।८२
स्वरतिषूङ्धूङ्स्व्यूदितः	५।१।६२	हलन्तात्	१।१।८४	हुक्रोर्न वा	१।२।१२४
स्वरितेनाधिकारः	१।२।५	हलश्चेजुङः	५।४।११०	हुजोऽनुत्सेधे	२।२।१४
स्वसखि	१।२।६७	हलसीराट्ठण्	३।३।६२	हुतः	३।१।६१
स्वसुरङ्गः	३।१।१३२	हलामचः	५।१।७८	हुति चैका	४।३।१७४
स्वसुरङ्गणः	३।१।१२१	हलि	४।३।१२६; ५।४।६	हुत्यचामादेः	५।२।५
स्वसृनप्तुनेष्टृत्वष्टृक्षतृ	४।४।८	हलि खम्	५।१।१७१	हुत्सिन्धुभगे द्वयोः	५।२।२४
स्वागातादेः	५।२।१२	हलुङः क्ठित्यनिदितः	४।४।२३	हुदयस्य हुल्लेखयाण्	४।३।१६१
स्वाङ्गाद्विक्षिप्तकथनः	४।२।११३	इलोऽनन्तराः स्फः	१।१।३	हुदर्थद्युसमाहारे	१।३।४६
स्वाङ्गान्नीचोऽस्फोडः	३।१।४७	हलोऽनादेः	५।२।१६१	हुदुप्युप्	१।१।६
स्वाङ्गोतस्ये कृसुवः	२।४।४६	हलो यः	४।४।५१	हुष्टापचितौ	५।१।१२५
स्वाङ्गेऽश्रुवे	२।४।३९	हलो यमां यमि खम्	५।४।१३८	हुसोऽवे	२।१।११५
स्वाङ्गेषु प्रसिते	४।१।१३	हलो हुतो ङयाम्	४।४।१४०	हुेऽकाले	४।३।१८६
स्वादावधे	१।२।१०६	हल्ङयापो घः सुसिप्य	४।३।५६	हेतावनुना	१।४।१३
स्वादुमि णम्	२।४।१२	हल्यभकुर्ङुरः	५।३।८६	हेतुफलयोर्लिङ्	२।३।१३२
स्वादेः श्नुः	२।१।६६	हल्यभोरीः	४।४।१०३	हेतुमति	२।१।२४
स्वाभाविकत्वाभिधान-	१।१।१००	हल्यस्तेः	५।२।६३	हेतुमनुष्याद् वा रूप्यः	३।३।५५
स्वामीश्वराधिपति-	१।४।४७	हल्येतत्तदोरनञ्सेऽकोः	४।३।१०६	हेतौ	१।४।३२
स्वार्थे	२।१।४२	हल्येप्	५।२।८६	हेमन्तात्तखम्	३।२।१३८
स्वार्थे लुभात्	५।१।१०२	हल्यैबुप्युतः	५।२।८७	हेरकचि	५।२।६१
स्वीकृतानुपाद्यमः	१।२।५१	हचिरपूपादेर्वा	३।४।३	हे शरदादेः	४।२।१०६
स्वीषद् दुसिकृच्छाङ्क-	२।३।१०३	हशश्वतोर्लङ्	२।२।९६	हैदेप्रयोगे हैहयोः	५।३।६३
स्वेको दीः	४।३।८८	हश्च	१।४।६४	हो ढः	५।३।४८
स्वेपः क्यच्	२।१।६	हस्तादाने चेरस्तेये	२।३।३८	होत्राम्यश्छः	३।४।१२५
स्वेषु पुषः	२।४।२६	हस्ते पाणौ स्वीकृतौ	१।२।१४६	हो हन्तोर्णिनि	५।२।५९
स्वोवामौ	२।४।७७	हस्ते वतिर्ग्रहः	२।४।२५	हौ हलः शनः शानः	२।१।७८
स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्-	३।१।२	हाकः	४।४।१०६	ह्यक्षणाश्वसजाग्रपिश्वे-	५।१।८१
ह		हाकः क्त्व	५।२।१४७	ह्रस्वे	४।१।१४२
हः	१।३।४	हात्	१।४।१५१; ३।३।३४	ह्रस्वदस्ते	४।४।८६
हनः सिः	१।१।८८	हायनः	२।१।१२१	ह्वालिप्सिचः	२।१।४६
हनश्च वधः	२।३।६३	हायनान्तयुवादिभ्योऽण्	३।४।१२०	ह्वावामः	२।२।२
हनस्तोऽजिणलोः	५।२।३६	ह्रितार्थादेकर्मकात्	२।३।३४	ह्यो जिः	४।३।२९
हनिङ्गाम्यचां सनि	४।४।१४	हितमस्मै भक्षाः	३।३।१८३	ह्यो जिश्च न्यभ्युपविषु	२।३।५९
हन्तः स्ये	५।१।१२९				

जैनेन्द्रवार्तिकानामकारादिक्रमः

अ		अनौ कर्मणि वाच्यभिधानम्	२।२।८४
अकाकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्	१।४।७९	अन्तशब्दस्य अ(सा)ङ्ङिविधिनत्वेषु गिसञ्ज्ञोक्ताः	३।२।०२
अकृतसन्धीनां शेवलादीनामिति वक्तव्यम्	४।१।१४०	अन्तादिमो वक्तव्यः	३।२।१३६
अकप्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः	४।१।१३०	अन्नन्तस्य नखं स्त्रियां वा वृत्तिः	१।४।६३
अक्षादूहिन्यामैव्वक्तव्यः	४।३।७५	अन्यत्रापि दृश्यते	१।४।३
अग्रेरस्त्युत्पत्योर्वचनम्	२।१।४५	अन्यस्मिन्नपि वाचि दृश्यते कारकान्तरेऽपि च	२।२।८४
अग्नीधः शरणे वाच्ये रण् वक्तव्यो भसञ्ज्ञा च	३।३।८८	अन्यादेष्टव्यं वक्तव्यः	३।२।१२६
अग्रग्रामाभ्यां नियो गत्वम्	५।२।११०	अन्येभ्योऽपि भवतीति वक्तव्यम्	४।२।१४५
अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्	२।२।२३	अपुरीति वक्तव्यम्	४।१।४२
अग्रपश्चाद्भिः	३।२।६१	अप्राणयज्ञादिति वक्तव्यम्	४।१।५१
अङ्गात्रकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः	३।१।४७	अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः	४।३।१२७
अजातैरिति वक्तव्यम्	१।१।९८	अप्सुमिति चाखौ वक्तव्यम्	४।३।१२७
अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानं नपुं सके क्तादिनि- वृत्त्यर्थम्	२।३।५२	अभयाच्चेति वक्तव्यम्	२।२।४१
अयाद्याशोकाकोटापोटासोटाप्रुष्टाभ्योऽपीति केचित्	२।१।१४	अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेभूपसंख्यानम्	
अणिओरण्याह्वणगोत्रमात्राद्युत्पत्योपसंख्यानम्	३।१।१३		१।४।३
अण् प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।९०; ४।१।१८	अभ्यर्हितस्य च	१।३।१००
अण् प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्	४।१।३०; ४।१।५०	अरण्याण्यो वक्तव्यः	३।२।१०७
अतन्निमित्तादपि समाहारलक्षणाद् राटुब् वक्तव्यः	३।४।२६	अर्णसः खं च	४।१।३५
अत्यन्तापह्वे लिङ् वक्तव्यः	२।२।६५	अर्थातिदेशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता सिद्धा	१।१।६८
अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे इपा	१।३।८१	अर्थाद्वाऽसन्निहिते वर्त्तमानादिन्वक्तव्यः	४।१।५६
अत्र ग्रामग्रहणे नगरस्यापि ग्रहणम्	५।२।१६	अर्थाच्चेति वक्तव्यम्	३।४।२२
अत्राभिपञ्चकस्येति वक्तव्यम्	५।४।२६	अर्थे चोत्तरपदे केवलस्यार्थस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।९७
अवर्थेषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।२।१२२	अर्थोत्तरपदस्य च दिक्छब्दस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।६७
अधर्मोच्चेति वक्तव्यम्	३।३।६२	अर्हतो नुम् च	३।४।११४
अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्	४।१।१०६	अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्	३।४।१४६
अधिकरणे प्यखे का वक्तव्या	१।४।३७	अल्पाच्च मेधाया इति वक्तव्यम्	४।२।१२४
अनजादौ द्वितीयादयः परस्य वा खं वक्तव्यम्	४।१।३६	अल्पीत्वादेरिति वक्तव्यम्	४।३।२२२
अनजादौ वा द्युखम्	५।२।५१	अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः	१।४।३८
अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः	३।२।५३	अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे भया	१।३।८१
अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम्	३।२।५२	अवादिभ्यस्तेरिति वक्तव्यम्	२।१।११४
अनुसूलदयलक्षणेभ्यश्च ठण्	१।१।१६५	अवाधयोः (अवोऽधसोः)सखञ्चेति वक्तव्यम्	३।२।१२८
		अवान्तरदीक्षादिभ्यो ङिन्वक्तव्यः	३।३।८७
		अष्टनः कपाले हविष्यात्वं वक्तव्यम्	४।३।१६०
		अष्टनः कपाले हविषि वक्तव्यम्	४।३।२२७

अष्टाचत्वारिंशतो डबुडिनौ च वक्तव्यौ ३।४।८७
 अस्मिन्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य
 उपसंख्यानम् ३।३।१५६
 अहो रिबिधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यानम् ४।२।८६; ५।३।७७;

आ

आख्यातमाख्यातेन सातत्ये १।३।६६
 आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः २।१।२४
 आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च ३।२।५२
 आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुपस्थापतिः
 प्रकृतिवच्च कारकमिति २।१।२४
 आङ्निनवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्याश्याम् २।१।२४
 आङ्पूर्वादञ्जेः सञ्ज्ञायां क्यवक्तव्यः २।१।६१
 आचारे सर्वमुद्भयः भिब्व्वा भवतीत्येके

२।१।६; ४।३।१८०

आचार्यदणत्वं च ३।१।४२
 आदिभ्य उपसंख्यानम् २।४।४६
 आदेशचेति वक्तव्यम् ३।२।१२८
 आपदादिपूर्वपदकालान्ताद् ठञ्जिठौ वक्तव्यौ ३।२।६२
 आर्यक्षत्रियाभ्यामपुंयोगे वेति वक्तव्यम् ३।१।४२

इ

इज उपसंख्यानमजात्यर्थं कर्तव्यम् ३।१।५५; ३।१।६६
 इसवदिकः ५।१।१०६
 इन्प्रकरणे बलाद्ग्राह्यपूर्वाहुपसंख्यानम् ४।१।५६
 इन्दिब्रबन्धातिस्थेषु च न भवति ४।३।१३२
 इवोपमानपूर्वस्य ध्रुवं वा ४।२।१६
 इषोऽनिच्छायां युज वक्तव्यः २।३।८६
 इह तदस्मै दीयते इति वक्तव्यम् ३।४।४६
 इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्य राजन्य-
 पत्यवदिति वक्तव्यम् ३।१।१५५

ई

ईकण् च ३।१।७०
 ईबुपमानपूर्वस्य ध्रुवं वक्तव्यम् १।३।८६
 ईयसो भसे पुंवद्भाववचनम् ४।२।१५६
 ईयसो भसे प्रतिषेधो वक्तव्यः १।१।८
 ईर्ष्यैतस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम् ४।३।३

उ

उगन्तादियेल्योः खं वक्तव्यम् ४।१।१३६

उगित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति
 वक्तव्यम् १।१।६७

उत्तानादिषु च कर्तृषु २।२।२०
 उत्पातेन ज्ञायमानेऽवक्तव्या १।४।२६
 उदीच्यग्रामात् प्रस्थद्योरण् वक्तव्यः ३।२।९०
 उपध्मानीयस्य सत्त्वं वक्तव्यं द्वित्वप्रतिषेधश्च ५।४।२६
 उपमानात् पक्षपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम् ३।१।४८
 उपबन्नादिभ्य उपसंख्यानम् ३।४।९९
 उप् स्थामान्तदजिनान्ताच्च वक्तव्यः ३।३।३५
 उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः ४।३।७३
 उभसर्वतसोः कार्यो धिगुपर्यादिषु त्रिषु । कृतद्वित्वेधि-
 पा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥ १।४।३
 उवर्णादिलस्य च खं वक्तव्यम् ४।१।१३९
 उसाख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम् ३।३।६१

ऋ

ऋकारलृकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या १।१।२
 ऋकारान्तलृवादिभ्यः क्तिस्तवद्भवतीति वक्तव्यम् २।३।७५
 ऋणदशप्रवत्तरकम्बलवसनानामृणे ४।३।७६
 ऋतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण
 वक्तव्यम् १।३।१००
 ऋते भासे ४।३।७६

ए

एकधुराशब्दात्स्वोस्वक्तव्यः ३।३।१६३
 एकाक्षरपूर्वपदानां धोः खं वक्तव्यमषष्ठः ४।१।१३९
 एचो द्वितीयत्वे तदादेः खं वक्तव्यम् ४।१।१३६
 एवे चानियोगे पररूपम् ४।३।८१
 एहीडादयोऽन्यपदार्थे १।३।६६

ऐ

ऐब्दीत्वाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन ४।४।५०

ओ

ओचोऽप्सरसोर्नित्यं पयस्तु विभाषया सखम् २।१।६
 ओत्वोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते ३।१।४८; ४।३।८१
 ओदनशब्दाद्वक्तव्यः ३।३।१८२
 ओनयत्यादेः कचप्रतिषेधो वक्तव्यः २।१।४३

क

कष्वादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति ४।३।३
 कबरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम् ३।१।४८

कम्बलश्चौप्रा कृणोऽर्थे (कम्बलाच्च प्राकटणोऽर्थे)	
नित्यं यो वक्तव्यम्	३।४।३
करणादिति वक्तव्यम्	३।४।३५
करणे स्तोकात्पक्वच्छ्रुतिपयेभ्योऽसत्त्ववचनेभ्यो	
भाके वक्तव्ये	१।४।४१
कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वं सवच्च बहुलम्	५।३।६
कायामजातावभिधानम्	२।२।८४
कायुक्तात्परादन्वनो वा वेप् च वक्तव्ये	१।४।३७
कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसञ्ज्ञा ह्यकर्मणाम्	३।३।१५८
कालभावाध्वभिः कर्मभिः सकर्मकवद्भवति	२।४।५८
किमो वा त्रौ कद्वक्तव्यः	४।३।२०७
कुत्सायामयं योगो वक्तव्यः	४।१।४९
कुत्सायामिति वक्तव्यम्	२।२।८०
कुलकुक्षिप्रीवाभ्यो यथासख्यं श्वास्यलङ्कारेष्विति	
वक्तव्यम्	३।२।७५
कुलिजस्यपि प्रतिषेधो वक्तव्यः	५।२।२२
केवलाभ्याञ्चेति वक्तव्यम्	३।४।३०
कृष्णोदकपाण्डुपूर्वाया भूमेरत्योऽयमिष्यते । गोदा-	
वर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥	४।२।७१
कल्पयर्थशुभ्रप्रयोगेऽवक्तव्या	१।४।२६
कस्येन्विषयस्य कर्मणीब् वक्तव्या	१।४।४४
क्रियाविशेषणविवक्षायां भाके न भवतः	१।४।४४
क्रोशशतयोजनशतशेरुपसंख्यानम्	३।४।७०
क्लिन्नस्य चिल्पिलौ लश्चत्तुषीति वक्तव्यम्	३।४।१५४
क्वचिद्दृष्टे सामनि जाते चार्थे योऽन्योऽण्	
विधीयते स च द्विद्वतीति वक्तव्यम्	३।२।७२
क्वपिवचिप्रच्छायातस्तुकटपुजुश्रीणां दीरजिश्च	२।२।१५७
क्षुद्रजन्तूपतापाभ्यां चेष्ट्यते	४।१।२५

ख

खय उत्तरस्य शरोऽपि	५।४।१२७
खलादिभ्य इन् वक्तव्यः	३।२।४४
खुरखराभ्यां वा नस् वक्तव्यः	४।२।११८

ग

गच्छतौ परदारादिभ्य इप्समर्थेभ्यः	३।३।१५६
गृजाञ्चेति वक्तव्यम्	३।२।३७
गणिकायाः यञ्च वक्तव्यः	३।२।३५
गत्यर्थानां चेष्टायामसम्प्राप्तावुभे	१।२।१११

गमयतेः कालहरणे	१।२।१४
गमादीनां डखमिष्यते	४।३।२९९
गम्भीरवहिर्देवपञ्चजनेभ्य इति वक्तव्यम्	३।३।३३
गवे च युक्ते	४।३।२२७
गवे च युक्ते अष्टनः आत्वं वक्तव्यम्	४।३।१६०
गान्धार्यादिभ्यो वेति वक्तव्यम्	३।२।४५
गुणक्रियाछायासादृश्ये हसो वक्तव्यः	१।३।६
गुणवचनात्त्वलोः	४।३।१४७
गुणवचनेभ्यो मत्वर्थीयस्योवक्तव्यः	४।१।२३
गृह्णात्युञ्चेति वक्तव्यम्	४।१।११
गेरस्यत्यूहोर्वेति वक्तव्यम्	१।२।२४
गोष्ठादयस्या स्थानादिषु पशूनामिति वक्तव्यम्	३।४।१५०
ग्रामाञ्चेति वक्तव्यम्	३।२।७५
ग्लाज्याहाभ्यो निः स्त्रियां वक्तव्यः	२।३।७५
घ	
घञर्थे कविधानम्	५।२।६८
घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनिषुध्यर्थं	
कर्तव्यम्	२।३।५२

ङ

ङ्यापोर्दीत्वं न स्थानिवत्	५।२।१००
----------------------------	---------

च

चतुरश्छायावाद्यक्षरशु (स्य) खं	
चेति वक्तव्यम्	४।१।३
चतुर्थादचः परस्य खं वक्तव्यम्	४।१।३६
चतुर्मासाण्ये यज्ञे तत्रभवे वक्तव्यः	३।४।८७
चतुर्हयनी वयसि द्रष्टव्या	५।४।११७
चरणाद्धर्माभ्यायोः	३।२।३८
चरणाद्धर्माभ्यायोरैवेष्ट्यते	३।३।६४
चरेराङि चागुराविति वक्तव्यम्	२।१।८७
चातुर्मास्यानां यत्वं च डबुडिनौ च वक्तव्यौ	३।४।८७
चित्रीकरणे च प्राप्त्यर्थे णिच् वक्तव्यः	२।१।२४
चिरपरस्परारिभ्यस्तनो वक्तव्यः	३।२।३६
चीवरादर्जने परिधाने वा	२।१।१७
चुलादेशश्च वक्तव्यः	३।४।१५४
चूर्णादिन्वक्तव्यः	३।३।१४७

ज

जदाघटाकालेभ्यः क्षेपे	४।१।२५
जम्बा हरीतक्यादिषु च उप्ति लिङ्गमेव उक्तवद्-	
भवति न वचनम्	३।३।१२४

जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ये कर्तारं चाभिधाति	१।३।६६
जागर्तेशौ वक्तव्यौ	२।३।८३
जातान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।१।४५
जिज्ञासावैरूप्यार्जवनिशानेषु यथाक्रमं सन्निध्यते	२।१।४
जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव	१।१।७१
जीवितपरिणाम इति च वक्तव्यम्	३।४।५६
ज्योत्स्नातमिलाभ्यां णिद् भवति पक्षे	४।१।५०

झ

झिसंख्यादेरिति वक्तव्यम्	१।४।१०७
झिसंज्ञकस्य भमात्रे टिल् च वक्तव्यं सायम्प्राति-	
काद्यर्थम्	४।४।१४२
भोर्ममात्रे टिल्	१।४।८५; ४।२।१२०; ५।२।१६

ञ

जियकोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिग्रूजां ढविधौ धीनां	
चोपसंख्यानं कर्त्तव्यम्	२।१।५६

ट

ठण् लुप्तोश्च	४।३।१४७
ठण् प्रकरणे तदस्मिन्वर्त्तते इति नवयज्ञादिभ्य उप-	
संख्यानम्	३।२।३०
ठेनोः समानकालग्रहणं वक्तव्यम्	४।१।१९

ड

डटो वा उव्वक्तव्यः	४।१।११
डट् स्तोमे वक्तव्यः	३।४।१५८
डुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीनामुपसंख्यानम्	२।२।१५६

ढ

ढेऽपि क्वचिद् पुंवद्भावो वक्तव्यः	४।३।१४७
-----------------------------------	---------

ण

णत्वविधौ गेर्नस उपसंख्यानम्	४।२।११९
णिश्चिन्थिग्रन्थिग्रूजां ढविधौ धीनाञ्च	२।१।४३

त

तः पूर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे	४।१।५६
तच्चरतीति च महानाम्यादिभ्य उपसंख्यानम्	३।४।८७
ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम्	३।४।७०
तदन्ताद्वेति वक्तव्यम्	४।१।५६
तनिपतिदरिद्रां वेट्	५।२।१५५
तपसो मञ्चेति वक्तव्यम्	२।१।१४

तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य खं वक्तव्यम्	४।१।१४२
तलन्तस्य ङिक्योरुभयम्	५।२।१०२
तसादिषूभशब्दस्य उभयादेशो वक्तव्यः	४।२।९१
तसिप्रकरणे आयादिभ्य उपसंख्यानम्	४।२।४६
तस्य हृत्यटे	३।४।२६; ३।१।४
ताभ्यामेव पितरि ङामहः	३।२।३१
तीयान्तात्स्वार्थे वा ईकण् वक्तव्यः	३।२।८
तुरभुजयोश्च	२।२।४५
तृप्यर्थे तूपसंख्यानम्	१।३।७५
तृप्यर्थे योगे उपसंख्यानम्	१।२।३०
तेन वाक्किदम्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्	४।३।१३३
त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य एत्वमपि वयसीष्यते	३।१।१४
त्रिप्रभृतिषु न भवति	५।४।१२७

द

दाणश्च सा चेदवर्थेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्	१।२।५०
दिक्लृब्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः	४।१।६६
दिक्पूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्यः	४।१।९७
दिग्धसहपूर्वाच्च अत्यो भवति	२।२।२०
दुःशब्दे वाचि शासियुषिदृशिधृषिमृषिभ्यः युज्	
भवति	२।३।१०६
दूतवृणभ्यां यो वक्तव्यः	३।४।११६
दृष्टे सामनि वृद्धादङ्कवद्वक्तव्यम्	३।२।७३
देवस्य यजज्ञौ	३।१।७०
देवानां प्रियादिष्वनुप्	४।३।१३४
देवासुरादिभ्यो वुनः प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।६३
धुश्चोभयाद्वक्तव्यः	४।१।८७
द्वन्द्वे देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।६२
द्वित्वे गोयुगः	३।४।१५०
द्वित्रहन्ताच्च करणात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।४।३५
द्विमात्रात्परस्यापि	५।४।१२७
द्विषः शतुर्वा वचनम्	१।३।७५; १।४।७२; ३।२।१०६
द्वयक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः	१।३।१००

ध

धमुजन्तात् स्वार्थे ङो वक्तव्यः	४।१।१०८
धेनोर्नञ्-पूर्वाया नेष्यते	३।२।३६

न

नक्षत्रयोगे ज्ञार्थे	२।१।२४
----------------------	--------

नञोऽनुभावे क्षेपे मिथ्युपसंख्यानम्	४।३।१८१
ननौ पृष्ठप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः	२।२।१००
नभोऽङ्गिरोमनुषां वक्तुपसंख्यानम्	१।२।१०७
नशब्दे नुशब्दे च वाचि पृष्ठप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः	२।२।१००
नाभि नमञ्च	३।४।२
निन्दाक्षमारोगापनयेषु यथाक्रमं सन्निष्यते	२।१।३
निमित्तात्कर्मसंयोगे ईव्वक्तव्या	१।४।४४
निमिमीलियां खाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।४३
निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया	१।३।८१; १।४।१०२
निसो गत इति वक्तव्यम्	३।२।८१
निसो देशे	२।२।४६
नुप्रच्छिभ्यां च	१।२।१४
नृनरयोरैष्व	३।१।२३
नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्	४।२।११६
नेष्टुर्व इति वक्तव्यम्	३।२।८१

प

पञ्चजनशब्दादुपसंख्यानम्	३।४।७
पद्यछान्दसा एते शब्दास्तदत्रापि नस् वक्तव्यः	४।२।११८
परिचर्यापरिसर्यामृगयाणां निपातनं वक्तव्यम्	२।३।८३
परिपार्श्वार्चेति वक्तव्यम्	३।३।१५२
परेर्वा	२।३।८९
परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः	२।२।६२
पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे अपा	१।३।८१; ४।२।१५
पश्वां णस् वक्तव्यः	३।२।३६
पाणिगृहीत्यादीनां गुर्वनुज्ञातेन ङी वक्तव्यः	३।१।४५
पाणौ समवशब्दे च सुजेयौ वक्तव्यः	२।१।६२
पात्रादिभ्यश्च प्रतिषेधः	१।४।९३
पाशकल्पकाम्याः प्रयोजयन्ति	५।४।२६
पाशाद्विभोचने	२।१।२२
पिच्छादेशचेति वक्तव्यम्	४।१।२६
पिशाचाच्चेति वक्तव्यम्	४।१।५२
पुंसाऽनुजो जनुषान्ध इत्यनुव्वक्तव्यः	४।३।१२४
पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्	३।१।४८
पुच्छादुदसने पर्यसने वा	२।१।१७
पुण्याहवाचनादिभ्य उव्वक्तव्यः	३।४।१०५
पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते	५।४।१२७

पुरान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः	३।३।३५
पुरुषाद् वधविकारसमूहेतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्	३।४।९
पुष्पमूलेषु बहुलम्	३।३।१२४
पूर्वपदस्य च ठाजादौ अनजादौ च खं वक्तव्यम्	४।१।१३६
पूर्वप्रथमयोरतिशये द्वे भवतः पूर्वमासादण् वक्तव्यः	३।२।३०
पृच्छतौ सुस्तातादिभ्य इरसमर्थेभ्यः	३।३।१५६
पृथिव्या जाजौ	३।१।७०
पौङ्गीपुत्रादिभ्यश्छो वक्तव्यः	३।२।२३
प्यले कर्मणि का वक्तव्या	१।४।३७
प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्बाधकः	४।४।१६
प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः	३।४।१५०
प्रकृत्याके राजन्यमनुष्ययुवानः	३।४।१२३
प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्	२।४।४; ४।३।१२४; ४।३।१२५

प्रथमाधिकारे द्वितीयस्यापि वृद्धेऽच्यनुव्वक्तव्यः	३।३।६३
प्रभृतादिभ्यश्च	३।३।१५६
प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रङ् वक्तव्यः	३।४।१५८
प्रमाणशब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसङ्कादीनां ध्वंसनं वक्तव्यम्	३।४।१५८
प्ररोहणे शाकटशाकिनौ	३।४।१५०
प्रश्नाख्यातयोश्च का वक्तव्या	१।४।३७
प्राणिनीति वक्तव्यम्	४।२।७६
प्रायश्चङ्गे नित्यं लत्वम्	५।३।३६
प्रादयो गताद्यर्थे च वया	१।३।८१; १।३।८६
प्रादूहोढोढ्ये षैष्येषु	४।३।७५; ५।३।१०२
प्रावृद्धं वर्षाशरत्कालदिवां जेऽनुप्	४।३।१३९

फ

फलवर्द्धाभ्यामिनः	४।१।५६
फिजप्यत्र भवतीति वक्तव्यम्	३।१।१३८

ब

बन्धे द्विधा	४।३।१३२
बलादूलः	४।१।५६
बसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्	५।२।१०२
बहिषष्टिखं यञ्च	३।१।७०

बहुधनियमः	१।३।१००
बाह्ययुर्दिभ्यश्चेति वक्तव्यम्	३।२।७८
क्विवचनादिभ्यो नित्यमुम् न भवतीति वक्तव्यम्	३।२।४५
ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्यादिभ्य उप-	
संख्यानम्	३।४।८७
ब्रह्मणि वदेर्णिन् वक्तव्यः	२।२।६६
ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्	४।२।८०

भ

भञ्जिरहिसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्	१।३।१२२
भगे दारेः खज् वक्तव्यः	२।२।४०
भस्य ह्यत्वे	३।१।२१; ३।१।६४; ४।१।१६१;
	४।३।१४७; ४।३।१५३; ५।२।१०
भाण्डात्सञ्चयने परिचयने वा	२।१।१७
भ्रातृश्च ज्ययासः	१।३।१००
भ्रातृपुत्रौ स्वसुदुहितृभ्यां शिष्यत इति न	
वक्तव्यम्	१।१।१००

म

मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्	४।१।३५
मणीवादिषु नेष्यते	१।१।२०
मधुकर्मरिचयोः स्थलपूर्वादर्ण् वक्तव्यः	३।४।७३
मध्यादीयो वक्तव्यः	३।३।३५
मध्यो मध्यन्दिनश्चास्मादुप् स्थान्मो ह्यञि-	
नात्तथा	३।३।३५
मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्	१।२।१३०
महत्या घासकारविशिष्टेषु व्यधिकरणत्येऽपि पुंवद्भावा-	
त्वे भवतः	४।३।१५८
महाजनाद्वक्तव्यः	३।४।७
महिषाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।६७
मासाद्भृतित्यान्तपूर्वपदाद्धो वक्तव्यः	४।२।११७
मुखपार्श्वतमोरीयः कुग्जनस्य परस्य च ।	
ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मरमीयौ च हतौ मतौ ॥	३।३।३५
मूलविभुजादिभ्यः	३।४।८८
मूलान्ताच्च टाप्	३।१।४
मूल्यादिति च वक्तव्यम्	३।४।३५
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य भवतीशब्दस्य ग्रहणे-	
टण्छसोः	३।२।६१
मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्	४।२।१५६

य

यजादीनामेकत्वद्वित्वयोर्वा तासे इति वक्तव्यम्	१।४।१३५
यणः परस्य मयोऽचि विकल्पः	५।४।१२७
यतश्चाध्वकालपरिच्छेदस्ततः का वक्तव्या	१।४।३७
यथेष्टं सुबुधु वक्तव्यम्	४।३।३
यमाच्चेति वक्तव्यम्	३।१।७०
यवनालिप्याम्	३।१।४२
यवाद्दोषे	३।१।४२
यस्य प्रकरणे वातपित्तश्लेष्मसन्निपातेभ्यः शमनकोप-	
नयोरुपसंख्यानम्	३।४।३६
येषां च पाकनिमित्तः शोषः तेभ्यश्च उस् फले	३।१।२४४

र

रजकरजनरजस्तु नखे यत्नः कर्तव्यः	४।४।२७
रणिवशिभ्यामज्वक्तव्यः	२।३।५२
रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरुपसंख्यातः	३।३।८६
रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपीभ्यते	३।३।१९७
रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्	४।१।३३
रविधिर्नगपांशुभ्याम्	४।१।३३
रसादिभ्यो मतुर्वक्तव्यः	४।१।२३
राच ध्वसनं वक्तव्यम्	३।४।१५८
राजन्यादिभ्यो वा वुञ् उस्वक्तव्यः	३।२।४५
राजाचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्	३।४।८
राष्ट्राभिधाने बहुत्वे उस्वक्तव्यः	३।३।४५
रूपाद्दर्शने	२।१।२२
रेरेव काम्ये वक्तव्यम्	५।४।३६

ल

लिटि स्वञ्जेर्वा न खं भवतीत्युपसंख्यानम्	५।४।८४
लोम्नश्चापत्येषु बहुषु	३।१।७०
लोहितशब्दात्स्त्रीत्यस्य परत्वादनेन केन बाधनं	
वक्तव्यम्	४।२।३६

व

व उद्गोः	५।४।२६
वटकभ्य इन्वक्तव्यः	४।१।१४
वर्णानामानुपूर्व्येण	१।३।१००
वर्षक्षरशरब्राज्जे द्विधा	४।३।१३२
वलप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते इति वक्तव्यम्	४।१।३८
वशेर्यङि प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।१५
वत्नात् समाच्छादने	२।१।१८

वा गोमयेष्विति वक्तव्यम्	३।२।१०७
वा ठण् छसोः [ठक्छसोश्च]	५।२।२२
वाततिलसार्धेषु अजतुदजहातिभ्यः खश्वक्तव्यः	२।२।३२
वा तदन्तवालललायानामूङ् च	४।१।२५
वातात्समूहे तन्न सहते इति च	४।१।५६
वा प्रियस्य	१।३।१०१
वाव्रन्त इति वक्तव्यम्	१।४।९३
वामदेवाधो वक्तव्यः	३।२।७२
वायोरुभयत्र प्रतिषेधः इष्यते	४।३।१३६
वारिजङ्गलस्थलकान्तराजशङ्कुपूर्वपदादिति	
वक्तव्यम्	३।४।७३
वा लिप्तायामिति वक्तव्यम्	१।२।२०
वा समर्थायाः संख्याया गुणस्य निमये	
वर्त्तमानयोः	३।४।१६९
विकारे स्नेहे तैलः	३।४।१५०
विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नाङ्गक्षेत्र)	
धर्मत्रिपूर्वा	३।२।५२
विद्यालक्षणकाल्पसूत्रान्तादकल्पादेः	३।२।५२
विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्	४।१।१३६
विपरीताच्चेति वक्तव्यम्	३।४।१३६
विभाजयितुर्णिलञ्च	३।३।११६
विरोधेऽण् वक्तव्यः	३।४।११४
विंशतेश्चेति वक्तव्यम्	३।४।१५८
विशसितुरितः खञ्च	३।३।१६६
विशिष्टरूपादिरुहिप्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुप-	
संख्यानम्	३।४।१०४
विषेन भवत्येव	५।३।३६
विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।१४१
विस्तारे पटः	३।४।१५०
विहायसो विहं च	२।२।४६
विहायसो विहादेशः खच्च वा द्विद्वक्तव्यः	२।२।४५
वीप्सायां वा हसो वक्तव्यः	१।३।५
वीरात्तेजसि यः	३।४।११४
वृद्धवदिति वक्तव्यम्	४।२।७
वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्	३।२।३४
वृद्धाद्वृद्धवदिति वक्तव्यम्	४।२।७
(वृ) ङ्क्षणि वृषुषिभावो वक्तव्यः	३।३।१५३
वेः ख्वादेशो वक्तव्यः	४।२।११६

व्यासवरुडनिषादचण्डालविम्बादीनामिति	
वक्तव्यम्	३।१।८६
प्रतादभोजने तन्निवृत्तौ च	२।१।१८
श	
शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	१।१।६१
शक्यदण् वक्तव्यः	३।३।१६१
शकन्धादिषु पररूपम्	४।३।८१
शतरुद्राद्धश्च	३।२।२३
शतषष्टिभ्यां पथाष्टिकः	३।२।५२
शन्शतोर्द्धनिर्वक्तव्यः	३।४।१५७
शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्	१।२।१५
शयवासवासिष्वकालवाचिनो द्विधा	४।३।१३३
शर उत्तरस्य खयः	५।४।१२७
शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्	४।१।११६
शिच्चेजिज्ञासायां दो वक्तव्यः	१।२।१५
शीतोष्णतृप्त्यस्तत्र सहत इत्यालुर्वक्तव्यः	४।१।५६
शीर्षान्नजः	४।१।४२
शीलादिप्रकरणे धाज्कुसुजनिनदिभ्य इलिट्	
वक्तव्यः	२।२।१५५
शीलिकामिमदयाचरीक्षिन्मिभ्यो णो वक्तव्यः	२।२।१
शीले को मखं च	४।१।१३०
शुनः खौ शेषपुच्छलाङ्गुष्ठेषु	४।३।१३४
शुभिरचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः	२।१।१९
शूद्राच्चांमहत्पूर्वात् जातिश्चेत्	३।१।१४
शृङ्गवृद्धाभ्यामारको वक्तव्यः	४।१।५६
शृणातेर्वायुवर्षयोर्धञ् वक्तव्यः	२।३।२०
शेषे विभाषा	१।४।६९
श्रद्धादिभ्योऽण् वक्तव्यः	३।४।१०५
श्रन्येश्चेति वक्तव्यम्	४।४।११३
श्रविष्ठाषाढाभ्यां छिति वक्तव्यम्	३।३।८
श्रयजीषिस्तुभ्यः स्त्रियां करणे युङ्गन्नाधनार्थं	
क्तिर्वक्तव्यः	२।३।७९
ष	
ष्ठीवतिष्वक्तित्थयायतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः	४।३।५३
स	
संबोद्धः संबहितृभावश्च स्वे वक्तव्यः	३।३।८८
संस्कृते शल्यः	३।४।१५०

स एव डामहो मातरि वाच्यायां टिञ्च	३।२।३१	सुदुरोरेधिकरणे डो वक्तव्यः	३।२।४६
सकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।५४	सु [शु] नोजिर्वाचदीत्वम्	३।४।२
सग्योश्च ऋधिद् ह्योः	१।२।११२	सुबूनाञ्च तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति	४।३।३
सङ्ख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्	३।२।५५	सुसर्वाद्दिकछन्दोभ्यो जनपदस्य सूत्रान्ताद-	
सङ्ख्याया अल्पीयसो वाचिकायाः	१।३।१००	कल्पादेरिष्यते	३।२।५२
सञ्ज्ञायामण् वक्तव्यः	३।४।८७	सेनाङ्गफलानुद्रवीवितरुमृगतृणा धान्यपक्षिणां	
सत्प्राक्कारणप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पाट्टाप्	३।१।४	प्रकृत्यर्थबहुत्वे एकवद्भावः	१।४।८८
समसम्प्रधारणायां किम् आक्षेपे द्वे भवतः	५।३।६	सेनाङ्गेषु बहुत्वे	१।४।७८
समानाच्च तदादेश्च अध्यात्मादिषु चेष्ट्यते ।		सौवीरेषु मिमतशब्दाण्यणफिजौ वक्तव्यौ	३।१।१३८
ऊर्ध्वाद्दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदादपि ॥	३।३।३५	स्तोमे डो वक्तव्यः	३।४।५६
समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्	२।२।५८; ४।३।१९५	स्त्रियामपत्ये उव्वक्तव्यः	३।१।११७
समिधामाधाने टेन्यण् वक्तव्यः	३।३।८८	स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽम्भावो द्योऽस्तु	५।३।९
समूहे कटः	३।४।१५०	स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः	३।४।१०५
सम्पदादिभ्यः क्तिन्निपि वक्तव्यः	२।३।७५	स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्	१।२।१४; १।२।२२
सम्पूर्वाद्धेति वक्तव्यम्	२।१।९३	स्वादीरेरिणोः	४।३।७६
सम्भल्लजिनशरणपिण्डेभ्यः फलाट्टाप्	३।१।४	स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवतः	५।३।९
सम्भूयोऽम्भसोः सत्त्वं च	३।१।८५	स्वार्थे द्वयसम्मात्रदौ बहुलं वक्तव्यौ	३।४।१५८
सर्वजनाट्ठण् स्वश्च वक्तव्यः	३।४।७		
सर्वत्र गोरजादिप्रसंगे यः	३।१।७०	ह	
सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः	१।३।१०१	हनो वा वध इति च वक्तव्यम्	२।१।८६
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः	१।१।३६	हन्तीत्यपि वक्तव्यम्	३।३।१५८
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः	१।३।८८	हन्तैर्हिंसायां घ्नीभावो वक्तव्यः	५।२।१३९
सर्वमन्त्रार्थकार्यमर्देन भवतीति वक्तव्यमधिकरणे		हरतेर्गतिताच्छील्ये	१।२।१५
तविधं मुक्त्वा	१।२।१२२	हलसीराट्ठण् वक्तव्यः	३।३।१६१
सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे	३।४।११४	हलिकल्योरकारान्तता रिञ्चा योगे निपात्यते	२।१।१८
सर्वसादेरसाच्चोप्	३।२।५२	हायनाद्वयसि स्मृतः	३।१।१४
सर्वादेश्चेति वक्तव्यम्	४।१।५६	द्वितशब्दयोगे उपसंख्यानम्	१।४।२६
सवच्च बहुलम्	१।२।१०	हिमाच्चैलुः	४।१।५६
सहायाद्धेति वक्तव्यम्	३।४।१२२	हिमारण्ययोर्महत्त्वे	३।१।४२
सहितसहाभ्याञ्चेति वक्तव्यम्	३।१।५६	हृदयाच्चाळुर्वा वक्तव्यः	४।१।५६
सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्	२।१।१४	हृदयोःप्रतिषेधो वक्तव्यः	१।२।६
		होत्रायाः स्वार्थे को [छो] वक्तव्यः	३।४।१२५

जैनेन्द्रपरिभाषाणामकारादिक्रमः

अ

अखौ हृद्द्युभ्यामिष्ये ईप् तस्याश्चानुवक्तव्यः	४।३।१२७
अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य	४।३।३१; ४।४।१००
४।४।१२१; ४।४।१४७; ५।१।१६२; ५।३।८८	
अनिन्त्यमागमशासनम्	४।३।१६९
अग्निनस्मिन्ग्रहणेष्वर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिः	
३।१।६; ४।४।१२; ५।१।१६४; ५।४।६०	
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उच्चाधते	४।३।१२७;
५।१।१५७	
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गः प्यादेशो बाधते	
४।४।६८	
अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम्	५।२।७४
अन्वत्र ध्रुग्रहणे ध्वादेः समुदायस्य ग्रहणम्	४।३।१९८
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे	१।१।५८; ४।३।५५; ४।३।३५;
४।४।१७; ५।३।२८; ५।३।८७	
उ	
उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः	५।१।५८; ५।२।१३२
ए	
एकदेशविकृतस्यानन्त्यत्वात्	४।४।५४; ५।१।८; ५।१।१६०;
एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्यादिविधीन् बहिरंगः	
प्यादेशो बाधते	१।४।११०
एकानुबन्धग्रहणे न द्वयनुबन्धकस्य	२।१।६
क	
कार्यकालं सञ्ज्ञापरिभाषम्	१।१।४५; १।२।६०;
५।३।२७	
कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्	१।१।६; १।२।२२;
१।२।२६; १।३।४१; २।३।७६; ३।१।१८	
कौ नष्टं न स्थानिवत्	५।१।६३
ग्रामादाग्रहणेष्वविशेषः	१।४।१४६; ४।३।६२; ४।४।६५;
५।२।१४४; ५।२।१५५	

ग

गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्	४।४।६४; ४।४।१५२;
५।२।३; ५।२।१३६	
गौरधिकारे तदन्तस्य च	५।१।१८; ५।१।३६
गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात्	५।४।६५
च	
चविकारेष्वपवादा प्र उत्सर्गान्न बाधन्ते	५।२।१६६;
५।२।१८१	
ङ	
ङलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते	५।३।३९
ण	
णोऽप्यण् कृतं भवति	४।४।१६३
त	
तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	५।२।८०
तदादेशास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	५।१।१०८
तन्मध्यपतितास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	४।३।१०९
तिवाक्कारकणां प्राक्सुबुत्पत्तेः कृद्भिः	
सविधिः	१।३।८२; ३।१।४३; ४।३।१६६
त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः	१।१।८; ५।३।१८;
त्यग्रहणे चाकायः	४।३।१३३
त्यात्यसंभवे त्यस्य ग्रहणम्	४।३।१६६
द	
धावित्यधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव	४।३।१३३
ध्वधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणं न	
तदन्तविधिः	४।३।१६१
द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति	४।४।३७
ध	
धोरधिकारे तदन्तविधिरप्यस्ति	५।१।५०
धोः स्वरूपग्रहणात्तत्त्वविज्ञानम्	५।२।१; ५।२।३६;
५।३।२६	
न	
नञिव्युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः	१।३।६८

नानर्थकेऽन्तेऽलोऽन्त्यविधिः ४।३।८५; ५।१।१७१;

५।४।३

नानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्

२।४।५

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः

१।१।१३

निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ४।३।१०८; ४।४।६४

५।४।१८

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ४।४।११६; ५।२।१५१

प

पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्

२।१।४१

पूर्वं धुरिणा युज्यते पश्चात्साधनवाचिना त्येन

५।२।१२२; ५।२।१३८

पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्रे

५।४।६६

पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्

५।३।३६; ५।३।४६;

५।३।५५; ५।४।६

प्रकल्प्यापवादविषयं तत् उत्सर्गोऽभिनिविशते १।४।१२३

प्रकृतिग्रहणे यङुबन्तस्य ग्रहणम् ५।१।८५; ५।३।५५

प्रकृतिवदनुकरणं भवति २।४।४६

म

मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन्बाधन्ते नोत्तरान् १।१।५३;

२।१।१११; २।३।७६; ४।३।१७८; ४।४।७७;

५।१।१५६

मृदग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् १।३।६३;

४।२।६३; ४।३।१४८; ४।४।१२१; ५।४।३; ५।४।३४

य

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न

तदन्त्यम्

५।१।२०

येन नाप्राप्ते तस्य तद्बाधनम्

५।२।१५; ५।३।४१

येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि

५।१।८३

ल

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रपिपदोक्तस्यैव ५।१।५२; ५।४।९५

लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वास्तिङ्गस्य

५।२।२०

व

वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्

४।३।९९; ४।४।३३;

४।४।४१; ५।३।५४

वार्णाद्गावं बलीयः १।१।७८; १।४।११३; ४।३।३३;

४।४।१७; ५।१।१३६

व्यपदेशिवद्भावो न मृदा

५।१।५४

स

सकृद्गते परनिर्णये विधिर्वाधितो बाधित एव

१।२।९०; ४।४।४३; ४।४।६४; ४।४।९४; ५।१।५५;

५।१।५७; ५।२।५; ५।२।११०

सञ्ज्ञालुन्दसोः पूर्वो विधिः ५।३।३९

सञ्ज्ञाविधौ त्यग्रहणात्तदन्तविधिनस्ति १।१।६;

१।१।२०; २।१।२६

सन्त्यविधौ न तदन्तविधिः

१।१।६७; ५।२।१६

सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्य १।१।६४;

२।१।३२; ५।१।८; ५।१।२१; ५।२।५५; ५।३।२८

सन्नियोगशिष्यानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः १।१।६;

३।१।७; ४।४।१४३

सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः

१।१।६; ५।३।२८;

स्फादिखलत्वणत्वेषु नास्ति ५।३।४२; ५।३।७१

स्वार्थिका प्रकृतिलिङ्गसङ्ख्ये अनुवर्तन्ते ५।२।१२५

जैनेन्द्र-गणपाठसूची

अ		कर्णादि:	३।२।६०	तिकादि:	३।१।४१
अक्षयूतादि:	३।३।१४८	कल्याणयादि:	३।१।१५	तुन्दादि:	४।१।४३
अङ्गुल्यादि:	४।१।१६२	कस्कादि:	५।४।३६	तृणादि:	३।२।६०
अजादि:	३।१।४	काशादि:	३।२।६०	तौल्वल्यादि:	१।४।१३२
अपूपादि:	३।४।३	काश्यादि:	३।२।६२	त्यदादि:	१।१।६९; ५।१।१६१
अरीहणादि:	३।२।६०	किसरादि:	३।३।१७२	द	
अर्धर्चादि:	१।४।१०८	कुञ्जादि:	३।१।८७	दण्डादि:	३।४।६४
अर्शआदि:	४।१।५०	कुमुदादि:	३।२।६०	दधिपयआदि:	१।४।६०
अश्मादि:	३।२।६०	कुम्भपद्यादि:	३।२।८७	दामन्यादि:	३।३।२६
अश्वपत्यादि:	३।१।६६	कुर्वादि:	३।१।१३९	ददादि:	३।४।११३
अश्वादि:	३।१।९६	कुलाळादि:	३।३।८७	देवपथादि:	४।१।१५४
आ		कुशाश्वदि:	३।२।६०	द्वारादि:	५।२।९
आहिताभ्यादि:	१।३।१०३	कौशल्यादि:	३।१।१४२	द्विदण्ड्यादि:	४।२।१२६
इ		क्रोडादि:	३।१।४६	ध	
इन्द्रजननादि:	३।३।६२	क्रौड्यादि:	३।१।६५	धूमादि:	३।२।१०५
इष्टादि:	४।१।२२	कुम्भनादि:	५।४।११७	न	
उ		ग		नडादि:	३।१।८८; ३।२।७१
उगवादि:	३।४।२	गर्गादि:	३।१।६३	नद्यादि:	३।२।७६
उणादि:	२।२।१६७	गवाश्वदि:	१।४।८७	प	
उत्करादि:	३।२।७०	गहादि:	३।२।११४	पक्षादि:	३।२।६०
उत्सङ्गादि:	३।३।१३८	गृष्ट्यादि:	३।१।१२४	पर्पादि:	३।३।१३३
उत्सादि:	३।१।७१	गोपवनादि:	१।४।१३९	पर्वादि:	४।२।६
उद्गात्रादि:	३।४।११६	गोपालकादि:	३।१।३८	पलव्यादि:	३।२।८६
उपकादि:	१।४।१३९	गौरादि:	३।१।२३	पात्रेसमितादि:	१।३।४३
उरः प्रभृति	४।२।१५१	घ		पामादि:	४।१।२७
ऊ		घोषदादि:	४।१।६६	पारस्करादि:	४।३।११६
ऊर्वादि:	१।२।१३२	च		पाशादि:	३।२।४१
ऋ		चादि:	१।२।१२८	पुरोहितादि:	३।४।११८
ऋश्यादि:	३।२।६०	छ		पुष्करादि:	४।१।५६
क		छेदादि:	३।४।६२	पूर्वादि:	१।१।४२
कच्छादि:	३।२।१११	त		पृश्वादि:	३।४।११२
कडारादि:	१।३।१०४	तारकादि:	३।४।१५७	पैलादि:	१।४।१३१
कल्यादि:	३।२।७५	तालादि:	३।३।१०५	प्रज्ञादि:	४।२।४४
कथादि:	३।३।२०६	ति क्रक्तिवादि:	१।४।१४०	प्रादि:	१।३।८१

प्रेक्षादिः	३।२।६०	रेवत्यादिः	३।१।१३४	शुभ्रादिः	३।१।११२
प्लक्षादिः	३।३।१२२	रैवतिकादिः	३।३।९९	शौण्डादिः	१।३।३५
ब		ल		शौनकादिः	३।३।७७
ब्रह्मादिः	३।१।३१	लोमादिः	४।१।२७	श्वादिः	५।२।१३
बाह्मादिः	३।१।८५	लोहितादिः	३।१।२१	श्रेण्यादिः	१।३।५४
ब्राह्मणादिः	३।४।११४	घ		स	
बीह्यादिः	४।१।४२	वरणादिः	३।२।६२	सख्यादिः	३।२।६०
भ		वराहादिः	३।२।६०	सङ्काशादिः	३।२।६०
भर्गादिः	३।१।१५८	बलादिः	३।२।६९; ४।१।५७	सन्तापादिः	३।४।६५
भस्त्रादिः	३।३।१३६	वाकिनादिः	३।१।१४५	सपत्न्यादिः	३।१।३४
भिन्नादिः	३।२।३३	विदादिः	३।१।६३	सब्रह्मचार्यादिः	४।४।१३१
भीमादिः	२।४।६१	विनयादिः	४।२।४०	सर्वादिः	१।१।३५
म		विमुक्तादिः	४।१।६५	साक्षादादिः	१।२।१४३
मनोज्ञादिः	३।४।१२३	वेतनादिः	३।३।१३५	सिध्मादिः	४।१।२५
मयूरव्यंसकादिः	१।३।६६	व्याघ्रादिः	१।३।५१	सिन्ध्वादिः	३।३।६७
महिष्यादिः	३।३।१६९	श		सुखादिः	४।१।५४
य		शकलादिः	३।२।८७	सुतङ्गमादिः	३।२।६०
यवादिः	५।३।३१	शण्डिकादिः	३।३।६६	सुषामादिः	५।४।७२
यस्कादिः	१।४।१३४	शरदादिः	४।२।२०६	स्थूलादिः	४।२।११
याजकादिः	१।३।७२	शरादिः	३।३।१०६	स्वह्मादिः	३।१।८
यावादिः	४।२।३५	शर्करादिः	४।१।१६१	स्वागतादिः	५।२।१२
युवादिः	३।४।१२०	शालादिः	४।१।१५७	ह	
र		शिवादिः	३।१।१०१	हरितादिः	३।१।८६
राजदन्तादिः	१।३।९६	शुण्डिकादिः	३।३।५०	हरीतक्यादिः	३।३।१२४
राजन्यादिः	३।२।४६			हस्त्यादिः	४।२।१३६

जैनेन्द्र-संज्ञासूची

अ		क		त	
जैनेन्द्रसंज्ञा	पाणिनिसंज्ञा	जैनेन्द्रसंज्ञा	पाणिनिसंज्ञा	जैनेन्द्रसंज्ञा	पाणिनिसंज्ञा
अधिकरणः	अधिकरणम्	करणम् [११२११४]	करणम्	तः [११२२]	निष्ठा
[१२२११६]		कर्त्ता [१२२१२४]	कर्त्ता	ता [१२२१५८]	षष्ठी
अनुदात्तः	अनुदात्तः	कर्म [१२२१२०]	कर्म	ति [१२२१३२]	गतिः
[१२२११३]		का [१२२१५८]	पञ्चमी	त्यः [२२११]	प्रत्ययः
अन्यः [१२२१५२]	प्रथमपुरुषः	किः [१४१५६]	सम्बुद्धिः	थ	
अप् [१२२१५८]	चतुर्थी			थः [४३३३]	अभ्यस्तम्
अपादानम्	अपादानम्	ख			
[१२२११०]		खम् [१२२१६१]	लोपः	द	
अस्मद् [१२२१५२]	उत्तमपुरुषः	खुः [१२२१२६]	संज्ञा	दः [१२२१५१]	आत्मनेपदम्
				दिः [१२२१२०]	प्रगृह्यम्
इ		ग		दीः [१२२१११]	दीर्घः
इत् [१२२१३]	इत्	गि [१२२१३०]	उपसर्गः	दुः [१२२१६८]	बृद्धम्
इप् [१२२१५८]	द्वितीया	गुः [१२२१०२]	अङ्गम्	घु [१२३१०५]	उत्तरपदम्
इल् [१२२१३४]	षट्	घ		द्विः [४२२१६]	तद्राजः
ई		घि [१२२१९९]	लघु	द्वन्द्वः [१२२१६२]	द्वन्द्वः
ईप् [१२२१५८]	सप्तमी	ङ		द्विः [१२२१५५]	द्विवचनम्
उ		ङः [१२२१४]	अनुनासिकः	ध	
उङ् [१२२१६६]	उपधा	ङिः [१२२१३०]	भावकर्म	धम् [१२२१३१]	सर्वनामस्थानम्
उज् [१२२१६२]	शुभः	च		धिः [१२२१२]	अकर्मकः
उदात्तः [१२२११३]	उदात्तः	चः [४३३६]	अभ्यासः	धुः [१२२११]	धातुः
उप् [१२२१६२]	लुक्	ज		न	
उस् [१२२१६२]	लुप्	जिः [१२२१४५]	सम्प्रसारणम्	नप् [नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा प्राचाम्]	
ए		झ		निः [१२२१२२]	निपातः
एकः [१२२१५५]	एकवचनम्	झिः [१२२१७४]	अव्ययम्	न्यक् [१२३१६२]	उपसर्जनम्
एप् [१२२११६]	गुणः	ट		प	
ऐ		टिः [१२२१६५]		पः [१२२१११]	ल्लुतः
ऐप् [१२२११५]	वृद्धिः			पदम् [१२२१०३]	पदम्
				प्रः [१२२१११]	ह्रस्वः

व	य	स
बम् [११३।८६]	यः [११३।४४]	संख्या [१११।३३]
बहुः [११२।१५५]	युष्मद् [११२।१५२]	सः [११३।२]
बोध्यम् [११४।५५]		सत् [११२।१०५]
	र	सम्प्रदानम्
भ	रः [११३।४७]	[११२।१११]
भः [११२।१०७]	रुः [११२।१००]	सर्वनाम [१११।३५]
भा [११२।१५८]	व	सुः [११२।९७]
भु [१११।२७]	वा [११२।१५८]	स्फः [१११।३]
	वाक् [१११।७६]	स्वम् [१११।२]
म	विभक्ती [११२।१५७]	स्वरितः [१११।१४]
मम् [११२।१५०]		ह
मुः [११२।९२]	ष	हः [११३।४]
मृत् [१११।५]	षम् [११३।१६]	हृत् [१११।६१]

जैनेन्द्र और पाणिनि-व्याकरणकी तुलनात्मक सूत्र-सूची

जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या	जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या
११११	×	१११३३	१११२३	१११६५	१११६४
१११२	१११९	१११३४	१११२४	१११६६	१११६५
१११३	१११७	१११३५	१११२७	१११६७	{ १११५२ १११७२
१११४	१११८	१११३६	१११२८	१११६८	१११७३
१११५	१११४५	१११३७	१११२९	१११६९	१११७४
१११६	१११४६	१११३८	१११३०	१११७०	१११७५
१११७	१११४७	१११३९	१११३१	१११७१	×
१११८	१११४८	१११४०	१११३२	१११७२	{ १११६९ १११७०
१११९	१११४९	१११४१	१११३३	१११७३	१११७१
११११०	१११५०	१११४२	१११३४-३६	१११७४	१११३७
१११११	१११२७	१११४३	७११६	१११७५	११११
११११२	१११२८	१११४४	×	१११७६	११२२
११११३	११२२९, ३०	१११४५	१११४५	१११७७	११२३
११११४	११२३१	१११४६	१११४९	१११७८	११२४
११११५	११११	१११४७	१११५०	१११७९	११२५
११११६	१११२	१११४८	१११५१	१११८० } ११२७	
११११७	१११३	१११४९	१११५२	१११८१ }	
११११८	१११४	१११५०	१११५३	१११८२	११२८
११११९	१११५	१११५१	१११५४	१११८३	११२९
१११२०	१११११	१११५२	१११५५	१११८४	११२१०
१११२१	११११२	१११५३ }	१११५६	१११८५	११२११
१११२२	११११४	१११५४ }		१११८६	११२१२
१११२३	११११५	१११५५	१११४७	१११८७	११२१३
१११२४	११११६	१११५६	१११५६	१११८८	११२१४
१११२५	११११७	१११५७	१११५७	१११८९	११२१५
१११२६	११११८	१११५८	१११५८	१११९०	११२१६
१११२७	१११२०	१११५९	१११५९	१११९१	११२१७
१११२८	१११२६	१११६०	१११६६, ६७	१११९२	११२१८, १९
१११२९	×	१११६१	१११६०	१११९३	११२२०
१११३०	×	१११६२	१११६१	१११९४	११२२१
१११३१	१११४२	१११६३	१११६२	१११९५	११२२२, २३
१११३२	१११४३	१११६४	१११६३		

१।१।९६	१।२।२४, २६	१।२।३३	×	१।२।७१	१।२।७६
१।१।९७	१।२।२५	१।२।३४	१।२।३८	१।२।७२	१।२।७४
१।१।९८	१।२।२६	१।२।३५	१।२।३९	१।२।७३	१।२।७९
१।१।९९	१।२।२७	१।२।३६	१।२।४०	१।२।७४	१।२।७७
१।१।१००	×	१।२।३७	१।२।४१	१।२।७५	१।२।७८
अध्याय १ पाद २					
१।२।१	१।३।१	१।२।३९	१।२।४३	१।२।७६	१।२।७९
१।२।२	×	१।२।४०	१।२।४४	१।२।७७	१।२।८०
१।२।३	१।३।२	१।२।४१	१।२।४५	१।२।७८	१।२।८१
१।२।४	१।३।१०	१।२।४२	१।२।४६	१।२।७९	१।२।८२
१।२।५	१।३।११	१।२।४३	१।२।४७	१।२।८०	१।२।८३
१।२।६	१।३।१२	१।२।४४	१।२।४८	१।२।८१	१।२।८४
१।२।७	१।३।१३	१।२।४५	१।२।४९	१।२।८२	१।२।८५
१।२।८	१।३।१४	१।२।४६	१।२।५०	१।२।८३	१।२।८६
१।२।९	१।३।१५	१।२।४७	१।२।५१	१।२।८४	१।२।८७
१।२।१०	१।३।१६	१।२।४८	१।२।५२	१।२।८५	१।२।८८
१।२।११	१।३।१७	१।२।४९	१।२।५३	१।२।८६	१।२।८९
१।२।१२	१।३।१८	१।२।५०	१।२।५४	१।२।८७	१।२।९०
१।२।१३	१।३।१९	१।२।५१	१।२।५६	१।२।८८	१।२।९१
१।२।१४	१।३।२०	१।२।५२	१।२।५७	१।२।८९	१।२।९२
१।२।१५	१।३।२१	१।२।५३ } १।२।५४ }	१।२।५८	१।२।९०	१।२।९३
१।२।१६ }	१।३।२२	१।२।५५	१।२।५९	१।२।९१	×
१।२।१७ }	१।३।२३	१।२।५६	१।२।६०	१।२।९२	१।२।९४
१।२।१८	१।३।२४	१।२।५७	१।२।६१	१।२।९३	१।२।९५
१।२।१९	१।३।२५	१।२।५८	१।२।६२	१।२।९४	१।२।९६
१।२।२०	१।३।२६	१।२।५९	१।२।६३	१।२।९५	१।२।९७
१।२।२१	१।३।२७	१।२।६०	१।२।६४	१।२।९६	१।२।९८
१।२।२२	१।३।२८	१।२।६१	×	१।२।९७	१।२।९९
१।२।२३	१।३।२९	१।२।६२	१।२।६५	१।२।९८	१।२।१००
१।२।२४	१।३।३०	१।२।६३	१।२।६६	१।२।९९	१।२।१०१
१।२।२५	१।३।३१	१।२।६४	१।२।६८	१।२।१००	१।२।१०२
१।२।२६	१।३।३२	१।२।६५	१।२।६९	१।२।१०१	१।२।१०३
१।२।२७	१।३।३३	१।२।६६	१।२।७०	१।२।१०२	१।२।१०४
१।२।२८	१।३।३४	१।२।६७	१।२।७१	१।२।१०३	१।२।१०५
१।२।२९	१।३।३५	१।२।६८	१।२।७२	१।२।१०४	१।२।१०६
१।२।३०	१।३।३६	१।२।६९	१।२।७३	१।२।१०५	१।२।१०७
१।२।३१	१।३।३७	१।२।७०	१।२।७४	१।२।१०६	१।२।१०८

१।२।१०६	१।४।२३	१।२।१४७	१।४।७८	१।३।२५	२।१।२८
१।२।११०	१।४।२४	१।२।१४८	१।४।७९	१।३।२६	२।१।२९
१।२।१११	१।२।३२	१।२।१४९	१।४।८०	१।३।२७	२।१।३०
१।२।११२	१।४।३५	१।२।१५०	१।४।८१	१।३।२८	२।१।३१
१।२।११३	१।४।४४	१।२।१५१	१।४।१००	१।३।२९	२।१।३२
१।२।११४	१।४।४२	१।२।१५२	१।४।१०१	१।३।३०	२।१।३४, ३५
१।२।११५	१।४।४३	१।२।१५३	१।४।१०५, १०७, १०८	१।३।३१	२।१।३६
१।२।११६	१।४।४५	१।२।१५४	१।४।१०६	१।३।३२	२।१।३७
१।२।११७	१।४।४६	१।२।१५५	१।४।१०७	१।३।३३	२।१।३८
१।२।११८	१।४।४८	१।२।१५६	१।४।१०८	१।३।३४	२।१।३९
१।२।११९	१।४।४७	१।२।१५७	१।४।१०९	१।३।३५	२।१।४०
१।२।१२०	१।४।४९	१।२।१५८	१।४।१०४	१।३।३६	२।१।४१
१।२।१२१	१।४।५१	१।२।१५८	X	१।३।३७	२।१।४३
१।२।१२२	१।४।५२	अध्याय १ पाद ३		१।३।३८	२।१।४४
१।२।१२३		१।३।१	२।१।१	१।३।३९	२।१।४५
१।२।१२४	१।४।५३	१।३।२	२।१।३	१।३।४०	२।१।४६
१।२।१२५	१।४।५४	१।३।३	२।१।४	१।३।४१	२।१।४७
१।२।१२६	१।४।५५	१।३।४	२।१।५	१।३।४२	२।१।४८
१।२।१२७	१।४।५६	१।३।५	२।१।६	१।३।४३	२।१।४८
१।२।१२८	१।४।५७	१।३।६	२।१।७, ८	१।३।४४	२।१।४९
१।२।१२९	१।४।५८	१।३।७	२।१।८	१।३।४५	२।१।५०
१।२।१३०	१।४।५९	१।३।८	२।१।१०	१।३।४६	२।१।५१
१।२।१३१	१।४।६०	१।३।९	२।१।११	१।३।४७	२।१।५२
१।२।१३२	१।४।६१	१।३।१०	२।१।१२	१।३।४८	२।१।५३
१।२।१३३	१।४।६२	१।३।११	२।१।१४	१।३।४९	२।१।५४
१।२।१३४	१।४।६३	१।३।१२	२।१।१५	१।३।५०	२।१।५५
१।२।१३५	१।४।६४, ६५	१।३।१३	२।१।१६	१।३।५१	२।१।५६
१।२।१३६	१।४।६६	१।३।१४	२।१।१७	१।३।५२	२।१।५७
१।२।१३७	१।४।६७, ६८	१।३।१५	२।१।१८	१।३।५३	२।१।५८
१।२।१३८	१।४।६९	१।३।१६	२।१।१९	१।३।५४	२।१।५९
१।२।१३९	१।४।७०	१।३।१७	२।१।२०	१।३।५५	२।१।६०
१।२।१४०	१।४।७१	१।३।१८	२।१।२१	१।३।५६	२।१।६१
१।२।१४१	१।४।७२	१।३।१९	२।१।२२	१।३।५७	२।१।६२
१।२।१४२	१।४।७३	१।३।२०	१।३।२४	१।३।५८	२।१।६३
१।२।१४३	१।४।७४	१।३।२१		१।३।५९	२।१।६४
१।२।१४४	१।४।७५	१।३।२२	२।१।२५	१।३।६०	२।१।६५
१।२।१४५	१।४।७६	१।३।२३	२।१।२६	१।३।६१	२।१।७१
१।२।१४६	१।४।७७	१।३।२४	२।१।२७	१।३।६२	२।१।६६

१।३।६३	२।१।६७
१।३।६४	२।१।६८
१।३।६५	२।१।७०
१।३।६६	२।१।७२
१।३।६७	२।२।५
१।३।६८	२।२।६
१।३।६९	२।२।७
१।३।७०	२।२।८
१।३।७१	×
१।३।७२	२।२।९
१।३।७३	×
१।३।७४	२।२।१०
१।३।७५	२।२।११
१।३।७६	२।२।१४
१।३।७७ } १।३।७८ }	२।२।१५
१।३।७९	२।२।१६
१।३।८०	२।२।१७
१।३।८१	२।२।१८
१।३।८२	२।२।१९
१।३।८३	२।२।२०
१।३।८४	२।२।२१
१।३।८५	२।२।२२
१।३।८६	२।२।२४
१।३।८७	२।२।२५
१।३।८८	२।२।२६
१।३।८९	२।२।२७
१।३।९० } १।३।९१ }	२।२।२८
१।३।९२	२।२।२९
१।३।९३	१।२।४३
१।३।९४	१।२।४४
१।३।९५	×
२।३।९६	२।२।३१
१।३।९७	२।२।३०
१।३।९८	२।२।३२
१।३।९९	२।२।३३
१।३।१००	२।२।३४

१।३।१०१	२।२।३५
१।३।१०२	२।२।३६
१।३।१०३	२।२।३७
१।३।१०४	२।३।३८
१।३।१०५	×

अध्याय १ पाद ४

१।४।१	२।३।१
१।४।२	२।३।२
१।४।३	२।३।४
१।४।४	२।३।५
१।४।५	२।३।३
१।४।६	२।३।७
१।४।७	१।४।९४
१।४।८	१।४।९५
१।४।९	१।४।९६
१।४।१०	१।४।९३
१।४।११	×
१।४।१२	×
१।४।१३	×
१।४।१४	×
१।४।१५	×
१।४।१६	×
१।४।१७ } १।४।१८ }	२।३।९
१।४।१९ } १।४।२० }	२।३।१०
१।४।२१ }	
१।४।२२	२।३।११
१।४।२३	२।३।१३
१।४।२४	२।३।१४
१।४।२५	२।३।१५
१।४।२६	२।३।१६
१।४।२७	२।३।१७
१।४।२८	२।३।२२
१।४।२९	२।३।२८
१।४।३०	२।३।२९
१।४।३१	२।३।२०, २१
१।४।३२	२।३।२३

१।४।३३	२।३।२४
१।४।३४	२।३।२५
१।४।३५	२।३।२६
१।४।३६	२।३।२७
१।४।३७	२।३।२८
१।४।३८	२।३।२९
१।४।३९	२।३।३०
१।४।४०	२।३।३१
१।४।४१	२।३।३२
१।४।४२	२।३।३४
१।४।४३	२।३।३५
१।४।४४	२।३।३६
१।४।४५	२।३।३७
१।४।४६	२।३।३८
१।४।४७	२।३।३९
१।४।४८	२।३।४०
१।४।४९	२।३।४१
१।४।५०	२।३।४२
१।४।५१	२।३।४३
१।४।५२	२।३।४४
१।४।५३	२।३।४५
१।४।५४	२।३।४६
१।४।५५	२।३।४८
१।४।५६	२।३।४९
१।४।५७	२।३।५०
१।४।५८	२।३।५१
१।४।५९	२।३।५२
१।४।६०	२।३।५३
१।४।६१	२।३।५४
१।४।६२	२।३।५५
१।४।६३	२।३।५६
१।४।६४	२।३।५७
१।४।६५	२।३।५८
१।४।६६	२।३।५९
१।४।६७	२।३।६४
१।४।६८	२।३।६५
१।४।६९	२।३।६६
१।४।७० } १।४।७१ }	२।३।६७, ६८

१।४।७२	२।३।६६	१।४।११०	२।४।३६	१।४।१४७	२।४।७८
१।४।७३ }	२।३।७०	१।४।१११	२।४।३७	१।४।१४८	२।४।७९
१।४।७४ }		१।४।११२	२।४।३८	१।४।१४९	२।४।८१
१।४।७५	२।३।७१	१।४।११३	२।४।४०	१।४।१५० }	२।४।८२
१।४।७६	२।३।७२	१।४।११४	२।४।४१	१।४।१५१ }	
१।४।७७	२।३।७३	१।४।११५	२।४।४२	१।४।१५२	२।४।८३
१।४।७८	२।४।२	१।४।११६	२।४।४३	१।४।१५३	२।४।८४
१।४।७९	२।४।३	१।४।११७	२।४।४४	१।४।१५४	२।४।८५
१।४।८०	२।४।४	१।४।११८	२।४।४५	अध्याय २ पाद १	
१।४।८१	२।४।५	१।४।११९	२।४।४६	२।४।१	३।४।१
१।४।८२	२।४।६	१।४।१२०	२।४।४७	२।४।२	३।४।२
१।४।८३	२।४।७	१।४।१२१	२।४।४८	२।४।३	३।४।५
१।४।८४	२।४।८	१।४।१२२	२।४।४९	२।४।४	३।४।६
१।४।८५	२।४।९	१।४।१२३	२।४।५०	२।४।५	३।४।७
१।४।८६	२।४।१०	१।४।१२४	२।४।५१	२।४।६	३।४।८
१।४।८७	२।४।११	१।४।१२५	२।४।५२, ५३	२।४।७	३।४।९
१।४।८८	२।४।१२	१।४।१२६	२।४।५४	२।४।८	३।४।१०
१।४।८९	२।४।१३	१।४।१२७	X	२।४।९	३।४।११
१।४।९०	२।४।१४	१।४।१२८	२।४।५५	२।४।१०	३।४।१२
१।४।९१	२।४।१५	१।४।१२९	२।४।५६	२।४।११	३।४।१३
१।४।९२	२।४।१६	१।४।१३०	२।४।५७	२।४।१२	३।४।१४
१।४।९३	२।४।१७	१।४।१३१	२।४।५८	२।४।१३	३।४।१५
१।४।९४	२।४।१८	१।४।१३२	२।४।५९	२।४।१४	३।४।१५ ३।४।१७
१।४।९५	२।४।१९	१।४।१३३	२।४।६०, ६१	२।४।१५	
१।४।९६	२।४।२०	१।४।१३४	२।४।६१	२।४।१६	३।४।१८
१।४।९७	२।४।२१	१।४।१३५	२।४।६२	२।४।१७	३।४।१९
१।४।९८	२।४।२२	१।४।१३६	२।४।६३	२।४।१८	३।४।२०
१।४।९९	२।४।२३	१।४।१३७	२।४।६४	२।४।१९	३।४।२१
१।४।१००	२।४।२४	१।४।१३८	२।४।६५	२।४।२०	३।४।२२
१।४।१०१	२।४।२५	१।४।१३९	२।४।६६	२।४।२१	३।४।२३
१।४।१०२	२।४।२६	१।४।१४०	२।४।६७	२।४।२२	३।४।२४
१।४।१०३	२।४।२७	१।४।१४१	२।४।६८	२।४।२३	३।४।२५ ३।४।२६
१।४।१०४ }	२।४।२८	१।४।१४२	२।४।६९	२।४।२४	
१।४।१०५ }		१।४।१४३	२।४।७०	२।४।२५	३।४।२७
१।४।१०६	X	१।४।१४४	२।४।७१	२।४।२६	३।४।२८
१।४।१०७	२।४।३०	१।४।१४५	२।४।७२	२।४।२७	३।४।२९
१।४।१०८	२।४।३१	१।४।१४६	२।४।७३	२।४।२८	३।४।२९ ३।४।३०
१।४।१०९	२।४।३२		२।४।७४		

रा११२६	रा११३२	रा११६७	रा११७१	रा१११०१	×
रा११३०	रा११३३	रा११६८	रा११७२	रा१११०२	रा१११२५
रा११३१	रा११३५	रा११६९	रा११७३	रा१११०३	रा१११२२
रा११३२	रा११३६	रा११७०	रा११७४	रा१११०४	रा१११२९
रा११३३	रा११३७	रा११७१	रा११७५	रा१११०५	रा१११३०,
रा११३४	रा११३८	रा११७२	रा११७६		१३१, १३२
रा११३५	रा११३९	रा११७३	रा११७७, ७८	रा१११०६	रा१११३३
रा११३६	रा११४०	रा११७४	रा११७९	रा१११०७	रा१११३४
रा११३७	रा११४१	रा११७५	रा११८०	रा१११०८	रा१११३५
रा११३८	रा११४३, ४४	रा११७६	रा११८१	रा१११०९	रा१११३६
रा११३९	×	रा११७७	रा११८२	रा११११०	रा१११३७
रा११४०	रा११४५	रा११७८	रा११८३	रा१११११	रा१११३८
रा११४१ }	रा११४६	रा११७९	रा११८४	रा११११२	रा१११३९
रा११४२ }		रा११८०	रा११८५	रा११११३	रा१११४०
रा११४३	रा११४८	रा११८१	रा११८६	रा११११४ }	रा१११४१
रा११४४	रा११४९	रा११८२	रा११८७	रा११११५ }	
रा११४५	रा११५२	रा११८३	रा११८८	रा११११६	रा१११४२
रा११४६	रा११५३	रा११८४	{ रा११८९	रा११११७	रा१११४३
रा११४७	रा११५४		{ रा११९०	रा११११८	रा१११४४
रा११४८	{ रा११५५	रा११८५	{ रा११९१	रा११११९	रा१११४५
	{ रा११५६		{ रा११९२	रा१११२०	रा१११४६,
रा११४९	रा११५७	रा११८६	रा११९३		१४७
रा११५०	रा११५८	रा११८७	रा११९४	रा१११२१	रा१११४८
रा११५१	रा११६०	रा११८८	रा११९५	रा१११२२	रा१११४९
रा११५२	रा११६१	रा११८९	रा११९६	रा१११२३	रा१११५०
रा११५३	रा११६२	रा११९०	रा११९७,	अध्याय २ पाद २	
रा११५४	रा११६३		१०८		
रा११५५	रा११६४	रा११९१	रा११९८	रा१११	रा१११
रा११५६	रा११६५	रा११९२	रा११९९	रा११२	रा११२
रा११५७	×	रा११९३	रा११९०	रा११३	रा११३
रा११५८	×	रा११९४	रा११९१	रा११४ }	रा११४
रा११५९	×	रा११९५	रा११९२	रा११५ }	
रा११६०	रा११९०	रा११९६	रा११९३	रा११६	रा११७
रा११६१	रा११९१	रा११९७	रा११९४	रा११७ }	रा११४
रा११६२	×	रा११९८	रा११९५	रा११८ }	
रा११६३	रा११९७	रा११९९	रा११९६	रा११९	×
रा११६४	रा११९८	रा११९०	रा११९७	रा१११०	रा११५
रा११६५	रा११९९	रा११९१	रा११९८	रा११११	रा११८
रा११६६	रा११९०	रा११९२	रा११९९	रा१११२	रा११८
रा११६७	रा११९१	रा११९३	रा११९०		[वा०]

रा०१३	रा०१	रा०४६	रा०५१	रा०८७	रा०१०४
	[वा०]	रा०५० }	रा०५२, ५३	रा०८८ }	{ रा०१०७, १०८
रा०१४	रा०१	रा०५१ }		रा०८९	रा०१०९
रा०१५	रा०१०	रा०५२	रा०५४	रा०९०	रा०११०
रा०१६	रा०११	रा०५३	रा०५५	रा०९१	रा०१११
रा०१७	रा०१२	रा०५४ }	{ रा०५६	रा०९२	रा०११२,
रा०१८	रा०१३	रा०५५ }	{ रा०५७	रा०९३	११३
रा०१९	रा०१४	रा०५६	रा०५८		
रा०२०	रा०१५	रा०५७	रा०५९	रा०९४	रा०११४
रा०२१	रा०१६	रा०५८	रा०६०	रा०९५	रा०११५
रा०२२	रा०१७	रा०५९	रा०६१	रा०९६	रा०११६
रा०२३	रा०१८	रा०६०	रा०६२	रा०९७	रा०११७
रा०२४	रा०१९	रा०६१	रा०६३	रा०९८	रा०११८
रा०२५	रा०२०	रा०६२	रा०६४	रा०९९ }	{ रा०११९
रा०२६	रा०२१	रा०६३	रा०६५	रा०१०० }	
रा०२७	रा०२२	रा०६४	रा०६६	रा०१०१	रा०११९
रा०२८	×	रा०६५	रा०६७	रा०१०२	रा०१२०
रा०२९	रा०२४	रा०६६	रा०६८	रा०१०३	रा०१२१
रा०३०	रा०२५	रा०६७	रा०६९	रा०१०४	रा०१२२
रा०३१	रा०२६	रा०६८	रा०७०	रा०१०५	रा०१२३
रा०३२	रा०२८	रा०६९	रा०७१	रा०१०६	रा०१२४
रा०३३	{ रा०२९	रा०७०	रा०७२	रा०१०७	रा०१२५
	{ रा०३०	रा०७१	रा०७३	रा०१०८	रा०१२६
रा०३४	रा०३१	रा०७२	रा०७४	रा०१०९	रा०१२७
रा०३५	रा०३२	रा०७३	रा०७५	रा०११०	रा०१२८
रा०३६	रा०३३, ३४	रा०७४	रा०७६	रा०१११	रा०१२९
रा०३७	रा०३५	रा०७५	रा०७७	रा०११२	रा०१३०
रा०३८	रा०३६, ३७	रा०७६	रा०७९	रा०११३	रा०१३१
रा०३९	रा०३८	रा०७७	रा०८०	रा०११४	रा०१३२
रा०४०	रा०४१	रा०७८	रा०८१	रा०११५	रा०१३३
रा०४१	रा०४३	रा०७९	रा०८२		रा०१३४
रा०४२	रा०४४	रा०८०	रा०८३	रा०११६	रा०१३५
रा०४३	रा०४५	रा०८१	रा०८४	रा०११७	रा०१३६
रा०४४	रा०४६	रा०८२	रा०८५	रा०११८ }	{ रा०१३७
रा०४५	रा०४७	रा०८३	रा०८६	रा०११९ }	
रा०४६	रा०४८	रा०८४	रा०८७	रा०१२०	रा०१३८
रा०४७	रा०४९	रा०८५	रा०८८	रा०१२१	रा०१३९
रा०४८	रा०५०	रा०८६	रा०९०	रा०१२२	रा०१४०

रा२।१२३	रा२।१४२	रा२।१६१	रा२।१८१, १८३	रा२।३१	रा२।३३
रा२।१२४	रा२।१४२	रा२।१६२	रा२।१८४	रा२।३२	रा२।३४
रा२।१२५	रा२।१४२	रा२।१६३	रा२।१८५	रा२।३३	रा२।३५
रा२।१२६	रा२।१४५	रा२।१६४	रा२।१८६	रा२।३४	रा२।३६
रा२।१२७ } रा२।१२८ }	रा२।१४६	रा२।१६५	रा२।१८७	रा२।३५	रा२।३६
रा२।१२९	रा२।१४७	रा२।१६६	रा२।१८८	रा२।३६	रा२।३७, ३८
रा२।१३०	रा२।१४८	रा२।१६७	रा२।१	रा२।३७	रा२।३९
रा२।१३१	रा२।१४९	अध्याय २ पाद ३		रा२।३८	रा२।४०
रा२।१३२	रा२।१५०	रा२।१	रा२।३	रा२।३९	रा२।४१
रा२।१३३	रा२।१५१	रा२।२	रा२।४	रा२।४०	रा२।४२
रा२।१३४	रा२।१५०	रा२।३	रा२।५	रा२।४१	रा२।४५
रा२।१३५	रा२।१६६	रा२।४	रा२।६	रा२।४२	रा२।४६
रा२।१३६	रा२।१६५	रा२।५	रा२।७	रा२।४३	रा२।४७
रा२।१३७	रा२।१५४	रा२।६	रा२।८	रा२।४४	रा२।४८
रा२।१३८	रा२।१५५	रा२।७	रा२।९	रा२।४५	रा२।४९
रा२।१३९ } रा२।१४० }	रा२।१५६ रा२।१५७	रा२।८	रा२।१०	रा२।४६	रा२।५०
रा२।१४१	रा२।१५८	रा२।९	रा२।११	रा२।४७	रा२।५१
रा२।१४२	रा२।१५९	रा२।१०	रा२।१२	रा२।४८	रा२।५२
रा२।१४३	रा२।१६०	रा२।११ } रा२।१२ }	रा२।१३	रा२।४९	रा२।५३
रा२।१४४	रा२।१६१	रा२।१३	रा२।१४	रा२।५०	रा२।५४
रा२।१४५	रा२।१६२	रा२।१४	रा२।१५	रा२।५१	रा२।५५
रा२।१४६	रा२।१६३	रा२।१५	रा२।१६	रा२।५२	रा२।५६, ५७, ५८
रा२।१४७	रा२।१६४	रा२।१६	रा२।१७	रा२।५३	रा२।५९
रा२।१४८	रा२।१६७	रा२।१७	रा२।१८	रा२।५४	रा२।६०
रा२।१४९	रा२।१६८	रा२।१८	रा२।१९	रा२।५५	रा२।६६
रा२।१५०	रा२।१६९	रा२।१९	रा२।२०	रा२।५६	रा२।६९
रा२।१५१	रा२।१७२	रा२।२०	रा२।२१	रा२।५७	रा२।७०
रा२।१५२	रा२।१७३	रा२।२१	रा२।२२	रा२।५८	रा२।७१
रा२।१५३	रा२।१७४	रा२।२२	रा२।२३	रा२।५९	रा२।७२
रा२।१५४	रा२।१७५	रा२।२३	रा२।२४	रा२।६०	रा२।७३
रा२।१५५	रा२।१७६	रा२।२४	रा२।२५	रा२।६१	रा२।७४
रा२।१५६ } रा२।१५७ }	रा२।१७७, १७८	रा२।२५	रा२।२६	रा२।६२	रा२।७५
रा२।१५८	रा२।१७९	रा२।२६	रा२।२८	रा२।६३	रा२।७६
रा२।१५९	रा२।१८०	रा२।२७	रा२।२९	रा२।६४	रा२।६१
रा२।१६०	रा२।१८१	रा२।२८	रा२।३०	रा२।६५	रा२।६२
		रा२।२९	रा२।२७	रा२।६६	रा२।६३
		रा२।३०	रा२।३२	रा२।६७	रा२।६४

रा३३६८	रा३३६५	रा३३१०२	रा३३१२१	रा३३१४०	रा३३१६४
रा३३६९	रा३३६८, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७	रा३३१०३	रा३३१२२	रा३३१४१	रा३३१६५
		रा३३१०४	रा३३१२६	रा३३१४२	रा३३१६६
		रा३३१०५	रा३३१२७	रा३३१४३	रा३३१६७
		रा३३१०६	रा३३१२८	रा३३१४४	रा३३१६८
		रा३३१०७	रा३३१३१	रा३३१४५	रा३३१६९
रा३३७०	रा३३८८	रा३३१०८	रा३३१३२	रा३३१४६	रा३३१७०
रा३३७१	रा३३८९	रा३३१०९	रा३३१३३	रा३३१४७	रा३३१७१
रा३३७२	रा३३९०, ९१	रा३३११०	रा३३१३४	रा३३१४८	रा३३१७२
रा३३७३	रा३३९२	रा३३१११	रा३३१३५	रा३३१४९	रा३३१७३
रा३३७४	रा३३९३	रा३३११२	रा३३१३६	रा३३१५०	रा३३१७४
रा३३७५	रा३३९४	रा३३११३	रा३३१३७	रा३३१५१	रा३३१७५
रा३३७६	} रा३३४२	रा३३११४	रा३३१३८	रा३३१५२	रा३३१७६
रा३३७७		रा३३११५	रा३३१३९	अध्याय २ पाद ४	
रा३३७८	रा३३९७	रा३३११६	रा३३१४०	रा३४१	रा३४१
रा३३७९	रा३३९५	रा३३११७	रा३३१४१	रा३४२	रा३४२
रा३३८०	रा३३९८	रा३३११८	रा३३१४२	रा३४३	रा३४३
रा३३८१	रा३३९९	रा३३११९	रा३३१४३	रा३४४	रा३४१८
रा३३८२	रा३३१००	रा३३१२०	रा३३१४४	रा३४५	रा३४१९
रा३३८३	रा३३१०१	रा३३१२१	रा३३१४५	रा३४६	रा३४२०
रा३३८४	रा३३१०२	रा३३१२२	रा३३१४६	रा३४७	रा३४२१
रा३३८५	रा३३१०३	रा३३१२३	रा३३१४७	रा३४८	रा३४२२
रा३३८६	रा३३१०४	रा३३१२४	रा३३१४८	रा३४९	रा३४२३
रा३३८७	रा३३१०५	रा३३१२५	रा३३१४९	रा३४१०	रा३४२४
रा३३८८	रा३३१०६	रा३३१२६	रा३३१५०	रा३४११	रा३४२५
रा३३८९	रा३३१०७	रा३३१२७	रा३३१५१	रा३४१२	रा३४२६
रा३३९०	रा३३१०८	रा३३१२८	रा३३१५२	रा३४१३	रा३४२७
रा३३९१	रा३३११०	रा३३१२९	रा३३१५३	रा३४१४	रा३४२८
रा३३९२	रा३३१११	रा३३१३०	रा३३१५४	रा३४१५	रा३४२९
रा३३९३	रा३३११२	रा३३१३१	रा३३१५५	रा३४१६	रा३४३०
रा३३९४	रा३३११३	रा३३१३२	रा३३१५६	रा३४१७	रा३४३१
रा३३९५	रा३३११४	रा३३१३३	रा३३१५७	रा३४१८	रा३४३२
रा३३९६	×	रा३३१३४	रा३३१५८	रा३४१९	रा३४३३
रा३३९७	रा३३११५	रा३३१३५	रा३३१५९	रा३४२०	रा३४३५
रा३३९८	रा३३११६	रा३३१३६	रा३३१६०	रा३४२१	रा३४३६
रा३३९९	रा३३११७	रा३३१३७	रा३३१६१	रा३४२२	रा३४३४
रा३३१००	रा३३११८	रा३३१३८	रा३३१६२	रा३४२३	रा३४३६
रा३३१०१	रा३३११०	रा३३१३९	रा३३१६३	रा३४२४	रा३४३७

रा४।२५	रा४।३६	रा४।३३	रा४।७७	रा४।३	रा४।३
रा४।२६	रा४।४०	रा४।६४	रा४।७८	रा४।४	रा४।४
रा४।२७	रा४।३८	रा४।६५	रा४।७९	रा४।५	रा४।७५
रा४।२८	रा४।४१	रा४।६६	रा४।८०	रा४।६	रा४।५,६
रा४।२९	रा४।४२	रा४।६७	रा४।८१	रा४।७	रा४।७
रा४।३०	रा४।४३	रा४।६८	रा४।८२	रा४।८	रा४।१०
रा४।३१	रा४।४४	रा४।६९	रा४।८३	रा४।९	रा४।११
रा४।३२	रा४।४५	रा४।७०	रा४।८४	रा४।१०	रा४।१२
रा४।३३	रा४।४६	रा४।७१		रा४।११	रा४।१३
रा४।३४	रा४।४८	रा४।७२	रा४।८५	रा४।१२	रा४।२९
रा४।३५	रा४।४९	रा४।७३	रा४।८६	रा४।१३	रा४।२५
रा४।३६	रा४।५०, ५१	रा४।७४	रा४।८७	रा४।१४	रा४।२६, २७
रा४।३७	रा४।५२	रा४।७५	रा४।८९	रा४।१५	रा४।८
रा४।३८	रा४।५३	रा४।७६	रा४।९०	रा४।१६	रा४।९
रा४।३९	रा४।५४	रा४।७७	रा४।९१	रा४।१७	रा४।१४
रा४।४०	रा४।५५	रा४।७८	रा४।९२	रा४।१८	रा४।१५
रा४।४१	रा४।५६	रा४।७९	रा४।९३	रा४।१९	रा४।१६
रा४।४२	रा४।५७	रा४।८०	रा४।९६	रा४।२०	रा४।१७
रा४।४३	रा४।५८	रा४।८१	रा४।१००	रा४।२१	रा४।१८
रा४।४४	रा४।५९	रा४।८२	रा४।१०१	रा४।२२	रा४।१९
रा४।४५	रा४।६०	रा४।८३	रा४।१०२	रा४।२३	रा४।४१
रा४।४६	रा४।६१	रा४।८४	रा४।१०३	रा४।२४	रा४।२०
रा४।४७	रा४।६२	रा४।८५	रा४।१०४	रा४।२५	रा४।२१
रा४।४८	रा४।६३	रा४।८६	रा४।१०५,	रा४।२६ } रा४।२७ }	रा४।२२
रा४।४९	रा४।६४		१०६		
रा४।५०	रा४।६५	रा४।८७	रा४।१०७	रा४।२८	रा४।२३
रा४।५१	रा४।६६	रा४।८८	रा४।१०८	रा४।२९	रा४।२४
रा४।५२	रा४।६७	रा४।८९	रा४।१०९	रा४।३०	रा४।४४
रा४।५३	रा४।६८	रा४।९०	रा४।११०	रा४।३१	रा४।४५
रा४।५४	रा४।६९	रा४।९१	रा४।१११	रा४।३२	रा४।३२
रा४।५५	रा४।७०	रा४।९२	रा४।११२	रा४।३३	रा४।३३
रा४।५६	रा४।७१	रा४।९३	रा४।११३	रा४।३४	रा४।३५
रा४।५७ } रा४।५८ }	रा४।७२	रा४।९४	रा४।११४	रा४।३५	रा४।३४
		रा४।९५	रा४।११५	रा४।३६	रा४।३९
रा४।५९	रा४।७६	रा४।९६	रा४।११६	रा४।३७	रा४।४२
रा४।६०	रा४।७३	अध्याय ३ पाद १		रा४।३८	रा४।४८
रा४।६१	रा४।७४			रा४।३९	रा४।३६
रा४।६२	रा४।७५			रा४।४०	रा४।३७

३।१।४१	४।१।३८	३।१।७६	४।१।६३	३।१।११६	४।१।१२७
३।१।४२	४।१।४६	३।१।८०	४।१।६४	३।१।११७	४।१।१२८
३।१।४३	४।१।५०	३।१।८१	४।१।१६३	३।१।११८	४।१।१३०
३।१।४४	४।१।५१	३।१।८२	४।१।१६४	३।१।११९	४।१।१२९
३।१।४५	४।१।५२	३।१।८३	४।१।१६५	३।१।१२०	४।१।१३१
३।१।४६	४।१।५३	३।१।८४	४।१।१६६, १६७	३।१।१२१	४।१।१३२, १३४
३।१।४७	४।१।५४				
३।१।४८	४।१।५५	३।१।८५	४।१।१६५, ९६	३।१।१२२	४।१।१३३
३।१।४९	४।१।५६	३।१।८६	४।१।९७	३।१।१२३	४।१।१३५
३।१।५०	४।१।५७	३।१।८७	४।१।९८	३।१।१२४	४।१।१३६
३।१।५१	४।१।५८	३।१।८८	४।१।९९	३।१।१२५	४।१।१३८
३।१।५२	४।१।६२	३।१।८९	४।१।१००	३।१।१२६	४।१।१३७
३।१।५३	४।१।६३	३।१।९०	४।१।१०१	३।१।१२७	४।१।१४०
३।१।५४	४।१।६४	३।१।९१	४।१।१०२	३।१।१२८	४।१।१३९
३।१।५५	४।१।६५	३।१।९२	४।१।१०३	३।१।१२९	
३।१।५६	४।१।६६	३।१।९३	४।१।१०४	३।१।१३०	४।१।१४१
३।१।५७	४।१।६८	३।१।९४	४।१।१०५	३।१।१३१	४।१।१४२
३।१।५८	४।१।६९	३।१।९५	४।१।१०६	३।१।१३२	४।१।१४३
३।१।५९	४।१।७०	३।१।९६	४।१।१०७	३।१।१३३	४।१।१४४
३।१।६०	४।१।६७, ७१	३।१।९७	४।१।१०८	३।१।१३४	४।१।१४६
३।१।६१	४।१।७६	३।१।९८	४।१।१०९	३।१।१३५	४।१।१४७
३।१।६२	४।१।७७	३।१।९९	४।१।११०	३।१।१३६	४।१।१४८
३।१।६३	४।१।७८	३।१।१००	४।१।१११	३।१।१३७	४।१।१४९
३।१।६४	४।१।७९	३।१।१०१	४।१।११२	३।१।१३८	४।१।१५०
३।१।६५	४।१।८०	३।१।१०२	४।१।११३	३।१।१३९	४।१।१५१
३।१।६६	४।१।८१	३।१।१०३	४।१।११४	३।१।१४०	४।१।१५२, १५३
३।१।६७	४।१।८२	३।१।१०४	४।१।११५		
३।१।६८	४।१।८३	३।१।१०५	४।१।११६	३।१।१४१	४।१।१५४
३।१।६९	४।१।८४	३।१।१०६	४।१।११७	३।१।१४२	४।१।१५५
३।१।७०	४।१।८५	३।१।१०७	४।१।११८	३।१।१४३	४।१।१५६
३।१।७१	४।१।८६	३।१।१०८	४।१।११९	३।१।१४४	४।१।१५७
३।१।७२	४।१।८७	३।१।१०९	४।१।१२०	३।१।१४५	४।१।१५८
३।१।७३	४।१।८९	३।१।११०	४।१।१२१	३।१।१४६	४।१।१५९
३।१।७४	४।१।८८	३।१।१११	४।१।१२२	३।१।१४७	४।१।१६०
३।१।७५	४।१।९०	३।१।११२	४।१।१२३	३।१।१४८	४।१।१६१
३।१।७६	४।१।९१	३।१।११३	४।१।१२४	३।१।१४९	४।१।१७४
३।१।७७	४।१।९२	३।१।११४	४।१।१२५	३।१।१५०	४।१।१६८
३।१।७८	४।१।९६२	३।१।११५	४।१।१२६	३।१।१५१	४।१।१६९

३।१।१५२	४।१।१७०
३।१।१५३	४।१।१७१, १७२
३।१।१५४	४।१।१७३
३।१।१५५	×
३।१।१५६	४।१।१७५
३।१।१५७	४।१।१७६
३।१।१५८	४।१।१७७, १७८

अध्याय ३ पाद २

३।२।१	४।२।१
३।२।२	×
३।२।३	४।२।२
३।२।४	४।२।३
३।२।५	४।२।४
३।२।६	४।२।५
३।२।७	४।२।६
३।२।८	४।२।७
३।२।९	४।२।८
३।२।१०	४।२।९
३।२।११	४।२।१०
३।२।१२	४।२।११
३।२।१३	४।२।१२
३।२।१४	४।२।१३
३।२।१५	४।२।१४
३।२।१६	४।२।१५
३।२।१७	४।२।१६
३।२।१८	४।२।१७
३।२।१९	४।२।१८
३।२।२०	४।२।१९
३।२।२१	४।२।२०
३।२।२२	४।२।२१
३।२।२३	४।२।२२
३।२।२४	४।२।२३
३।२।२५	४।२।२४
३।२।२६	४।२।२५
३।२।२७	४।२।२६
३।२।२८	४।२।२७

३।२।२६	४।२।३४
३।२।३०	४।२।३५
३।२।३१	४।२।३६
३।२।३२	४।२।३७
३।२।३३	४।२।३८
३।२।३४	४।२।३९
३।२।३५	४।२।४०
३।२।३६	४।२।४१
३।२।३७	४।२।४३
३।२।३८	४।२।४६
३।२।३९	४।२।४७
३।२।४०	४।२।४८
३।२।४१	४।२।४९
३।२।४२	४।२।४२
३।२।४३	४।२।५०
३।२।४४	४।२।५१
३।२।४५	४।२।५२
३।२।४६	४।२।५३
३।२।४७	४।२।५४
३।२।४८	४।२।५६
३।२।४९	४।२।५७
३।२।५०	४।२।५८
३।२।५१	४।२।५९
३।२।५२	४।२।६०
३।२।५३	४।२।६१
३।२।५४	४।२।६४
३।२।५५	४।२।६५
३।२।५६	४।२।६६
३।२।५७	४।२।६७
३।२।५८	४।२।६८
३।२।५९	४।२।६९, ७०
३।२।६०	४।२।७०
३।२।६१	४।२।७१
३।२।६२	४।२।७२
३।२।६३	४।२।७३
३।२।६४	४।२।७४
३।२।६५	४।२।७५
३।२।६६	४।२।७६

३।२।६७	४।२।८७
३।२।६८	४।२।८८
३।२।६९	४।२।८९
३।२।७०	४।२।९०
३।२।७१	४।२।९१
३।२।७२	४।२।९२
३।२।७३	४।२।९३
३।२।७४	४।२।९४
३।२।७५	४।२।९५
३।२।७६	४।२।९७
३।२।७७	४।२।९८
३।२।७८	४।२।९९
३।२।७९	४।२।१००
३।२।८०	४।२।१०१
३।२।८१	४।२।१०४
३।२।८२	४।२।१०५
३।२।८३	४।२।१०६
३।२।८४	४।२।१०७
३।२।८५	४।२।१०८
३।२।८६	४।२।११०
३।२।८७	X
३।२।८८	४।२।११२
३।२।८९	४।२।११३
३।२।९०	४।२।११४
३।२।९१	४।२।११५
३।२।९२	४।२।११६
३।२।९३	४।२।११७
३।२।९४	४।२।११८
३।२।९५	४।२।११९
३।२।९६	४।२।१२०
३।२।९७	४।२।१०३
३।२।९८	४।२।१०४
३।२।९९	४।२।१२१
३।२।१००	४।२।१२२
३।२।१०१	४।२।१२३
३।२।१०२	४।२।१२४
३।२।१०३	४।२।१२५
३।२।१०४	४।२।१२६

૩૨૨૧૦૫	૪૨૨૧૨૭	અધ્યાય ૩ પાદ ૩		૩૨૨૩૯	૪૨૨૬૩
૩૨૨૧૦૬	૪૨૨૧૨૮	૩૨૨૧	૪૨૨૨૫	૩૨૨૪૦	૪૨૨૬૪
૩૨૨૧૦૭	૪૨૨૧૨૯	૩૨૨૨	૪૨૨૨૬	૩૨૨૪૧	૪૨૨૬૫
૩૨૨૧૦૮	૪૨૨૧૩૦	૩૨૨૩	૪૨૨૨૭	૩૨૨૪૨	૪૨૨૬૬
૩૨૨૧૦૯	૪૨૨૧૩૧	૩૨૨૪	૪૨૨૨૮	૩૨૨૪૩	૪૨૨૬૭
૩૨૨૧૧૦	૪૨૨૧૩૨	૩૨૨૫		૩૨૨૪૪	૪૨૨૬૮
૩૨૨૧૧૧	૪૨૨૧૩૩	૩૨૨૬	૪૨૨૨૯	૩૨૨૪૫	૪૨૨૬૯
૩૨૨૧૧૨	૪૨૨૧૩૪	૩૨૨૭	૪૨૨૩૦	૩૨૨૪૬	૪૨૨૭૦
૩૨૨૧૧૩	૪૨૨૧૩૫,	૩૨૨૮	૪૨૨૩૪	૩૨૨૪૭	૪૨૨૭૧
	૧૩૬			૩૨૨૪૮	૪૨૨૭૨
૩૨૨૧૧૪	૪૨૨૧૩૭,	૩૨૨૧૦	૪૨૨૩૫	૩૨૨૪૯	૪૨૨૭૩
	૧૩૮	૩૨૨૧૧		૩૨૨૫૦	૪૨૨૭૪
૩૨૨૧૧૫	૪૨૨૧૩૯	૩૨૨૧૨	૪૨૨૩૬	૩૨૨૫૧	૪૨૨૭૫
૩૨૨૧૧૬	૪૨૨૧૪૦	૩૨૨૧૩	૪૨૨૩૭	૩૨૨૫૨	૪૨૨૭૬
૩૨૨૧૧૭	૪૨૨૧૪૧	૩૨૨૧૪	૪૨૨૩૮	૩૨૨૫૩	૪૨૨૭૭
૩૨૨૧૧૮	૪૨૨૧૪૨	૩૨૨૧૫		૩૨૨૫૪	૪૨૨૭૮
૩૨૨૧૧૯	૪૨૨૧૪૩	૩૨૨૧૬	૪૨૨૩૯	૩૨૨૫૫	૪૨૨૭૯
૩૨૨૧૨૦	૪૨૨૧૪૪	૩૨૨૧૭	×	૩૨૨૫૬	૪૨૨૮૦
૩૨૨૧૨૧	૪૨૨૧૪૫	૩૨૨૧૮	૪૨૨૪૦	૩૨૨૫૭	૪૨૨૮૧
૩૨૨૧૨૨	૪૨૨૧૪૬	૩૨૨૧૯	૪૨૨૪૧	૩૨૨૫૮	૪૨૨૮૨
૩૨૨૧૨૩	૪૨૨૧૪૭	૩૨૨૨૦	૪૨૨૪૨	૩૨૨૫૯	૪૨૨૮૩
૩૨૨૧૨૪	૪૨૨૧૪૮	૩૨૨૨૧	૪૨૨૪૩	૩૨૨૬૦	૪૨૨૮૪
૩૨૨૧૨૫	૪૨૨૧૪૯	૩૨૨૨૨	૪૨૨૪૪	૩૨૨૬૧	૪૨૨૮૫
૩૨૨૧૨૬	૪૨૨૧૫૦	૩૨૨૨૩	૪૨૨૪૫	૩૨૨૬૨	૪૨૨૮૬
૩૨૨૧૨૭	૪૨૨૧૫૧	૩૨૨૨૪	૪૨૨૪૬	૩૨૨૬૩	૪૨૨૮૭
૩૨૨૧૨૮	૪૨૨૧૫૨	૩૨૨૨૫	૪૨૨૪૭	૩૨૨૬૪	૪૨૨૮૮
૩૨૨૧૨૯	૪૨૨૧૫૩	૩૨૨૨૬	૪૨૨૪૮	૩૨૨૬૫	૪૨૨૮૯
૩૨૨૧૩૦	૪૨૨૧૫૪	૩૨૨૨૭	૪૨૨૪૯	૩૨૨૬૬	૪૨૨૯૦
૩૨૨૧૩૧	૪૨૨૧૫૫	૩૨૨૨૮	૪૨૨૫૦	૩૨૨૬૭	૪૨૨૯૧
૩૨૨૧૩૨	૪૨૨૧૫૬	૩૨૨૨૯	૪૨૨૫૧	૩૨૨૬૮	૪૨૨૯૨
૩૨૨૧૩૩	૪૨૨૧૫૭	૩૨૨૩૦	૪૨૨૫૨	૩૨૨૬૯	૪૨૨૯૩
૩૨૨૧૩૪	૪૨૨૧૫૮	૩૨૨૩૧	૪૨૨૫૩	૩૨૨૭૦	૪૨૨૯૪
૩૨૨૧૩૫	૪૨૨૧૫૯	૩૨૨૩૨	૪૨૨૫૪		
૩૨૨૧૩૬	૪૨૨૧૬૦	૩૨૨૩૩	૪૨૨૫૫	૩૨૨૭૧	૪૨૨૯૫
૩૨૨૧૩૭	૪૨૨૧૬૧	૩૨૨૩૪	૪૨૨૫૬	૩૨૨૭૨	૪૨૨૯૬
૩૨૨૧૩૮	૪૨૨૧૬૨	૩૨૨૩૫	૪૨૨૫૭	૩૨૨૭૩	૪૨૨૯૭
૩૨૨૧૩૯	૪૨૨૧૬૩	૩૨૨૩૬	૪૨૨૫૮	૩૨૨૭૪	૪૨૨૯૮
૩૨૨૧૪૦	૪૨૨૧૬૪	૩૨૨૩૭	૪૨૨૫૯	૩૨૨૭૫	૪૨૨૯૯
		૩૨૨૩૮	૪૨૨૬૦	૩૨૨૭૬	૪૨૨૯૦
			×	૩૨૨૭૭	૪૨૨૯૧
			૪૨૨૬૧	૩૨૨૭૮	૪૨૨૯૨
			૪૨૨૬૨	૩૨૨૭૯	૪૨૨૯૩

३।३।७७	४।३।१०६	३।३।११४	४।३।१५६	३।३।१५२	४।४।२९
३।३।७८	४।३।१०७	३।३।११५	४।३।१५६	३।३।१५३	४।४।३०
३।३।७९	४।३।१०८	३।३।११६	४।३।१५७	३।३।१५४	४।४।३१
३।३।८०	४।३।१०९	३।३।११७	४।३।१५८	३।३।१५५	४।४।३२, ३३
३।३।८१	४।३।११०	३।३।११८	४।३।१६०	३।३।१५६	४।४।३४
३।३।८२	४।३।१११	३।३।११९	४।३।१६१	३।३।१५७	४।४।३५
३।३।८३	४।३।११४	३।३।१२०	४।३।१६२	३।३।१५८	४।४।३६
३।३।८४	४।३।११५	३।३।१२१	४।३।१६३	३।३।१५९	४।४।३७, ३८
३।३।८५	४।३।११६	३।३।१२२	४।३।१६४	३।३।१६०	४।४।३९
३।३।८६	४।३।११७	३।३।१२३	४।३।१६५	३।३।१६१	४।४।४०
३।३।८७	४।३।११८	३।३।१२४	४।३।१६७	३।३।१६२	४।४।४१
३।३।८८	४।३।१२०	३।३।१२५	४।३।१६८	३।३।१६३	४।४।४२
३।३।८९	४।३।१२१	३।३।१२६	४।४।१	३।३।१६४	४।४।४३
३।३।९०	४।३।१२२	३।३।१२७	४।४।२	३।३।१६५	४।४।४४
३।३।९१	४।३।१२३	३।३।१२८	४।४।३	३।३।१६६	४।४।४५
३।३।९२	४।३।१२४	३।३।१२९	४।४।४	३।३।१६७	४।४।४६
३।३।९३	४।३।१२५	३।३।१३०	४।४।५	३।३।१६८	४।४।४७
३।३।९४	४।३।१२६	३।३।१३१	४।४।७	३।३।१६९	४।४।४८, ४९
३।३।९५	४।३।१२७	३।३।१३२	४।४।८	३।३।१७०	४।४।५०
३।३।९६	४।३।१२८	३।३।१३३	४।४।१०	३।३।१७१	४।४।५१
३।३।९७	४।३।१२९	३।३।१३४	४।४।११	३।३।१७२	४।४।५३
३।३।९८	४।३।१३०	३।३।१३५	४।४।१२	३।३।१७३	४।४।५४
३।३।९९	४।३।१३१	३।३।१३६	४।४।१३	३।३।१७४	४।४।५५
३।३।१००	४।३।१३२	३।३।१३७	४।४।१४	३।३।१७५	४।४।५६
३।३।१०१	४।३।१३३	३।३।१३८	४।४।१५	३।३।१७६	४।४।५७
३।३।१०२	४।३।१३४	३।३।१३९	४।४।१६	३।३।१७७	४।४।५८
३।३।१०३	४।३।१३५	३।३।१४०	४।४।१७	३।३।१७८	४।४।६०
३।३।१०४	४।३।१५३	३।३।१४१	४।४।१८	३।३।१७९	४।४।६१
३।३।१०५	४।३।१५४	३।३।१४२	४।४।१९	३।३।१८०	४।४।६२
३।३।१०६	४।३।१३८	३।३।१४३	४।४।२० वा०	३।३।१८१	४।४।६३
३।३।१०७	४।३।१४२	३।३।१४४ }	४।४।२०	३।३।१८२	४।४।६४
३।३।१०८	४।३।१४३	३।३।१४५ }		३।३।१८३	४।४।६५
३।३।१०९	४।३।१४४	३।३।१४६	४।४।२१	३।३।१८४	४।४।६६
३।३।११०	४।३।१४६	३।३।१४७	४।४।२२	३।३।१८५	४।४।६८
३।३।१११	४।३।१४७	३।३।१४८	४।४।२५	३।३।१८६	४।४।६९
३।३।११२	४।३।१४८	३।३।१४९	४।४।२६	३।३।१८७	४।४।७०
३।३।११३	४।३।१४५,	३।३।१५०	४।४।२७	३।३।१८८	४।४।७१
१४८	३।३।१५१	४।४।२८		३।३।१८९	४।४।७२

३।३।१९०	४।४।७३,७४	३।४।१७	५।१।१८	३।४।५५	५।१।५६
३।३।१९१	४।४।७६	३।४।१८	५।१।२१	३।४।५६	५।१।५७,५८
३।३।१९२	४।२।७७	३।४।१९	५।१।२२	३।४।५७	X
३।३।१९३	४।४।७८,७९	३।४।२०	५।१।२३	३।४।५८	५।१।५९
३।३।१९४	४।४।८३	३।४।२१	५।१।२४	३।४।५९	५।१।६०
३।३।१९५	४।४।८२,८४	३।४।२२	५।१।२५	३।४।६०	५।१।६१
	८५,८६,८७	३।४।२३	X	३।४।६१	X
	८८, ८९, ९०	३।४।२४	५।१।२७	३।४।६२	५।१।६४
३।३।१९६ }	४।४।९१	३।४।२५	५।१।२६	३।४।६३	५।१।६५
३।३।१९७ }		३।४।२६	५।१।२८	३।४।६४	५।१।६६
३।३।१९८	४।४।९२	३।४।२७	५।१।२९,	३।४।६५	५।१।६८
३।३।१९९	४।४।९३	३।४।२८	५।१।३०,३१	३।४।६६	५।१।६९,७०
३।३।२००	४।४।९४	३।४।२९	५।१।३२	३।४।६७	५।१।७१
३।३।२०१	४।४।९७	३।४।३०	५।१।३३	३।४।६८	५।१।७२
३।३।२०२	४।४।९८	३।४।३१ }	५।१।३४	३।४।६९	५।१।७३
३।३।२०३	४।४।९९	३।४।३२ }		३।४।७०	५।१।७४
३।३।२०४	४।४।१००	३।४।३३	५।१।३५	३।४।७१	५।१।७५
३।३।२०५	४।४।१०१	३।४।३४	५।१।३६	३।४।७२	५।१।७६
३।३।२०६	४।४।१०२	३।४।३५	५।१।३७	३।४।७३	५।१।७७
३।३।२०७	४।४।१०४	३।४।३६	५।१।४५	३।४।७४	५।१।७८
३।३।२०८	४।४।१०५	३।४।३७	५।१।३८	३।४।७५	५।१।७९
		३।४।३८ }	५।१।३९	३।४।७६	५।१।८०
		३।४।३९ }		३।४।७७	५।१।८१
		३।४।४०	५।१।४०	३।४।७८ }	५।१।८२
		३।४।४१	५।१।४१	३।४।७९ }	
		३।४।४२	५।१।४२	३।४।८०	५।१।८३
		३।४।४३	५।१।४३	३।४।८१	५।१।८४
		३।४।४४ }	५।१।४४	३।४।८२	५।१।८५
		३।४।४५ }		३।४।८३	५।१।८६
		३।४।४६	५।१।४७	३।४।८४	५।१।८७
		३।४।४७	५।१।४८	३।४।८५	५।१।८८
		३।४।४८	५।१।४९	३।४।८६	५।१।८९
		३।४।४९	५।१।५०	३।४।८७	५।१।९४
		३।४।५०	५।१।५१	३।४।८८	५।१।९५
		३।४।५१	५।१।५२	३।४।८९	५।१।९६
		३।४।५२	५।१।५३	३।४।९०	५।१।९७
		३।४।५३	५।१।५४	३।४।९१	५।१।९८
		३।४।५४	५।१।५५	३।४।९२	५।१।९९

अध्याय ३ पाद ४

३।४।१	५।१।१	३।४।१	५।१।१	३।४।१	५।१।१
३।४।२	५।१।२	३।४।२	५।१।२	३।४।२	५।१।२
३।४।३	५।१।४	३।४।३	५।१।४	३।४।३	५।१।४
३।४।४	५।१।५	३।४।४	५।१।५	३।४।४	५।१।५
३।४।५	५।१।६,७	३।४।५	५।१।६	३।४।५	५।१।६,७
३।४।६	५।१।८	३।४।६	५।१।८	३।४।६	५।१।८
३।४।७	५।१।९	३।४।७	५।१।९	३।४।७	५।१।९
३।४।८ }	५।१।१०	३।४।८ }	५।१।१०	३।४।८ }	५।१।१०
३।४।९ }		३।४।९ }		३।४।९ }	
३।४।१०	५।१।११	३।४।१०	५।१।११	३।४।१०	५।१।११
३।४।११	५।१।१२	३।४।११	५।१।१२	३।४।११	५।१।१२
३।४।१२	५।१।१३	३।४।१२	५।१।१३	३।४।१२	५।१।१३
३।४।१३	५।१।१४	३।४।१३	५।१।१४	३।४।१३	५।१।१४
३।४।१४	५।१।१५	३।४।१४	५।१।१५	३।४।१४	५।१।१५
३।४।१५	५।१।१६	३।४।१५	५।१।१६	३।४।१५	५।१।१६
३।४।१६	५।१।१७	३।४।१६	५।१।१७	३।४।१६	५।१।१७

[illegible]

४११३१	प्रा११०४	४११६८	प्रा१३२	४१११०७	प्रा१३४४
४११३२	प्रा११०५	४११६९	प्रा१३३	४१११०८	प्रा१३४५
४११३३	प्रा११०७	४११७०	प्रा१३४	४१११०९	प्रा१३४६
४११३४	प्रा११०८	४११७१ } प्रा१३५		४११११०	प्रा१३४७
४११३५	प्रा११०९	४११७२ }		४१११११	प्रा१३५०
४११३६	प्रा१११०	४११७३	प्रा१३७	४११११२	प्रा१३५१
४११३७	प्रा११११	४११७४	प्रा१३८	४११११३	प्रा१३५२
४११३८	प्रा१११२	४११७५	प्रा१३९	४११११४	प्रा१३५५
४११३९	प्रा१११३	४११७६	प्रा१४०	४११११५	प्रा१३५६
४११४०	प्रा१११४	४११७७	प्रा१४१	४११११६	प्रा१३५७
४११४१	प्रा१११५	४११७८	प्रा१४२	४११११७	X
४११४२	प्रा१११६	४११७९	प्रा१४४	४११११८	प्रा१३५८
४११४३	प्रा१११७	४११८०	प्रा१४५	४११११९	प्रा१३६०
४११४४	प्रा१११८	४११८१	प्रा१४६	४१११२०	प्रा१३६१
४११४५	प्रा१११९	४११८२	प्रा१४७	४१११२१	प्रा१३६२
४११४६	प्रा११२०	४११८३	प्रा१४८	४१११२२	प्रा१३६३
४११४७	प्रा११२१	४११८४	प्रा१४९	४१११२३	प्रा१३६४
४११४८	प्रा११२४	४११८५	प्रा१५०	४१११२४	प्रा१३६५
४११४९	प्रा११२५	४११८६	प्रा१५१	४१११२५	प्रा१३६६
४११५०	प्रा११२७	४११८७ }	प्रा१५२	४१११२६	प्रा१३६७
४११५१	प्रा११२८	४११८८ }		४१११२७	प्रा१३६८
४११५२	प्रा११२९	४११८९	प्रा१५३	४१११२८	प्रा१३६९
४११५३	प्रा११३०	४११९०	प्रा१५४, २५	४१११२९	प्रा१३७०
४११५४	प्रा११३१	४११९१	X	४१११३०	प्रा१३७१, ७२
४११५५	प्रा११३२	४११९२ }	प्रा१५७	४१११३१	प्रा१३७३, ७४
४११५६	प्रा११३५	४११९३ }		४१११३२	प्रा१३७६
४११५७	प्रा११३६	४११९४	प्रा१५८	४१११३३	प्रा१३७७
४११५८	प्रा११३७	४११९५	प्रा१५९	४१११३४	प्रा१३७८
४११५९	प्रा११३९	४११९६	प्रा१६०	४१११३५	प्रा१३७९
		४११९७	प्रा१६१, ३२	४१११३६	प्रा१३८०
४११६० }	प्रा११३८	४११९८	प्रा१६४	४१११३७	प्रा१३८१
४११६१ }		४११९९	प्रा१६५	४१११३८	प्रा१३८२
४११६२	प्रा११४०,	४१११००	प्रा१६६	४१११३९	प्रा१३८३
	१२३	४१११०१	प्रा१६७	४१११४०	प्रा१३८४
४११६३	प्रा११५९	४१११०२	प्रा१६८	४१११४१	प्रा१३८५
४११६४	प्रा१६०	४१११०३	प्रा१६९	४१११४२	प्रा१३८६
४११६५	प्रा१६१	४१११०४	प्रा१७०	४१११४३	प्रा१३८८
४११६६	प्रा१६२	४१११०५	प्रा१७१	४१११४४	प्रा१३८९
४११६७	प्रा१६५	४१११०६	प्रा१७२		

જા૧૧૪૫	પ્રા૩૧૦	જા૨૧૮	પ્રા૪૧૬	જા૨૧૫૬	પ્રા૪૧૧
જા૧૧૪૬	પ્રા૩૧૧	જા૨૧૯	પ્રા૪૧૦	જા૨૧૫૭	પ્રા૪૧૨
જા૧૧૪૭	પ્રા૩૧૨	જા૨૨૦	પ્રા૪૧૧	જા૨૧૫૮	પ્રા૪૧૩
જા૧૧૪૮	પ્રા૩૧૩	જા૨૨૧	પ્રા૪૧૫	જા૨૧૫૯	પ્રા૪૧૪
જા૧૧૪૯	પ્રા૩૧૪	જા૨૨૨	પ્રા૪૧૪	જા૨૧૬૦	પ્રા૪૧૫
જા૧૧૫૦	પ્રા૩૧૬	જા૨૨૩	પ્રા૪૧૬	જા૨૧૬૧	પ્રા૪૧૭
જા૧૧૫૧	પ્રા૩૧૭	જા૨૨૪	પ્રા૪૧૭	જા૨૧૬૨	પ્રા૪૧૮
જા૧૧૫૨	પ્રા૩૧૮	જા૨૨૫	પ્રા૪૧૮	જા૨૧૬૩	પ્રા૪૧૯
જા૧૧૫૩	પ્રા૩૧૯	જા૨૨૬	પ્રા૪૧૯	જા૨૧૬૪	પ્રા૪૧૦, ૬૧, ૬૨, ૬૩, ૬૪, ૬૬, ૬૭,
જા૧૧૫૪	પ્રા૩૧૦૦	જા૨૨૭	પ્રા૪૨૦	જા૨૧૬૫	પ્રા૪૧૮
જા૧૧૫૫	પ્રા૩૧૦૧	જા૨૨૮	પ્રા૪૨૧	જા૨૧૬૬	પ્રા૪૧૯, ૭૦
જા૧૧૫૬	પ્રા૩૧૦૨	જા૨૨૯	પ્રા૪૨૨	જા૨૧૬૭	પ્રા૪૧૧
જા૧૧૫૭	પ્રા૩૧૦૩	જા૨૩૦	પ્રા૪૨૩	જા૨૧૬૮	પ્રા૪૧૨
જા૧૧૫૮	પ્રા૩૧૦૪	જા૨૩૧	પ્રા૪૨૪	જા૨૧૬૯	પ્રા૪૧૩
જા૧૧૫૯	પ્રા૩૧૦૫	જા૨૩૨	પ્રા૪૨૫	જા૨૧૭૦	પ્રા૪૧૪
જા૧૧૬૦	પ્રા૩૧૦૬	જા૨૩૩	પ્રા૪૨૬	જા૨૧૭૧	પ્રા૪૧૫
જા૧૧૬૧	પ્રા૩૧૦૭	જા૨૩૪	પ્રા૪૨૭	જા૨૧૭૨	પ્રા૪૧૬
જા૧૧૬૨	પ્રા૩૧૦૮	જા૨૩૫	પ્રા૪૨૮, ૨૯	જા૨૧૭૩	પ્રા૪૧૭
જા૧૧૬૩	પ્રા૩૧૦૯	જા૨૩૬	પ્રા૪૩૦	જા૨૧૭૪	
જા૧૧૬૪	પ્રા૩૧૧૦	જા૨૩૭	પ્રા૪૩૧	જા૨૧૭૫	
		જા૨૩૮	પ્રા૪૩૨	જા૨૧૭૬	
		જા૨૩૯	પ્રા૪૩૩	જા૨૧૭૭	
જા૨૧	પ્રા૩૧૧૨	જા૨૪૦	પ્રા૪૩૪	જા૨૧૭૮	પ્રા૪૧૮
જા૨૨	પ્રા૩૧૧૩	જા૨૪૧	પ્રા૪૩૫	જા૨૧૭૯	
જા૨૩	પ્રા૩૧૧૪	જા૨૪૨	પ્રા૪૩૬	જા૨૧૮૦	
જા૨૪	પ્રા૩૧૧૫	જા૨૪૩	પ્રા૪૩૭	જા૨૧૮૧	
જા૨૫	પ્રા૩૧૧૬	જા૨૪૪	પ્રા૪૩૮	જા૨૧૮૨	
જા૨૬	પ્રા૩૧૧૭	જા૨૪૫	પ્રા૪૩૯	જા૨૧૮૩	પ્રા૪૧૯
જા૨૭ } જા૨૮ }	પ્રા૩૧૧૮	જા૨૪૬	પ્રા૪૪૦	જા૨૧૮૪	
જા૨૯	પ્રા૩૧૧૯	જા૨૪૭	પ્રા૪૪૨	જા૨૧૮૫	
જા૨૧૦	પ્રા૪૧, ૨	જા૨૪૮	પ્રા૪૪૩	જા૨૧૮૬	
જા૨૧૧	પ્રા૪૩	જા૨૪૯	પ્રા૪૪૪	જા૨૧૮૭	
જા૨૧૨	પ્રા૪૪	જા૨૫૦	પ્રા૪૪૫	જા૨૧૮૮	પ્રા૪૧૮૩, ૮૪
જા૨૧૩	પ્રા૪૫	જા૨૫૧	પ્રા૪૪૬	જા૨૧૮૯	પ્રા૪૧૮૫
જા૨૧૪	પ્રા૪૬	જા૨૫૨	પ્રા૪૪૭	જા૨૧૯૦	પ્રા૪૧૮૬
જા૨૧૫ } જા૨૧૬ }	પ્રા૪૭	જા૨૫૩	પ્રા૪૪૮	જા૨૧૯૧	પ્રા૪૧૮૭
જા૨૧૭	પ્રા૪૮	જા૨૫૪	પ્રા૪૪૯	જા૨૧૯૨	પ્રા૪૧૮૮
		જા૨૫૫	પ્રા૪૫૦		

જાણી૪૬	દાણી૫૪	જાણી૮૪	દાણી૯૭	જાણી૧૧૭	૧૫૬, ૧૫૭
જાણી૪૭	દાણી૫૫	જાણી૮૫	દાણી૯૮	જાણી૧૧૮	×
જાણી૪૮	દાણી૫૬	જાણી૮૬	દાણી૯૯	જાણી૧૧૮	રોજા૩૨
જાણી૪૯	જાણી૫૭	જાણી૮૭	દાણી૧૦૦	જાણી૧૧૯	રોજા૩૪
જાણી૫૦	દાણી૫૮	જાણી૮૮	દાણી૧૦૧	જાણી૧૨૦	દાણી૧
જાણી૫૧	દાણી૫૯	જાણી૮૯	દાણી૧૦૨	જાણી૧૨૧	દાણી૨
જાણી૫૨	દાણી૬૦	જાણી૯૦	દાણી૧૦૩	જાણી૧૨૨	દાણી૩
જાણી૫૩	દાણી૬૧	જાણી૯૧	દાણી૧૦૪	જાણી૧૨૩	દાણી૪
જાણી૫૪	દાણી૬૨	જાણી૯૨	દાણી૧૦૫	જાણી૧૨૪	દાણી૫
જાણી૫૫	દાણી૬૩	જાણી૯૩	દાણી૧૦૬	જાણી૧૨૫	દાણી૬
જાણી૫૬	દાણી૬૪	જાણી૯૪	દાણી૧૦૭	જાણી૧૨૬	દાણી૭, ૮
જાણી૫૭	દાણી૬૫	જાણી૯૫	દાણી૧૦૮	જાણી૧૨૭	દાણી૮
જાણી૫૮	દાણી૬૬	જાણી૯૬	દાણી૧૦૯	જાણી૧૨૮	દાણી૧૦
જાણી૫૯	દાણી૬૭	જાણી૯૭	દાણી૧૧૦	જાણી૧૨૯	દાણી૧૦
જાણી૬૦	દાણી૬૮	જાણી૯૮	દાણી૧૧૧	જાણી૧૩૦	દાણી૧૧
જાણી૬૧	દાણી૬૯	જાણી૯૯	દાણી૧૧૨	જાણી૧૩૧	દાણી૧૨
જાણી૬૨	દાણી૭૦	જાણી૧૦૦	દાણી૧૧૩, ૧૧૪	જાણી૧૩૨	દાણી૧૪
જાણી૬૩	દાણી૭૧	જાણી૧૦૧	દાણી૧૧૪	જાણી૧૩૩	દાણી૧૭
જાણી૬૪	દાણી૭૨	જાણી૧૦૨	દાણી૧૧૫	જાણી૧૩૪	દાણી૨૧
જાણી૬૫	દાણી૭૩	જાણી૧૦૩	દાણી૧૧૬	જાણી૧૩૫	દાણી૨૨
જાણી૬૬	દાણી૭૪	જાણી૧૦૪	દાણી૧૧૭	જાણી૧૩૬	દાણી૨૩
જાણી૬૭	દાણી૭૫	જાણી૧૦૫	દાણી૧૧૮	જાણી૧૩૭	દાણી૨૪
જાણી૬૮	દાણી૭૬	જાણી૧૦૬	દાણી૧૧૯	જાણી૧૩૮	દાણી૨૫
જાણી૬૯	દાણી૭૭	જાણી૧૦૭	દાણી૧૨૦	જાણી૧૩૯	દાણી૨૬
જાણી૭૦	દાણી૭૮	જાણી૧૦૮	દાણી૧૨૧	જાણી૧૪૦	દાણી૨૭
જાણી૭૧	દાણી૭૯	જાણી૧૦૯	દાણી૧૨૨	જાણી૧૪૧	દાણી૨૮
જાણી૭૨	દાણી૮૦	જાણી૧૧૦	દાણી૧૨૩	જાણી૧૪૨	દાણી૨૯
જાણી૭૩	દાણી૮૧	જાણી૧૧૧	દાણી૧૨૪	જાણી૧૪૩	દાણી૩૦
જાણી૭૪	દાણી૮૨	જાણી૧૧૨	દાણી૧૨૫	જાણી૧૪૪	દાણી૩૧
જાણી૭૫	દાણી૮૩	જાણી૧૧૩	દાણી૧૨૬	જાણી૧૪૫	દાણી૩૨
જાણી૭૬	દાણી૮૪	જાણી૧૧૪	દાણી૧૨૭	જાણી૧૪૬	દાણી૩૪
જાણી૭૭	દાણી૮૫	જાણી૧૧૫	દાણી૧૨૮	જાણી૧૪૭	દાણી૩૫
જાણી૭૮	દાણી૮૬	જાણી૧૧૬	દાણી૧૨૯	જાણી૧૪૮	દાણી૩૬
જાણી૭૯	દાણી૮૭	જાણી૧૧૭	૧૪૪, ૧૪૫,	જાણી૧૪૯	દાણી૩૭
જાણી૮૦	દાણી૮૮	જાણી૧૧૮	૧૪૬, ૧૪૭,	જાણી૧૫૦	દાણી૩૮
જાણી૮૧	દાણી૮૯	જાણી૧૧૯	૧૪૮, ૧૪૯,	જાણી૧૫૧	દાણી૩૯
જાણી૮૨	દાણી૯૦	જાણી૧૨૦	૧૫૦, ૧૫૧,	જાણી૧૫૨	દાણી૪૦
જાણી૮૩	દાણી૯૧	જાણી૧૨૧	૧૫૨, ૧૫૩,	જાણી૧૫૩	દાણી૪૧

४३११५४	६३१४२	४३११६२	६३१८४, ८५	४३१२२६	६३११२८
४३११५५	६३१४३	४३११६३	६३१८६	४३१२३०	६३११२९
४३११५६	६३१४४	४३११६४	६३१८८	४३१२३१	६३११३०
४३११५७	६३१४५	४३११६५	६३१८९	४३१२३२	६३११३७
४३११५८	६३१४६	४३११६६	६३१९०	४३१२३३	६३११३८
४३११५९	६३१४७, ४८	४३११६७	६३१९१	४३१२३४	६३११३९
४३११६०	६३१४९	४३११६८	६३१९२	अध्याय ४ पाद ४	
४३११६१	६३१५०	४३११६९	६३१९३	४४११	६४११
४३११६२	६३१५१	४३१२००	६३१९४	४४१२	६४१२
४३११६३	६३१५२	४३१२०१	६३१९५	४४१३	६४१३, १
४३११६४	६३१५३	४३१२०२	६३१९७	४४१४	६४१६
४३११६५	६३१५४	४३१२०३	६३१९८	४४१५	६४१७
४३११६६	६३१५५	४३१२०४ } ६३१९९		४४१६	६४१८
४३११६७	६३१५६	४३१२०५ }		४४१७	६४११०
४३११६८	६३१५७	४३१२०६	६३११००	४४१८	६४१११
४३११६९	६३१५८	४३१२०७	६३११०१	४४१९	६४११२
४३११७०	६३१५९	४३१२०८	६३११०२	४४११० }	
४३११७१	६३१६०	४३१२०९	६३११०३	४४१११	६४११३
४३११७२	६३१६१	४३१२१०	६३११०४	४४११२	६४११४
४३११७३	६३१६३, ६४	४३१२११	६३११०५	४४११३	६४११५
४३११७४	६३१६२	४३१२१२	६३११०६	४४११४	६४११६
४३११७५	६३१६५	४३१२१३	६३११०७	४४११५	६४११७
४३११७६	६३१६६	४३१२१४	६३११०८	४४११६	६४११८
४३११७७	६३१६७	४३१२१५	६३१११०	४४११७	६४११९
४३११७८	६३१६८	४३१२१६	६३११११	४४११८	६४१२०
४३११७९	६३१७०	४३१२१७	६३१११२	४४११९	६४१२१
४३११८०	६३१७२	४३१२१८	६३१११५	४४१२०	८४१२८
४३११८१ }	६३१७३, ७४	४३१२१९	६३१११६	४४१२१	६४१२२
४३११८२ }		४३१२२०	६३१११७	४४१२२	६४१२३
४३११८३	६३१७५	४३१२२१	६३१११८	४४१२३	६४१२४
४३११८४	६३१७६	४३१२२२	६३१११९, १२०	४४१२४	६४१२५
४३११८५	६३१७७			४४१२५	६४१२६
४३११८६	६३१७८	४३१२२३	६३१२२१	४४१२६	×
४३११८७	६३१७९	४३१२२४	६३१२२३	४४१२७	६४१२७
४३११८८	६३१८०	४३१२२५	६३१२२४	४४१२८	६४१२८, २९
४३११८९	६३१८१	४३१२२६	६३१२२२	४४१२९	६४१३०
४३११९०	६३१८२	४३१२२७	६३१२२५	४४१३०	६४१३१
४३११९१	६३१८३	४३१२२८	६३१२२७	४४१३१	६४१३२

જાજા૩૨	દાજા૩૩	જાજા૭૦	દાજા૭૧	જાજા૧૦૭	દાજા૧૧૭
જાજા૩૩ } જાજા૩૪ }	દાજા૩૪	જાજા૭૧	દાજા૭૪	જાજા૧૦૮	દાજા૧૧૮
જાજા૩૫	દાજા૩૫	જાજા૭૨	દાજા૭૭	જાજા૧૦૯	દાજા૧૧૯
જાજા૩૬	દાજા૩૬	જાજા૭૩	દાજા૭૮	જાજા૧૧૦	દાજા૧૨૦
જાજા૩૭	દાજા૩૭	જાજા૭૪	દાજા૭૯	જાજા૧૧૧	દાજા૧૨૧
જાજા૩૮ } જાજા૩૯ }	દાજા૩૮	જાજા૭૫	દાજા૮૦	જાજા૧૧૨ } જાજા૧૧૩ }	દાજા૧૨૨
જાજા૪૦	દાજા૩૯	જાજા૭૬	×	જાજા૧૧૪	દાજા૧૨૩
જાજા૪૧	દાજા૪૦	જાજા૭૭	દાજા૮૧	જાજા૧૧૫	દાજા૧૨૪
જાજા૪૨	દાજા૪૧	જાજા૭૮	દાજા૮૨	જાજા૧૧૬	દાજા૧૨૫
જાજા૪૩ } જાજા૪૪ }	દાજા૪૨	જાજા૭૯	દાજા૮૩	જાજા૧૧૭	દાજા૧૨૬
જાજા૪૫	દાજા૪૩	જાજા૮૦	દાજા૮૪	જાજા૧૧૮	દાજા૧૨૭
જાજા૪૬	દાજા૪૪	જાજા૮૧	દાજા૮૮	જાજા૧૧૯	દાજા૧૩૦
જાજા૪૭	દાજા૪૫	જાજા૮૨	દાજા૮૭	જાજા૧૨૦	દાજા૧૩૧
જાજા૪૮	દાજા૪૬	જાજા૮૩	દાજા૮૯	જાજા૧૨૧	દાજા૧૩૩
જાજા૪૯	દાજા૪૭	જાજા૮૪	દાજા૯૦	જાજા૧૨૨	દાજા૧૩૪, ૧૩૭
જાજા૫૦	દાજા૪૮	જાજા૮૫	દાજા૯૧	જાજા૧૨૩	દાજા૧૩૫
જાજા૫૧	દાજા૪૯	જાજા૮૬	દાજા૯૨, ૯૩	જાજા૧૨૪	દાજા૧૩૬
જાજા૫૨	દાજા૫૦	જાજા૮૭ } જાજા૮૮ }	દાજા૯૪	જાજા૧૨૫	દાજા૧૩૮
જાજા૫૩	દાજા૫૧	જાજા૮૯	દાજા૯૫	જાજા૧૨૬	દાજા૧૩૯
જાજા૫૪	દાજા૫૨	જાજા૯૦ } જાજા૯૧ }	દાજા૯૬	જાજા૧૨૭	દાજા૧૪૦
જાજા૫૫	દાજા૫૫	જાજા૯૨	દાજા૯૭	જાજા૧૨૮	દાજા૧૪૨
જાજા૫૬	દાજા૫૬	જાજા૯૩	દાજા૯૮	જાજા૧૨૯	દાજા૧૪૩
જાજા૫૭	દાજા૫૭	જાજા૯૪	દાજા૧૦૧	જાજા૧૩૦	દાજા૧૪૪
જાજા૫૮	દાજા૫૮	જાજા૯૫	દાજા૧૦૪	જાજા૧૩૧	દાજા૧૪૪ વા૦
જાજા૫૯	દાજા૫૯	જાજા૯૬	દાજા૧૦૫	જાજા૧૩૨	દાજા૧૪૪ વા૦
જાજા૬૦	દાજા૬૦	જાજા૯૭	દાજા૧૦૬	જાજા૧૩૩	દાજા૧૪૫
જાજા૬૧	દાજા૬૧	જાજા૯૮	દાજા૧૦૭	જાજા૧૩૪ } જાજા૧૩૫ }	દાજા૧૪૭
જાજા૬૨	દાજા૬૨	જાજા૯૯	દાજા૧૦૮, ૧૦૯	જાજા૧૩૬	દાજા૧૪૮
જાજા૬૩	દાજા૬૩	જાજા૧૦૦	દાજા૧૧૦	જાજા૧૩૭ } જાજા૧૩૮ }	દાજા૧૪૯
જાજા૬૪	દાજા૬૫	જાજા૧૦૧	દાજા૧૧૧	જાજા૧૩૯ }	
જાજા૬૫	દાજા૬૬	જાજા૧૦૨	દાજા૧૧૨	જાજા૧૪૦	દાજા૧૫૦
જાજા૬૬	દાજા૬૭	જાજા૧૦૩	દાજા૧૧૩	જાજા૧૪૧	દાજા૧૫૧, ૧૫૨
જાજા૬૭	દાજા૬૮	જાજા૧૦૪	દાજા૧૧૪	જાજા૧૪૨	દાજા૧૪૯ વા૦
જાજા૬૮	દાજા૬૯	જાજા૧૦૫	દાજા૧૧૫	જાજા૧૪૩	દાજા૧૫૩
જાજા૬૯	દાજા૭૦	જાજા૧૦૬	દાજા૧૧૬		

४।४।१४४	६।४।१५४	५।१।१४	७।१।१७	५।१।५२	७।१।७३
४।४।१४५	६।४।१५५	५।१।१५	७।१।१८	५।१।५३	७।१।७४
४।४।१४६	६।४।१५५ वा०	५।१।१६	७।१।१९	५।१।५४	७।१।७५
४।४।१४७	६।४।१५६	५।१।१७	७।१।२०	५।१।५५	७।१।७६
४।४।१४८ } ४।४।१४९ }	६।४।१५७	५।१।१८	७।१।२१	५।१।५६	७।१।७८
४।४।१५०	६।४।१५८	५।१।१९	७।१।२२	५।१।५७	७।१।७९
४।४।१५१	६।४।१५८	५।१।२०	७।१।२३	५।१।५८	७।१।८०
४।४।१५२	६।४।१५९	५।१।२१	७।१।२४	५।१।५९	७।१।८१
४।४।१५२	६।४।१६०	५।१।२२	७।१।२५	५।१।६०	७।१।८२
४।४।१५३	६।४।१६१	५।१।२३	७।१।२७	५।१।६१	७।१।८४
४।४।१५४	६।४।१६३	५।१।२४	७।१।२८	५।१।६२	७।१।८५
४।४।१५५	६।५।१६४	५।१।२५	७।१।२९	५।१।६३	७।१।८६
४।४।१५६	६।४।१७३	५।१।२६	७।१।३०	५।१।६४	७।१।८७
४।४।१५७	६।४।१६५, १६६	५।१।२७	७।१।३१	५।१।६५	७।१।८८
४।४।१५८	६।४।१६७	५।१।२८	७।१।३२	५।१।६६	७।१।८९
४।४।१५९	६।४।१६८	५।१।२९	७।१।३३	५।१।६७	७।१।९०
४।४।१६०	६।४।१६९	५।१।३०	७।१।३५	५।१।६८	७।१।९१
४।४।१६१	६।४।१७०	५।१।३१	७।१।३७	५।१।६९	७।१।९२
४।४।१६२	६।४।१७१	५।१।३२ } ५।१।३३ }	७।१।३९	५।१।७०	७।१।९३
४।४।१६३	६।४।१७२	५।१।३४	७।१।४१	५।१।७१	७।१।९४
४।४।१६४ } ४।४।१६५ } ४।४।१६६ }	६।४।१७४	५।१।३५	७।१।४२	५।१।७२	७।१।९८
		५।१।३६	७।१।४३	५।१।७३	७।१।९९
		५।१।३७	७।१।४४, ५५	५।१।७४	७।१।१००
		५।१।३८	७।१।४५	५।१।७५	७।१।१०१
		५।१।३९	७।१।४६	५।१।७६	७।१।१०२
		५।१।४०	७।१।४७	५।१।७७	७।१।१०३
		५।१।४१	७।१।४८	५।१।७८	७।१।१०४
		५।१।४२	७।१।४९	५।१।७९	७।१।१०५
		५।१।४३	७।१।५०	५।१।८०	७।१।१०६
		५।१।४४	७।१।५१	५।१।८१	७।१।१०७
		५।१।४५	७।१।५२	५।१।८२	७।१।१०८
		५।१।४६	७।१।५३	५।१।८३	७।१।१०९
		५।१।४७	७।१।५४	५।१।८४	७।१।११०
		५।१।४८	७।१।५५	५।१।८५	७।१।१११
		५।१।४९	७।१।५६	५।१।८६	७।१।११२
		५।१।५०	७।१।५७	५।१।८७	७।१।११३
		५।१।५१	७।१।५८	५।१।८८	७।१।११४
				५।१।८९	७।१।११५

अध्याय ५ पाद १

५।१।१	७।१।१	५।१।३९	७।१।६०	५।१।७७	७।१।१
५।१।२	७।१।२	५।१।४०	७।१।६१	५।१।७८ } ५।१।७९ }	७।१।२, ३
५।१।३	७।१।३	५।१।४१	७।१।६२	५।१।८०	७।१।४
५।१।४	७।१।४	५।१।४२	७।१।६३	५।१।८१	७।१।५
५।१।५	७।१।५	५।१।४३	७।१।६४	५।१।८२	७।१।६
५।१।६	७।१।६	५।१।४४	७।१।६५	५।१।८३	७।१।७
५।१।७	७।१।७	५।१।४५	७।१।६६	५।१।८४	७।१।८
५।१।८	७।१।८	५।१।४६	७।१।६७	५।१।८५	७।१।९
५।१।९	७।१।९	५।१।४७	७।१।६८	५।१।८६	७।१।१०
५।१।१०	७।१।१०	५।१।४८	७।१।६९	५।१।८७	७।१।११
५।१।११	७।१।११	५।१।४९	७।१।७०	५।१।८८	७।१।१२
५।१।१२	७।१।१२	५।१।५०	७।१।७१	५।१।८९	७।१।१३
५।१।१३	७।१।१३	५।१।५१	७।१।७२	५।१।९०	७।१।१४

પ્રા૧૧૯૦	ઢારા૪૨		૨૦, ૨૧, ૨૨,	પ્રા૧૧૬૩	ઢારા૧૦૪, ૧૦૫
પ્રા૧૧૯૧	ઢારા૪૩		૨૩, ૨૫, ૨૬	પ્રા૧૧૬૪	ઢારા૧૦૬
પ્રા૧૧૯૨	ઢારા૪૪	પ્રા૧૧૨૭	ઢારા૨૪	પ્રા૧૧૬૫	ઢારા૧૦૭
પ્રા૧૧૯૩	ઢારા૪૫	પ્રા૧૧૨૮	ઢારા૨૭	પ્રા૧૧૬૬	ઢારા૧૦૮
પ્રા૧૧૯૪	ઢારા૪૬	પ્રા૧૧૨૯	ઢારા૩૦	પ્રા૧૧૬૭	ઢારા૧૦૯
પ્રા૧૧૯૫	ઢારા૪૭	પ્રા૧૧૩૦	ઢારા૩૧	પ્રા૧૧૬૮	ઢારા૧૧૦
પ્રા૧૧૯૬	ઢારા૪૮	પ્રા૧૧૩૧	ઢારા૩૨	પ્રા૧૧૬૯	ઢારા૧૧૧
પ્રા૧૧૯૭	ઢારા૪૯	પ્રા૧૧૩૨	ઢારા૩૩	પ્રા૧૧૭૦	ઢારા૧૧૨
પ્રા૧૧૯૮	ઢારા૫૦	પ્રા૧૧૩૩	ઢારા૩૪	પ્રા૧૧૭૧	ઢારા૧૧૩
પ્રા૧૧૯૯	ઢારા૫૧	પ્રા૧૧૩૪	ઢારા૩૫	અધ્યાય ૫ પાદ ૨	
પ્રા૧૧૧૦૦	ઢારા૫૨	પ્રા૧૧૩૫	ઢારા૩૬	પ્રારા૧	ઢારા૧૧૪
પ્રા૧૧૧૦૧	ઢારા૫૩	પ્રા૧૧૩૬	ઢારા૩૮	પ્રારા૨	X
પ્રા૧૧૧૦૨	ઢારા૫૪	પ્રા૧૧૩૭	ઢારા૩૭	પ્રારા૩	ઢારા૧૧૫
પ્રા૧૧૧૦૩	ઢારા૫૫	પ્રા૧૧૩૮	ઢારા૩૯	પ્રારા૪	ઢારા૧૧૬
પ્રા૧૧૧૦૪	ઢારા૫૬	પ્રા૧૧૩૯	ઢારા૮૦	પ્રારા૫	ઢારા૧૧૭
પ્રા૧૧૧૦૫	ઢારા૫૭	પ્રા૧૧૪૦	ઢારા૮૧	પ્રારા૬	ઢારા૧૧૮
પ્રા૧૧૧૦૬	ઢારા૫૮	પ્રા૧૧૪૧	ઢારા૮૨	પ્રારા૭	ઢારા૧૧૯
પ્રા૧૧૧૦૭	ઢારા૫૯	પ્રા૧૧૪૨	ઢારા૮૩	પ્રારા૮	ઢારા૧૨૦
પ્રા૧૧૧૦૮	ઢારા૬૦,	પ્રા૧૧૪૩	ઢારા૮૪	પ્રારા૯	ઢારા૧૨૧
	૬૧, ૬૨	પ્રા૧૧૪૪	ઢારા૮૫	પ્રારા૧૦	ઢારા૧૨૨
પ્રા૧૧૧૦૯	ઢારા૬૩	પ્રા૧૧૪૫	ઢારા૮૬	પ્રારા૧૧	ઢારા૧૨૩
પ્રા૧૧૧૧૦	ઢારા૬૬	પ્રા૧૧૪૬	ઢારા૮૭	પ્રારા૧૨	ઢારા૧૨૪
પ્રા૧૧૧૧૧	ઢારા૬૬	પ્રા૧૧૪૭	ઢારા૮૮	પ્રારા૧૩	ઢારા૧૨૫
પ્રા૧૧૧૧૨	X	પ્રા૧૧૪૮	ઢારા૮૯	પ્રારા૧૪	ઢારા૧૨૬
પ્રા૧૧૧૧૩	} ઢારા૮	પ્રા૧૧૪૯	ઢારા૯૦	પ્રારા૧૫	ઢારા૧૨૭
પ્રા૧૧૧૧૪		પ્રા૧૧૫૦	ઢારા૯૧	પ્રારા૧૬	ઢારા૧૨૮
પ્રા૧૧૧૧૫	ઢારા૧૦	પ્રા૧૧૫૧	ઢારા૯૨	પ્રારા૧૭	ઢારા૧૨૯
પ્રા૧૧૧૧૬	ઢારા૧૧	પ્રા૧૧૫૨	ઢારા૯૩	પ્રારા૧૮	ઢારા૧૩૦
પ્રા૧૧૧૧૭	ઢારા૧૧	પ્રા૧૧૫૩	ઢારા૯૪	પ્રારા૧૯	ઢારા૧૩૧
પ્રા૧૧૧૧૮	ઢારા૧૨	પ્રા૧૧૫૪	ઢારા૯૫	પ્રારા૨૦	ઢારા૧૩૨
પ્રા૧૧૧૧૯	ઢારા૧૩	પ્રા૧૧૫૫	ઢારા૯૬	પ્રારા૨૧	ઢારા૧૩૩
પ્રા૧૧૧૨૦	ઢારા૧૪	પ્રા૧૧૫૬	ઢારા૯૭	પ્રારા૨૨	ઢારા૧૩૪
પ્રા૧૧૧૨૧	ઢારા૧૫	પ્રા૧૧૫૭	ઢારા૯૮	પ્રારા૨૩	ઢારા૧૩૫
પ્રા૧૧૧૨૨	ઢારા૧૬	પ્રા૧૧૫૮	ઢારા૯૯	પ્રારા૨૪	ઢારા૧૩૬
પ્રા૧૧૧૨૩	ઢારા૧૭	પ્રા૧૧૫૯	ઢારા૧૦૦	પ્રારા૨૫	ઢારા૧૩૭
પ્રા૧૧૧૨૪	ઢારા૧૭	પ્રા૧૧૬૦	ઢારા૧૦૧	પ્રારા૨૬	ઢારા૧૩૮
પ્રા૧૧૧૨૫	ઢારા૧૮, ૨૦	પ્રા૧૧૬૧	ઢારા૧૦૨	પ્રારા૨૭	ઢારા૧૩૯
પ્રારા૧૨૬	ઢારા૧૮, ૨૧,	પ્રા૧૧૬૨	ઢારા૧૦૩	પ્રારા૨૮	ઢારા૧૪૦

પ્રારા૨૬	ઝારા૨૪	પ્રારા૬૭	ઝારા૬૭	પ્રારા૧૦૪	ઝારા૧૦૬
પ્રારા૩૦ }	ઝારા૨૫	પ્રારા૬૮	ઝારા૬૧, ૬૨	પ્રારા૧૦૫	ઝારા૧૧૦
પ્રારા૩૧ }			૬૪, ૬૮	પ્રારા૧૦૬	ઝારા૧૧૧
પ્રારા૩૨	ઝારા૨૬, ૨૭	પ્રારા૬૯	ઝારા૭૨	પ્રારા૧૦૭	ઝારા૧૧૨
પ્રારા૩૩	ઝારા૨૮, ૨૯	પ્રારા૭૦	ઝારા૭૩	પ્રારા૧૦૮	ઝારા૧૧૩
પ્રારા૩૪	ઝારા૩૦	પ્રારા૭૧	ઝારા૭૧	પ્રારા૧૦૯	ઝારા૧૧૪
પ્રારા૩૫	ઝારા૩૧	પ્રારા૭૨	ઝારા૭૪	પ્રારા૧૧૦	ઝારા૧૧૬
પ્રારા૩૬	ઝારા૩૨	પ્રારા૭૩	ઝારા૭૫	પ્રારા૧૧૧	ઝારા૧૧૭
પ્રારા૩૭	ઝારા૩૪	પ્રારા૭૪	ઝારા૭૬	પ્રારા૧૧૨	ઝારા૧૧૮,
પ્રારા૩૮	ઝારા૩૩	પ્રારા૭૫	ઝારા૭૭		૧૧૯
પ્રારા૩૯	ઝારા૩૪	પ્રારા૭૬	ઝારા૭૮	પ્રારા૧૧૩	ઝારા૧૨૦
પ્રારા૪૦	ઝારા૩૫	પ્રારા૭૭	ઝારા૭૯	પ્રારા૧૧૪	×
પ્રારા૪૧	ઝારા૩૬	પ્રારા૭૮	ઝારા૮૦	પ્રારા૧૧૫	ઝારા૧
પ્રારા૪૨	ઝારા૩૭	પ્રારા૭૯	ઝારા૮૨	પ્રારા૧૧૬	ઝારા૩
પ્રારા૪૩	ઝારા૩૮	પ્રારા૮૦	ઝારા૮૩	પ્રારા૧૧૭	ઝારા૪
પ્રારા૪૪	ઝારા૩૮ વાં	પ્રારા૮૧	ઝારા૮૪	પ્રારા૧૧૮	ઝારા૫
પ્રારા૪૫ }	ઝારા૩૯	પ્રારા૮૨	ઝારા૮૫	પ્રારા૧૧૯	ઝારા૬
પ્રારા૪૬ }		પ્રારા૮૩	ઝારા૮૬	પ્રારા૧૨૦	ઝારા૭
પ્રારા૪૭	ઝારા૪૩	પ્રારા૮૪	×	પ્રારા૧૨૧	ઝારા૮
પ્રારા૪૮	ઝારા૪૧	પ્રારા૮૫	ઝારા૮૭	પ્રારા૧૨૨	ઝારા૧૦
પ્રારા૪૯	ઝારા૪૨	પ્રારા૮૬	ઝારા૮૮	પ્રારા૧૨૩	ઝારા૧૧
પ્રારા૫૦	ઝારા૪૩	પ્રારા૮૭	ઝારા૮૯	પ્રારા૧૨૪	ઝારા૧૨
પ્રારા૫૧	ઝારા૪૬	પ્રારા૮૮	ઝારા૯૦	પ્રારા૧૨૫	ઝારા૧૩
પ્રારા૫૨	ઝારા૪૭	પ્રારા૮૯	ઝારા૯૧	પ્રારા૧૨૬	ઝારા૧૪
પ્રારા૫૩	ઝારા૪૮, ૪૯	પ્રારા૯૦	ઝારા૯૨	પ્રારા૧૨૭	ઝારા૧૫
પ્રારા૫૪	ઝારા૫૦	પ્રારા૯૧	ઝારા૯૩	પ્રારા૧૨૮	ઝારા૧૭, ૧૮,
પ્રારા૫૫	ઝારા૫૧	પ્રારા૯૨	ઝારા૯૪		૧૯, ૨૦
પ્રારા૫૬	ઝારા૫૨	પ્રારા૯૩	ઝારા૯૬	પ્રારા૧૨૯	ઝારા૧૬
પ્રારા૫૭	×	પ્રારા૯૪	ઝારા૯૮, ૯૯	પ્રારા૧૩૦	ઝારા૨૧
પ્રારા૫૮	ઝારા૫૩	પ્રારા૯૫	ઝારા૧૦૦	પ્રારા૧૩૧	ઝારા૨૨
પ્રારા૫૯	ઝારા૫૪	પ્રારા૯૬	ઝારા૧૦૧	પ્રારા૧૩૨	ઝારા૨૩
પ્રારા૬૦	ઝારા૫૫	પ્રારા૯૭	ઝારા૧૦૨	પ્રારા૧૩૩	ઝારા૨૪
પ્રારા૬૧	ઝારા૫૬	પ્રારા૯૮	ઝારા૧૦૩	પ્રારા૧૩૪	ઝારા૨૫
પ્રારા૬૨	ઝારા૫૭	પ્રારા૯૯	ઝારા૧૦૪	પ્રારા૧૩૫	ઝારા૨૬
પ્રારા૬૩	ઝારા૫૮	પ્રારા૧૦૦	ઝારા૧૦૫	પ્રારા૧૩૬	ઝારા૨૭
પ્રારા૬૪	ઝારા૬૩	પ્રારા૧૦૧	ઝારા૧૦૬	પ્રારા૧૩૭	ઝારા૨૮
પ્રારા૬૫	ઝારા૬૫	પ્રારા૧૦૨	ઝારા૧૦૭	પ્રારા૧૩૮	ઝારા૨૯
પ્રારા૬૬	ઝારા૬૬	પ્રારા૧૦૩	ઝારા૧૦૮	પ્રારા૧૩૯	ઝારા૩૦

ପ୍ରା ୧୧୪୦	୭୪୩୧	ପ୍ରା ୧୧୭୮	୭୪୮୦	ପ୍ରା ୧୧୨୧	୮୧୨୫
ପ୍ରା ୧୧୪୧	୭୪୩୨	ପ୍ରା ୧୧୭୯	୭୪୮୧	ପ୍ରା ୧୧୨୨	×
ପ୍ରା ୧୧୪୨	୭୪୩୩	ପ୍ରା ୧୧୮୦	୭୪୮୨	ପ୍ରା ୧୧୨୩	୮୧୨୬
ପ୍ରା ୧୧୪୩	୭୪୩୪	ପ୍ରା ୧୧୮୧	୭୪୮୩	ପ୍ରା ୧୧୨୪	୮୧୨୭
ପ୍ରା ୧୧୪୪	୭୪୩୫	ପ୍ରା ୧୧୮୨	୭୪୮୪	ପ୍ରା ୧୧୨୫	୮୧୨୮
ପ୍ରା ୧୧୪୫	୭୪୩୬	ପ୍ରା ୧୧୮୩	୭୪୮୫	ପ୍ରା ୧୧୨୬	୮୧୨୯
ପ୍ରା ୧୧୪୬	୭୪୩୭	ପ୍ରା ୧୧୮୪	୭୪୮୬	ପ୍ରା ୧୧୨୭	୮୧୩୦
ପ୍ରା ୧୧୪୭	୭୪୩୮	ପ୍ରା ୧୧୮୫	୭୪୮୭, ୮୮	ପ୍ରା ୧୧୨୮	୮୧୩୧
ପ୍ରା ୧୧୪୮	୭୪୩୯	ପ୍ରା ୧୧୮୬	୭୪୮୮	ପ୍ରା ୧୧୨୯	୮୧୩୨
ପ୍ରା ୧୧୪୯	୭୪୪୦	ପ୍ରା ୧୧୮୭	୭୪୮୯	ପ୍ରା ୧୧୩୦	୮୧୩୩, ୮
ପ୍ରା ୧୧୫୦	୭୪୪୧	ପ୍ରା ୧୧୮୮	୭୪୯୦	ପ୍ରା ୧୧୩୧	୮୧୩୪, ୧୦
ପ୍ରା ୧୧୫୧	୭୪୪୨	ପ୍ରା ୧୧୮୯	୭୪୯୧	ପ୍ରା ୧୧୩୨	୮୧୩୫
ପ୍ରା ୧୧୫୨	୭୪୪୩	ପ୍ରା ୧୧୯୦	୭୪୯୨	ପ୍ରା ୧୧୩୩	୮୧୩୬
ପ୍ରା ୧୧୫୩	୭୪୪୪	ପ୍ରା ୧୧୯୧	୭୪୯୩	ପ୍ରା ୧୧୩୪	୮୧୩୭
ପ୍ରା ୧୧୫୪	୭୪୪୫	ପ୍ରା ୧୧୯୨	୭୪୯୪	ପ୍ରା ୧୧୩୫	୮୧୩୮
ପ୍ରା ୧୧୫୫	୭୪୪୬	ପ୍ରା ୧୧୯୩	୭୪୯୫	ପ୍ରା ୧୧୩୬	୮୧୩୯
ପ୍ରା ୧୧୫୬	୭୪୪୭ ବା ୦	ପ୍ରା ୧୧୯୪	୭୪୯୬	ପ୍ରା ୧୧୩୭	୮୧୪୦
ପ୍ରା ୧୧୫୭	୭୪୪୮	ଅଧ୍ୟାୟ ୫ ପାଦ ୩		ପ୍ରା ୧୧୩୮	୮୧୪୧
ପ୍ରା ୧୧୫୮	୭୪୪୯			ପ୍ରା ୧୧୩୯	୮୧୪୨
ପ୍ରା ୧୧୫୯	୭୪୫୦	ପ୍ରା ୧୧୬୦	୮୧୪୩	ପ୍ରା ୧୧୪୦	୮୧୪୩
ପ୍ରା ୧୧୬୦	୭୪୫୧	ପ୍ରା ୧୧୬୧	୮୧୪୪	ପ୍ରା ୧୧୪୧	୮୧୪୪
ପ୍ରା ୧୧୬୧	୭୪୫୨	ପ୍ରା ୧୧୬୨	୮୧୪୫	ପ୍ରା ୧୧୪୨	୮୧୪୫
ପ୍ରା ୧୧୬୨	୭୪୫୩	ପ୍ରା ୧୧୬୩	୮୧୪୬	ପ୍ରା ୧୧୪୩	୮୧୪୬
ପ୍ରା ୧୧୬୩	୭୪୫୪	ପ୍ରା ୧୧୬୪	୮୧୪୭	ପ୍ରା ୧୧୪୪	୮୧୪୭
ପ୍ରା ୧୧୬୪	୭୪୫୫	ପ୍ରା ୧୧୬୫	୮୧୪୮	ପ୍ରା ୧୧୪୫	୮୧୪୮
ପ୍ରା ୧୧୬୫	୭୪୫୬	ପ୍ରା ୧୧୬୬	୮୧୪୯	ପ୍ରା ୧୧୪୬	୮୧୪୯
ପ୍ରା ୧୧୬୬	୭୪୫୭	ପ୍ରା ୧୧୬୭	୮୧୫୦	ପ୍ରା ୧୧୪୭	୮୧୫୦
ପ୍ରା ୧୧୬୭	୭୪୫୮	ପ୍ରା ୧୧୬୮	୮୧୫୧	ପ୍ରା ୧୧୪୮	୮୧୫୧
ପ୍ରା ୧୧୬୮	୭୪୫୯	ପ୍ରା ୧୧୬୯	୮୧୫୨	ପ୍ରା ୧୧୪୯	୮୧୫୨
ପ୍ରା ୧୧୬୯	୭୪୬୦	ପ୍ରା ୧୧୭୦	୮୧୫୩	ପ୍ରା ୧୧୫୦	୮୧୫୩
ପ୍ରା ୧୧୭୦	୭୪୬୧	ପ୍ରା ୧୧୭୧	୮୧୫୪	ପ୍ରା ୧୧୫୧	୮୧୫୪
ପ୍ରା ୧୧୭୧	୭୪୬୨	ପ୍ରା ୧୧୭୨	୮୧୫୫	ପ୍ରା ୧୧୫୨	୮୧୫୫
ପ୍ରା ୧୧୭୨	୭୪୬୩	ପ୍ରା ୧୧୭୩	୮୧୫୬	ପ୍ରା ୧୧୫୩	୮୧୫୬
ପ୍ରା ୧୧୭୩	୭୪୬୪	ପ୍ରା ୧୧୭୪	୮୧୫୭	ପ୍ରା ୧୧୫୪	୮୧୫୭
ପ୍ରା ୧୧୭୪	୭୪୬୫	ପ୍ରା ୧୧୭୫	୮୧୫୮	ପ୍ରା ୧୧୫୫	୮୧୫୮
ପ୍ରା ୧୧୭୫	୭୪୬୬	ପ୍ରା ୧୧୭୬	୮୧୫୯	ପ୍ରା ୧୧୫୬	୮୧୫୯
ପ୍ରା ୧୧୭୬	୭୪୬୭	ପ୍ରା ୧୧୭୭	୮୧୬୦	ପ୍ରା ୧୧୫୭	୮୧୬୦
ପ୍ରା ୧୧୭୭	୭୪୬୮	ପ୍ରା ୧୧୭୮	୮୧୬୧	ପ୍ରା ୧୧୫୮	୮୧୬୧
		ପ୍ରା ୧୧୭୯	୮୧୬୨	ପ୍ରା ୧୧୫୯	୮୧୬୨
		ପ୍ରା ୧୧୮୦	୮୧୬୩	ପ୍ରା ୧୧୬୦	୮୧୬୩

प्रा३५६	दारा४२	प्रा३९५	दारा८७	प्रा४२७	दारा३६
प्रा३६०	दारा४३	प्रा३९६	दारा९३	प्रा४२८	दारा४१
प्रा३६१	दारा४४	प्रा३९७	दारा९८	प्रा४२९	दारा४०
प्रा३६२	दारा४४ बा०	प्रा३९८	दारा९९	प्रा४३०	दारा४२
प्रा३६३	दारा४५	प्रा३९९	दारा१००	प्रा४३१	दारा४३
प्रा३६४	दारा४६	प्रा३१००	दारा१०१	प्रा४३२	दारा४४
प्रा३६५	दारा४७	प्रा३१०१	दारा१०३	प्रा४३३	दारा४५
	४८, ४९	प्रा३१०२	दारा१०४	प्रा४३४	दारा४६
प्रा३६६	दारा५०	प्रा३१०३	दारा१०५	प्रा४३५	दारा४७
प्रा३६७	दारा५१, ५२	प्रा३१०४	दारा१०७	प्रा४३६	दारा४८
प्रा३६८	दारा५३	प्रा३१०५	दारा१०८	प्रा४३७	दारा५७
प्रा३६९	दारा५४	अध्याय ५ पाद ४		प्रा४३८	दारा५८
प्रा३७०	दारा५५	प्रा४१	दारा४, ६	प्रा४३९	दारा५९
प्रा३७१		प्रा४२	दारा७	प्रा४४०	दारा६०
प्रा३७२		प्रा४३	X	प्रा४४१	दारा६१
प्रा३७३	दारा५६	प्रा४४	दारा१७	प्रा४४२	दारा६२
प्रा३७४	दारा५७, ५८, ६०	प्रा४५	दारा२०	प्रा४४३	दारा६३
		प्रा४६	दारा२२	प्रा४४४	दारा६४
प्रा३७५	दारा६२	प्रा४७	दारा२३	प्रा४४५ } दारा६५	
प्रा३७६	दारा६६	प्रा४८	दारा२४		
प्रा३७७	दारा६८	प्रा४९	दारा२५	प्रा४४७	दारा६६
प्रा३७८	दारा६९	प्रा४१०	दारा२६	प्रा४४८	दारा६७
प्रा३७९	दारा७२	प्रा४११	दारा२७	प्रा४४९	दारा६८
प्रा३८०	दारा७३	प्रा४१२	दारा२८	प्रा४५०	दारा६९
प्रा३८१	दारा७४	प्रा४१३	दारा२९	प्रा४५१ } दारा७०	
प्रा३८२	दारा७५	प्रा४१४	दारा३०, ३१		
प्रा३८३	दारा६४	प्रा४१५	दारा३३	प्रा४५३	दारा७१
प्रा३८४	दारा६५	प्रा४१६	दारा३२	प्रा४५४	प्रा४७२
प्रा३८५	दारा७६	प्रा४१७	दारा३३	प्रा४५५	दारा७३
प्रा३८६	दारा७७, ७९	प्रा४१८	दारा३४	प्रा४५६	दारा७४
प्रा३८७	दारा७८	प्रा४१९	दारा३५	प्रा४५७	दारा७५
प्रा३८८	दारा८०	प्रा४२०	दारा३५	प्रा४५८	दारा७६
प्रा३८९	दारा८१	प्रा४२१ } दारा३७		प्रा४५९	दारा७७
प्रा३९०	दारा८२			प्रा४६०	दारा७८
प्रा३९१	दारा८३	प्रा४२३	दारा३६	प्रा४६१	दारा७९
प्रा३९२	दारा८४	प्रा४२४	दारा३६	प्रा४६२	दारा८०
प्रा३९३	दारा८५	प्रा४२५	X	प्रा४६३	दारा८१
प्रा३९४	दारा८६	प्रा४२६	दारा३८	प्रा४६४	दारा८३

પ્રાજાદધુ	ત્રિજિનર	પ્રાજાદદ	ત્રિજિપુ	પ્રાજા૧૧પુ	ત્રિજિરિ૭
પ્રાજાદધ	ત્રિજિનઠ	પ્રાજાદ૦	ત્રિજિદ	પ્રાજા૧૧દ	ત્રિજિરિન
પ્રાજાદધ	ત્રિજિનધુ	પ્રાજાદ૧	ત્રિજિત	પ્રાજા૧૧ધ } ત્રિજિરિદ	
પ્રાજાદન	ત્રિજિનઠ	પ્રાજાદ૨	ત્રિજિત	પ્રાજા૧૧ન	
પ્રાજાદ૧	ત્રિજિનન	પ્રાજાદ૩	ત્રિજિદ	પ્રાજા૧૧દ	ત્રિજિરિ૦
પ્રાજા૭૦	ત્રિજિદધ	પ્રાજાદ૪	ત્રિજિ૧૦	પ્રાજા૧૨૦	ત્રિજિરિ૧
પ્રાજા૭૧	ત્રિજિદધ	પ્રાજાદ૫	ત્રિજિ૧૧	પ્રાજા૧૨૧	ત્રિજિરિ૨
પ્રાજા૭૨	ત્રિજિદન	પ્રાજાદ૬	ત્રિજિ૧૨	પ્રાજા૧૨૨	ત્રિજિરિ૩
પ્રાજા૭૩	ત્રિજિ૧૦૧	પ્રાજાદ૭	ત્રિજિ૧૩	પ્રાજા૧૨૩	ત્રિજિરિ૪
પ્રાજા૭૪	ત્રિજિ૧૦૨	પ્રાજાદ૮	ત્રિજિ૧૪	પ્રાજા૧૨૪	X
પ્રાજા૭૫	ત્રિજિનદ, નદ, ૬૦, ૯૧, ૯૨, ૯૩, ૬૪, ૬૫	પ્રાજા૯૬	ત્રિજિ૩૬	પ્રાજા૧૨૫	ત્રિજિરિપુ
પ્રાજા૭૬ }	ત્રિજિ૧૧૧	પ્રાજા૧૦૦	ત્રિજિ૧૭	પ્રાજા૧૨૬	ત્રિજિરિદ
પ્રાજા૭૭ }	ત્રિજિ૧૧૨	પ્રાજા૧૦૧	ત્રિજિ૧૮	પ્રાજા૧૨૭	ત્રિજિરિ૭
પ્રાજા૭૮	ત્રિજિ૧૧૨	પ્રાજા૧૦૨	ત્રિજિ૧૫	પ્રાજા૧૨૮	ત્રિજિરિ૩
પ્રાજા૭૯	ત્રિજિ૧૧૩	પ્રાજા૧૦૩	ત્રિજિ૧૬	પ્રાજા૧૨૯	ત્રિજિરિ૪
પ્રાજા૮૦	ત્રિજિ૧૧૪	પ્રાજા૧૦૪	ત્રિજિ૧૭	પ્રાજા૧૩૦	ત્રિજિરિપુ
પ્રાજા૮૧	ત્રિજિ૧૧૫	પ્રાજા૧૦૫	ત્રિજિ૨૧	પ્રાજા૧૩૧	ત્રિજિરિ૬
પ્રાજા૮૨	ત્રિજિ૧૧૬	પ્રાજા૧૦૬	ત્રિજિ૨૨	પ્રાજા૧૩૨	ત્રિજિરિન
પ્રાજા૮૩	ત્રિજિ૧૧૭	પ્રાજા૧૦૭	ત્રિજિ૨૩	પ્રાજા૧૩૩	ત્રિજિરિદ
પ્રાજા૮૪	ત્રિજિ૧૧૮	પ્રાજા૧૦૮	ત્રિજિ૨૬	પ્રાજા૧૩૪	ત્રિજિરિ૬
પ્રાજા૮૫	ત્રિજિ૧	પ્રાજા૧૦૯	ત્રિજિ૩૦	પ્રાજા૧૩૫	ત્રિજિરિ૧
પ્રાજા૮૬	ત્રિજિ૨	પ્રાજા૧૧૦	ત્રિજિ૩૧	પ્રાજા૧૩૬	ત્રિજિરિ૨
પ્રાજા૮૭	ત્રિજિ૩	પ્રાજા૧૧૧	ત્રિજિ૩૨	પ્રાજા૧૩૭	ત્રિજિરિ૩
પ્રાજા૮૮	ત્રિજિ૪	પ્રાજા૧૧૨	ત્રિજિ૩૩	પ્રાજા૧૩૮	ત્રિજિરિ૪
		પ્રાજા૧૧૩	ત્રિજિ૩૪	પ્રાજા૧૩૯	ત્રિજિરિપુ
		પ્રાજા૧૧૪	ત્રિજિ૩૫	પ્રાજા૧૪૦	X

अथ जैनेन्द्रधुपाठः

प्रप्रणम्य जिनं भक्त्या संसंश्रित्याभिधागमम् ।

उपोपपाद्यते धूनामुदुत्कृष्टा सया स्थितिः ॥ १ ॥

धुः	अर्थः	धुः	अर्थः	धुः	अर्थः
भूः	सत्तायाम्	पदै	कुत्सिते शब्दे	दौकृङ्	}
एधै	वृद्धौ	यतीङ्	प्रयत्ने	त्रौकृङ्	
स्पद्धै	संघर्षे	युतुङ्	}	ष्वस्कै	
गाद्धै	प्रतिष्ठालिप्ता-	जुतुङ्		वष्कै	
गादै	ग्रन्थेषु	विथुङ्	}	मस्कै	
वाधुङ्	प्रतीघाते	वेथुङ्		तिकै	}
नाधुङ्	याच्नाशीरुप-	अथिङ्	शैथिल्ये	टिकै	
नाथुङ्	तापैश्वर्येषु	प्रथिङ्	कौटिल्ये	टीकृङ्	
दथै	धारणे	कथ्यै	शलाघायाम्	रथिङ्	
वाथै	बन्धने	शीकृङ्	सेचने	लथिङ्	
स्कुदिङ्	आप्रवणे	लोकृङ्	लोचने	अथिङ्	}
शिवदिङ्	शैत्ये	श्लोकृङ्	संघाते	वथिङ्	
वदिङ्	स्तुत्यभिवादनयोः	द्रेकृङ्	}	मथिङ्	
भदिङ्	प्रियसुखयोः	प्रेकृङ्		राघुङ्	}
मदिङ्	स्तुतिमोदमदस्वप्न-	रेकृङ्	}	लाघुङ्	
	गतिषु	शकिङ्		द्राघुङ्	
स्पदिङ्	किञ्चिच्चलने	अकिङ्	लक्षणो	श्लघुङ्	
क्लिदिङ्	परिदेवने	वकिङ्	कौटिल्ये	षचै	
मुदै	हर्षे	मकिङ्	मण्डने	लोचङ्	दर्शने
ददै	दाने	ककै	लौल्ये	शचै	व्यक्तायां वाचि
दहौङ्	पुरीषोत्सर्गे	कुकै	}	श्वचै	}
कुदै	}	वृकै		श्वचिङ्	
खुदै		चकै	गृहीतौ	कचै	
गुदै		सेकृङ्	तृप्तिप्रतिघातयोः	कचिङ्	
गुदै		खेकृङ्		मचै	
उदै	माने	शेकृङ्	}	मचिङ्	}
पूदै	क्षरणे	श्लेकृङ्		पचिङ्	
हादै	शब्दे	अकिङ्		ष्टुचै	
ह्लादीङ्	सुखे	श्लेकिङ्		तिजौङ्	
ध्वदै	}	ककिङ्		ईजै	
स्वदै		श्वकिङ्		ऋजै	
स्वादै		त्रकिङ्			

मृजिङ्	भर्जने	मठिङ्	शोके	मानै	पूजायाम्
भृजिङ्		कठिङ्		पनै	स्तुतौ
एजृङ्	दीतौ	मुठिङ्	पलायने (पालने)	परौ	व्यवहारे च
भ्रंजृङ्		एठै	विवाधायाम्	धुरौ	भ्रमणे
भ्राजै		हेठै		वृणौ	
वर्चै		गुपौङ्	गुप्तौ	घ्रिणिङ्	ग्रहणे
अट्टै	हिंसातिक्रमयोः	तिपृङ्	स्तुतौ	धुणिङ्	
घट्टै	चलने	प्रेपृङ्		घृणिङ्	
स्फुटै	विकसने	तेपृङ्	कम्पे च	भामै	श्रोत्रे
चेष्टै	चेष्टायाम्	ग्लेपृङ्	दैन्ये	क्षमूपै	सहने
गोष्टै	संघाते	दुपेपृङ्	चलने	कमुङ्	कान्तौ
लोष्टै		केपृङ्		अपै	गतौ
हुडिङ्		खेपृङ्		वपै	
पिडिङ्		गेपृङ्		वपै	
शडिङ्	रुजायां च	ग्लेपृङ्	गतौ	मपै	
हिडिङ्	गत्पनादरयोः	कपिङ्		पपै	
कुडिङ्	दाहे	मेपृङ्	लज्जायाम्	नपै	
वडिङ्	वेष्टने	रेपृङ्		रपै	
मडिङ्		त्रपूपै	शब्दे	पपै	
वेष्टै		रेभृङ्		रेवृङ्	रक्षायां च
मडिङ्	परिभाषायाम्	रभिङ्	शब्दे	तपै	
मडिङ्	शुद्धौ	अभिङ्		दपै	गतिदानदहन- हिंसासु च
तुडिङ्	तोडने	अभिङ्	शब्दे	उयीङ्	तन्तुसन्ताने
भुडिङ्	मृतौ	लविङ्		पूयीङ्	दुर्गन्धविशरणयोः
चडिङ्	कोपे	कवृङ्	श्रवस्त्रसे	क्षमायीङ्	विधूनने
तडिङ्	ताडने	क्लीवृङ्	वर्णे	स्फायीङ्	वृद्धौ
कडिङ्	मदे	क्षीवृङ्	अधाष्ट्यं च	ओप्यायीङ्	
खडिङ्	मंथे	शीवृङ्	मदे	तायृङ्	सन्तानपालनयोः
हेडृङ्	अनादरे	चीभृङ्	कथने	कनूयीङ्	संवृतौ
वाडृङ्	आप्लाव्ये	शल्भै		कलै	
द्राडृङ्	विशरणे	वल्भै	भोजने	कल्लै	
धाडृङ्		गल्भै	धाष्ट्यं	वल्लै	
शलाडृङ्	शलाघायाम्	जभिङ्	गात्रविनामे	बल्लै	कम्पे
पडिङ्	गतौ	जृभिङ्		गल्लै	
अठिङ्		ष्टभिङ्	स्तम्भे	मल्लै	धारणे
वठिङ्	एकचर्चायाम्	स्कभिङ्		मल्लै	
		ष्टुमुङ्			

भलै	} दानहिंसापारभाषणेषु	कासुङ्	शब्दकुत्सायाम्	गुङ्	} अव्यक्ते शब्दे
भल्लै		सासुङ्	शब्दे	गाङ्	
कल्लै		भासै	} दीप्तौ	च्युङ्	
तेवृङ्		रासुङ्		ड्युङ्	
देवृङ्	} देवने	काशुङ्		पुङ्	} गतौ
देवुङ्		रासै	कौटिल्ये	प्लुङ्	
पेवृङ्		भ्रसै	मये	श्रयैङ्	
शेवृङ्		आङःशसुङ्	इच्छायाम्	रुङ्	
केवृङ्	} सेवने	श्रसुङ्	प्रमादे	धृङ्	रोपे च
खेवृङ्		प्रसुङ्	} अदने	मिङ्	अविध्वंसने
गेवृङ्		ग्लसुङ्		दङे	प्रतिदाने
ग्लेवृङ्		ईहै	चेष्टायाम्	त्रैङ्	रक्षणे
पेवृङ्	} सेवने	वहिङ्	} वृद्धौ	पूङ्	पात्रने
प्लेवृङ्		महिङ्		प्यैङ्	पवने
मेवृङ्		दत्तै	शैघ्र्य च	मूङ्	वृद्धौ
म्लेवृङ्		गहै	} कुत्सायाम्	डीङ्	बन्धने
धुक्षै	} संदीपनजीवनक्षेशेषु	बहै		द्युतै	विहायसा गतौ
धिज्ञै		वहै	} प्राधान्ये	लुटै	} दीप्तौ
वृक्षै		वल्है		शुभै	
शिज्ञै		वहै	} परिभाषणाच्छाद-	रुचै	
भिज्ञै	} व्यक्तायां वाचि	वल्है		शिवताङ्	अभिप्रीतौ च
दीज्ञै		वेहृङ्		जिमिङ्	वर्ये
ईज्ञै		जेहृङ्	} प्रयत्ने	जिध्विदाङ्	स्नेहे
ईषै		वाहृङ्		धुटै	मोक्षे च
कशै	} व्यक्तायां वाचि	एषृङ्		लुटै	परिवृत्तौ च
भाषै		वेपृङ्	} निक्षेपे	लुटै	} पतिघाते
वर्षै		द्राहृङ्		लुटै	
गेषृङ्		ऊहै	} वितर्के	लुटै	
जेषृङ्	} गतौ	गाहृङ्		लुटै	} संक्षोभे
गेषृङ्		ग्लहृङ्	विरोधने	लुटै	
एषृङ्		घषिङ्	ग्रहणे	लुटै	
हेषृङ्		स्मिङ्	क्षतौ	लुटै	} अवस्थे
अहिङ्	} अव्यक्ते शब्दे	धुङ्	ईषद्वसने	लुटै	
सिहै		कुङ्	} शब्दे	लुटै	
रेषृङ्		डुङ्		लुटै	} गतौ च
		तुङ्		लुटै	
				लुटै	
				लुटै	} विश्वासे
				लुटै	
				लुटै	
				लुटै	} वृत्तौ
				लुटै	
				लुटै	
				लुटै	} शब्दकुत्सायाम्
				लुटै	
				लुटै	
				लुटै	} सवे
				लुटै	
				लुटै	
				लुटै	} सामर्थ्ये
				लुटै	
				लुटै	
				लुटै	} वृत्त
				लुटै	
				लुटै	

घटैषु	चेष्टायाम्
व्यथैषु	चलभीत्योः
प्रयैषु	प्रख्यातौ
प्रसैषु	विस्तारे
मुदैषु	मदे
स्वदैषु	स्वनने
जित्वराषि	संभ्रमे
क्रदैषु	वैकल्ये
क्लदैषु	
क्रदिङ्	
क्षजिङ्	गतिदानयोः
दक्षै	गतिहिंसायाम्
कृपै	कृपायाम्
डैदितोऽमी	
ज्वर	रोगे
गड	सेचने
हेड	वेष्टने
वट	परिभाषणे
भट	
नट	नृत्तौ
ष्टक	लोष्टने
चक	तृप्तौ च
कले	हसने
रगे	शङ्कने
लगे	संजने
हगे	संवरणे
हगे	
प्रगे	
ष्टगे	कुटिलायां गतौ
अक	
अग	गतौ
कण	
रण	दाने
चण	
वण	
अण	

मथ	हिंसायाम्
क्नथ	
क्रथ	
क्लथ	
चण	चलने
हल	
हल	
ज्वल	
स्मृ	दीप्तौ
स्मृ	आध्याने
द	भये
नृ	नये
श्रा	पाके
चलि	कम्पने
छदिर्	ऊर्जने
लडि	जिह्वोन्मथने
मदी	हर्षपलेनयोः
स्वनिर्	अवतंसने
ध्वन	शब्दे
फल	गतौ

वृत् घटादिः

स्यमु	शब्दे
स्वन	
रात्रृङ्	दीप्तौ
डुभ्राशृङ्	
डुभ्लाशृङ्	
भ्राजै	

वृत् पुणादिः

ज्वल	दीप्तौ
चल	कम्पने
जल	धान्ये
टल	वैकल्ये
ट्वल	
ष्टल	स्थाने
हल	विलेखने
वल	प्राणधान्यावरोधयोः
पुल	महत्त्वे
कुल	संस्त्यानसंतानयोः

फल	गमने
शल	
हुल	
पेल्लु	
पथे	हिंसासंवरणयोश्च
हुल	
कथे	
डुवमु	
क्षर	संचलने
पहै	मर्षणे
रमुङ्	क्रीडायाम्
शद्लु	शातने
प्रद्लु	गतिविशरणयोश्च
क्रुञ्चौ	रोदनाह्वानयोः
कुच	संवर्चनकौटिल्य-
	प्रतिस्तंभविलेखनेषु
रुहौ	जनने
कस्तु	गमने
भू	भुवि
बुधञ्	बोधने
वृत् ज्वलादिः	
अत	सातत्यगमने
चित्ती	संज्ञाने
कितौ	निवासे
कृत	गतिवृणात्पद्वेषु
ज्यु तेर्	विभासे
च्युतिर्	क्षरणे
श्च्युतिर्	
सुतिर्	हिंसासंक्लेशयोः
कुथि	
पुथि	
लुथि	
मथि	
मंथ	
पिधू	शास्त्रमाङ्गल्ययोः
पिधु	गतौ
खाद्	भक्षणे

मुचु		रट		कठ	कृच्छ्र जीवे
ग्लुचु		रठ	परिभाषणे	हठ	स्तुतिशठत्वयोः
कुचु	स्तेयकरणे	लट	बाल्ये च	उठ	उपधाते
खुचु		शट	रुजाविशरणगत्यवसादनेषु	पिटि	हिसासंकलेशयोः
अर्च	पूजयाम्	वट	वेष्टने	शठ	कैतवे
म्लेच्छ	अव्यक्तायां वाचि	खिट	उत्रासने	शुठ	
लछ		षिट		श्रुठ	गतिप्रतिधाते
लाछि	लछणे	शिठ	अनादरे	लुठि	आलस्ये
वाछि	इच्छायाम्	रौडू		शुठि	शोषणे
	आयामे च	जट	संघाते	विड	आक्रोशे
ह्रीच्छ	लज्जयाम्	भट		अड	उद्यमे
हुर्वा	कौटिल्ये	पिट	शब्दे च	लड	विलासे
मुच्छा	मोहसमुल्लस्ययोः	भट	भृतौ	कड	मदे
स्फूच्छा	विस्तृतौ	तट	उच्छ्राये	कडु	कार्कश्ये
युच्छ	प्रमोदे	नट	वृत्तौ	चुडु	भावकरणे
उछि	उच्छ्रुने	खट	कांक्षायाम्	अडु	अभियोगे
गुज		हट	दीप्तौ	मडि	भूपायाम्
गुजि	अव्यक्ते शब्दे	षट	अवयवे	बुडि	प्रमर्दने
कूज		लुट	विलोडने	चुडि	अल्पीभावे
अर्ज		चिट	परप्रेष्ये	मुडि	खण्डने
सर्ज	सर्जने	स्फुटिर्	विशरणे	वडि	विभाजने
कर्ज	व्यथने	हेट	विवाधायाम्	रुटि	
खर्ज	मार्जने च	कुटि	वैकल्ये	लुटि	स्तेये
अज	गतिक्षेपणयोः	अट		गडि	मुखैकदेशे
तैज	पालने	पट		क्रीडू	विहारे
खज	मंथने	इट		तूडू	तोडने
खजि	गतिवैकल्ये	किट		गुडू	रक्षणे
एजु	कंपने	किटी	गतौ	धूप	तपःसंतापे
डुओस्फूर्जा	वज्रनिर्घोषे	रुठि		जल्प	
षञ्जौ.	संगे	लुठि		रप	व्यक्तायां वाचि
शौटू	गर्वे	अठ		लप	
यौटू	बंधे	हुडू		जप	मानसे च
मेडू		पठ	व्यक्तायां वाचि	चप	सांत्वने
मेरेडू	उन्मादे	वठ	स्थौल्ये	षच	समवाये
लोडू		मठ		चुप	मन्दायां गतौ
कटे	वर्षावरणयोः	भद	मदनिवासयोः		

तुप	कण	शूल	रुजायाम्
तुप	धण	तूल	निष्कषे
तुफ	ध्वण	पूल	संधाते
तुंफ	ध्रण	मूल	प्रतिष्ठायाम्
तुप	व्रण	फल	निष्पत्तौ
तुंप	स्नन	कुल्ल	विकसने
त्रुफ	वन	चुल्ल	भावकरणे
तुंफ	वन	चिल्ल	शैथिल्ये
षिमु	वण	वेल्ल	
षिंमु	ओण	वेलु	
शुंभ	शोण	केलु	
यभौ	श्रोण	खेलु	चलने
जभ	श्लोण	कनेलु	
पपं	पैण	द्वेलु	
रफ	कनी	खल	
रफि	अम	स्वल	संवये
अर्ब	णमौ	गल	
वर्ब	क्रमु	चर्व	अदने
कर्ब	मठ	श्वल	
खर्ब	कील	श्वल्ल	आशुगमने
गर्ब	मध्य	खोलु	गतिप्रतिधाते
शर्ब	सूर्ध	धोर्द्ध	गतिचातुर्ये
षर्ब	ईर्ध	त्सर	छद्मगतौ
चर्ब	सूर्य	कमर	हूर्द्धने
गम्लु	हय	पेलु	
मृ	हय्य	फेलु	
प्रु	चुच्यी	शेलु	
चुवि	अल	पेलु	
अरण	दल	शल	
रण	त्रिफल	चल्ल	
वण	मील	तिल्ल	
मण	स्मील	व्यभ्र	गतौ
कण	दमील	मभ्र	
बण	पील	अभ्र	
भण	नील	शिवि	
भ्रण	शील	रिवि	
	कूल	रवि	
		धवि	

चर	भक्षणे	वक्ष	रोषे	मृषु	सहने च
क्षिबु }	निरसने	तक्ष	त्वचने	पुष	पुष्टौ च
ष्ठिबु }		सृक्ष	अनादरे	तुषु	
जीव	प्राणधारणे	काक्षि		श्रिषु	
पीव }		वाक्षि	कांक्षायाम्	श्रिषु	दाहे
मीव }		माक्षि		प्रुषु	
णीव }	स्थौल्ये	द्राक्षि	घोरवासिते च	प्लुषु	
तीव }		ध्वाक्षि		घृषु	संघर्षे
तुर्वी }		चूप	पाने	हृषु	अलीके
शुर्वी }		तूप	तुष्टौ	कृषौ	विलिखितौ
धुर्वी }		लूप	स्तेये	लस	श्लेषक्रीडनयोः
लुर्वी }	हिंसने	मूप		जर्ज	
भर्वी }		शूष	प्रसवे	चर्च	परिभाषणहिंसातर्जनेषु
शर्व }		भूष	अलंकारे	झर्झ	
अर्व }		ऊष	रुजायाम्	हसे	हसने
गुर्वी }	उद्यमने	ईष	उञ्छे	त्रुस	
हिवि }		कप		ह्रस	
दिवि }	प्रीणने	शिष		हस	शब्दे
धिवि }		धष		रस	
कृवि	हिंसाविकरणयोः	भूष		पुषिर	
अव	गतिप्रीतिवृष्टिदीप्तिवृ-	वष		मिश	
	द्धिकांत्यवस्यवगमन -	मष	हिसायाम्	मश	रोपकृते च
	प्रवेशश्रवणस्वाभ्यर्थ -	रुष		णिष	समाधौ
	याचनक्रियेच्छालिंग -	रिष		शश	प्लुतिगतौ
	नहिंसादनभावरक्षणेषु	जूष		दृशिरो	प्रेक्षणौ
मक्ष	संघाते	शूष		दंशौ	दशने
अक्ष }	व्याप्तौ च	शष		शंसु	स्तुतौ
तक्ष }	तनूकरणे	शसु		दहौ	भस्मीकरणे
त्वक्ष }		यूष	संघाते च	मिहौ	सेचने
रक्ष	पालने	भूषु		चह	परिकल्कने
णिक्ष	चुम्बने	भष	भर्त्सने	रह	त्यागे
तृक्ष		जिषु		दह	
स्तृक्ष		विषु		दहि	वृद्धौ
णक्ष		मिषु	सेचने	वृह	
शव }	गतौ	पृषु		पूष	
रहि }		वृषु		वृहि	शब्दे च
पिस्त		उक्ष			
पेस्त					

तुहिर्	}	अर्दने
उहिर्		
अहं		पूजने
सु		प्रसवैरवर्ययोः
शु	}	गतौ
हु		
द्रु		
श्रु		
ध्रु	}	स्थैर्ये च
जि		
जि	}	अभिभावे
जि		
पा	}	पाने
धेट्		
घ्रा		गंधोपादाने
ध्मा		शब्दाग्निसंयोगयोः
घ्रा		गतिनिवृत्तौ
म्ना		अभ्यासे
दाणु		दाने
दैप		शोधने
ग्लै		हर्षक्षये
म्लै		गात्रविनामे
घ्रै		न्यक्करणे
द्रै		स्वप्ने
घ्रै		तृप्तौ
कै	}	शब्दे
गै		
रै	}	संधाते
थ्यै		
स्थै	}	खदेन
खै		
खै	}	क्षये
खै		
खै	}	पाके
खै		
पै	}	शेषणे
ओवै		

है		वेष्टने
ध्यै	}	चिंतायाम्
स्मृ		
डुवृ		वरणे
धृ	}	कौटिल्ये
हृ		
स्वृ		शब्दोपतापयोः
सृ		गतौ
ऋ		प्रापणे च
रृ	}	सेचने
घृ		
तृ		स्रवनतरणयोः
ट्वोश्चि		गतिवृद्धयोः
वसौ		निवासे
वद		व्यक्तायां वाचि
एते मर्वन्तः		
यजौञ्		दानदेवपूजा-
दुवपौञ्		संगतकरणेषु
वहौञ्		बीजसंताने
वेञ्		प्रापणे
व्येञ्		तनुमताने
भजौञ्		पाके
रंजौञ्		सेवायाम्
रंजौञ्		रागे
दुयाचृञ्	}	याचने
चतेञ्		
चदेञ्	}	परिभाषणे
रेहृञ्		
पोथृञ्		पर्याप्तौ
मिथृञ्		मेधाहिंसायाम्
मेधृञ्		संगमे च
णिहृञ्	}	उन्दे
णेहृञ्		
बुधुञ्		बोधने
बुंदिहृञ्		निशामने
चायृञ्		पूजायां च
वेणृञ्		गतिचिन्ताज्ञान-
		शामनवादित्रग्र-

खनुञ्	अवदारणे	
दानञ्	खंडने	
शानञ्	तेजने	
शपौञ्	आक्रोशे	
भेषृञ्	दीप्तौ	
अव	पूर्वोपादाननि-	
	रसनयोश्च	
छषृञ्	हिंसायाम्	
चषृञ्	}	भुक्तौ
चुषृञ्		
घासृञ्	}	दाने
दासृञ्		
माहृञ्		माने
गुहृञ्		संवरणे
भषृञ्	}	आदाने च
जीषृञ्		
श्रिञ्		सेवायाम्
हृञ्		हरणे
भृञ्		भरणे
धृञ्		धारणे
डुकृञ्		करणे
णीञ्		प्रापणे
एते मर्वन्तः		
इति ६४६ भूवादयो न्याय्य-		
विकरणाः धवः ।		
हु	दानादनयोः	
जिभी	भये	
ह्री	लज्जायाम्	
पृ	पालनपूरणे	
ऋ	गतौ	
ओहाक्	त्यागे	
ओहाङ्	गतौ	
माङ्	माने	
डुभृञ्	धारणपोषणयोः	
डुदाञ्	दाने	
डुधाञ्	धारणे च	
णिजिज्यौ	शौचपोषणयोः	

विजिज्यो	पृथक्भावे	वा	गतिगंधनयोः	ष्टुज्	स्तुतौ
विविज्यो	व्याप्तौ	भा	दीप्तौ	ब्रूजौ	व्यक्तायां वाचि
इति १४ ह्लादयः उज्ज्विकरणा धवः ।		ष्णा	शौचे	इत्यदादयः ७० उज्ज्विकरणाः	
अदो	भक्षणे	श्रा	पाके	धवः	
विद	ज्ञाने	द्रा	कुत्सायां गतौ		
हनौ	हिंसागत्योः	प्सा	भक्षणे	दिवु	क्रीडाजयेच्छापणि-
अस	भुवि	पा	रक्षणे	पिवु	द्युतिगतिषु
मृजू	शुद्धौ	रा	दाने	गुध	तंतुसंताने
वचो	परिभाषणे	ला	आदाने	क्षिप	परिवेष्टने
रुदिर	अश्रुविमोचने	दाप्	लवने	पुध्प	प्रेरणो
जिध्वो	शये	ख्या	प्रकथने	तिम	विकसने
अन	} प्राणने	प्रा	पूरणे	ष्टिम	} आर्द्रभावे
श्वस		मा	माने	ष्टीम	
जक्ष	भक्षहसनयोः	चर्करीतं च		ब्रीड	लज्जायाम्
	वृत्	चक्षौङ्	व्यक्तायां वाचि	इष	गत्याम्
जागृ	निन्दाक्षये	ईरै	गतौ	पुह	शक्ने
दरिद्रा	दुर्गतौ	ईडै	स्तुतौ	राधौ	वृद्धावेव
चकासु	दीप्तौ	ईशौ	ऐश्वर्ये	ध्यधौ	ताडने
शासु	अनुशिष्टौ	आसै	उपवेशने	पुषौ	पुष्टौ
	वृत्	वसै	आच्छादने	शुषौ	शोषणे
सस्ति	} स्वप्ने	आङः-शासुङ्	इच्छायाम्	तुषौ	तोषणे
षस		कासिङ्	गतिसंतानयोः	दृषौ	वितत्ये
वश	कान्तौ	णिसिङ्	चुंबने	श्लिषौ	आलिङ्गने
धु	अभिगमने	णिजिङ्	शुद्धौ	शकौ	मर्षणे
सु	ऐश्वर्यप्रसवयोः	शिजिङ्	अव्यक्ते शब्दे	ष्विदा	गात्रप्रक्षरणे
वु	वृत्तिहिंसापूरणे	पिजिङ्	} संपर्चने	ऋध्यै	कोपे
कु	} शब्दे	पृजिङ्		लुध्यै	बुभुक्षणे
र		पृचीङ्		शुध्यै	शोधने
डल्लु		ऊषूङ्	प्राणिगर्भविमोचने	विधु	संराध्ये
क्षु	तेजने	शीङ्	स्वप्ने	रधू	हिंसने च
सु	क्षरणे	इङ्	अध्ययने	णशू	अदर्शने
णु	स्तुतौ	हुङ्	अपनयने	तृपू	प्रीणने
यु	मिश्रणे	द्विषौज्	अप्रीतौ	दपू	मोहने च
इणु	गतौ	दुहौज्	क्षरणे	कुह	जिघांसायाम्
इक्	स्मरणे	दिहौज्	लेपे	मुह	वैचित्त्ये
वी	गतिप्रजनकांत्यशनेषु	लिहौज्	आस्वादाने	ष्णुह	उदपिरणे
या	प्रापणे	ऊणुज्	आच्छादने	ष्णिह	प्रीतौ

असु	क्षेपणे
यसु	प्रयत्ने
जसु	मोक्षणे
तसु	स्तंभे
दसु	
पृष	दाहे
प्लुष	
व्युष	विभागे
त्रिस	प्रेरणे
कुस	श्लेषणे
बुस	उत्सर्गे
मुस	खंडने
मसी	परिमाणे
लुठ	विलोडने
उच	समवाये
भ्रशु	अधःपतने
भ्रंशु	
वृश	वरणे
क्रश	तनूकरणे
जितृष	पिपासायाम्
हृष	तुष्टौ
रुष	रोषे
डिप	क्षेपे
कुप	क्रोधे
गुप	व्याकुले च
युप	विमोहने
रुप	
लुप	गाध्यं
लुभ	
लुभ	संचलने
णभ	हिंसने
तुभ	
क्लिदू	आर्द्रभावे
जिमिदा	स्नेहे
जिद्विदा	मोक्षे च
ऋधु	वर्धने
गृधु	अभिकांक्षायाम्

शमु	उपशमने
दमु	
तमु	कांक्षायाम्
श्रमु	क्लेशने
भ्रमु	चलने
क्षमु	सहने
क्लमु	ग्लाने
मदी	हर्षे
	वृत्
जृषु	वयोहानौ
भृषु	
शो	तनूकरणे
छो	छेदे
दो	
प्रो	अंतर्कर्माणि

एते मवंतः

शनीङ्	प्रादुर्भावे
काशौ	दीप्तौ
दीपीङ्	
पूरीङ्	आप्यायने
तूरीङ्	हिंसागतित्वरणयोः
थूरीङ्	हिंसावयोहान्योः
जूरीङ्	
धूरीङ्	गतिहिंसयोः
गूरीङ्	
शूरीङ्	हिंसास्तंभयोः
चूरीङ्	दाहे
तपै	ऐश्वर्ये वा
वृतुङ्	वरणे
क्लिशौ	उपतापे
वाशौ	शब्दे
पादोङ्	गतौ
विदौङ्	सत्तायाम्
खिदौङ्	दैन्ये
युधौङ्	संप्रहारे
बुधौङ्	ज्ञाने
मनौङ्	

अनै	प्राणने
अनौ रुधौङ्	कामे
युजौङ्	समाधौ
सुजौङ्	विसर्गे
लिशौङ्	अल्पे च
उषूडौ	प्राणिप्रसवे
दूडौ	परितापे
दीडो	क्षये
डीडो	गतौ
धोडो	अनादरे
मीडो	हिंसायाम्
रीडो	श्रवणे
लीडो	श्लेषणे
व्रीडो	वृणोत्यर्थे
पीङ्	पाने
ईङ्	गतौ
प्रीङ्	प्रीतौ
माङ्	माने

एते डैदितः

मृषौज्	तितिक्षायाम्
शुचिरीज्	पूतिभावे
राहौज्	बंधने
रञ्जौज्	रागे
शपौज्	आक्रोशे

एते जितः

इति १२८ दिवादयः श्यविकरणाः

धवः

षुज्	अभिषवे
षिज्	बंधने
श्रिज्	निशाने
डुमिज्	प्रक्षेपणे
चिज्	चयने
स्तृज्	आच्छादने
कृज्	हिंसायाम्
वृज्	वरणे
धुज्	कंपने
धूज्	

एते जितः

डुडु	उपतापे
शु	श्रवणे
हि	गतिवृद्धयोः
पृ	प्रीतौ
स्पृ	चलने च
आप्लृ	व्याप्तौ
शक्लृ	शक्तौ
राधै	} संसिद्धौ
साधै	
तिक	} हिंसायाम्
तिग	
पघ	} प्रागल्भ्ये
जिधृषा	
दंभु	दंभे
ऋधु	वर्द्धने

एते मवन्तः

अशूङ्	व्याप्तौ
ष्टिघङ्	आस्कन्दने

डितावेतौ

इति २७ श्नुविकरणाः धवः ।

तुदौञ्	व्यथने
दिशौञ्	अतिसर्जने
भ्रस्जौञ्	पाके
क्षिवौञ्	प्रेरणे

एते जितः

कृती	छेदने
खिदौ	परितापे
पिश	अवयवे
	वृत्
रि	} गतौ
पि	
धि	धारणे
क्षि	निवासगत्योः
धू	प्रेरणे
मृ	प्राणत्यागे
कृ	विक्षेपणे

गृ	नगरणे
	एते मवन्तः
हङ्	अनादरे
धृङ्	स्थाने
	डितावेतौ
प्रच्छो	शीप्सने
	वृत्
सृजौ	विसर्गे
टौमस्जौ	शुद्धौ
ऊरुजौ	भंगे
ऊमुजौ	कौटिल्ये
रुशौ	} हिंसने
रिशौ	
छुपौ	} स्पर्शे
सृशौ	
लिशौ	} गतौ
विच्छौ	
मृशौ	आमर्शे
विशौ	प्रवेशे
गुदो	क्षोदे
षद्लृ	अवसातने
ओब्ररचू	छेदने
उच्छौ	विवासे
ऋच्छ	इन्द्रियप्रलयमूर्ति-
	भावयोः
मिच्छ	उत्कलेशे
चर्च	} परिभाषणे
जर्ज	
झर्झ	} संवरणे
त्वच	
ऋच	स्तुतौ
उब्ज	आर्जवे
उज्झ	उपसर्गे
लुभ	विमोहने
रिफ	कथनयुद्धनिर्दाहि-
	सादानेषु
ऋफ	} हिंसायाम्
ऋम्फ	

तृफ	} तृतौ
तृम्फ	
हफ	} उत्कलेशे
हम्फ	
गुफ	} ग्रंथने
गुम्फ	
तुभ	} पूरणे
तुम्भ	
शुभ	} शोभायें
शुंभ	
हभो	ग्रंथे
चूती	हिंसायां च
भृषी	} गतौ
जुन	
शुन	} विधाने
विध	
पृड	} सुखने
मृड	
पृण	प्रीणने
मृण	हिंसायाम्
तुण	कौटिल्ये
पुण	कर्मणि शुभे
मुण	प्रतिज्ञाने
कुण	शब्दोपकरणयोः
द्रुण	हिंसागतिकौटिल्येषु
धुण	} भ्रमणे
धूर्ण	
पुर्	दीप्तैश्वर्ययोः
कुर	शब्दे
क्षुर	विलेखने
खुर	छेदने च
मुर	संवेष्टने
धुर	भीमार्थशब्दयोः
पुर	उद्यमने
बृहू	उद्यमने
तृहू	} हिंसार्थाः
तृन्हू	
स्तृहू	

इषु	इच्छायाम्
मिष	स्पर्धायाम्
किल	शैत्यक्रीडनयोः
तिल	स्नेहने
चल	विलसने
विल	संवरणे
इल	स्वप्नक्षेपणयोः
विल	भेदने
निल	गहने
हिल	भावकरणे
सिल	उच्छे
शिल	
उल्लि	
लिख	अक्षरविन्यासे
कुट	कौटिल्ये
पुट	संश्लेषणे
कुच	संकोचने
व्यच	व्याजीकरणे
गुज	शब्दे
गुड	रक्षणे
लिप	क्षेपणे
छुर	छेदने
चुट	
छुट	
तुट	
स्फुट	विकसने
मुट	आक्षेपप्रमर्दनयोः
तुट	कलहकर्मणि
जुड	बंधे
कड	मदे
लुट	संश्लेषणे
तड	घसने
कुड	बाल्ये च
घुट	प्रतिघाते
तुड	तोडने
थुड	संवरणे
स्थुड	

स्फुर	स्फुरणे
स्फुर	
ब्रुड	उत्सर्गे
वृड	संवाते
मृड	
हुड	
तुड	निमज्जने
स्फल	चलने
स्तुल	संचये च
णू	स्तवने
धू	विधूनने
गु	पुरीषोत्सर्गे
श्रु	गतिस्थैर्ययोः

एते मवंतः

कुङ्	शब्दे
कूङ्	
गुरीङ्	उद्यमने
पृङ्	वृत्
जुषीङ्	व्यायामे
विजीङो	प्रीतिसेवनयोः
लजीङो	भयचलनयोः
लसुजीङो	व्रीडे
ष्वजौङ्	
रभौङ्	संगे
उप्लतौङ्	रामस्थे
	प्रीतौ

ङितः

इति १४६ तुदादयः शविकरणाः

धवः

धधिजों	आवरणे
भिदिजों	विदारणे
झिदिजों	द्वैधीकरणे
रिचिजों	विरचने
विचिजों	पृथग्भावे
क्षुदिजों	संप्रेक्षणे
युजिजों	योगे

क्षुदिर्ज	दीप्तिदेवनयोः
तृदिर्ज	हिंसानादरयोः

एते जितः

जिह्न्धीङ्	दीप्तौ
खिदौङ्	दैन्ये
विदोङ्	विचारे

ङितः

कृती	वेष्टने
शिष्ट्व	विशेषणे
पिष्ट्व	संचूर्णने
उमंजो	आमर्दने
भुजो	रक्षाशनयोः
तृह	हिंसने
हिसि	

उन्दी	क्लेदने
श्रंजू	गतिव्यक्तिप्रक्षणे
तंचू	संकोचने
ऊविजी	भये
वृजी	वर्जने
पृची	संपर्चने

एते मवंतः

इति २५ रुधादयः शनसुविकरणाः

धवः

तनुज्	विस्तारे
षणुज्	दाने
क्षणुज्	हिंसायाम्
क्षिणुज्	
ऋणुज्	गतौ
तृणुज्	अदने
धृणुज्	दीप्तौ

जितः

वनुङ्	याचने
मनुङ्	बोधने

ङितः

इति ६ तनादय उबिकरणाः

धवः

डुक्रौञ्	द्रव्यविनिमये	क्षीषु	हिंसायाम्	ओलडि	} उत्क्षेपे
प्रीञ्	तृप्तिदीप्तयोः	ज्ञा	अवबोधने	डुल	
श्रीञ्	पाके	बंधो	बंधने	जल	अपवारणे
मीञ्	हिंसायाम्	श्रंथ	प्रतिहर्षविमोचनयोः	पीड	गहने
षिञ्	बन्धने	मंथ	विलोडने	नट	अवस्यंदने
स्कुञ्	आप्रवणे	ग्रंथ	संदर्भे	श्रथ	प्रीतिहर्षे
क्नुञ्	शब्दे	कुंथ	संदर्शने	वध	संयमने
टञ्	गतौ	मृद	लोदे	पृ	पूरणे
गृहञ्	उपादाने	मृड	सुखने	वर्द्ध	छेदने च
पूञ्	पवने	गुध	रोषे	ऊर्ज	बलप्राणनयोः
स्तुञ्	आच्छादने	कुप	निष्कर्षे	इल	} प्रेरणे
कुञ्	हिंसायाम्	क्षुभ	संचलने	शुड	
वृञ्	वरणे	णभ	हिंसायाम्	चूर्ण	} प्रक्षेपे
जितः		तुभ	विवंधने	पृथ	
शङ्	} हिंसायाम्	क्लिशू	भोजने	संव	संबंधे
कुङ्		अश	उच्छे	मक्ष	अदने
मृङ्		भ्रस	आभीक्ष्ण्ये	चुटि	} छेदने
पृङ्	पालनपूरणयोः	विष	विप्रयोगे	चुट	
वृङ्	वरणे	प्रुष	स्नेहनसेचनसेवनपूरणेषु	छुट	} कुत्सने च
भृङ्	भर्त्सने	प्लुष	स्तेये	कुट्ट	
दृङ्	भये	मुष	पुष्टौ	चुट्ट	अल्पीभावे
नृङ्	नये	पुष	भूतप्रादुर्भावे	अट्ट	} अनादरे
जूङ्	वयोहानौ	खच	एते मवन्तः	पुट्ट	
शृङ्	गतौ	वृङ्	संभक्तौ	श्वठ	} गतिसंस्कारयोः
दृङ्	शब्दे		डित्	श्वठि	
गृङ्	एते सचन्तः	इति ५१ क्रयादयः शनाविकरणाः	धवः	तुजि	} हिंसात्रलिदान-
धूञ्	कंपने			पिजि	
प्रीञ्	तर्पणे	चुर	स्तेये	पिश	निकेतनेषु
ज्या	जितौ	लुंठ	स्मरणे	सांत्व	सामप्रयोगे
ल्ली	हानौ	चिति	चूर्णसंकोचने	श्वल्क	} भाषणे
प्ली	वरणे	यत्रि	परिहासे	वल्क	
री	गतौ	स्फुट	अनृतभाषणे	श्लिष	श्लेषणे
ली	श्लेषणे	कुद्रि	उपसेवायाम्	पथि	गतौ
वृत्	वृत्	लड		पिच्च	कुट्टने
व्री	वरणे	मिदि	स्नेहने	छुद	संवरणे
भ्री	भवे	तिल		श्रण	दाने
		स्निह		तड	आघाते

खड	}	मेदे	घट्ट	चलने	अर्क	}	स्तुतौ
खाडि			खट्ट	संवरणे	ईड		
कडि	}	विभाजने	व्यय	क्षये	रुष	}	रोषणे
वडि			मुस्त	}	चर्च		अध्ययने
मडि	}	भूषायाम्	डयि		वुक्क	}	भाषणे
भडि			डिपि		शब्द		सगिराविष्कारणे
छर्द	}	वमने	पिडि		कण	}	निमीलने
पुस्त			पूण	}	जभि		नाशने
चुद	}	आदरानादरयोः	पुंस		सूद	}	आश्रवणे
नक			रकि	}	जस		ताडने
धक्क	}	नाशने	धुस		पश	}	बंधने
राशि			कीट	}	अम		रोगे
चक्क	}	व्यथने	पूज		चट	}	हंत्यर्थाः
चुक्क			शुठ	}	स्फुट		
दल	}	शौचकर्मणि	शुठि		घट	}	मर्दने
तल			मार्ज	}	दिवु		
तुल	}	प्रतिष्ठाकरणे	गर्ज		अर्ज	}	प्रतियत्ने
पुल			वृ	}	धुष		विशब्दे
स्तूल	}	समुच्चये	पचि		आडः	}	क्रंदे
मूल			तिज	}	लस		शिल्पयोगे
डिप	}	क्षेपे	कृत		भूष	}	अलंकारे
कल			कुबि	}	मोक्ष		असने
विल	}	रक्षणे	लुबि		अर्ह	}	पूजने
जसि			तुबि	}	ज्ञा		नियोगे
कुडि	}	रक्षणे	हूप		यत	}	निकारोपस्कारयोः
पल			म्रक्ष	}	निसश्च		प्रसहने
शुल्व	}	माने	म्रछ		धृष	}	विश्राणने
शूर्प			शठ	}	भज		स्नेहछेदापहरणेषु
मुट	}	संचूर्णने	चुठि		वस	}	संचये
वज			जस	}	चर		सहने
व्रज	}	मार्गणसंस्कारयोः	रुज		च्यु	}	भावकरणे
शुल्क			धुस	}	भू		
छवि	}	संजने	लुष		कृप	}	आस्वादने
क्षपि			वहं	}	रक		
क्षजि	}	गत्याम्	गर्द		रज	}	विशेषणे
श्वर्त			गुर्द	}	अंच		
					लिगि	}	चित्रकरणे

सुद	संसर्गो
त्रस	वारणे
सुच	प्रमोचने
(आस्वदः सकर्मकात्)	
पुष	धारणे
दल	विदारणे
पट	
पुट	
लुट	
लुजि	
लुजि	
पिजि	
भजि	
पिसि	
कुसि	
दसि	
लसि	
त्रसि	
कुशि	
घटि	
वृहि	
गुप	
धूप	
विच्छ	
चौव	
वह	
वल्द	
पुथ	
लोक	
लोचृ	
मद	
त्रुप	
तर्क	
वृत्तु	
पूर	
स्वद	

भाषार्थाः

आप्यायने
संवरणे

सूत्र	अवमोचने
मूत्र	प्रस्रवणे
रूक्ष	पारुष्ये
वष्क	दर्शने
कच्छ	शैथिल्ये
चित्र	चित्रकरणे
	कदाचिदर्शने च
अंस	समावाते
मिश्र	संपर्चने
झिद्र	कर्णमेदे
अंध	दृष्ट्युपसंहारे
दंड	दण्डनिपाते
अंक	लक्षण्ये
अंग	पदलक्षण्ये च
पर्ण	हरितभावे
वर्ण	वर्णक्रियाविस्तार-
	गुणवचनेषु
कथ	वदने
वर	ईप्सायाम्
गण	संख्याने
शठ	
श्वठ	
पट	
वट	
मृष	
रह	
स्तन	
गदी	
पत	
पष (अगिः)	
स्वर	
रच	
कल	
चह	
मह	
सर	
कृप	
अथ	

स्पृह	ईप्सायाम्
भाम	क्रोधे
सूच	पैशुन्ये
खेट	भक्षण्ये
खोट	क्षेपे
गोम	उपक्षेपे
कुमार	क्रीडने
शील	उपधारणे
साम	सांत्वने
बेल	कालोपदेशे
पल्यूल	लवनपवनयोः
वास	गतिमुखसेवनयोः
गवेप	मार्गणे
वास	उपसेवायाम्
निवास	आच्छादने
भाज	पृथक्करणे
सभाज	प्रीतिदर्शनयोः
ऊन	परिहाने
कूट	दाहे
केत	
ग्राम	
कुण	
स्तेन	
वत्रि	
लजि	
पार	
तीर	
स्तोम	
मुख	
दुःख	
रस	
व्यय	
रूप	
छेद	
लाभ	
त्रण	

पते मवतः

पदै	गतौ	स्ययै	वितर्कणे	अथ	}	हिंसायाम्
ग्रहै	ग्रहणे	गुरै	उद्यमने	कथ		
मृगै	अन्वेषणे	कुस्मै	कुस्मृतौ	हिसि	}	बंधने च
कुहै	विस्मापने	समै	}	ग्रथ		
शूरै	}	लक्ष्मै		आलोचने	चीक	}
वारै		कुल्यै	अवक्षेपे	शीक		
स्थूल	परिवृंहणे	कुटै	प्रतापने	आङः	सद्	गतौ
अथै	वृत्	भलै	आभंडने	जुष	परितर्षणे	
	उपयाच्यायाम्	वचै	प्रलंभने	अंथ	}	संदर्भे
सत्रै	संदानक्रियायाम्	वृषै	शक्तिबंधने	अंथ		
गवै	माने	मदै	तृप्ति योगे	आहू	लंभने	
संग्रामै	युद्धे	मदै	परिकूजे	तनु	श्रद्धोपहिंसायाम्	
चित्तै	संचितौ	विपै	ख्याननिवासेषु	गेः	(गिपूर्वस्तनुः) दैर्घ्यं	
छुदै	संवरणे	मनै	स्तभे	वच	संदेशवचने	
दंशै	दशने	युङ्	जुगुप्सायाम्	मान	पूजायाम्	
दशै	दर्शने च	यङ्	विज्ञापने	गर्ह	विनिन्दने	
डंभै	}	लक्षज्	डैदितः	मार्ग	अन्वेषणे	
डिंभै				कठि	शोके	
तजै	कुटुम्बधारणे	युजौ	जित्	मृज्	शौचालंकारयोः	
मंत्रै	गुप्तभाषणे			धृष	प्रसहने	
स्पर्शै	ग्रहणश्लेषणयोः	षह	मर्षणे	एते मवन्तः		
भर्षै						
तर्जै	ईर	क्षेपणे	मृषै	तितिक्षायाम्		
वस्तै	}	ली	द्रवीकरणे	तपै	दाहे	
ग्रथै		वृजी	वर्जने	वदै	भाषणे	
किष्कै	}	जृ	वयोहानौ	अचै	पूजायाम्	
		रिच	वियोजनसंपर्चनयोः	अदै	हिंसायाम्	
निष्कै	परिमाणे	शिष	असर्वापयोगे	शुदै	शोधने	
चलै	ईप्सायाम्	विपूर्वो	(वि-शिष) प्रतिशये	ऐदितः		
कूणै	संकोचने	तृप	प्रीणने			
तूणै	पूरणे	छृद	संदीपने	वृज्	वरणे	
भूणै	आशायाम्	छृद	अपवारणे	धूज्	कंपने	
शठै	श्लाघायाम्	दमी	भये	प्रीज्	तर्पणे	
यच्चै	पूजायाम्	मी	गतौ	जितः		
				इति ३५१ चुरादयो धवः		
				समाप्ताः ।		

पाठप्रयोजनमनिष्विमनिङ् विकल्पे द्वेच्छप्रभृतिरव्योनिडवागनैश्च ।

दोनत्वमिङ् विकलता च यथाक्रमेण धूनां सुधीभिरधिगम्यमितां स्वराणाम् (?) ॥

पादाद्भोजानमन्मानवपतिमकुटानर्घ्यमाग्निकयतारानीकासंसेदिताद्यद्यतिललितनखानीकशीतांशुभिस्त्वः ।

दुर्वारानङ्गबाणाम्बुरुहहिमकरोद्ध्वस्तमिध्यान्धकारः शब्दब्रह्मा स जीयाद् गुणनिधिगुणनन्दिनतीशस्सुसौस्थः ॥

भारतीय ज्ञानपीठ के सांस्कृतिक प्रकाशन

[प्राकृत, संस्कृत ग्रन्थ]

१. महावन्ध [महाधवल सिद्धान्त शास्त्र] [भाग १-५] हिन्दी अनुवाद सहित	५६)
२. करलक्खण [समुद्रिक शास्त्र]—हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ	॥॥)
३. मदनपराजय—भाषानुवाद तथा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना	८)
४. कन्नडप्रान्तीय साङ्गपत्रीय ग्रन्थसूची—	१३)
५. न्यायविनिश्चय विवरण [भाग १-२]	३०)
६. तत्त्वार्थवृत्ति—श्रुतसागर सूरिरचित टीका । हिन्दी सार सहित	१६)
७. आदिपुराण भाग [१]—भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
८. आदिपुराण भाग [२]—भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
९. उत्तर पुराण [२३ तीर्थकरों का पुण्य चरित्र]	१०)
१०. नाममाला सभाष्य—	३॥)
११. केवलज्ञानग्रन्थचूडमणि—ज्योतिष ग्रंथ	४)
१२. सभाष्यरत्नमंजूषा—छन्दशास्त्र	२)
१३. वसुनन्दि-श्रावकाचार	५)
१४. जिनसहस्रनाम	४)
१५. समयसार—[अंग्रेजी]	८)
१६. कुरलकाव्य—तामिल भाषाटीका पञ्चमवेद [तामिल लिपि]	५)
१७. तत्त्वार्थराजवातिक [भाग १-२]	२४)

[हिन्दी जैन ग्रन्थ]

१८. पुराणसार-संग्रह [भाग १-२]	४)
१९. व्रततिथिनिर्णय	३)
२०. मुक्तिदूत [उपन्यास]—अञ्जना पवनञ्जयकी पुण्यगाथा	५)
२१. भारतीय विचार धारा—	२)
२२. वर्द्धमान [महाकाव्य]	६)
२३. जैन-जागरणके अग्रदूत	६)
२४. आधुनिक जैन कवि	३॥॥)
२५. जैनशासन—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करानेवाली सुन्दर रचना	३)
२६. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न—	२)
२७. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास	२॥॥)
२८. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन [भाग १-२]	५)
२९. धर्मशर्माभ्युदय	३)
३०. खण्डहरोंका वैभव	६)
३१. खोजकी पगडंडियाँ	४)
३२. अध्यात्म-पदावली	४॥)
३३. चौलुक्य कुमारपाल	४)

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-५

